पं० रतनचन्द जैन मुख्तार !

मान्यवर माननीय विद्वद्वर धर्मप्रेमी, न्याय नीतिवान आप गुण के अगार हैं,
धर्मरत्न कर्मठ कृपालु धीरवीर हैं, विचार के विशुद्ध दुनिया के आर-पार हैं।
तत्त्वमर्मज्ञ हैं, शिरोमणि सिद्धान्त के हैं, मोह को निवार ज्ञान-गज पै सवार हैं,
सहारनपुर के 'रतन' को सराहैं कैसे, हम पर आपके अपार उपकार हैं ।।

—दामोदरचन्द आयुर्वेद शास्त्री, १-७-७७

'शंका-समाधान' की शैली, पर तुमने अधिकार किया,
नय-निक्षेप-प्रमाण आदि से, प्रतिभा का शृंगार किया।
आग्रहयुक्त वचन कहीं भी, कभी न कहते सुने गये,
समाधान सब शंकाओं के, मिलते रहते नये-नये ।।

—मूलचन्द शास्त्री, श्री महावीरजी

* श्रीवीतरागाय नमः *

पं० रतनचन्द जैन मुख्तार व्यक्तित्व और कृतित्व

२

सम्पादक :

पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रकाशक

ब्र० लाड़मल जैन

आचार्यश्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

□ पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ आशीर्वचन :

- (स्व.) आचार्यकल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज
- मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज
- आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी

□ सम्पादक :

- पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर
- डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

□ प्रकाशक :

- ब्र. लाडमल जैन
  आचार्यश्री शिवसागर दि. जैन ग्रंथमाला
  शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज०) 322220

□ प्राप्तिस्थान :

- १ प्रकाशक (उपर्युक्त)
- २ पं० जवाहरलाल जैन
  माटडिया बाजार, गिरिवर पोल
  भीण्डर (राज०) 313603

□ संस्करण

प्रथम १००० प्रतियां

□ प्रकाशन वर्ष : १९८९

□ मूल्य : एक सौ पचास रुपये; १५०)
(दो जिल्दों का एक सैट)

□ मुद्रक : कमल प्रिंटर्स
मदनगंज–किशनगढ (राजस्थान)

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ की काया आशा से अधिक स्थूल हो जाने के कारण इसे दो जिल्दों में सँवारना पड़ा है। श्रद्धेय पं० रतनचन्दजी जैन मुख्तार का व्यक्तित्व, छाया-छवियाँ और प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग से सम्बन्धित शंका-समाधान की विपुल सामग्री पहली जिल्द के ८७२ पृष्ठों में संकलित है, शेष इस दूसरी जिल्द में।

द्रव्यानुयोग के विषयों से सम्बन्धित कुल ४०१ **शंका-समाधान** इस ग्रंथ के ३८४ पृष्ठों में मुद्रित हैं। **जैन न्याय** से सम्बद्ध अनेकान्त-स्याद्वाद, उपादान-निमित्त और कारण-कार्य व्यवस्था की कुल ४७ **चुनी हुई शंकाएँ** यहाँ समाधान सहित संकलित हैं। **नयनिक्षेप, अर्थ-परिभाषा और विविध** शीर्षक के अन्तर्गत कुल **१७० शंकाएँ** इस ग्रन्थ को विशेष गौरव प्रदान कर रही हैं। पूज्य पण्डितजी का एक **बहुचर्चित** ट्रैक्ट **'पुण्य का विवेचन'** तत्सम्बन्धी स्फुट शंका-समाधान सहित इस ग्रन्थ के ५६ पृष्ठों में (१४५७-१५१२) स्थान पा सका है। पण्डितजी का एक दूसरा ट्रैक्ट **'क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद'** पृष्ठ १२०७ से १२५६ तक मुद्रित है।

इस प्रकार पण्डितजी की लेखनी से प्रसूत विशाल सामग्री में से चयन कर **कुल ५७१ शंकाएँ** और उनके सरल प्रामाणिक समाधान इस जिल्द में प्रस्तुत हैं। आशा है, तत्त्वजिज्ञासु अनेकान्ती स्वाध्यायी इनसे समुचित लाभ प्राप्त कर स्व-पर उपकार में निरत होंगे, ज्ञान का फल भी यही है।

परिशिष्ट में सदर्भ ग्रन्थ सूची, शंकाकार सूची और अर्थसहयोगियों की नामावली दी गई है।

समाधानकर्ता **(स्व.) पं० रतनचन्दजी मुख्तार** की प्रतिभा और क्षमता का सविनय सादर पुण्य स्मरण।

शंकाकारों की स्पृहणीय जिज्ञासावृत्ति के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ की परिकल्पना सम्भव हुई है, अतः उन सभी का **सविनय अभिनन्दन**

सभी **अर्थ-सहयोगियों का सादर आभार**

प्रेरक (स्व.) **आचार्यकल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज, मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज** और **आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी** के चरणों में शत-शत नमोऽस्तु।

भूलों के लिए क्षमायाचना सहित—

पौष वदी एकादशी
भगवान पार्श्वनाथ जन्म-तप कल्याणक दिवस
३ जनवरी, १९८९

विनीत ·
जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री
चेतनप्रकाश पाटनी

अनुक्रम

द्रव्यानुयोग

द्रव्य (सामान्य)

'तत्त्वार्थसूत्र' में द्रव्यलक्षण विषयक दो सूत्र क्यों ?

शंका—'सद्द्रव्य लक्षणम्' और 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस प्रकार दोनों का एक अर्थ होते हुए भी 'तत्त्वार्थ-सूत्र' में ये दो सूत्र क्यों कहे ?

समाधान—अन्य मतो मे द्रव्य के विषय मे भिन्न मान्यता है अतः उनमे कोई द्रव्य को सर्वथा क्षणिक मानते हैं और कोई द्रव्य को सर्वथा नित्य-कूटस्थ मानते हैं, इन दोनो के निराकरणार्थ '**सद्द्रव्यलक्षणम् ।**' '**उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**' ऐसा कहा है। तथा कोई द्रव्य से गुण और पर्यायों को सर्वथा भिन्न मानते हैं कोई सर्वथा अभिन्न मानते हैं उनके निराकरण के लिये '**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**' सूत्र कहा है। कहा भी है—

"**मतान्तरे हि द्रव्यादन्ये गुणाः परिकल्पिताः। न चैवं तेषां सिद्धिः। सर्वथा भेदेनानुपपत्तेः। अतः द्रव्यस्य परिणमनं परिवर्तनं पर्यायस्तद्भेदा एव गुणा नात्यन्तं भिन्नजातीया इति मतान्तरनिवृत्त्यर्थं विशेषणं क्रियमाणं सार्थकमिति।**" [सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति पृ० १३२]

इसका अभिप्राय यह है कि मतान्तर मे द्रव्य से अन्य गुण कल्पित किये गये हैं, किन्तु उनकी कल्पना सिद्ध नहीं होती, क्योंकि गुणगुणी के अर्थात् द्रव्य-गुण के सर्वथा भेद की उत्पत्ति नहीं है। इसलिये द्रव्य का जो परिणमन अथवा परिवर्तन है वह पर्याय है। उसका भेद ही गुण है, क्योंकि गुण की भिन्न जाति नहीं है। इसप्रकार मतान्तर के निराकरण करने के लिये विशेष कथन सार्थक है।

—जै. ग. 7-10-65/IX/ प्रेमचन्द

द्रव्यगतस्वभाव को अन्यथा करने में केवली भी समर्थ नहीं

शंका—श्री अरहंत भगवान में क्या यह शक्ति है कि अजीव को जीव बना देवें और जीव को अजीव बना देवें ?

समाधान—अरहंत भगवान में यह शक्ति नहीं है कि जीव को अजीव बना देवें और अजीव को जीव बना देवें, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य नित्य और अवस्थित है।

"**नित्यावस्थितान्यरूपाणि**" मोक्षशास्त्र ५/४ अर्थात्—द्रव्य नित्य और अवस्थित है।

"**येन भावेन उपलक्षितं द्रव्यं तस्य भावस्याव्ययो नित्यत्वमुच्यते।**" रा. वा. ५।४।२

अर्थात्—जो द्रव्य जिस लक्षण से युक्त है उस द्रव्य के उस लक्षण का कभी विनाश नहीं होता। इसको नित्य कहते हैं।

"तद्भावेनाव्ययं तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते।" सर्वार्थसिद्धि ५।३१

अर्थ—जिस वस्तु का जो भाव है उसरूप से च्युत न होना तद्भावाव्यय है अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है।

'अवस्थित' शब्द से यह बतलाया गया कि अनेक परिणमन होने पर भी धर्म, अधर्म, काल, आकाश और पुद्गल कभी चेतनरूप नहीं परिणमते और जीवद्रव्य कभी अचेतनरूप नहीं परिणमते। राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ४ वार्तिक ४।

इसप्रकार जो द्रव्यगत स्वभाव है उसको अन्यथा करने मे कोई भी समर्थ नहीं है।

—जै. ग 21-12-67/VII/ मुमुक्षु

द्रव्यों में एक प्रदेश स्वभाव

शंका—अखंडता होने के कारण जीव के एक प्रदेशी स्वभाव लिखा था। परन्तु इस अपेक्षा तो धर्म, अधर्म और आकाश के भी एक प्रदेश स्वभाव होना चाहिये क्योंकि वे भी तो अखंड द्रव्य हैं?

समाधान—धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्यो मे भी एकप्रदेश स्वभाव है। कहा भी है—'भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां धर्माधर्माकाशजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम्।' भेद-कल्पना की निरपेक्षता से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव द्रव्यो के भी अखंड होने के कारण एक प्रदेश स्वभाव है। आलाप-पद्धति।

—जै. ग 23-4-64/IX/ मदनलाल

सभी द्रव्य आकार सहित हैं

शंका—कालद्रव्य और आकाशद्रव्य आकारसहित है या आकाररहित है, क्योंकि मैंने एकस्थान पर पढ़ा कि द्रव्य में सामान्यगुण होने के कारण प्रदेशत्वगुण की अपेक्षा आकारसहित है। यदि यह सामान्यगुण की अपेक्षा आकारसहित है तो निरंश परमाणु को भी आकारसहित मानना पड़ेगा अथवा सिद्धों मे भी आकार मानना पड़ेगा?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य आकारसहित हैं। कोई भी द्रव्य निराकार नहीं है। निराकार द्रव्य हो ही नहीं सकता।

परमाणु का आकार गोल है। श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है—

अणवः कार्यलिङ्गाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः।
एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥१४८॥ आदिपुराण पर्व २४

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इन्द्रियो से नहीं जाने जाते। घट–पट आदि परमाणुओ के कार्य हैं उन्हीं से उनका अनुमान किया जाता है। परमाणु मे कोई भी दो अविरुद्ध स्पर्श रहते हैं, एकवर्ण, एकगंध, एकरस, रहता है। वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं।

सिद्धों का भी पुरुषाकार है जो अन्तिम शरीर से कुछ कम है।

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥ द्रव्यसंग्रह

कालाणु भी पुद्गलपरमाणु के आकाररूप है, क्योंकि दोनों आकाश के एक प्रदेश में स्थिर होकर रहते हैं अतः कालाणु भी गोल है। आकाशद्रव्य भी चौरस समघन आकार वाला है। कहा भी है—

व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रसमं घनम्।
भावावगाहहेतुश्च नंतानंतप्रदेशकम् ॥३।२४ आचारसार

अर्थ—आकाशद्रव्य अमूर्त है, क्रियारहित है, नित्य है, चतुरस्र-सम-घनाकार है, अनन्तप्रदेशी है, अवगाह का कारण है।

इसप्रकार पुद्गलपरमाणु, कालाणु, सिद्धजीव और आकाशद्रव्य के आकार का कथन आर्षग्रन्थों मे पाया जाता है।

—जै. ग. 29-8-68/VI/ रोशनलाल

द्रव्य (१) एक द्रव्य का प्रभाव अन्य द्रव्य पर अवश्य पड़ता है।
(२) जिनसेन की वर्ण व्यवस्था सर्वागम सम्मत है।

शंका—यह तो सर्वमाननीय है कि एक द्रव्य-गुण-पर्याय का दूसरे द्रव्य-गुण व पर्याय पर कोई प्रभाव या असर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येकद्रव्य तथा उसके गुण व पर्याय स्वतन्त्र हैं। एक के कारण दूसरे को लाभ या हानि नहीं पहुँचती। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है उसकी मुक्ति में पौद्गलिक शरीर बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये शूद्रमुक्ति का निषेध नहीं किया जा सकता। महापुराण के कर्ता श्री जिनसेन स्वामी ने मनुस्मृति का अनुसरण करके जैनधर्म को तीन वर्ण का धर्म बना दिया है। इसीलिये श्री पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री को लिखना पड़ा कि आचार्य जिनसेन ने जैनधर्म की आध्यात्मिकता को गौण करके उसे तीन वर्ण का सामाजिक धर्म या कुलधर्म बनाने का भरपूर प्रयत्न किया है।

शूद्र-मुक्ति के मानने से दिगम्बर जैनधर्म में क्या बाधा आती है?

समाधान—दिगम्बरेतर समाज मे तो ऐसा माना गया है कि एक द्रव्य-गुण-पर्याय का किसी अपेक्षा से भी कोई प्रभाव या असर दूसरे द्रव्य, गुण पर्यायपर नही पड़ता। इसलिये दिगम्बरेतर जैनसमाज मे स्त्रीमुक्ति आदि मानी गई है। दिगम्बरजैनाचार्यों ने ऐसा स्वीकार नही किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्टरूप से एक द्रव्य-गुण व पर्याय का दूसरे द्रव्य-गुण व पर्याय पर प्रभाव व असर स्वीकार किया है।

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥ प्रवचनसार।

अर्थ—जैसे जगत मे नानाप्रकार की भूमियो के कारण बीज के फलकाल मे फल की विपरीतता (विभिन्नता) देखी जाती है उसीप्रकार प्रशस्तभूतराग वस्तु भेद से विपरीततया (विभिन्नतया) फलता है।

टीका—यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यं भावित्वात्।

अर्थ—जैसे एक ही प्रकार का बीज होने पर भी भूमि की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है (अच्छी भूमि मे उसी बीज का अच्छा फल उत्पन्न होता है और खराब भूमि में खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता।) उसी प्रकार प्रशस्तरागसहित शुभोपयोग वही का वही होता है फिर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, क्योंकि कारणभेद से कार्यभेद अवश्यभावी है।

इस गाथा मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बीज के फल पर भूमि का प्रभाव व असर पडता है। फिर यह कहना कि 'दूसरे का असर नही पडता है' ठीक नही है।

ससार मे कुसगति से बचने का उपदेश इसीलिये दिया जाता है कि सगति का प्रभाव पडता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इसी बात को निम्न गाथा मे कहा है।

तम्हासम गुणादो समणो समणं गुणेहिं व अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्च इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख ॥२१०॥ प्रवचनसार

अर्थात्—लौकिक जनो की सगति से संयत भी असंयत होता है इसलिये यदि साधु दुःख से परिमुक्त होना चाहता है तो समान गुणवाले श्रमण के अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के सग मे सदा निवास करे।

टीका—आत्मा परिणाम स्वभाववाला है इसलिये लौकिकसंगति से विकार अवश्य आजाता है और सयत भी असयत हो जाता है, जिसप्रकार अग्नि की सगति से जल विकारी अर्थात् गर्म हो जाता है। इसलिये दुःखो से मुक्ति चाहनेवाले श्रमण को समानगुणवाले श्रमण के साथ अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के साथ निवास करना चाहिये, जिससे उसके गुणो की रक्षा अथवा गुणो मे वृद्धि होती है। जैसे शीतल जल यदि शीतल घर के कोने मे रखा हुआ है तो वह ज्यो का त्यो बना रहेगा। यदि वह जल अधिक शीतल स्थान पर या बरफ पर रखा हुआ है तो अधिक शीतल हो जायगा।

जब दूसरे की सगति का प्रभाव आत्मा पर पडता है तो शरीर का प्रभाव आत्मा पर अवश्य पडेगा, क्योंकि शरीर व आत्मा का परस्पर बन्धानबद्ध से सम्बन्ध है। शारीरिक सहननादि शक्ति के अभाव में मोक्ष नही होता। इसी बात को श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १७० व १७१ टीका मे कहा गया है—

"संहननादिशक्त्यभावाच्छुद्धात्मस्वरूपे स्थातुमशक्यत्वाद्वर्तमान-भवे पुण्यबंध एव भवान्तरे तु परमात्मभावना-स्थिरत्वे सति नियमेन मोक्षो भवति।"

अर्थ—सहननादि शक्ति के अभाव से शुद्धात्मस्वरूप मे ठहरने मे असमर्थ होने के वर्तमान भव मे पुण्यबध होता है, अन्य भव मे परमात्मभावना स्थिर होने पर नियम से मोक्ष जाता है।

मुनि दीक्षा के योग्य किसप्रकार का शरीर कुल वर्ण वय (अवस्था व आयु) होनी चाहिये। उसका कथन श्री १०८ कुन्दकुन्दादि आचार्य निम्नप्रकार कहते हैं—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥ [प्रवचनसार]

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनवर्णों मे से कोई एक वर्णवाला हो, आरोग्य हो, तप की क्षमता रखनेवाला हो, न अतिवृद्ध वयवाला हो और न अति बाल वयवाला हो, अंतरंग और बहिरंग निर्विकार सुमुख हो, दुराचारादि अपवाद रहित हो, ऐसा गुण विशिष्ट पुरुष जिनदीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है।

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन,
प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपति वणिग्वर्णवर्योऽङ्गपूर्णः।
भूभृल्लोकाऽविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह-
श्चित्रापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञातिसंकीर्तनाद्यः ॥११॥ आचारसार

अर्थात्—लोक व्यवहार को जाननेवाले मोहरहित और बुद्धिमान आचार्यों को जिनदीक्षा देने से पूर्व यह ज्ञात कर लेना चाहिये कि यह सुदेश का है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनप्रकार के द्विजो मे से किस एक वर्ण का है अर्थात् शूद्र तो नही है पूर्ण अगी है, राज्य व लोक के विरुद्ध तो नहीं है, कुटुम्बी और परिवार के लोगो से दीक्षा की आज्ञा माग ली है मोह नष्ट हो गया है, मृगी आदि का रोग तो नहीं है; क्योकि ऐसा पुरुष ही दीक्षा के योग्य है, अन्य नही।

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः।
मनोवाक्काय धर्माय मताः सर्वेऽपिजन्तवः ॥७९१॥ उपासकाध्ययन

अर्थात्—दीक्षा के योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण हैं।

श्री मूलाराधना मे भी इसप्रकार है।

"कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकादिदेशपरिहारेण अंगबंगमगधादिदेशेषु उत्पत्तिः। लब्धेऽपि देशे चांडालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुलजातो।" पृ० ६५३।

अर्थात्—कर्म भूमि मे बर्बर चिलात आदि देशों को छोडकर अग, बग, मगधादि सुदेशो मे उत्पन्न होना कठिन है। यदि सुदेश मे भी उत्पन्न हो गया तो चांडाल आदि कुलो को छोडकर तप के योग्य अर्थात् जिनदीक्षा के योग्य कुल मे उत्पन्न होना दुर्लभ है।

इसीप्रकार अन्य आचार्यों ने भी मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन कुलों मे उत्पन्न हुए मनुष्य को जिन-दीक्षा के योग्य बतलाया है। क्या ये सभी आचार्य जैनसिद्धान्त के विरुद्ध मनुस्मृति के अनुसार कथन करने वाले माने जा सकते हैं। श्री कुन्दकुन्दादि महानाचार्यों के वाक्यो को भी यदि प्रमाण न मानकर अपने कपोलकल्पित इस सिद्धान्त 'एक द्रव्य-गुण-पर्याय का दूसरे द्रव्य-गुण-पर्याय पर कोई प्रभाव नही पडता', के बल पर दिगम्बरेत्तर समाज की तरह शूद्र-मुक्ति सिद्ध करना अपने आपको दुर्गति मे ले जाना है।

—जै. ग. 4-2-65/IX/ इन्द्रसेन

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव

शंका—क्या संहनन की कमी से वैराग्य में कमी हो जाते है?

समाधान—'सहनन' नामकर्म का भेद है। जो छहप्रकार का है—१. वज्रवृषभनाराचसंहनन २ वज्र-नाराचसंहनन, ३. नाराचसंहनन, ४. अर्धनाराचसहनन, ५. कीलितसहनन, ६ असम्प्राप्तसृपाटिकासंहनन। जिसके उदय से अस्थि बन्धन में विशेषता होती है वह संहनन नामकर्म है, अतः पुद्‌गलविपाकी है। इसका फल शरीर मे होता है। यद्यपि यह कर्म और शरीर दोनो पौद्‌गलिक हैं जीवद्रव्य से अन्य हैं तथापि इनकी विशेषता से जीव की गति में विशेषता हो जाती है। प्रथमसहननवाला जीव ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। प्रथम तीन संहननवाले जीव

ही उपशम श्रेणी चढ सकते हैं। अन्तिम तीन संहननवाले जीवों के सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान नहीं हो सकते। इसप्रकार जीव और पुद्गल मे प्रदेश भेद होते हुए भी एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु एकद्रव्य कभी भी पलट कर दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो जाता यही द्रव्य की स्वतंत्रता है।

—जै ग. 25-4-63/IX/ ब्र. पन्नालाल जैन

द्रव्य—तत्व

जीव : उपयोग

दर्शनोपयोग से अभिप्राय

शंका—दर्शनोपयोग का अभिप्राय उदाहरणरूप में बताने की कृपा कीजिए।

समाधान—छद्मस्थों के (सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि, कोई भी हो) जब ज्ञान एक बाह्यपदार्थ का अवलम्बन छोड़कर जबतक दूसरे पदार्थ का अवग्रह न करे तबतक उसका उपयोग अपनी आत्मा मे रहता हुआ दूसरे बाह्यपदार्थ को जानने के लिए जो प्रयत्न करता है, वह दर्शन है।[1]

—पत्र 21-4-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

केवलदर्शन का स्वरूप व कार्य

शका—अनन्त चतुष्टय में से ज्ञान, सुख एवं वीर्य तो समझ मे आते हैं, किन्तु दर्शन का क्या कार्य है ? तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन में क्या अन्तर रहता है ?

समाधान—अन्तरग उद्योत केवलदर्शन है और बहिरग पदार्थों को विषय करनेवाला प्रकाश केवलज्ञान है, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये। दोनो उपयोगो की एकसाथ प्रवृत्ति मानने मे विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि उपयोग की क्रमवृत्ति कर्म का कार्य है और कर्म का अभाव हो जाने से उपयोगों की क्रमवृत्ति का भी अभाव हो जाता है।

१. दि० ३-८-७७ को एक पत्रोत्तर में पूज्य मुख्तार साहब श्री जवाहरलालजी को लिखते हैं कि—"मानाकि हम उत्तर की ओर स्थित पदार्थ को देख रहे थे। फिर दक्षिण की ओर स्थित पदार्थ को जानने की इच्छा हुई। तब चक्षु इन्द्रिय उत्तर में स्थित पदार्थ का ग्रहण छोड़ कर तथा दक्षिण की ओर स्थित पदार्थ के साथ पदार्थ का सन्निकर्ष प्रारम्भ करे, इसके बीच का जो काल है (यह काल सैकण्ड या उसके भी अंशरूप है), जिस काल में कि चक्षुइन्द्रिय द्वारा बाह्यपदार्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं है, वह दर्शनोपयोग का काल है। इस दर्शनोपयोग के काल मे चक्षुइन्द्रिय का कोई व्यापार नहीं है (चक्षुइन्द्रिय के द्वारा जानने का प्रयत्नमात्र है।"

—पं० प्र० पा०

केवलज्ञान स्व और पर दोनो का प्रकाशक है इसलिये केवलदर्शन नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि केवलज्ञान स्वयं पर्याय है, इसलिये उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। यदि केवलज्ञान को स्व-प्रकाशक माना जायगा तो उसकी एक काल में स्व-प्रकाशकरूप और परप्रकाशकरूप दो पर्यायें माननी पड़ेंगी, किन्तु केवलज्ञान स्वय पर-प्रकाशकरूप एक पर्याय है, अत. उसकी स्व-प्रकाशकरूप दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनो प्रकाश एक हैं ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बाह्यपदार्थ को विषय करनेवाला साकार उपयोग और अन्तरगपदार्थ को विषय करनेवाला अनाकार उपयोग, इन दोनो को एक मानने में विरोध आता है। विशेष के लिये जयधवल पु० १, धवल पु० १, ६, ७, १३ देखनी चाहिये।

—जै. ग. 31-10-63/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

ज्ञान व दर्शन की क्रमशः साकारता एवं निराकारता

शंका—क्या दर्शन निराकार है ? क्या पाँचो ही ज्ञान साकार हैं ?

समाधान—दर्शन अनाकार और ज्ञान साकार है। श्री वीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

"पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो तं जम्मि णत्थि सो उवजोगो अणायारोणाम, दसणुवजोगो त्ति भणिदं होदि।" जयधवल पु० १ पृ० ३३१

"अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तब्भुवगमादो। ण अंतरंग उवजोगो वि सायारो, कत्तारादो दव्वादो पुह कम्माणुवलंभादो।" धवल पु० १३ पृ० २०७

"को दसणोवजोगो णाम ? अतरंगउवजोगो। कुदो ? आगारो णाम कम्मकत्तारभावो, तेण विणा जा उवलद्धी सो अणागारउवजोगो। अतरंगउवजोगो वि कम्म-कत्तारभावो अत्थि त्ति णासंकणिज्ज, तत्थ कत्तारादो दव्वखेत्तेहि फट्टकम्माभावादो।" धवल पु० ११ पृ० ३३३

अर्थ—प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं अर्थात् प्रमाण मे अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है उसे आकार कहते हैं। वह आकार (बाह्यपदार्थ) जिस उपयोग मे नहीं पाया जाता है वह उपयोग अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग है।

अतरग को विषय करने वाले उपयोग को अनाकार उपयोग स्वीकार किया गया है। अंतरंग उपयोग विषयाकार होता है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि इसमे कर्त्ता द्रव्य (आत्मा) से पृथग्भूत कर्म (ज्ञेय) नहीं पाया जाता है।

अतरग उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं, क्योंकि आकार का अर्थ कर्त्ता-कर्मभाव है। उसके बिना जो अर्थोपलब्धि होती है उसे अनाकार उपयोग कहा जाता है। अंतरग उपयोग में कर्त्ता-कर्मभाव होता है, ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमे द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा कर्ता से भिन्न कर्म का अभाव है।

"आयारो कम्मकारयं, तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं। विस्सुज्जोएण जं पुव्वदेसायारविसिट्ठ-सत्ता-गहणं तं ण णाणं तत्थ विसेसग्गहणाभावादो त्ति भणिदे, ण, तं वि णाणं चेव, णाणादो पुधभूदकम्मुवलंभादो। ण च तत्थ एयंतेण विसेसग्गहणाभावो, दिसा-देस-संठाण-वण्णाविविसिट्ठसत्तुवलंभादो।" जयधवल १ पृ० ३३८

"कम्मकत्तारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवओगो सागारो त्ति । सायारो णाणं ।"
धवल पु० १३ पृ० २०७

"सागारो णाणोवजोगो, तत्थ कम्म-कत्तारभावसंभवादो ।" धवल १ पृ० ३३४

अर्थ—कर्म कारक (ज्ञेय) आकार कहलाता है । उस आकार के साथ जो उपयोग पाया जाता है वह साकार उपयोग है । बिजली के प्रकाश से पूर्व दिशा व देश के आकाररूप सत्ता ग्रहण होती है वह ज्ञानोपयोग नहीं है, क्योंकि उसमें विशेष पदार्थ का ग्रहण नहीं होता ऐसी आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ ज्ञान से पृथग्भूत कर्म (ज्ञेय) पाया जाता है, इसलिये वह भी ज्ञान है, वहाँ पर दिशा, देश, आकार और वर्ण आदि विषयों से युक्त सत्ता का ग्रहण पाया जाता है ।

कर्म-कर्तृभाव का नाम आकार है, उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है, उसका नाम [illegible]ार है । साकारोपयोग का नाम ज्ञान है ।

साकार अभिप्राय ज्ञानोपयोग का है, क्योंकि उसमें (पृथक्) कर्म (ज्ञेय) और कर्ता (ज्ञान) की सम्भावना है ।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ टो ला. मित्तल

दर्शन और ज्ञान का कार्य

शंका—'सत्तावलोकनम् मात्रम् दर्शनं'; 'दर्शनं स्वप्रकाशकमात्रम्' । दर्शन आत्मावलोकन है, ज्ञान पर-प्रकाशक है अथवा स्वपर प्रकाशक है, ऐसा कथन आया है । सो यह सत्तावलोकन मात्र दर्शन हमारी समझ में संसारी (छद्मस्थ) जीवों के लिए है और आत्मावलोकन मात्र अर्हन्तादि व संसारी के लिए है, क्योंकि तीन लोक में चेतन-अचेतन जितने पदार्थ हैं उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के सामान्य-विशेष केवली के ज्ञान में प्रतिसमय झलकते हैं, सामान्य नहीं । तो क्या उनके ज्ञान में इतनी कमी है कि सामान्य को नहीं जान सकते और यदि सामान्य-विशेष सम्पूर्ण अवस्था झलक गई तो फिर केवलदर्शन का क्या बाकी रहता है ? जिस समय उनके ज्ञानमें सम्पूर्ण पदार्थ युगपत् झलकते हैं । उस समय उनका दर्शन आत्मावलोकन में लगा है, ऐसा मानने में क्या बाधा है ?

समाधान—ज्ञान का विषय वस्तु है जो सामान्य विशेषात्मक है । (परीक्षामुख अ० ४ सूत्र १) 'ज्ञान मात्र विशेष को जानता है' ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सामान्यरहित मात्र विशेष अवस्तु है । अतः सामान्य विशेषात्मक पर को ग्रहण करने वाला ज्ञान है । सामान्य-विशेषात्मक स्व को ग्रहण करने वाला दर्शन है । इन्द्रिय-ज्ञान से पूर्व ही जो सामान्य स्वशक्ति का अनुभव है और जो इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तरूप है वह दर्शन है । विशेष के लिए देखिए—धवल पु० १ पृ० १४५, ३८०; पु० ६, पृ० ९, ३३; पु० १३ पृ० ३५४; पु० १५ पृ० ५–६; जयधवल पु० १ पृ० ३५९–६० ।

तर्क शास्त्रों में सत्तावलोकन को दर्शन कहा है, क्योंकि तर्क में मुख्यता से अन्य मतो का व्याख्यान है । इसलिए उसमें यदि कोई अन्य मतावलम्बी पूछे कि जैनसिद्धान्त मे जीव के दर्शन और ज्ञान जो दो गुण कहे हैं, वे कैसे घटित होते हैं, तब उसके उत्तर में अन्यमतियों को कहा जाय कि 'जो आत्मा को ग्रहण करने वाला है' वह दर्शन है तो वे अन्यमती इसको नहीं समझते । तब आचार्यों ने उनको प्रतीति कराने के लिये स्थूल व्याख्यान से

बाह्यविषय मे जो सामान्य का ग्रहण है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया। यह सफेद है—इत्यादि रूप से बाह्य विषय मे जो विशेष का जानना है उसका नाम 'ज्ञान' स्थापित किया अतः दोष नहीं। सिद्धान्त में मुख्यता से निज समय का व्याख्यान है इसलिये सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यों ने 'जो आत्मा का ग्राहक है, उसे दर्शन कहा है' अतः इसमे भी दोष नहीं। (बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा ४४ की संस्कृत टीका) तर्क शास्त्र मे ज्ञान के मध्य दर्शन को अन्तर्गत करके ज्ञान को ही स्व-पर प्रकाशक कहा है।

—जै. ग 16-11-61/VI/ एल. एम जैन

(१) अघातिया कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता
(२) छद्मस्थ के आवरणद्वय का क्षयोपशम अक्रमभावी है; उपयोग अक्रमभावी नहीं

शंका—छद्मस्थों के आठों कर्मों का उदय प्रतिसमय रहता है। जब आठों कर्मों का उदय प्रति समय रहता है तो आठों कर्मों का क्षयोपशम भी प्रतिसमय मानना पड़ेगा। जब आठों कर्मों का क्षयोपशम प्रतिसमय है तो दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग क्रम से क्यों माने गये हैं। युगपत् होने चाहिये ?

समाधान—दसवें गुणस्थान तक छद्मस्थ के आठो कर्मों का उदय निरंतर रहता है। उपशातमोह-ग्यारहवें-गुणस्थान मे और क्षीणमोह-बारहवेंगुणस्थान मे वीतरागछद्मस्थ के सात कर्मों का उदय होता है मोहनीयकर्म का उदय नहीं रहता है।

आठ कर्मों मे चार घातियाकर्म हैं और चार अघातियाकर्म हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। तथा वेदनीय, आयु. नाम, गोत्र ये चार अघातिया कर्म हैं। जो घातिया कर्म हैं उनमे सर्वघाति और देशघाति दो प्रकार के स्पर्द्धक होते हैं। सर्वघातीस्पर्द्धकों का उदयाभावरूप क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाति स्पर्द्धकों का उदय होने से कर्मों का क्षयोपशम होता है। कर्मों के क्षयोपशम होने से जो आत्मा का भाव होता है वह क्षयोपशमिकभाव है। अघातिया-कर्मों मे सर्वघाति और देशघाति स्पर्द्धक नहीं होते, अतः अघातिया कर्मों का क्षयोपशम भी नहीं होता है। मात्र चार घातियाकर्मों का क्षयोपशम होता है।

चार घातियाकर्मों मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों का तो प्रत्येक जीव के सर्वदा क्षयोपशम रहता है। दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम संयमी के होता है। तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व–मिश्रगुणस्थान में भी दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयोपशम और संयमासयम–पचमगुणस्थान मे चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है। किन्तु यहाँ पर मोहनीयकर्म की विवक्षा नही है, क्योंकि शका मात्र दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के सम्बन्ध में है।

यद्यपि प्रत्येक जीव के छद्मस्थ-अवस्था मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों का सर्वदा क्षयोपशम रहने से क्षायोपशमिकज्ञान और क्षायोपशमिकदर्शन भी निरतर रहते हैं, तथापि इन कर्मों के देशघाति स्पर्द्धकों का उदय होने के कारण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युगपत् नहीं होते, क्रम से होते हैं। केवली-जिन के सर्वघाति और देशघाति दोनोंप्रकार के स्पर्द्धकों का अत्यन्त क्षय (नाश) हो जाने से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युगपत् होते हैं। कहा भी है—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा।
जुगवं, जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥ वृ. द्र. सं.

अर्थ—छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते। केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन ये दोनो ही उपयोग एक साथ होते हैं।

—जै. ग. 7-10-65/IX/ शान्तिलाल

अर्हन्त-सिद्ध में भी उपयोग होता है

शंका—अरहंत और सिद्ध भगवान में उपयोग है या नहीं ? यदि है तो कौनसा उपयोग है ?

समाधान—'उपयोग' जीव का लक्षण है, यदि श्री अर्हंत व सिद्ध भगवान मे उपयोग न माना जाय तो उनके जीवत्व के अभाव का प्रसग आ जायगा। कहा भी है—

"उपयोगो लक्षणम्। सद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।" मोक्षशास्त्र २।८ व ९।

टीका—उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणामउपयोगः। स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानं, श्रुताज्ञानं, मत्यज्ञानं, विभङ्गज्ञान चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः चक्षुदर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शन केवलदर्शनं चेति।

जीव का लक्षण उपयोग है। अतरग और बहिरग निमित्त के वश से चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग है। वह उपयोग दो प्रकार का है (१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान श्रुताज्ञान, विभगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन। श्री अर्हंत और सिद्ध भगवान मे केवल ज्ञानोपयोग और केवल-दर्शनोपयोग ये दो उपयोग होते हैं। कहा भी है—

"सजोगिकेवलीणं अजोगिकेवलीण भण्णमाणे अत्थि केवलणाण, केवलदंसण, जुगवदुवजुत्ता वा होंति। सिद्धाणं ति भण्णमाणे अत्थि केवलणाणिणो, केवलदसण, सायार-अणागारेहिं जुगवदुवजुत्ता वा होंति।"

धवल पु० २ ओधालाप।

सयोगकेवली, अयोगकेवली अर्थात् श्री अर्हंत भगवान तथा सिद्ध भगवान का आलाप कहने पर इनके केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनो उपयोग युगपत् होते हैं। अथवा उपयोग तीन प्रकार का है—शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग। श्री अर्हंत व सिद्ध भगवान के कषाय का अभाव है, अतः उनके शुद्धोपयोग पाया जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा १४ में ['विगदरागो' 'समस्त रागादि दोष रहितत्वाद्वीतरागः'] विगतराग अर्थात् समस्त रागादि दोष से रहित जीव के शुद्धोपयोग बतलाया है।

—जै ग./ 18-12-75/VIII/

लब्धि व उपयोग में अन्तर

शंका—लब्धि व उपयोग में क्या अन्तर है ?

समाधान—मतिज्ञान इन्द्रिय व मन की सहायता से उत्पन्न होता है। इन्द्रिय व मन की रचना ज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशमानुसार होती है जिसके मात्र एक स्पर्शन-इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है उसके मात्र एक स्पर्शन-

इन्द्रिय की रचना होगी अन्य इन्द्रियों की रचना नहीं होगी। जिस जीव के स्पर्शन-इन्द्रियावरण और रसना-इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है उस जीव के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियों की ही रचना होगी, अन्य इन्द्रियों की रचना नहीं होगी। इस क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं।

"यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते।"
रा. वा. २।१८ १

जिसके बल से आत्मा द्रव्यइन्द्रियों की रचना में प्रवृत्त हो ऐसे ज्ञानावरणकर्म के विशेष क्षयोपशम का नाम लब्धि है।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप लब्धि तथा द्रव्य-इन्द्रिय व प्रकाश आदि निमित्तों से जो जानने रूप आत्मा का परिणाम विशेष होता है वह उपयोग है। कहा भी है—

"तन्निमित्तः परिणामविशेषउपयोगः।" रा. वा. २।१८।२

ज्ञानावरणकर्म के उस विशिष्ट क्षयोपशम से ज्ञायमान जो आत्मा का परिणाम विशेष है उसका नाम उपयोग है।

ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से ज्ञायमान जो आत्मा में जानने की शक्ति वह तो लब्धि है। उस लब्धि को प्रयोग में लाकर जो आत्मा का जानने रूप परिणाम वह उपयोग है। लब्धि कारण है, उपयोग कार्य है।

—जै ग 8-8-68/VI/ रोशनलाल

मन का कार्य

शंका—मन ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में उपकारक है या नहीं? यदि कहा जाय कि उसकी सहायता बिना इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती तो क्या मन का इतना ही कार्य है कि इन्द्रियों की सहायता करता रहे? क्या इससे अतिरिक्त मन का अन्य कुछ कार्य नहीं है?

समाधान—जो संज्ञी जीव हैं उनके इन्द्रियों का व्यापार मनपूर्वक होता है। धवल पु० १ पृ० २८८ पर कहा भी है—

"समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकं ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न इष्टत्वात्" किन्तु जो अमनस्क जीव हैं उनके मन के बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होती है। श्री धवल पु० १ पृ० २८७ पर कहा है—

"विकलेन्द्रिय जीवों के मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है? ऐसा नहीं है, क्योंकि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह एकान्त मान लिया जाता है, तो सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियों में रह भी तो नहीं सकता, क्योंकि दृष्ट, श्रुत, अनुभूत को विषय करने वाले मानस-ज्ञान का दूसरी जगह सद्भाव मानने में विरोध आता है। यदि मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता, क्योंकि प्रयत्न सहित आत्मा के सहकार की अपेक्षा रखने वाली इन्द्रियों से इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति पाई जाती है।"

सम्यक्मतिज्ञान और सम्यक्श्रुतज्ञान समनस्क जीवों के ही होता है अमनस्क जीवो के क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। अतः मन का विषय सम्यक्श्रुतज्ञान है। कहा भी है—

"श्रुतमनिन्द्रियस्य"। [२।२१, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ—मन का विषय श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ है।

अमनस्क जीवों मे मन के बिना भी कुश्रुतज्ञान की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है। धवल पु० १ पृ० ३६१ पर कहा भी है।

"मनरहित जीवो के श्रुतज्ञान कैसे संभव है ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योकि मन के बिना वनस्पति-कायिकजीवो के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवों के ही श्रुतज्ञान मानने मे उनसे अनेकान्त दोष आता है।"

—जै. ग. 8-8-68/VI/ रो. ला. मित्तल

ज्ञानोपयोग के अभाव में भी ज्ञानपर्याय का अस्तित्व

शंका—जिससमय ससारी जीवों के दर्शनोपयोग रहता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता तो उस विवक्षित समय में ज्ञानगुण की कोनसी पर्याय विद्यमान रहती है, क्योंकि यदि ज्ञानगुण है तो वह किसी न किसी पर्याय मे रहना चाहिये ?

समाधान—छद्मस्थ जीवो के ज्ञानगुण की दो अवस्थाएँ होती हैं:—१. लब्धि २ उपयोग। 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।' मो. शा अ २ सू. १८। ज्ञानावरण के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं। लब्धि के निमित्त से होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं (सर्वार्थसिद्धि)। अतः छद्मस्थ के जिससमय दर्शनोपयोग होता है उससमय ज्ञानलब्धिरूप रहता है, क्योंकि आवरण कर्मोदय के कारण दोनों उपयोग दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक साथ नहीं हो सकते, क्रम से होते हैं। कहा भी है—

"दंसणपुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥ (बृहद्द्रव्यसंग्रह)

अर्थ—छद्मस्थो के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि उनके दोनों उपयोग एकसाथ नहीं होते। किन्तु केवलज्ञानी के वे दोनों ही उपयोग एकसाथ होते हैं।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ र ला. जैन, मेरठ

ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, परप्रकाशक है

शंका—ज्ञान स्व-प्रकाशक है या पर-प्रकाशक ? यदि पर-प्रकाशक है तो कैसे ?

समाधान—श्री वीरसेन स्वामी के अभिप्रायानुसार ज्ञान स्व-प्रकाशक नहीं है, किन्तु पर-प्रकाशक है और दर्शन स्व-प्रकाशक है। इसका स्पष्ट उल्लेख श्री धवल और जयधवल ग्रंथों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। उनमें से कुछ उद्धरण यहाँ पर दिये जाते हैं—

धवल पुस्तक १—'अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है अतः इन दोनों के एक होने मे विरोध आता है।" [पृ० १४५]

यदि ऐसा कहा जाय कि अतरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन तथा अन्त-बाह्य-विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है तो ऐसा मानने मे दो आपत्तियाँ आती हैं। प्रथम तो छद्मस्थ के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के युगपत् होने का प्रसंग आजायगा, क्योंकि सामान्य–विशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है। दूसरे यह कि सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करने मे असमर्थ है, और जो अर्थक्रिया करने मे असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होने के कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता तथा केवल विशेष का ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योकि सामान्यरहित अवस्तुरूप केवल विशेष में कर्त्ता, कर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इसप्रकार केवल विशेष को ग्रहण करनेवाले ज्ञान मे प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से, केवल सामान्य को ग्रहण करनेवाले दर्शन को प्रमाण नहीं मान सकते हैं। प्रमाण के अभाव में प्रमेय (पदार्थ) और प्रमाता (आत्मा) आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा, किन्तु उनका अभाव है नही, क्योकि उनका सद्भाव दृष्टिगोचर होता है [पृ० १४६–१४७]।

अतः सामान्य–विशेषात्मक बाह्यपदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्मरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है।

"जं सामण्णं गहणं तं दसणं" इस परमागमवाक्य के साथ भी विरोध नही आता है, क्योकि आत्मा सपूर्ण बाह्य पदार्थों मे साधारणरूप से पाया जाता है, इसलिये उक्त परमागम वचन मे सामान्य सज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्यपद से ग्रहण किया गया है। [पृ० १४७]

अतरग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरणकर्म है और बहिरग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरणकर्म है [पृ० ३८१]। इसीप्रकार धवल पु० ६, ७, ११, १३ में तथा जयधवल पु० १ मे कथन है, वहाँ से देख लेना चाहिये।

यह कथन सिद्धान्तग्रंथ अनुसार है, किन्तु तर्क शास्त्र में, अन्यमत वालों को समझाने की मुख्यता होने से, ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक कहा गया है। जैसे परीक्षामुख के प्रथमसूत्र "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं" मे कहा है कि स्व और अपूर्वार्थ (पर) का निश्चय करना ज्ञान है और वही प्रमाण है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियो से ज्ञान को पर-प्रकाशक तथा स्व-पर-प्रकाशक कहा है।

—जै ग. 5-8-65/IX/ ज्ञानितलाल

'कर्मकृत भाव' से अभिप्राय

शंका—धवल पु० १३ में आकार का लक्षण 'कर्मकृत भाव' कहा है, किन्तु केवली का ज्ञान कर्मकृत भाव नहीं है क्योंकि वहाँ पर तो ज्ञानावरण आदि चारों घातियाकर्मों का क्षय हो चुका है। आकार का यथार्थ लक्षण क्या है ? केवलज्ञान साकार है या नहीं ?

समाधान—श्री धवल पु० १३ पृ० २०७ पर ज्ञान को साकारोपयोग और दर्शन को अनाकारोपयोग कहा है वहाँ पर आकार का लक्षण 'कम्म-कत्तार-भावो आगारो' कहा है अर्थात् 'कर्म-कृत भाव का नाम आकार है'। धवल पुस्तक ११ पृ० ३३३ में भी 'आगारोणाम कम्मकत्तारभावो।' अर्थात् 'आकार का अर्थ कर्म-कर्तृत्वभाव है।'

शंकाकार ने उपर्युक्त वाक्यो मे प्रयोग किये गये 'कर्म' शब्द का यथार्थ अर्थ नहीं समझा। यहाँ पर 'कर्म' का अर्थ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म नहीं है, किन्तु प्रमाण (ज्ञान) से पृथक्भूत-पदार्थ जो ज्ञान का विषय होता है उस पदार्थ को कर्म कहा है। उस पदार्थ के द्वारा किया हुआ जो भाव (पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञेयाकार) है, वह आकार है। उस आकार के साथ जो उपयोग पाया जाता है, वह साकारोपयोग अर्थात् ज्ञान है। कहा भी है—

"पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो" जयधवल पु० १ पृ० ३३१।

"आयारो कम्मकारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण बुद्धिगोयरमुवणीयं, तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं। आणादोपुधभूदकम्मुवलभादो।" जयधवल पु० १ पृ० ३३८।

अर्थ—प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं, अर्थात् प्रमाण मे अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है, उसे आकार कहते हैं अथवा बुद्धि (ज्ञान) के विषयभाव को प्राप्त हुआ कर्मकारक आकार कहलाता है। वहाँ पर ज्ञान से पृथग्भूत कर्म पाया जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाधीन है इसीलिये ज्ञान को साकारोपयोग कहा है। किन्तु ज्ञेयो का परिणमन ज्ञान के आधीन नही है। ज्ञेय पदार्थों का परिणमन अपने-अपने अतरग और बहिरग कारणों के आधीन है।

दर्शनोपयोग का विषय बाह्य पदार्थ नहीं है इसीलिये दर्शन को अनाकारोपयोग कहा है।

इस प्रकृत मे 'कर्म' का अर्थ ज्ञान से पृथग्भूत बाह्यपदार्थ ग्रहण करना चाहिये, न कि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म।

—जै. ग 5-8-65/IX/ शान्तिलाल

चक्षु आदि इन्द्रियों की अन्तरंग में प्रवृत्ति नहीं होती

शंका—धवल पु० ७ पृ० १०१ पर समाधान नं० २ में भाषा में लिखा है कि यथार्थ में तो चक्षुइन्द्रिय की अन्तरंग में ही प्रवृत्ति होती है।" क्या यह ठीक है ?

समाधान—उक्त अभिप्रायवाले शब्द प्राकृत टीका, अर्थात् धवला मे नहीं है। अनुवादक ने अपनी ओर से लिख दिये हैं; क्योंकि हिन्दी भाषा-पक्ति ५ मे 'अन्तरग' अर्थात् 'आत्मपदार्थ' किया है। सामान्य का अर्थ वहाँ आत्मपदार्थ किया गया है। सस्कृत में 'जीव' शब्द है। जीव या आत्म-पदार्थ इन्द्रिय का विषय नहीं है।

—पत्राचार 3-8-77/ ज ला. जैन, भीण्डर

उपयोग जीवों की समस्त इन्द्रियाँ युगपत् व्यापार नहीं कर सकतीं

शंका—समस्त इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में युगपत् प्रवृत्ति हो सकती है या नहीं ?

समाधान—इन्द्रियज्ञान छद्मस्थो के होता है। छद्मस्थों के ज्ञानावरणकर्म का उदय रहता है। मतिज्ञानावरणकर्म के देशघातिस्पर्धकों के उदय के कारण समस्त इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में युगपत् प्रवृत्ति नहीं हो

सकती है। एक समय मे एक इन्द्रिय के द्वारा उसके विषय का ज्ञान हो सकता है, किन्तु पलटन बहुत शीघ्र होती रहती है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रियो की युगपत् प्रवृत्ति हो रही है। जैसे कौवे के आँख की गोलक तो दो होती हैं, किन्तु पुतली एक होती है। पुतली इतनी तेजी से फिरती है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कौवा दोनों आँखों से देख रहा है। प्रवचनसार गाथा ५६ व टीका।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ रो. ला. मित्तल

निद्रावस्था में उभयविध उपयोग का अभाव सम्भव है

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अ० २/ सूत्र ८ में उपयोगो लक्षणम् कहा है। लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति व असम्भव दोषों से रहित होता है अतः जीव सुप्त, मूर्च्छित आदि अवस्था में भी ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग में से किसी एक उपयोग से युक्त होता है, यह निश्चय हुआ। यानी निद्रावस्था में भी ज्ञानोपयोग का नैरन्तर्य उपरोक्त सूत्र से सिद्ध होता है परन्तु आचार्य वीरसेन स्वामी ने तो धवल पु० १ व पुस्तक १३ मे निद्रा में ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग दोनों ही नहीं हो, यह भी सम्भव बतलाया है; तो क्या दोनों आचार्यों में मतभेद है ?

समाधान—लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्, उपयोगरूप न हो, लब्धिरूप चेतना (उपयोग) रहने में कोई बाधा नही।

—पत्र 3-8-80/ ज. ला जैन, भीण्डर

निद्राकाल में कथंचित् उपयोग रहता भी है, कथंचित् नहीं भी रहता

शंका—अभी मेरे ज्ञानोपयोग वरत रहा है और उसी समय मुझे निद्रा आगई तो क्या वर्तता हुआ ज्ञानोपयोग नष्ट हो जाएगा ? यानी निद्रा आने के क्षण से पूर्व के क्षण तक जो ज्ञानोपयोग चल रहा था वह भी अनन्तर क्षण में निद्रा आ जाने से नष्ट हो जाएगा क्या ?

समाधान—निद्रा के विषय मे दो मत हैं। एक मत तो धवल पु० १ सूत्र १३१ की टीका में पृ० ३८३ पर है और दूसरा मत धवल पु० १३ मे है।

—पत्र 8-7-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

लब्ध्यपर्याप्तकों के भी उपयोग होता है

शंका—लब्ध्यपर्याप्तक में ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग कैसे सम्भव है ? क्योंकि वहाँ पर द्रव्य इन्द्रिय व द्रव्यमन है ही नहीं।

समाधान—इन्द्रियों से ही जीव को ज्ञान होता है, ऐसा एकान्त नियम नही है। कहा भी है—

"ण च इंदिएहिंतो चेव जीवे णाणमुप्पज्जदि, अपज्जत्तकाले इंदियाभावेण णाणाभावप्पसंगादो। ण च एवं, जीवदव्वाविणाभावि णाणदंसणाभावे जीवदव्वस्स वि विणासप्पसंगादो।" [—जयधवल पु० १ पृ० ५१-५२]

इन्द्रियों से ही जीव मे ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अपर्याप्त-काल में इन्द्रियों का अभाव होने से ज्ञान-दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है। यदि कहा जाय कि अपर्याप्त अवस्था

में ज्ञानदर्शन का अभाव होता है तो हो जाओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यावत् जीव द्रव्य में रहने वाले और उसके अविनाभावी ज्ञान-दर्शन का अभाव मानने पर जीवद्रव्य के विनाश का प्रसंग प्राप्त होता है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन भीण्डर

लब्ध्यपर्याप्तक के उपयोग रहित अवस्था भी संभव है

शंका—क्या यह भी सम्भव है कि किसी लब्ध्यपर्याप्तक को कभी दोनों में से कोई भी उपयोग न हो?

समाधान—यह भी सम्भव है कि लब्ध्यपर्याप्तक के किसी समय ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग मे से कोई भी न हो, मात्र क्षयोपशम (लब्धिरूप) हो।

—पत्र 30-9-80/ ज. ला जैन, भीण्डर

दर्शनोपयोग व सम्यग्दर्शन में भेद

शंका—पंचास्तिकाय गाथा ४० में दर्शनोपयोग को जीव से अपृथग्भूत कहा है। जब दर्शनोपयोग जीव से अपृथग्भूत है तो सम्यग्दर्शन भी जीव से अपृथग्भूत होगा। जब दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन दोनों जीव से अपृथग्भूत हैं तब इन दोनो में एकत्व का प्रसग क्यों नहीं आवेगा?

समाधान—यद्यपि सज्ञा, सख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से दर्शनोपयोग गुण तथा जीवद्रव्य गुणी मे भेद है तथापि प्रदेश की अपेक्षा दर्शनोपयोग गुण और जीवद्रव्य गुणी मे भेद नही है, क्योंकि जो प्रदेश गुणी के हैं उन्ही प्रदेशो मे गुण रहता है, गुण के पृथक् प्रदेश नहीं होते हैं। अतः दर्शनोपयोग को जीव से अपृथग्भूत कहा है। कहा भी है—

"गुणगुण्यादिसंज्ञादि-भेदाद् भेदस्वभावः ॥ ११२ ॥ गुणगुण्याद्येकस्वभावादभेद-स्वभावः ॥ ११३ ॥"

सम्यग्दर्शन भी जीव के श्रद्धागुण की पर्याय है अतः सम्यग्दर्शन भी जीवद्रव्य से प्रदेश की अपेक्षा अपृथग्भूत है, किन्तु सज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा सम्यग्दर्शन व जीवद्रव्य मे भेद है।

प्रत्येक गुण का कार्य भिन्न-भिन्न है। दर्शनगुण का कार्य सामान्य अवलोकन है। जैसाकि कहा है—**"सामान्यग्राहि दर्शनम्।"** किन्तु सम्यग्दर्शन का कार्य तत्त्वार्थश्रद्धान है। जैसा कहा है—

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।"

"दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन मे लक्षण भेद होने से दोनों एक नहीं हो सकते हैं। किन्तु दोनों जीवप्रदेश के आश्रित होने से दोनो के प्रदेश अपृथग्भूत हैं।"

—जै. ग. 15-6-72/VII/ टो. ला. मित्तल

ज्ञान का पर पदार्थों के साथ ज्ञेयज्ञायक तथा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है
बाह्य पदार्थों में उपयोग के जाने से ज्ञान का नाश नहीं होता

शंका—क्या उपयोग का बाह्य पदार्थों के साथ कोई संबंध नहीं है? यदि उपयोग बाह्य पदार्थों में जाता है तो क्या उपयोग का मरण हो जाता है?

समाधान—उपयोग का बाह्य पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध अथवा ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है। श्रीमद् देवसेनाचार्य ने कहा भी है—

"सम्बन्धोऽविनाभावः संश्लेषः सम्बन्धः, परिणाम परिणामि सम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेय-सम्बन्धः, ज्ञानज्ञेय-सम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि।"

श्री वीरसेनाचार्य ने भी 'ज्ञो ज्ञेयेकथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।' इन शब्दों द्वारा यह कहा है कि प्रतिबन्धक के नहीं रहने पर अर्थात् ज्ञानावरणकर्म के क्षय हो जाने पर ज्ञाता ज्ञेय के विषय में अज्ञ कैसे रह सकता है? इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थों के साथ उपयोग का ज्ञान ज्ञेयसम्बन्ध है। यदि ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध न माना जाय तो ज्ञानावरणकर्म के हो जाने पर भी ज्ञानोपयोग सर्व पदार्थों को नहीं जान सकेगा इसप्रकार सर्वज्ञ के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

उपयोग दो प्रकार का है—

(१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है—

"स उपयोगो द्विविधः—
ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति।'

इन दोनो उपयोगो का पृथक्-पृथक् कार्य श्री वीरसेनाचार्य ने निम्न प्रकार बतलाया है—

"स्वस्माद्भिन्नवस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम् स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्।"

अर्थात्—अपने से भिन्न वस्तु का परिच्छेदक ज्ञान है और अपने से अभिन्न वस्तु का परिच्छेदक दर्शन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानोपयोग का सम्बन्ध बाह्यपदार्थों से है।

यद्यपि केवलज्ञान मे अनंतानन्त-लोकालोक को जानने की सामर्थ्य है (यावांल्लोकालोक स्वभावोऽनन्त तावन्तोऽनन्तानंता यद्यपि स्युः तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं तत् केवलज्ञानंवेदितव्यम्) तथापि ज्ञेयों के अभाव के कारण वह सामर्थ्य व्यक्त नहीं हो सकती।

णेयाभावे विल्लो जिम थक्कइ णाणु वलेवि।
मुक्कहं जसु पय बिंबियउ परम सहु उ भणेवि॥ १।४७॥ (परमात्मप्रकाश)

टीका—"यथा मण्डपाद्यभावे वल्ली व्यावृत्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलम्बनाभावे ज्ञानं व्यावृत्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः।"

जैसे मण्डप के अभाव से बेल (लता) ठहर जाती है, अर्थात् जहाँ तक मंडप है, वहाँ तक तो बेल चढ़ती है और उससे आगे मण्डप का सहारा न मिलने से, सामर्थ्य होते हुए भी आगे नहीं चढ़ सकती उसी प्रकार मुक्त जीवों का केवलज्ञान भी जहाँ तक ज्ञेयपदार्थ हैं वहाँ तक परिच्छेदकरूप से फैल जाता है, किन्तु शक्ति होते हुए भी ज्ञेयों का अभाव होने के कारण आगे फैलने से रुक जाता है।

श्री स्वामिकार्तिकेय ने भी कहा है—"णेयेण विणा कहं णाणं।" ज्ञेयों के बिना ज्ञान कैसे हो सकता है? इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

"णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

अर्थात्—ज्ञान ज्ञेयो के बराबर है।

श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है—

"आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्।"

अर्थात्—केवलज्ञान आत्मा और अर्थ (ज्ञेयों) से अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा नही रखता, इसलिये वह केवल असहाय है। इससे स्पष्ट है कि केवलज्ञान अर्थों (ज्ञेयो) की सहायता की अपेक्षा रखता है।

इन आर्षवाक्यो से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान की शक्ति की व्यक्तता मे परपदार्थ सहायक होते हैं। इसप्रकार ज्ञान का परपदार्थों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है।

'परपदार्थों को जानना' ज्ञान का स्वभाव है, किन्तु एकातवादी ऐसा मानता है कि परपदार्थों को जानने से (परपदार्थों मे ज्ञानोपयोग जाने से) ज्ञान मलिन हो जाता है, अत. वह एकान्तवादी परपदार्थों मे ज्ञान को नही जाने देता (परपदार्थों को जानने से ज्ञान को रोकता है।) इसप्रकार वह एकान्तवादी ज्ञान-स्वभाव का नाश करता है। उस एकान्तवादी को समझाने के लिये आचार्य कहते हैं—

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञान पशुर्नेच्छति। वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञान स्वतः क्षालितं पर्यायैस्तवमेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥२५१॥ एकान्तवादी पशु तो ज्ञान मे ज्ञेयाकार (ज्ञेयो के जानने) को मैल समझ कर एकाकार (ज्ञान को पर पदार्थों के जानने से रहित करने) के लिये ज्ञेयाकार को धोकर ज्ञान का नाश करता है। अनेकान्तवादी ज्ञेयाकार से ज्ञान की विचित्रता होने पर भी ज्ञानाकार से ज्ञान को एकाकार मानता है अर्थात् अनेकान्तवादी परज्ञेयो के जानने से ज्ञान मे मलिनता नही मानता, क्योंकि परपदार्थों का जानना ज्ञानका स्वभाव है।

जो बाह्यपदार्थों मे उपयोग के जाने से ज्ञान का नाश मानते हैं, उनको जीवद्रव्य का भी नाश मानना होगा, क्योंकि ज्ञानरूप लक्षण का नाश होने पर जीवद्रव्य लक्ष्य का भी नाश होना अवश्यम्भावी है।

श्री वीरसेनाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी भी पदार्थ के आलम्बन से ध्यान हो सकता है—

"आलंबणेहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
जं जं मणसा पेच्छेइ तं तं आलंबणं होई॥ (धवल पु० १३ पृ० ७०)

यह लोक ध्यान के आलम्बनो से भरा हुआ है। ध्यान मे मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होता है।

—जै. ग. 19-12-74/ / राजमल जैन

"उपयोग बाहर निकले तो जम का दूत ही आगया" इत्यादि वाक्य आर्ष वाक्यों से प्रतिकूल हैं

शंका—क्या निम्न बातें आर्षग्रंथानुकूल हैं—

(१) उपयोग अपने से बाहर निकले तो जम का दूत ही आया, बाहर में चाहे भगवान भी भले हो। उपयोग बाहर जावे उसमें अपना मरण हो रहा है। बाहर के पदार्थ से तो अपना कोई संबंध ही नहीं।

(२) सुनने के भाव में सुनने वाले को नुकसान है और सुनाने के भाव में सुनाने वाले को नुकसान है। अपनी अपनी योग्यता के अनुसार दोनों को नुकसान है।

(३) देव, गुरु, शास्त्र की ओर लक्ष्य जाता है उसमें नुकसान ही है, लाभ नहीं है यह बात पक्की हो जानी चाहिये।

समाधान—बाह्य पदार्थों के साथ जीव-आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, निमित्त-नैमित्तिक आधार-आधेय, श्रद्धेय-श्रद्धा इत्यादि सम्बन्ध हैं। श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा भी है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

परमार्थस्वरूप आप्त-आगम व तपस्वियो का जो, अष्टअंग सहित, तीनमूढता रहित तथा मदविहीन, श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेई सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्ता ॥

आप्त, आगम और तत्त्वो के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त गुणो से तन्मय है ऐसा पुरुष आप्त कहलाता है।

छह दव्व णवपयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥ (दर्शनपाहुड़)

छहद्रव्य, नौपदार्थ, पांचअस्तिकाय और साततत्व जिनेन्द्र द्वारा कहे गये हैं। जो उनके स्वरूप का श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दष्टि है।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥५॥ सूत्रपाहुड़

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सूत्र के अर्थ को, जीव–अजीव आदि बहुत प्रकारके पदार्थों को तथा हेय–उपादेय को जानता है वह वास्तव मे सम्यग्दष्टि है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य भी कहते हैं।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि वह श्रद्धान आत्मा का गुणरूप सम्यग्दर्शन है।

श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है—

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।"

तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थ तत्त्वार्थ हैं। उनके विषय मे श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। आप्त, आगम और पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है।

श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने भी कहा है—

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदोस रहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥
जीवाजीवासव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
एयाइं सत्त तच्चाइं सद्दहंतस्स सम्मत्त ॥
आउ-कुल-जोणि-मग्गण-गुण जीवुवओग-पाण-सण्णाहिं।
णाऊण जीवदव्वं सद्दहण होइ कायव्वं ॥

आप्त, आगम और तत्त्वो का शंकादि दोषरहित जो अति निर्मल श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं और इनका श्रद्धान सम्यक्त्व है। आयु, कुल, योनि, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवसमास, उपयोग, प्राण और संज्ञा के द्वारा जीवद्रव्य को जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये।

श्री गुणभद्र आचार्य ने भी कहा है—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्।
सद्वृत्तात् स च तच्च बोध नियतं सोऽप्यागमात् सा श्रुतेः ॥
सा चाप्तात् स च सर्वदोष रहितो रागादयस्तेऽप्यतः।
त युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियै ॥ आत्मानुशासन

सर्वप्राणी अति-शीघ्र यथार्थ सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। वह सुख कर्मक्षय से मिलता है। कर्मों का क्षय सद्व्रत से होता है। सद्व्रत सम्यग्ज्ञान के द्वारा प्राप्त होते हैं। सम्यग्ज्ञान आगम से प्राप्त होता है। वह आगम भी द्वादशांगरूप श्रुत के सुनने से होता है। वह द्वादशांगश्रुत आप्त से आविर्भूत होता है। रागादि समस्त दोषो से रहित आप्त होता है। इसलिये सुख के मूल कारणभूत आप्त का युक्तिपूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य सम्पूर्ण सुख देने वाले उसी आप्त का आश्रय लेते हैं।

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफल भारातिविनते,
वचः पर्णाकीर्णेविपुल नयशास्त्रशतयुते।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥ आत्मानुशासन

श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एव फलो के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनरूप पत्तो से व्याप्त है, विस्तृत नयोरूप सैकड़ो शाखाओ से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड से स्थिर है उस श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान को अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमाना चाहिए।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।

शास्त्ररूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्यजीव मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। जिस प्रकार पद्मरागमणि को अग्नि मे रखने पर वह मल से रहित होकर अतिशय निर्मल

हो जाता है और सदा वैसा ही रहता है, उसीप्रकार श्रुताभ्यास करने पर भव्य जीव भी राग-द्वेषादि-मलसे रहित होकर विशुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है और सदा उसी अवस्था मे रहता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥ प्रवचनसार

जिन भगवान ने पौद्गलिक दिव्यध्वनि वचनो द्वारा द्रव्यश्रुत का उपदेश दिया है। उस द्रव्यश्रुत के आधार से जो जानपना है वह भाव श्रुतज्ञान है। इस गाथा मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह बतलाया है कि दिव्यध्वनि के द्वारा द्रव्यश्रुत की रचना हुई है और उस द्रव्यश्रुत के आधार से भावश्रुतज्ञान उत्पन्न होता है।

"णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।"

टीका—पदार्थनिश्चितिरागमतो भवति। ततः कारणादेवमुक्तलक्षणागमपरमागमे च चेष्टा प्रवृत्तिः ज्येष्ठा प्रशस्येत्यर्थः ॥२३२॥ (प्रवचनसार जयसेनीय टीका)

आगम से पदार्थों का निश्चय होता है। इसलिये शास्त्राभ्यास मे उद्यम करना श्रेष्ठ है।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥ प्रवचनसार

नानाप्रकार गुण-पर्यायोसहित सर्वपदार्थ आगम से सिद्ध हैं। आगम से शास्त्र के द्वारा उन सब पदार्थों को यथार्थ देखकर जो जानते हैं वे ही साधु हैं।

इस गाथा मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह बतलाया है कि आगम अर्थात् शास्त्र के द्वारा सर्व पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। इसीलिये, 'आगमचक्खू साहू' अर्थात् साधु सर्व पदार्थों को आगम के द्वारा जानता है, ऐसा कहा गया है।

इन आर्षवाक्यो से यह सिद्ध हो जाता है कि वीतरागदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्म और स्याद्वादमयी जिनवाणी का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यदि देव, गुरु, शास्त्र मे उपयोग नहीं जायगा तो उनका ज्ञान और श्रद्धान संभव नही है। देव, गुरु, शास्त्र के ज्ञानाभाव मे सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे मोक्षमार्ग का अभाव हो जायगा, क्योकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।

यदि यह कहा जाय कि देव, गुरु, शास्त्र में उपयोग जाने से रागोत्पत्ति की सम्भावना है, इसलिये देव, गुरु, शास्त्र मे उपयोग नहीं जाना चाहिए; तो ऐसा कहना ठीक नही है। देव, गुरु, शास्त्र में यदि राग की उत्पत्ति भी हो जाय तो वह राग प्रशस्त है, क्योकि उसका आश्रय वीतरागता से है। वह प्रशस्तराग मोक्ष मार्ग का बाधक न होकर साधक है। कहा भी है—

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥ [आत्मानुशासन]

तप व शास्त्र विषयक जो अनुराग है वह अज्ञानरूप अंधकार को नष्ट करने वाला है, इसलिये सूर्य की प्रभात कालीन लालिमा के समान है। उससे स्वर्ग व मोक्ष सुख मिलता है।

श्री कुलभद्राचार्य ने संसार दुःखक्षय का उपाय बतलाते हुए कहा है—

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्-पूजनम् ।

दुःख-विच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥३२२॥ (सार समुच्चय)

संसार के दुखो का नाश करने के लिये व्रत, शील, तप, दान, संयम तथा अर्हंत-पूजन ये सब उपाय हैं इसमे संशय नहीं करना चाहिए।

वीतराग निर्ग्रन्थ महाव्रतधारी गुरुओ का उपदेश तो इस प्रकार है। इसके विपरीत रागी द्वेषी सग्रन्थ असंयमी गुरु का उपदेश माननीय नहीं हो सकता है। आर्षग्रन्थों की स्वाध्याय से ही यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

—जै. ग. 20-3-75 व 27-3-75/VI/ रामलाल जैन

जीव तत्त्व : सम्यग्दर्शन

१. व्यवहार व निश्चय के स्वरूप तथा भेद-प्रति भेद
२. व्यवहार सम्यग्दर्शन भी वास्तविक सम्यग्दर्शन है
३. व्यवहार सम्यक्त्व में मिथ्यात्व कर्म के उदय का अभाव रहता है
४. निश्चय व व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप एवं अक्रमास्तित्वविचार

शंका—व्यवहार सम्यग्दर्शन व निश्चय सम्यग्दर्शन, इनका क्या स्वरूप है? व्यवहार सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण कहा है, सो व्यवहार सम्यग्दर्शन क्या केवल निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण होने से ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है, वैसे वह सम्यक्त्व नहीं? करणानुयोग की सूक्ष्मदृष्टि से व्यवहार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व ही है क्या?

जिसे देव, शास्त्र, गुरु की सच्ची श्रद्धा है उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है तथा जिसे आत्म-श्रद्धा है अपने आप में रुचि है उसे निश्चयसम्यक्त्व कहा जाता है। तब व्यवहारसम्यक्त्व अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र की सच्ची श्रद्धावाला अपने आपकी रुचि रखने वाला होगा या नहीं? और अपने आप में रुचि रखने वाला देव, गुरु, शास्त्र का सच्चा श्रद्धानी होगा या नहीं?

किसी भी जीव के व्यवहार व निश्चयसम्यक्त्व दोनों साथ रहते हैं या इनमें से कोई भी रह सकता है? यदि है तो कौनसा और क्यों कर? निश्चय सम्यक्त्व मोक्ष का साक्षात् कारण है तब व्यवहार सम्यक्त्व भी परंपरा से कारण है या नहीं? व्यवहार सम्यग्दर्शन होने पर भी संसार अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल मात्र रह जाता है या नहीं?

क्या निश्चयसम्यक्त्व व व्यवहारसम्यक्त्व एक ही सम्यक्त्व के दो प्रकार कथन करने की अपेक्षा से हैं? यदि ऐसा है तो निश्चय व व्यवहार दोनों सम्यक्त्व एक दूसरे के साथ ही रहेंगे, एक दूसरे के बिना रहेंगे नहीं? और यह बात फिर प्रत्येक कथन में होनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु का निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार से निरूपण हो सकता है और दोनों ही धर्म प्रत्येक वस्तु में होने चाहिये तब दोनों साथ ही होंगे?

समाधान—इस शंका का समाधान करने से पूर्व निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप तथा उनके भेद प्रतिभेदों का कथन करना आवश्यक है। अतः सर्व प्रथम नय का लक्षण और निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा उसके भेदो का कथन किया जाता है।

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।" जयधवल पु० १ पृ० २१०

अर्थ—जो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थ के विशेष का अर्थात् किसी एक धर्म का कथन करता है, वह 'नय' है।

"सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः इति।" सर्वार्थ सि० ११६

अर्थ—सकलादेश (सम्पूर्ण धर्मों को विषय करना) प्रमाण के आधीन है और विकलादेश (एक धर्म को विषय करना) नय के आधीन है।

श्री स्वामिकार्तिकेय ने नय का लक्षण इस प्रकार कहा है—

णाणा-धम्म-जुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेय-विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं ॥२६४॥

अर्थ—यद्यपि पदार्थ नाना धर्मों से युक्त है तथापि नय एक धर्म को ही कहता है, क्योंकि उस धर्म की विवक्षा है, शेष नयो की विवक्षा नहीं है।

उच्चारयम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिदा ॥११८॥ जयधवल पु. १ पृ. २५९

अर्थ—पद के उच्चारण करने पर और उसमे किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर यहाँ पर इस पद का क्या अर्थ है इस प्रकार ठीक रीति से अर्थ तक पहुँचा देते हैं अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ का ज्ञान कराते हैं इसलिये वे 'नय' कहलाते हैं।

इस आर्षवाक्य से इतना स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय व व्यवहार नय इन दोनो नयो मे से प्रत्येक नय अर्थ (पदार्थ) का ठीक-ठीक बोध कराता है।

वस्तु के किसी एक धर्म की विवक्षा से जो लोक व्यवहार को साधता है वह नय है। जो लोक व्यवहार की सिद्धि मे सहायक नही, वह नय नहीं है। कहा भी है—

लोयाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुय-णाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंग-संभूदो ॥२६३॥ स्वा. का.

अर्थ—जो वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधता है वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिंग से उत्पन्न होता है।

'न्यायश्चर्यते लोकसंव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम्, यत्र स नास्ति न स न्यायः फलरहितत्वात्।' ज.ध पु १ पृ ३७२

अर्थ—नय का अनुसरण भी लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये किया जाता है। परन्तु जो लोकव्यवहार की सिद्धि में सहायक नहीं है वह नय नहीं है, क्योंकि उसका कोई फल नही पाया जाता है।

समस्त व्यवहार की सिद्धि सुनय से होती है। सुनय और कुनय का लक्षण इस प्रकार है—

ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयल-ववहार-सिद्धी सुणयादो होदि णियमेण ॥२६६॥

अर्थ—ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हो तो दुर्नय होते हैं, सुनय से ही समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है ।

अध्यात्मभाषा में मूल नय दो हैं । (१) निश्चयनय और व्यवहारनय । निश्चयनय का अभेद विषय है और व्यवहारनय का भेद विषय है । निश्चयनय के दो भेद हैं—शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय । व्यवहारनय भी दो प्रकार की है—सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय । एक ही वस्तु जिसका विषय हो वह सद्भूतव्यवहार-नय । भिन्न वस्तु जिसका विषय हो वह असद्भूतव्यवहारनय है । उपचरित और अनुपचरित के भेद से इन दोनों व्यवहारनयों के भी दो-दो भेद हैं । (श्रीमद् देवसेन आचार्य विरचित आलापपद्धति)

समयसार मे निश्चयनय के और व्यवहारनय के विषय में निम्न प्रकार कथन है—

१. निश्चयनय से द्रव्य मे पर्यायकृत व गुणकृत भेद नही है । गाथा ६ व ७

व्यवहारनय से पर्यायकृत व गुणकृत भेद हैं । गाथा ६ व ७

२. निश्चयनय द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है । गाथा ५६ की टीका

३. निश्चयनय स्वाश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित है ।

श्री गो. जीव. गाथा ५७२ मे भी 'ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो' इन शब्दो द्वारा यह कहा है कि व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दो का एक ही अर्थ है ।

यद्यपि वस्तु भेदाभेदात्मक है तथापि निश्चयनय अभेद को विषय करता है और व्यवहारनय का विषय 'भेद' है ।

यद्यपि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है तथापि सामान्य (द्रव्य) निश्चयनय का विषय और विशेष (पर्याय) व्यवहारनय का विषय है ।

यद्यपि वस्तु स्वाश्रितपराश्रितधर्ममयी है । तथापि निश्चयनय स्वाश्रित है । और व्यवहारनय पराश्रित है । जैसे 'केवलज्ञानी आत्मा को जानते हैं' यह कथन स्वाश्रित होने से निश्चयनय का विषय है । केवलज्ञानी सर्व को जानते हैं यह पराश्रित होने से व्यवहारनय का विषय है ।

सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने मे समीचीन हैं और दूसरे नयो का निराकरण करने में मूढ हैं । अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इस प्रकार का विभाग नहीं करते है । गाथा इस प्रकार है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ।। जयधवल पु. १ पृ. २५९

सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने मे समीचीन (सच्ची) हैं, किसी भी नय का विषय उस नय की दृष्टि से झूठा नहीं है ।

इसीलिए श्री वीरसेन स्वामी कहते हैं कि व्यवहारनय को असत्य कहना ठीक नहीं है ।

'ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो ववहाराणुसारि सिस्साण पउत्तिदंसणादो । जो बहुजीवाणुग्गहकारी-ववहारणओ सो चेव समस्सियव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं ।' जयधवल पु. १ पृ. ८

अर्थ—यदि कहा जाय–व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यो की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसीका आश्रय करना चाहिये। ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारो के आदि में मंगल किया है।

इस प्रकार नय, निश्चयनय, व्यवहारनय का स्वरूप समझ लेने से निश्चय-सम्यग्दर्शन और व्यवहार-सम्यग्दर्शन का स्वरूप सरल हो जाता है।

सम्मद्दंसणणाणं चरण मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥ वृहद् द्रव्यसंग्रह

अर्थ—व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों के समुदाय को मोक्ष का कारण जानो और निश्चयनय से इन तीनो मयी निज आत्मा को मोक्ष का कारण जानो।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं यह सत्य है, किन्तु भेद-विवक्षा होने से इसको व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है और विवक्षा से इन तीनमयी आत्मा को मोक्षमार्ग कहा गया है।

इसी बात को श्री कुंदकुंद भगवान ने पंचास्तिकाय गाथा १६१ के इन वाक्यों द्वारा कहा है—

"णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदोहु जो अप्पा।"

अर्थात्—निश्चयनय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन से युक्त यह आत्मा मोक्षमार्ग कहा गया है।

इसी दृष्टि से श्री नेमिचन्द्राचार्य ने वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ मे निम्न वाक्यों द्वारा व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन को कहा है—

"जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो त तु।"

अर्थात्—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन अभेदनय से आत्मा का स्वरूप है, इसलिये सम्यग्दर्शन स्वरूपमयी आत्मा निश्चयसम्यग्दर्शन है।

श्री कुंदकुंद भगवान स्वाश्रित और पराश्रित की अपेक्षा से निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं—

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एवमेव णायव्वो ॥३६५॥ [समयसार]

अर्थात्—जैसे सेटिका (खड़िया) पर की नहीं है, सेटिका तो सेटिका ही है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन पर का नहीं है, दर्शन तो दर्शन है। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र मे निश्चयनय का कथन है और उस सम्बन्ध मे

संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो। जैसे सेटिका अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे व्यवहारनय का निर्णय कहा है। अन्य पर्यायो मे इसी प्रकार जानना चाहिए।

इन गाथाओ की टोका मे यह कहा है कि निश्चयनय की दृष्टि मे स्वस्वामिरूप अंश (आत्मा का श्रद्धान) भी व्यवहार है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है; मात्र इसलिये उसको (व्यवहारसम्यग्दर्शन को) सम्यग्दर्शन की संज्ञा नही दी गई है। सम्यग्दर्शन का जो लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्', व्यवहारसम्यग्दर्शन मे पाया जाता है तथा सम्यग्दर्शन के बाधककारण मिथ्यात्वकर्मोदय का भी अभाव है। इसलिये **व्यवहारसम्यग्दर्शन भी वास्तविक सम्यग्दर्शन है। समयसार गाथा ३७३ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा भी है—**

"मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव चारित्रमोहनीयस्यचोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्व-नवपदार्थादि श्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहार मोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंत-केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारयोत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च।"

इसका सारांश यह है कि 'मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियो के तथा चारित्रमोहनीय के उपशम क्षयोपशम व क्षय होने से छह द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्त्व, नवपदार्थ आदि का श्रद्धान ज्ञान व रागद्वेष का त्याग, यह भेदरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है। इसके द्वारा साधन योग्य विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावरूप शुद्ध आत्मीक तत्त्वरूप सम्यक्ज्ञान-चारित्र अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिमय निश्चयमोक्षमार्ग है।'

सातप्रकृतियो के क्षय से उत्पन्न हुआ क्षायिकसम्यग्दर्शन यदि सविकल्पावस्था मे है, तो वह भी व्यवहार-सम्यग्दर्शन है। निर्विकल्पसमाधि मे स्थित अर्थात् श्रेणी मे स्थित जीव के उपशमसम्यग्दर्शन भी निश्चयसम्यग्दर्शन है। सातप्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से व्यवहार व निश्चय दोनो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते हैं, अतः **करणानुयोग की दृष्टि से दोनों ही सम्यग्दर्शन वास्तविक हैं।**

श्री अमृतचन्द्राचार्य भी पंचास्तिकाय गाथा १०७ की टीका मे कहते हैं कि व्यवहारसम्यग्दर्शन मे मिथ्यात्व-कर्म का अनुदय रहता है।

"भावाः खलु कालकलितपंचास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः तेषां मिथ्यादर्शनोदया पादिताश्रद्धानाभाव-स्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं शुद्ध-चैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम्।"

अर्थ—कालसहित पचास्तिकाय और विकल्प रूप नव पदार्थ इनको भाव कहते हैं। मिथ्यादर्शन के उदय से उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान, उसका अभाव होने पर पचास्तिकाय और नव पदार्थ का श्रद्धान वह व्यवहार सम्यग्दर्शन है और यह शुद्ध आत्मतत्त्व के निश्चय का बीज है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ४ में 'सच्चे देव शास्त्र और गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन' कहा है।

श्री वसुनन्दि आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गाथा ६ में आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

श्री स्वामि कार्तिकेय आचार्य ने गाथा ३११-१२ मे अनेकान्तरूप तत्त्वों को तथा जीव, अजीव आदि नव पदार्थों को श्रुतज्ञान व नयो के द्वारा जानकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तथा गाथा ३२४ मे कहा है कि 'जो तत्त्वों को नहीं जानता है, किन्तु जिन-वचन पर श्रद्धा रखता है वह भी सम्यग्दृष्टि है।'

'प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह शुद्ध नय की अपेक्षा लक्षण है। धवल पु० १ पृ० १५१।

आप्त आगम और पदार्थ को तत्वार्थ कहते हैं। तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अशुद्धनय के आश्रय से लक्षण है। धवल पु० १ पृ० १५१।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५६१ मे कहा है—'जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सम्यग्दर्शन के निम्न लक्षण कहे हैं—

"आप्त आगम और तत्त्व की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है।" नि० सा० गाथा ५। "तच्चरुई सम्मत्तं" अर्थात् तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन है। मो० पा० गाथा ३८। "हिंसारहितधर्म, अठारहदोषरहित देव निर्ग्रन्थगुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।' मो० पा० ९०। "कालसहित पचास्तिकाय और नवपदार्थ का श्रद्धान सम्यक्त्व है।" पं० का० गा० १०९। "धर्मादि छह द्रव्यो का श्रद्धान सम्यक्त्व है।" पं० का० गाथा १६०। "जीव, अजीव, पुण्य,पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष को भूतार्थरूप से जानना सम्यग्दर्शन है।" समयसार गाथा १३। "छहद्रव्य नव-पदार्थ पाँचअस्तिकाय साततत्त्व ये जिन-वचन मे कहे हैं। तिनके स्वरूप को जो श्रद्धान करे सो सम्यग्दृष्टि है।" दर्शनपाहुड़ गाथा १९। "जीवादि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार से कहा है निश्चय से आत्मा ही सम्यक्त्व है णिच्छयदो अप्पाणं हवई सम्मत्तं।" दर्शनपाहुड़ गाथा २०।

जीव और आत्मा एक ही द्रव्य के नाम हैं। अतः जीवादि के श्रद्धान में आत्मा का श्रद्धान भी गर्भित है। 'आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।' यह भी भेदविवक्षा से कथन है, अतः व्यवहारनय का विषय है। 'आत्मा ही सम्यक्त्व है,' यह अभेद विवक्षा से कथन है। इसमे गुण-गुणी का भेद नहीं है, अतः निश्चयनय का विषय है।

जिसको सच्चे-देव गुरु, शास्त्र अथवा धर्म का यथार्थश्रद्धान है उसको आत्मा का श्रद्धान होना है। ऐसा श्री कुन्दकुन्दभगवान ने प्रवचनसार मे कहा है—

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

अर्थ—जो अरहंत को द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य नाश को प्राप्त होता है।

निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन का कथन अनेक दृष्टियो से किया गया है। गुण-गुणी की अभेददृष्टि से सम्यक्त्व का कथन (सम्यक्त्व ही आत्मा है या आत्मा ही सम्यक्त्व है) निश्चयसम्यग्दर्शन, और जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान या आत्मा का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है, क्योकि यह भेददृष्टि से कथन है। निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन का इसप्रकार लक्षण करने में दोनों सम्यग्दर्शन साथ रह सकते हैं।

जहाँ पर सरागसम्यग्दर्शन को अथवा सविकल्पसम्यग्दर्शन को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा है और वीतराग-सम्यग्दर्शन को अथवा निर्विकल्पसम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है वहाँ पर निश्चय और व्यवहार दोनों सम्यग्दर्शन साथ नहीं रह सकते।

"द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतराग-भेदेन। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि षड्द्रव्याणीति। वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्राविनाभूत तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति।" [परमात्म-प्रकाश अ० २ गा० १७ टीका]

अर्थ—सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आस्तिक्य की प्रगटता जिसका लक्षण है वह सरागसम्यग्दर्शन है, वही व्यवहारसम्यग्दर्शन है। उसका विषय छहद्रव्य हैं। निज-शुद्धात्मानुभूति जिसका लक्षण है वह वीतरागसम्यग्दर्शन है और वह वीतरागचारित्र के साथ ही रहता है उसको निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है।

श्री राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २ की टीका मे भी कहा है—

'तद द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ॥ २९ ॥ प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् ॥३०॥ आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ॥३१॥ सप्तानां कर्म प्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतराग-सम्यक्त्वमित्युच्यते। अत्र पूर्वं भवति साधनं, उत्तरं साधन साध्यं च।'

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन सराग वीतराग के भेद से दो प्रकार का है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य की प्रगटता है लक्षण जिसका वह सरागसम्यग्दर्शन है। आत्मविशुद्धिमात्र वीतरागसम्यग्दर्शन है। सातप्रकृतियो के अत्यन्त नाश होने पर जो आत्म-विशुद्धि होती है वह आत्मविशुद्धिमात्र वीतरागसम्यक्त्व कहा गया है। सराग-सम्यक्त्व साधनरूप है। वीतरागसम्यग्दर्शन साधन और साध्यरूप है।

समयसार गाथा १३ की टीका में भी श्री जयसेनाचार्य ने कहा है—

"आर्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते। तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मरूप भवति। निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्य-क्त्वमिति।"

अर्थ—आर्तरौद्र परिणामो के त्यागरूप लक्षण है जिसका, ऐसी निर्विकल्पसामायिक मे स्थित जीव के जो शुद्धात्मरूप का दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ख्याति, अनुभूति होती है वही निश्चयनय से निश्चयचारित्र का अविनाभावी निश्चयसम्यक्त्व-वीतरागसम्यक्त्व कहा गया है। वही गुणगुणी के अभेदरूप निश्चयनय से शुद्धात्मरूप है। निश्चयनय से अपने शुद्ध परिणाम ही सम्यक्त्व है।

श्री बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २२ की टीका मे भी कहा है—

"यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व चेति भण्यते।"

अर्थ—उस वीतरागचारित्र का अविनाभूत वीतरागसम्यक्त्व ही निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है।

रायचन्द्र-ग्रंथमाला से प्रकाशित पंचास्तिकाय पृ० १६९ पर कहा है कि निर्विकल्पसमाधि काल में निश्चयसम्यक्त्व तो कभी होता है, अधिकतर तो व्यवहारसम्यक्त्व रहता है।

"यद्यपि क्वापि निर्विकल्प समाधिकाले निर्विकारशुद्धात्म रुचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं स्पृशति तथापि प्रचुरेण बहिरंगपदार्थरुचिरूपं यद्व्यवहार सम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यता।"

भेद व अभेद की अपेक्षा से व्यवहार-निश्चयसम्यक्त्व का यदि कथन किया जाता तो दोनों सम्यक्त्व एक साथ रह सकते हैं, क्योंकि एक ही सम्यक्त्व का दो दृष्टियो से कथन है।

निर्विकल्प-वीतराग और सविकल्प-सराग की अपेक्षा से निश्चय तथा व्यवहारसम्यक्त्व का कथन किया जाय तो दोनो सम्यक्त्व साथ नहीं रहते। इस प्रकार इस विषय मे अनेकान्त है, एकान्त नहीं है।

—जै. ग. | 19-11-64 / 10-17-12-64 | VIII-IX / IX-X | र. ला. जैन, मेरठ

(१) उपचार सम्यग्दर्शन एवं व्यवहार सम्यग्दर्शन में भेद
(२) उपचार अथवा व्यवहार मिथ्या नहीं होता
(३) उपचरित नय का कथन भी अमिथ्या है

शंका—उपचार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन मे क्या अन्तर है?

समाधान—'उपचार सम्यग्दर्शन' आगम मे सम्यग्दर्शन की ऐसी सज्ञा मेरे देखने मे नहीं आई है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धि उपाय मे मुख्य और उपचार ऐसे दो प्रकार का मोक्षमार्ग बतलाया गया है।

सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परंपदं पुरुषम्॥ २२२॥

सम्यग्दर्शन-चारित्र-ज्ञान लक्षणवाला तथा मुख्य (निश्चय) और उपचार (व्यवहार) रूप ऐसा मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करा देता है।

यहाँ पर 'मुख्य' शब्द निश्चय के लिये प्रयोग हुआ है और 'उपचार' शब्द व्यवहार के लिये प्रयोग हुआ है, क्योंकि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में "निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।" निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है, ऐसा कहा है।

निश्चयनय की दृष्टि मे न तो बंध है और न मोक्ष है, क्योंकि बंधपूर्वक मोक्ष होता है। जब निश्चयनय मे बंध व मोक्ष नहीं तो मोक्षमार्ग भी नहीं है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओदु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो उ सो चेव॥६॥
जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्ध-पुट्ठं हवइ कम्मं॥१४१॥ समयसार

जो ज्ञायक भाव आत्मा है वह अप्रमत्त (सातवें से चौदहवां गुणस्थान) भी नहीं है और प्रमत्त (पहले से छठवां गुणस्थान) भी नही है (अर्थात् गुणस्थानातीत होने से ससारी भी नही है) और जो ज्ञाता (आत्मा) है वह तो वही है ऐसा निश्चयनय कहता है। जीव मे कर्म बद्ध और स्पृष्ट है यह व्यवहारनय का विषय है। जीव में कर्म बंधे हुए नहीं हैं और अस्पृष्ट हैं यह निश्चयनय का पक्ष है।

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद् बन्धो, नो बंधो मोचनं कथम् ।
अबधे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥ [वृ० द्र० सं०]

"बन्धश्च शुद्धनिश्चयेन नास्ति तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा सर्वदैव बंध एव, मोक्षो नास्ति ।" [वृ० द्र० स०]

अर्थ—यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये, क्योंकि यदि बंध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है। इसलिये अबंध (न बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुञ्च धातु (छूटने का वाचक शब्द) का प्रयोग ही व्यर्थ है। कोई मनुष्य पहले बंधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है। ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी को मोक्ष होती है। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से बंध है ही नहीं। इसीप्रकार शुद्ध निश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध होता रहे, मोक्ष ही न हो।

इस आगम से यह सिद्ध हो जाता है कि निश्चयनय से न बंध है, न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है। बंध, मोक्ष, मोक्षमार्ग ये पर्यायें हैं, जो व्यवहारनय की विषय हैं। निश्चयनय का विषय द्रव्य सामान्य है, पर्याय नहीं है।

णिच्छयववहारणया मूलभेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥ ४ ॥ [आलापपद्धति]

सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं। निश्चयनय का हेतु द्रव्यार्थिकनय है, और साधन अर्थात् व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिकनय है।

"समयसार गाथा ५६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—'व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्' 'निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्' अर्थात् व्यवहारनय पर्याय के आश्रय है और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय है।

"ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो ॥५७२॥ [गो० जी०]

"व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण ।" [समयसार गा० १२ की टीका]

अर्थात्—व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। बंध, मोक्ष और मोक्षमार्ग पर्याय होने से व्यवहारनय का ही विषय है, निश्चयनय का विषय नहीं है।

सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय, उपचारनय इन तीन नयों की अपेक्षासे मोक्षमार्ग की मीमांसा की जाती है। "तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः ॥२२१॥ भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः ॥२२२॥ [आ. प.]"

एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूतव्यवहारनय है। भिन्न वस्तुओं को विषय करनेवाला असद्भूत-व्यवहारनय है।

"मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते ॥२१२॥ सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः संश्लेषः सम्बन्धः परिणाम-परिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेय सम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि ।" [आलापपद्धति]

मुख्य के अभाव मे प्रयोजनवश या निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति होती है। अविनाभाव सम्बन्ध मे, संश्लेषसम्बन्ध मे, परिणाम-परिणामीसम्बन्ध मे, श्रद्धा-श्रद्धेयसम्बन्ध में, ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध मे, चारित्र-चर्या इत्यादि सम्बन्धो मे, प्रयोजन या निमित्त के वश उपचार होता है।

प्रमेय रत्नमाला पृ० १७६ पर भी कहा है—

"मुख्य का अभाव होने पर तथा प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है, ऐसा नियम है। यहाँ पर वचन का परार्थानुमानपने मे कारणपना ही उपचार का निमित्त है। अतः प्रतिपाद्य जो शिष्य उसके लिये जो अनुमान सो परार्थानुमान है, उसका प्रतिपादक वचन भी परार्थानुमान है। यहाँ अनुमान के कारण वचन में ज्ञानरूप कार्य का उपचार किया गया है।"

इसीप्रकार तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय छह, सूत्र २ मे जो योग को आस्रव कहा है, वहाँ पर भी कारण में कार्य का उपचार करके कथन किया गया है।

यह उपचार असत्यार्थ (झूठ) भी नही है, क्योकि कार्य और कारण का परस्पर मे सम्बन्ध है।

व्यवहार व उपचरितनय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन आदि का विचार किया जाता है।

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥२१॥ [समयसार]

मोक्षार्थी पुरुष को निज शुद्धजीवरूपी राजा को जानना चाहिये, श्रद्धान करना चाहिये और निजशुद्ध आत्मस्वभाव के अनुकूल आचरण करना चाहिये।

मोक्षमार्ग का यह कथन निज जीवद्रव्याश्रित होने से सद्भूतव्यवहारनय का विषय है तथापि असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा से इसको निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय रत्नत्रय कहा गया है।

असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा 'निजशुद्धात्मा के श्रद्धान' को यद्यपि निश्चयसम्यक्त्व कहा जाता है तथापि सम्यग्दर्शन का यह लक्षण सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योकि यहाँ पर एक ही द्रव्य मे, श्रद्धान करनेवाला, श्रद्धान और जिसका श्रद्धान किया जाये अर्थात् कर्ता, क्रिया, कर्म, ऐसे तीन भेद कर दिये गये हैं। "निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः।" इस सूत्र के द्वारा 'भेद' व्यवहारनय का विषय बतलाया गया है। निश्चयनय का विषय तो अभेद है। अतः निजशुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह कथन निश्चयनय का विषय नहीं हो सकता है।

नियमसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेस-दोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

"व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्।"

आप्त, आगम और तत्त्वो की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है। यह व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है।

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसि मधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥१०८॥ [पंचास्तिकाय]

टीका—"पंचास्तिकायषड्द्रव्यविकल्परूपं जीवाजीवद्वयं जीवपुद्गलसंयोगपरिणामोत्पन्नास्रवादिपदार्थसप्तकं चेत्युक्तलक्षणानांभावानां जीवादिनव-पदार्थानां मिथ्यात्वोदयजनित-विपरीताभिनिवेशरहितं श्रद्धानं सम्यक्त्वं भवति। इदं तु नवपदार्थविषयभूतं व्यवहारसम्यक्त्वम्। शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य साधकत्वेन बीज-भूतम्।"

जीव, अजीव और इनके संयोग से उत्पन्न होनेवाले पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष इन पदार्थों का तथा पंचास्तिकाय व छहद्रव्यों का, जो मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान है वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। यह व्यवहारसम्यग्दर्शन, शुद्धजीवास्तिकाय की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व का साधक है, इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चय-सम्यग्दर्शन का बीज है।

यहाँ पर नवपदार्थ के श्रद्धान को जो व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है वह असद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि दो भिन्न पदार्थों में श्रद्धान व श्रद्धेय संबंध को व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है।

निज शुद्धात्मा की रुचि को जो निश्चय कहा गया है यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि यहाँ पर एक ही पदार्थ में श्रद्धान व श्रद्धेय का भेद किया गया है।

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥ [समयसार]

आचारांगआदि शास्त्र तो ज्ञान हैं तथा जीवादितत्त्व हैं वे सम्यग्दर्शन हैं। छहकायके जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है।

यह उपचरितनय का कथन है, क्योंकि यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार किया गया है। ज्ञानरूप कार्य के आचारांग आदि शास्त्र कारण हैं। अतः आचारांग आदि शास्त्रों में ज्ञानरूप कार्य का उपचार करके आचारांग आदि शास्त्रों को ज्ञान कहा गया है। जीवादितत्त्व श्रद्धेय हैं और इनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और जीवादि पदार्थों में श्रद्धान-श्रद्धेय सम्बन्ध है, अत. जीवादि श्रद्धेयपदार्थों में सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धान का उपचार करके जीवादि श्रद्धेयपदार्थों को सम्यग्दर्शन कहा गया है।

छहकाय के जीवों की रक्षा चारित्र है। अर्थात् छहकाय के जीव चारित्र के विषय पड़ते हैं। छहकाय के जीवों में और चारित्र में परस्पर विषय-विषयी सम्बन्ध है। छहकाय के जीवरूप विषय में चारित्ररूप विषयी का उपचार करके छहकाय के जीवों को चारित्र कहा गया है।

यह उपचार झूठ भी नहीं है, क्योंकि उपचार को झूठ मानने पर, "णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं"; ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है ऐसा जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, यह कथन अर्थात् सर्वज्ञता का कथन भी उपचरितनय का विषय होने से झूठ हो जायगा। दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध निश्चयनय का विषय नहीं है। अतः निश्चयनय-व्यवहारनय के विषय का निषेध करता है।

इसप्रकार निजशुद्धात्मा का श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है, यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। जीवादि-पदार्थों का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है, यह असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। जीवादिपदार्थ सम्यग्दर्शन है। यह उपचरितनय का विषय है ये तीनों कथन अपनी-अपनी नय की अपेक्षा सत्य हैं।

—जै. ग. 22-2-73/VII/ ग. म. सोनी, फुलेरा

सम्यग्दर्शन के सराग, वीतराग भेद आगमोक्त है।

शंका—सम्यक्त्व सराग व वीतराग किसी आचार्य ने बतलाया है या नहीं? सम्यक्त्व को सराग बतलाने वाला क्या मिथ्यादृष्टि है?

समाधान—दिगम्बर जैन महानाचार्य श्री अकलंकदेव कहते हैं—

"सम्यग्दर्शनं द्विविधम्। कुतः? सराग-वीतराग-विकल्पात्।"

अर्थात् सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है।

सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दर्शन को दो प्रकार का बतलाने वाला मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता है, क्योंकि वीतरागी दिगम्बर जैनाचार्य कभी मिथ्योपदेश नहीं देते हैं।

—जै. ग. 13-7-72/VII/ ताराचन्द महेन्द्रकुमार

सराग सम्यक्त्व

शंका—मई १९६५ के सन्मति संदेश पृ० ६३ पर श्री पं० फूलचन्दजी ने लिखा है 'तथा इसके सद्भाव में प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि भावों को जो अभिव्यक्ति होती है वह सराग सम्यक्त्व है।' क्या प्रशम आदि भावों की अभिव्यक्ति सराग सम्यग्दर्शन है या सराग सम्यग्दर्शन का लक्षण है? क्या प्रशम और आस्तिक्य भाव सराग भाव है?

समाधान—प्रशम, सवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा की अभिव्यक्ति सरागसम्यग्दर्शन का लक्षण है और सराग-सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। यदि लक्ष्य और लक्षण मे सर्वथा अभेद मान लिया जाये तो 'लक्ष्य और लक्षण' ऐसी दो संज्ञा ही नही बन सकती। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक दोष आ जावेंगे। लक्ष्य और लक्षण मे सर्वथा अभेद मानना 'भेदाभेद विपर्यास' है।

'प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्।' सर्वार्थसिद्धि १।२।

अर्थात्—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य की अभिव्यक्ति सरागसम्यग्दर्शन का लक्षण है।

प्रशम और आस्तिक्य सरागभाव नहीं हैं। प्रशम का लक्षण निम्नप्रकार है—

"रागादि दोषेभ्यश्चेतो निवर्तनं प्रशमः।" तत्त्वार्थवृत्ति १।२।

अर्थ—आत्मा की रागादि दोषो से विरक्ति प्रशमभाव है।

'रागादि दोषों से विरक्ति' सराग भाव कैसे हो सकता है अर्थात् प्रशम सरागभाव नहीं है। आस्तिक्य भी सरागभाव नहीं है, क्योंकि जीवादि पदार्थों का जैसा स्वभाव है वैसी बुद्धि होना आस्तिक्य है। जैसा कि तत्त्वार्थ-वार्तिक में कहा है—

"जीवादयोऽर्था यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्।"

श्रीमान् पं० फूलचन्दजी ने सन् १९५५ में सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन के विषय में निम्न प्रकार लिखा था—

"सरागी जीव के सम्यग्दर्शन को सरागसम्यग्दर्शन कहा है और वीतरागी जीव के सम्यग्दर्शन को वीतराग-सम्यग्दर्शन कहा है। उपशम आदि के भेद से सम्यग्दर्शन के तीन भेद बतलाये हैं। इनमे से वेदक सम्यग्दर्शन तो सराग अवस्था में ही पाया जाता है, किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन सराग और वीतराग दोनों अवस्थाओ मे पाये जाते हैं। राजवार्तिक मे एक क्षायिक सम्यग्दर्शन को ही वीतराग सम्यग्दर्शन बतलाया है। सो यह आपेक्षिक कथन है। चारित्र मोहनीय के क्षय से होनेवाली वीतरागता क्षायिकसम्यग्दर्शन के सद्भाव मे ही होती है, अन्यत्र नहीं। यही सबब है कि राजवार्तिक मे क्षायिकसम्यग्दर्शन को ही वीतरागसम्यग्दर्शन लिखा है। किन्तु कषायों की उपशमजन्य वीतरागता उपशमसम्यग्दर्शन के सद्भाव मे भी प्रगट होती हुई देखी जाती है। इससे अन्यत्र इसे भी वीतराग-सम्यग्दर्शन बतलाया है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार ऐसे चिह्न हैं जो सरागता के रहते हुए भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव के ज्ञायक हैं, अतः यहाँ सरागसम्यग्दर्शन के लक्षण मे इन धर्मों को प्रमुखता दी गई है। किन्तु वीतरागसम्यग्दर्शन मे आत्मा की परिणति मे निर्मलता पाई जाती है, वहाँ रागांश का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वहाँ वीतरागसम्यग्दर्शन को आत्मा की विशुद्धिरूप से लक्षित किया गया है।"

प्रश्नकर्ता ने जो श्री प० फूलचन्दजी के वाक्य मई १९६५ के सन्मति संदेश से उद्धृत किये हैं, वे श्री पं० फूलचन्दजी के उपर्युक्त लेख से भिन्न हैं। पाठकगण श्री प० फूलचन्दजी के सन् १९५५ के और १९६५ के लेखों पर विचार करें कि एक विषय पर इन दोनो लेखो मे विभिन्नता का क्या कारण है?

—जै ग./ 1-7-65/VII/····· ·· ·····

सराग स्वसंवेदन एवं वीतराग स्वसंवेदन

शंका—स्वानुभूति निर्विकल्प हो या सविकल्प हो, किन्तु सम्यक्त्व दोनों अवस्थाओ मे एकसा रहता है। सविकल्पअवस्था में भी निर्विकल्पअवस्था के समान सम्यक्त्व रह सकता है या नहीं?

समाधान—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति सम्यक्त्वप्रकृति व अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियो का उपशम, क्षयोपशम या क्षय है तो सम्यग्दर्शन है, अन्यथा नही है। सविकल्प और निर्विकल्प इन दोनो अवस्थाओ मे सम्यग्दर्शन हो सकता है, किन्तु वीतरागनिर्विकल्प समाधि की अवस्था मे सम्यग्दर्शन मे जो निर्मलता व विशुद्धि होती है वह सविकल्प-सरागअवस्था मे नहीं रहती है। यद्यपि सामान्य की अपेक्षा दोनो अवस्थाओ को समान कहा जा सकता है, किन्तु निर्मलता व विशुद्धता की अपेक्षा तरतमता है।

सराग व सविकल्पअवस्था मे व्यवहारसम्यग्दर्शन है और वीतरागनिर्विकल्पसमाधि की अवस्था मे निश्चय-सम्यग्दर्शन है।

"विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानं स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूप सविकल्पचारित्रमिति त्रयम्। तत् त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्निर्विकल्प-समाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्ट स्वसंवेदनज्ञानं।"

निर्मल अखड एक ज्ञानाकाररूप अपने ही शुद्धात्मा मे जानने रूप सविकल्प ज्ञान तथा शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि सो विकल्परूप सम्यग्दर्शन और इसी आत्मा के स्वरूप मे सविकल्पचारित्र इन तीनो के प्रसाद से विकल्परहित समाधिरूप निश्चयरत्नत्रयमय विशेष स्व-संवेदनज्ञान उत्पन्न होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सविकल्प अवस्था के स्वसंवेदनज्ञान तथा निर्विकल्पअवस्था के स्वसंवेदनज्ञान इन दोनों स्वसंवेदनज्ञानो मे भी अन्तर है। जिसप्रकार जल की सतरग अवस्था मे अपना मुख स्पष्ट दिखलाई नहीं

देता उसीप्रकार सविकल्पअवस्था मे अपना स्वरूप स्पष्ट दिखलाई नहीं देता है। जल की निस्तरंग अवस्था मे अपना मुख स्पष्ट दिखलाई देता है उसी प्रकार निर्विकल्पअवस्था मे अपना स्वरूप स्पष्ट दिखलाई देता है।

समयसार में श्री जयसेनाचार्य ने सरागस्वसंवेदनज्ञान तथा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की निम्न प्रकार व्याख्या की है—

"विषयसुखानुभवानंदरूप स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्म सुखादि भूतिरूपं स्वसंवेदन ज्ञानं वीतरागमिति।" समयसार गा. ९६ की टीका।

अर्थ—विषयसुख-अनुभव के आनन्दरूप स्वसंवेदनज्ञान होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है। वह सराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है, किन्तु जो शुद्ध-आत्मा के सुखानुभवरूप स्वसंवेदनज्ञान होता है वह वीतराग स्वसंवेदनज्ञान होता है।

—जै. ग. 18-3-71/VII/ टो. ला. मित्तल

वीतरागसम्यक्त्व

शंका—श्री राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २ वा० ३१ में सात प्रकृतियों के अत्यन्त नाश होने पर वीतराग सम्यक्त्व होता है। ऐसा उल्लेख है, सो ये सात प्रकृतियाँ कौनसी लेनी ? समयसार पृ० २३३ में कहा है कि वीतराग सम्यक्त्व होने पर साक्षात् अबन्ध होता है सो साक्षात् अबन्ध तो बारहवें गुणस्थान से लेना चाहिए। समयसार पृ० २४५ पर छठे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व कहा है, सातवें से वीतराग कहा है। हमारी समझ में वीतराग सम्यक्त्व आध्यात्मिक भाषा में सातवें गुणस्थान में और आगम भाषा में चारित्र मोहनीय का सर्वथा नाश होने पर होना चाहिए। विशेष खुलासा करें।

समाधान—श्री राजवार्तिक अ० १ सूत्र २ वार्तिक २९ मे सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा है—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। वार्तिक ३० मे सराग सम्यक्त्व का लक्षण 'प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य' कहा है। वार्तिक ३१ मे वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण 'आत्मविशुद्धि' कहा है। चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानो मे बुद्धिपूर्वक रागरूप प्रवृत्ति होती है अतः इन तीन गुणस्थानो मे सराग सम्यक्त्व कहा है। सातवें गुणस्थान से बुद्धिपूर्वक रागरूप प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है अतः सातवें से वीतराग सम्यक्त्व कहा है। (समयसार गाथा ७७ पर श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) वीतराग सम्यग्दृष्टि को जो साक्षात् अबन्धक कहा है वह बुद्धिपूर्वक बन्ध के अभाव की अपेक्षा से कहा है अथवा अधस्तन गुणस्थानो की अपेक्षा उपरितन गुणस्थानो मे बन्ध-व्युच्छित्ति अधिक-अधिक होती जाती है अतः वीतराग सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है।

सातवाँ गुणस्थान दो प्रकार का है—१. स्वस्थान अप्रमत्तसंयत; २. सातिशय अप्रमत्तसंयत। स्वस्थान अप्रमत्तसंयत तो प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त होता रहता है अर्थात् वीतराग सम्यक्त्व से सरागसम्यक्त्व मे आ जाता है अतः राजवार्तिककार ने ऐसे स्वस्थान अप्रमत्तसंयत को वीतराग सम्यक्त्व मे ग्रहण नहीं किया। सातिशय अप्रमत्तसंयत भी उपशामक और क्षपक के भेद से दो प्रकार का है। उपशामक भी गिरकर या मरकर सराग-सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त होता है। अतः राजवार्तिक अ० १ सू० २ वार्तिक ३१ में उपशामक की भी अपेक्षा नहीं है, किन्तु सातिशय अप्रमत्तसंयत-क्षपक की अपेक्षा है, क्योंकि वह सराग सम्यक्त्व को कभी प्राप्त नहीं होता। सातिशय-अप्रमत्तसंयत क्षपक अर्थात् क्षपकश्रेणी को क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही प्रारम्भ करता है और उसी के वास्तविक आत्मविशुद्धि होती है अतः वार्तिक ३१ में चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय ये सात प्रकृतियाँ लेनी चाहिये।

—जै. ग. 16-11-61/VI/ एल. एम. जैन

सम्यक्त्वोत्पत्ति की पात्रता

शंका—आचरणहीन व ज्ञानरहित मनुष्य को भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है क्या ?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। १. क्षयोपशम, २ विशुद्धि, ३. देशना, ४. प्रायोग्य, ५ करण, ये पाँच लब्धियाँ हैं। इन पाँच लब्धियों में से प्रथम तीन लब्धियों का स्वरूप इसप्रकार है—

"पुव्व संचिदकम्ममलपडलस्स अणुभागफद्दयाणि जदा विसोहीए पडिसमयमणंतगुणहीणाणि होदूणुदीरिज्जंति तदा खओवसमलद्धी होदि। पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिद अणुभागफद्दयजणिदजीवपरिणामो सादादिसुह कम्मबंधणिमित्तो असादादि असुहकम्मबंधविरुद्धो विसोहिणाम। तिस्से उवलंभो विसोहिलद्धी णाम। छद्दव्व-णवपयत्थोवदेसो देसणा णाम। तीए देसणाए परिणद-आइरियादीणमुवलंभो; देसिदत्थस्स गहणधारण-विचारणसत्तीए समागमो देसणलद्धी णाम।"

पूर्वसंचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभागस्पर्धक जिससमय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुण हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उससमय क्षयोपशमलब्धि होती है। प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रमसे उदीरत अनुभागस्पर्धकों से उत्पन्न, साता आदि शुभ कर्मों के बंध के कारण और असाता आदि अशुभकर्मबंध के विरोधी, ऐसे जीव-परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। उन परिणामों की प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है। छहद्रव्यों और नौपदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। धवल पु० ६ पृ० २०४।

इस देशना लब्धि की पात्रता का कथन करते हुए **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने लिखा है—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

दुःखदायक, दुस्तर और पापों के स्थान आठ पदार्थों को (ऊमर, कठूमर, पाकर फल, पीपल फल, बड़फल मद्य, मांस, मधु) परित्याग करके, अर्थात् इनके त्याग से उत्पन्न हुई निर्मल बुद्धि (विशुद्ध परिणाम) जिनके, ऐसे निर्मलबुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि ऊमर आदि आठ पदार्थों के अथवा सप्तव्यसन के त्याग से ही बुद्धि निर्मल होती है। जिससे वह पुरुष छहद्रव्य नवपदार्थों के उपदेश का पात्र बनता है। उस उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति होती है। तब उस जीव में सम्यग्दर्शन की योग्यता आती है। अर्थात् इतना आचरण व ज्ञान होने पर ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति संभव है। सप्तव्यसन का सेवन करते हुए सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 18-2-71/VIII/ सुल्तानसिंह

१. ज्ञान का फल सम्यग्दर्शन भी है और सम्यक्चारित्र भी
२. द्रव्यलिंगी मुनियों में सम्यक्त्वी भी मिलते हैं
३. विद्वत्ता की सफलता चारित्र धारण करने में है

शंका—१८ दिसम्बर १९६९ के जैनसंदेश के सम्पादकीय लेख में जो यह लिखा है कि ज्ञान का फल सम्यग्दर्शन है, चारित्र नहीं है क्या यह ठीक है ?

समाधान—ज्ञान का फल सम्यग्दर्शन भी है और चारित्र भी है। **परीक्षामुख** में कहा भी है—

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।"

प्रमेय के निश्चयकाल मे अज्ञान की निवृत्ति होती है अतः अज्ञाननिवृत्ति (सम्यग्दर्शन) ज्ञान का साक्षात् फल है। हान, उपादान और उपेक्षा (चारित्र अर्थात् संयम) ये ज्ञान के पारम्पर्य फल हैं, क्योंकि ये प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल मे होते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का एक ही काल है। श्री अकलंकदेव ने भी 'ज्ञानदर्शनयोर्युगपदात्मलाभः।' द्वारा यही कहा है कि ज्ञान और दर्शन की एक साथ उत्पत्ति होती है। इस सहचरता के कारण किसी एक के ग्रहण से दोनो का ग्रहण हो जाता है। जैसे पर्वत और नारद मे सहचरता के कारण पर्वत के ग्रहण से नारद का भी ग्रहण हो जाता है और नारद के ग्रहण से पर्वत का भी ग्रहण हो जाता है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

"यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं, नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा।"

ज्ञान और दर्शन की सहचरता के कारण कही पर ज्ञान का फल दर्शन कहा गया है और कहीं पर दर्शन का फल ज्ञान कहा गया है। सहचरता की दृष्टि मे ज्ञान और दर्शन दोनो को किसी एक नाम के द्वारा भी कहा गया है अतः वहाँ पर कौन किस का फल है यह नहीं कहा जा सकता है।

यदि चारित्र को ज्ञान का फल न माना जाय तो अज्ञान का फल मानना होगा जो कि लेखक महोदय को भी इष्ट न होगा। चारित्र ज्ञान का ही फल है ऐसा महान् आचार्यों ने कहा है—

'ज्ञातापि सभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं श्रृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेव परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुचति सर्वान् परभावानचिरात्।" समयसार गाथा ३५ टीका।

श्री प० जयचन्दजी कृत अर्थ—ज्ञानी भी भ्रम से परद्रव्य के भावो को ग्रहणकर अपने ज्ञान आत्मा मे एकरूप कर सोता है, बेखबर हुआ आपही से अज्ञानी हो रहा है। जब श्री गुरु इसको सावधान करें परभाव का भेदज्ञान कराके एक आत्मभाव करे और कहे कि तू शीघ्र जाग, सावधान हो यह तेरी आत्मा है वह एक ज्ञानमात्र है अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं। तब बारम्बार यह आगम के वाक्य सुनता हुआ समस्त अपने पर के चिह्नो से अच्छी तरह परीक्षाकर ऐसा निश्चय करता है कि मैं एक ज्ञानमात्र हूँ अन्य सब परभाव हैं। ऐसे ज्ञानी होकर सब परभावो को तत्काल छोड देता है।

"इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्येत्।" [स. सा. गा. ७२ टीका]

श्री पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ—इस तरह आत्मा और आस्रवो के तीन विशेषणों कर भेद देखने से जिससमय भेद जान लिया उसी समय क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त हो जाता है और उनसे जब तक निवृत्त नहीं होता तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्ची भेदज्ञान की सिद्धि नही होती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवो की निवृत्ति से अविनाभावी जो ज्ञान उसी से अज्ञानकर हुआ पौद्गलिककर्म के बंध का निरोध होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार गाथा ३५ व ७२ की टीका में यह बतलाया है कि जिस समय स्वपर का भेदविज्ञान होता है उसी समय मनुष्य परद्रव्यो को और रागादि परभावो को त्याग देता है अर्थात् संयमी हो जाता है, क्योंकि रागद्वेष की निवृत्ति चारित्र से होती है, जैसः कि श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है—'रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।' जब तक परद्रव्यो को और रागादि परभावों को नहीं छोड़ता है तब तक वह सच्चा पारमार्थिक भेदविज्ञान नहीं है। क्रोधादिक की निवृत्तिरूप चारित्र से अविनाभावी जो ज्ञान है वही कार्यकारी है। ज्ञान वही सार्थक है जो क्रोधादि की निवृत्तिरूप चारित्र को उत्पन्न करे।

श्री अमितगति आचार्य ने भी कहा है—

परद्रव्यबहिर्भूतं स्वस्वभावमवैति यः।
परद्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति ॥५॥

जो अपने स्वभाव को परद्रव्यो से भिन्न जानता है वह परद्रव्यो मे कहीं भी राग नहीं करता है और न द्वेष करता है।

यदि कहा जाय कि असयतसम्यग्दृष्टि के भी भेदविज्ञान होता है और वह भी अनंतानुबधी क्रोधादि से निवृत्त होता है इसलिये ज्ञान का फल संयम कहना उचित नही है। ऐसी शका ठीक नही है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान से रहित बहिरात्मा भी तीसरे गुणस्थान मे अनन्तानुबधी क्रोधादि से निवृत्त रहता है और उसके भी उन्ही ४१ प्रकृतियो का संवर होता है जिनका सवर असयतसम्यग्दृष्टि के होता है। जिस सम्यग्दृष्टि ने अनतानुबंधीकषाय की विसयोजना कर दी है और वह सम्यग्दर्शन से च्युत होकर जब मिथ्यात्व को प्राप्त होता है उस मिथ्यादृष्टि के भी एक आवली तक अनतानुबधी का उदय नही होता है। अतः वह मिथ्यादृष्टि भी एक आवली तक अनतानुबधी-क्रोधादि से निवृत्त रहता है। समयसार गाथा ३५ व ७२ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने उसी मनुष्य को पारमार्थिक भेदविज्ञानी कहा है जिसका फल परद्रव्यो के और रागादि परभावो के त्यागरूप सयम है, अथवा जो भेदविज्ञान सयम का अविनाभावी है वही पारमार्थिक भेदविज्ञान है।

मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असयतसम्यग्दृष्टि को उपादेय बतलाया है और ग्रन्थकारो ने उसकी बहुत प्रशसा भी की है, किन्तु सयमी की अपेक्षा असयतसम्यग्दृष्टि हेय है।

"बहिरात्माहेयस्तदपेक्षया यद्यपि अन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूत परमात्मापेक्षया स हेय इति।" (परमात्मप्रकाश गाथा १३ की टीका)

यहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि यद्यपि बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) उपादेय है तथापि परमात्मा की अपेक्षा अन्तरात्मा हेय है।

सम्यग्दर्शन तो इस जीव को चारो गतियो में उत्पन्न हो सकता है, किन्तु उच्च कुलवाला कर्म भूमि का मनुष्य ही सयम धारण कर सकता है। इसीलिये सम्यग्दृष्टिदेव भी ऐसी मनुष्यपर्याय की इच्छा करता है। दुर्लभ ऐसी मनुष्यपर्याय को और शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी जो सिनेमा आदि, अभक्ष्य-भक्षण व रात्रिभोजन का भी त्याग नहीं करते वे मूढ दिव्यरत्न को पाकर उसे भस्म के लिये जलाकर राख कर डालते हैं। श्री स्वामिकार्तिकेय आचार्य ने कहा भी है।

इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे रमंति विसएसु।
ते लहिए दिव्वरयणं भूइ णिमित्तं पजालंति ॥ ३०० ॥

अर्थ—इस दुर्लभ मनुष्यपर्याय को प्राप्त करके भी जो इन्द्रियों के विषयों मे रमते हैं, वे मूढ दिव्यरत्न को पाकर उसे भस्म के लिये जलाकर राख कर डालते हैं।

अनुकूल वातावरण अर्थात् कुटुम्ब व आजीविकादि की चिन्ता न होने पर भी और शरीर के निरोग होने पर भी सयम की उपेक्षाकर एकदेशसयम भी धारण नहीं करते हैं, असयत रहकर अपने आपको कृतकृत्य मानते है, वे मनुष्य विषयों और कषायो के दास हैं। कहा भी है—

अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसयमम् ॥११७॥ उपासकाध्ययन

व्रतो को पालन न करना, अच्छे कामो मे आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असंतुष्ट रहना और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार प्रवृत्ति करना। इन सबको सन्त पुरुषो ने अर्थात् आचार्यों ने असयम का लक्षण कहा है।

श्री अमितगतिआचार्य ने भी असयम का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

हिंसने वितयेऽस्तेये मैथुने च परिग्रहे।
मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसततेः ॥ ३० ॥

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम्।
आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्वचारित्रपराङ्मुखः ॥ ३१ ॥

हिंसा मे, झूठ मे, चोरी मे, मैथुन मे और परिग्रह मे मनोवृत्ति का होना अचारित्र है जो कि कर्मसंतति का कारण है। परद्रव्य मे राग से या द्वेष से शुभ या अशुभभावों को करनेवाला असयत है और वह निजगुण जो चारित्र उससे विमुख है।

यद्यपि मनुष्य सम्यग्दृष्टि है और तप भी करता है, किन्तु अणुव्रत या महाव्रत धारण न करने से असयत है तो असयम के कारण वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य बहुतर और दृढ़तर कर्मों का बध करता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य ने कहा भी है—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥४९॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति।

गजस्नान व लकड़ी मे छिद्र करनेवाले बर्मा के समान असयतसम्यग्दृष्टि का तप भी गुणकारी नहीं है, क्योंकि तप के द्वारा जितने कर्मों की निर्जरा करता है, असयतभाव के द्वारा उससे अधिक व दृढ़तर कर्मों को बाध लेता है।

आत्म-अहितकारी विषयों व कषायों के आधीन होकर संयम मे अरुचि रखनेवाले कुछ ऐसे ज्ञानाभासी विद्वान हैं जो स्वय तो अणुव्रत या महाव्रत धारण नही करते हैं और अपनी पूजा व प्रतिष्ठा को रखने के लिये, सयमियो को हीन दिखलाने के लिये तथा अपने शिष्यों को सयम धारण से हतोत्साह करने के लिये मोटे अक्षरो में निम्न पद्य लिखते हैं—

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज-आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥ छहढाला, दौलतराम

इस पद्य को लिखते समय वे यह भूल जाते हैं कि आचार्यों ने जहाँ सम्यग्ज्ञानरहित व्रत आदि क्रियाओं को निरर्थक कहा है वहाँ पर चारित्ररहित ज्ञानको भी व्यर्थ कहा है।

हतं ज्ञानं क्रिया हीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥१॥ राजवार्तिक

यहाँ पर श्री अकलंकदेव ने बतलाया है कि चारित्र के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं है और ज्ञान के बिना व्रतआदिरूप क्रिया भी व्यर्थ हैं। वन मे आग लग जाने पर अंधा पुरुष इधर-उधर दौडता तो है, किन्तु वन से निकलने का यथार्थ मार्ग ज्ञात न होने के कारण वन मे जलकर मर जाता है। उसी प्रकार आँखो वाला यथार्थ मार्ग जानते हुए भी लगडा होने के कारण भागता नहीं है और वन मे जलकर मर जाता है। जिस प्रकार व्रत पालन करते हुए भी ज्ञान के बिना दुःखी है उसी प्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि भी विषय-कषाय के कारण दुःखी है। श्री अकलंक देव ने इन दोनो प्रकार के जीवो को समकक्ष रखा है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शीलपाहुड मे कहा है—

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥५॥

जिस प्रकार दर्शन रहित मुनि-लिंग ग्रहण करना निरर्थक है उसी प्रकार चारित्ररहित सम्यग्ज्ञान भी निरर्थक है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'दंसणमूलो धम्मो। चारित्तं खलुधम्मो।' इन शब्दों द्वारा भी यह बतलाया है कि वह दर्शनरूप जड़ व्यर्थ है जो चारित्ररूप धर्मवृक्ष को उत्पन्न न करे। क्योंकि, मोक्षरूप फल चारित्ररूप धर्मवृक्ष पर ही लगेगा, न कि दर्शनरूप धर्मवृक्ष की जड पर।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

"यस्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः।"

जो आत्मा और क्रोधादि आस्रव के भेद को जानता हुआ भी क्रोधादि आस्रवो से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नही है। ऐसा कहने से ज्ञान का अंश ऐसे ज्ञाननय का निराकरण हुआ अर्थात् चारित्ररहित ज्ञान का निराकरण हुआ।

श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं—

"यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवति।"

यदि रागादिभावो से निवृत्त न हुआ अर्थात् यदि रागादिभावों का त्याग नहीं करता है तो उसके सम्यक् भेदज्ञान ही नहीं होता है।

"सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात् कथं नाम संयतः स्यात्। असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्? ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।"

प्रवचनसार की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है— सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारो के साथ मिलित होता हुआ भी एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्मा का श्रद्धान करता हुआ और अनुभव करता हुआ भी यदि आत्मा अपने मे ही संयमित होकर नही रहता, तो वह संयत कैसे होगा ? अर्थात् सयत नही होगा। क्योंकि उसकी चैतन्य परिणति अनादि मोह, राग, द्वेष की वासना से जनित परद्रव्य मे भ्रमणता के कारण स्वेच्छाचारिणी हो रही है और उसके ऐसी चैतन्य-परिणति का अभाव है जो अपने मे ही रहने से निर्वासन (विषय-कषाय से रहित) व निष्कम्परूप से एक तत्त्व मे लीन हो। यथोक्त-आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान व यथोक्त आत्मतत्त्व का अनुभूति-रूप ज्ञान असंयत के क्या करेगा ? असयत के आत्मतत्त्व का श्रद्धान व अनुभूतिरूप ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि सयमरहित श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है।

"यथा प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि। तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति।"

श्री अमृतचन्द्राचार्य के कथन को श्री जयसेनाचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

जैसे दीपक को रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूप पतन से यदि नही बचता है तो उसका श्रद्धान दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नही हुई। तैसे ही यह जीव श्रद्धान, ज्ञानसहित भी है, परन्तु पौरुष अर्थात् चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने आपको नही हटाता है अर्थात् चारित्र धारण नही करता है तो श्रद्धान व ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं ? कुछ हित नही कर सकते हैं।

श्री ब्रह्मदेवसूरि ने भी कहा है—"यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य रागादिभेद-विज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्।"

अर्थात् रागादि और आत्मस्वभाव का भेदविज्ञान हो जाने पर जो मनुष्य रागादिक छोडते हैं उन्हीं का भेदविज्ञान सफल होता है, ऐसा जानना चाहिये।

श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि रागादिक चारित्र धारण करने से दूर होते हैं, अतः जो मनुष्य चारित्र धारण करता है उसी का भेदविज्ञान सफल होता है।

तत्त्वार्थसूत्र मे यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसा क्रम है, किन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षमार्गचूलिका मे सम्यक्चारित्र, ज्ञान, दर्शन ऐसा भी क्रम रखा है।

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥

जो आत्मा को आत्मा से अनन्यमय आचरता है, जानता है देखता है वह चारित्र है, ज्ञान है दर्शन है ऐसा निश्चित है।

मनुष्यों मे चारित्र, ज्ञान, दर्शन युगपत् भी होते हैं, क्योंकि जो द्रव्यलिंगीमिथ्यादृष्टिमुनि प्रथमगुणस्थान से सातवें में आता है उसके चारित्र, ज्ञान, दर्शन युगपत् होते हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

"यथा-यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा-तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञान-घनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते।"

अर्थ—जैसा-जैसा रागादि आस्रवो से निवृत्त होता जाता है अर्थात् जैसे-जैसे चारित्र मे वृद्धि होती जाती है वैसा-वैसा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है विज्ञानघन स्वभाव उतना होता है जितना रागादि आस्रवो से निवृत्त होता है अर्थात् जितना चारित्र होता है।

बारहवें गुणस्थान का यथाख्यातचारित्र होने पर ही पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान होता है। यथाख्यात-चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता है।

यदि जैनसंदेश के सम्पादक महोदय मात्सर्यभाव से रहित होकर शका के समाधानो की आलोचना करें तो उससे सम्पादकजी को तथा समाधान-कर्ता दोनो को लाभ होगा। किंतु जो समाधान आर्षग्रन्थो के आधार पर किये गये हैं उनकी आलोचना करने मे वे व्यर्थ अपना समय व शक्ति नष्ट करते हैं। आपने एक बार यह आलोचना की थी कि सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि नही होता है, मिथ्यादृष्टि ही द्रव्यलिंगी मुनि होता है। तब गोम्मटसार की टीका तथा त्रिलोकसार का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया गया था कि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कर्मप्रकृतियों के उदय मे सम्यग्दृष्टि भी द्रव्यलिंगीमुनि होता है। एक बार आपने यह आलोचना की थी कि तेरहवें गुणस्थान मे 'योग' औदयिकभाव नही है, किंतु क्षायिकभाव है और अपने कथन को सिद्ध करने के लिये राजवार्तिक की पंक्तियो का अर्थ गलत भी करना पड़ा था। तब धवल आदि ग्रंथो का प्रमाण देकर यह बतलाया गया था कि शरीरनाम-कर्मोदय के कारण तेरहवेंगुणस्थान में योग औदयिकभाव है, क्षायिकभाव नहीं है।

जिन आर्षग्रंथो का प्रमाण इस लेख मे दिया गया है, यदि उन ग्रन्थो की स्वाध्याय करली गई होती तो १८-१२-६९ के जैनसन्देश मे इसप्रकार का लेख न लिखा जाता। विद्वान की सफलता चारित्र धारणकर आत्मध्यान मे लीनता से है, न कि मात्सर्य भाव मे।

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेषशास्त्रशास्त्रत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः॥

इस श्लोक मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—एक विद्वान की सफलता इसी मे है कि आत्मध्यान मे लीनता हो। यदि वह नही है तो उसका सम्पूर्ण शास्त्रो का शास्त्रीपना (पठन-पाठन विवेचनादि कार्य) ससार के सिवाय और कुछ नही है। उसे भी सासारिक धधा अथवा ससार-परिभ्रमण का ही एक अग समझना चाहिए। साथ मे यह भी समझना चाहिए कि उस विद्वान ने शास्त्रो का महान् ज्ञान प्राप्त करके भी अपने जीवन मे वास्तविक सफलता प्राप्त नही की।

—जै. ग. 3-10/6/71/VI-VII/ जयचन्दप्रसाद

—जै ग. 20-1-72/VII/ सुभाषचन्द

परद्रव्य में राग (देवादिक में भक्ति) कथंचित् सम्यक्त्वादि का कारण है

शंका—परद्रव्य में राग करने से क्या आत्मतत्त्व की श्रद्धा व सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो सकती है?

समाधान—जिस प्रकार सूर्य का राग लालिमा दो प्रकार की होती है (१) प्रातःकाल का राग (२) सध्या समय का राग; उसीप्रकार जीव का परद्रव्य मे राग दो प्रकार का होता है (१) प्रशस्तराग (२) अप्रशस्तराग (जिस प्रकार प्रातःकालीन राग प्रकाश का कारण है और संध्या समय का राग अधकार का कारण है;) उसी प्रकार वीतरागदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्म मे प्रशस्तराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय का कारण है तथा स्त्री पुत्रादि मे अप्रशस्तराग ससार का कारण है। श्री गुणभद्राचार्य ने कहा भी है—

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः॥
विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति॥

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है। श्री कुंदकुंदाचार्य ने भी कहा है—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं॥ गाथा २५४ प्र० सा०

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका–गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

श्री जयसेनाचार्यकृत टीका—विषय कषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति, वैयावृत्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परंपरया निर्वाणं लभत इत्यभिप्रायः।

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥ २५५॥

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि॥ २५६॥ प्र० सा०

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव। तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं, तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवल-पुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं, तत्सुदेवमनुजत्वम्॥

यहाँ पर श्री कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि यह प्रशस्तरागरूप वैयावृत्यचर्या श्रमण के गौण होती है और गृहस्थ के तो मुख्य होती है, क्योंकि इसके द्वारा गृहस्थ परम अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—सर्वविरति के न होने से शुद्धात्मप्रकाशन के अभाव के कारण कषाय मे प्रवर्तमान गृहस्थ के वह वैयावृत्यरूप शुभोपयोग मुख्य है, क्योंकि, जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और क्रमशः जल उठता है, उसी प्रकार गृहस्थ को साधु मे राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और वह शुभोपयोग क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

इसको स्पष्ट करने के लिये श्री जयसेनाचार्य ने कहा है—यदि गृहस्थ वैयावृत्यादि शुभोपयोग से वर्तन करें तो वे खोटे (आर्त-रौद्र) ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की संगति से उनको निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश मिलता है, इससे वे गृहस्थ परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं, ऐसा गाथा का अभिप्राय है।

श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं—जैसे एक ही बीज का उत्तम भूमि में उत्तम फल होगा और विपरीत भूमि में विपरीत फल होता है उसीप्रकार प्रशस्तराग यदि वीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, तथा दयामयी धर्म मे होता है तो उत्तम फल देता है यदि छद्मस्थ कथित देव-गुरु-धर्म (कुदेव कुगुरु कुधर्म) मे है तो मोक्ष (उत्तम फल) को नहीं देता है सातारूप भाव को देता है।

टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—सर्वज्ञ कथित वस्तुओं (सुदेव, सुगुरु, सुधर्म) मे प्रशस्तराग का फल पुण्य संचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। वह फल कारण की विपरीतता होने से विपरीत ही होता है, जैसे छद्मस्थ कथित वस्तुयें विपरीत कारण हैं। छद्मस्थ कथित उपदेश के अनुसार व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान, रतरूप प्रशस्तराग का फल मोक्षशून्य केवल अधमपुण्य की प्राप्ति है, वह फल की विपरीतता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयडमदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥

जो भावपूर्वक अरहत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुखो से मुक्त हो जाता है। श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है—"जिणबिंबदंसणेण णिधत्त-णिकाचिदस्सवि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्सखयदंसणादो।" जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वकर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिंब का दर्शन सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

श्री सकलकीर्त्याचार्य ने भी कहा है—

स्वर्गश्रीगृहसारसौख्यजनिकां श्वभ्रालयेऽर्गलां।
पापारिक्षयकारिकां सुविमलां, मुक्त्यङ्गनादूतिकाम् ॥
श्री तीर्थेश्वर सौख्यदान कुशलां, श्री-धर्म संधायिकां।
भ्रातस्त्वंकुरु वीतरागचरणे, पूजां गुणोत्पादिकाम् ॥१५७॥

जिनपूजा-भक्ति स्वर्गलक्ष्मी के श्रेष्ठ सुखो को उत्पन्न करने वाली है, नरकरूप घर का आगल है, पापरूप शत्रु (मिथ्यात्व) का क्षय करनेवाली है, अत्यन्त निर्मल है, मुक्ति की दूत है, तीर्थंकर के सुख को देने वाली है, धर्म (सम्यक्त्व) की उत्पन्न करने वाली है तथा गुणों की उत्पादक है, अतः हे भाई! तू निरन्तर वीतराग भगवान के चरणों की पूजा-भक्ति कर।

इन आर्षवाक्यो से स्पष्ट हो जाता है कि वीतराग भगवान की भक्ति अर्थात् गुणानुराग से पापस्वरूप मिथ्यात्वोदय का क्षय होता है तथा सम्यक्त्वरूप धर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वीतराग भगवान, निर्ग्रन्थ-गुरु और दयामयी धर्म मे अनुराग से सम्यक्त्वोत्पत्ति पाई जाती है। जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमा दर्शन को सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ मे भी कहा गया है।

—जै ग. 11-7-74/VI/ रो. ला. मित्तल

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है

शंका—९ नवम्बर १९६७ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख में लिखा है "जिस मिथ्यात्व कर्म का शासन अनादि काल से चला आता है एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उस शासन को समाप्त कर देना क्या कोई साधारण बात है? केवल देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा मात्र से ऐसी क्रान्ति होना संभव नहीं है। यद्यपि देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा कर्म शत्रु के विरुद्ध बगावत का झण्डा ले लेने की निशानी जरूर है, किन्तु इतने से ही पुराना शत्रु भागने वाला नहीं है।"

इस पर यह शंका होती है कि क्या मात्र देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है?

समाधान—श्री समन्तभद्र स्वामी महाचार्य हो गये हैं। उन्होने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म बतलाया है और वह धर्म प्राणियों को संसार के कष्टो से निकालकर उत्तम सुख मे धरता है। इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप धर्म का कथन करते हुए सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपो भृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ—सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, किन्तु वह श्रद्धान तीन मूढतारहित आठ अङ्गसहित और आठ मदरहित होना चाहिए।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहते हैं—

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६॥

अर्थ—सत्यार्थ देव, आगम और तत्वो का शकादि (पच्चीस) दोषरहित जो अतिनिर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी मोक्षप्राभृत मे सम्यग्दर्शन का निम्न लक्षण कहते हैं—

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारह दोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

अर्थ—हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, पदार्थ तथा निर्ग्रन्थ गुरु का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

नियमसार मे भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो, हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेस दोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥

आप्त, आगम और तत्वो के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। जिसके अशेषदोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकल गुणमय पुरुष वह आप्त है।

श्री सोमदेवआचार्य ने उपासकाध्ययन मे सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।
मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥ पृ० १३

श्री पं० कैलाशचन्दजी सम्पादक जैनसन्देश ने इसकी टीका में निम्न प्रकार लिखा है—

"अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढतारहित आठ अङ्गसहित जो श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुणवाला होता है। सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व अन्तरंग और बहिरंग कारणो के मिलने पर प्रकट होता है। इसका अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है।"

णिज्जिय-दोसं देवं सव्व जिवाणं दयावरं धम्मं ।
वज्जियगंथं च गुरु जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ।।३१९।। स्वामिकार्तिकेय

श्री पं० कैलाशचन्दजी इसकी टीका मे लिखते हैं—"जो वीतराग अर्हन्त को देव मानता है सब जीवो पर दया को उत्कृष्टधर्म मानता है और परिग्रह के त्यागी को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है ।"

इसप्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने सम्यग्दर्शन का लक्षण देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को कहा है । स्वयं श्री पं० कैलाशचन्दजी ने उपासकाध्ययन व स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका मे लिखा है 'देव, शास्त्र और पदार्थों का श्रद्धान अथवा देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन मे दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम क्षय या क्षयोपशम होता है ।'

देव, शास्त्र तथा गुरु की श्रद्धा सम्यग्दर्शन का लक्षण है । जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य न हो ऐसा हो नहीं सकता । अतः जहा पर देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा है वहा पर सम्यग्दर्शन अवश्य है, क्योंकि देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है ।

इतना ही नही श्री प० कैलाशचन्दजी इससे भी कुछ अधिक कहना चाहते हैं—

"जो तत्त्वो को नही जानता किन्तु जिनवचन मे श्रद्धान करता है कि जिनवर भगवान ने जो कहा है उस सबको मैं पसन्द करता हू । वह भी श्रद्धावान है । जो जीव ज्ञानावरणकर्म का प्रबल उदय होने से जिन भगवान के द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्वों को जानता तो नही है किन्तु उन पर श्रद्धान करता है कि जिन भगवान के द्वारा कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है युक्तियो से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता । अतः जिन भगवान की आज्ञारूप होने से वह ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वीतराग जिन भगवान अन्यथा नही कहते, ऐसा मनुष्य भी आज्ञा सम्यक्त्वी होता है ।" स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा भाषा टीका पृ० २२९

जो ण विजाणदि तच्च सो जिणवयणे करेदि सद्दहण ।
ज जिणवरेहि भणिय तं सव्वमहं समिच्छामि ।।

—जै. ग. 15-8-68/VIII/ ....

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मन्दराग भी कथंचित् कारण है

शंका—क्या मंदराग सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे कारण है ?

समाधान—उत्कृष्ट अर्थात् तीव्र राग के होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तीव्रकषाय-रूप परिणाम के होने पर जीव के तत्त्वरुचि होना असम्भव है । कहा भी है 'उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व और उत्कृष्ट अनुभागसत्त्व के होने पर तथा उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग के बधने पर सम्यक्त्व, सयम एव सयमासयम का ग्रहण सम्भव नहीं है ।' षट्खंडागम पुस्तक १२ पृ० ३०३ कषाय के अभाव मे भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि कषाय (राग) का अभाव सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् होता है । अतः पारिशेष न्याय से यह सिद्ध हुआ कि मदकषाय (राग) के सद्भाव मे ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है । कहा भी है 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव के जिन अप्रशस्तप्रकृतियों का उदय होता है उनके निंब और कांजीररूप द्विस्थानिय अनुभाग का वेदक होता है ।' षट्खंडागम पुस्तक ६ पृ० २१३, लब्धिसार गाथा २९ । श्री मोक्षमार्गप्रकाशक मे भी कहा है—'कोई मद कषायादि का कारण पाय ज्ञानावरणादि कर्मनिका क्षयोपशम भया, तातैं तत्त्व विचार करने की शक्ति भई । अर मोह मंद भया, तातैं तत्त्वादि विचार विषै उद्यम भया ।'

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति मे कारण पाँच लब्धियाँ कही गई हैं। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि इन पाँच लब्धियों के बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो सकती। इन पाँचलब्धियों मे से दूसरी विशुद्धलब्धि का स्वरूप इसप्रकार है 'बहुरि मोह का मद उदय आवने तै मदकषायरूपभाव होय तहा तत्त्व विचार होय सके, सो विशुद्धलब्धि है।' मोक्षमार्ग प्रकाश पृ० ३८५।

इन उपर्युक्त आगम प्रमाणो से यह सिद्ध हो गया कि तीव्रराग (कषाय) की अवस्था मे सम्यक्त्वोत्पत्ति नही हो सकती, किन्तु मन्दराग के समय मे ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है अतः अन्य कारणो के साथ मन्दराग भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे मन्दराग सर्वथा अकारण है ऐसा मानना उचित नही है, किन्तु कथचित् कारण है।

—जै. स 19-12-57/V/ रतनकुमार जैन

सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य है या पर्याय ?

शका—सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य है या पर्याय है ?

समाधान—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।" अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन सात तत्त्वार्थों मे द्रव्य व पर्याय दोनो हैं, मात्र द्रव्य नही है। इनमे से आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष अथवा पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष ये तत्त्वार्थ न तो मात्र जीव की पर्याय हैं और न मात्र पुद्गल की पर्यायें हैं, किन्तु दोनों के परस्पर सयोग से (बध से) ये पर्यायें उत्पन्न हुई हैं। यदि जीव पुद्गल का परस्पर बन्ध न हो तो पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष ये पर्यायें ही उत्पन्न न हो। समयसार की टीका मे कहा भी है—

"यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वदंति; देवदत्तस्य पुत्रोयमिति केचन वदंति इति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धा। शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण चेतनाः पौद्गलिकाः। "परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः वा पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्।" श्री जयसेनाचार्य कृत टीका।

"स्वमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः तदुभयं च जीवाजीवाविति।" श्री अमृतचन्द्राचार्य।

जिसप्रकार चूना व हल्दी दोनो के मिलने से (परस्पर बध से) लालरंग की उत्पत्ति होती है, वह लाल रंग न मात्र चूने का परिणमन है, क्योकि चूना श्वेत होता है और न मात्र हल्दी का परिणमन है, क्योकि हल्दी पीली होती है। अतः वह लाल वर्ण, चूने व हल्दी दोनो के परस्पर बन्ध से ही उत्पन्न हुआ है। हाइड्रोजन और आक्सीजन इन दो गैसो के मिलने से जल की उत्पत्ति होती है। वह जल न मात्र हाइड्रोजन गैसरूप है और न मात्र आक्सीजनरूप है, किंतु दोनो के मिलने से (परस्पर बन्ध से) उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष मे एक ही जीव या अजीव के परिणमन नहीं हैं, किन्तु जीव-अजीव (पुद्गल) दोनो से उत्पन्न होते हैं।

"ये केचन वदंत्येकांतेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या। कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात्।"

जो एकांत से आस्रव आदि को जीवसम्बन्धी कहे या एकान्त से पुद्गल (अजीव) सम्बन्धी कहे तो उन दोनो के वचन मिथ्या हैं, क्योंकि जिसप्रकार पुत्र की उत्पत्ति स्त्री-पुरुष दोनो के सयोग से होती है, उसीप्रकार आस्रव आदि की उत्पत्ति जीव और पुद्गल दोनो के सयोग से होती है ।

द्रव्य की श्रद्धा के साथ गुण व पर्याय की श्रद्धा अनिवार्य है, क्योंकि "गुणपर्य्ययवद्द्रव्यम् ।" अर्थात् गुण-पर्यायवाला द्रव्य है, ऐसा सूत्र है। जो पर्याय से रहित मात्र द्रव्य का श्रद्धान करता है, उसको भी प्रवचनसार मे पर्यायविमूढ़ परसमय (मिथ्यादृष्टि) कहा है ।

"नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्ट्यो भवन्तीति ।" प्रवचनसार

मैं नारकी आदि पर्यायरूप नहीं हू, ऐसा जो मानता है वह भेदविज्ञान मूढ है, परसमय मिथ्यादृष्टि है ।

—जै. ग. 8-6-72/VI/ रो. ला. मित्तल

जीव को अपने सम्यक्त्व का ज्ञान कथंचित् हो सकता है

शंका—अपने को सम्यक्त्व होने का ज्ञान हो जाता है या नहीं ?

समाधान—अपने को सम्यक्त्व होने का ज्ञान हो भी सकता है और नही भी हो सकता है। सम्यक्त्व जीव का सूक्ष्म भाव है और उसका जघन्यकाल एक सैकन्ड के सख्यातवें भाग से भी कम है। अतः इतने कम काल के परिणाम मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण होना कठिन है। ज्ञान से पूर्व जो दर्शन होता है वह यद्यपि चेतना गुण की पर्याय है तथापि उसका काल इतना कम है कि वह जीव की पकड म नहीं आता है ।

—जै. ग 6-7-72/IX/ र. ला जैन, मेरठ

अव्रती सम्यक्त्वी आत्मतत्त्व को नहीं देख सकता

शंका—आत्म-दर्शन किसको होता है ? क्या चौथे गुणस्थान वाले असयतसम्यग्दृष्टि को साक्षात् आत्म-दर्शन हो सकता है ?

समाधान—यही प्रश्न श्री पूज्यपादाचार्य के सामने उपस्थित हुआ था। उन्होंने अध्यात्म ग्रन्थ समाधि-तन्त्र मे निम्नप्रकार उत्तर दिया है—

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
सपश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत् तत्त्व नेतरो जनः ॥३५॥

अर्थ—जिसका मनरूपी जल रागद्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि तरगो से चचल नही होता वही पुरुष आत्मतत्त्व को देखता अर्थात् अनुभव करता है। उस आत्म-तत्त्व को दूसरा मनुष्य (अर्थात् जिसका मन रागद्वेष आदि तरगों से चचल हो रहा है ऐसा मनुष्य) नहीं देखता ।

जिस प्रकार तरगित जल मे अपना प्रतिबिम्ब भले प्रकार न पड़ने से अपना यथार्थ प्रतिभास नही होता अर्थात् अपना स्वरूप ठीक नही दिखाई देता उसीप्रकार रागद्वेषादि कल्लोलों से चंचल मन मे आत्मा का यथार्थ दर्शन नहीं होता। जब जल तरगो से रहित होकर स्थिर हो जाता है उसमे अपना ठीक प्रतिबिम्ब पड़ने से अपना स्वरूप दिखलाई दे जाता है। उसीप्रकार जब मन मे रागद्वेषादि कल्लोलो का अभाव हो जाता है उस समय मन स्थिर हो जाता है और उस निर्विकार स्थिर मन मे आत्म-तत्त्व दिखलाई देने लगता है ।

रागद्वेष आदि क्षोभ से रहित आत्म-परिणाम का नाम ही स्वरूपाचरणचारित्र अथवा यथाख्यात-चारित्र है। श्री कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

टीका—स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्ध चैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात् साम्यम्। साम्यं तु दर्शन चारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्त मोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

अर्थ—चारित्र वास्तव मे धर्म है जो धर्म है वह साम्य है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। साम्य मोहक्षोभरहित आत्म-परिणाम है।

टीकार्थ—स्वरूप मे रमण करना सो चारित्र है। अपने स्वभाव मे प्रवृत्ति करना ऐसा इसका अर्थ है। यही वस्तुस्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है और साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ अर्थात् राग-द्वेषकल्लोलो के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार आत्म परिणाम है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म की इन बारह प्रकृतियो का निरन्तर उदय रहता है। उसके क्षणभर के लिए भी राग-द्वेष कल्लोलो से रहित मन नही हो सकता है, फिर वह आत्म-तत्त्व को कैसे देख सकता है?

असंयतसम्यग्दृष्टि की जिनवचनो पर अटूट श्रद्धा होती है और वह जिनवचनो के आधार पर ही साततत्त्वों की तथा आत्मतत्त्व की श्रद्धा करता है।

जो ण विजाणदि तच्च सो जिणवयणे करेदि सद्दहण।
जं जिणवरेहि भणियं ते सव्वमहं समिच्छामि ॥३२४॥

अर्थात्—जो तत्त्वों को नहीं भी जानता, किन्तु जिनवचन में श्रद्धान करता है कि जिन भगवान ने जो कहा वह मुझको स्वीकार है। वह जीव भी सम्यग्दृष्टि है।

जिसको जिनवचन पर श्रद्धा नहीं है और चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र बतलाता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—जै. ग./28-8-69/VII/ बलवंतराय

चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय सम्यक्त्व पर्याय नहीं होती

शंका—चतुर्थगुणस्थान में भी क्या निश्चयसम्यक्त्व होता है?

समाधान—निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण निम्न प्रकार है—

"निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते।" अजमेर से प्रकाशित समयसार पृ० १५।

"परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयते इति । या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सैव निश्चयसम्यक्त्वमिति ।" समयसार पृ० १६

'निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधि-रूपपरिणामपरिणतिं करोति ।" समयसार पृ० ६५

"निश्चयचारित्राविनाभाविवीतराग सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वं, निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परंपरया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्य कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं ।" समयसार पृ० ११०

"निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्निश्चयसम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यत्वं ।"
—प्रवचनसार पृ० ३८०

इन आर्षवाक्यो से यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पसमाधिकाल मे वीतरागचारित्र अर्थात् निश्चयचारित्र के साथ होनेवाला सम्यक्त्व ही वीतरागसम्यक्त्व अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन है। वीतरागचारित्र के बिना निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। चतुर्थ गुणस्थान मे असंयतसम्यग्दृष्टि के संयम का ही अभाव है अतः उसके वीतराग-चारित्र सम्भव नहीं है। वीतरागचारित्र के बिना निश्चयसम्यक्त्व होता नही है अतः चतुर्थगुणस्थान मे निश्चय-सम्यक्त्व नहीं होता। वहाँ पर सराग-सविकल्परूप व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है।

—जै. ग. 23-9-71/VII/ रो. ला. मित्तल

असंयतावस्था में माया व निदान शल्य का सद्भाव संभव है

शंका—निःशल्य का अर्थ क्या सम्यग्दर्शन है ? क्या चतुर्थगुणस्थान में ही जीव निःशल्य हो जाता है ?

समाधान—शल्य तीन प्रकार के हैं—

"मायाशल्यं निदानशल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । माया निकृतिर्वञ्चना । निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा । मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । एतस्मात् त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यो व्रती इत्युच्यते" ॥७।१८॥ स० सि० ।

अर्थ—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य । माया, निकृति और वंचना अर्थात् ठगने की वृत्ति यह मायाशल्य है। भोगो की लालसा निदानशल्य है। अतत्त्वो का श्रद्धान मिथ्यादर्शनशल्य है। इन तीनो शल्यो से जो रहित है वह नि.शल्य व्रती कहा जाता है।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥ गो० जी०

जो इन्द्रिय के विषयों से अर्थात् भोगो से तथा त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा से विरक्त नहीं है, अर्थात् पापों से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थगुणस्थान मे यद्यपि मिथ्याशल्य का अभाव है तथापि मायाशल्य व निदानशल्य का सद्भाव है, क्योंकि उसके विषय भोगो का तथा पाँच पापों का त्याग नहीं है।

माया, मिथ्या, निदान इन शल्यों से रहित होने पर निःशल्य होता है अतः निशल्य का अर्थ मात्र सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है।

पंचमगुणस्थान में ही जीव नि शल्य हो सकता है, उससे पूर्व निःशल्य नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 26-10-72/VII/ रो ला मित्तल

सम्यक्त्वी सर्वथा निर्भय नहीं होता

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि सर्वथा निर्भय रहता है ? क्या सम्यग्दृष्टि के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा नहीं होती है ?

समाधान—चतुर्थगुणस्थानवर्ती असयतसम्यग्दृष्टि से लेकर आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान तक भयप्रकृति का उदय रहता है अतः इन पाँच गुणस्थानो मे सम्यग्दृष्टि को सर्वथा निर्भय नहीं कह सकते। नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान से भय संज्ञा नहीं रहती है अतः वहाँ पर सर्वथा निर्भय हो जाता है। कहा भी है—

"अपुव्वकरणस्स चरिम समए भयस्स उदीरणोदय णट्ठो तेण भयसण्णा णत्थि।" धवल पु २ पृ. ४३५

"अपूर्वकरणगुणस्थान के अन्तिमसमय मे भय की उदीरणा व उदय नष्ट हो जाता है अतः अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान मे भयसंज्ञा नहीं होती है।

चौथे, पाँचवें, छठे इन तीन गुणस्थानो मे सम्यग्दृष्टि के आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा ये चारो संज्ञा होती हैं। सातवेगुणस्थान से आहारसंज्ञा नहीं रहती और शेष तीनसंज्ञा भी उपचार से रहती हैं।

णट्ठपमाए पढमा, सण्णा णहि तत्थकारणाभावात्।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि णहि कज्जे ॥१३९॥ गो० जी०

अर्थ—अप्रमत्तादि गुणस्थानों मे आहारसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि वहाँ पर उसका कारण असातावेदनीय का तीव्रउदय व उदीरणा नहीं पाई जाती। शेष तीन संज्ञा भी वहाँ पर उपचार से होती हैं, क्योंकि उनका कारण तत्तत्कर्मों का उदय वहाँ पर पाया जाता है फिर भी उनका वहाँ पर कार्य नहीं हुआ करता।

—जै. ग. 1-1-70/VIII/ रो ला. मित्तल

शंका—मिथ्यादृष्टि के भयप्रकृति का उदय था जब सम्यग्दृष्टि हुआ भयरहित हो गया, ऐसा आगम में कहा है। क्या मिथ्यात्वकर्मोदय से भय होता है ? सम्यग्दृष्टि के क्या भयप्रकृति का उदय नहीं होता ?

समाधान—चारित्रमोहनीयकर्म के दो भेद हैं। कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। नोकषायवेदनीय के नव भेद हैं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद, पुरुषवेद और स्त्रीवेद। इन नोकषाय में से आदि की छह नोकषाय, आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के अन्त मे उदय से व्युच्छिन्न होती हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २६८ मे कहा है—

"अपुव्वम्हि छच्चेव णोकसाया।"

अर्थ—आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान मे हास्यादि छह नोकषाय उदयव्युच्छिन्न होती हैं।

अतः मात्र सम्यक्त्व हो जाने से भयप्रकृति के उदय का अभाव नही हो जाता है, क्योंकि भयप्रकृति का उदय आठवेंगुणस्थान तक रहता है। अर्थात् आठवेंगुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि के भयप्रकृति का उदय रहता है।

—जै. ग. 27-1-70/VII/ कपूरचन्द मानचन्द

सम्यक्त्वी को भी चिन्ता होती है

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि जीव चिन्तातुर या खेदखिन्न भी होता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिजीव चौथे गुणस्थान से सिद्ध तक होते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि चारो गतियो के जीव होते हैं और उनके आर्त-रौद्रध्यान भी होते हैं (मोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ३४ व ३५)। अतः सांसारिक हानि के समय चिन्ता आदि हो सकती है। 'धर्म का प्रतिदिन ह्रास हो रहा है, धर्म का उत्थान किस प्रकार हो' ऐसी चिन्ता भी सम्यग्दृष्टि को हो सकती है। चिन्ता आदिक सम्यग्दर्शन के घातक नहीं हैं, किन्तु परद्रव्य मे एकत्व बुद्धि तथा अन्यान्य व अभक्ष्य का सेवन, संयम के प्रति जुगुप्सा भाव; ये सम्यग्दर्शन के घातक हैं।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ ब्र. पन्नालाल

ज्ञानी जीव के सीमित पदार्थों का उपभोग भी अरति भाव से होता है

शंका—समयसार निर्जरा अधिकार में आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने कहा है कि जिसप्रकार कोई पुरुष अरति भाव से मद्य पीकर मतवाला नहीं होता उसीप्रकार द्रव्योपभोग विषय अरत-ज्ञानी-पुरुष नहीं बंधता यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि मद्य की लत (व्यसन) जिसको पड़ गई है और अरति भाव से पीता है वह भले ही मत्त न हो, परन्तु अन्य सभी मस्त देखे जाते हैं।

समाधान—जिस मनुष्य को मद्यपान का व्यसन है वह इतनी तेज व अधिक मद्य पीता है जिससे वह उन्मत्त हो जावे, क्योंकि वह उन्मत्त अवस्था को अच्छी समझता है इसलिये वह रतिभाव से तेज व अधिक मद्य का पान करता है। जब उसको यह बोध हो जाता है कि मद्यपान के कारण जो उन्मत्त अवस्था होती है वह बुरी है, दुःखरूप तथा निन्द्य है तो उसको मद्यपान से अरति हो जाती है, किन्तु पूर्व आदत (व्यसन) के कारण वह मद्यका सर्वथा त्याग करने में असमर्थ है अतः वह तेज मदिरा का तो त्याग कर देता है और अरतिभाव से इतनी हलकी तथा कम मदिरा का पान करता है जिससे वह उन्मत्त नही होता है। यदि वह पूर्ववत् तेज मदिरा का पान करता है तो उसके अरतिभाव ही नहीं है और वह उन्मत्त अवश्य होगा।

अनादिकाल से यह अज्ञानी जीव परपदार्थों का रतिभाव से उपभोग कर रहा है, क्योंकि उसमे इसने सुख मान रखा है। जब इसको ज्ञान हो जाता है तो यह परपदार्थों का उपभोग करना नही चाहता, किन्तु सर्वथा त्याग करने में असमर्थ होने के कारण परिग्रह परिमाण तथा भोगोपभोग परिमाण करके अणुव्रत धारण करता है। अतः वह उन अल्प परपदार्थों का उपभोग अरतिभाव से करता है। यदि वह परिग्रह परिमाण आदि नहीं करता, पूर्ववत् उपभोग करता है तो वह ज्ञानी ही नहीं।

—जै. ग. 15-1-70/VII/राजकिशोर

औदयिक पारिणामिक भावों में जीव को सम्यक्त्व रह सकता है

शंका—क्या औदयिक पारिणामिक भावों में जीव सम्यग्दृष्टि नहीं रहता ?

समाधान—औदयिक और पारिणामिक भावों मे जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। औदयिक और पारिणामिकभाव तो चौदहवें गुणस्थान तक रहते हैं।

अण्णयरवेयणीयं मणुयाऊ मणुयगई य बोहव्वा।
पंचिदिय जाई वि य तस सुभगादेज्ज पज्जत्तं ॥४२॥
बायरजसकित्ती वि य तित्थयरे उच्चगोगाइय चेव।
एए बारह पयडी अजोइम्हि उदयवोच्छिण्णा ॥४३॥

चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान मे कोई वेदनीय, मनुष्यायु मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्ति, बादर, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन बारहप्रकृतियो का उदय रहता है जो अन्तिमसमय में उदय से व्युच्छिन्न होती हैं।

इन बारह कर्म-प्रकृतियो के उदय से चौदहवेंगुणस्थान मे भी औदयिकभाव होता है। जैसे मनुष्यगति नामकर्म के उदय से गति औदयिकभाव होता है। चैतन्यरूप जीवत्व पारिणामिकभाव भी चौदहवेंगुणस्थान मे होता है।

"चैतन्यमेव वा जीवशब्दार्थः ।" चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते, तच्चानादि द्रव्यभवननिमित्तत्वात् पारिणामिकम्। रा० वा० २।७।६

क्षायिकसम्यग्दर्शन तो चौदहवेंगुणस्थान मे होता ही है। इस प्रकार चौथेगुणस्थान से चौदहवेंगुणस्थान तक औदयिक व पारिणामिकभाव के साथ सम्यग्दर्शन पाया जाता है।

'औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणदर्शनमोहोजीवः।' रा.वा. २-७-२२

मनुष्यगति औदयिकभाव, क्षायिकसम्यग्दर्शन क्षायिकभाव, जीवत्व पारिणामिकभाव इसप्रकार औदयिक, क्षायिक और पारिणामिकभावो का सन्निकर्ष पाया जाता है।

जै. ग. 11-3-71/VII/सुलतानसिंह

सम्यक्त्वी को व्यवहार सापेक्ष निश्चय का बोध होता है

शंका—क्या उत्कृष्ट श्रावक को निश्चय का बोध नहीं होता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि को निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों का परस्पर सापेक्षरूप से बोध होता है। इन दोनो मे से मात्र किसी एक नय का बोध होवे और दूसरे नय का सापेक्षरूप से बोध न होवे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

मिच्छाइट्ठी सव्वे विणया सपक्ख–पडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उणलहंति सम्मत्तसब्भावं ॥१०२॥

[कषायपाहुड पु० १ पृ० २४९]

मात्र अपने अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीनपने को प्राप्त होते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं।

जइ जिणमयं पवज्जइ तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

आचार्य कहते हैं—हे भव्य जीवो ! जो तुम जिनमत को प्रवर्त्ताना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयो को मत छोडो, क्योकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (मोक्षमार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तुस्वरूप) का नाश हो जायगा।

निश्चयनय का विषय सामान्य-अभेद है और व्यवहारनय का विषय विशेष-पर्यायभेद है। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है तथा भेदाभेद स्वरूप है। इन दोनो मे से किसी भी एक नय के विषय को ग्रहण कर दूसरे नय के विषय का निषेध किया जाना ठीक नहीं होगा। प्रयोजनवश किसी एक नय के विषय को मुख्य और दूसरे नय के विषय को गौण किया जा सकता है। कहा भी है—

"अनेकान्तात्मकवस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्राप्ति प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। अर्पितं चानर्पितं चार्पितानर्पिते। ताभ्यां सिद्धेरर्पिता-नर्पितसिद्धेर्नास्ति विरोधः।" सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३२।

—वस्तु अनेकान्तात्मक है। प्रयोजनवश किसी एक धर्म की विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती है, तो वह अर्पित या उपनीत होता है। प्रयोजन के अभाव मे जिस धर्म की प्रधानता नहीं होती वह अनर्पित होता है। किसी धर्म को रहते हुए भी उसकी विवक्षा नही होने से वह गौण या अनर्पित हो जाता है। अर्पित और अनर्पित के द्वारा वस्तु मे परस्पर विरोधी दो धर्मों की सिद्धि होती है, इसलिये निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं; इसमे कोई विरोध नहीं है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का कहा है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः, स्याद्द्वितयस्तस्य साधनम् ॥२॥

निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमे पहला निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग उसका (निश्चय का) साधन है।"

"न केवल भूतार्थोनिश्चयनयो निर्विकल्प समाधिरतानां प्रयोजनवान्भवति, किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानांपुनःषोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत् केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवति।"

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मात्र निश्चय ही प्रयोजनवान् नहीं है। निर्विकल्पसमाधि में स्थित मुनियों के लिये निश्चय प्रयोजनवान है, किन्तु निर्विकल्प समाधि से रहित सविकल्प अवस्था मे व्यवहार प्रयोजनवान है।

—जै. ग. 1-5-75/VII/ रो. ला. मित्तल

"द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि"; यह मान्यता गलत है

शंका— द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि, पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि। क्या यह सिद्धान्त ठीक है?

समाधान—वास्तव मे सभी वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु के स्वरूप को देखनेवाले के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें (१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय हैं। इनमे से पर्यायार्थिक-चक्षु को सर्वथा बन्द करके, जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिकचक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेषो मे रहने वाले एक जीव सामान्य को देखनेवाले जीव के वह सब जीवद्रव्य है ऐसा भासित होता है। जब, द्रव्यार्थिकचक्षु को सर्वथा बन्द करके, मात्र खुली हुई पर्यायार्थिकचक्षु के द्वारा देखा जाता है उस समय जीव द्रव्य मे रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवो के अन्य अन्य भासित होते हैं—क्योकि द्रव्य का उन विशेषो के समय-समय मे उन-उन विशेषो से तन्मय होने से अनन्यपना है, कण्डे, घास पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति। जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो आँखो को एक ही काल मे खोलकर देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायो मे रहने वाला जीव सामान्य तथा जीव सामान्य मे रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व देवत्व और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष एक ही काल मे दिखाई देते हैं। दोनो आँखो से देखना अर्थात् सर्वावलोकन मे द्रव्य मे सामान्य और विशेष विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं। **प्रवचनसार गा. ११४ टीका**

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक होता है। द्रव्यार्थिकनय का विषय सामान्य है और पर्यायार्थिकनय का विषय विशेष है। जब सामान्य पर दृष्टि होती है उस समय विशेष गौण होता है, किन्तु विशेष का निषेध नही होता है। जिस समय विशेष पर दृष्टि होती है उस समय सामान्य गौण होता है, क्योंकि विशेष के बिना सामान्य खरविषाणवत् है और सामान्य के बिना विशेष खरविषाणवत् है। **आलापपद्धति**[1]

जो मात्र द्रव्यार्थिकनय को ही मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं और जो मात्र पर्यायार्थिकनय को ही मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि है। क्योकि द्रव्यार्थिकनय से वस्तु नित्य है और पर्यायार्थिकनय से वस्तु अनित्य है।

'द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति।" प्रवचनसार गाथा ११९ टीका

द्रव्य को सर्वथा निम्य मानने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा, जिसके अभाव मे वस्तु का भी अभाव हो जायगा। सर्वथा अनित्य मानने पर भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा, जिसके अभाव मे द्रव्य का भी अभाव हो जायगा। **आलापपद्धति**[2]

केवली भगवान की वाणी मे भी दोनो नयो के आधीन उपदेश होता है, एक नय के आधीन उपदेश नहीं होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

"द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता।" पं० का० गाथा ४ टीका

---

१ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि॥

२ नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः।
अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः॥१२९॥ [आ० प०]

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दिव्यध्वनि में कथन एक नय के आधीन नहीं होता है, किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है।

द्रव्यार्थिकनय को निश्चयनय भी कहते हैं, क्योंकि द्रव्यार्थिक और निश्चयनय इन दोनों का विषय द्रव्य अर्थात् सामान्य है। पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय भी कहते हैं, क्योंकि दोनों का विषय पर्याय अथवा विशेष है। कहा भी है—

णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छय साहणहेओ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ॥ ४ ॥ आलापपद्धति।

सब नयों के मूल भेद निश्चयनय और व्यवहारनय हैं। निश्चयनय द्रव्यार्थिक है। साधनरूप व्यवहारनय पर्यायार्थिकनय है।

जो मात्र निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय को ही स्वीकार करते हैं और व्यवहारनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय के विषय को स्वीकार नहीं करते हैं। उनको श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पर्यायविमूढ़ परसमय कहा है।

"पज्जयमूढा हि परसमया—नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्रायः।"

प्रवचनसार गाथा ९३ टीका

पर्यायमूढ़ जीव परसमय है—मैं नारकादि पर्यायरूप नहीं हूँ इस प्रकार जो भेदविज्ञान मूढ़ हैं वे परसमय मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वर की करी हुई द्रव्य-गुण-पर्याय की समीचीन व्याख्या कल्याणकारी है।

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलीए वा ॥११७॥ ज. ध. १।२३३

ये सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण में मूढ़ हैं। अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं।

जयधवल पु० १ पृ० २५७

जब कोई भी नय झूठा नहीं है तो प्रत्येक नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का कारण है। कहा भी है—

"प्रमाणादिव नयवाक्याद्वस्त्वधगममवलोक्य 'प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः' इति प्रतिपादितत्वात्। किमर्थं नय उच्यते ? स एव याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद् भावानां श्रेयोऽपदेशः।"

(जयधवल पु० १ पृ० २०९ व २११; नया संस्करण पु० १९१-९२)

जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसी प्रकार नय वाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है। यह देखकर तत्त्वार्थसूत्र में 'प्रमाण व नय से वस्तु का ज्ञान होता है' ऐसा कहा गया है। पदार्थों का जैसा स्वरूप है उस रूप से उनके ग्रहण करने में नय निमित्त होने से मोक्ष का कारण है। वस्तु के ग्रहण करने में पर्यायार्थिक अथवा व्यवहारनय भी कारण है अतः वह भी मोक्ष का कारण है।

—जै. ग. 6-5-71/VII/ सुलतानसिंह

सम्यक्त्वी व मिथ्यात्वी के परिणामों में अन्तर

शंका—नवग्रैवेयक में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी दोनों प्रकार के मुनि जाते हैं। वहाँ पर उन दोनों के भावों में क्या अन्तर रहता है ?

समाधान—नवग्रैवेयक तक सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के देव होते हैं। मिथ्यादृष्टि देव के मिथ्यात्वरूप भाव होते हैं अर्थात् अतत्त्व श्रद्धान होता है। सम्यग्दृष्टि देव को तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होता है।

जिनको अनेकान्त का यथार्थ श्रद्धान नहीं है अर्थात् एक ही वस्तु में परस्पर दो विरोधी धर्मों को स्वीकार नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं जो वस्तु को भेद-अभेदरूप, नित्य-अनित्यरूप इत्यादिक अनेकान्तरूप स्वीकार नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं।

इसी प्रकार जो "**सव्वपयत्था सपडिवक्खा**" अर्थात् सब पदार्थ प्रतिपक्षसहित हैं इस सिद्धान्त की श्रद्धा नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। जैसे यदि जीव पदार्थ है तो उसका प्रतिपक्षी अजीव पदार्थ भी अवश्य है। यदि भव्य-जीव है, तो अभव्यजीव भी होना चाहिये। यदि मुक्त जीव है तो संसारी जीव भी अवश्य होना चाहिये। एक के अभाव मे दूसरे का अभाव अवश्यभावी है। इसी प्रकार यदि नियतपर्याय है तो अनियतपर्याय अवश्य है। एक के अभाव मे दूसरे का अभाव हो जायगा। ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

'जिन्होंने अतीत काल मे कदाचित् भी त्रस परिणाम नहीं प्राप्त किया है, वैसे अनन्त जीव नियम से हैं, अन्यथा संसार मे भव्य जीवो का अभाव होता है। और अभव्यो का अभाव होने पर अभव्य जीवो का अभाव प्राप्त होता है। और वह भी है नहीं, क्योंकि उनका अभाव होने पर ससारी जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है। और यह भी नही संसारी जीवो का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवो के अभाव का प्रसंग आता है। ससारी जीवो का अभाव होने पर असंसारी जीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब पदार्थों की उपलब्धि सप्रतिपक्ष होती है। इस सिद्धान्त की हानि हो जायगी' **सव्वस्स सपच्चडिवक्खस्स उवलभण्णहाणुववत्तीदो। (धवल पु० १४ पृ० २३४)**

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि देवो के परिणामो मे बहुत अन्तर होता है।

—जै. ग. 4-9-69/VII/ रोहतक समाज

व्यवहार क्रियाएं भेदविज्ञान की कथंचित् कारण हैं

शंका—क्या व्यवहारक्रिया भेदविज्ञान का कारण है, यदि है तो कैसे ?

समाधान—मिथ्यात्व कर्मोदय के कारण जीव को भेदविज्ञान नहीं हो सकता है। व्यवहारक्रिया से मिथ्यात्वकर्म का क्षय होता है अतः जिनबिम्ब दर्शन आदि व्यवहारक्रिया भेदविज्ञान का कारण है। कहा भी है—

"**कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादि-कम्मकलावस्सं खयदंसणादो।" धवल पु० ६ पृ० ४२७**

जिनबिम्ब का दर्शन प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है ? जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है।

—जै. ग. 23-1-69/VII/ रोशनलाल

छह द्रव्य व नौ पदार्थों का जानना हेय नहीं है

शंका—क्या छहद्रव्य नवपदार्थों का जानना हेय है ? यदि नहीं तो व्यवहार को हेय क्यों कहा गया है ? व्यवहार का विषय जो छहद्रव्य या नवपदार्थ क्या इनका अस्तित्व नहीं है ?

समाधान—छहद्रव्य नवपदार्थ और सप्ततत्त्वों का जानना हेय नहीं है, अपितु उपादेय है, क्योंकि इनका जानना तथा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है तथा ये मोक्ष के मूल हैं। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** तथा टीकाकार **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने पंचास्तिकाय मे कहा है—

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥

टीका—भावा खलु कालकलित पंचास्तिकायविकल्परूप नवपदार्थाः । तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धाना-भावस्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्ध चैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम् । तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयात्-संस्कारादिस्वरूपविपर्ययेणाध्यवसीयमानानां तन्निवृत्तौ समञ्जसाध्यवसायः सम्यग्ज्ञानं, मनाग्ज्ञानचेतनाप्रधानात्म-तत्त्वोपलंभबीजम् ।

कालसहित पंचास्तिकाय अर्थात् छहद्रव्य और उनके भेदरूप नवपदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है उनका अवबोध अर्थात् जानना सम्यग्ज्ञान है।

"धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं" (गाथा १६०)

टीका—धर्मादीनां द्रव्यपदार्थविकल्पवतां तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानाख्यं सम्यक्त्वं ।

अर्थात्—धर्मादि छहद्रव्य, जीवादि नवपदार्थों का श्रद्धानरूप भाव सम्यग्दर्शन है।

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥१०८॥

जीव-अजीव ये दो मूल पदार्थ हैं तथा इन दो के भेद पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवपदार्थ हैं जिनके श्रद्धान व ज्ञान से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है। इसी बात को **तत्त्वार्थसूत्र** मे कहा गया है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥ जीवाजीवास्रवबन्ध-संवर-निर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

अर्थ—तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये तत्त्व हैं।

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कंनवपद सहितं जीव षट्कायलेश्याः,
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्र भेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥१॥

इस श्लोक मे यह बतलाया गया है कि छहद्रव्य, नवपदार्थ पंचास्तिकाय ये मोक्ष के मूल हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जो मतिमान् इनकी श्रद्धा करता है वही सम्यग्दृष्टि है।

खरविषाणवत् इन छहद्रव्य नवपदार्थ का अस्तित्व न हो ऐसी बात नहीं है, यदि इनका अस्तित्व न होता तो जिनेन्द्र भगवान इनका उपदेश क्यों करते और इनके श्रद्धान व ज्ञानको सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान क्यों कहते ? जिनेन्द्र भगवान ने छहद्रव्य व नवपदार्थ का कथन किया है, अतः व्यवहारनय का विषयभूत होते हुए भी इनका अस्तित्व है।

"व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।"
—पंचास्तिकाय गाथा १७२ टीका

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है – अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिकजीव व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधन भाव का अवलम्बन लेकर सुगमता से मोक्षमार्ग में अवतरण करते हैं।

'ववहारणय पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं। ण च ववहारणओ चप्पलओ; तत्तो ववहाराणुसारिसिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।' (जयधवल पु० १ पृ० ८)

अर्थ—गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में 'णमो जिणाणं' इत्यादिरूप से मंगल किया है। यदि कहा जाय व्यवहारनय असत्य है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया।

—जै. ग. 4-3-71/V/ सुलतानसिंह

सम्यक्त्व की पहिचान दुःसम्भव

शंका—सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं ? अथवा प्रायोग्यलब्धि हुई या नहीं ? कौन जान सकता है ?

समाधान—वास्तव में, सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है जो या तो केवलज्ञान का विषय है या अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान का। यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों का किंचित् भी विषय नहीं है, साथ ही यह देशावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों के द्वारा सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती।

दर्शनमोहनीयकर्म की तीन प्रकृति और चार अनन्तानुबन्धी इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। पौद्गलिक कर्म सूक्ष्म है जो पाँच इन्द्रियों व मन का विषय नहीं है। अतः सम्यग्दर्शन मति या श्रुतज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता, किन्तु बाह्य चिह्नों से कुछ अनुमान किया जा सकता है। यह अनुमान यथार्थ है, ऐसा दृढ़ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता।

—जै. ग. 28-12-61

सम्यक्त्व की भावना

शंका—हमारे चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है, सो हम चारित्र धारण नहीं कर सकते, ऐसा कहने वाले पुरुषार्थ से श्रावक के व्रत धारण करने का भाव क्यों नहीं करते ? ऐसा कहने वाले क्या प्रमादी नहीं हैं ?

समाधान—जिस जीव के संयम धारण करने की चटापटी अर्थात् निरन्तर वाञ्छा बनी रहती है, किन्तु बाह्य व अन्तरंग कारणो से सयमधारण करने मे असमर्थ है फिर भी इस प्रतीक्षा में रहता है कि कब वह अवसर आये कि संयम धारण कर सकूँ और यथाशक्ति व्रत-नियमो को धारण करता रहता है, ऐसे जीव के चारित्रमोह का उदय कहा जा सकता है। जो जीव व्रत-नियम आदि को मात्र पुण्यबन्ध का कारण जान सयम से उपेक्षाबुद्धि रखता है ऐसा जीव प्रमादी तो है ही किन्तु सम्यग्दृष्टि भी नही है। ऐसा जीव ही चारित्रमोह का उदय कहकर अपना दोष कर्मों के ऊपर थोपना चाहता है।

—जै. ग. 28-12-61

अधुना निर्दोष सम्यक्त्वियों की दुर्लभता

शंका—क्या पंचमकाल मे जो समय अब बीत रहा है उस काल मे सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन के आठ अंग को पूर्ण धारण कर सकता है या नहीं ?

समाधान—भरतक्षेत्र मे आजकल उपशम व क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि बिरले होते हैं (ज्ञानार्णव)। उनमे से निर्दोष सम्यक्त्व को धारण करने वाले कोई एक या दो जीव सभव हैं। क्षायिकसम्यग्दर्शन तो भरतक्षेत्र में पचमकाल में उत्पन्न होनेवाले जीवो के सभव ही नही (धवल पु० ६) भरतक्षेत्र मे आजकल पचम काल मे आठ अग को पूर्ण धारण करने वाले सम्यग्दृष्टियो का सर्वथा निषेध नही किया जा सकता, परन्तु दुर्लभ हैं।[१]

—जै. ग. 21-3-63/IX/ जिनेश्वरदास

अंगहीन सम्यक्त्व, सातिचार सम्यक्त्व है

शंका—क्या अङ्गहीन सम्यग्दर्शन सम्भव है ? यदि है तो किस प्रकार ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के आठ अग होते हैं। उन आठ अंगो मे से किसी एक अंग की हानि के कारण सम्यग्दर्शन सातिचार हो जाता है। वह सातिचार सम्यग्दर्शन 'अंगहीन सम्यग्दर्शन' कहलाता है।

"णिस्संका णिक्कंखा, णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल, पहावणा चेवा ॥४८॥" मू० आ०

निःशंका, निःकाक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, सम्यक्त्व के ८ अंग हैं।

"तस्या अष्टावङ्गानि, निःशङ्कितत्व, निःकाङ्क्षिता, विचिकित्साविरहता, अमूढदृष्टिता, उपबृंहणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावन चेति। सर्वार्थसिद्धि अ. ६ सूत्र २४

सम्यग्दर्शन के आठ अग हैं :—नि.शंकितत्व, निःकांक्षिता निर्विचिकित्सितत्व, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

१. स्मरण रहे कि भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड मे कभी सबके सब मिथ्यात्वी जीव ही मिलें, एक भी अव्रती सम्यक्त्वी या व्रती सम्यक्त्वी न मिले; यह भी सम्भव है। कहा भी है—पण पण अज्जा खंडे भरहेरावदम्मि मिच्छगुणट्ठाण, अवरे। [ति. प. ४।२९३५]—सं०

"शङ्काकाङ्क्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।" ॥७।२३॥ तत्त्वार्थ सूत्र

"निःशङ्कितत्वादयो व्याख्याता दर्शनविशुद्धिरित्यत्र। तत्प्रतिपक्षभूताः शङ्कादयो वेदितव्याः। स्यान्मतं सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गं निःशंकितत्वादि लक्षणमुक्तम्। तस्याऽतिचारैरपि तावद्भिरेव भवितव्यमित्यष्टावतिचारा निर्देष्टव्या इति। तन्नैवान्तर्भावात्।

सम्यग्दर्शन के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तवन ये पाँच अतिचार हैं। सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि आठ अंग कहे थे, उनके प्रतिपक्षभूत शंका आदि सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, अतः उनके प्रतिपक्षभूत आठ अतिचार होते हैं जिनका अन्तर्भाव इन पाँच अतिचारों मे हो जाता है। आठ अंगो मे से किसी अंग की हीनता व सम्यग्दर्शन का अतिचार है और जो सम्यग्दर्शन अतिचारसहित है वह सम्यग्दर्शन अंगहीन सम्यग्दर्शन कहलाता है।

—जै. ग. 23-3-78/VII/ र. ला. जैन, एम. कॉम

सम्यग्दर्शन के २५ दोष

शंका—सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का वर्णन किस आर्ष ग्रंथ में है? छहढाला में छह अनाय-तन और तीन मूढता का कथन है, वे कौन सी हैं?

समाधान—चारित्रप्राभृत गाथा ५ की टीका मे श्री श्रुतसागरसूरि ने सम्यग्दर्शन के २५ दोषो का कथन करने के लिए निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥

तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि आठ दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं।

यह श्लोक स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२६ की टीका मे तथा ज्ञानार्णव व आत्मानुशासन मे भी उद्धृत हुआ है। लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता का स्वरूप इस प्रकार है—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३॥
सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥२४॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थ—धर्म समझकर गंगा आदि नदियो तथा समुद्र में नहाना, बालू और पत्थरों का ढेर करना, पहाड़ से गिरना और अग्नि में जलना आदि काम करना लोकमूढता कही जाती है ॥२२॥ धन आदि चाहने वाला मनुष्य वर पाने की इच्छा से जो राग द्वेष से मलिन देवताओं को पूजता है वह देवमूढता है ॥२३॥ परिग्रह आरम्भ और हिंसा सहित संसार रूप भवर मे रहने वाले पाखण्डी साधुओ का आदर सत्कार करना गुरु मूढता है।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयः ॥२५॥ (र.क.)

अर्थ—ज्ञान का मद, पूजा का मद कुल का मद, जाति का मद, बल का मद, धन सम्पत्ति का मद, तप का मद और शरीर का मद अर्थात् ज्ञान आदि इन आठ को आश्रय करके मान करने को मद कहते हैं।

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भक्तानां गृहे गतिः।
षडनायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः॥

अर्थ— कुगुरु कुदेव और कुशास्त्र और उनके भक्तो के स्थान पर जाना इन छहों को आगम के ज्ञाता पुरुष छह अनायतन कहते हैं।

कुदेवस्तस्यभक्तश्च कुज्ञानं तस्य पाठकः।
कुलिङ्गी सेवकस्तस्य लोकोऽनायतनानिषट्॥

अर्थ—१ कुदेव २ कुदेव के भक्त ३ कुशास्त्र ४ कुशास्त्र के बाँचने वाले मनुष्य, ५. कुगुरु, ६. कुगुरु के सेवक ये छह अनायतन हैं।

'प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतानि। अथवा असर्वज्ञः, असर्वज्ञायतनं, असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषः, असर्वज्ञानुष्ठानं, असर्वज्ञानुष्ठानसमवेत पुरुषश्चेति।'' ॥६॥

श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने छह अनायतन इस प्रकार कहे हैं—

१. मिथ्यादर्शन, २. मिथ्याज्ञान, ३. मिथ्याचारित्र, ४. मिथ्यादर्शन का धारक पुरुष, ५. मिथ्याज्ञान का धारक पुरुष, ६. मिथ्याचारित्र का धारक पुरुष। अथवा १. असर्वज्ञ, २. असर्वज्ञ का आयतन, ३. असर्वज्ञ का ज्ञान, ४. असर्वज्ञ के ज्ञान से युक्त पुरुष, ५. असर्वज्ञ का अनुष्ठान, ६. असर्वज्ञ के अनुष्ठान से सहित पुरुष ये छह अनायतन हैं।

'शंकाकांक्षाविचिकित्सामूढदृष्टिः अनुपगूहनं अस्थितीकरणं अवात्सल्यं अप्रभावना चेति अष्टौ शंकादयः।'
—चारित्र पाहुड गा० ६ टीका

शंकादिक आठ दोष निम्न प्रकार हैं—१. शंका, २. कांक्षा, ३ विचिकित्सा, ४ मूढदृष्टि, ५. अनुपगूहन, ६ अस्थितिकरण, ७. अवात्सल्य, ८ अप्रभावना। इनसे विपरीत सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणाय ते अट्ठ॥७॥ चारित्र पाहुड

१. निःशङ्कित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ-दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

—जै. ग. 24-12-70/VII/र. ला. जैन

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान व सम्यग्ज्ञान में हेतु

शंका—सम्यग्ज्ञान होने में अनन्तानुबन्धी कारण है या ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम कारण है ?

समाधान—सात तत्त्वों के स्वरूप को समझ सके तथा जीव, अजीव आदि द्रव्यों को जान सके ऐसे ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानावरणकर्म के तथा वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के अधीन है, किन्तु उस ज्ञानका सम्यक्त्व या मिथ्यात्व विशेषण, मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के अनुदय व उदय के अधीन है।

मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अनुदय होने के कारण सम्यग्दर्शन हो जाने से उस ज्ञानकी सम्यग्ज्ञान संज्ञा हो जाती है। यदि मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी का उदय है तो उस ज्ञानकी मिथ्याज्ञान संज्ञा हो जाती है। छहढ़ाला का पाठी भी इस बात को जानता है, क्योंकि छहढ़ाला मे कहा है—

सम्यकसाथै ज्ञान होय पै भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान दुहूमें भेद अबाधो ॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होतें हूं प्रकाश दीपकतें होइ ॥

—जै. ग. 9-4-70/VI/ टो ला. मित्तल

गुणस्थानों में चेतना

शंका—प्रवचनसार गाथा १२३-१२४, पंचास्तिकाय गाथा ३८-३९ तथा द्रव्यसंग्रह की गाथा १५ में ज्ञान, कर्म व कर्मफल चेतनाओं का स्वरूप दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं हुआ कि कौनसी चेतना कौन से गुणस्थान में होती है ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य के मतानुसार केवलज्ञानी के ज्ञानचेतना होती है और उससे पूर्व कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है, किन्तु स्थावरजीवों के मात्र कर्मफलचेतना होती है। कहा भी है—

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥३९॥ पंचास्तिकाय

टीका—तत्र स्थावराः कर्म फलं चेतयंते, त्रसाः कार्यं चेतयते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयंते इति।

अर्थ—सर्व स्थावरजीव समूह वास्तव मे कर्मफल को वेदते हैं। त्रस वास्तव में कार्य सहित (कर्म चेतना सहित) कर्मफल को वेदते हैं और जो प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं वे ज्ञानको वेदते हैं।

टीकार्थ—स्थावर कर्मफल को चेतते हैं, त्रस कर्म चेतना को चेतते हैं, केवलज्ञानी ज्ञानको चेतते हैं।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि केवलज्ञानी अर्थात् तेरहवें और चौदहवेंगुणस्थान मे तथा सिद्धों मे ज्ञानचेतना है। बारहवें गुणस्थान तक, ज्ञानावरणकर्म का उदय होने के कारण, अज्ञानमिश्रित ज्ञान होता है। अतः बारहवें गुणस्थान तक शुद्धज्ञान चेतना नहीं होती है, उनके तो कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है। स्थावर जीवों

के ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मों का तीव्र उदय होता है अतः उनके मात्र कर्मफलचेतना होती है। श्रेणी में अर्थात् आठवें आदि गुणस्थानो मे कर्मचेतना व कर्मफलचेतना अबुद्धिपूर्वक होती है।

—जै. ग. 25-3-71/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

ज्ञानचेतना का स्वामी

शंका—ज्ञानचेतना किस जीव के होती है ?

समाधान—'पाणित्तम विक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा।' (पंचास्तिकाय गाथा ३९) अर्थात् प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं वे जीव ज्ञान को वेदते हैं। इसी की टीका मे कहा है कि केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं। इसी प्रकार समयसार गाथा २२३ मे कहा है। समयसार गाथा ३२९ की टीका मे ज्ञानी के ज्ञानचेतना कही है। इस सबका तात्पर्य यह है कि जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम, अनुमान, स्वसंवेदनप्रमाण से जाने और उसका श्रद्धान दृढ़ करे। सो यह तो अविरत, प्रमत्त अवस्था मे भी होता है। अप्रमत्त-अवस्था मे अपने स्वरूप का ध्यान करता है ज्ञानचेतना का जैसा श्रद्धान किया था उसमे लीन होता है। तब श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उपजाय साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होता है (भावार्थ कलश २२३)। प्रवचनसार गाथा १२३-१२५ से भी ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का स्वरूप जानना।

—जै. ग 4-7-63/IX/ सुखदेव

रत्नत्रय में ज्ञान मध्य में क्यों ?

शंका—सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र के मध्य में सम्यग्ज्ञान क्यों रखा गया ?

समाधान—"ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्। चारित्रात्पूर्वं ज्ञानं प्रयुक्तं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य।"

—सर्वार्थसिद्धि

सम्यग्दर्शन से ज्ञान मे समीचीनता आती है, इसलिये ज्ञान से पूर्व सम्यग्दर्शन रखा गया। चारित्र ज्ञान-पूर्वक होता है अतः चारित्र से पूर्व ज्ञान का प्रयोग किया गया है।

जै. ग. 15-6-72/VII/ रो. ला. मित्तल

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव पुस्तक के पृ० ३०९ पर लिखा है—'ज्ञेय के तीनों अंशों-द्रव्य, गुण, पर्याय को स्वीकार करे वह ज्ञान सम्यक् है।' क्या यह ठीक है ?

समाधान—सम्यग्ज्ञान का यह लक्षण ठीक नहीं है, द्रव्यगुण-पर्याय को जानता हुआ भी यदि कार्यकारण भाव अथवा ज्ञेयज्ञायक भाव मे भूल है तो वह ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने सम्यग्ज्ञान का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥ रत्न. श्राव.

जो वस्तुस्वरूप को न्यूनतारहित अधिकतारहित और विपरीततारहित संदेहरहित जैसा का तैसा जानता है वह ज्ञान सम्यक् है। शास्त्रों के ज्ञाता पुरुषों ने ऐसा कहा है।

द्रव्य-गुण-पर्याय को जानते हुए भी यदि ज्ञान न्यूनता, अधिकता, विपरीतता या संदेहसहित है तो वह ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता है।

—जै. ग./8-2-73/VII/ सुलतानसिंह

(१) सम्यग्ज्ञानी के स्वानुभूति, स्वानुभव व स्वसंवेदन के स्वरूप एवं इनके विषयों का निर्णय
(२) सुख-दुःख का अनुभव आत्मप्रत्यक्ष है या आत्मपरोक्ष, इसका निर्णय

शंका—सम्यग्ज्ञानी को स्वानुभूति, स्वानुभव व स्वसंवेदन अतीन्द्रियप्रत्यक्ष होते हैं या मानसप्रत्यक्ष होते हैं ? इसी प्रकार जो सुख दुःख का अनुभव होता है वह मानसप्रत्यक्ष होता है या अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ? स्वानुभूति, स्वसंवेदन व स्वानुभव के क्या अर्थ हैं ? स्पष्ट करें।

समाधान—आत्मा का मुख्य गुण चेतना है। इसी चेतना के पर्यायवाची नाम अनुभव और वेदना भी हैं। अनुभव या अनुभूति अथवा संवेदन चेतना से भिन्न नहीं हैं। कहा भी है—'**चेतयन्ते अनुभवन्ति उपलभन्ते विन्दन्तीत्ये-कार्थश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात् ।**' पं० का० पृ० १३०

अर्थ—चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदन करता है; ये सब एकार्थ वाचक हैं, क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक ही अर्थ है। **चैतन्यमनुभवनम् । अनुभूतिर्जीवाजीवादिपदा-र्थानां चेतनमात्रम् ।** आ० प०

अर्थ—अनुभवन ही चैतन्य है। जीव, अजीव आदि पदार्थों का चेतनमात्र अनुभूति है। वह चेतना, अनुभव अनुभूति अथवा संवेदन तीन प्रकार का होता है—कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना। समस्त स्थावरजीव कर्मफल को चेतते हैं, अनुभव करते हैं वेदन करते हैं। त्रसजीव कर्म को चेतते हैं और केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं। कहा भी है—"**स्थावराः कर्मफल चेतयन्ते, त्रसाः कार्यं चेतयन्ते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयन्ते इति ।**

[पं० का० पृ० १३०]

अर्थ—स्थावर कर्मफल (सुख-दुःख) को चेतते हैं, त्रस कार्य (कर्म-चेतना) को चेतते (वेदन करते) हैं तथा केवलज्ञानी ज्ञान चेतना को चेतते (वेदन करते) हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य एवं श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय में यह स्पष्ट कर दिया है कि केवलज्ञानी के मात्र ज्ञानचेतना का संचेतन (संवेदन, अनुभवन या अनुभूति) होता है।

इस चेतनागुण का परिणमन स्वरूप उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग कहा भी है—"**उवओगो—आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगः ।**

चैतन्यमनुविदधात्यन्वयरूपेण परिणमति अथवा पदार्थपरिच्छित्तिकाले घटोयं पटोयमित्याद्यर्थग्रहणरूपेण व्यापारयति इतिचैतन्यानुविधायी स्फुटं द्विविधः । सविकल्पं ज्ञान निर्विकल्पं दर्शनं ।" पं० का० पृ० १३९।

आत्मा का वह परिणाम जो उसके चैतन्य गुण के साथ रहने वाला है उसको उपयोग कहते हैं अथवा जो चैतन्यगुण के साथ-साथ अन्वयरूप से परिणमन करे सो उपयोग है अथवा जो पदार्थ के जानने के समय यह घट है यह पट है इत्यादि पदार्थों को ग्रहण करता हुआ व्यापार करे सो उपयोग है, वह उपयोग दो प्रकार का है। १. ज्ञानोपयोग २ दर्शनोपयोग। सविकल्पउपयोग ज्ञानोपयोग है। निर्विकल्पउपयोग दर्शनोपयोग है।

अर्थात् चेतना, अनुभव, अनुभूति, संवेदन दो प्रकार का है, एक दर्शनरूप दूसरा ज्ञानरूप। उनमे से दर्शनरूप स्वसंवेदन इस प्रकार है—

आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, आलोकन इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।' धवल पु० १ पृ० १४८-१४९।

अर्थ—आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अवलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं। और वर्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्मा की वृत्ति अर्थात् वेदनरूप व्यापार को आलोकनवृत्ति या स्वसवेदन कहते हैं और उसी को दर्शन कहते हैं।

"आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति चेन्नैष दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्यतद्दर्शनव्यपदेशान्न दर्शनस्य चातुर्विध्यनियमः।"

(धवल १।३८)

यदि कोई यह कहे कि आत्मा को विषय करने वाले उपयोग को दर्शन स्वीकार कर लेने पर आत्मा मे कोई विशेषता नही होने से चारो (चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल) दर्शनो मे भी कोई भेद नही रह जावेगा ? तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा नही है, क्योकि जो जिस ज्ञान का उत्पन्न करनेवाला स्वरूपसवेदन है, उस स्वरूपसवेदन को उसी नाम का दर्शन कहा जाता है।

"ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम्।" धवल पु० १ पृ० ३८३।

स्व (अपने) रूप के सवेदन को दर्शन स्वीकार कर लेना चाहिये।

इसप्रकार श्री वीरसेन आचार्य स्वसवेदन अर्थात् आत्मसवेदन को दर्शनरूप चेतन परिणाम कहते हैं। सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और मिथ्याज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं। प्रमाण का लक्षण निम्न प्रकार है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्॥१॥ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।२। स्वोन्मुखतयाप्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः॥६॥ (आत्माभिमुखतया प्रतीतिः प्रतिभासनम् अर्थस्येव तदुन्मुखतया॥७॥ घटमहमात्मना वेद्मि॥८॥ कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः॥ ९॥ शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्॥ १०॥

—परीक्षामुख

स्व अर्थात् अपने आपके निश्चय करने वाले ज्ञानको और अपूर्व अर्थ के निश्चय करने वाले ज्ञानको (सम्यग्ज्ञान को) प्रमाण कहते हैं। क्योकि प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने मे समर्थ है अतः प्रमाण सम्यग्ज्ञान ही है। जिसप्रकार पदार्थ के अभिमुख उसके जानने को अर्थ व्यवसाय कहते हैं उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है वह स्वव्यवसाय है अर्थात् सम्यग्ज्ञान है। मैं घट को अपने आपके द्वारा जानता हूँ, इस वाक्य मे 'घट' कर्म के समान 'मै' कर्ता, 'अपने आपके द्वारा' करण और जानने रूप क्रिया की भी प्रतीति होती है। पदार्थ के समान शब्द का उच्चारण नही करने पर भी सम्यग्ज्ञानी को अपने आपका अनुभव होता है। अर्थात् जैसे घट आदि शब्द के उच्चारण नहीं करने पर भी घट आदि का अनुभव होता है, उसी प्रकार बाहर मे शब्द का उच्चारण नही करने पर भी 'अहं' 'अहं' इस प्रकार अन्तर्मुखाकाररूप से सम्यग्ज्ञानी को अपने आपका स्वयं अनुभव होता है। वही स्वव्यवसायात्मकरूप प्रमाण है अर्थात् सम्यग्ज्ञान है।

वह प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। कहा भी है—

तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥ विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतोमुख्यम् ॥११॥ परीक्षामुख अ० २

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है। विशद सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण कहलाता है। वह प्रत्यक्षप्रमाण सांव्यावहारिक और मुख्य प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का होता है। इंद्रिय और मनके निमित्त से होने वाले एकदेशविशद ज्ञानको साव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। सामग्री की विशेषता से अर्थात् उत्तम सहनन, योग्य द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव आदि की पूर्णरूप से प्राप्ति होने पर जिसके समस्त आवरण दूर हो गये हैं ऐसे अतीन्द्रिय तथा पूर्णतया विशद सम्यग्ज्ञान को मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि जिस समय छद्मस्थ आत्मा स्वोन्मुख होता है तब उसे पर पदार्थों के समान स्व का अनुभव अर्थात् स्वानुभव होता है। इस पर यह प्रश्न होता है कि यह स्वानुभव प्रत्यक्षप्रमाण (प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान) है या परोक्षप्रमाण (परोक्ष सम्यग्ज्ञान) ? यदि प्रत्यक्षप्रमाण है तो साव्यावहारिक प्रत्यक्ष है या मुख्य प्रत्यक्ष ? इसके सम्बन्ध मे वृहद्द्रव्यसग्रह मे निम्न प्रकार लिखा है—

"शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत् स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षम् यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत् परोक्षम्; यच्चनिश्चय भाव श्रुतज्ञान तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजाल रहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्म शब्दवाच्य वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि ससारिणो क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते। अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वय परोक्ष भणित तिष्ठति कथं प्रत्यक्ष भवतीति ? परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इद पुनरपवादव्याख्यानम्। यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्ष भणितं तिष्ठति। तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम्। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानम् तथा स्वात्माभिमुख भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत् प्रत्यक्ष भण्यते। यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा।"

अर्थ—जो शब्दात्मक श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है ही तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध करा देने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और अभ्यन्तर मे "सुख दुःखरूप मैं हूं अथवा मैं अनन्त ज्ञानादि रूप हूँ" ऐसा जो विकल्प है वह भी ईषत् परोक्ष है। जो निश्चय भावश्रुतज्ञान है वह शुद्धात्मा के अभिमुख होने से सुखसंवित्ति-सुखानुभवरूप है। यद्यपि वह निजआत्मज्ञानाकार की अपेक्षा सविकल्प है तथापि इन्द्रिय तथा मन जनित रागादि विकल्पसमूह से रहित होने के कारण निर्विकल्प है और अभेदनय से वही ज्ञान 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक्चारित्र के बिना नहीं होता। केवलज्ञान की अपेक्षा यद्यपि वह ज्ञान परोक्ष है तथापि संसारियों के क्षायिक ज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहा जाता है।

यहाँ पर शिष्य शका करता है कि "आद्ये परोक्षम्", इस तत्त्वार्थसूत्र मे मति और श्रुत; दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है। फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि तत्त्वार्थ-सूत्र मे जो श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है वह उत्सर्ग व्याख्यान की अपेक्षा कहा है और भावश्रुत प्रत्यक्ष है, ऐसा अपवाद की अपेक्षा कथन है। यदि तत्त्वार्थ सूत्र मे उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा जाता ? यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्कशास्त्र मे उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे कहते ? इसप्रकार जैसे अपवाद

व्याख्यान से परोक्षरूप मतिज्ञान को भी सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहा है वैसे ही आत्मा के सम्मुख जो भावश्रुतज्ञान है वह परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष कहा गया है।

यदि मतिज्ञान व श्रुतज्ञान एकान्त से परोक्ष होते तो सुख-दुःख आदि का संवेदन भी परोक्ष ही होता, किन्तु वह सवेदन परोक्षज्ञान नही है।

—जै ग. 10-10-68/VII/ रो ला मित्तल

स्वानुभव का लक्षण एवं स्वामी

शंका—स्वानुभव का लक्षण क्या है ? यह कौनसे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है ?

समाधान—वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः। तत्स्व-संवेदन प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥ १६१ ॥ तत्त्वानुशासन

अर्थ—योगी को अपने ही द्वारा अपने को ज्ञेयपना और ज्ञानपना है उसका नाम स्वसवेदन है और उसी को अनुभव प्रत्यक्ष कहते हैं।

"यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्षज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निवदशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादिविकल्परहित स्वसंवेदनज्ञानसमुत्पन्नपरमानन्दरूपानाकुलत्वसुस्थितवास्तवसुखामृतजलेन पूर्णकलशवत्सर्वप्रदेशेषु भरितावस्थानां परम-योगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवतीत्यलिंगग्रहणः।" पंचास्तिकाय गाथा १२७।

अर्थात्—अशुद्धात्मा अनुमानस्वरूप परोक्षज्ञान के द्वारा व्यवहारनय से उसी तरह पहचान लिया जाता है जिस तरह धूमसे अग्नि का अनुमान करते हैं। यह शुद्धात्मा रागादि विकल्पो से रहित स्वसवेदनज्ञान से उत्पन्न परमानंदमई अनाकुलता मे भले प्रकार स्थित सच्चे सुखामृतजल से पूर्णकलश की तरह भरे हुए परमयोगियो को प्रत्यक्ष है, किन्तु जो ऐसे योगी नहीं हैं उनको अनुभव प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये यह जीव अलिंगग्रहण है।

इसप्रकार स्वानुभव का लक्षण तथा उसके स्वामी का कथन उपर्युक्त आर्षग्रन्थो मे किया गया है। किन्तु गुणस्थान का उल्लेख नही है, क्योकि द्रव्यानुयोग मे गुणस्थान की अपेक्षा कथन नहीं होता। फिर भी योगी कहने से सयमी का ग्रहण हो जाता है और अन्य विशेषणो से श्रेणी मे स्थित योगी का ग्रहण होता है।

यही बात निम्न पक्तियो से भी स्पष्ट हो जाती है—

"निर्विकल्पसमाधिबलेन जातमुत्पन्नं वीतरागसहजपरमानन्दसुखसंवित्युपलब्धिप्रतीत्यनुभूतिरूपं यत्स्वसंवेदन-ज्ञानं।" पंचास्तिकाय गाथा १३ टीका।

अर्थ—निर्विकल्पसमाधि के बल से उत्पन्न जो वीतरागसहजपरमानन्दमयसुख; उसकी संवित्ति, प्राप्ति, प्रतीति व अनुभूतिरूप स्वसवेदनज्ञान है।

यह कथन अध्यात्मग्रन्थ की अपेक्षा से है। तर्क-शास्त्र की अपेक्षा से "जैसे पदार्थों का ज्ञान होता है वैसे ही स्व का भी ज्ञान होता है उस ज्ञान को स्वानुभव कहा है। वह मानस-प्रत्यक्ष व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में गर्भित है।

"स्वस्यानुभवनमर्थवत्।" परीक्षामुख १।१०।

अर्थ—जैसे अर्थ का निश्चय ज्ञान होता है वैसे स्व का अनुभवन (ज्ञान) होता है।

"ननु स्वसंवेदन-मेवमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्, तस्य सुखादिज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्, इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रियसमक्षत्वात्। अन्यथा तस्य स्वव्यवसायायोगात्। स्मृत्यादिस्वरूप संवेदनं मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति।" [प्रमेयरत्नमाला २।५]

अर्थ—जो स्वसवेदन नाम प्रत्यक्ष अन्य है सो क्यों न कहा ? ऐसे न कहना, जातैं सो सवेदन सुख आदि का ज्ञान स्वरूप अनुभवन है सो मानस प्रत्यक्ष मे आ गया और इन्द्रियज्ञानस्वरूप सवेदन है सो इन्द्रियप्रत्यक्ष मे आ गया जो ऐसे न मानिये तो तिस ज्ञानके अपने स्वरूप का निश्चय करने का अयोग आवे है। बहुरि स्मरण आदि का स्वरूप का सवेदन है सो मानसप्रत्यक्ष ही है अन्य नाही है सो स्वसवेदन प्रत्यक्ष कहिये है, परन्तु जुदा भेद नांहीं।

—जै. ग. 20-3-67/VII/ रतनलाल

जीव के सूक्ष्म परिणामों को मतिश्रुतज्ञानी नहीं जान पाते

शंका—जीव के परिणामों की अनन्त कोटियाँ हैं, किन्तु वे परिणाम हमारी जानकारी में कैसे आवें ? अपने परिणामों का सूक्ष्मज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—मतिश्रुत ये दोनो परोक्षज्ञान इन्द्रिय तथा मनकी सहायता से उत्पन्न होते हैं अतः इन दोनो ज्ञानो के द्वारा सूक्ष्म परिणामो का या परिणामो मे सूक्ष्म परिवर्तन का ज्ञान नही हो सकता है। ये दोनो ज्ञान अपने या पर के स्थूल परिणामो को जान सकते हैं तथा आगम के आधार से परमाणु आदि सूक्ष्म का भी ज्ञान हो जाता है।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ टी. ला. जैन

आत्मा अलिंगग्रहण, अर्थात् इन्द्रियों से अज्ञेय है

शंका—'अलिंगग्रहण' से क्या प्रयोजन है ? आत्मा का लक्षण उपयोग और उपयोग लक्षण के द्वारा आत्मा ग्राह्य है।

समाधान—अलिंगग्रहण से प्रयोजन यह है कि आत्मा इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है। पंचास्तिकाय गाथा १२७ की टीका मे कहा है—

"नेन्द्रियग्रहणयोग्यं"

उपयोग आदि लक्षणो से अनुमान के द्वारा आत्मा परोक्षरूप से ग्राह्य भी है तथा केवलज्ञानी प्रत्यक्ष जानते हैं।

—जै. ग. 14-1-71/VII/ टी. ला. मित्तल

१. आत्मा और पदार्थों में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है
२. दर्शन (दर्शनोपयोग) का कार्य आत्म-ज्ञान

शंका—आत्मा के स्वपर द्रव्यों का ज्ञातपना और द्रव्यों का तथा आत्मा का ज्ञेयरूपपना किस प्रकार है ?

समाधान—आत्मा का लक्षण उपयोग है और वह उपयोग दो प्रकार का है—१. ज्ञानोपयोग २. दर्शनोपयोग। (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ८ व ९)। आत्मा ज्ञानोपयोग के कारण परद्रव्यो को जानता है और दर्शनोपयोग के कारण आत्मा (स्व) को देखता (जानता) है। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

"अशेषबाह्यार्थग्रहणे सत्यपि न केवलिनः सर्वज्ञता, स्वरूपपरिच्छित्त्यभावादित्युक्ते आह-'पस्सदि' त्रिकालगोचरानन्तपर्यायोपचितमात्मानं च पश्यति।" धवल पु० १३

अर्थ—केवलज्ञान द्वारा अशेष बाह्य पदार्थों का ग्रहण होने पर भी भगवान आत्मा का सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके स्वरूप परिच्छित्ति का अभाव है, ऐसी आशका के होने पर सूत्र मे 'पश्यति' कहा है, अर्थात् दर्शनोपयोग के द्वारा वे त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायो से उपचित आत्मा को भी देखते हैं।

जिसप्रकार चुम्बक मे आकर्षण शक्ति है उसी प्रकार लोह मे आकर्षणीय शक्ति है, अन्यथा लोहे का चुम्बक द्वारा आकर्षण नही हो सकता था। इसी प्रकार प्रत्येकद्रव्य मे ज्ञेयशक्ति है अन्यथा वह ज्ञानका विषय नही हो सकता था। कहा भी है—

"प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम्।" आलापपद्धति

प्रमाण अर्थात् ज्ञान के द्वारा अस्ति-नास्तिरूप परिच्छेद्य (जाना जाने योग्य) शक्ति को प्रमेय या ज्ञेय गुण कहते हैं।

आत्मा मे ज्ञान गुण है और पदार्थों मे ज्ञेय गुण है अतः आत्मा और पदार्थों मे ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ रो. ला.

(१) रागद्वेषरूप प्रवर्तन करने वाले का ज्ञान-दर्शन कथंचित् अयथार्थ है।
(२) चारित्र से ही ज्ञान व दर्शन यथार्थता पाते हैं

शंका—जैसे बच्चे को ज्ञान नहीं है कि आग से हाथ जल जाता है और वह बेखटके आग में हाथ दे देता है। जब उसको यह ज्ञान व श्रद्धान हो जाता है कि आग में हाथ देने से हाथ जल जाता है तो वह आग में हाथ नहीं देता है। इसी प्रकार जिसको यह ज्ञान व श्रद्धान हो गया कि रागादिक भाव आस्रव व बन्ध के कारण हैं उस पुरुष को रागादि नहीं करने चाहिये। यदि वह पुरुष रागादि भावरूप परिणत होता है तो उसके श्रद्धान व ज्ञान को यथार्थ कहा जा सकता है क्या ?

समाधान—सम्यग्दर्शन दो प्रकार है (१) सरागसम्यग्दर्शन और (२) वीतरागसम्यग्दर्शन। कहा भी है—

"तद् द्विविधं सरागवीतरागविषय भेदात्।"

जबतक बुद्धिपूर्वक राग है अर्थात् चतुर्थगुणस्थान से सातवेंगुणस्थान तक सरागसम्यग्दर्शन है, यहीं तक आयु का बन्ध होता है। आठवेंआदि गुणस्थानों मे अर्थात् क्षपकश्रेणी मे बुद्धिपूर्वकराग का अभाव हो जाने से वीतरागसम्यग्दर्शन है, वहाँ पर आयु का बन्ध नहीं होता है।

"बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति। अबुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवागोचरात्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।"

जबतक बुद्धिपूर्वक राग है अर्थात् सम्यग्दर्शन है तबतक शुद्धात्मसंवित्ति अथवा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का अभाव है। वीतरागस्वसंवेदनज्ञान के अभाव के कारण सरागसम्यग्दृष्टि को (किसी अपेक्षा से) कथंचित् अज्ञानी भी कहा गया है। आर्षप्रमाण इसप्रकार है—

'अज्ञानिनां निर्विकल्प समाधि भ्रष्टानाम्।' (समयसार गा. १४ की टीका)

'अथ निश्चयेन वीतराग स्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञान भण्यते।' (स. सा. गा. ९२ की उत्थानिका)

अर्थात् निर्विकल्पसमाधि से जो भ्रष्ट हैं वे अज्ञानी हैं। वास्तव मे वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का न होना ही अज्ञान है।

फल्टन से प्रकाशित श्री मोतीलाल जैन एम ए द्वारा सम्पादित समयसार मे लिखा है—आचार्य श्री जयसेनजी ने 'ततः स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञान कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति' इस वाक्य के द्वारा अज्ञान को शुद्धात्मसंवित्ति का अभावरूप बताया है। यह उनके द्वारा बताया गया अर्थ यथार्थ है, क्योंकि चौथे से सातवें तक के गुणस्थानवाले जीव के सराग-सम्यक्त्व का सद्भाव होने से उसके मनुष्यगति का और देवगति का बन्ध होता है। आठवाँ आदि गुणस्थान प्रबंध न होने पर भी वह क्षपकश्रेणी वाले जीव के गतिबन्ध का कारण नही होता। अतः गतिबन्ध का अभाव होने से शुद्धात्मा की अनुभूति जीव के कर्मकर्तृत्व का कारण नही है। अतः सातवेंगुणस्थान तक अज्ञान का सद्भाव होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अथवा चौथे से सातवें गुणस्थान तक जीव विभावरूप से परिणत होनेवाला होने से वह भाव कर्मों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्त कर्ता होता है और कर्ता होने से उसकी अवस्था एक प्रकार से अज्ञानमय ही है। अतः अज्ञान शब्द से शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान का ग्रहण ही अभीष्ट है।' (पृ० ६१८)

'जीव को जबतक वीतरागस्वसंवेदनरूप या शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान नही होता तब तक उसके दर्शनज्ञान और चारित्र एकप्रकार से मिथ्या कहे जा सकते है। जीव के जिसकाल मे प्रथमोपशमरूप उपशमसम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है उसकाल से आगे के काल मे और वीतरागस्वसंवेदन की प्रादुर्भूति के पूर्वकाल मे जबतक सरागता होती है तबतक जीव को शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता, क्योंकि रागभाव शुद्धात्मसंवित्ति का प्रतिबन्धक होता है। उपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति होते समय सिर्फ सातप्रकृतियो के उदयरूप निमित्त का अभाव अर्थात् अनुदयरूप निमित्त का सद्भाव होता है। उसीप्रकार शुद्धात्मसंवित्ति के प्रतिबन्धक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन का तीव्र उदय होता है। इनका उदय होने से शुद्धात्मा के स्वरूपका अनुभवजन्य पूर्णज्ञान नहीं होता। उससमय आत्मा का जो कुछ ज्ञान होता है वह उसके सिर्फ सामान्यांश का ही होता है-विशेषांश का नहीं वस्तुके सामान्य और विशेष इन दोनो अंशो का ज्ञान होने पर ही वस्तुके स्वरूपका ज्ञान पूर्णरूप से होता है, अन्यथा नही। वस्तु के विशेषो का जबतक ज्ञान नही होता तबतक ज्ञान के अंशभूत दर्शन और चारित्र अर्थात् आत्मस्वरूप विषयक दृढ निश्चय न होने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र अंशतः सम्यक् और अंशतः मिथ्या होने से निश्चयनय की दृष्टि से मिथ्या ही हैं। यह स्पष्ट हो जाता है। अतः शुद्धात्मसंवित्ति के बाद ही रत्नत्रय की यथार्थता की सिद्धि होती है, उसके पहले नहीं। साराश, वीतरागरत्नत्रय ही यथार्थ रत्नत्रय है सरागरत्नत्रय नही। फिर भले ही वह परम्परा से मोक्ष का कारण बन जाता है। इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि सराग रत्नत्रय के सर्वथा अभाव मे भी वीतरागरत्नत्रय की या अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति होती है।' ३३१।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है कि जो रागादिरूप प्रवृत्ति करता है अर्थात् रागादि आस्रवभावों से निवृत्त नहीं हुआ है। वह पारमार्थिक ज्ञानी नहीं है। कहा भी है—

'तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिद्ध्येत। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति।' समयसार गा० ७२ टीका

अर्थ—क्रोधादि अर्थात् रागादि आस्रवभावों से जबतक निवृत्त नहीं होता, तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्चे भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति से अर्थात् वीतरागचारित्र से अविनाभावी जो सच्चा ज्ञान है, उसी से अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मबन्ध का निरोध होता है। जो आत्मा और रागादिआस्रवों का भेद ज्ञान है यदि वह भी रागादिआस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है कि जो राग-द्वेषरूप प्रवर्तता है उसका ज्ञान, श्रद्धान परमार्थ नहीं है।

जै. ग. 25-2-71/IX/ सुलतानसिंह

सकल जीवों के ज्ञायक भाव की सत्ता

शंका—आत्मा का ज्ञायकभाव पारिणामिकभाव है या नहीं ? क्या ज्ञायकभाव संसार अवस्था में भी रहता है ?

समाधान—जीवत्व, उपयोग, चेतना, ज्ञायक ये सब पर्यायवाची हैं। 'जीव भव्याऽभव्यत्वानि च ॥२।७॥' इस सूत्र में जीवत्व को पारिणामिकभाव कहा गया है। इस सूत्र की टीका में श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः।' इन शब्दों द्वारा जीवत्व का अर्थ चैतन्य किया है।

'चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।' अर्थात् चैतन्य का अन्वयी परिणाम उपयोग है। 'स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगः दर्शनोपयोगश्चेति।' अर्थात् वह उपयोग दो प्रकार का है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग ही ज्ञायकभाव है। इसप्रकार ज्ञायकभाव पारिणामिकभाव है।

'उपयोगो लक्षणम्—उपयोग जीव का लक्षण है। अतः संसारअवस्था में भी जीव में ज्ञायकभाव रहता है।

—जै. ग 12-2-70/VII/ र ला जैन

सम्यग्ज्ञान की स्वाधीनता पराधीनता

शंका—छद्मस्थ के जिस ज्ञान ने कर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है वह ज्ञान स्वतन्त्र है या कर्माधीन है ?

समाधान—छद्मस्थ का वह ज्ञान जिसने कर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है, स्वतन्त्र भी है और कर्माधीन भी है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अथवा सामान्यज्ञान की दृष्टि से वह ज्ञान स्वतंत्र है। क्षायोपशमिक-ज्ञान होने से वह ज्ञान विभाव है, कर्माधीन है। एकान्त नियम नहीं है।

केवलमिंदिय-रहियं असहायं तं सहावणाणंत्ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदिओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥१२॥ नियमसार

अर्थ—जो ज्ञान केवल, इन्द्रियरहित और असहाय है वह स्वभावज्ञान है; सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से विभावज्ञान दो प्रकार का है। वह (विभाव) सम्यग्ज्ञान चार भेद वाला है—१ मति, २. श्रुत, ३. अवधि, ४. मनःपर्यय, और (विभाव) मिथ्याज्ञान मति आदि के भेद से तीनप्रकार का है।

"केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा मतिज्ञानादयो विभावगुणाः।" पं० का० गाथा ५ टीका

अर्थात्—केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वभावगुण हैं। मति आदि क्षायोपशमिकज्ञान विभावगुण हैं।

"सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिकभावो भवति।"
—स० सि० २१५

अर्थात्—वर्तमानकाल मे सर्वघातीस्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से, देशघाती कर्मस्पर्द्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिकभाव होता है। अर्थात्—क्षायोपशमिकज्ञान कर्मों के क्षयोपशम के आधीन है, अतः कर्माधीन है। छद्मस्थों के केवलज्ञान का अभाव है उनके मात्र क्षायोपशमिकज्ञान होता है। द्रव्यार्थिकनय से ज्ञान अनादि-अनन्त है, अतः स्वाधीन है। पर्यायार्थिकनय से ज्ञानका उपयोग परिणत होता रहता है अतः पराधीन है।

—जै ग. 27-6-66/IX/ ज्ञानचन्द एम. एस. सी.

समयसार कलश ११६ का अभिप्राय/ज्ञानी का अर्थ

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित समयसार कलश ११६ के भावार्थ में लिखा है—"परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है, अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिये निजशक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।" कलश नं० ११६ का क्या ऐसा अभिप्राय है?

समाधान—समयसार में कलश ११६ इस प्रकार है—

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिंदन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्,
नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

अर्थ—इस प्रकार है—

"यह आत्मा जब ज्ञानी होय है, तब अपने बुद्धिपूर्वक रागकूं तो समस्तकूं आप दूरी करता संता निरन्तर प्रवर्ते है। बहुरि अबुद्धिपूर्वक रागकूं भी जीतने कूं बारम्बार अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्तिकूं स्पर्शता प्रवर्ते है, बहुरि ज्ञानकी पलटनी है ताकूं समस्त ही कूं दूरि करता संता ज्ञानकूं स्वरूप विषै थांभता पूर्ण होता संता प्रवर्ते है। ऐसा ज्ञानी होय तब शाश्वत निरास्रव होय है।"

इस कलश मे जिस ज्ञानी का कथन किया गया है उसके दो विशेषण दिये गये हैं। १. ज्ञानी होते ही समस्त बुद्धिपूर्वक राग का (वह राग जो अपने ज्ञान गोचर होय, उस राग का) अभाव हो जाय है और अबुद्धिपूर्वक राग (अपने ज्ञान मे न आवे तथा श्रेणी मे होने वाले ऐसे कर्मोदय जनित राग) का अभाव करने के लिये अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्ति (जहा पर राग-द्वेष का अनुभवन न हो ऐसी शक्ति) को प्रयोग मे लावे है। २. ज्ञानी होते ही ज्ञानकी पलटन (विकल्प) समाप्त हो जाती है और निर्विकल्पसमाधि (शुक्लध्यान) मे स्थित हो जाता है। ज्ञानी के इन दोनो विशेषणो से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कथन नही है, क्योंकि उसके न तो समस्त बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होता है और न समस्त ज्ञान की पलटन दूर होती है। यद्यपि राग को हेय जानता है तथापि उसका राग बाह्य विषय का आलम्बन लेकर प्रवर्तता है और स्वय उसका अनुभव होता है तथा दूसरे भी उस राग को अनुमान से जान लेते हैं। अत वह राग बुद्धिपूर्वक है। समयसार टिप्पण मे कहा भी है—

"बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापिगम्या। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमन्तरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवागोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।" समयसार पृ० २४६ रायचन्द ग्रन्थमाला

अर्थ—जीव के जो परिणाम बाह्य विषय का आलम्बन लेकर मन के द्वारा प्रवृत्त होता है तथा स्वानुभवगम्य है और अनुमान के द्वारा दूसरो से भी जाना जाता है वह आत्म-परिणाम बुद्धिपूर्वक कहलाता है। किन्तु जो परिणाम इन्द्रिय और मन के व्यापार के बिना मात्र मोहोदय के निमित्त से होता है और जो स्वानुभव गोचर भी नहीं है वह अबुद्धिपूर्वक परिणाम है।

इसप्रकार स्वय कलश ११६ के अर्थ से तथा संस्कृत टिप्पणी से कलश ११६ का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

—जै. ग 24-4-69/V/र. ला. जैन

"ज्ञान बिन कर्म झरै जे" पद्यांश में ज्ञानबिन का अर्थ

शंका—कोटि जनम तप तपै ज्ञान बिन कर्म झरै जे। ज्ञानी के छिनमांहि त्रिगुप्तितैं सहज टरै ते।

छहढाला के उपर्युक्त पद्य में 'ज्ञान बिन' अर्थात् अज्ञानी से–मिथ्यादृष्टि से प्रयोजन है ? या पूर्ण ज्ञान के अभावरूप अज्ञान से प्रयोजन है ? सम्यग्दृष्टि के यद्यपि पूर्णज्ञान का अभाव है, किन्तु सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण वह अज्ञानी नहीं कहला सकता है।

समाधान—'ज्ञानी' शब्द का अनेक अर्थ मे प्रयोग हुआ है। जैसे ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः प्रत्येक जीव ज्ञानी है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल मे ज्ञान नहीं है अतः वे ज्ञानरहित (अज्ञानी-अचेतन) हैं।

कहीं पर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा गया है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता है। कहा भी है—

'ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्व कर्मोदयानुदयापेक्षः।' रा० वा० २।५।६

मिथ्यात्व कर्मोदय के कारण ज्ञान भी अज्ञान है। मिथ्यात्व कर्म का अनुदय होने पर, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

'मिथ्यात्व समवेतज्ञानस्यैव ज्ञान कार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्'
—धवला पु० १ पृ० ३५३

अर्थ—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है, क्योंकि वह ज्ञान का कार्य नहीं करता है जैसे पुत्रोचित कार्य को नही करनेवाले पुत्र को ही अपुत्र कहा जाता है।

'कधं मिच्छाइट्ठिणाणस्स अण्णाणत्तं? णाणकज्जाकरणादो। किं णाणकज्जं? णादत्थसद्दहणं। ण तं मिच्छाइट्ठिम्हि अत्थि। तदो णाणमेव अण्णाणं, अण्णहा जीवविणासप्पसंगा। ण च एस ववहारो लोगे अप्पसिद्धो, पुत्तकज्जमकुणंते पुत्ते वि लोगे अपुत्तववहारदंसणादो।' धवल पु० ५ पृ० २२४

अर्थ—मिथ्यादृष्टिजीवो के ज्ञानको अज्ञानपना कैसे कहा? मिथ्यादृष्टि का ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता है इसलिये उसको अज्ञान कहा है। ज्ञान का कार्य क्या है? जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना ज्ञान का कार्य है। इस प्रकार का ज्ञान कार्य मिथ्यादृष्टि मे नहीं पाया जाता है, इसलिये मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा है। यहाँ पर अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं लेना चाहिए अन्यथा ज्ञानरूप जीव के लक्षण का विनाश होने से लक्ष्यरूप जीव के विनाश का प्रसग प्राप्त होगा। ज्ञान का कार्य नही करने पर ज्ञान मे अज्ञान का व्यवहार लोक मे अप्रसिद्ध भी नही है, क्योंकि पुत्रकार्य को नही करने वाले पुत्र मे भी लोक मे अपुत्र कहने का व्यवहार देखा जाता है।

श्री वीरसेनाचार्य ने 'पुत्रोचित कार्य न करनेवाला पुत्र अपुत्र है' इस दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान के अनुकूल यदि कार्य नहीं है अर्थात् चारित्र धारण नहीं किया तो वह ज्ञान निष्फल होने से अज्ञान ही है। इसीलिये ज्ञान का फल चारित्र भी कहा है।

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥५॥" परीक्षामुख

अर्थ—अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा यह ज्ञान का फल है। यहाँ पर भी श्रीमन्माणिक्यनन्दिआचार्य ने 'हान', 'उपादान' और 'उपेक्षा' शब्दो द्वारा चारित्र को ज्ञान का फल बतलाया है। इसी बात को श्री वीरसेन आचार्य ने भी कहा है—

"किं तद्ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च।"

अर्थ—तत्त्वार्थ मे रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का धारण करना ज्ञान का फल है।

इन आर्षवाक्यो से भी स्पष्ट है कि चारित्र धारण किये बिना ज्ञान निष्फल है।

इसी बात को श्री ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्द्रव्यसंग्रह को टीका मे कहा है कि जबतक रागादि का पूर्णरूप से त्याग नही होता है तबतक वह ज्ञान निष्फल है।

अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति। स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति, तस्य विनाशे दोषो नास्ति। यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशेप्रदीपफलं नास्ति। यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति। तथा कोऽपि रागादयो हेयामदीया न भवतीति भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणाबध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेद विज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्। बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ३६ टीका

अर्थ—अन्धकार मे दो मनुष्य हैं, एक के हाथ मे दीपक है और दूसरा बिना दीपक है। उस दीपकरहित पुरुष को कुए तथा सर्पादि का ज्ञान नही होता, इसलिये कुए आदि मे गिरकर नाश होने मे उसका दोष नही है। हाथ मे दीपक वाले मनुष्य का कुए मे गिरने आदि से नाश होने पर उस दीपक का कोई फल नहीं हुआ। जो दीपक के प्रकाश द्वारा कूप-पतनआदि से बचता है उसके दीपक का फल है। इसीप्रकार जो कोई मनुष्य 'राग आदि हेय हैं, मेरे नहीं हैं' इस भेदविज्ञान को नहीं जानता, वह तो कर्मों से बंधता ही है। दूसरा कोई मनुष्य 'रागादि हेय हैं, मेरे नहीं हैं' इस भेदविज्ञान के होने पर भी जितने अंशो मे रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशो से वह भेद-विज्ञानी बँधता ही है, उसके रागादि के भेदविज्ञान का भी फल नही है, अर्थात् उसका भेदविज्ञान निष्फल होने से अज्ञान ही है। जो रागादिक भेदविज्ञान होने पर रागादि का त्याग करता है, उसके भेदविज्ञान का फल है अर्थात् भेदविज्ञान सफल होने से वह वास्तविक ज्ञानी है। इसी बात को श्री शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना मे कहा है—

> चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादि दोस परिहरणं ।
> चक्खू होइ णिरत्थं दट्ठूण बिले पडतस्स ॥१२॥

अर्थ—नेत्र और उससे होने वाला जो ज्ञान है उसका फल सर्प, खड्डा, कंटक—इत्यादि दुखो का परिहार करना है, परन्तु जो बिलादि देखकर भी उसमे गिरता है, उसका नेत्रज्ञान व्यर्थ है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे कहा है—

> णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
> दुक्खस्स कारणं त्ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

रागादिआस्रवो का अशुचिपना, विपरीतपना, और दुःख का कारणपना जानकर उन रागादिआस्रवो से निवृत्त होता है।

संस्कृत टीका—'इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेद जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। यस्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति।'

अर्थ—इसप्रकार आत्मा और आस्रवो के तीन विशेषणो कर भेद देखने से जिससमय भेद जान लिया उसी समय क्रोधादिक आस्रवो से निवृत्त हो जाता है और उनसे जबतक निवृत्त नहीं हो तबतक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्चे भेदविज्ञान की सिद्धि नही होती। जो आत्मा और रागादिआस्रवो का भेद-ज्ञान है वह भी यदि रागादिआस्रवो से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान, ज्ञान ही नही है।

इन आर्षवाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि निर्विकल्पसमाधि मे स्थित होकर रागादि से निवृत्त होने पर ही जीव ज्ञानी कहलाता है और उससे पूर्व वह ज्ञानी नही है। अतः छहढाला के उपर्युक्त पद्य मे 'ज्ञान बिन' से मात्र मिथ्यादृष्टिजीव को न ग्रहण करना, किन्तु निर्विकल्पसमाधि से रहित जितने भी जीव हैं उन सबको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि श्री कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि मे निर्विकल्पसमाधि से रहित जीव अज्ञानी है। इस बात को श्री प्रवचनसार मे स्पष्टरूप से कहा गया है—

> जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
> तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

अर्थ—जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटिभवों में खपाता है, उन कर्मों को ज्ञानी (निर्विकल्पसमाधि मे स्थित) त्रिगुप्ति के द्वारा उच्छ्वास मात्र मे खपा देता है।

इस गाथा का अनुवाद **छहढाला** मे निम्न पद्य द्वारा किया गया है।

कोटि जन्म तप तपं, ज्ञान बिन कर्म झरं जे।
ज्ञानी के छिनमांहि, त्रिगुप्तितें सहज टरें ते॥

इस गाथा की टीका मे **श्री जयसेनाचार्य** ने ज्ञानी और अज्ञानी की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

'यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसंवेदनज्ञानं तदभावादज्ञानीजीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्मक्षपयति तत्कर्मज्ञानीजीवः पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति।'

यदि 'ज्ञान बिन' अर्थात् "अज्ञानी" का अर्थ मिथ्यादृष्टि किया जायगा तो **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** की उपर्युक्त गाथा का अर्थ ठीक नही बैठेगा, क्योकि मिथ्यादृष्टि तो कर्मों का क्षय नहीं करता है, किन्तु उपर्युक्त गाथा मे अज्ञानी के कर्मों का क्षय बतलाया है। कर्मों का क्षय सम्यग्दृष्टि के ही सम्भव है अतः उपर्युक्त गाथा व **छहढाला** के पद्य मे अज्ञानी से अभिप्राय उन सम्यग्दृष्टिजीवो का है जो निर्विकल्पसमाधि से रहित हैं। जो सम्यग्दृष्टिजीव निर्विकल्पसमाधि मे स्थित हैं वे ही ज्ञानी हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य की यही दृष्टि **समयसार** आदि ग्रन्थो मे भी रही है अतः वहाँ पर भी **'ज्ञानी'** शब्द से वीतरागसम्यग्दृष्टि अर्थात् निर्विकल्पसमाधि मे स्थित सम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिये, क्योकि ज्ञान श्रद्धान के अनुरूप आचरण करने के कारण निर्विकल्पसमाधि मे स्थित वीतरागसम्यग्दृष्टि ही वास्तविक ज्ञानी है। निर्विकल्पसमाधि से रहित सविकल्पचारित्र वाले सम्यग्दृष्टि भी वास्तविक ज्ञानी नही हैं, अज्ञानी हैं। फिर ज्ञानी शब्द से असयतसम्यग्दृष्टि का कैसे ग्रहण हो सकता है। इसीलिये **श्री जयसेनाचार्य** ने **समयसार** की टीका मे लिखा है—

'अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं।' (पृ० २७४)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने निर्विकल्पसमाधि मे स्थित वीतरागसम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और सविकल्पसम्यग्दृष्टि को अज्ञानी कहा है।

—जै. ग. 4-12-69/VI/ जिनेन्द्रकुमार

जीवतत्त्व/विभाव में हेतु

अध्यवसान

शंका—'समयसार' में अध्यवसान से क्या अर्थ लिया है ?

समाधान—यद्यपि अध्यवसान का अर्थ निर्णयात्मक ज्ञान होता है, परन्तु **समयसार** की टीका मे अध्यवसान का अर्थ मिथ्याज्ञान लिया है। (देखो कलश १७०) रागद्वेष पर-वस्तु के आश्रय से होता है, अतः बुद्धिपूर्वक रागद्वेष सहित जो ज्ञान है वह भी अध्यवसान है। [समयसार गाथा १७२ की टीका]

—पत्राचार 6-9-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

विभिन्न अध्यवसानों के नाम

शंका—समयसार में यतरेबंधनिमित्ताः ततरे रागद्वेषमोहाद्याः [स० सा० गा० २१७] पद आया है, जिसका अर्थ है रागद्वेषमोहादि (अध्यवसान प्रकरण)—यहाँ रागद्वेषमोहादि में 'आदि' शब्द से क्या लेना चाहिए ?

समाधान—राग, द्वेष, मोह के अतिरिक्त लेश्यारूप परिणाम प्रमादरूप परिणाम ग्रहण किये जा सकते हैं। बंध के कारणों मे कषाय व मिथ्यात्व से पृथक् प्रमाद को ग्रहण किया है। आर्त्त-रौद्ररूप परिणाम भी लिये जा सकते हैं।

—पत्राचार 30-9-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

शुद्धात्मा में रागादि शक्तितः भी नहीं हैं तथा क्रियावती शक्ति भी आत्मा में नहीं है

शंका—शुद्धावस्था में शक्तिरूप से राग, योगादि रहते हैं या नहीं ? अकेला (स्वयं) जीव रागादि का कर्ता है या नहीं ? जीव की क्रियावती शक्ति है या निष्क्रियत्व शक्ति ?

समाधान—राग, योग आदि विभावपर्यायें हैं, जो कि अशुद्धदशा मे हो सकती हैं। बन्ध होने पर अशुद्ध-दशा होती है, अतः बन्ध का नाश होने पर राग, योग आदि शक्ति [पर्यायशक्ति] रूप से भी नही रहते। द्रव्य सामान्यरूप है। वह अनादि अनन्त है। वह न तो ससारी है, न ही मुक्त। पर्यायें विशेष हैं। वे उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती रहती हैं। सामान्य अपने सब विशेषों में व्याप्त होकर रहता है, अतः उसको तत्प्रमाण कहा है। जैसे बांस (वेणुदण्ड) प्रत्येक पोरी मे भिन्न-भिन्न है, किन्तु सामान्य से वेणुदण्ड अपनी पोरियो प्रमाण है। विशेष दृष्टि से प्रत्येक पोरी का वेणुदण्ड भिन्न-भिन्न है। अन्यथा द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य घटित नहीं हो सकेगा।

अकेला जीव स्वय रागादि का अकर्ता है। समयसार गा० २७९ की टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वयं न परिणमते।

समयसार गाथा ५१ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—"जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।"

समयसार-आत्मख्याति टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने ४७ शक्तियो का कथन किया है उसमे जीव के निष्क्रियत्वशक्ति कही है, किन्तु क्रियावती शक्ति नहीं कही।

मात्र हाइड्रोजन में या मात्र आक्सीजन मे जलरूप परिणमन करने की शक्ति नही है, किन्तु इन दोनों का बन्ध होने पर हवा से [Gas से] जलरूप परिणमन हो जाता है; इसीलिए जल को न केवल H कहा तथा न ही केवल O कहा, किन्तु H_2O कहा है। आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है, किन्तु बन्ध होने पर मूर्तिक हो जाता है।

—पत्र 14-12-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

जीव व पुद्गल के स्वभाव व विभाव परिणमन में अन्य द्रव्य हेतुता

शंका—जीव और पुद्गलों के विभाव तथा क्रमबद्ध पर्यायों में धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों को शुद्ध-क्रमबद्धपर्यायें कैसे निमित्त हो सकती हैं ?

समाधान—धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन मे सहकारी कारण है। अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल को ठहरने मे सहकारी कारण है। आकाश द्रव्य जीवादिद्रव्यों को अवकाश देता है। कालद्रव्य सर्वद्रव्यो के परिणमन मे सहायक है। द्रव्यसंग्रह गाथा १७, १८, १९ व २१।

जीव और पुद्गल के परिणमन मे ये चारो द्रव्य सामान्य हेतु हैं। इनके कारण जीव और पुद्गलो का स्वभाव या विभाव परिणमन नही होता है। जीव और पुद्गलो का परस्पर बध हो जाने के कारण अथवा पुद्गल का परस्पर बध हो जाने के कारण जीव और पुद्गलो मे विभाव परिणमन होता है। बध से मुक्त हो जाने पर स्वभाव परिणमन होने लगता है। अतः जीव और पुद्गलो के विभाव और स्वभाव परिणमन मे परद्रव्य के साथ बध-अबध अवस्था कारण है।

धर्म, अधर्म आकाश और काल ये चारोद्रव्य तो अनादि काल से शुद्ध हैं, अत इनका परिणमन तो स्वाभाविक ही होता है। जीवद्रव्य अनादि काल से पौद्गलिक कर्मों से बधा हुआ है अतः उसका परिणमन विभावरूप हो रहा है, किन्तु जो मुक्त हो गये उनका परिणमन स्वाभाविक हो जाता है। पुद्गल परमाणु का परिणमन स्वाभाविक है और स्कध का विभाव परिणमन है।

—जै. ग. 15-1-70/VII/ रतनचन्द राजकिशोर

रागादि भाव किसके हैं ?

शंका—समयसार गाथा ५०-५५ में राग, द्वेष, मोह, गुणस्थान व जीवस्थान आदि को निश्चयनय से पुद्गल के कहा है सो क्यों ? राग-द्वेषादि भाव जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होते हैं अतः निश्चयनय से ये भाव न जीव के हैं, न पुद्गल के हैं।

समाधान—समयसार गाथा १११ की टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है जो इस प्रकार है—

'एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलुस्फुट। कस्मात् ? पुद्गलकर्मोदय सम्भवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षा वशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वदति, देवदत्तस्य पुत्रोयमिति केचन वदंति इति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गल-संयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतनाजीवसबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति। ये केचन वदंत्येकांतेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत ? पूर्वोक्तस्त्री पुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात्।'

ये मिथ्यात्वादि (राग, द्वेष, मोह आदि) शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अचेतन हैं, क्योकि पुद्गलकर्मोदय से इन रागादिकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के सयोग से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने बाबा के घर पर विवक्षावश देवदत्त-पिता का कहा जाता है, माता का नाम कोई भी नहीं जानता, किन्तु वही पुत्र नाना के घर पर

विवक्षावश देवदत्ता-माता का कहा जाता है वहाँ पर पिता का नाम कोई भी नहीं जानता। इसीप्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरागादिभाव अशुद्धनिश्चयनय और अशुद्धउपादान की अपेक्षा चेतन हैं, क्योंकि जीव के हैं। शुद्धनिश्चयनय और शुद्धउपादान की अपेक्षा ये रागादिभाव अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। (शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा मे शुद्धजीव को ग्रहण कर अशुद्धपुद्गल को ग्रहण किया गया है) परमार्थ से जीव और पुद्गल को पृथक्-पृथक् ग्रहण करने पर रागादि न जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप हैं, क्योंकि चूना और हल्दी के सयोग से उत्पन्न हुए जात्यंतर रक्तवर्ण के समान ये रागादि जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जात्यंतरभाव है। वस्तुतः सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे इन रागादि का सद्भाव नहीं है; ये रागादि कल्पित हैं। ये रागादिविभावभाव होने के कारण न तो शुद्धजीव के हैं और न शुद्धपुद्गल के हैं। इसलिये शुद्धजीव और शुद्धपुद्गल को ग्रहण करनेवाली सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे रागादिविभावभावों का सद्भाव ही नही है। इसका अभिप्राय यह है कि जो एकान्ततः रागादि को जीव के कहते हैं या एकान्त से पुद्गल के कहते हैं उन दोनो के वचन मिथ्या हैं, क्योंकि रागादि जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होते हैं जैसे पुत्र, स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है। यहाँ पर नैमित्तिकभावों को निश्चयनय से निमित्त के बतलाये गये हैं।

—जै. ग. 12-2-70/VII/ रतनलाल

रागादि का आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध है

शंका—रागादि के साथ आत्मा का कौनसा सम्बन्ध है ? तादात्म्यसंबंध या मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध।

समाधान—जिस समय यह आत्मा अपने परिणमन स्वभाव से द्रव्य कर्मोदय का निमित्त पाकर रागादिरूप परिणमता है उससमय यह जीव उन रागादिपरिणामो से तन्मय हो जाता है। कहा भी है—'**परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं**।' (प्रवचनसार गाथा ८)। अर्थात्—जिससमय जिस भाव से द्रव्य परिणमन करता है उससमय उसी भावमय द्रव्य हो जाता है। इस आगमप्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि रागादि का आत्मा के साथ तादात्म्यसंबध है, किन्तु यह तादात्म्यसबध त्रैकालिक व स्वाभाविक तादात्म्यसम्बन्ध नही है जैसा कि अग्नि और उष्णता का त्रैकालिक व स्वभाविक तादात्म्य सम्बन्ध है। इस अपेक्षा से समयसार गाथा ५७ मे रागादि का जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध का निषेध किया है।

आत्मा के साथ रागादि का निमित्त-नैमित्तिक सबध नहीं है, क्योंकि, रागादि आत्मा की ही अशुद्ध (विभाव) पर्याय है। समयसार कलश १७४ मे यह प्रश्न हुआ कि रागादि का निमित्त आत्मा है या कोई अन्य। इसके उत्तर मे गाथा २७८–२७९ के द्वारा स्फटिकमणि का दृष्टान्त देकर यह बताया गया कि आत्मा रागादि का निमित्त नहीं है, किन्तु अन्यद्रव्य हैं। रागादि का मोहनीयद्रव्यकर्मोदय के साथ निमित्तनैमित्तिकसंबंध है। जिससमय जितने अनुभाग को लिये हुए चारित्रमोहनीयद्रव्यकर्मोदय होता है उससमय उतने ही अविभाग-प्रतिच्छेदों को लिये हुए आत्मा के रागादि अवश्य होते हैं। यदि चारित्रमोहनीयद्रव्यकर्मोदय न हो तो जीव के रागादिभाव मात्र अपने उपादान से नहीं हो सकते। इसप्रकार द्रव्यकर्मोदय का और आत्मपरिणाम का अन्वय-व्यतिरेक के कारण अविनाभाविसम्बन्ध पाया जाता है। अविनाभाविसम्बन्ध के कारण ही द्रव्यकर्मोदय आत्मा के तद्रूप परिणामो मे कारण (हेतु) होते हैं।

दर्पण के सामने जिसप्रकार का मयूर खड़ा है, दर्पण में उसीप्रकार का मयूर-प्रतिबिम्ब पड़ेगा। मयूर चेतन है और प्रतिबिम्ब दर्पण की स्वच्छता का विकार (दर्पण की पर्याय) होने से अचेतन है। मयूर का एक

अंश भी मयूरप्रतिबिम्ब मे नहीं गया, किन्तु प्रतिबिम्ब का परिणमन मयूर की आकृति के आधीन है। यदि मयूर एक टांग उठाता है तो प्रतिबिम्ब में भी उसी समय एक टांग उठ जाती है। यदि मयूर नाचता है तो प्रतिबिम्ब मे भी मयूर नाचने लगता है। यदि दर्पण के सामने से मयूर का अभाव हो जाता है तो मयूरप्रतिबिम्ब का भी अभाव हो जाता है। दर्पण वर्गाकार हो या गोल हो, दर्पण की आकृति के कारण मयूर प्रतिबिम्ब में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु मयूर की आकृति मे अन्तर पडने से तुरन्त मयूर प्रतिबिम्ब की आकृति में अन्तर पड़ जाता है। यद्यपि प्रतिबिम्ब का उपादानकारण दर्पण है, किन्तु प्रतिबिम्ब दर्पण के आकार के आधीन न होकर मयूर के आकार के आधीन है, प्रतिबिम्ब दर्पण को विभावपर्याय है।

इसीप्रकार रागादि जीव की विकारीपर्याय हैं, इनमें द्रव्यकर्म का एक परमाणु भी नहीं है फिर भी जिस-जिसप्रकार का द्रव्यकर्मोदय होता है उस प्रकार जीव अपने परिणमन स्वभाव के कारण परिणम जाता है। यदि क्रोधद्रव्यकर्म का उदय है तो जीव मे क्रोधरूप परिणाम अवश्य होंगे, मान, माया या लोभरूप नहीं हो सकते। यदि तीव्र अनुभाग को लिये हुए क्रोधद्रव्यकर्मोदय है तो जीव मे तीव्रक्रोधरूप परिणाम होगे, मदक्रोधरूप नहीं हो सकते। ऐसा भी नही है कि क्रोधद्रव्यकर्म का उदय हो और जीव में क्रोध न हो, क्योंकि 'उदय' का अर्थ ही फल देना है (पं० का० गाथा ५६ टीका) अथवा कर्मस्वरूप से या पररूप से फल बिना दिये अकर्मभाव (निर्जरा) को प्राप्त नही होता (जयधवल पु० ३ पृ० २४५)। यदि द्रव्यकर्मोदय होनेपर भी जीव के तद्रूप परिणाम न हों तो अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानकषाय के उदय मे जीव के सयमभाव का तथा बादरकषाय के उदय में सूक्ष्मसाम्पराय-संयमभाव का प्रसग आ जायगा, जो आगमविरुद्ध है। जिसप्रकार दर्पण की मयूरबिम्बरूप विकारीपर्याय मयूर के आधीन है उसीप्रकार जीव की रागादि विकारीपर्याय कर्मोदय के आधीन है इसीलिये पंचास्तिकाय गाथा ५७ मे जीव के औदयिकभावो का द्रव्यकर्म हेतुकर्ता कहा गया है।

रागादि के साथ आत्मा का उपादान कारण होने से, तादात्म्य सबध है और द्रव्यकर्म के साथ रागादि का हेतुकर्ता होने से निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध है।

— जै. स. 20-3-58/VI/ कपूरीदेवी

संसारावस्था में जीव की शुद्ध द्रव्यपर्याय सम्भव नहीं है

शंका—क्या आत्मा संसारावस्था में शुद्ध-अशुद्धरूप परिणमन कर सकती है ? यदि शुद्धरूप परिणमन कर सकती है तो फिर उसका अशुद्ध परिणमन क्यों होता है ?

समाधान—जबतक ससारावस्था है तबतक यह जीव मनुष्य, नरक, तिर्यंच, देव इन चार गतियो मे से किसी न किसी गति मे अवश्य होगा, क्योकि इन चार गतियों से रहित सिद्ध भगवान होते हैं। मनुष्य, नरक, तिर्यंच, देव मे जीव की अशुद्धपर्यायें हैं, क्योकि कर्मोपाधिजनित हैं। कर्मोपाधि से रहित तो सिद्धपर्याय है जो जीव की शुद्धपर्याय है।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधि विवज्जिय ते पज्जाया सहावमिदि भणिदा ॥१५॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान ने मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव पर्यायों को जीव की विभाव पर्यायें कहा है, और कर्मोपाधि से रहित पर्याय (सिद्ध पर्याय) को जीव की स्वभाव पर्याय कहा है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि अशुद्धपर्याय का कारण कर्मोपाधि है। संसारावस्था मे कर्मोपाधि से रहित जीव की अवस्था होती नहीं है, अतः संसारावस्था मे जीव को शुद्धद्रव्यपर्याय सम्भव नहीं है।

—जै. ग. 18-6-70/V/ का. ना कोठारी

आत्मा : शुद्ध/अशुद्ध

शंका—क्या रागद्वेष का असर ऊपरी है ? क्या आत्मा का इस हालत में भी कुछ नहीं बिगड़ा ? आत्मा अब भी शुद्ध ही है क्या ?

समाधान—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद नौ प्रकार की नोकषाय है। इनमे से माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेद ये सातो राग हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये छह द्वेष हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि कषाय ही राग-द्वेष है। जहाँ कषाय नहीं वहाँ राग द्वेष भी नही है। अब यह विचारना है कि कषाय जीव की परिणति है या अजीव की या दोनो की और कषायरूप पर्याय का तादात्म्यसम्बन्ध है या सयोगसम्बन्ध है; यदि तादात्म्यसम्बन्ध है तो क्या वह नित्य (त्रिकालिक) तादात्म्यसम्बन्ध है या अनित्य तादात्म्यसम्बन्ध है। श्री स० सा० गाथा १६५ मे यह बताया गया है कि कषाय किस द्रव्य का परिणाम है और किस प्रकार का सम्बन्ध है। वह गाथा इसप्रकार है—

मिच्छत्तं अविरमण कसाय जोगा य सण्णसण्णादु।
बहुविहभेया जीवे, तस्सेव अणण्ण परिणामा ॥ आस्रव अधिकार॥प्रथम गाथा॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग यह सज्ञा (चेतन अर्थात् जीव विकार) और असज्ञा (पुद्गल विकार, द्रव्यकर्म) भी हैं। विविध भेदवाले (सज्ञ) जो जीव मे उत्पन्न होते हैं वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस गाथा के द्वारा यह उपदेश दिया है कि राग द्वेष आत्मा (जीव) की निजपरिणति है और वह जीव से अभिन्न है। इसी बात को श्री उमास्वामी आचार्य ने मो० शा० के दूसरे अध्याय मे कहा है जो इस प्रकार है—औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥ प्रथमसूत्र मे औदयिकभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा है और सूत्र ६ मे कषाय (राग-द्वेष) को औदयिकभाव कहा है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि राग-द्वेष (कषाय) जीव के स्वतत्त्व (निजपर्याय) हैं। श्री कुन्दकुन्द भगवान प्र० सा० मे यह उपदेश देते हैं कि जिससमय जो द्रव्य जिस पर्यायरूप परिणमता है, उस समय उसद्रव्य का उस पर्याय से तादात्म्यसम्बन्ध होता है अर्थात् उस समय द्रव्य उस पर्याय से तन्मय हो जाता है। गाथा इस प्रकार है —

परिणमदि जेण दव्वं, तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥९॥

अर्थ—द्रव्य जिस रूप परिणमन करता है उस समय उसमय है ऐसा कहा गया है। इसलिये धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए ॥८॥ जीव परिणामस्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ (स्वय ही) होता है। और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है। इस

गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि जब यह आत्मा शुभ या अशुभ रागभाव से परिणमित होता है तब परिणाम स्वभाव होने से शुभ या अशुभ होता है। इन गाथाओं से यह सिद्ध होता है कि जिस समय जीव राग (कषाय) भाव से परिणत होता है उस समय वह जीव रागमयी हो जाता है। इस रागमयी जीव के ज्ञान की क्या अवस्था होती है ? उसे श्री अकलंकदेव स्वरूप सम्बोधन मे बताते हैं—

कषायैः रञ्जितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे नीले कपडे पर केसर का रग नही चढ़ सकता वैसे ही क्रोधादि कषायो से रंजायमान हुए मनुष्य का चित्त, वस्तु के असली स्वरूप को नहीं पहिचान सकता।

रागी (कषायी) जीव के यथाख्यातसयतगुण का अभाव रहता है। यदि कोई यह शङ्का करे कि संयत-गुण का अभाव होने पर जीव का भी अभाव हो जावेगा। सो ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योकि जिसप्रकार उपयोग जीव का लक्षण कहा गया है इसप्रकार सयम जीव का लक्षण नही होता है। अतएव सयम के अभाव मे जीवद्रव्य का अभाव नहीं होता (ध० ख० ७।९६)। उस कषायी जीव मे उत्तम क्षमादि दसधर्म प्रगट नहीं होते।

इसप्रकार आगम प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि राग-द्वेष जीव की विकारी पर्याय है। जीव उन पर्यायो से तन्मय होता है, उन पर्यायो का मात्र ऊपरी असर नहीं होता, किन्तु उनसे आत्मा का दर्शन व चारित्र (सयम) गुण घाता जाता है जिससे आत्मा का बहुत बिगाड होता है। आत्मा रागावस्था मे अशुद्ध होती है, शुद्ध नही होती, किन्तु शुद्ध होने की शक्ति रहती है। यदि कषायावस्था मे आत्मा शुद्ध है तो क्या अकषाय अवस्था मे अशुद्ध होगी ? राग शब्द ही आत्मा की अशुद्ध अवस्था का वाचक है। नयविवक्षा समझकर यह समाधान ग्रहण करना चाहिए।

—जै. सं. 26-7-56/VI/ ला रा दा. कैराना

शंका—क्या जीव सदैव (हर समय) संसारी अवस्था में भी शुद्ध निर्विकार रहता है अथवा कर्माधीन अवस्था मे वह हर समय अशुद्ध ही रहता है ? तात्पर्य यह है कि यदि कर्मवश संसारी जीव में एक समय में अशुद्ध भाव होते हैं तो क्या उसी समय उसमें शुद्ध भाव का रहना भी सम्भव है ? यदि है तो किस प्रकार ? यदि एक ही समय में दो परस्पर विरोधीभाव शुद्ध व अशुद्ध संसारी जीव में नहीं रह सकते तो ऐसी अवस्था में जीव-जो निश्चयनय से सदैव (हर समय) शुद्ध व निर्विकल्प कहा जाता है, वह किस प्रकार है ?

समाधान—बृहद् द्रव्य संग्रह की गाथा १३ के 'सव्वे सुद्धाहु सुद्धणया' शब्दों को लेकर यह शङ्का की गई प्रतीत होती है अतः इसका समाधान बृहद् द्रव्य संग्रह की संस्कृत टीका के आधार से किया जाता है। गाथा २० की टीका मे इस प्रकार कहा है—सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावस्तथा-व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा प्रत्यक्षविरोधादागम विरोधाच्चेति।

अर्थ:—जैसे शक्तिरूप शुद्धनिश्चयनय से सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं वैसे ही व्यक्तिरूप व्यवहारनय से भी हो जाँय, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने मे प्रत्यक्ष और आगम से विरोध है। इस आगम प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि संसारावस्था में भी सब जीव शक्तिरूप से शुद्ध हैं, किन्तु व्यक्तिरूप से अशुद्ध हैं। यदि संसार अवस्था मे जीव में शुद्ध होने की शक्ति न मानी जावे तो जीव कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा अतः मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जावेगा। यदि संसार अवस्था मे भी व्यक्तिरूप से शुद्ध मान लिया

आवे तो भी मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जावेगा, क्योंकि जिसके शुद्ध अवस्था (मोक्ष) व्यक्त है अर्थात् प्राप्त है उसको मोक्ष की प्राप्ति के उपदेश से क्या लाभ ? वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं (ध० खं० ५।१८७)। वर्तमानपर्याय एकसमय की एक ही होगी, क्योंकि एकसमय मे एक द्रव्य की दो पर्याय नहीं होती। यदि शुद्धपर्याय है तो उससमय अशुद्धपर्याय नही हो सकती और यदि अशुद्धपर्याय है तो उससमय शुद्धपर्याय नही हो सकती, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध परस्पर विरोधी हैं। अथवा जिससमय अवस्था विशेष मे मिश्र परिणाम होते हैं उस समय शुद्ध व अशुद्धभाव एक जीव मे एक साथ भी रह सकते हैं। अनेकान्त से यह घटित हो जाता है। अनेकान्त का अर्थ है— अनेक विरोधी धर्म एकसाथ एकद्रव्य मे रहते हैं। ध० खं० पु० १ पत्र १६७ पर कहा भी है—अनेकान्त का यह अर्थ समझना चाहिए कि जिन धर्मों का जिस आत्मा मे अत्यन्त अभाव नही है वे धर्म उस आत्मा मे किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं। इस प्रकार जबकि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनो श्रद्धाओ का क्रम से एक आत्मा मे रहना सम्भव है तो कदाचित् किसी आत्मा मे एक साथ भी उन दोनो का रहना बन सकता है। यह सब कथन काल्पनिक नही है, क्योंकि पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरिहन्त भी देव हैं ऐसी सम्यग्मिथ्यारूप श्रद्धावाला पुरुष पाया जाता है। अनेकान्त का यह भी अर्थ नही कि परस्पर विरोधी व अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा मे रहना सम्भव हो। यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य अचैतन्य धर्मों का एक साथ एक आत्मा मे रहने का प्रसग आ जाएगा (ध० ख० पु० १/१६६-१६७) इसी प्रकार शुद्ध व अशुद्धभाव का एक आत्मा मे क्रम से रहना सम्भव है तो कदाचित् किसी आत्मा मे एक साथ भी एकदेश शुद्ध-अशुद्ध दोनो का रहना भी सम्भव है। शक्ति और व्यक्ति के कथन को स्पष्ट करने के लिये बृहद् द्रव्य सग्रह के टीकाकार ने इस प्रकार लिखा है—मिथ्यादृष्टिभव्ये जीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति अन्तरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च भावि नैगमनयेनेति। यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते। भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः। एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रय तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्। अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वय भूतपूर्वनयेनेति।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि भव्यजीव मे बहिरात्मा तो व्यक्तरूप से रहता है और अन्तरात्मा व परमात्मा ये दोनो शक्तिरूप से रहते हैं एव भाविनैगमनय की अपेक्षा व्यक्तरूप से भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव मे बहिरात्मा व्यक्तरूप से और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनो शक्तिरूप से ही रहते हैं, भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य मे अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्तरूप से नही रहते। कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव मे परमात्मा शक्तिरूप से रहता है तो उसमे अभव्यत्व कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि अभव्य जीव मे परमात्मशक्ति की केवलज्ञानादिरूप से व्यक्ति न होगी इसलिए उसमे अभव्यत्व है। शुद्धनय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनो मे समान है। यदि अभव्य जीवो मे शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरणकर्म सिद्ध नही हो सकता। साराश यह है कि भव्य, अभव्य ये दोनो अशुद्धनय से हैं। इसप्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मे नयविभाग से तीनो आत्माओ को बतलाया है उसी प्रकार शेष गुणस्थानो मे भी घटित करना चाहिए। जैसे कि बहिरात्मा की दशा मे अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं और भावी नैगमनय

से व्यक्तरूप से भी रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये। अन्तरात्मा की अवस्था मे बहिरात्मा भूतपूर्वनय से घृत के घट के समान और परमात्मा का स्वरूप शक्तिरूप से तथा भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी जानना चाहिये। परमात्मावस्था मे अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्वनय की अपेक्षा जानने चाहिये। इसप्रकार अनेकान्त व नयों के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान कार्यकारी है।

—जै सं. 30-8-56/VI/ बी एल. पद्म, मुजालपुर

(१) द्रव्य कर्मोदय तथा रागादि का अविनाभाव सम्बन्ध है
(२) कथंचित् रागादि भाव जीव के हैं, कथंचित् नहीं
(३) रागादि भावों की उत्पत्ति में द्रव्यकर्मोदय वास्तविक हेतु है

शंका—क्या निश्चयनय की अपेक्षा 'ज्ञान की हानि (आवरण) व रागादि भाव जीव के मात्र अपनी योग्यता से ही होते हैं और द्रव्यकर्मोदय के कारण नहीं होते, द्रव्यकर्मोदय पर कारणपने का केवल आरोप किया जाता है' ऐसा है या अज्ञान आदि व रागादिभावों मे द्रव्यकर्मोदय वास्तविक कारण है ?

शंका—अज्ञान व रागादिभावों का अविनाभावसम्बन्ध जीव से है या द्रव्यकर्मोदय से है ?

शंका—अज्ञान व रागादिभाव जीव के क्या निश्चयनय से हैं या व्यवहारनय से ?

समाधान—उपर्युक्त तीनो शकाओ का एक साथ विचार किया जाता है। पर्यायाश्रित 'व्यवहारनय' है और द्रव्याश्रित 'निश्चयनय' है। (समयसार गाथा ५६, आत्मख्याति वृत्ति) अविनाभाव सम्बन्ध को 'व्याप्ति' भी कहते हैं। व्याप्ति का लक्षण परीक्षामुख मे इसप्रकार कहा गया है—"इसके होते ही यह होता है इसके न होते होता ही नही जैसे अग्नि के होते ही धुआँ होता है, अग्नि के न होते धुआँ होता ही नहीं।

(अ० ३ सूत्र १२-१३)

ज्ञान के आवरण (अज्ञान) व रागादि का आत्मा के साथ तो अविनाभाव सम्बन्ध या तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सिद्धपर्याय (अवस्था) मे आत्मा (जीव) तो है, किन्तु अज्ञान (ज्ञान का आवरण) व रागादि नहीं हैं। द्रव्यकर्मोदय के साथ अज्ञान व रागादि का अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ घातिया द्रव्यकर्मोदय है वहाँ-वहाँ अज्ञान आदि अवश्य हैं और जहाँ-जहाँ कर्मोदय नहीं है वहाँ-वहाँ अज्ञानादि भी नहीं हैं। अथवा जहाँ-जहाँ अज्ञान व रागादि हैं वहाँ-वहाँ कर्मोदय है और जहाँ रागादि व अज्ञान नहीं हैं वहाँ घातिया कर्मोदय भी नहीं है। (समयसार आत्मख्याति गाथा ६१)

जैसे सफेद रुई के वस्त्र को लाल रग से रग लेने पर लाल रग के सम्बन्ध से वस्त्र भी व्यवहारनय से लाल वस्त्र कहा जाता है, क्योंकि निश्चयनय से लालिमा वस्त्र की नहीं है किन्तु रग की है। सम्बन्ध के कारण रग की ललाई को वस्त्र की ललाई व्यवहारनय से कही गई है उसी प्रकार पुद्गल के सयोगवश अनादिकाल से जिसकी बन्धपर्याय प्रसिद्ध है ऐसा जीव व्यवहारनय से अज्ञानी, रागी, द्वेषी कहलाता है, क्योंकि अज्ञान, राग, द्वेष, जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गल कर्मोदय के हैं। बन्ध के कारण कर्मोदय के अज्ञान, राग, द्वेष को जीव के राग द्वेष, अज्ञान व्यवहारनय से कहा जाता है इसलिए अज्ञान, राग, द्वेष जो भाव हैं वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं ऐसा (भगवान का स्याद्वाद युक्त) कथन योग्य है। (समयसार आत्मख्याति गाथा ५६ की टीका) समयसार गाथा ६ में भी कहा है कि 'जीव न प्रमत्त है न अप्रमत्त है' क्योंकि निश्चयनय द्रव्याश्रित है और प्रमत्त व अप्रमत्तदशा जीव की पर्याय है; निश्चयनय की दृष्टि मे पर्याय गौण हैं। समयसार गाथा ४६

में भी औपाधिकभावों को व्यवहारनय से जीव के कहा गया है। निश्चयनय से ये औपाधिकभाव पुद्गलमयी हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं। (स० सा० गाथा ४४) गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है कि—'आठ प्रकार पुद्गलमयी द्रव्यकर्म का कार्य दुःख उत्पन्न करना है जिसका लक्षण आकुलतारूप है तथा जो परमार्थ निश्चय आत्मिकसुख से विलक्षण है और जो आकुलता को भी उत्पन्न करता है। क्योंकि राग द्वेषादि भी आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं इससे दुःखलक्षण स्वरूप हैं, इस कारण पुद्गल के कार्य हैं तिस कारण शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह रागादिक पुद्गलमयी हैं।' इसी प्रकार समयसार गाथा ५०—६८ मे 'अज्ञान व रागद्वेषादि' को निश्चयनय से पुद्गल के और व्यवहारनय से जीव के कहे हैं। गाथा ७४ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है 'यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय करके अपने स्वरूप को नही छोडता तथापि व्यवहार करके कर्मों के वश से रागद्वेष उपाधिमयी भावों को ग्रहण करता है।' गाथा ७५ की टीका में श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने 'निश्चय से रागद्वेष का पुद्गल कर्म के साथ घडे मिट्टी की तरह, व्याप्यव्यापक का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना' कहा है। इस गाथा ७५ के पश्चात् तात्पर्यवृत्ति मे गाथा इसप्रकार है—

कत्ता आवा भणिवो, णय कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मावी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

'आत्मा पुण्य-पाप आदि कर्मों से होने वाले औपाधिकभावो का करनेवाला व्यवहारनय से कहा गया है, परन्तु सो आत्मा किसी भी उपाय से निश्चयनय की अपेक्षा इन रागादि भावो का कर्ता नहीं है। जो कोई इनका स्वरूप जानता है सो ज्ञानी होता है।' इसी प्रकार गाथा ११९ व ११५ की टीका मे भी कहा है। अन्यत्र भी ऐसा कथन पाया जाता है।

क्वचित् समयसार मे निश्चयनय से भी जीव को रागादि का कर्ता कहा है। गाथा १०२, ११५, १३८ की तात्पर्यवृत्ति टीका मे यह कहा है कि असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से इसको 'निश्चय' संज्ञा दी गई है, शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा तो व्यवहार ही है। 'यह संसारी जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म का कर्ता है तथा अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावो का कर्ता है। यद्यपि द्रव्यकर्मों के कर्तापने को कहते हुए जब अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग करते हैं तब इस अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय को निश्चय संज्ञा देते हैं तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से इस अशुद्धनिश्चय को व्यवहार ही कहते हैं।' समयसार गाथा १३८ तात्पर्यवृत्ति। 'यहाँ शिष्य ने शका की कि यह जीव शुद्धनिश्चय से अकर्ता है जबकि व्यवहार से कर्ता है। यह बात आपने बहुत प्रकार से वर्णन की है। परन्तु ऐसा मानने पर जैसे जीव के व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्तापन है वैसे राग द्वेषादि भावकर्मों का भी है। तब ये द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों एक हो जावेंगे। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है। रागद्वेषादि भावकर्मों का कर्तापना इस आत्मा के जिस व्यवहारनय से कहा जाता है उसकी संज्ञा अशुद्धनिश्चयनय है। यह संज्ञा इसलिए है कि जिससे रागादि भावकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म इन दोनों का तारतम्य मालुम पडे। वह तारतम्य क्या है? इसके लिये कहते हैं कि द्रव्यकर्म तो अचेतन जड़ हैं जबकि भावकर्म चेतन हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा इनको अचेतन ही कहते हैं, क्योंकि यह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार है। समयसार गाथा ११५ तात्पर्यवृत्ति।

अशुद्धनिश्चयनय का लक्षण इसप्रकार है—'कर्मउपाधि से उत्पन्न होने से 'अशुद्ध' कहलाता है और उससमय अग्नि मे तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय होने से 'निश्चय' कहा जाता है।'

(बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका)

उपर्युक्त आगम प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि अज्ञान व रागादि इस जीव के व्यवहारनय से अथवा कर्मउपाधिसहित निश्चयनय से हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से ये अज्ञान व रागादिभाव जीव के नहीं हैं। निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से पर्याय को ग्रहण नहीं करता। अज्ञान व रागादि विकारीपर्याय हैं अतः निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के रागादि व अज्ञानभाव नही हैं, व्यवहारनय की अपेक्षा से रागादि व अज्ञानभाव जीव के हैं।

—जै. स. 28-11-57/VI/ ब. प्र स. पटना

शका नं० १ मे शकाकार ने 'योग्यता' व 'आरोप' शब्दो का प्रयोग किया है। योग्यता का अर्थ इस प्रकार है—'योग्यस्य भावः योग्यता, सामर्थ्यं' अर्थात् योग्य का भाव योग्यता है जिसका अर्थ सामर्थ्य (शक्ति) होता है। आरोप का शब्दार्थ है—'अन्यस्मिन् अन्यधर्मावभासे यथा रज्ज्वा सर्पज्ञानम्' अर्थात् जिसमे अन्य धर्म (जो धर्म न हो उसका) अवभासमान हो जैसे रस्सी मे साँप का ज्ञान होना। (जो वास्तव मे न हो, किन्तु उस जैसी मालूम पडती हो। जैसे रस्सी वास्तव मे साँप नही है, किन्तु साँप जैसी मालूम पडने लगती है अतः रस्सी मे साँप का आरोप किया जाता है।)

प्रत्येक जीव मे 'केवलज्ञान' शक्तिरूप से सर्वदा है। अभव्य जीव मे यद्यपि केवलज्ञान व्यक्त नहीं होगा, किन्तु केवलज्ञान अभव्यजीव मे भी शक्तिरूप से है। यदि शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। कहा भी है—**यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरण न घटते। (बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १४ टीका)** यह कथन द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा से है, क्योंकि पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय से तो केवलज्ञान छद्मस्थ के है ही नही। छद्मस्थ के जब आव्रियमाण केवलज्ञान ही नहीं है तो उसका आवारक केवलज्ञानावरण भी पर्यायार्थिकनय से सम्भव नही है। कहा भी है—**णाणावरणीयं ॥५॥ दव्वट्ठिणए अवलंबिज्जमाणे आवरिज्जमाण भागासावरणे वि जीवे अत्थि। पज्जवट्ठियणए अवलंबिज्जमाणे आवरिज्जमाणणाणभागाणत्थि, तेसिं तदुवलंभाभावा। ण च एदं सुत्तं पज्जवट्ठियणयमवलंबिय ट्ठिदं, तदावरिज्जमाणा-वारयववहाराभावा। किंतु दव्वट्ठियणयमवलंबिय सुत्तमिदमवट्ठिदं तेणेत्थ आवरिज्जमाणावारय भावो ण विरुज्झदे।** अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्म है ॥सूत्र ५॥ द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करने पर आवरण किये गये ज्ञान के अंश सावरण जीव मे भी होते हैं। पर्यायार्थिकनय का अवलम्बन करने पर आव्रियमाण ज्ञानभाग सावरण जीव मे नही होते, क्योकि वे ज्ञानभाग उक्त जीव मे नहीं पाये जाते। यह सूत्र (न० ५) पर्यायार्थिकनय का अवलम्बन करके स्थित नही है, क्योंकि उस नय मे आव्रियमाण और आवारक इन दोनो के व्यवहार का अभाव है। किन्तु यह सूत्र (न० ५) द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करके अवस्थित है इसलिये यहाँ पर आव्रियमाण और आवारकभाव विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं। (**षट्खण्डागम पुस्तक ६**)

निश्चयनय की (द्रव्यार्थिकनय) अपेक्षा प्रतिसमय प्रत्येक जीव मे केवलज्ञान की योग्यता है जिसको ज्ञानावरणकर्म ने आवरण कर रखा है। यह बात उपर्युक्त आगमप्रमाण से भले प्रकार सिद्ध हो जाती है। 'ज्ञान का आवरण (अज्ञानता) व रागादिभाव जीव के मात्र अपनी योग्यता से ही होते हैं और द्रव्यकर्मोदय कारण नही है, यह कथन आगम विरुद्ध है।'

ज्ञान का आवरण (अज्ञानता) व रागादिभाव जीव की स्वभाव पर्याय नहीं हैं, क्योकि ये भाव सिद्धो मे नहीं पाये जाते अतः ये विभावपर्याय हैं। पर्याय दो प्रकार की होती है एक स्वपर अपेक्ष और दूसरी निरपेक्ष। जो पर्याय स्वपर अपेक्ष है वह विभावपर्याय है। **पज्जाओ दुवियप्पो, सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥ नियमसार। विभाव पर्यायोनाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमान। (प्रवचनसार गाथा ९३ टीका)** अर्थ—रूपादि के या ज्ञानादि के स्वपर के कारण विभावपर्याय है।

समयसार गाथा २५७-२५८ तथा आत्मख्याति टीका मे भी कहा है 'जो मरता है या जीता है दुःखी होता है या सुखी होता है, यह वास्तव मे अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना अशक्य है।' समयसार गाथा १९९ में भी कहा है 'राग पुद्गल कर्म है उसके विपाकरूप उदय से यह राग है। टीका—वास्तव मे राग नामक पुद्गलकर्म है, उसके उदय विपाक से उत्पन्न हुआ रागरूप भाव है।

समयसार गाथा १०९-११६ तात्पर्यवृत्ति टीका मे यह बतलाया है कि रागादि की उत्पत्ति वास्तव मे जीव और पुद्गल से होती है। टीका अर्थ इस प्रकार है—जैसे स्त्री और पुरुष दोनो के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ पुत्र है। उसको उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं दूसरे कोई पिता की अपेक्षा से देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इस कथन मे कोई दोष नहीं वैसे ही जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न यह मिथ्यात्व व रागद्वेषादि भाव हैं सो अशुद्धनिश्चय व अशुद्धउपादान से तो चेतन हैं तथा शुद्धनिश्चयनय से व शुद्धउपादानरूप से ये भाव अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। परमार्थ से विचारा जाय तो ये भाव एकान्त से न तो जीव रूप हैं न पुद्गलरूप हैं, परन्तु जैसे हलदी और फिटकरी के सयोग से एक जुदा परिणाम उपजता है ऐसे ही जीव और पुद्गल के सयोग से विभावभाव हैं। इस कथन से यह कहा गया है कि जो कोई एकान्त से ऐसा कहते हैं कि यह रागादिभाव जीवसम्बन्धी हैं अथवा कोई कहते हैं कि यह पुद्गलसम्बन्धी हैं इन दोनो के भी वचन मिथ्या हैं, क्योंकि पूर्व मे कहे हुए स्त्री और पुरुष के दृष्टान्त के समान जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

समयसार गाथा १२१–१२५ की तात्पर्यवृत्ति मे भी इसप्रकार कहा है—'यदि एकान्त से ऐसा माना जाय कि जीव स्वय परिणमन करता हुआ उदय मे प्राप्त द्रव्यक्रोध के निमित्त के बिना भी, भावक्रोधादिरूप परिणमन कर जावे, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नही रखतीं तो ऐसा होने पर मुक्तात्मा के भी द्रव्यकर्मोदय का निमित्त न होने पर भी, भावक्रोधादिरूप प्राप्त हो जावेंगे। यह बात मानी नहीं जा सकती, आगम से विरोधरूप है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणो से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि ज्ञान का आवरण व रागादिभाव मात्र जीव की योग्यता से ही उत्पन्न नहीं होते, किन्तु जीव मे द्रव्यकर्मोदय से उत्पन्न होते हैं। इन विकारीभावो की उत्पत्ति मे जीव व द्रव्यकर्मोदय दोनो ही कारण हैं। जैसे पुत्र की उत्पत्ति मे माता व पिता दोनो कारण हैं। केवल एक से पुत्र की उत्पत्ति नही हो सकती, किन्तु जीव व द्रव्यकर्मोदय दोनो उपादानकारण नहीं हैं। भावक्रोधादि का उपादानकारण तो जीव है और पुद्गलकर्मोदय निमित्तकारण हैं। बिना निमित्त के भावक्रोधादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि बिना निमित्त के भी भावक्रोधादि की उत्पत्ति होने लगे तो सिद्ध के भी भावक्रोधादि की उत्पत्ति का प्रसग आ जावेगा, जो इष्ट नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यकर्मरूप घातियाप्रकृति का तो उदय हो और उसके अनुरूप जीव के भाव न हो, क्योंकि ऐसा मानने पर ध्यानारूढ़ क्षपकश्रेणीगत सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती जीव मे सूक्ष्मलोभ का उदय होने पर भी सूक्ष्मलोभकषायरूप भाव के अभाव का प्रसग आ जाएगा जो आगमविरुद्ध है। अतः द्रव्यकर्मोदय वास्तव मे निमित्त है और ज्ञान का आवरण करना तथा अन्य औदयिकभावों को उत्पन्न करना इसका कार्य है। यह कथन द्रव्यार्थिकनय (निश्चयनय) से है। द्रव्यकर्मोदय पर निमित्त का आरोप किया जाता है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्यकर्मोदय वास्तविक निमित्त है।

—जै. सं. 5-12-57/VI/ ब. प्र. स., पटना

(१) "परनिमित्त बिना होई ताहि का नाम स्वभाव है"

(२) कर्मोदय से ही जीव में विकार होता है

(३) कर्ताकर्म संबंध कथंचित् एक द्रव्य में, कथंचित् भिन्न द्रव्य में

(४) निगोद से निकलने में कारण [पुरुषार्थ व कर्मोदय]

शंका—आत्मा के भाव होने से कर्मोदय होता है या कर्मोदय होने से आत्मा में भाव होते हैं ? निमित्त-नैमित्तिक और कर्ता-कर्म सम्बन्ध मे क्या अन्तर है ? जो जीव निगोद से निकलता है वह शुभ कर्मोदय से या अपने पुरुषार्थ से ?

समाधान—इस संसार विषै एक जीवद्रव्य और अनन्ते कर्मरूप पुद्गलपरमाणु तिनका अनादि तै एक बन्धन है। तिनमे केई कर्मफल देकर निर्जरे (भिन्न होय) हैं और रागादि का निमित्त पाये, केई कर्म नवीन बधे हैं जो कर्म निमित्त बिना पहले जीव के रागादि कहिए तो रागादिक जीव का निजस्वभाव हो जाय। जातै पर-निमित्त बिना होई ताहि का नाम स्वभाव है (मोक्षमार्ग प्रकाशक)।

समयसार गाथा ८० की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी इसीप्रकार कहा है—'जिसप्रकार कुंभकार (कुम्हार) के निमित्त से मिट्टी घडेरूप परिणम जाती है तैसे ही जीव के मिथ्यात्वरागादि परिणामो को निमित्त पाकर कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्यकर्मरूप से परिणम जाते हैं। जिसप्रकार से घडे के निमित्त से घडे को मैं करता हूँ, इस परिणामरूप कुभकार परिणमता है उसीप्रकार पुद्गलकर्मोदय के कारण जीव भी मिथ्यात्वरागादिविभावरूप परिणमता है।

समयसार गाथा २८३-२८५ की आत्मख्याति टीका मे भी इसप्रकार कहा है—'आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नही हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव मे द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकपने को प्रगट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो एक ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्तत्व आजायेगा, जिससे नित्य कर्तृत्व का प्रसग आ जायगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध हो जायगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावो का निमित्त हो, और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है।

समयसार गाथा २७९ की आत्मख्याति टीका मे भी इसप्रकार कहा है—

'वास्तव मे केवल आत्मा, स्वय परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभावो को प्राप्त होने से (रागादि-अनुभागशक्ति युक्त द्रव्यकर्म) आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणामित किया जाता है। ऐसा वस्तुस्वभाव है।'

इन उपर्युक्त आगमप्रमाणो से यह सिद्ध हुआ कि 'वस्तुस्वभाव (निश्चयनय) की अपेक्षा कर्मोदय से जीव मे विकारीभाव होते हैं।' यह कथन उपचार या व्यवहारनय से नहीं है। 'कर्मोदय से जीव में विकार होता है' यह कथन सत्यार्थ है असत्यार्थ नही है।

जिसप्रकार स्त्री व पुरुष से पुत्र की उत्पत्ति होती है। उसीप्रकार जीव व द्रव्यकर्मोदय से रागादिभावो की उत्पत्ति होती है। विवक्षावश से पुत्र कभी स्त्री का कहा जाता है और कभी पुरुष का। नाना के घर पुत्र स्त्री का कहलाता है और पितामह (बाबा) के घर पुरुष का कहलाता है। विवक्षावश रागादि कभी जीव के कहे जाते हैं और कभी पुद्गलकर्म के। एकान्त से न जीव के हैं और न पुद्गलकर्म के। (**समयसार गाथा १०९-११२ तात्पर्यवृत्ति टीका**) **समयसार गाथा ८९-९०** मे रागादि का कर्ता जीव को कहा है, किन्तु **पचास्तिकाय गाथा ५८** में रागादिभावो का कर्ता कर्म को कहा है।

निमित्त-नैमित्तिकसबध तो भिन्न द्रव्यो की पर्याय मे होता है अथवा भिन्न गुणो मे होना है। किन्तु कर्ता कर्म सम्बन्ध उपादान की अपेक्षा से एक ही द्रव्य व उसकी पर्याय मे होता है और निमित्त की अपेक्षा से कर्त्ताकर्म-सबध भिन्न द्रव्यो की पर्याय मे होना है।

जिससमय निगोदियाजीव के आयु का बध होता है यदि उससमय काललब्धिवश व अपने अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा व मदकर्मोदय के कारण उसके मदकषाय होय तो उसके निगोदिया आयु का बध नहीं होता, किन्तु अन्य आयु का बध होता है। भुज्यमान निगोद आयु के पूर्ण होने पर बध्यमान नवीन आयु का उदय होने से वह जीव निगोद मे निकल जाता है। अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ व कर्मोदय दोनो कारण होते है। एक कार्य अनेक कारणो मे होता है। उन सब कारणो के मिलन पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। विवक्षावश यदि कही एक कारण की मुख्यता से कथन हो वहाँ अन्य कारणों के अभाव से प्रयोजन नहीं है, किन्तु अन्य कारण भी गौणरूप मे हैं। कोई भी कारण अकिंचित्कर नही। कार्य की उत्पत्ति मे सभी कारण अपना सहकार देते हैं।

—जै. स 2-1-58/VI/ लालचन्द नाहटा

१. जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है, कर्म पर तो आरोपमात्र आता है; ऐसी मान्यता आगम प्रतिकूल है।

२. बिना किसी दूसरे के सम्बन्ध के, एक द्रव्य मे अशुद्धता नहीं आ सकती

शंका—व्यवहार कहता है कि ज्ञानावरणीयकर्म ने ज्ञान को रोक रखा है। निश्चयनय कहता है कि जब जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है तब ज्ञानावरणीयकर्म को निमित्त का आरोप किया जाता है। कानजी स्वामी के इस कथन को सत्यार्थ क्यो नहीं मानते? व्यवहारनय के कथन को पूर्णरूप से वस्तु का स्वरूप क्यो समझते हो?

समाधान—यहाँ पर सर्वप्रथम यह विचारना है कि व्यवहारनय का क्या विषय है और निश्चयनय का क्या विषय है? आगम के आधार से विचार किया जाता है। पदार्थ का यथार्थ निर्णय आगमचक्षु द्वारा हो सकता है—

आगमचक्खू साहु इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥२३४॥ प्रवचनसार

अर्थ—साधु (मुमुक्षु) के आगमचक्षु है। सर्वप्राणी इन्द्रियचक्षु वाले हैं। देव अवधिचक्षु वाले हैं और सिद्धों के सर्वतः चक्षु हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरिजी टीका मे लिखते हैं—**सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षुणां द्रष्टव्यम्** मुमुक्षुओ को सब कुछ आगमचक्षु द्वारा देखना चाहिए।

सर्वप्रथम नय का लक्षण विचारा जाता है—नानास्वभावेभ्यः व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयतीति न

णयविसिणयोभणिदो बहुहिं गुणपज्जएहिं जं दव्वं ।
परिणामखेत कालंतरेसु अविणट्ठ सब्भाव ।। (नयचक्र)

अर्थात् जो वस्तु को नानास्वभावो से हटाकर एक स्वभाव मे निश्चय करता है वह नय है अथवा जो बहुत से गुण, पर्यायो से परिणाम, क्षेत्रान्तर और कालान्तरो मे अविनश्वर सद्भाव वाले द्रव्य को निश्चय करता है, वह नय है ।

पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च तत्र निरुपाधि विषयः शुद्धनिश्चयः । अथवा संसारमुक्त पर्यायाणामाधारं भूत्वाप्यात्मद्रव्यकर्मबन्धमोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनयः । अथवा मिथ्यात्वादि गुणस्थाने सिद्धत्व वदति स्फुट । कर्मभिर्निरपेक्षो यः शुद्धद्रव्यार्थिको हि स ।।

अशुद्धनिश्चयनय—औदयिकादित्रिभावान् यो व्रते सर्वात्मसत्तया ।
कर्मोपाधिविशिष्टात्मा स्यादशुद्धस्तु निश्चयः ।। (नयचक्र)

अथवा—सोपाधि विषयोऽशुद्धनिश्चय यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ।

अर्थ—अब अध्यात्मभाषा की अपेक्षा से नय कहते हैं मूल नय दो हैं-निश्चय और व्यवहार। इनमे से निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है। उनमे से निश्चयनय दो प्रकार है—शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय । उनमे से उपाधिरहित को विषय करनेवाला शुद्धनिश्चयनय है। कम्मोपाधिविवज्जिय, पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा । अर्थात् कर्मो की उपाधि से रहित है वे स्वभाव पर्याय हैं। (नियमसार गाथा १५)

ससार और मुक्त पर्यायो का आधार होकर भी आत्मद्रव्य कर्मों के बन्ध और मोक्ष का कारण नही होता है। इस अपेक्षा से परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एव भणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव ।।६।। समयसार ।।

अर्थात् जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नही है और न प्रमत्त ही है। जो नय मिथ्यात्वादि गुणस्थानों मे स्पष्टतया सिद्धत्वपने को बतलाया है, वह कर्मों की अपेक्षा से रहित शुद्धद्रव्यार्थिकनय है। [सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।।१३।। (द्रव्यसग्रह) शुद्धनय से सभी ससारीजीव शुद्ध है। टीका मे कहा है कि 'शुद्धनय' से प्रयोजन 'शुद्धनिश्चयनय' से है।]

अशुद्धनिश्चयनय—जो औदयिक आदि तीन भावो को (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक) सम्पूर्ण आत्मसत्ता से युक्त बतलाता है, वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धनिश्चयनय है अथवा उपाधिसहित को विषय करनेवाला अशुद्धनिश्चयनय है जैसे मतिज्ञानादि जीवरूप हैं।

जीव का स्वभाव व लक्षण ज्ञान है तथापि ससार अवस्था मे जीव के क्षायोपशमिकज्ञान के साथ-साथ औदयिकअज्ञान भी पाया जाता है। शकाकार का कहना है कि 'निश्चयनय कहता है कि जब जीव अपनी भूल से

अज्ञानी बनता है तब ज्ञानावरण कर्मपर निमित्त का आरोप किया जाता है।' शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से तो जीव अज्ञानी बनता नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त लक्षणों से सिद्ध है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में 'सब जीव सिद्ध समान शुद्ध हैं। आलापपद्धति मे कहा भी है **कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिको यथा संसारीजीवः सिद्धदृक् शुद्धात्मा।** अर्थात् कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक (निश्चयनय) नय है जैसे ससारीजीव सिद्धसमान शुद्ध-आत्मा है। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जीव अज्ञानी है। जैसा अशुद्धनिश्चयनय के लक्षण मे ऊपर कहा गया है कि कर्मोपाधि भावो को ग्रहण करने वाला अशुद्धनिश्चयनय है। आलापपद्धति मे भी इसी प्रकार कहा है—**कर्मोपाधि सापेक्षोऽशुद्ध-द्रव्यार्थिको यथा क्रोधादि कर्मजभावा आत्मा।** अर्थात् अशुद्धद्रव्यार्थिक (निश्चयनय) का विषय कर्मोपाधि सापेक्ष भाव हैं जैसे कर्म से उत्पन्न होनेवाले क्रोधादिकभावमयी आत्मा है।

अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा 'अज्ञानी' तो कहलाया जा सकता है, किन्तु 'आत्मा अज्ञानी अपनी भूल से बनता है' ऐसा अशुद्धनिश्चयनय से भी नही कहा जा सकता, क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय के लक्षण मे इस भाव को 'कर्मज अर्थात् कर्म से उत्पन्न होने वाले भाव' कहा है। यदि जीव अपने ज्ञानगुण का घातक स्वय हो जावे तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जावेगा। दूसरे, द्रव्य अपने स्वभाव का घातक स्वय नही होता जैसा समयसार गाथा २७९ मे कहा है—

ण य णाणी सुद्धो ण सय परिणमई रायमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं॥

ज्ञानी जीव शुद्ध है वह रागादिभावो से अपने आप तो नही परिणमता, परन्तु अन्य रागादि दोषो से रागादिरूप किया जाता है।

श्री समयसार ग्रंथ मे अशुद्धनिश्चयनय को निश्चयनय न कहकर व्यवहारनय कहा है। गाथा ५७ की टीका में आचार्य श्री जयसेनजी ने लिखा है—**वस्तुस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति भावार्थः।** वास्तव मे शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार ही है। गाथा ६८ की टीका मे इसप्रकार लिखा है—**अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाऽभ्यन्तर रागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञा लभते तथापि शुद्ध निश्चयापेक्षया व्यवहार एवं इति व्याख्यान निश्चयव्यवहारनय विचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं।** अर्थात् द्रव्यकर्म की अपेक्षा से अन्तरग रागादि चेतन हैं ऐसा मानकर के यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय को निश्चयसज्ञा दी जाती है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा तो व्यवहार ही है। निश्चयनय व व्यवहारनय के विचार के समय सर्वत्र इसप्रकार जानना चाहिए। स्वय श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी 'रागादि अध्यवसानभाव को जीव' व्यवहारनय से कहा है—

ववहारस्स दरीसण मुवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥ स० सा०
ववहारेण दु एदे, जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा, ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५७॥ स० सा०

अर्थ—ये सब अध्यवसानादि भाव हैं, वे जीव हैं ऐसा जिनवरदेव ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय का मत है ॥ ४६ ॥ ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानादि पर्यन्त जो भाव कहे गये हैं वे व्यवहारनय से तो जीव के ही होते हैं, इसलिये सूत्र मे कहे हैं, परन्तु निश्चयनय के मत मे इनमें से कोई भी जीव के नहीं है।

'जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है' शकाकार के इन शब्दो में अज्ञान का कारण 'जीव की भूल' कहा है। यह विचारना है कि 'जीव' में भूल सहेतुक है या निर्हेतुक। यदि भूल निर्हेतुक है तो भूल जीव का स्वभाव हो

जायगा । यदि सहेतुक है तो यह विचार करना है कि इसमे हेतु क्या है ? यदि अन्य भूल को हेतु कहा जायगा तो उस अन्य भूल में तीसरी अन्य भूल हेतु होगी, इसप्रकार अनवस्था दोष आ जायगा । यदि भूल मे द्रव्यकर्मोदय को कारण कहा जावे तो अज्ञान मे भी द्रव्यकर्मोदय को क्यो न कारण मान लिया जावे ।

यदि कहा जाय कि पंचास्तिकाय गाथा ५७ मे ओदयिक आदि भावो का कर्ता जीव को कहा है तो इसका उत्तर यह है कि इसी गाथा मे द्रव्यकर्मोदय का वेदन करते हुए जीव को औदयिकभावो का कर्त्ता कहा है । स्वयं इस गाथा से स्पष्ट है कि 'अज्ञानता' कर्मोदय के कारण से हुई है, बिना कर्मोदय के नहीं हुई है । श्री जयसेनाचार्यजी ने टीका मे लिखा है—अशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कर्त्ता होता है । टीका के अन्त मे लिखा है—जीवो निश्चयेन कर्मजनितरागादिविभावानां स्वशुद्धात्मभावनाच्युत: सन् कर्त्ता भोक्ता भवतीति व्याख्यान मुख्यत्वेन गाथा गता । अर्थात् जीव स्वशुद्ध आत्मभावना से च्युत होकर कर्मजनित रागादिभावो का निश्चयनय से कर्त्ता भोक्ता होता है । इस गाथा व टीका से भी यही सिद्ध होता है कि जीव मे अज्ञानता कर्मजनित है ।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका मे श्रीमत् जयसेनजी ने लिखा है—अशुद्ध षट्कारकीरूपेण परिणममान: सन्नशुद्धमात्मानं करोति । अभेद षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमान: कारकान्तरं नापेक्षते अर्थात् अशुद्ध षट्कारकरूप परिणाम करता हुआ अशुद्धजीव अपने अशुद्धभावो को करता है । अभेद षट्कारक की अपेक्षा से अन्यकारक की अपेक्षा नही करता । यह कथन भी अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से है । जीव का विशेषण 'अशुद्धता' शब्द ही जीव के साथ अन्यद्रव्य का सम्बन्ध प्रकट करता है, क्योकि बिना दूसरे के सम्बन्ध के एकद्रव्य मे अशुद्धता आ नहीं सकती । षट्कारक मे 'कारण' कोई कारक नही है अत: अभेद षट्कारक के कथन के द्वारा कारण का निषेध नहीं होता है । इस गाथा व टीका से भी यह सिद्ध नही होता कि जीव अपनी भूल से ही अज्ञानी बनता है ।

'निश्चयनय कहता है कि जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है तब ज्ञानावरणीयकर्म को निमित्त का आरोप किया जाता है ।' श्री कानजी स्वामी का यह कथन हो या किसी अन्य का हो, किन्तु यह कथन उपर्युक्त आगम अनुकूल नही है और युक्ति से भी बाधित है ।

—जै. स. 24-10-57/VI/

१. क्रोधादि जीव का पारिणामिक भाव नहीं है, परन्तु औदयिक है
२. जीव स्वतन्त्र अवस्था में क्रोधादि नहीं करता
३. कषाय निष्कारण नहीं होती
४. कर्म प्रेरक निमित्त हैं, इसका खुलासा

शंका—गुजराती आत्मधर्म वर्ष ३ अंक १२ पृष्ठ २२० पर इस प्रकार लिखा है—'जो भाव परकारण की अपेक्षा नहीं रखते हैं सो पारिणामिकभाव हैं । क्रोधादि कषायभाव भी पारिणामिकभाव है क्योंकि ये भाव परकारण की अपेक्षा नहीं रखते हैं, इससे वे निष्कारण हैं । क्रोधादि सब भाव स्वतन्त्र अकारणीय है इसलिये खरेखर वह सब भाव पारिणामिकभाव से हैं । कषाय पारिणामिकभाव हैं, क्योंकि वह जीव की अपनी योग्यता से होता है, परन्तु वाका कारण कोई पर नहीं है इसलिये स्व की अपेक्षा से कहो तो वे निष्कारण है तातें पारिणामिक है । अब पर-निमित्त की अपेक्षा से लेकर कहे तो व्यवहार से कर्मोदय को ताका कारण मान करके वाको औदयिकभाव कहा जाता है । परन्तु खरेखर तो विभावजीवकी पर्यायकी इस समय की स्वतन्त्र योग्यता से वह भाव हुआ है ।

'हर समय की पर्याय स्वतन्त्रनिष्कारण है' ऐसा प्रतीति करने के बाद विकारसमय में निमित्त की हाजरी का ज्ञान कराने के लिये औदयिकादिभाव दर्शाया है-परन्तु क्रोध जीव की योग्यता से होता है इसलिये क्रोधादिभाव पारिणामिकभाव का विकार है इससे बाको पारिणामिकभाव कहते हैं। 'क्रोध जीव का त्रिकालिकस्वभाव है' ऐसा यहाँ बताया नहीं है, परन्तु क्रोध कोई परकारण से होता नहीं है, जीव की अपनी लायकात से होता है ऐसा बताने के लिये उसको पारिणामिकभाव कहा है। इस पर शका होती है—(अ) क्या क्रोधादिकषाय मात्र वास्तविक मे जीव के पारिणामिकभाव हैं ? (आ) क्या कर्मोदय बिना भी जीव स्वतन्त्ररूप से इन क्रोधादिकषाय भावो को कर सकता है ? (क) क्या जीव की कषायरूप की पर्याय परकारण से नहीं होती अथवा निष्कारण हैं ? (ख) क्या क्रोधादिकभाव कहने मात्र से औदयिकभाव हैं वास्तव मे औदयिकभाव नहीं। किन्तु पारिणामिकभाव हैं ?

समाधान—(अ)—क्रोधादिक कषायरूप भाव जीव के पारिणामिकभाव नही है, क्योंकि इन क्रोधादिभावो मे पारिणामिकभाव का लक्षण घटित नही होता है। जिन भावो के होने मे मात्र आत्मद्रव्य ही कारण हो, अन्य कोई कारण न हो उसको पारिणामिकभाव कहते है (**पचास्तिकाय गाथा ५६ टीका; सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र १; राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ वार्तिक ५**) किन्तु क्रोधादिभाव चारित्रगुण की वैभाविकपर्याय है और वैभाविकपर्याय स्वपर निमित्तिक होते है अतः क्रोधादिभाव पारिणामिक नही हैं। पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त, निरुपाधि और स्वाभाविक होता है। (**पचास्तिकाय गाथा ५८ टीका**), किन्तु क्रोधादिभाव सादिसांत हैं सोपाधिक हैं व वैभाविक है अतः क्रोधादिकभाव पारिणामिक नही हैं। पारिणामिकभाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं (**सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र ७, राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ७ वार्तिक २।**) किन्तु क्रोधादिभाव बिना कर्मोदय के होते नहीं हैं (**पंचास्तिकाय गाथा ५८ व उभय टीका**) अतः क्रोधादि पारिणामिकभाव नही हैं। इन उपर्युक्त आगमप्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि क्रोधादि पारिणामिकभाव नहीं हैं। **श्री समयसार गाथा ७४** मे बतलाया है कि ये कषायादिक आस्रवभाव जीव के साथ निबद्ध है, अध्रुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःखरूप हैं दुःख ही इनका फल है।' अतः ये क्रोधादिकषायभाव जीव के पारिणामिकभाव कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—(आ)—जीव कर्मोदय के बिना स्वतन्त्ररूप से इन क्रोधादिभावों को नही कर सकता। द्रव्यक्रोध के उदय के निमित्त बिना भी यदि जीव भावक्रोधादिरूप परिणाम जावे तो द्रव्यक्रोधादि उदय के निमित्त के बिना मुक्तजीवो के भी भावक्रोध हो जावेगा, किन्तु ऐसा स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि आगम से विरोध आवेगा (**समयसार गाथा १२१-१२५ श्री जयसेनाचार्य की टीका**) कषायरूप परिणमन करने की शक्ति स्वय जीव की है, किसी अन्य ने यह शक्ति नही दी है, किन्तु वह शक्ति परसापेक्ष है। यदि पर निरपेक्ष हो तो क्रोधादिकषाय का कभी भी प्रभाव नहीं होगा। कहा भी है—**समर्थस्य ? करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्** (**परीक्षामुख ६/६३**) **तस्याकारकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषङ्गः, परापेक्षारहितत्वादिति** (**अष्टसहस्री**)

ससार-अवस्था मे जीव कर्मबन्धनबद्ध होने के कारण स्वतन्त्र भी नही है, किन्तु परतन्त्र है। जो परतन्त्र है वह स्वतन्त्ररूप से क्रोधादि कैसे कर सकता है। कहा भी है—जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हे 'कर्म' कहते हैं। क्रोधादि जीव के परिणाम है इसलिये वे परतन्त्रतारूप हैं। परतन्त्रता मे कारण नहीं। द्रव्यकर्म जीव मे परतन्त्रता मे कारण है जैसे कि जड। प्रसिद्ध है कि कर्म वही है जो आत्मा को पराधीन बनाता है। यदि आत्मा को पराधीन न बनाने पर उसको कर्म माना जाय तो हर कोई भी पदार्थ कर्म हो जायगा (**आप्तपरीक्षा पृष्ठ २४६-२४८ वीरसेवा मंदिर से प्रकाशित**)।

समयसार कलश नं० १७४ मे यह प्रश्न किया गया कि 'रागादि बंध के कारण कहे गये तो इस रागादि का निमित्त आत्मा है या अन्य कोई है ?' इसके उत्तर के स्वरूप **गाथा २७९** मे कहा गया—आत्मा शुद्ध होने से

स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमती, परन्तु अन्य रागादिदोषो (द्रव्यकर्म) से रागी किया जाता है। इस गाथा की टीका मे श्री अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है—वास्तव मे अकेला आत्मा, स्वय परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अपने शुद्धस्वभाव के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु द्रव्यकर्म जो रागादि के निमित्त होते हैं, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही आत्मा रागादिरूप परिणमित किया जाता है। गाथा २८३-२८५ की टीका मे भी लिखा है कि आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है।

इन उपर्युक्त आगमप्रमाणो से सिद्ध है कि जीव स्वतन्त्र होकर अर्थात् स्वतन्त्रावस्था मे क्रोधादिकषाय करने मे असमर्थ है। जीव परतन्त्र होकर क्रोधादिकषाय को करता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—मोहनीयोदयानुवृत्तिवशाद्रज्यमानोपयोगः (पंचास्तिकाय गाथा १५६ टीका); समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म (समयसार कलश नं० ११०) श्री प० जयचन्दजी ने भी समयसार गाथा १३० व १६६ आदि के भावार्थ मे व अन्य अनेक स्थलो पर कहा है कि चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता से रागादि होते है।

समाधान—(क) यदि जीव के कषायभाव को निष्कारण माना जावेगा तो ये कषायभाव 'नित्य' हो जावेगे, क्योंकि जिसका कोई कारण (हेतु) नही होता और 'सत्' रूप होता है वह 'नित्य' होता है (आप्तपरीक्षा पृ० ४ देहली से प्रकाशित)। जीव के क्रोधादिकषायभाव अनित्य हैं, विनाशीक हैं, सदा स्थित रहने वाले नहीं हैं अतः ये कार्य हैं। जो कार्य होता है उसका कारण अवश्य होता है। जैसे अज्ञानादि भी कार्य हैं और उनका कारण ज्ञानावरणादिकर्म, उसीप्रकार क्रोधादिकषायभाव का भी कारण अवश्य होना चाहिये और इनका कारण कषायकर्म अर्थात् चारित्रमोहनीयकर्म है। (आप्तपरीक्षा पृ० २४७)। जो जिसका कारण होता है, उस कारण का उस कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक अवश्य होता है। अन्वयव्यतिरेक के द्वारा ही कार्यकारणभाव सुप्रतीत होता है। (आप्तपरीक्षा पृ० ४०-४१) जहाँ-जहाँ चारित्रमोह का उदय है वहाँ-वहाँ कषायभाव अवश्य है जैसे सकषाय जीव। जहाँ-जहाँ कषायभाव नही है वहाँ-वहाँ चारित्रमोह का उदय भी नही है जैसे अकषायी-जीव। जिससमय क्रोधरूपी चारित्रमोह का उदय है उस समय जीव के कषायरूप भाव अवश्य होते हैं। जिससमय मान का उदय है उससमय जीव मे मानकषायरूप भाव अवश्य होते हैं। इसप्रकार अन्य कषायो के विषय मे भी जान लेना चाहिये। क्रोध-कषायभाव का क्रोधरूपी चारित्रमोहनीयकर्म के उदय के साथ कार्यकारण-सम्बन्ध न हो तो मान के उदय मे भी अथवा चारित्रमोह के अनुदय मे भी क्रोध कषायभाव की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जावेगा। इस सम्बन्ध मे विशेष के लिये समयसार गाथा ६१-६८ तक तथा गाथा ७५ पर श्री अमृतचन्द्राचार्य की सस्कृत टीका देखनी चाहिए।

भावबन्ध (कषायभाव) द्रव्यबन्ध (चारित्रमोह) के बिना नही होता अन्यथा मुक्तजीवो के भी भावबध का प्रसंग आ जावेगा (आप्तपरीक्षा पृ० ५)

श्री समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर यह लिखा है कि कषायभाव कर्मोदय के कारण ही होते हैं निष्कारण नहीं होते हैं। विशेष के लिये श्रीमान् प० शिखरचन्दजी लिखित 'समाधान चन्द्रिका' देखनी चाहिये।

समाधान—(ख)—यद्यपि इस प्रश्न का समाधान उपर्युक्त समाधानो से हो जाता है, समाधान (अ) मे यह सिद्ध किया जा चुका है कि क्रोधादिकषायभाव पारिणामिक नहीं हैं, समाधान (आ) व (क) मे यह सिद्ध किया जा चुका है कि आत्मा स्वतन्त्र होकर इन भावो को नहीं करता और ये भाव निष्कारण भी नहीं हैं, किन्तु इन भावो का कर्मोदय कारण है। जो भाव कर्मोदय के निमित्त से होते हैं उनको औदयिक कहते हैं। पचास्तिकाय गाथा ६० की टीका मे कहा भी है—कर्मों का फलदान समर्थ से प्रगट होना 'उदय' है। उस उदय से जो युक्त हो

उसे औदयिक कहते हैं। अतः क्रोधादि कषायभाव वास्तव में औदयिक हैं। कहने मात्र से औदयिकभाव तो वह हो सकते हैं जिनमे कर्मोदय कारण न हो। परन्तु क्रोधादिकषायभाव मे तो कर्मोदय प्रेरक–निमित्तकारण है, उदासीन (अप्रेरक) निमित्त नहीं है, क्योंकि कषायकर्मोदय होने पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीव कषायभाव न करे। धर्मद्रव्य अप्रेरक निमित्त है, क्योंकि उसके सद्भाव मे यदि जीव गमन करे तो धर्मद्रव्य सहकारी होता है, किन्तु प्रेरणा नहीं करता। इष्टोपदेश गाथा ३५ का संबंध द्रव्यकर्म से नहीं है, किन्तु बाह्य नोकर्मों से है। नोकर्मरूप बाह्यकारण रहने पर भी यदि अंतरंग मे तज्जातीय कषाय का उदय नहीं है तो जीव के इस प्रकार के कषायभाव नही होंगे। क्रोधादिकषायभाव होने मे मुख्य कारण कर्मोदय है अतः ये भाव वास्तव मे औदयिक हैं।

प्रत्येकभाव यद्यपि परिणमन से होता है, किन्तु प्रत्येकभाव पारिणामिक नहीं हो सकता। पारिणामिकभाव वह है जिसमे कर्म का उदय उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम कारण न हो। पंचाध्यायी अध्याय २, गाथा १३० मे जो यह कहा गया है—'परगुणो के आकार परिणमनशील क्रिया बंध है'— वह पारिणामिकभाव नही हो सकता, क्योंकि इसमे पूर्वकर्मोदय कारण है।

चौदहगुणस्थानो मे से आदि के चारगुणस्थानसम्बन्धी भावो की प्ररूपणा मे दर्शनमोहनीयकर्म की विवक्षा है। सासादनगुणस्थान मे दर्शनमोहनीय का उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम नही है अतः दर्शनमोहनीयसम्बन्धी लक्षण घटित होने से उस सासादनगुणस्थान को पारिणामिक कह दिया है, किन्तु चारित्रमोहनीय की अपेक्षा सासादनगुणस्थान औदयिकभाव है (षट्खण्डागम पु० ५ पृ० १९७) किन्तु क्रोधादि कषायभाव मे चारित्रमोहनीय के उदय का अभाव नही होता अतः क्रोधादि कषायभाव मे सासादनगुणस्थानवाली विवक्षा घटित नही होती और न ऐसी विवक्षा का किसी आचार्य ने प्रयोग किया।

दो या दो से अधिक द्रव्यसंबंधी हीनाधिकपना (अल्पबहुत्व) किसी भी कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से नही होता, क्योंकि अल्पबहुत्व पारस्परिक आपेक्षिकधर्म है। अतः अल्पबहुत्व, प्रमेयत्व, सत्त्वादिक अनेकोंभाव पारिणामिक हैं, किन्तु क्रोधादि कषायभाव कर्मोदय से होते हैं उनको अल्पबहुत्व के समान पारिणामिक नहीं कह सकते हैं।

यदि शब्दनय (शब्दनय, समभिरूढनय व एवंभूतनय) की अपेक्षा से क्रोधादिकषाय को पारिणामिकभाव कहा जावे, क्योंकि इन तीनो शब्दनयो की दृष्टि मे कार्यकारणभाव नही है अर्थात् कषायभाव का न कोई उपादानकारण है न कोई निमित्तकारण है। दोनो ही कारणो का अभाव है। इन तीनो नयों की दृष्टि मे यह पारिणामिकभाव जीव का या द्रव्यकर्म का नही कहा जा सकता, क्योंकि इन तीनों नयो का विषय 'द्रव्य' नहीं है। इसीलिये इन नयो की दृष्टि मे क्रोधादिकषाय का न तो कोई स्वामी है और न कोई आधार है। अतः इन नयो की दृष्टि मे भी क्रोधादिकषाय जीव के या द्रव्यकर्म के पारिणामिकभाव नही कहे जा सकते (कषायपाहुड़ पुस्तक १ पृ० ३१८ व ३२०) 'क्रोधादिकषायभाव, जीव के पारिणामिकभाव हैं ऐसा कहना अयथार्थ है, आगमविरुद्ध है। मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २) मे तथा अन्यग्रन्थो मे भी कषायभाव को जीव का औदयिकभाव कहा है, क्योंकि कर्म के उदय से होता है। अतः क्रोधादिकषायभाव को जीव का औदयिकभाव कहना वास्तविक है और आगमानुकूल है।

—जै. स 3-7-58/V/ सरदारमल

कर्मोदय तथा विकारीभाव में कारणकार्य सम्बन्ध है

शंका—क्या कर्मोदय और आत्मा के विकारी-भाव मे कारण-कार्य भाव नहीं है? यदि है तो किस प्रकार का है?

समाधान—कर्मोदय के और जीव-विकारीपरिणामों के कारणकार्य भाव सुघटित हैं। यदि कर्मोदय कारण के बिना जीव के विकारी परिणाम होने लगे तो शुद्ध जीवों के भी विकारीपरिणाम होने का प्रसंग प्राप्त हो जायगा।

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदू हि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥ (समयसार)

संस्कृत टीका—जीवस्यैकांतेनोपादानकारणस्य रागादि-परिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगम-विरोधश्च।

यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिये जावें तो कर्मोदय के बिना भी रागादि विकारीपरिणाम हो जाने चाहिये। इससे यह दूषण आता है कि कर्महेतु बिना शुद्ध जीवों (सिद्धों) मे रागादि विकारीपरिणाम पाया जाना चाहिए। शुद्धजीवों मे रागादि विकारीपरिणाम पाया जाना, प्रत्यक्ष व आगम इन दोनों से विरुद्ध है।

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठीत्ति णायव्वो ॥१६९॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१७०॥
चारित्त पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१७१॥ (समयसार तात्पर्यवृत्ति)

अर्थ—आत्मा के सम्यक्त्वगुण को रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है, जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञानगुण का प्रतिबन्धक अज्ञान अर्थात् ज्ञानावरणकर्म है। जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। चारित्रगुण का प्रतिबन्धक कषायकर्म अर्थात् चारित्रमोहनीयकर्म है। जिसके उदय से यह जीव अचारित्री (चारित्ररहित) हो रहा है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है।

"केवल किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते इति तावद्वस्तुस्वभावः।" (समयसार गाथा २७९ आत्मख्याति टीका)

परिणमन स्वभाव होने पर भी अपने शुद्धस्वभावपने कर रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादि-भावरूप नही परिणमता, अपने आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नहीं है, परन्तु परद्रव्य स्वय रागादिभाव को प्राप्त होकर आत्मा के रागादि विकारीपरिणामों का निमित्त है। ऐसा वस्तुस्वभाव है।

"आत्मा अनात्मना रागादीनामकारक एवं अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं, निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रति-क्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथासति तु रागादीनाम-कारक एवात्मा।" (समयसार २८३-२८५ आत्मख्याति)

आत्मा आप से रागादिभावो का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्यभाव इन दोनो भेदो के उपदेश की अप्राप्ति आती है। जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकार का उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकभाव को विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्तापने को जतलाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिकभाव हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्यअप्रतिक्रमण और द्रव्यअप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्त्तापन के निमित्तपने का उपदेश है वह व्यर्थ ही हो जायगा। और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही रागादिकभाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर नित्य कर्तापन का प्रसग आजायगा। जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा के रागादिभावों का निमित्त परद्रव्य ही रहे। ऐसा होने पर आत्मा रागादिभावो का अकारक ही है, यह सिद्ध हुआ।

"अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।" (नियमसार)

अर्थ—अन्य निरपेक्ष जो परिणाम है वह स्वभावपर्याय है।

यदि रागादिपर्याय को कर्मोदय निरपेक्ष मान लिया जाय तो रागादि को स्वभावपर्याय का प्रसग आजायगा, किन्तु रागादि विकारीपर्याय है।

"कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५॥ नियमसार कर्मोपाधिरहित जो पर्यायें हैं वे स्वभावपर्यायें हैं ऐसा कहा गया है।

रागादि विकारीपर्याय होने से कर्मोदय सापेक्ष हैं। अतः कर्मोदय और रागादि विकारीपरिणामो मे निमित्त नैमित्तिकरूप कारण-कार्य भाव है।

—जै. ग. 18-1-73/V/ ब्र चुन्नीलाल देसाई

जीव में अज्ञानता व रागादि परद्रव्यों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं

शंका—यह कहा जाता है कि जीव मात्र अपनी भूल के कारण अपने ज्ञायकस्वभाव से च्युत होकर रसादिरूप परिणमता है। इस पर प्रश्न यह है कि जब जीव ज्ञायकस्वभाववाला है तो वह भूलता क्यों है? रागद्वेषपरिणति में मात्र जीव ही कारण है या अन्य भी कोई कारण है?

समाधान—भूल अर्थात् अज्ञानता व रागद्वेषरूप परिणति जीव के स्वभाव तो नहीं हैं, विकारीभाव हैं। कर्मोदय के बिना जीव मे विकारीभाव नही हो सकते। यदि कर्मोदय के बिना भी जीव मे विकारीभाव हो जावें तो मुक्त जीवो मे भी क्रोधादि विकारीभावो का प्रसग आजावेगा। समयसार मे कहा भी है—

"अथैकांतेन परिणममानां वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमंतु। कस्मादिति चेत् न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षते। तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवंति। न च तदिष्टमागमविरोधात्।"

अर्थ—यदि कोई एकान्तवादी यह कहे कि उदयागत द्रव्यक्रोध के निमित्त बिना भी जीव स्वय भावक्रोधादिरूप परिणमन कर जाता है, क्योंकि जीव का परिणमन स्वभाव है और वस्तु-शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नही रखती हैं तो श्री आचार्यदेव कहते हैं कि एकान्त से ऐसा मानने पर तो मुक्तात्मा सिद्ध जीवो के भी, द्रव्यकर्मोदयरूप निमित्त के बिना भावक्रोधादि प्राप्त हो जावेंगे, किन्तु सिद्धो के भाव क्रोध माना नही जा सकता, क्योंकि आगम से विरोध आता है। समयसार मे भी प्रश्न उठाया गया है—

द्विन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥कलश १७४॥

अर्थः—यहाँ शिष्य कहता है कि रागादिक हैं वे तो बंध के कारण कहे और वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्म-स्वभाव से जुदे कहे। प्रश्न यह है कि उन रागादि होने मे आत्मा निमित्तकारण है या अन्य कोई दूसरा निमित्त-कारण है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य इस प्रश्न का निम्नप्रकार उत्तर देते हैं—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहि ॥२७८॥
एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहि ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्धस्वभावी है वह परद्रव्य के निमित्त के बिना अपने आप ललाईरूप नहीं परिणमती, किन्तु अन्य लालादिद्रव्यो से ललाई आदिरूप परिणमाई जाती है। इसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् जीव शुद्ध-स्वभावी है वह स्वय अपने आप परद्रव्य के निमित्त बिना रागादिभावरूप नही परिणमता, किन्तु अन्य रागादिरूप-द्रव्यकर्मों के द्वारा रागादिरूप किया जाता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य गाथा २७९ की टीका मे कहते हैं—

"केवल: किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वा भावात् रागादिभिः स्वय न परिणमते परद्रव्येणैव स्वय रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते, इति तावद्वस्तु स्वभावः।"

अर्थ—अकेला आत्मा परिणमन स्वभाव रूप होने पर भी अपने शुद्ध-स्वभाव कर रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादि भावों कर नहीं परिणमता, अपने आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नही है परन्तु जो पर द्रव्य रागादि भाव को प्राप्त हो गया है और आत्मा के रागादि का निमित्तभूत है, उस पर द्रव्य के निमित्त से अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ यह आत्मा रागादिभाव रूप परिणमता है, ऐसा वस्तु स्वभाव है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार गाथा २८३-२८४ की टीका मे कहा है—

"आत्मा अनात्मनां रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभाव-भेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्व-मात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं, परद्रव्य निमित्तं नैमित्तिक आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्यते तदा द्रव्या-प्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभाव-निमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनाम कारक एवात्मा।"

अर्थ—आत्मा अपने आप से अनात्मभूत (आत्मा के स्वभाव नही) रागादि भावों का अकारक ही है, क्योकि यदि अपने आप ही रागादि भावो का कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्य और भाव इन दोनों भेदो के उपदेश की अप्राप्ति आती है। निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ये जो दो प्रकार का उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिक भाव को विस्तारता हुआ आत्मा को रागादि के अकर्त्ता-पने को प्रगट करता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिभाव हैं।

यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य-अप्रतिक्रमण और द्रव्यअप्रत्याख्यान इन दोनो के कर्तृत्व के निमित्तपने का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। कर्तृत्व के निमित्तपने का उपदेश व्यर्थ होने से एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति हो जायगी, जिससे आत्मा को रागादि के नित्य कर्तृत्व का प्रसग आजायगा। आत्मा को नित्य कर्तृत्व का प्रसग आ जाने से मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा, इसलिये आत्मा के रागादिभावो का निमित्त परद्रव्य ही है। रागादि भावो का निमित्त पर द्रव्य सिद्ध हो जाने पर आत्मा रागादि भावों का अकारक सिद्ध हो जाता है।

समयसार के उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानता व रागादि परद्रव्यो के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं।

—जै ग. 28-5-70/VII/ रो ला. मित्तल

कर्म के उदय से विकार भाव मानना सत्य श्रद्धान है

शंका—वीरसेवामंदिर सस्तीग्रथमाला से प्रकाशित हिन्दी आवृत्ति मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० १४८ पर लिखा है कि कर्मके उदय से जीव को विकार होता है ऐसी मान्यता भ्रम मूलक है। क्या यह कथन सत्य है? क्या कर्मोदय के बिना भी जीव में विकार हो सकता है?

समाधान—वीर सेवा मदिर सस्ती ग्रन्थमाला से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक मे तो कथन इसप्रकार का पाया जाता है—

"बहुरि सो कर्म ज्ञानावरणादि भेदनिकरि आठ प्रकार है तहा च्यारि घातिया कर्म्मनिके निमित्तरौ तो जीव के स्वभाव दर्शन ज्ञान तिनिकी व्यक्तता नही हो है तिनि कर्म्मनिका क्षयोपशम के अनुसार किंचित् ज्ञान दर्शन की व्यक्तता रहै है। बहुरि मोहनीय करि जीव के स्वभाव नाहीं ऐसे मिथ्याश्रद्धान व क्रोध, मान, माया, लोभादिक-कषाय तिनिकी व्यक्तता हो है। बहुरि अतरायकरि जीव का स्वभाव दीक्षा लेने की समर्थतारूप वीर्य ताकी व्यक्तता न हो है ताका क्षयोपशम कै अनुसार किंचित् शक्ति हो है। ऐसे घातियाकर्म्मनिके निमित्तरौ जीव के स्वभाव का घात अनादि ही तै भया है।" (पृ० ३५)

"जीव विषै अनादिहीतैं ऐसी पाइए है जो कर्म का निमित्त न होइ तौ केवलज्ञान आदि अपने स्वभावरूप प्रवर्तै, परतु अनादिहीतैं कर्म्मका सबध पाइए हैं। तातै तिस शक्ति का व्यक्तपना न भया।" (पृ० ३६)

"बहुरि मोहनीयकर्म्मकरि जीव के अयथार्थश्रद्धानरूपतौ मिथ्यात्वभाव हो है वा क्रोध, मान, माया, लोभादिक-कषाय होय है। ते यद्यपि जीव के अस्तित्वमय हैं जीव ते जुदे नाहीं। जीव ही इनका कर्त्ता है जीव के परिणमन-रूप ही ये कार्य हैं तथापि इनका होना मोहकर्म्म के निमित्ततैं ही है कर्म्म निमित्तकरि भये इनका अभाव ही है तातै ए जीव के निजस्वभाव नाहीं उपाधिक भाव है।" (पृ० ३८)

"बहुरि इस जीव कै मोह के उदयतै मिथ्यात्व व कषायभाव हो हैं तहाँ दर्शनमोह के उदयतै तौ मिथ्यात्व-भाव हो है ताकरि यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्वश्रद्धान करै है। जैसे है तैसे तो न मानै है अर जैसे नाही है तैसे माने हैं।" (पृ० ५४)

"बहुरि चारित्रमोह के उदयतै इस जीव के कषायभाव हो हैं। तब यह देखता जानता सता पर पदार्थ-निविषै इष्ट अनिष्टपनौ मानि क्रोधादिक करै है।" (पृ० ५५)

"या प्रकार इस अनादि संसार विषै घाति-अघाति कर्मनिका उदय के अनुसार आत्मा कै अवस्था हो है सो हे भव्य ! अपने अन्तरगविषै विचारि देखि ऐसैं ही है कि नाहीं।" (पृ० ६४)

"दोऊ विपरीत श्रद्धानतैं रहित भये सत्यश्रद्धान होय, तब ऐसा मानै—ए रागादिकभाव आत्मा का स्वभाव तौ नाहीं है कर्म के निमित्तै आत्मा के अस्तित्व विषै विभावपर्याय निपजै हैं। निमित्त मिटैं इनका नाश होतैं स्वभावभाव रह जाय है। तातैं इनिके नाश का उद्यम करना।" (पृ० २८९)

"जातैं रागादिकभाव आत्मा का स्वभावभाव तो है नाहीं। उपाधिकभाव हैं, पर निमित्ततैं भये हैं, सो निमित्त मोहकर्म का उदय है। ताका अभाव भये सर्वरागादिक विलय होय जाय, तब आकुलता का नाश भये दुख दूरि होय, सुख की प्राप्ति होय।" (पृ० ४५१)

मोक्षमार्गप्रकाशक मे तो सर्वत्र कर्म के उदय तैं विकारभाव मानना सत्य श्रद्धान कहा है।

—जै ग 28-5-70/VII/ रो ला. मित्तल

"रागाविभाग मात्र जीव की योग्यता से उत्पन्न होते हैं"; ऐसा एकान्त कथन अनार्हत है

शका—समयसार में यह लिखा है कि आत्मा कर्म नहीं करता। भावकर्म भी पौद्गलिक हैं। यह समझ में नहीं आता कि पुद्गल बेजान होते हुए बिना आत्मा के कर्म कैसे कर सकता है? और भावकर्म अर्थात् रागद्वेष तो आत्मा में होते हैं पुद्गल मे नहीं होते। पौद्गलिक कैसे ?

समाधान—समयसार गाथा ५ में भी कुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहा है कि 'मैं एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाऊंगा' इस प्रतिज्ञा के फलस्वरूप गाथा ६८ तक एकत्वविभक्त (शुद्ध) आत्मा का कथन है। शुद्धात्मा के कथन मे यह कहा गया है कि आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है और रागद्वेषरूप भावकर्म भी आत्मा के नहीं हैं। यह कथन शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से है। आत्मा भी एक वस्तु है और प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक (अनेकान्त) होती है। प्रत्येक धर्म किसी न किसी अपेक्षा को लिये हुए है। जैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति। अनन्त धर्मों का एक साथ कथन करना असभव है। एक समय मे एक ही धर्म का कथन अपनी अपेक्षा से हो सकता है। उस समय अन्य धर्म व अन्य अपेक्षा गौण रहती हैं। किन्तु उनका निषेध नही होता अत: जिससमय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह कहा जाता है कि 'आत्मा कर्म नही कर्ता और रागद्वेष आदि भावकर्म पौद्गलीक हैं उससमय अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह कथन 'आत्मा कर्म कर्ता है, रागद्वेष आदि भावकर्म आत्मा के हैं' गौण हैं। अथवा उस समय यह कथन भी गौण है कि 'रागद्वेष आदि न केवल आत्मा के हैं और न केवल पौद्गलीक हैं किन्तु दोनो के सबध से उत्पन्न हुए हैं। जैसे कि पुत्र न केवल पिता का है, न केवल माता का है, किन्तु मातापिता के सयोग से उत्पन्न हुआ है।" श्री वृहद् द्रव्यसंग्रह की सस्कृत टीका मे कहा भी है—"यहाँ शिष्य पूछता है—रागद्वेषादि भावकर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से ? आचार्य उत्तर देते हैं—स्त्री और पुरुष इन दोनों के सयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान तथा चूना तथा हल्दी इन दोनो के मेल से उत्पन्न हुए लाल रग की तरह, यह रागद्वेष आदि कषायभाव जीव और कर्म इन दोनो के सयोग से उत्पन्न हुए हैं। नय की विवक्षा अनुसार—विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से तो ये रागद्वेषादि कषाय कर्म से उत्पन्न हुए कहलाते हैं। अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं। साक्षात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ये उत्पन्न ही नहीं होते। जैसे स्त्री व पुरुष के सयोग बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती, तथा चूना व हल्दी के संयोग बिना लाल रग उत्पन्न नही होता इसीप्रकार जीव तथा कर्म इन दोनों के संयोग बिना रागद्वेषादि की उत्पत्ति ही नही होती।

"जैसे पुत्र यद्यपि पिता-माता के संयोग से उत्पन्न हुआ है फिर भी पितामह (बाबा) के घर पर वह पुत्र पिता का कहलाता है, किन्तु नाना के घर पर वह ही पुत्र माता का कहलाने लगता है। इसीप्रकार रागद्वेष कषाय-भाव यद्यपि जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं; फिर भी अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध-उपादान से चेतन अर्थात् जीव संबद्ध कहलाते हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धउपादान से अचेतन पौद्गलिक हैं। वास्तव मे एकान्त से रागद्वेष न जीवस्वरूप हैं और न पुद्गलस्वरूप हैं, किन्तु चूना हल्दी के संयोग के समान, जीव पुद्गल के संयोगरूप हैं। वस्तुत: सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह मिथ्यात्व रागादिभाव असल मे कुछ भी नहीं हैं, अज्ञान से उत्पन्न हुए कल्पितभाव हैं। इस कथन से यह कहा गया कि जो कोई एकांत से ऐसा कहते हैं कि यह रागादिभाव जीव संबंधी हैं अथवा कोई कहते हैं कि ये पुद्गलसम्बन्धी हैं इन दोनों के वचन मिथ्या हैं, क्योंकि पूर्व मे कहे हुए स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त के समान जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से इन रागादिभावों का अस्तित्व ही नहीं है।" (समयसार गाथा १०९-११२ तात्पर्यवृत्ति टीका)। इस उपरोक्त आगमप्रमाण से यह भी सिद्ध होगया कि जो यह कहते हैं कि 'रागद्वेषभाव मात्र जीव की योग्यता से उत्पन्न होते हैं कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता' उनका ऐसा कथन भी मिथ्या है।

नयविवक्षा व अनेकान्तदृष्टि से रागादिभाव के विषय मे यथार्थ समझ लेने से ही आत्मा का कल्याण है।

—जै. स. 9-10-58/ / इ से जैन, मुरादाबाद

रागादिभाव जीव और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं

शंका—मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि २९ भाव, जिनका कथन समयसार गाथा ५०-५५ में है, उन भावों का निश्चयनय से कौन कर्ता है और व्यवहारनय से कौन कर्ता है ?

समाधान—सर्वप्रथम व्यवहारनय और निश्चयनय का लक्षण विचारना है। व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है, जैसे लालरंग से रंगे हुए सफेद वस्त्र को लाल कहना। निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता; जैसे लालरंग से रंगे हुए सफेद वस्त्र को सफेद कहना। व्यवहारनय व निश्चयनय की इस व्याख्या अनुसार, मिथ्यात्व-रागद्वेषादि २९ भाव व्यवहारनय से जीव के हैं; क्योंकि अनादिकाल से कर्मबद्ध जीव व पुद्गल के संयोगवश ये मिथ्यात्व रागद्वेषादि औपाधिकभाव होते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि २९ औपाधिकभाव जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये औपाधिकभाव जीव के स्वाभाविकभाव नहीं, किन्तु द्रव्यकर्म जनित हैं। निश्चयनय दूसरे के भावों को दूसरे के किंचित्मात्र भी नहीं कहता; अत निश्चयनय की दृष्टि मे ये औपाधिकभाव जीव के कैसे हो सकते हैं, क्योंकि ये रागादि औपाधिकभाव पुद्गलकर्म का अनुकरण करनेवाले हैं। ये रागादिभाव पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृति के उदयपूर्वक होने से अचेतन हैं, क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है, जैसे जौ से जौ ही उत्पन्न होता है। (समयसार गाथा ५६-६८ तक आत्मख्याति टीका) कलश नं० ४४ मे श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसप्रकार कहा है—'रागादि पुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः।' अर्थ—यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारों से विलक्षण, शुद्धचैतन्य धातुमयमूर्ति है। पंडितवर ने भी कहा है—

'रागादि विकार पुद्गल के, इनमें नहीं चैतन्य निशानि।'

निश्चय से मोह, रागद्वेषादि कर्म का परिणाम होने से पुद्गल होने के कारण इन रागद्वेष आदि का पुद्गल के साथ व्याप्यव्यापक संबंध है, जैसे घड़े और मिट्टी का व्याप्यव्यापकभाव है। व्याप्यव्यापकभाव मे कर्ताकर्म-

पना है, बिना व्याप्यव्यापकभाव कर्ताकर्मपना संभव नहीं है। अतः निश्चयनय से मिथ्यात्व (मोह) रागद्वेष का कर्ता पुद्गलकर्म है, जीव तो रागादि का ज्ञाता है। (**समयसार गाथा ७५ आत्मख्याति टीका**) **श्री जयसेनजी** ने भी कहा है—**'निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता' अर्थ—निश्चयनय से रागादि कर्मोदयजनित हैं (समयसार पृष्ठ १८२ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला)**।

व्यवहारनय से रागादि जीव के हैं, जीव की अवस्था है और जीव इनका कर्ता है। 'रागी द्वेषी, मोही जीवकर्म से बंधता है, उसे छुड़ाना है' इत्यादिक उपदेश व्यवहारनय के अनुसार बनता है, क्योंकि निश्चयनय से तो जीव बंधा नहीं है। (**समयसार गाथा ४६ आत्मख्याति टीका**)।

यह उपर्युक्त कथन शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आगमानुसार किया गया है। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन इसप्रकार है—जीव, अशुद्धनिश्चयनय से रागादि औदयिकभावों का कर्ता है, और ये रागादि औदयिकभाव कर्मोदय के बिना नहीं होते इसलिये व्यवहारनय से द्रव्यकर्मकृत हैं। (**पंचास्तिकाय गाथा ५७-५८ तात्पर्यवृत्तिः टीका**)।

वास्तव में रागादि न केवल जीवकृत हैं और न केवल पुद्गलकृत हैं। यदि रागादि केवल जीवकृत होते तो सिद्धभगवान में भी होने चाहिये थे। यदि रागादि केवल पुद्गलकृत होते तो पुस्तक आदि में भी पाये जाने चाहिये थे। अतः रागादि जीवपुद्गल (द्रव्यकर्म) के संबंध से उत्पन्न होते हैं। जैसे पुत्र न केवल माता का है और न केवल पिता का है, किन्तु माता और पिता के सम्बन्ध से पुत्र की उत्पत्ति होती है। विवक्षावश पुत्र कभी माता का कहलाता है और कभी पिता का कहलाता है, जैसे नाना के घर पुत्र माता का कहलाता है और बाबा के घर पर वही पुत्र पिता का कहलाता है। माता या पिता का कहलाता हुआ वह पुत्र माता और पिता दोनों का समझा जाता है। इसीप्रकार रागादि जीव के या पुद्गल के विवक्षावश कहे जाते हैं किन्तु रागादि को जीव या पुद्गल में से किसी एक के कहे जाने पर भी समझना यही चाहिए कि रागादि जीव और पुद्गल दोनों के संबंध से उत्पन्न हुए हैं, मात्र जीव की योग्यता से पुद्गलकर्मोदय बिना उत्पन्न नहीं हुए हैं। (**समयसार गाथा १११ तात्पर्य वृत्ति टीका**) में कहा है—**'यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति कथन वदति इति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपा सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्।'** इसीप्रकार वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४८ की संस्कृत टीका में भी कहा है।

—जै. सं 21-8-58/V/ **मौखिक चर्चा**

रागादिक का स्वरूप या इनके उत्पादक कारण

शंका—रागादिक में कुछ ज्ञानांश भी होता है, ऐसा अनुभव में आता है। रागादि आत्मा के कर्म हैं या आत्मा रागादि का उत्पादक है ?

समाधान—'रागादि' चारित्रगुण की विकारीपर्यायें हैं; 'ज्ञान' चेतनागुण की पर्याय है। **"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥५।४१॥"** सूत्र द्वारा यह कहा गया है कि एकगुण में दूसरागुण नहीं रहता है। इसीलिये **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने समयसार संवराधिकार में निम्नप्रकार कहा है।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥

उपयोग (ज्ञान) उपयोग में है, क्रोधादि (रागद्वेष) उपयोग नहीं है। क्रोध क्रोध में है, उपयोग में क्रोध नहीं है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि रागादि मे ज्ञानांश नहीं हैं।

"यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयंकेचन वदंति देवदत्तस्यपुत्रोऽयमिति-केचनं वदंतीतिदोषो—नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिविभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसबद्धाः, शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः। पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः सयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति ? ये केचन वदन्त्येकांतेन रागादयो जीवसंबंधिनः पुद्गलसंबंधिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टांतेन सयोगोद्भवत्वात्।" (समयसार पृ० १०१)

जैसे पुत्र जो उत्पन्न होता है वह स्त्री और पुरुष दोनो के सयोग से होता है। अतः विवक्षावश से उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं, दूसरे पिता की अपेक्षा यह देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इन कथनों मे कोई दोष नहीं है, क्योंकि विवक्षाभेद से दोनो ही ठीक हैं। वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के सयोग से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वरागादिरूप जो भावप्रत्यय हैं वे अशुद्धउपादानरूप अशुद्ध-निश्चयनय से चेतनरूप हैं, क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्धउपादानरूप शुद्धनिश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि पौद्गलिककर्मोदय से हुए हैं। किन्तु वस्तुस्थिति मे ये सभी न तो एकात से जीवरूप ही हैं और न पुद्गल रूप ही हैं। किन्तु चूना और हल्दी के सयोग से उत्पन्न हुई कुकुम के समान ये रागादिप्रत्यय भी जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होने वाले संयोगीभाव हैं। सूक्ष्मरूप शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे इनका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि अज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए कल्पित हैं। इस सबका सार यह है जो एकान्त से रागादि को मात्र जीवसम्बन्धी कहते हैं या मात्र पुद्गलसम्बन्धी कहते हैं उन दोनो का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न हुए हैं, जैसा स्त्री पुरुष के सयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के दृष्टात द्वारा बताया जा चुका है।

जै. ग 2-12-71/VIII/ रो ला. मित्तल

कर्मोदय व विभाव परिणामों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है

शंका—जीव का रागादि भावरूप परिणमन और पुद्गल का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन क्या एक दूसरे के निरपेक्ष होता है ? क्या रागादिभावो के लिये कर्मोदय को निमित्त मानना मिथ्यात्व है ?

समाधान—**"यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगर्तभ्रान्ति घटियन्त्रभ्रांतिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभवे चारगर्तभ्रान्त्यभावात् घटियन्त्रभ्रान्तिनिवृत्ति च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतोदृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्ति शरीरमानसविविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्राग्निदंग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगर्तभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्या भवितव्यमनुमीयते।"**

—राजवार्तिक; प्रारंभिका, वा० ९ पृ० २

जैसे घटीयन्त्र का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमे जुते हुए बैल के घूमने पर होता है। यदि बैल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयन्त्र का घूमना बन्द हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोदयरूप बैल के चलने पर चारगतिरूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति धुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक-मानसिकादि वेदनाओरूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है। सम्यग्दर्शन-

ज्ञान-चारित्र के द्वारा दग्ध हो जाने से कर्मोदय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसाररूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है।

श्री स्वामिकार्तिकेय ने भी कहा है—

मोहु-अण्णाण-मयं वि य परिणामं कुणदि जीवस्स ॥२०९॥

संस्कृत टीका—जीवस्य मोहं ममत्वलक्षणं परिणामं परिणति पुद्गलः करोति। च पुनः अज्ञानमयं अज्ञाननिर्वृत्तं मूढं बहिरात्मानं करोति।

अर्थ—पुद्गल-जीव के मोह अर्थात् ममत्वरूप परिणाम तथा अज्ञानमयी मूढ़भावों को करता है।

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवल-णाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्य की कोई ऐसी अपूर्वशक्ति है जिससे जीव का केवलज्ञान स्वभाव भी नष्ट हो जाता है।

कम्मइं दिढघणचिक्कणइंगरुवइं वज्ज समाइं।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहि ताइं ॥७८॥

अर्थ—वे ज्ञानावरणादिकर्म इस ज्ञान विचक्षण जीव को खोटे मार्ग मे पटकते हैं वे कर्म बलवान हैं, बहुत हैं, जिनका विनाश करना कठिन है, गुरु हैं तथा वज्र के समान अभेद्य हैं।

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे।
सव्वबलाइ कम्मं मलेदि हत्थिव्व णलिणिवणं ॥१६२१॥ (मूलाराधना)

अर्थ—जगत मे कर्म ही अतिशय बलवान है, उससे दूसरा कोई भी बलवान नहीं है। जैसे हाथी कमल वन का नाश करता है वैसे ही यह बलवान कर्म भी जीव के सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्रगुणों का नाश करता है।

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥ (समयसार)

अर्थ—जीवपरिणामो को निमित्त पाकर यह पुद्गल कर्मरूप परिणमता है। उसीप्रकार पौद्गलीककर्मोदय का निमित्त पाकर जीव विभावरूप परिणमता है।

"तर्हि जीव निमित्तकर्तारमंतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु। तथा च सति किं दूषणं? घटपटस्तंभादि पुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात्। स च प्रत्यक्ष विरोधात्।" (समयसार पृ० १८२)

अर्थात्—यदि जीव परिणामों के निमित्त बिना भी पुद्गल कर्मरूप परिणमने लगे तो घटपट स्तंभ आदि पुद्गल भी ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणम जायेंगे। ऐसा होने से प्रत्यक्ष से विरोध आ जायगा। यह दोष आयगा।

"तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमतु। तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवंति। न च तथैवागम विरोधात्।" (समयसार पृ० १८४)

अर्थात्—यदि द्रव्यक्रोधादि कर्मोदय के बिना जीव भावक्रोधादिरूप परिणम जावे तो मुक्तजीव भी द्रव्यक्रोधादि कर्मोदय के निमित्त के बिना भावक्रोधरूप परिणम जावेंगे; किन्तु यह इष्ट नहीं है, क्योंकि आगम से विरोध आ जायेगा।

इन आर्ष प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव के विभावपरिणाम के लिये कर्मोदय निमित्त होता है और कार्माणवर्गणा को ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करने में जीवके रागादिपरिणाम निमित्त होते हैं। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानना सम्यक्त्व है, मिथ्यात्व नहीं है।

—जै. ग. 4-6-70/VII/ रो. ला. मित्तल

१. जीव के विकारों में कर्म की कारणता

२. कुन्दकुन्द ने भी कर्म के हेतु से ही जीव-विकार का होना कहा

शंका—कुछ समयसार ग्रंथ के वेत्ता इसप्रकार कहते हैं—

(क) ज्ञानावरण के कारण ज्ञान अटका ? नहीं; अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान अटका है।

(ख) कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ ? नहीं; जीव की पर्याय में वैसी योग्यता के कारण ही विकार हुआ है।

(ग) गुरु के कारण ज्ञान हुआ ? नहीं; अपनी योग्यता से ही ज्ञान हुआ है।

क्या उनका ऐसा कहना युक्त है ?

समाधान—समयसारग्रन्थ के वेत्ताओ ने इसप्रकर नहीं कहा है और न वे ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि वाक्य "योग्यता के कारण ही" मे शब्द "ही" अन्य कारणो का निषेधक होने से एकान्त का द्योतक है। मिथ्यात्व के पाँच भेदों (संशय, विपरीत, एकान्त, अज्ञान और विनय) मे से 'एकान्त' भी मिथ्यात्व का एक भेद है।

आगम और युक्ति से इस शका पर विशेष विचार किया जाता है। आगम इसप्रकार है—श्री समयसार के रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विषय मे यह कहा है—

(१) जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥ [समयसार]

अर्थ—जीव के परिणाम के कारण से पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं, उसीप्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त कारण से जीव भी परिणमन करता है।

(२) वत्थस्स सेद-भावो जहणासेदी मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेद-भावो जहणासेदी मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेद-भावो जहणासेदी मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं वि णायव्वं ॥१५९॥ [समयसार]

अर्थ—जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ (लिप्त होता हुआ) सम्यक्त्व वास्तव मे नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नाश को प्राप्त होता है उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ ज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये। जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, उसीप्रकार कषायरूपी मैल से व्याप्त (लिप्त) होता हुआ चारित्र भी नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १५७-१५९ ॥

(३) सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १६२ ॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥ १६३ ॥ [समयसार]

अर्थ—सम्यक्त्व को रोकनेवाला मिथ्यात्व है। ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जानना चाहिये। ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये। चारित्र को रोकने वाला कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) है, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उसके उदय से यह जीव अचारित्रवान होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६१-१६२-१६३ ॥

(४) जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥ [समयसार]

अर्थ – जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादिरूप से (ललाईआदिरूप से) अपने आप नहीं परिणमती, परन्तु अन्य रक्तादिद्रव्यो से वह लाल–आदि किया जाता है इसीप्रकार आत्मा शुद्ध होने से रागादिरूप अपने आप नहीं परिणमता, अन्य रागादिदोषो से वह रागी आदि किया जाता है ॥ २७८–२७९ ॥

(५) जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो।
तह रागादि-विजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥५१॥ [मोक्षपाहुड़]

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है वह परद्रव्य के संयोग से अन्यरूप हो जाती है, उसीप्रकार जीव भी रागादि के संयोग से अन्य-अन्य प्रकार होता है। [स्त्रीभिर्योगे रागवान् भवति, शत्रुभिर्योगे द्वेषवान् भवति, पुत्रादिभिर्योगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यार्थः] स्त्री के सयोग से रागी, शत्रु के सयोग से द्वेषी और पुत्र के संयोग से मोही होता है, यह तात्पर्य है। [संस्कृत टीका]

(६) चेया उ पयडी–अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ ३१३ ॥ (समयसार)

अर्थ—चेतन अर्थात् आत्मा प्रकृति (द्रव्यकर्म) के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, तथा प्रकृति भी चेतन (आत्मा) के निमित्त से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इसप्रकार परस्पर निमित्त से दोनों ही आत्मा और प्रकृति का बंध होता है और इससे संसार उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त गाथाओं तथा अन्य भी गाथाओ से यह स्पष्ट है कि श्री कुन्दकुन्द भगवान ने जीव के विकार अपनी योग्यतामात्र से नहीं कहा, किन्तु कर्मों को भी कारण कहा है।

समयसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि इस विषय मे क्या कहते हैं, इस पर विचार किया जाता है—

(१) परपरिणति हेतो र्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते र्भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अर्थ—इस समयसार की व्याख्या (टीका) से ही मेरी अनुभूति की परमविशुद्धि हो यह मेरी परिणति, परपरिणति के कारणभूत जो मोहनामक कर्म है, उसके अनुभाव से (उदय-विपाक से) जो अनुभाव्य (रागादि विकारी परिणामो) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है, और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूँ ॥ ३ ॥

(२) यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपावात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य, परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकगतत्वेन वर्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। (समयसार आत्मख्याति टीका गाथा नं० २)।

अर्थ—जब वह अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गाँठ की भाँति मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन, ज्ञानस्वभाव मे निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से अनादि से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह, राग-द्वेषादिभावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है पुद्गलकर्म के प्रदेशो मे (कार्माणस्कन्धरूप के फल मे) स्थित होने से परद्रव्य को अपने साथ एकरूप से एककाल मे जानता है और रागादिरूप (विकारीभाव) परिणमित होता हुआ "परसमय" है। समयसार गाथा न० २।

(३) "एकच्छत्रीकृतविश्वतया महतामोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य ………………। इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत् ………………… (समयसार गाथा नं० ४ आत्मख्याति टीका)।

अर्थ—समस्त विश्व को एकछत्र राज्यवश करने वाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास यह समस्त जीवलोक बैल की भाँति भार वहन करता है। आत्मा सदा प्रकटरूप से अन्तरग मे प्रकाशमान है, तथापि कषायों के साथ एकरूप जैसा किया जाता है इसलिये अत्यन्त तिरोभाव को प्राप्त हुआ है। समयसार गाथा ४ की टीका

(४) निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्त स्वपरविभागानि ……………… समयसार गाथा ३१ आत्मख्याति टीका।

अर्थ—अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है।

(५) "फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य ……… "

अर्थ—मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है और तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो आत्मा भाव्य —— (समयसार गाथा ३२ की टीका)

(६) 'यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्मनिमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीतिजीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपि जीव पुद्गलयोः परस्परव्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः।' (समयसार गाथा ८० व ८१ की आत्मख्याति टीका)।

अर्थ—जीव परिणाम को निमित्त करके पुद्गलकर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं, इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल मे परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव को पुद्गलपरिणामो के साथ और पुद्गलकर्म को जीवपरिणामो के साथ कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनो का परिणाम होता है।

(७) "उपयोगस्यानादिवस्त्वंतर भूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः।" (समयसार गाथा ८९ टीका आत्मख्याति)।

अर्थ—अनादि से अन्य वस्तुभूत मोह के साथ संयोग होने से उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीनप्रकार परिणामविकार हैं। उपयोग का वह परिणामविकार, स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति, पर के कारण उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है।

(८) आत्मा अनात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। य खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभाव भेदेनद्विविधोपदेशः सद्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौनित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतद्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भाव न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्कर्त्तैव स्यात्। यदैवं निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूत भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च। यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे तदा साक्षादकर्तैव स्यात्। (समयसार आत्मख्याति टीका गाथा २८३-२८५)

अर्थ—आत्मा आपसे रागादिभावो का अकारक ही है, क्योकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्य-भाव इन दोनो भेदो के उपदेश की अप्राप्ति आती है। जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकार (भेद) का उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकभाव को विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्तापन को जतलाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त हैं और नैमित्तिक आत्मा के रागादिकभाव हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनो के कर्तापन के निमित्तपने का उपदेश है, वह व्यर्थ ही हो जायगा। और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर सदा कर्तापन का प्रसग आयेगा, उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा के रागादिभावों का निमित्त परद्रव्य ही रहे। ऐसा होने पर आत्मा रागादिभावो का अकारक ही है यह सिद्ध हुआ। तो भी जब तक रागादिक का निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तबतक नैमित्तिकभूत रागादिभावो का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान नहीं होता और जबतक इन भावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान न हो तबतक रागादिभावो का कर्ता ही है। जिससमय रागादिभावों के निमित्तभूत द्रव्यो का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान

करता है उसीसमय नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान होता है। तथा जिससमय इन भावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान हुआ उससमय साक्षात् अकर्ता हो जाता है।

इसी प्रकार गाथा १५७, १५८, १५९, १६१, १६२, १६३, २७८, २७९, ३१२ व ३१३ की आत्मख्याति टीका से यह सिद्ध है कि रागादिक को परद्रव्य (द्रव्यकर्म) निमित्त है। और गाथा ५०-६८ तक, तथा ७५ व ७८ में अजीवद्रव्य निमित्त होने के कारण इन रागादिक का अजीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध व व्याप्य-व्यापकभाव कहा है।

जै. ग. 7-2-63/VII व IX/ आत्माराम

जीव द्रव्य : विविध

जीव के अस्तित्व की सिद्धि

शंका—जीव का अस्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है जबकि मनुष्य को घड़ी आदि मशीनों से उपमा दी जाती है ? यदि ज्ञान की विशेषता जताई जाय तो उसका उत्तर यह होता है कि वह भी मशीन का कार्य है जो मशीन ठप्प होते ही समाप्त हो जाती है ?

समाधान—अचेतन पुद्गलद्रव्य तो इन्द्रियगोचर है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने के लिये किसी युक्ति या आगम प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार अचेतनद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसके प्रतिपक्ष पदार्थ चेतनपदार्थ की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित ही उपलब्ध होते हैं। यदि अशुद्ध घी न हो तो शुद्ध घी की भी उपलब्धि नहीं हो सकती। आज से पचास वर्ष पूर्व जब तक वनस्पति घी की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब तक किसी की दुकान पर भी 'शुद्ध घी' का साइनबोर्ड (पाटिया) लगा हुआ नहीं होता था। 'अचेतन' शब्द यह सिद्ध कर रहा है कि कोई न कोई चेतन वस्तु भी है।

अचेतनद्रव्य से चेतनद्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि चेतनद्रव्य अनादि है। यदि चेतनद्रव्य को सादि मान लिया जावे तो उससे पूर्व अर्थात् चेतनद्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञानप्रमाण का अभाव प्राप्त होता है। ज्ञापकप्रमाण के अभाव मे समस्त ज्ञेय व प्रमेयो अर्थात् समस्त अचेतनद्रव्यो के अभाव का प्रसंग आजायगा। अचेतन के अभाव मे चेतन की उत्पत्ति भी नही हो सकेगी।

चेतन एक स्वतंत्रद्रव्य है, क्योंकि वह उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप है। चेतन की ध्रुवता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि जब जीव मरकर दूसरी पर्याय मे उत्पन्न होता है तो उसको अपने पूर्वभव का ज्ञान रहता है। जाति-स्मरण की तथा पुनर्जन्म की अनेको घटनायें समाचार पत्रों मे प्रकाशित होती रहती हैं। सहारनपुर का मनोहर-लाल व्यक्ति मरकर बरेली में एक प्रोफेसर के पुत्र हुआ। वह बालक सहारनपुर मे आया और उसने पूर्वभव के सम्बन्धियो मित्रों तथा मकान आदि सबको पहिचान लिया और वह बालक उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता था जैसा कि वह मनोहरलाल की पर्याय मे करता था। यदि चेतनद्रव्य ध्रुव न होता और मात्र अचेतनद्रव्य की विशेष पर्याय होती तो पूर्वपर्याय की स्मृति किसको रहती ?

आर्ष प्रमाण भी इस प्रकार है—

"पोग्गलदव्वंपि जीवो होज्ज; अचेयणत्तं पडि विसेसाभावादो। .... । ण च चेयणदव्वाभावो, पच्चक्खेण तदुवलंभादो, सव्वस्स सप्पडिवक्खस्सुवलंभादो च। ण चाजीवादो जीवस्सुप्पत्ती, दव्वस्सेअंतेण उप्पत्तिविरोहादो। ण च जीवस्स दव्वत्तमसिद्धं, मज्झावत्थाए अक्कमेण दव्वत्ताविणाभावितिलक्खणत्तुवलंभादो।

[ज. ध. १ पृ० ५२-५४, नवीन संस्क० पृ० ४७-४९]

अर्थ – यदि जीव का लक्षण अचेतन माना जायगा तो पुद्गलद्रव्य भी जीव हो जायगा, क्योंकि अचेतनत्व की अपेक्षा इन दोनो मे कोई विशेषता नही रह जाती है। चेतनद्रव्य का अभाव किया नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा स्पष्टरूप से चेतनद्रव्य की उपलब्धि होती है। तथा समस्तपदार्थ अपने प्रतिपक्षसहित ही उपलब्ध होते हैं, इसलिये भी अचेतनपदार्थ के प्रतिपक्षी चेतनद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। यदि कहा जाय कि अजीव से जीव की उत्पत्ति होती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य की सर्वथा उत्पत्ति मानने मे विरोध आता है। यदि कहा जाय कि जीव का द्रव्यपना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मध्यम-अवस्था मे द्रव्यत्व के अविनाभावी उत्पाद व्यय और ध्रुवरूप त्रिलक्षणत्व की युगपत् उपलब्धि होने से जीव मे द्रव्यपना सिद्ध ही है।

चार्वाकमत अजीव से जीव की उत्पत्ति मानता है उसका खण्डन बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका आदि अनेकों आर्षग्रन्थो मे है। वहाँ से विशेष कथन देख लेना चाहिये।

—जै. ग. 20-3-67/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

मात्र एक ही आकाश प्रदेश में एक जीव नहीं टिकता

शंका—आकाश के एक प्रदेश पर अनन्त जीव बतलाये हैं और एक जीव कम से कम असंख्यात प्रदेशों पर रहता है। फिर दोनों बात कैसे ?

समाधान—निगोदियाजीव की जघन्यअवगाहना घनांगुल के असंख्यातवेंभागप्रमाण है जिसमे आकाश के असंख्यातप्रदेश होते हैं। अतः एक जीव कम से कम असंख्यातप्रदेशो पर आता है। किंतु उस निगोदियाशरीर मे अनन्तानन्त जीव रहते है। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जहाँ एक निगोदिया के आत्मप्रदेश हैं वहीं पर अनन्तानन्त जीवों के भी आत्मप्रदेश हैं। इसप्रकार दोनों बातो मे परस्पर कोई विरोध नहीं है।

—जै. ग 10-7-67/VII/ र. ला. जैन

जीव का एकप्रदेशत्व

शंका—जीव का एकप्रदेशी स्वभाव आलापपद्धति में कहा, सो कैसे ?

समाधान—प्रत्येक जीव एक अखंडद्रव्य है। जिसप्रकार बहुप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध के खंड हो जाते हैं, उस प्रकार बहुप्रदेशी एक जीवद्रव्य के खण्ड नहीं हो सकते क्योंकि वह एक अखण्डद्रव्य है; किन्तु पुद्गलस्कन्ध नाना पुद्गल द्रव्य (परमाणुओं) का बंध होकर एक पिण्ड बना है। अतः भेदकल्पना निरपेक्षदृष्टि से अखण्ड एकद्रव्य होने के कारण जीव एकप्रदेश स्वभाव वाला है। कहा भी है—भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां धर्माधर्माकाशजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम्।

—जै. ग. 18-6-64/IX/ ब्र. लाभानन्द

१. विग्रहगति में सुख-दुःख, राग तथा आस्रव-बन्ध
२. सुख-दुःख का संवेदन आत्मा को प्रत्यक्ष होता है।

शंका—विग्रहगति में मन और इन्द्रियाँ हैं नहीं, फिर जीव राग बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक कर ही नहीं सकता, किन्तु विग्रहगति में कहा ही है। तो क्या विग्रहगति मे राग होता है या बिना राग के केवल कर्मोदय से ही बंध हो जाता है ?

समाधान—विग्रह का अर्थ 'देह' भी है और व्याघात या कुटिलता भी है। दूसरे शरीर के लिये संसारी जीव के जो मोड़ेवाली गति होती है, वह विग्रहगति है। विग्रहगति मे इन्द्रियप्राण होता है, क्योंकि वहाँ पर ज्ञान का क्षयोपशम पाया जाता है। दूसरे बाह्यपदार्थों को ग्रहण करने के लिये इन्द्रियों के व्यापार की आवश्यकता है, किन्तु स्वय के सुख-दुःख का अनुभव तो स्वय ज्ञान के द्वारा हो जाता है, उसमे इन्द्रियज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। कहा भी है—'यदि एकान्त से ये मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हो तो सुख-दुःख आदि का जो स्वसंवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा। किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है।' (वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ५ की संस्कृत टीका)।

सुख-दुःख का अनुभव होने पर राग-द्वेष अवश्य उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष के उत्पन्न होने पर कर्मों का बंध भी अवश्य होता है, यदि यह कहा जाय कि आस्रव के बिना कर्मबन्ध कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि विग्रहगति में कार्मणकाययोग होता है जिसके कारण कर्मास्रव होता है। कहा भी है—'विग्रहगतौ कर्मयोगः।' (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र २५)। इसी प्रकार तत्त्वार्थसार श्लोक ९७ मे भी कहा है।

—जै. ग 14-11-63/VIII/ प सरनाराम

आत्मप्रदेशों के भ्रमण की सिद्धि

शंका—आत्मा के प्रदेश भ्रमण करते हैं, इसमें आगम प्रमाण क्या है ?

समाधान—अभेदनय की अपेक्षा आत्मा एक अखंड पदार्थ है। अखंडपदार्थ में प्रदेशो का भ्रमण संभव नहीं है, किन्तु भेद दृष्टि मे आत्मा असंख्यात प्रदेशी है और प्रत्येक प्रदेश की सत्ता भिन्न-भिन्न है। अनादिकाल से यह आत्मा कर्मों से बंधा हुआ होने के कारण अपने स्वभाव से च्युत हो रहा है। जैसा-जैसा कर्मोदय होता है वैसा-वैसा आत्मा का परिणमन होता है। शरीरनामकर्म के उदय से आत्मा के प्रदेश सकोच व विस्ताररूप होते रहते हैं। संकोच व विस्तार के कारण आत्मप्रदेशों का भ्रमण होता रहता है।

यदि जीवप्रदेशो का भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों को भ्रमण करती हुई पृथ्वी आदि का ज्ञान नही हो सकता। इसलिये आत्मप्रदेशो के भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशो का भी भ्रमण होता है। जीव के आठ मध्यप्रदेशों का सकोच अथवा विस्तार नहीं होता अतः वे स्थित रहते हैं। अयोगकेवली जिनमें समस्त योगो के नष्ट हो जाने से जीवप्रदेशों का संकोच व विस्तार नहीं होता है अतएव वहाँ पर भी (सर्व) आत्मप्रदेश अवस्थित रहते हैं। विशेष के लिए धवल पुस्तक १ पृ० २३२-२३४; धवल पु० १२ पृ० २६४-२६८ देखना चाहिये।

श्री राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ८ वार्तिक १६ में आचार्य श्री अकलंकदेव ने इसप्रकार कहा है—"आगम में जीव के प्रदेशों को स्थित और अस्थित दोरूप मे बताया है। दुःख का अनुभव पर्याय परिवर्तन या क्रोधादि दशा

में जीव के प्रदेशों की उथल-पुथल को अस्थित तथा उथल-पुथल न होने को स्थित कहते हैं। जीव के आठ मध्य-प्रदेश सदा निरपवादरूप से स्थित ही रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धों के सभी प्रदेश स्थित हैं। व्यायाम के समय या दुःख परिताप आदि के समय जीवों के उक्त आठ मध्यप्रदेशों को छोड़कर बाकी प्रदेश अस्थित होते हैं। शेष जीवों के स्थित और अस्थित दोनों प्रकार के हैं।"

सव्वमरूवी दव्वं, अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि।
रूवी जीवा चलिया, तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥५९२॥

(गोम्मटसार जीवकांड)

अर्थ—सम्पूर्ण अरूपीद्रव्य अवस्थित हैं तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते, किन्तु रूपी जीव अर्थात् ससारीजीव के प्रदेश चलायमान होते हैं जिसके तीन प्रकार हैं। १ अचल, २ चल, ३ चलाचल।

—जै. ग. 10-10-63/IX/ ब. ला

शरीराऽभाव होने पर भी जीवप्रदेशों का विस्तार नहीं होता

शंका—लोकाकाश भी असंख्यातप्रदेशी है और जीव के भी उतने ही प्रदेश हैं, फिर जीव लोक के असंख्यातवेंभाग में रहता है, यह कैसे सम्भव है ?

समाधान—जीव यद्यपि लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है तथापि अनादिकाल से कर्मबन्ध होने के कारण जीवप्रदेश शरीरप्रमाण सकोच-विस्तार होते रहते हैं। शरीर की अवगाहना लोकाकाश के असख्यातवेंभागप्रमाण है अतः जीव भी लोक के असख्यातवेंभाग मे रहता है।

"यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः।

—बृहद् द्रव्यसंग्रह गा० २ टीका

अर्थ—यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्धप्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादि कर्मबंधवशात् शरीरकर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के आधीन होने से, घट आदि मे स्थित दीपक की तरह, अपनी देह के बराबर है।

"कश्चिदाह यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति ? तत्र परिहारमाह-प्रदीपसम्बन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वंस्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं, जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां सम्बन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति। कस्मादिति चेत् ? पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव। तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसंतानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति।" बृहद् द्रव्यसंग्रह गा. १४ टीका

अर्थ—कोई शका करता है कि जैसे दीपक को ढकनेवाले पात्रादि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसीप्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धो की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिये ? इस शका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक मे रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है, किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशत्व तो स्वभाव

है, प्रदेशों का लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जीव के प्रदेश पहले लोक के बराबर फैले हुए आवरण रहित रहते हैं फिर जैसे प्रदीप के आवरण होता है उसीप्रकार जीवप्रदेशो का भी आवरण हुआ है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीवप्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तानरूप से चले आये हुए शरीर के आवरणसहित ही रहते हैं, इसकारण जीवप्रदेशो का सहार नहीं होता। विस्तार व संहार शरीरनामकर्म के आधीन है, जीव का स्वभाव नहीं है। इसकारण शरीर का अभाव होने पर भी जीव प्रदेशों का विस्तार नहीं होता है।

जै. ग 29-6-72/IX/ रो ला मित्तल

सिद्धों में रागादिरूप परिणत होने की शक्ति है या नहीं ?

शंका—सिद्ध परमात्मा मे रागादि तथा मिथ्यात्वरूप परिणमन करने की शक्ति है या नहीं ? क्या शक्ति का कभी नाश हो सकता है ?

समाधान—बिना परद्रव्य के निमित्त के केवल (अकेला) आत्मा अपने आप रागादि तथा मिथ्यात्वरूप परिणमन नहीं कर सकता। कहा भी है—**यथा खलु केवल स्फटीकोपल: परिणामस्वस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभि: स्वयं न परिणमते। परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभि: परिणम्यते; तथा केवल: किलात्मा, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभि: स्वय न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभि: परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभाव:। समयसार गाथा २७८-२७९ आ० ख्या०**

अर्थ—जैसे वास्तव मे केवल (अकेला) स्फटिकमणि, स्वय परिणमन स्वभाववाला होने पर भी, अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप रागादिरूप नहीं परिणत होता, किन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमित किया जाता है। इसीप्रकार वास्तव मे केवल [अकेला] आत्मा, स्वयं परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अपने शुद्धस्वभाव के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप ही रागादिरूप नही परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। और भी कहा है—

आत्मात्मनारागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्ते:। य: खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेश: स, द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्, अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितम्—परद्रव्यं निमित्त, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावा:। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयो: कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषङ्गात् मोक्षाभाव: प्रसजेच्च। तत: परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एव आत्मा। समयसार २८३–२८५ आ० ख्या०

अर्थ—आत्मा स्वत: रागादि का अकारक ही है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नही हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव मे द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्त नैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को

ही बतलाता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्यअप्रतिक्रमण और द्रव्यअप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा और निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त है और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है।

इन आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा मे परिणमन करने की शक्ति है जिसका नाश नहीं होता। जब तक मोहनीयकर्म का उदय है और नोकर्म का संयोग है उससमय तक जीव का परिणमन रागादिरूप होता है और सिद्धों मे उक्त परद्रव्य का निमित्त नहीं है अतः सिद्ध जीवो का परिणमन रागादिरूप न होकर स्वाभाविक है। सिद्धों में परिणमन करने की शक्ति है और परिणमन भी है, किन्तु परद्रव्य का निमित्त न होने से रागादि तथा मिथ्यात्वरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है।

—जै. सं. 20-6-57/ ...... / दि जैन स्वाध्याय मण्डल

१. सिद्धों में वैभाविक पर्याय शक्ति नहीं है
२. मात्र ज्ञान से बंधाऽभाव नहीं होता

शंका—आत्मप्रबोधनामक पुस्तक में कहा गया है कि 'यद्यपि वैभाविकशक्ति सिद्धों में द्रव्यरूप से है, किंतु भेदज्ञान होनेपर बंध नहीं होता है।' क्या सिद्धों में वैभाविकशक्ति है ? यदि मात्र भेद-ज्ञान हो जाने पर ही कर्मबंध रुक जाता है तो चारित्र की क्यों आवश्यकता रहेगी ?

समाधान—बन्ध के कारण द्रव्य अशुद्ध हो जाता है और अशुद्धद्रव्य मे विभावरूप परिणमन होता है। बन्ध का अभाव हो जाने पर द्रव्यशुद्ध हो जाता है और विभावरूप परिणमन का अभाव होकर स्वभावरूप परिणमन होने लगता है। कहा भी है—

"समानजातीया असमानजातीयाश्च अनेकद्रव्यात्मिकैकरूपा द्रव्यपर्याया जीवपुद्गलयोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति। कस्मादिति चेत् ? अनेकद्रव्याणां परस्पर-संश्लेषरूपेण संबंधात्।" पंचास्तिकाय गा. १६ टीका

समानजातीय तथा असमानजातीय अनेक द्रव्यों की एकरूप द्रव्यपर्यायें जीव और पुद्गलों मे ही होती हैं तथा ये अशुद्ध (विभावरूप) ही होती हैं, क्योंकि अनेक द्रव्यो के परस्पर संश्लेषसम्बन्ध अर्थात् बंध से हुई हैं।

किसी भी आर्षग्रन्थ मे वैभाविकद्रव्यशक्ति का कथन नहीं है। अशुद्धद्रव्यों का विभावरूप परिणमन होने से वैभाविकपर्यायशक्ति सम्भव हो सकती है। अशुद्धअवस्था का अभाव हो जाने पर वैभाविकपर्यायशक्ति का भी अभाव हो जाता है।

"आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥ सगुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥२॥ तपसा निर्जरा च।"

—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९

श्री उमास्वामिआचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना करके सागर को गागर मे बन्द कर दिया है। उस तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त तीन सूत्रों द्वारा चारित्र को संवर (कर्मों का बन्ध रुक जाना) तथा निर्जरा (पुराने कर्मों का झड़ना) का कारण कहा है।

चारित्र के बिना मात्र भेदज्ञान से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। कहा भी है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१।१॥ (तत्त्वार्थ सूत्र)

"असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव।" प्रवचनसार गाथा २३७ टीका

आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान व आत्मतत्त्व का अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत (संयमरहित के) क्या लाभ करेगा? इसलिये संयमरहित श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती अतः आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान व संयतत्व की अयुगपद्वाले के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता है।

अतः मात्र भेदज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का बंध नहीं रुकता, यथाख्यातचारित्र हो जाने पर कर्मबन्ध नहीं होता।

—जै. ग./6-1-72/VII/ .. ..

जीव निराकार यानी स्पर्शादिगुणरहित है

शंका—जीव को निश्चयनय से निराकार (अमूर्तिक) माना है, किन्तु मुक्तावस्था में जीव को उसके अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकारवाला बतलाया है। अतः इसप्रकार तो शुद्धमुक्तजीव भी साकार ही सिद्ध हुआ तब वह अमूर्तिक कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—जिस द्रव्य मे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण गुण पाये जाते हैं, वह द्रव्य मूर्तिक कहलाता है और जिस द्रव्य मे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण गुण न हो वह द्रव्य अमूर्तिक है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण गुण स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य है अतः मूर्तिकद्रव्य को इन्द्रियग्राह्य कहा है। पुद्गलद्रव्य मे स्पर्शादि गुण पाये जाते हैं अतः पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और जीवादि शेष पाँच द्रव्यो मे स्पर्शादि गुण नहीं पाये जाते अतः वे अमूर्तिक हैं। कहा भी है—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥ १३१ प्र. सा. ॥

अर्थ—इन्द्रिय ग्राह्य मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यात्मक अनेक प्रकार के हैं, अमूर्त द्रव्यो के गुण अमूर्त जानने चाहिए। कहीं-कहीं पर मूर्त को साकार और अमूर्त को निराकार कहा है। वहाँ पर आकार शब्द द्वारा स्पर्शादि गुणों को ग्रहण करना। आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है। सिद्धों (मुक्त जीवों) मे भी नाना आकार हैं अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है। अनिर्दिष्टसंस्थान होने के कारण भी जीव को निराकार कहा है। निराकार का यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य का कोई आकार नहीं है। हर एक जीवद्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य है, जीव मे प्रदेशत्व गुण विद्यमान है। यहाँ पर निराकार का अर्थ 'स्पर्शादिगुणरहित' है।

—जै. सं. 23-8-56/VI/ बी. एल. पद्म, मुजफ्फरपुर

परमाणु की तरह सिद्ध (शुद्धजीव) का आकार नियत नहीं

शंका—सिद्धों का शुद्धआकार शुद्धनिश्चयनय से कैसा है ? जैसा कि पुद्गल का षट्कोण आकार बतलाया है।

समाधान—शुद्धनिश्चय का विषय 'विशेष' या 'भेद' नहीं है। 'सिद्धों का आकार' यह भेद विवक्षा को लिए हुए है। इसलिए यह निश्चयनय का विषय नहीं है। कहा भी है—

"निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः।" (आलापपद्धति)

अर्थ—निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है।

अतः सिद्धों के आकार का कथन व्यवहारनय का विषय है। प्रत्येक सिद्ध भगवान का आकार अपने-अपने चरमशरीर से कुछ न्यून होता है। कहा भी है—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥ (बृ. द्र. सं.)

अर्थ—सिद्धभगवान ज्ञानावरणादि आठकर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठगुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं तथा उत्पाद-व्यय से संयुक्त हैं।

जिसप्रकार शुद्ध पुद्गलपरमाणु का आकार नियत है उसप्रकार शुद्ध जीव का आकार नियत नहीं है।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ-संठाणं ॥५॥ [लघु द्रव्यसंग्रह]

अर्थ—जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त (अस्पर्श), अशब्द, अलिंगग्रहण है तथा अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है अर्थात् जीव का कोई संस्थान (आकार) निर्दिष्ट (नियत) नहीं है। चेतना गुणवाला है। जीव को ऐसा जानो।

—जै. ग. 1-11-65/VII/ ओमप्रकाश

१. आत्मा का आकार व्यवहार से है
२. अमूर्तिक द्रव्यों का भी प्रदेशत्व गुण के कारण आकार होता है

शंका—यह जीव जिस गति में जाता है उस गति के अनुकूल पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा शरीर की रचना होती है और उस शरीर के अनुकूल आत्म-प्रदेशों का प्रसार होकर जो आत्मा का आकार बना वह निश्चय से है या व्यवहार से ?

स—आत्मप्रदेशों का संकोच होना व विस्तार होना आत्म-द्रव्य का स्वभाव नहीं है किन्तु शरीर नामकर्म के आधीन है अर्थात् शरीरनामकर्मोदय के आधीन होकर आत्मा के प्रदेश संकोच व विस्तार अवस्था को धारण करते हैं। ऐसा नहीं है कि आत्मद्रव्यस्वभाव के कारण आत्मप्रदेशों का संकोच विस्तार होता है। यदि ऐसा न माना जावे अर्थात् द्रव्यस्वभाव के कारण संकोच-विस्तार मान लिया जावे तो सिद्धों के भी संकोच-विस्तार का प्रसंग आ जाने से आगम से विरोध आ जायगा। अतः जीवप्रदेशों की संकोच-विस्ताररूप क्रिया पुद्गलकृत है। इस सम्बन्ध में आर्षवाक्य इसप्रकार है—

'संहारविस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति ।'
—बृ० द्र० सं० गाथा १४ की टीका

अर्थ—संहार व विस्तार तो शरीरनामकर्म के आधीन हैं, जीव का स्वभाव नहीं है। इस कारण शरीर का अभाव होने पर जीवप्रदेशों का विस्तार नहीं होता।

'उपसंहारप्रसर्पतः शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः ।' बृ. द्र. सं. गा. १० टीका

अर्थ—शरीरनामकर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोचरूप जीव के धर्म हैं।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्द भगवान तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥ पं. का.

टीका—"प्रदेशांतरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया । तत्र सक्रिया बहिरंगसाधनेन सहभूता जीवाः । जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः । तदभावान्निः क्रियत्वं सिद्धानां ।"

गाथार्थ—जीव और पुद्गल बहिरंग कारणों के मिलने पर सक्रिय होते हैं। शेष द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। जीव की क्रिया में बहिरंगसाधन पुद्गल है और पुद्गलस्कन्ध की क्रिया मे बहिरंगसाधन काल है।

टीकार्थ—क्षेत्रान्तर प्राप्ति का कारण ऐसी परिस्पन्दनरूप पर्याय को क्रिया कहते हैं। बहिरंगसाधन के साथ जीव सक्रिय होता है। जीव की क्रिया के बहिरंग साधन कर्म और नोकर्म का समूह पुद्गल है। इसलिये जीवों को पुद्गल कारण कहा गया। उन कर्म-नोकर्मों के अभाव मे अर्थात् पुद्गल के रूपी बहिरंग साधन के अभाव मे सिद्ध जीव निष्क्रिय है।

जीवप्रदेशपरिस्पन्दरूप क्रिया से ही आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है अथवा शरीर के आकाररूप होते हैं।

जिस शरीर को यह जीव ग्रहण करता है उस शरीर के आकाररूप आत्मप्रदेश हो जाते हैं। यह क्रियारूप पर्याय जीव की स्वाभाविकपर्याय नहीं है, किन्तु कर्माधीनपर्याय है अर्थात् विभावपर्याय है। कहा भी है—

भणिया जे विब्भावा जीवाणं तहय पोग्गलाणं च ।
कम्मेण य जीवाणं कालाओ पोग्गलाणेया ॥७८॥ नयचक्र संग्रह

अर्थ—जीव और पुद्गल मे जो विभावभाव अथवा पर्याय होती हैं उनमें जीव को पुद्गल कर्म कारण जानना चाहिये और पुद्गल को काल कारण जानना चाहिये।

क्योंकि ये पर्यायें स्व-पर निमित्तक हैं और पराश्रित हैं, इसलिये व्यवहारनय का विषय हैं। निश्चयनय से तो जीव असंख्यातप्रदेशी है। कहा भी है—

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥ (बृ. द्र. सं.)

अर्थ—व्यवहारनय के विषय की अपेक्षा यह जीव, समुद्घात के बिना, सकोच–विस्तार के कारण अपने छोटे-बडे शरीर के प्रमाण रहता है। और निश्चयनय के विषय की अपेक्षा असंख्यातप्रदेश का धारक है।

'यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीर-नामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थ प्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः।'

अर्थ—यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविकशुद्धप्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादिकर्मबंधवशात् शरीर कर्मोदय से उत्पन्न सकोच तथा विस्तार के आधीन होने से, घटादि मे स्थित दीपक की तरह अपनी देह के बराबर है। बृ० द्र० सं० गाथा २ की टीका

शरीरप्रमाण होकर जीव का जो आकाररूप सस्थान बनता है वह भी व्यवहारनय का विषय है। जीव अनिर्दिष्टसस्थानवाला है, यह निश्चयनय का विषय है। कहा भी है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४०॥ समयसार

अर्थ—निश्चयनय के विषय की अपेक्षा जीव अरस, अरूप, अगध, अव्यक्त, चेतनागुणवाला, अशब्द, अलिंग-ग्रहण और अनिर्दिष्टसस्थान (आकार) वाला है।

इसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य सस्थान के विषय मे निम्नप्रकार लिखते हैं—

"द्रव्यांतरारब्धशरीर संस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानन्तशरीर-वर्तित्वात्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहज-संवेदनशक्तित्वेपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः।"

अर्थ—(१) पुद्गल द्रव्य कर रचे हुए संस्थानो (आकारो) कर कहा नहीं जाता कि ऐसा आकार है। (२) अपने नियत स्वभावकर अनियत सस्थानरूप अनत शरीरो मे वर्तता है, इसलिये भी आकार नही कहा जाता। (३) 'संस्थान' नामकर्म का विपाक (फल) है वह भी पुद्गलद्रव्य मे है, उसके निमित्त से भी आकार नही कहा जा सकता। (४) जुदे २ आकाररूप परिणमते जो समस्त वस्तु उनके स्वरूप से तदाकार हुआ जो अपना स्वभाव-रूप सवेदन उस शक्तिरूपपना इसमे होने पर भी आप समस्त लोक के मिलाप कर शून्य हुई जो अपनी निर्मलज्ञान मात्र अनुभूति उस अनुभूतिपने करि किसी भी आकाररूप नहीं है, इसकारण भी अनिर्दिष्ट संस्थान है। ऐसे चार हेतुओ से निश्चयनय की अपेक्षा सस्थान का निषेध कहा।

यद्यपि सिद्ध भगवान के आत्मप्रदेशो का आकार है तथापि वह आकार पूर्वशरीर के आकाररूप होता है इसलिये वह आकार भी निश्चयनय का विषय नहीं है। जिसप्रकार समस्त सिद्ध भगवानो के ज्ञानादि अनन्तगुण तथा आत्मप्रदेशो की सख्या समान होती है उसप्रकार आकार व अवगाहना समान नही होती, क्योकि जघन्य-अवगाहना से उत्कृष्ट-अवगाहना तक अवगाहना के असंख्यात भेद होते हैं। कोई पद्मासन से सिद्ध होते हैं, कोई खड्गासन से सिद्ध होते हैं, इसलिये भी सिद्धो के आकार मे समानता नहीं है। संस्थान के मूलभेद छह हैं और सूक्ष्मदृष्टि से उत्तरभेद असख्यात हैं। इन सब सस्थानों से सिद्ध होते हैं। इस कारण भी सिद्धो के आकारों मे विभिन्नता है। इसप्रकार सिद्धो का भी कोई नियतसस्थान नहीं है, किन्तु उनका आकार भी पूर्वशरीर के आकार पर आधारित है। इसलिये सिद्धो का आकार भी निश्चयनय का विषय नहीं है। लोकाकाश के बराबर असंख्यात-प्रदेशीपना सब सिद्धों मे है अतः यह निश्चयनय का विषय है।

सिद्धों का आकार निश्चयनय का विषय नहीं है इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सिद्धों का आकार एक कल्पना मात्र है, झूठ है–असत्य है; किन्तु सिद्धों का आकार वास्तविक है जो पूर्वशरीर से किंचित् ऊन है। कहा भी है—

णिक्कम्मा अट्ठ गुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥ [बृ० द्र० सं०]

अर्थ—सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठकर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठगुणों के धारक हैं। अन्तिमशरीर से कुछ कम आकार वाले हैं। आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अग्रभाग मे स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद व्यय से युक्त हैं।

सिद्ध भगवान निराकार भी हैं। इसका यह अभिप्राय है कि सिद्ध भगवान अमूर्तिक हैं अर्थात् आठ कर्मों का अभाव हो जाने से सिद्धों मे अमूर्तिकपना व्यक्त हो गया है, किन्तु ससार अवस्था मे वह अमूर्तिकपना कर्मों से तिरोहित होने के कारण ससारी जीव कथंचित् अर्थात् कर्मबंध की अपेक्षा से मूर्तिक है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका के अन्त मे शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा भी है—"कर्मबंध-व्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः।"

अर्थ—कर्मबंध के अभाव से व्यक्त किये गये सहज स्पर्शादि शून्य आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्व शक्ति है? "कम्म-णोकम्माणमणादिसंबंधेण मुत्तत्तमुवगयस्स जीवस्स घणलोगमेत्तपदेसस्स जोगवसेण संघारविसप्पणधम्मियस्स अवयवाणं परतंतलक्खणसंबंधेणछट्ठभंगुप्पत्तीए।" धवल १४ पृ० ४५।

अर्थ—जो कर्म नोकर्मों का अनादि सम्बन्ध होने से मूर्तपने को प्राप्त हुआ है और जिसके घनलोकप्रमाण जीवप्रदेश योग के वशसे सकोच-विस्तार धर्मवाले हैं ऐसे जीव के अवयवों के परतन्त्र लक्षण सम्बन्ध से शरीरबंध के छठे भंग की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है।

"मुत्तट्ठकम्मजणिद सरीरेण अणाइणा संबद्धस्स जीवस्स ससारावत्थाए सव्वकालं तत्तो अपुधभूदस्स तस्संबंधेण मुत्तभावमुवगयस्स सरीरेण सह संबंधस्स विरोहाभावादो।" धवल १६ पृ० ५१२।

अर्थ—मूर्त आठ कर्म जनित अनादि शरीर से संबद्ध जीव ससार अवस्था मे सदा काल उससे अपृथक् रहता है। अतएव उसके सम्बन्ध से मूर्तभाव को प्राप्त हुए जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध होने मे कोई विरोध नहीं है।

निराकार का यह अर्थ नहीं है कि सिद्ध जीवों का कोई आकार नहीं है, क्योंकि अमूर्तिक द्रव्यों का भी प्रदेशत्वगुण के कारण आकार अवश्य होता है। जैसे आकाश का आकार समघनरूप है। धर्म, अधर्मद्रव्य, पुरुषाकाररूप हैं।

—जै. ग. 1-10-64/VIII-IX/ जयप्रकाश

जीव और पुद्गल की क्रियाशीलता

शंका—जीव क्रियाशील है अथवा नहीं? कृपया निश्चयनय से बतलाइये। यदि क्रियाशील है तो मुक्त (शुद्ध) अवस्था में उसे निष्क्रिय (अकर्ता) क्यों माना है?

शंका—पुद्गल क्रियाशील है अथवा नहीं ? कृपया निश्चयनय से बतलाइये। यदि क्रियाशील है तो समाधान कीजिए कि पुद्गल परमाणु जो एक जड़ पदार्थ है—स्वतः (बिना जीव के संयोग के) क्रिया कैसे कर सकता है ?

समाधान—निश्चयनय दो प्रकार हैं—शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय। यहाँ दोनों नयों की अपेक्षा समाधान कर रहे हैं। सर्वप्रथम क्रिया का लक्षण क्या है ? इसका विचार करना है—**क्रिया– क्षेत्रात्क्षेत्रान्तर-गमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ। अर्थ :** जिनके क्षेत्र से क्षेत्रान्तर परिस्पन्दनवाली व चलनवाली गमनरूप क्रिया विद्यमान है वे जीव-पुद्गल दोनों क्रियावाले हैं। **परिस्पन्दन-लक्षण क्रिया,** क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है। **(प्र. सा. गाथा १२९ की टीका) प्रदेशान्तरप्राप्ति हेतुः परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया। अर्थ**—एक प्रदेश से प्रदेशान्तर मे गमन करना उसका नाम क्रिया है। **(पं० का० गाथा ९८ की टीका)। उभयनिमित्तापेक्षः बगाद्युत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। (स० सि० अ० ५ सू० ७) उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्तिहेतुः क्रिया। (त० रा० वा० अ० ५ सू ७ वा० १) अर्थ :** उभयनिमित्त के (अभ्यन्तर और बाह्य कारण) द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्य को एक देश से दूसरे देश मे लेजाने मे कारण है, ऐसी पर्याय का नाम क्रिया है। **अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यं बाह्यं च प्रेरणाभिघातादिक निमित्तमपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेति व्यपदिश्यते। अर्थ :** क्रियारूप परिणमनशक्ति का धारक द्रव्य अभ्यन्तर विकारण, प्रेरणा का होना एवं अभिघात (धक्का आदि) बाह्यकारण है इन दोनो कारणो के द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्य को एकदेश से दूसरे देश लेजाने मे कारण है ऐसी विशेषपर्याय का नाम क्रिया है। **(सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति अ० ५ सूत्र ७)** इसप्रकार क्रिया का लक्षण कहा गया।

जीव क्रियाशील है और नहीं भी

जीवा .... सहलविकरिया हवंति .... पुग्गलकरण जीवा .... । पं० का० गा० ९८ इस पर टीका इस प्रकार है—**जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंग साधनं कर्मनोकर्मोपचय रूपाः। ते पुद्गलकरणाः तदभावान्निः क्रियत्वं सिद्धानां। अर्थ :** जीव बाह्य पुद्गल कारणो के साथ सक्रिय होते हैं। जीवों के क्रियापने मे बाह्यसाधन कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल हैं। वे जीव-पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं। कर्म—नोकर्मरूप पुद्गलनिमित्त के अभाव में सिद्ध निष्क्रिय हैं। यहाँ पर जीव की विभावरूप क्रिया का बाह्य कारण की मुख्यता से कथन है और विभाव के अभाव मे सिद्धो को निष्क्रिय कहा है। प्र० सा० गाथा १२९ की टीका मे इसप्रकार कहा है—**जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात् परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानाव-तिष्ठमान भज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति।**

अर्थ—जीव भी क्रियावाले होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलो से भिन्न जीव उनके साथ एकत्र होने से और कर्म नोकर्मरूप पुद्गलो के साथ एकत्र हुए जीव बादमे पृथक् होने से (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। यहाँ पर क्रिया की अपेक्षा मे अशुभ जीव मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बताया है। अतः क्रिया जीव का स्वभाव कहा है। यह अशुद्ध क्रिया का अन्तरग कारण की मुख्यता से कथन है। **त० रा० वा० अ० ५ सूत्र ७ की प्रथम वार्तिक की टीका में श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने इस प्रकार कहा है—उभयनिमित्त इति विशेषणं द्रव्यस्वभावनिवृत्यर्थं। यदि हि द्रव्यस्वभावः स्यात् क्रिया परिणामिनोद्रव्यस्यानुपरत क्रियत्वप्रसंगः। द्रव्यस्य पर्याय विशेष इति विशेषणं अर्थान्तर भावनिवृत्यर्थं। यदि हि क्रिया द्रव्यादर्थान्तर भूता स्यात् द्रव्यनिश्चलत्व प्रसंगः। अर्थ**–उभय निमित्तापेक्ष यह विशेषण दिया गया है।

वह क्रिया द्रव्य का स्वभाव न समझा जाय इस बात की निवृत्ति के लिए है। यदि क्रिया को द्रव्य का स्वभाव मान लिया जावे तो फिर द्रव्य सदा स्थिर न रहकर हलन-चलनरूप ही रहेगा। पर्याय विशेष यह जो क्रिया का विशेषण है वह क्रिया द्रव्य से भिन्न पदार्थ नहीं समझा जाय, इस बात की द्योतना के लिए है। यदि क्रिया भिन्न पदार्थ हो जावे तो द्रव्य सर्वथा निश्चल हो जावेगा। यहाँ पर बाह्यकारण निरपेक्ष त्रिकालिकस्वभाव की अपेक्षा से क्रिया के जीव के स्वभावपने का निषेध किया, किन्तु क्रिया जीव की पर्याय है, कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वार्तिक १४ व उसकी टीका इस प्रकार है—**शरीरवियोगे निष्क्रियत्वप्रसंग इति चेन्न अभ्युपगमात्। अथवा, परनिमित्तक्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्तस्योर्ध्वगतिरभ्युपगम्यते प्रदीपवत्। अथवा, स्याच्छरीरवियोगे मुक्तस्य निःक्रियत्वं यद्यनन्तवीर्यज्ञान-दर्शनाचिन्त्य सुखानुभवनादयः क्रिया न अभ्युपगम्येरन्। अभ्युपगम्यन्ते तु तस्मादयमदोषः शरीरवियोगादात्मनो निः-क्रियत्वप्रसङ्ग इति।** अर्थ: शरीर (कार्माणशरीर) के वियोग हो जाने पर जीव क्रियारहित होता है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं, क्योंकि यह इष्ट है। अथवा, परनिमित्तकक्रिया का अभाव हो जाने पर भी, दीपक के समान मुक्त-जीव के ऊर्ध्वगमनरूप स्वाभाविक क्रिया मानी गई है। अथवा, यदि शरीर के वियोग में मुक्तजीव को क्रियारहित माना जायगा तो अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एव अचिन्त्यसुख का अनुभव करना आदि क्रियाएँ मानी गई हैं वे न मानना चाहिए। किन्तु वे मानी गई हैं, इसलिए शरीर के अभाव में आत्मा निष्क्रियपदार्थ है यह दोष यहाँ लागू नहीं हो सकता।

पं० का० गाथा २८ की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरिजी ने इस प्रकार कहा है—**आत्मा हि परद्रव्यत्वात्कर्म-रजसा साकल्येन यस्मिन्नेव क्षणे मुच्यते तस्मिन्नेवोर्ध्वगमनस्वभावत्वाल्लोकान्तमधिगम्य: परतो गतिहेतोरभावादव-स्थितः।** जिस क्षण में समस्त कर्मों से आत्मा मुक्त होता है उसी क्षण में आत्मा ऊर्ध्वगमनस्वभाव होने के कारण लोक के अन्ततक जाकर ठहर जाता है, क्योंकि आगे गतिहेतु (धर्मद्रव्य) का अभाव है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ में भी कहा है—**विस्स सोउड्ड गई** अर्थात् जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस गाथा की टीका में इस-प्रकार कहा है—**यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्गति स्वभावस्तथापि निश्चयेन केवल ज्ञाना-द्यनन्तगुणावाप्ति लक्षण मोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्ध्वगतिश्चेति।** अर्थ: यद्यपि व्यवहार से चारों गतियों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों के उदयवश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है फिर भी निश्चयनय से केवल-ज्ञानादि अनन्तगुणों की प्राप्तिस्वरूप जो मोक्ष उसमें जाने के काल में स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस-प्रकार अशुद्धनिश्चयनय से परिस्पन्दरूप क्रिया जीव का स्वभाव है और शुद्धनिश्चयनय से ऊर्ध्वगतिरूप क्रिया जीव का स्वभाव है, किन्तु परिस्पन्दरूप क्रिया जीव का स्वभाव नहीं है। शुद्धअवस्था में मुक्तजीव को परिस्पन्दरूप वैभाविकक्रिया के अभाव की अपेक्षा निष्क्रिय कहा है।

पुद्गलों में क्रियाशीलता

पुद्गलों की क्रिया में कालनिमित्त कारण है और काल का अभाव नहीं होता अतः पुद्गल सिद्धों के समान निष्क्रियपने को प्राप्त नहीं होता जैसा कि पं० का० गाथा ९८ की टीका में कहा है—**पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहि-रंगसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति।** पुद्गलों की क्रिया स्वाभाविक और प्रायोगिक दो प्रकार की होती है जैसा त० रा० वा० अ० ५ सू० ७ की वार्तिक १६ में कहा है—**पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसा प्रयोगनिमित्ता च** अतः पुद्गलपरमाणु को स्वाभाविकक्रिया के लिए जीव के संयोग की आवश्यकता नहीं है। पुद्गलपरमाणु का जीव के साथ संयोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का संयोग स्कन्ध के साथ हो सकता है।

—जै. स. 23-8-56/VI/बी एल. पद्म, शुजालपुर

स्वसमय-परसमय

शंका—स्वसमय और परसमय कौन-कौन जीव हैं ?

समाधान—श्री कुंदकुंदाचार्य ने स्वसमय और परसमय जीवों की व्याख्या निम्नप्रकार की है—

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिदेहिं ।
परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे ॥१४८॥
मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा ।
सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम-जिणसिद्धा ॥१४९॥[1] रयणसार

अर्थ—बहिरात्मा और अन्तरात्मा भेदरूप परसमय, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। परमात्मा स्वसमय है। गुणस्थानों की अपेक्षा उनके भेद जानने चाहिये ॥ १४८ ॥ तरतमता लिये हुए मिश्र-तीसरे गुणस्थानतक बहिरात्मा है। चतुर्थगुणस्थान मे जघन्यअन्तरात्मा है। उपशान्तमोह-ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यमअन्तरात्मा है। क्षीणमोह-बारहवें गुणस्थान मे उत्कृष्टअन्तरात्मा है। जिन और सिद्ध परमात्मा है। अर्थात् बारहवेंगुणस्थान तक अन्तरात्मा होने के कारण परसमय है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन तथा गुणस्थानातीत सिद्धभगवान स्व-समय हैं। मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जो घातिया कर्मोदय मे स्थित हैं, वे परसमय हैं और जो क्षायिकसम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित हैं वे स्वसमय हैं।

इसी बात को उन्हीं कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार ग्रंथ मे कहा है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गल कम्मपदेसट्ठिय च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

अर्थ—जो जीव (क्षायिक) चारित्र, ज्ञान, दर्शन मे स्थित हैं, उनको स्वसमय जानना चाहिये और जो घातियाकर्मोदयरूप पुद्गल प्रदेशो मे स्थित हैं। उनको परसमय जानना चाहिये।

नोट—यह प्रश्न रयणसार गाथा १४८ व १४९ की दृष्टि से किया गया है।

—जै. ग. 7-10-65/IX/ प्रेमचन्द

स्वसमय तथा परसमय का स्वरूप

शंका—कौन जीव स्व-समय है और कौन जीव पर-समय है ? स्व-समय और पर-समय किसको कहते हैं ? केवली भगवान के योग तथा कर्मास्रव हैं क्या वे भी पर-समय हैं ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्व-समय और पर-समय का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सग समया मुणेदव्वा ॥ ९४ ॥ प्र. सा.

अर्थ—जो पर्याय मे निरत हैं वे पर-समय हैं ऐसा कहा गया है। जो आत्म-स्वभाव में स्थित हैं उनको स्व-समय जानना चाहिये।

१. डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा अनूदित 'रयणसार' में इन गाथाओं की गाथा संख्या १२८-१२९ हैं।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥२॥ समयसार

अर्थ—जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है उसको स्व-समय जानो और जो पुद्‌गलकर्मप्रदेश में स्थित है उसको पर-समय जानो ।

इन दोनो गाथाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो आत्मस्वभाव अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित है वह स्वसमय है । ऐसा जीव परमात्मा हो सकता है । और इससे भिन्न अर्थात् जो आत्मस्वभाव या दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित नहीं है अर्थात् जो परमात्मा नही है वह परसमय है । इसप्रकार अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि भी पर-समय कहा गया है । इसी बात को श्री कुन्दकुन्द भगवान रयणसार ग्रंथ मे इस प्रकार कहते हैं—

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिदेहि ।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४८॥[1]

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय कहा है और परमात्मा को स्व-समय कहा है । इनके विशेष भेद गुणस्थान की अपेक्षा समझ लेना चाहिये ।

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिया अंतरप्पजहण्णा ।
संतोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तमपरमजिणसिद्धा ॥ १४९ ॥[2]

अर्थ—मिथ्यात्व नामक पहिले गुणस्थान से सम्यग्मिथ्यात्व नामक तीसरे मिश्रगुणस्थानतक तरतमता से बहि-रात्मा है । अविरत सम्यग्दृष्टि चौथेगुणस्थानवाला जघन्य अन्तरात्मा है, उपशान्त मोह [ग्यारहवें गुणस्थान] तक मध्यमअन्तरात्मा है और क्षीण मोह [बारहवें गुणस्थान] वाला उत्कृष्ट अन्तरात्मा है । जिन और सिद्ध परमात्मा हैं ।

इन आर्षवाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षीणमोह [बारहवें गुणस्थान] तक घातियाकर्मों का उदय रहता है अर्थात् पुद्‌गलकर्मप्रदेश मे स्थित रहते हैं, क्योंकि केवलज्ञान आदि स्वभाव व्यक्त नही हुआ है, अतः वे पर-समय हैं । जिनेन्द्र भगवान के यद्यपि योग के कारण सातावेदनीयकर्म का ईर्यापथास्रव हो रहा है तथापि समस्त घातियाकर्मों का नाश हो जाने से स्वाभाविक केवलज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र व्यक्त हो गये हैं, इस-लिये जिनस्वभाव मे स्थित होने से स्व-समय हैं ।

जै. ग. 10-9-64/IX/ जयप्रकाश

जीवतत्त्व व जीवद्रव्य में अन्तर

शंका—जीवतत्त्व और जीवद्रव्य में क्या अन्तर है ? तत्त्व और द्रव्य का अलग-अलग लक्षण करते हुए दोनों का अन्तर समझाइये ।

समाधान—'तत्त्व' शब्द भावसामान्य वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनामपद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया । (सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र २) । 'द्रव्य' शब्द मे 'द्रव'

१., २. ये दोनों गाथाएँ डॉ0 देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार में गाथांक १२८–२६ पर हैं ।

धातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होता है या पर्याय को प्राप्त होता है वह 'द्रव्य' है (सर्वार्थसिद्धि ५-२)। 'तत्त्व' में भाव की मुख्यता है और 'द्रव्य' में परिणमन की मुख्यता है। जीवपदार्थ जिसरूप से अवस्थित है उसका उसरूप से होना यह जीवतत्त्व है। जीवपदार्थ सत्‌रूप है यह जीवद्रव्य है।

—जै. सं. 6-3-58/VI/ गु च. शाह, लश्करवाले

तत्त्वचिन्तन में मन व इन्द्रियों का साहाय्य अपेक्षित है

शंका—कर्मों से मलिन आत्मा क्या बिना द्रव्यमन के तत्त्वों का यथार्थ चिंतन कर सकता है? मन तो जड़ पदार्थ है। वह तो चिंतन कर नहीं सकता है फिर उसके अभाव में तत्त्वों का चिंतन क्यों नहीं कर सकता है?

समाधान—संसारी जीवों के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यांतरायकर्मों का उदय होने के कारण, उनके ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम के कारण जितना भी ज्ञान लब्धिरूप से प्रगट होता है उसको उपयोगात्मक होने के लिए इन्द्रिय व मन की सहायता की आवश्यकता होती है, क्योंकि वह ज्ञान अपूर्ण होने के कारण कमजोर है। इसलिये श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

"तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ॥१।१४॥ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं।" उस मतिज्ञान के इन्द्रिय और मन निमित्तकारण होते हैं और श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियाँ या मन पदार्थों को जानते हैं। आत्मा ही पदार्थों को जानता है, किन्तु जानने के लिये इन्द्रिय व मन की सहायता की आवश्यकता होती है। बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के मति-ज्ञान व श्रुतज्ञान जानने में असमर्थ हैं।

जिसप्रकार आँखें देखती हैं, किन्तु जब वे कमजोर हो जाती हैं तो उनको चश्मे की सहायता की आवश्यकता होती है। यह बात सत्य है कि देखती आँख है चश्मा नहीं देखता, किन्तु बिना चश्मे के कमजोर आँख नहीं देख सकती। इसीप्रकार आत्मा भी पौद्‌गलिक इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना मति व श्रुत ज्ञान द्वारा तत्त्वों को नहीं जान सकती।

जै. ग. 17-7-69/··· / रो. ला मित्तल

सम्यक्त्व रहित आत्मा में भी कथंचित् जिनत्व है

शंका—सम्यक्त्व रहित आत्मा में जिनत्व नहीं है, इसमें अनेकान्त क्या है?

समाधान—सम्यक्त्वरहित आत्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा में भी जिनत्व शक्तिरूप से तथा भावी-नैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी है। श्री बृहद्‌द्रव्यसंग्रह की संस्कृत टीका में कहा भी है—

"मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मापरमात्माद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मा परमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति। यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत्? परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते।" गाथा १४ टीका।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि भव्यजीव है उसमे केवल बहिरात्मा तो व्यक्तिरूपसे रहता है, अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं, भावीनैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजीव में बहिरात्मा व्यक्तिरूप से तथा अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से ही रहते हैं। भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य मे अंतरात्मा तथा परमात्मा व्यक्तिरूप से नहीं रहते। कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव मे परमात्मा शक्तिरूप से रहता है तो उसमे अभव्यत्व कैसे ? इसका उत्तर यह है कि अभव्यजीव मे परमात्मशक्ति की केवलज्ञानादिरूप से व्यक्ति न होगी इसलिये उसमे अभव्यत्व है। शुद्धनय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि-भव्य और अभव्य इन दोनो मे समान है। यदि अभव्यजीव मे शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता।

इसप्रकार सम्यक्त्वरहित जीव मे जिनत्व शक्तिरूप से सिद्ध हो जाने से अनेकान्त सिद्धान्त मे कोई बाधा नहीं आती है।

—जै. ग 8-1-70/VII/ रो. ला. जैन

चेतन व चैतन्य में कौन किसके आश्रय से रहता है ?

शंका—चेतन के आश्रय चैतन्य रहता है या चैतन्य के आश्रय चेतन रहता है ?

समाधान—चेतनद्रव्य और अचेतनद्रव्य इसप्रकार द्रव्य के दो भेद हैं। जिस द्रव्य मे चेतना या चैतन्यगुण पाया जावे वह चेतनद्रव्य है। जिस द्रव्य मे चेतना अर्थात् चैतन्यगुण न हो वह अचेतनद्रव्य है। इसप्रकार चेतनद्रव्य के चैतन्यगुण रहता है। कहा भी है—

"यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्य, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषण स गुणः।"

—प्रवचनसार गा० ८० टीका

अर्थ—जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है। जो अन्वय के आश्रय रहनेवाला चैतन्य है, यह विशेषण है वह गुण है।

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥५।४१॥" (मोक्ष शास्त्र)

यहाँ पर भी यह बतलाया गया है कि गुण सदा द्रव्य के आश्रय रहते हैं। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि चैतन्यगुण निरन्तर चेतनद्रव्य के आश्रय रहता है।

—जै. ग 16-7-70/...... / रो. ला. जैन

एकशरीरस्थ निगोदों के सुखदुःखानुभव असमान होते हैं

शंका—एक निगोद शरीर में रहने वाले अनन्त जीवों को दुःखानुभव एक प्रकार का होता है या उसमें कुछ अन्तर है ?

समाधान—एकनिगोद शरीर मे रहने वाले सभी जीवो के एक जैसे परिणाम नहीं होते हैं। किसी के तीव्रपरिणाम होते हैं और किसी के मंदपरिणाम होते हैं और उन तीव्र व मंद परिणामो के अनुसार ही तीव्र व मंद अनुभागसहित कर्मबन्ध होता है। जैसा कि "तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात भावाधिकरणवीर्य विशेषेभ्यस्तद्विशेषः" इस सूत्र मे कहा गया है। जैसा-जैसा अनुभाग उदय मे आता है, उसके अनुरूप ही सुख-दुःख का वेदन होता है, क्योंकि "विपाकोऽनुभवः" ऐसा सूत्र है। अतः सभी निगोदिया जीव एक ही प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करते हैं।

निगोदिया जीवों के परिणामों मे विभिन्नता होना अप्रसिद्ध भी नही है।

"णिगोदजीवा बादरा सुहुमा तिरिक्खेहि कालगदसमाणा कदिगदिओ गच्छति ? दुवे गदीओ गच्छन्ति तिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेदि।" धवल पु० ६ पृ० ४५७।

निगोद-जीव-बादर या सूक्ष्म तिर्यंचपर्याय से मरण करके कितनी गतियो मे जाते हैं ? दो गतियों मे जाते हैं (१) तिर्यंचगति (२) मनुष्यगति।

परिणामो की विभिन्नता के कारण ही निगोद जीव विभिन्न गतियो मे जाते हैं। यदि एक से परिणाम होते तो एक ही गति मे जाने का नियम होता, किंतु ऐसा नियम है नही। अतः सभी निगोद जीवो के सदृश परिणाम नही होते हैं, इसीलिये वे एक ही प्रकार के दु ख का अनुभव नही करते हैं।

—जै. ग 1-1-76/VIII/.... ...

आत्मा व जीव में कथंचित् अन्तर है

शंका—आत्मा और जीव मे क्या कोई अन्तर बताया जा सकता है ? यदि है तो क्या और कैसे ?

समाधान—"आत्मा" शब्द का अर्थ इसप्रकार है—

"अत् धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था." इति वचनात्। तेन कारणेन यथासभवं ज्ञानसुखादि गुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभमनोवचन-कायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्ता-दतति वर्तते यः स आत्मा।" वृ. द्र. स. गाथा ५७ की टीका।

अर्थ—'अत्' धातु निरतर गमन करने रूप अर्थ मे है और "सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं" इस वचन से यहाँ पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इसकारण जो यथासम्भव ज्ञान, सुखादि गुणो मे सर्वप्रकार वर्त्तता है, वह आत्मा है। अथवा शुभाशुभ मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा यथासम्भव तीव्रमदआदिरूप से जो पूर्ण-रूपेण वर्तता है वह आत्मा है। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इन तीनो धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्तता है, वह आत्मा है।

जीव शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

"आउआदिपाणाणं धारणं जीवणं त च अजोगिचरिमसमयादो उवरिणत्थि, सिद्धेसु पाणणिबधणट्ठकम्मा-भावादो, तम्हा सिद्धा ण जीवा, जीविदपुव्वा इदि।" धवल पु० १४ पृ० १३।

अर्थ—आयुप्रादि प्राणो को धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योकि सिद्धो के प्राणों के कारणभूत आठो कर्मों का अभाव है। इसलिये सिद्ध जीव नहीं हैं। अधिक से अधिक वे जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं।

इस अपेक्षा से जीव और आत्मा मे अन्तर है, किन्तु जो चेतन परिणामो से जीता है वह जीव है और जो जाने सो आत्मा इस अपेक्षा जीव और आत्मा में अन्तर नही, एकार्थवाची है।

—जै. ग. 10-8-72/X/ र. ला. जैन, मेरठ

आत्मा कथंचित् सर्वगत है

शंका—आत्मा सर्वव्यापी किसप्रकार है ?

समाधान—आत्मा के प्रदेश यद्यपि लोकाकाश प्रमाण असख्यात हैं तथापि ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी हैं, क्योंकि ज्ञान लोकालोक सर्वपदार्थों को जानता है। कहा भी है—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाण तु सव्वगयं ॥२३॥ प्रवचनसार
ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।
लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥१।१९॥ योगसार प्राभृत पृ० १२

जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को ज्ञानप्रमाण और ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण कहा है। ज्ञेय चूंकि लोकालोकरूप है अतः ज्ञान सर्वगत है। आत्मा ज्ञान प्रमाण होने से आत्मा भी सर्वगत है।

सिद्धो बोधमितिः स बोध उदितो ज्ञेयप्रमाणो भवेत्।
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदन्त्यात्मेति सर्वस्थितः ॥ पद्मनन्दि पं० ८।५

अर्थ—सिद्धजीव अपने ज्ञान के प्रमाण हैं और वह ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ज्ञेय भी लोक-अलोकस्वरूप हैं। इससे आत्मा सर्व व्यापक कहा जाता है। (प्रदेश की अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक नहीं है)।

—जै ग 23-9-71/VII/ रो ला मित्तल

शुद्धनिश्चयनय से आत्मा को कुछ भी हेय-उपादेय नहीं

शंका—अध्यात्मरहस्य ग्रंथ के ६५ वें श्लोक में कहा गया है कि 'परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के लिये न कुछ हेय और न उपादेय है।' प्रश्न यह है—क्या उच्च श्रेणी का योगी अपनी प्रवृत्ति मे हेय उपादेय बुद्धि नहीं रखता है ? क्या आहार लेते समय भी वह अभक्ष्य-भक्ष्य मे हेय उपादेय बुद्धि नहीं रखता ?

समाधान—परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे आत्मा शुद्ध है, उसमे न राग-द्वेष है और न क्रिया है। अतः शुद्धात्मा के लिये न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय, क्योंकि शुद्धात्मा ग्रहण नहीं करता है। जो ग्रहण करता है उसी के लिये ग्राह्य-अग्राह्य का विकल्प होता है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे आहार लेना ही सम्भव नही है अतः अभक्ष्य-भक्ष्य का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

"जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोग परिणामवत्। वस्तुतस्तुसूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येव।" समयसार पृ० १७५–१७६।

अर्थ—जीव और पुद्गल के सयोग (बंध) से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्व, रागादि भावप्रत्यय अशुद्धनिश्चयनय व अशुद्ध-उपादान की अपेक्षा जीवरूप हैं और शुद्धनिश्चयनय व शुद्ध उपादान की अपेक्षा मिथ्यात्व व रागादि अचेतन हैं पौद्गलिक हैं। परमार्थ एकान्त से न जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप हैं, जैसे चूना-हल्दी के सयोग से उत्पन्न होनेवाला लालरंग न चूनारूप है न हल्दीरूप है। वस्तुतः सूक्ष्म-शुद्धनिश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) की अपेक्षा से मिथ्यात्व, रागद्वेष हैं ही नहीं, क्योंकि परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे सब द्रव्य अपने-अपने स्वभाव मे ठहरे हुए शुद्ध हैं, बन्ध नहीं हैं।

— जै. ग. 29-1-70/VII/ शास्त्रसभा, ग्रीनपार्क, देहली

ऊर्ध्वगमन आत्मद्रव्य की शुद्ध पर्याय है, यह आत्मा का स्वभाव है, गुण नहीं

शंका—ऊर्ध्वगमन यदि आत्मा का स्वभाव है तो ऊर्ध्वगमन गुण है या पर्याय ? यदि गुण है तो उस गुण की शुद्ध तथा अशुद्ध कौनसी पर्याय है ? यदि ऊर्ध्वगमन पर्याय है तो वह किस गुण की है और वह ऊर्ध्वगमनपर्याय शुद्ध या अशुद्ध है ?

समाधान—ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है, किन्तु यह गुण नहीं है, पर्याय है और वह जीवद्रव्य की शुद्ध पर्याय है। इस विषय मे आगम इस प्रकार है "तथागतिपरिणामाच्चाग्निशिखावत् ॥६॥ (टीका) यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नाना गतिविकारण कर्म निवारणं सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहति। (वार्तिक) ऊर्ध्वगत्यभावे तदभाव प्रसंगोऽग्नेरौष्ण्याभावेऽभाववदिति चेन्न गत्यंतरनिवृत्त्यर्थत्वात् ॥९॥ (टीका) स्यान्मतं यथोष्णस्वभावस्याग्ने रौष्णयाभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगमनं स्वभावस्तदभावेऽभावः प्राप्नोतीति चेन्न। किं कारणं ? गत्यंतरनिवृत्त्यर्थत्वात्। तथा च मुक्तस्योर्ध्वमेवगमनं न दिगंतरगमनमित्ययं स्वभावो नोर्ध्वं गमनमेवेति। (वार्तिक) ऊर्ध्वज्वलनवद्वा ॥१०॥ (टीका) यथोर्ध्वज्वलनस्वभावत्वेऽप्यग्नेर्वेगवद् द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाग्नेर्विनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगति–स्वभावत्वेपि तदभावेभाव इति। अत्राह–ऊर्ध्वज्वलनस्वभावस्याग्नेर्वेगवदभि घातात्तिर्यग्ज्वलने सति विरोधादूर्ध्वज्वलनाभावो युक्तः। मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावादूर्ध्वगत्युपरमोनुपपन्न इत्युच्यते लोकांतान्नोर्ध्वगतिर्मुक्तस्य कुतः? (सूत्र) धर्मास्तिकायाभावात् ॥९॥ (टीका) गत्युपग्रहकारणभूतोधर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोक विभागाभावः प्रसज्यते।"

अर्थ—अग्निशिखा के समान जीव का गति स्वभाव है ॥६॥ जिस प्रकार तिरछा बहने का स्वभाव रखनेवाली वायु दीपक की शिखा को भी तिरछी कर देती है, परन्तु जब इस वायु का संबंध नहीं रहता है तब दीपक की शिखा अपने स्वभाव से ऊपर को ही जाती रहती है, क्योंकि, ऊपर को जाना ही दीपशिखा का स्वभाव है। उसी प्रकार नाना गतियो मे ले जाने मे कारणभूत कर्म का सर्वथा निवारण हो जाने पर वह अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव के कारण नियम से ऊपर को ही सीधा गमन करता है। ससार मे कर्मों की परतन्त्रतावश वह ऊर्ध्वगमन नही कर पाता था, परन्तु उस परतन्त्रता के दूर हो जाने पर वह अपने स्वभावानुसार वायुवेग से रहित दीपकशिखा के समान नियम से ऊर्ध्वगमन करता है। ऊर्ध्वगति के अभाव में जीव के अभाव का प्रसग आ जायगा, क्योंकि, उष्णता के अभाव मे अग्नि का अभाव हो जाता है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव दूसरी गति के निषेध के लिये है ॥९॥ जिसप्रकार अग्नि का उष्ण-स्वभाव है। यदि वह उष्णस्वभाव नही रहे तो अग्नि का भी अभाव हो जाय उसी प्रकार मुक्तजीव का यदि ऊर्ध्वगमनस्वभाव माना जाता है तो उसका जब ऊर्ध्वगमन होना रुक जाता है तब उस ऊर्ध्वगमनरूप स्वभाव का अभाव हो जाने से जीव का भी अभाव सिद्ध होता है ? यह कहना ठीक नहीं है कारण कि दूसरी गति के निषेध के लिये मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमनस्वभाव कहने का प्रयोजन यह है कि मुक्तजीव का ऊपर ही नियम से गमन होता है और किसी भी दिशा मे उसका गमन नहीं हो सकता है। यही मुक्त जीव का स्वभाव है, परन्तु ऊपर उसका सदैव गमन ही होता रहे यह स्वभाव नहीं माना गया है। इस विषय मे दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव नियम से ऊपर जाना है, परन्तु वेगवान द्रव्य के अभिघात से अग्नि का तिरछा गमन होने पर भी उसका नाश नहीं हो जाता है उसीप्रकार मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी अन्यत्र उस ऊर्ध्वगमन का अभाव होने पर भी जीव का अभाव नही हो सकता है। प्रश्न—यद्यपि अग्नि का ऊर्ध्वगमन करना स्वभाव है तो भी वेगवान् द्रव्य (वायु) की प्रेरणा से उसकी तिरछी ज्वाला के जलने पर ऊर्ध्वगमन का विरोध हो जाता है। इसलिये ऊर्ध्वगमन अग्नि का नहीं हो पाता है, परन्तु मुक्तजीव के तो ऊर्ध्व-

गमनस्वभाव के लोप होने का कोई कारण नहीं है। बिना किसी बाधक कारण के मुक्तजीव की ऊर्ध्वगति क्यों रुक जाती है ? मुक्तजीव की ऊर्ध्वगति लोक के अंततक ही होती है, उससे आगे अलोक मे मुक्तजीव की गति नहीं होती। आगे उसकी गति क्यो नहीं होती है इसके लिये सूत्र कहा गया है—धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अंत से आगे मुक्त जीव का गमन नही होता। गति के उपकार मे कारणभूत धर्मास्तिकाय का ऊपर अभाव है, अलोक मे मुक्त जीव के गमन का अभाव है। यदि धर्मास्तिकाय का गति मे उपकार नही माना जावे तो लोक–अलोक विभाग के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि निमित्त कारण के अभाव मे मुक्त (शुद्ध) जीव की ऊर्ध्वगति रुक जाती है।

—जै. सं. 13-6-57/...../ श्री दि. जैन स्वाध्याय मडल

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन

शंका—क्या आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है या आत्मा का स्वभाव निष्क्रिय है ?

समाधान—आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। कहा भी है—**विस्ससोड्ढगई/यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गति-जनककर्मोदयवशेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्ति लक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसास्वभावेनोर्ध्वगतिश्चेति** (बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ व टीका) **अर्थ**—जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यद्यपि व्यवहार से चारो गतियो को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदयवश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है फिर भी निश्चयनय से केवलज्ञानादि अनन्त गुणो की प्राप्तिस्वरूप जो मोक्ष है उसमें पहुँचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। **श्री राजवार्तिक अध्याय १० सूत्र ७** की वार्तिक ६ व टीका इस प्रकार है—**तथागतिपरिणामाच्चाग्निशिखावत् यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसम्बन्ध निरुत्सुका प्रदीपशिखा स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारणकर्मनिवारणं सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवारोहति। अर्थ**—जिसप्रकार तिरछी बहने का स्वभाव रखने वाली वायु, दीपक की शिखा को भी तिरछी कर देती है, परन्तु जब उस वायु का सम्बन्ध नहीं रहता है अर्थात् वायु का बहना जब बन्द हो जाता है तब दीपक की शिखा अपने स्वभाव से ऊपर को ही जाती रहती है, क्योकि ऊपर को जाना ही दीपशिखा का स्वभाव है उसी प्रकार नानागतियों मे ले जाने मे कारण-भूत कर्मों का सम्बन्ध रहने पर यह आत्मा भी गतियो मे गमन करता रहता था, परन्तु उन गतियो के कारणभूत कर्मों का सर्वथा निवारण हो जाने पर वह अपने ऊर्ध्वगतिस्वभाव के कारण नियम से ऊपर को ही सीधा गमन करता है अर्थात् जीव का ऊर्ध्वगमन करना ही स्वभाव है। **श्री पंचास्तिकाय गाथा २८** की टीका मे इसप्रकार है—

आत्मा हि परद्रव्यत्वात्कर्मरजसा साकल्येन यस्मिन्नेव क्षणे मुच्यते तस्मिन्नेवोर्ध्वगमनस्वभावत्वाल्लोकान्त-मधिगम्य परतो गतिहेतोरभावादवस्थितः। आत्मा जिससमय समस्त परद्रव्य कर्मरज से मुक्त होता है उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अन्त मे जाता है उसके आगे गतिहेतु (धर्मास्तिकाय) का अभाव होने से अवस्थित है।

क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है अर्थात् प्रदेशो मे हलन-चलन होना। इस लक्षण को पुद्गल और जीव मे घटित करके बताया है—**प्र. सा. गाथा १२९ टीकापरिस्पन्दनलक्षणक्रिया। ...... पुद्गलास्तु परिस्पन्द-स्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सहसंघातेन संहताः पुनर्भेदेनो-त्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। अर्थ**—पुद्गल तो क्रियावाले भी होते हैं, क्योकि परिस्पन्द द्वारा पृथक् पुद्गल एकत्र होते हैं और एकत्र मिले हुए पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं इसलिये वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी क्रियावाले भी होते हैं, क्योकि परिस्पन्द स्वभाव वाले होने से परिस्पन्द

के द्वारा कर्म-नोकर्म पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्र होने से और कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्र हुए जीव बाद में पृथक् होने से वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। श्री पंचास्तिकाय गाथा ९८ में भी क्रिया के विषय में श्री प्रवचनसार के अनुकूल ही कहा है जो इसप्रकार है—

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥

टीका—प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया। तत्र सक्रिया बहिरंगसाधनेन सहभूताः जीवाः सक्रियाबहिरंग साधनेन सहभूताः पुद्गलाः। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्निःक्रियत्वं सिद्धानां। अर्थ—जीव द्रव्य और पुद्गलकाय निमित्तभूत परद्रव्य की सहायता से क्रियावन्त होते हैं और शेष के जो चार द्रव्य हैं वे क्रियावन्त नहीं हैं। जीव तो पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं और पुद्गलस्कन्ध निश्चय करके कालद्रव्य के निमित्त से क्रियावन्त होते हैं ॥९८॥ प्रदेश से प्रदेशान्तर होने में कारणभूत जो परिस्पन्दनरूप पर्याय है वह क्रिया है। बहिरंग साधनों से होने वाली क्रिया-सहित जीव है और बहिरंग साधनो से होने वाले क्रियासहित पुद्गल हैं। जीवो के क्रियासहितपने के बहिरंगसाधन कर्म और नोकर्म का समूहरूप पुद्गल हैं इसलिये वे जीव-पुद्गलो का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं। कर्म नोकर्मरूप पुद्गल का अभाव होने से सिद्धो के नि:क्रियपना है।

श्री मोक्षशास्त्र मे भी धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य को निःक्रिय कहकर यह भाव प्रकट किया है कि शेष पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय क्रियावन्त हैं। श्री राजवार्तिक अ० ५ सूत्र ७ की टीका व वार्तिक १ मे क्रिया का लक्षण इसप्रकार कहा है—उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया ॥१॥ अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यम्, बाह्यं च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेत्युपदिश्यते। उभयनिमित्त इति विशेषणं द्रव्यस्वभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि द्रव्यस्वभावः स्यात् परिणामिनो द्रव्यस्याऽनुपरतक्रियत्वप्रसङ्गः। द्रव्यस्य पर्यायविशेष इति विशेषणम् अर्थान्तरभावनिवृत्त्यर्थम्। यदि हि क्रिया द्रव्या-र्थान्तरभूता स्यात् द्रव्यस्य निश्चलत्वप्रसङ्गः। देशान्तर प्राप्तिहेतुरिति विशेषणं ज्ञानादिरूपादिनिवृत्त्यर्थम्। अर्थ—उभयनिमित्त का अर्थ अभ्यन्तर और बाह्यकारण है। वहाँ पर क्रियारूप परिणमनशक्ति का धारक द्रव्य अन्तरंग कारण है और नोदन अर्थात् प्रेरणा का होना एवं अभिघात आदि अर्थात् धक्का आदि बाह्य कारण हैं। इन दोनो प्रकार के कारणो के द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्य के एक देश से दूसरे देश मे ले जाने मे कारण है ऐसी विशेष पर्याय का नाम क्रिया है। यहाँ क्रिया पदार्थविशेष है एवं उभयनिमित्तापेक्ष, पर्यायविशेष और द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्ति हेतु ये तीन उसके विशेषण हैं। किसी बात की व्यावृत्ति करना अथवा उसे व्यवहार मे ले आना यह विशेषण प्रयोग का प्रयोजन है। यहाँ पर जो उभयनिमित्तापेक्ष यह विशेषण दिया है वह क्रिया, द्रव्य का स्वभाव न समझा जावे, इस बात की निवृत्ति के लिये है। यदि क्रिया को द्रव्य का स्वभाव मान लिया जाएगा तो उस क्रिया का कभी अभाव तो होगा नहीं फिर द्रव्य सदा स्थिर न रहकर हलनचलनरूप ही रहेगा इसलिये क्रिया को द्रव्य के स्वभाव की निवृत्ति के लिये उभयनिमित्तापेक्ष विशेषण कार्यकारी है। पर्यायविशेष जो क्रिया को विशेषण दिया गया है वह क्रिया द्रव्य से भिन्न पदार्थ न समझा जाए इस बात को बताने के लिये है। यदि क्रिया को द्रव्य से सर्वथा भिन्न पदार्थ माना जाएगा तो द्रव्य सर्वथा निश्चल हो जाएगा। देशान्तर प्राप्ति हेतु जो विशेषण है वह आत्मा के अनादि गुणो की और पुद्गलों के रूपादि गुणों की निवृत्ति के लिये है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थो में क्रिया का जो लक्षण कहा है उससे स्पष्ट है कि 'क्रिया' से अभिप्राय वैभाविक-क्रिया का है अथवा समानजाति व असमानजाति द्रव्य-पर्याय मे परिस्पन्दरूप या हलन-चलनरूप जो क्रिया होती है

उससे है। जीव व पुद्गल में ही विभावरूप परिणमन करने की शक्ति है अतः इन दोनों ही द्रव्यों को सक्रिय कहा है। परिस्पन्दरूप शक्ति को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वभाव कहा है, किन्तु श्री अकलंकस्वामी ने इसे शक्ति तो कहा है परन्तु स्वभाव स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि यह वैभाविक शक्ति है। इस बात को वार्तिक १५ में स्पष्ट करते हैं—

शरीरवियोगे निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, अभ्युपगमात् ॥ १५ ॥ स्यान्मतम्—यस्य कार्मणशरीरसम्बन्धे सति तत्प्रणालिकापादिता क्रिया आत्मनोऽभिप्रेता तस्याष्टविधकर्मसंक्षये शरीरवियोगात् अशरीरस्यात्मनो निःक्रियत्वं प्रसक्तमिति; तन्न, किंकारणम् ? अभ्युपगमात्, कारणाभावात् कार्याभाव इति। कर्मनोकर्मनिमित्ता या क्रिया सा तदभावे नास्तीति निष्क्रियत्वं मुक्तस्याभ्युपगम्यतेऽस्माभिः। अथवा परनिमित्त क्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्तस्योर्ध्वगतिरभ्युपगम्यते प्रदीपवत्। अर्थ—शरीर का वियोग हो जाने पर निष्क्रियपने का प्रसंग आ जायगा ! यदि ऐसा कहते हो तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात हमें स्वीकार है ।। १५ ।। जो कार्मणशरीर का सम्बन्ध रहने पर आत्मा में क्रिया होती है ऐसा मानते हैं उनके मत में आठों प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर जिससमय आत्मा शरीर से जुदा होकर अशरीरी होगा उससमय वह निष्क्रिय माना जायगा ? ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बात हमें इष्ट है। कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है। कर्म व नोकर्म के निमित्त से होनेवाली क्रिया कर्म-नोकर्म के अभाव में नहीं होती, अतः मुक्त जीवों को हम निष्क्रिय मानते ही हैं। जिसप्रकार दीपक की लौ वायु का निमित्त दूर हो जाने पर ऊपर को स्वभाव से जाती है उसी प्रकार मुक्त जीवों के भी कर्मों का नाश हो जाने से परनिमित्तक क्रिया तो नहीं हो सकती, किन्तु स्वभाव सिद्ध ऊर्ध्वगमनरूप क्रिया मानी जाती है। इसप्रकार पर-निमित्तक क्रिया की अपेक्षा से शुद्धजीव का स्वभाव निष्क्रिय है, किन्तु स्वाभाविकक्रिया की अपेक्षा शुद्धजीव का स्वभाव सक्रिय है; ऐसा अनेकान्त से सिद्ध हो जाता है।

—जै. स 10-1-57/VI-VII/ दि. जै. स एत्मादपुर

पुद्गल : परमाणु

अनादि परमाणु कोई नहीं

शंका—क्या ऐसे शुद्धपुद्गल भी हैं जो अनादि से शुद्ध ही हैं और अनन्तकाल तक शुद्ध ही रहेंगे ?

समाधान—जो शुद्धपुद्गल है वह परमाणुरूप है। कहा भी है—**शुद्धपरमाणुरूपेण अवस्थान स्वभावद्रव्य-पर्यायः।" (पचास्तिकाय गाथा ५ पर श्री जयसेनाचार्य कृत टीका)** कोई भी पुद्गल परमाणु अनादिकाल से परमाणुरूप स्थित रहा हो, ऐसा नहीं है। **"न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति।" (राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र २५ वार्तिक १० टीका)** अर्थात् अनादिकाल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहने वाला कोई अणु नहीं है। अतः ऐसा कोई भी शुद्ध पुद्गल नहीं है जो अनादि से शुद्ध ही हो और अनन्तकाल तक शुद्ध ही रहेगा।[1]

—जै. ग. 5-4-62/ -- / नानकचन्द

---

१ परन्तु श्लोकवार्तिक २/१७३ में लिखा है "अनन्तानन्त परमाणु ऐसे हैं जो स्कन्ध अवस्था में प्राप्त नहीं हुए हैं, वे अनादि से परमाणुरूप हैं।" परन्तु वहाँ यह कथन भाषा टीका में है।

[भाषाटीकाकार—माणिकचन्दजी कौंदेय, न्यायाचार्य]—सम्पादक

शुद्ध पुद्‌गल एक समय से अधिक कालतक भी रहता है

शंका—क्या शुद्धपुद्‌गल केवल एकसमय मात्र ही शुद्ध रह सकता है ? कारण कि षट्‌गुणी वृद्धि से अशुद्धि आ जाती है।

समाधान—परमाणु शुद्धपुद्‌गल द्रव्य है। जब तक वह परमाणु द्वयणुकादि स्कन्धरूप से न परिणमन करे उस समय तक मात्र गुण में षट्‌गुणवृद्धि हो जाने से अशुद्धता नहीं आती। अशुद्धता द्वयणुक आदि स्कन्धरूप परिणमन करने पर आती है। "पुद्‌गलस्य कथ्यन्ते। शुद्धपरमाणवो वर्णादयः स्वभावगुणाः द्वयणुकादि स्कन्धे वर्णादयो विभावगुणाः शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थान स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमन स्वभावगुणपर्यायः। द्वयणुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः। तेष्वेव द्वयणुकादि स्कन्धेषुवर्णान्तरादिपरिणमन विभावगुणपर्यायाः।" (पंचास्तिकाय गाथा ५ श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) अर्थात्—'पुद्‌गल के विषय में कहते हैं। शुद्ध परमाणु के वर्णादिक स्वभावगुण हैं और द्वयणुक आदि स्कन्ध मे वर्णादि विभावगुण है। शुद्धपरमाणुरूप से रहना स्वभावद्रव्यपर्याय है और उस परमाणु के वर्णादि का अन्य वर्णादिरूप परिणमन करना स्वभावगुण पर्याय है। द्वयणुकादि स्कन्धरूप परिणमन विभाव द्रव्यपर्याय है और उन द्वयणुकादि स्कन्ध मे वर्णादि से अन्य वर्णादिरूप विभाव गुणपर्याय है।' "स्वभावगुणपर्याया अगुरुलघुकगुणषड्ढानिवृद्धिरूपाः। .... शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुकगुणषड्ढानिवृद्धिरूपेण स्वभावगुणपर्याय व्याख्यानकाले पूर्वमेव सर्वद्रव्याणां कथिताः।" (पंचास्तिकाय गाथा १६ श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) अगुरुलघुगुण के द्वारा षट्‌गुणहानिवृद्धिरूप स्वभाव गुणपर्याय है। यह ही शुद्ध अर्थपर्याय है जो क्षणक्षयी है, अत परमाणु मे जो षट्‌गुणवृद्धि होती है वह स्वभावगुणपर्याय है। अतः ऐसा नियम नहीं कि शुद्ध पुद्‌गल एकसमय मात्र ही शुद्ध रहता हो। जब तक वह द्वयणुकादि स्कन्धरूप नहीं परिणमन करता, वह शुद्ध रहता है और उसके गुणो मे परिणमन भी स्वाभाविक अर्थात् शुद्ध गुण पर्याय हैं।

जै. ग. 5-4-62/ ... / नानकचन्द

'तत्त्वार्थसूत्र' में बन्धविषयक नियम परमाणुओं के लिए हैं

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ ५ सूत्र ३६ में बध के लिये दो अधिक गुण का नियम बतलाया है वह स्कन्ध के लिये भी है या मात्र परमाणु के लिये है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) अध्याय ५ मे सूत्र ३३ से ३७ तक पुद्‌गल परमाणुओ के परस्पर बध का कथन है। सूत्र ३३ मे बध का साधारण नियम है और सूत्र ३६ मे विशेष नियम है। सूत्र ३३ की उत्थानिका मे (तत्त्वार्थवृत्ति टीका मे) श्री श्रुतसागर सूरि ने ये सूत्र परमाणु बध विषयक बतलाये हैं। वह उत्थानिका इसप्रकार है—

"अथ परमाणूनां परस्परबध निमित्तसूचनपरं सूत्रमुच्यते।"

अर्थ—अब परमाणुओ के परस्पर बध के कारणों को बतलाने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं।

—जै. ग. 7-8-67/VII/ र. ला जैन

कार्य परमाणु कारण परमाणु बन सकता है। कार्य परमाणु की जघन्यता का नियम नहीं

शंका—क्या भेद से होने वाले शुद्ध परमाणु का भी पुनः कभी बंध हो सकता है ? क्या कार्य परमाणु जघन्य परमाणु ही होता है ? क्या जघन्य परमाणु (कार्यपरमाणु) बदलकर कभी भी बंधयोग्य नहीं होता, अर्थात् जघन्यपरमाणु कभी भी कारणपरमाणु नहीं बनता ?

समाधान—'भेदादणुः', इस सूत्र द्वारा यह कहा गया है कि स्कंध के भेद से अणु की उत्पत्ति हो सकती है। यह अणु भेदरूपी क्रिया का कार्य होने से 'कार्यपरमाणु' कहा जाता है। इसमे स्निग्ध या रूक्ष के जघन्य अविभागपरिच्छेद हों, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। यदि जघन्य अविभागपरिच्छेद भी हो तो वे भी काल पाकर वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। कहा भी है—

"स्नेहादयो हि गुणाः परमाणौ प्रादुर्भवन्ति विगन्ति च।" [रा-वा-५।२५।७] अर्थात् परमाणु मे स्निग्ध आदि गुण हानिवृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जघन्यगुण वाला परमाणु भी, स्निग्ध या रूक्षगुण मे वृद्धि हो जाने पर, बंधयोग्य हो जाता है।

श्री पंचास्तिकाय गाथा ९८ की टीका मे भी कहा है।

"न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति "अत्र यथा शुद्धात्मानुभूतिबलेन कर्मक्षये जाते कर्म-नोकर्म पुद्गलानामभावात् सिद्धानां निःक्रियत्वं भवति न तथा पुद्गलानाम्। कस्मात् ? कालस्य सर्वदैव सर्वत्रैव विद्यमानत्वादित्यर्थः।"

अर्थात् जीवो के बन्ध का कारण कर्मोदय है और पुद्गल के बन्ध का कारण कालद्रव्य है। जिसप्रकार शुद्धात्मानुभूति से कर्मों का क्षय हो जाने पर कर्मनोकर्मरूप पुद्गलों का जीवो से प्रभाव हो जाता है और सिद्धजीव पुनः बन्ध को प्राप्त नहीं होते; उसप्रकार पुद्गलपरमाणु स्कन्ध से पृथक् हो जाने पर पुनः बन्ध को प्राप्त न हो ऐसा नही है, क्योकि कालद्रव्य सर्वदा और सर्वत्र विद्यमान रहता है, जिसके कारण कार्यपुद्गलपरमाणु पुनः बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जै. ग. 12-6-67/IV/ मू. च आरती

भिन्न-भिन्न परमाणुओं में भिन्न-भिन्न वर्ण

शंका—वर्णगुण के अविभागप्रतिच्छेद भी परमाणु में होते हैं और वह भी स्पर्श की तरह अनन्त तक बढ़ते हैं या नहीं। वर्णगुण की पाँच पर्यायें हैं, उन पाँच पर्यायों में से स्पर्शगुण की कौनसी पर्याय होती है ? क्या सभी परमाणुओं में एकसा वर्ण होता है या भिन्न-भिन्न वर्ण होते हैं।

समाधान—वर्णगुण के अविभागप्रतिच्छेद भी परमाणु मे घटते-बढ़ते रहते हैं। "शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः।" (पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका)

अर्थात्—शुद्धपरमाणु मे वर्ण से वर्णान्तररूप परिणमन होना स्वभावगुणपर्याय है।

इससे सिद्ध होता है एक ही वर्ण के अविभागप्रतिच्छेदो मे हीनाधिक होना अथवा एकवर्ण से दूसरे वर्णरूप होना यह परमाणु मे स्वभाव-गुण-पर्याय है। परमाणु मे एक ही वर्ण के जघन्यअविभागप्रतिच्छेद से बढ़कर उत्कृष्टअविभागप्रतिच्छेद भी हो सकते हैं और वर्णगुण की एकपर्याय से दूसरीपर्याय भी हो सकती है। सभी परमाणुओं मे वर्णगुण की एक ही पर्याय हो ऐसा नियम नही है। भिन्न-भिन्न परमाणु भिन्न-भिन्न वर्णवाले हो सकते हैं।

—जै. ग. 26-6-67/IX/ र. ला. जैन

परमाणु में शक्तिरूप से भी गुरु लघु आदि नहीं

शंका—जैनसंदेश में लिखा है कि "गुरु, लघु, मृदु, कठिनस्पर्शरूप परिणत हुए स्कन्धरूप होने की शक्ति के योग से परमाणु को इन स्पर्शवाला भी कहा जा सकता है। परमाणु में सर्वथा इनका निषेध करने से तो स्कन्ध में भी उनका दर्शन होना सम्भव नहीं है" क्या परमाणु में गुरु, लघु, मृदु, कठिनस्पर्श है ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ८१ मे परमाणु मे दो-दो स्पर्श बतलाये हैं। शीत-उष्ण मे से कोई एक तथा स्निग्ध रूक्ष मे से कोई एक। इसप्रकार परमाणु मे दो स्पर्श होते हैं। किसी भी आचार्य ने परमाणु मे शक्ति या व्यक्तिरूप से गुरुलघु या मृदु-कठिन स्पर्श का निर्देश नही किया है। एक परमाणु मे दूसरे परमाणुओं के साथ बन्ध को प्राप्त होने की शक्ति है, क्योंकि उसमे स्निग्ध या रूक्षगुण है। स्कंध अवस्था मे गुरु-लघु या मृदु-कठिनस्पर्श होते हैं। परमाणु मे इन गुरु आदि स्पर्शो को मानने से आगम से विरोध आ जायगा। आगम का कुतर्क के द्वारा खण्डन करना उचित नही है, क्योंकि आगम तर्क का विषय नही है ? **(धवल पु. १४ पृ. १५१)।**

—जै. ग. 7-2-66/X/र. ला. जैन

परमाणु का स्व-रूप से रहने का काल

शंका—पुद्गलपरमाणु क्या कभी स्कन्ध से पृथक् होता है ? उसका परमाणुरूप से रहने का उत्कृष्ट काल कितना है ?

समाधान—पुद्गलपरमाणु स्कन्ध से पृथक् होता है क्योंकि **तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र २७ 'भेदादणुः' से** सिद्ध है कि स्कन्ध के भेद से अणु की उत्पत्ति होती है। अणु स्कन्ध को भी प्राप्त होते हैं और पृथक् होकर अणु-रूप हो जाते हैं। अनादिकाल से अब तक परमाणु की अवस्था मे ही रहनेवाला कोई अणु नही है **(राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र २२ वार्तिक १०)**। पुद्गलपरमाणु का परमाणुरूप से रहने का कोई नियतकाल नहीं है। कोई परमाणु दूसरे समय मे स्कन्ध से बंध जाता है और कोई बहुत कालतक स्कन्धपने को प्राप्त नही होता।

—जै. ग 4-4-63/IX/ शान्तिलाल

परमाणु में कर्णेन्द्रिय-ग्राह्यत्व नहीं। शब्दगुण नहीं पर्याय है

शंका—'जैनसंदेश' में प्रवचनसार गाथा २।४० की टीका उद्धृत करके लिखा है—"यहाँ परमाणु में शक्तिरूप से इन्द्रियग्राह्यता स्वीकार की है। अतः जैसे परमाणु मे शक्तिरूप से अन्य इंद्रियसंबंधी ग्राह्यता है वैसे ही कर्णेन्द्रियसबंधी ग्राह्यता भी है।" क्या यह निष्कर्ष ठीक है ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा २।४० मे परमाणु की इन्द्रियग्राह्यता का कथन ही नहीं है, किन्तु वहाँ पर तो स्पर्श रस गंध वर्ण, इन चार गुणो की इन्द्रिय ग्राह्यता का कथन है जो इस प्रकार है—

"इंद्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगंधवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते।"

अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं, क्योंकि वे इन्द्रियो के विषय हैं। इन्द्रियग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही वे स्पर्श आदि गुण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हो या ग्रहण न किये जाते हों

तथापि वे एक द्रव्यात्मक सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वी स्कन्धतक के समस्त पुद्गलों के साधारणरूप से पाये जाते हैं, किन्तु अन्य द्रव्यो मे नही रहने से ये स्पर्श आदि विशेष गुण हैं।

इसी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि शब्द यद्यपि इंद्रियग्राह्य है तथापि वह गुण नही है, किन्तु शब्द तो पुद्गल की स्कधपर्याय है। पर्याय का लक्षण कादाचित्कत्व है अर्थात् अनित्यत्व है और गुण का लक्षण नित्यत्व है। शब्द नित्य नहीं है इसलिये शब्दगुण नही है, किन्तु पुद्गल की पर्याय है। यदि शब्द पुद्गल की पर्याय है तो वह समस्त इंद्रियो के द्वारा ग्राह्य होना चाहिये जैसे पृथिवी पुद्गल की पर्याय है और समस्त इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य है, ऐसी शंका ठीक नही है, क्योकि जैसे जल घ्राणइंद्रिय का विषय नही है अग्नि घ्राण और रसना इन्द्रियों का विषय नहीं है, और वायु घ्राण, रसना तथा चक्षुइंद्रिय का विषय नही है वैसे ही शब्द भी कर्ण के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियो का विषय नही है, किन्तु जल, अग्नि, वायु और शब्द मे स्पर्श आदि चारो ही गुण विद्यमान हैं।

इस टीका से यह निष्कर्ष नही निकलता कि परमाणु मे कर्णइंद्रियसम्बन्धी ग्राह्यता है। पुद्गल की शब्द-रूप स्कध पर्याय मे कर्णइन्द्रियसम्बन्धी ग्राह्यता है। परमाणु मे शब्दरूप स्कधपर्याय का अभाव है इसलिये उसमे कर्णइन्द्रियसम्बन्धी ग्राह्यता नही है, किन्तु उसमे स्पर्श, रस, गध, वर्णगुण विद्यमान हैं, इसलिये परमाणु के स्पर्श आदि गुणों मे स्पर्शनादि इंद्रियो द्वारा ग्राह्यता है।

यह बात सत्य है कि पुद्गल मे शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है, अन्य पाँचद्रव्यों मे अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्यो मे शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति नही है, इसीलिये 'शब्द' पुद्गल की पर्याय है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि प्रत्येक पुद्गलद्रव्य मे शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो अव्यवस्था हो जायगी। उपादान का नियम न ठहरे। यद्यपि मृत्तिका और तन्तु दोनो पुद्गल हैं, किन्तु मृतिका मे घटरूप परिणमन शक्ति है, तन्तु मे घटरूप परिणमनशक्ति नही है इसीप्रकार भाषा-वर्गणाओ मे शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है अन्य पुद्गल २२ वर्गणाओ मे शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति नही है, अन्यथा कार्माणवर्गणा भी शब्दरूप परिणम जायेगी, मृत्तिका से पट (कपडा) बन जायगा और तन्तु से घट बन जायगा।

पुद्गल परमाणु में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है। बन्ध होने पर जब पुद्गल परमाणुओ का समूह भाषावर्गणारूप परिणम जाता है तब उनमे शब्दरूप परिणमन करने की पर्याय-शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

—जै. ग. 7-2-66/X/र ला जैन

परमाणु में स्पर्शादि चारों गुण व्यक्त हैं स्कन्ध में कोई गुण व्यक्त तथा कोई अव्यक्त होते हैं

शंका—"किन्हीं परमाणुओं मे कोई गुण व्यक्त होता है और किन्ही में कोई गुण अव्यक्त रहता है" ऐसा 'जैन-संदेश' में लिखा है। परमाणु में रूप, रस, गंध, स्पर्श इनमें से कोई गुण व्यक्त और कोई गुण अव्यक्त रहते हैं क्या ? कैसे ?

समाधान—परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण मे चारो गुण व्यक्त रहते हैं। इनमे से कोई भी अव्यक्त नही रहता है। परमाणु जब पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप स्कन्ध मे परिणमन कर जाता है तब उसमें कोई गुण मुख्य (व्यक्त) हो जाता है और कोई गुण गौण (अव्यक्त) हो जाता है। स्पर्शगुण के आठ भेद हैं स्निग्ध-रूक्ष, शीत-उष्ण, हलका-भारी, कोमल–कठोर। स्पर्शगुण के इन चार युगलो मे परमाणुओ मे स्निग्ध-रूक्ष शीतोष्ण, ये दो युगल पाये जाते हैं और हल्का–भारी तथा कोमल कठोर इन दो युगलो का अभाव है। बंध होने पर स्कन्ध अवस्था

मे हलका–भारी कोमल-कठोर ये गुण उत्पन्न होंगे। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सत् का नाश और असत् का उत्पाद नही होता, किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता रहता है। श्री कुन्दकुन्द भगवान ने कहा भी है—

एवं सदो विणासो असदो, जीवस्स होई उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिद, अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥ ५४ ॥

भावो के द्वारा जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। पूर्व मे जो यह कहा गया है कि सत् का विनाश नही होता और असत् का उत्पाद नही है, यद्यपि यह कथन उसके विरुद्ध है तथापि नय विवक्षा से विरुद्ध नही भी है अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से सत् द्रव्य का विनाश और असत् द्रव्य का उत्पाद नहीं होता, किन्तु पर्यायार्थिकनय से सत् पर्याय का नाश और असत् पर्याय का उत्पाद होता है। दोनो नय परस्पर सापेक्ष हैं।

जिनके मात्र द्रव्यार्थिकनय का एकान्त है अर्थात् ऐसे एकान्त मिथ्यादृष्टियो के मत मे असत् का उत्पाद और सत् का विनाश नही होता। किन्तु स्याद्वादियो को दोनो इष्ट हैं, उनको किसी का एकान्त आग्रह नहीं है।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा पुद्गलपरमाणु का उत्पाद भी नही है और विनाश भी नही है, किन्तु पर्यायार्थिक नय से बंध हो जानेपर स्कंध अवस्था मे परमाणु अवस्था (पर्याय) का नाश हो जाता है और स्कन्ध से पृथक् होने पर अर्थात् भेद होने पर परमाणु का उत्पाद होता है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ मे कहा भी है "भेदादणुः" परमाणु अचाक्षुष है, किन्तु स्थूल स्कन्धपर्याय होने पर चाक्षुष हो जाता है। परमाणु मे हलका-भारी कोमल-कठोर स्पर्शगुणो का अभाव है, किन्तु स्कन्धपर्याय मे ये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। परमाणु मे ये गुण अव्यक्त भी नही है। यदि परमाणु में कोमल-कठोर हलका-भारी अव्यक्त होते तो केवलज्ञानी को तो ये व्यक्तरूप मे दिखाई देते, किन्तु सर्वज्ञ ने परमाणु मे कोमल-कठोर हलका-भारी गुणो का अभाव बतलाया है।

—जैं ग 7-2-66/IX/ र ला. जैन

परमाणु की स्निग्धता-रूक्षता की हानि-वृद्धि भी शुद्ध परिणमन है

शंका—जब जघन्य अंशवाला शुद्ध परमाणु दो अंशरूप परिणमता है तो निमित्त कौन होता है? एवं यह परिणमन स्वभाव है अथवा विभाव?

समाधान—जब जघन्य अंशवाला परमाणु दो अंशरूप परिणमता है तो उस परिणमन मे कालद्रव्य निमित्त होता है। पंचास्तिकाय मे कहा भी है—

"पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंग साधनं परिणाम निर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः।"

(गाथा ९८ टीका)

अर्थ—पुद्गलों को सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादककाल है, इसलिये पुद्गल कालकरण वाले हैं।

परमाणु के गुणों मे जो परिणमन होता है। वह स्वभाव परिणमन है।

'शुद्ध परमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः।'

(पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका)

अर्थ—शुद्ध परमाणुरूप से रहना सो स्वभावद्रव्यपर्याय है। शुद्धपरमाणु मे वर्णादि से अन्य वर्णादिरूप परिणमना स्वभावगुणपर्याय है।

परमाणु शुद्धद्रव्य है, अतः उसके गुण भी शुद्ध हैं, अतः उन गुणो मे जो परिणमन होता है वह स्वभाव-परिणमन है। जब वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है तो वह द्वचणुक आदि स्कन्धरूप अशुद्धपुद्गलद्रव्यपर्याय हो जाती है अतः उसके गुण भी अशुद्ध हो जाते हैं और उन गुणो का परिणमन भी विभाव परिणमन होता है।

इसीप्रकार आत्मा की भी संसार अवस्था मे पौद्गलिक कर्मों से बंध के कारण असमानजाति अशुद्धद्रव्य-पर्याय हो रही है। संसारी जीव के गुण और उन गुणो का परिणमन भी अशुद्ध हो रहा है, क्योंकि आत्मद्रव्य अशुद्ध हो रहा है। द्रव्य के शुद्ध होने पर गुण शुद्ध होगे और द्रव्यपर्याय व गुणपर्यायें शुद्ध होगी।

जबतक परमाणु बंध को प्राप्त नही हुआ अर्थात् अबंध अवस्था है वह स्वयं शुद्ध है और उसके गुणों का परिणमन स्वाभाविक परिणमन है।

—जै. ग. 15-1-70/VII/ राजकिशोर

वनस्पति के कारण को कारण परमाणु नहीं कहा

शंका—नियमसार गाथा २५ में कहा है 'जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का कारण है, वह कारण परमाणु है' जो वनस्पति का कारण है, उसे कारण परमाणु क्यों नहीं कहा जबकि वनस्पतिरूप स्कन्ध का भी कारण नियम से परमाणु ही है।

समाधान—नियमसार गाथा २५ इस प्रकार है—

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो। खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ॥२५॥ नि. सा. चार धातुओ का जो कारण है, उसको कारण परमाणु कहा है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार धातुयें मानी गई हैं। इन चारों धातुओ का कारणपरमाणु एक ही प्रकार का है। जैसा बाह्य निमित्त मिलता है वह परमाणु उस धातुरूप परिणम जाता है। चार धातुओ के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणु कारण नहीं हैं जैसा कि अन्य मतवालो ने माना है। परमाणु एक ही प्रकार का है, वह बाह्य निमित्तो के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि—वायुरूप परिणमन कर जाता है। वनस्पति धातु नहीं है। वनस्पति के लिये पृथ्वी आदि धातुएँ कारण होती हैं। अतः वनस्पति के लिए जो कारण है, उसे कारण परमाणु नही कहा गया।

—पत्राचार/ ज ला जैन, भीण्डर

स्कन्ध व परमाणु दोनों द्रव्य हैं। सर्व परमाणुओं की समान पर्यायें नहीं होती हैं

शंका—पुद्गलद्रव्य परमाणु को कहा या स्कंध को ? यदि स्कन्ध भी पुद्गलद्रव्य है तो क्या वह शुद्ध है ? क्या प्रत्येक परमाणु में एकसी शक्ति होती है ?

समाधान—परमाणु भी पुद्गलद्रव्य है और स्कन्ध भी पुद्गलद्रव्य है।

"अणवस्कन्धाश्च ॥२५॥ (तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५)

इस सूत्र द्वारा अणु और स्कन्ध दोनों को पुद्गलद्रव्य बतलाया है। परमाणु पुद्गल की शुद्धपर्याय अर्थात् स्वभावपर्याय है। स्कन्ध पुद्गलद्रव्य की विभावपर्याय अर्थात् अशुद्धपर्याय है। पंचास्तिकाय में कहा भी है—

"शुद्धपरमाणु रूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः, द्वय-णुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः तेष्वेव द्वयणुकादिस्कन्धेषु वर्णान्तरादिपरिणमनं विभावगुणपर्यायाः।"
(पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका)

शुद्धपरमाणु पुद्गल की स्वभावद्रव्यपर्याय है और द्वयणुक आदि स्कन्ध पुद्गल की विभाव अर्थात् अशुद्धपर्याय है।

सर्व परमाणुओं मे गुणपर्याय एक प्रकार की नहीं होती है। कोई परमाणु स्निग्ध है, कोई रूक्ष है। कोई परमाणु शीत है, कोई परमाणु उष्ण है। इसीप्रकार रस, गंध, वर्णगुणों की पर्यायों मे भी अन्तर सम्भव है।
—जै. ग. 13-8-70/IX/ .. ....

१. परमाणु स्वयं अशब्द है
२. एक पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं होती

शंका—परमाणु जब स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला है तो वह शब्दरूप क्यों नहीं परिणमन करता है ?

समाधान—पुद्गल की अणु और स्कंध ये दो पर्यायें हैं। श्री कुंदकुंदाचार्य ने नियमसार मे कहा भी है—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ॥२८॥

संस्कृत टीका—परमाणुपर्य्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्य्यायः। स्कन्धपर्य्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वाद-शुद्धः इति ॥

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अन्यद्रव्य निरपेक्ष होने से परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की स्वभाव अर्थात् शुद्धपर्याय है। स्वजातीयबंध के कारण स्कंधरूप पर्याय पुद्गल की विभाव अर्थात् अशुद्धपर्याय है।

अणुरूप पर्याय मे स्कंधरूप पर्याय का अभाव है, क्योंकि भिन्न-भिन्न पर्यायों मे परस्पर इतरेतरअभाव होता है। कहा भी है—

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्रसमवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥१०५॥ (जयधवल पु. १ पृ. २५१)

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी कृत अर्थ—एकद्रव्य की एकपर्याय का उसकी दूसरी पर्याय मे जो अभाव है उसे अन्यापोह या इतरेतराभाव कहते हैं। इस इतरेतराभाव के अपलाप करने पर प्रतिनियत द्रव्य की सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं। विशेषार्थ—आशय यह है कि इतरेतराभाव को नहीं मानने पर एकद्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहता, सब पर्यायें सब रूप हो जाती हैं।

जिससमय परमाणुरूप पर्याय है उससमय स्कन्धरूप पर्याय नहीं है, क्योंकि पर्यायें क्रम-क्रम से होती हैं। कहा भी है—

क्रमवर्तिनः पर्यायाः ॥९२॥ (आलापपद्धति)

क्रमभाविनः पर्यायाः (नयचक्र पृ. ५७)

शब्द स्कन्धरूप पर्याय है, जैसा कि श्री कुंदकुंदाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है—

सद्दो खंधप्पभवो, खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि, सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥७९॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—"इह हि बाह्य श्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनिः शब्दः । स खलु स्वरूपेणानंतपरमाणूनामेकस्कंधो नाम पर्यायः ।"

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—"द्विविधा स्कंधा भवन्ति भाषावर्गणायोग्या ये तेऽभ्यंतरे कारणभूताः सूक्ष्मास्ते च निरंतरं लोके तिष्ठन्ति, ये तु बहिरंगकारणभूतास्ताल्वोष्ठपुटव्यापारघंटाभिघातमेघादयस्ते स्थूलाः क्वापि क्वापि तिष्ठन्ति न सर्वत्र यत्रेयमुभयसामग्री समुदिता तत्र भाषावर्गणाः शब्दरूपेण परिणमन्ति न सर्वत्र ।"

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि शब्द स्कन्ध-प्रभव है अर्थात् भाषावर्गणारूप स्कंध की पर्याय है और अनन्तपरमाणुओं के परस्पर बंध होने पर अर्थात् एकीभाव को प्राप्त होने पर भाषा-वर्गणारूप स्कंध होता है, क्योंकि 'एकीभावो बन्धः' एकीभाव को प्राप्त होना बंध है ये भाषा वर्गणायें संसार में सर्वत्र तिष्ठ रही हैं । किन्तु भाषावर्गणा को शब्दरूप परिणमाने में बहिरंग कारण ओठ आदि का व्यापार तथा घंटा आदि का हिलना व मेघादिक का संयोग लोक में सर्व ठिकाने नहीं है, कहीं—कहीं पर है । जहाँ पर यह बहिरंग कारण मिलता है वहाँ पर ही भाषावर्गणा शब्दरूप परिणम जाती है ।

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु ।
सो णेओ परमाणू, परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥

परमाणु आदेशमात्र से मूर्त है, चार धातुओं का (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) कारण है, परिणमन स्वभाववाला है (वर्ण से वर्णान्तर, रस से रसान्तर इत्यादि) और स्वयं अशब्द है (भाषावर्गणारूप स्कंध न होने से परमाणु शब्दरूप नहीं परिणम सकता) ।

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो ॥ १६३ ॥ [प्रवचनसार]

संस्कृत टीका—"स्वयमनेक परमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च ।"

परमाणु अप्रदेशी है तथा प्रदेशमात्र है और अनेक परमाणुद्रव्यात्मक स्कंधरूप शब्द पर्यायरूप स्वयं परिणमन न होने से अशब्द है ।

परमाणुरूप पर्याय में भाषावर्गणारूप स्कन्धपर्याय का अभाव होने से परमाणु स्वयं अशब्द है ।

—जै. ग. 6-7-72/IX/ र. ला. जैन

शब्द गुण नहीं है, किन्तु पर्याय है

शंका—शब्द को यदि गुण माना जाय तो क्या यह योग्य नहीं है ?

समाधान—शब्द को यदि गुण माना जाय तो उसका कभी नाश नहीं होना चाहिये। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के सदृश शब्द भी पुद्गल की प्रत्येक अवस्था मे रहना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। स्कन्धो के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥
आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥
सद्दो खंधप्पभवो परमाणु सगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥७९॥ पंचास्तिकाय

यहाँ पर गाथा ७७ व ७८ मे यह बतलाया गया है कि परमाणु स्वयं अशब्द है। गाथा ७९ मे बतलाया है कि शब्द स्कन्धजन्य है। स्कन्धो के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—"शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समंततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र तत्र बहिरंगकारणसामग्रीसमुदेति तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं विपरिणमत इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कंधप्रभवत्वमिति।" [पं० का० गा० ७९ त० दी०]

शब्दयोग्य वर्गणाओ से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ-जहाँ बहिरंग कारणसामग्री उदित होती है वहाँ-वहाँ वे भाषा वर्गणाएँ शब्दरूप से स्वयं परिणमित होती हैं। इसप्रकार शब्द अवश्य ही उत्पाद्य है इसलिये वह स्कन्ध-जन्य है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि शब्द के योग्य पुद्गलवर्गणाएँ अर्थात् शब्द का उपादानकारण तो लोक मे सर्वत्र है, किन्तु निमित्त-कारण के अभाव मे वे उपादान-कारणरूप वर्गणाएँ शब्दरूप स्वयं नही परिणम सकती। जहाँ जहाँ निमित्तकारण मिलता है वहाँ-वहाँ वह उपादानकारणरूप वर्गणा ही शब्दरूप परिणमती हैं, अन्य पुद्गल स्कन्ध शब्दरूप नही परिणमता इसलिये स्वयं परिणमती हैं ऐसा कहा गया है। अतरंग और बहिरंग कारणो से शब्द की उत्पत्ति होती है, इसलिये शब्द गुण नही हो सकता वह पर्याय है, क्योंकि गुण की उत्पत्ति या विनाश नही होता है।

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥ १६ ॥ द्रव्यसंग्रह

यहाँ पर 'सद्दो' शब्द द्वारा यह बतलाया गया है कि शब्द पुद्गलद्रव्य की पर्याय है इससे शब्द के गुण होने का निषेध हो जाता है।

—जै. ग. 15-6-72/VII/ टो. ला. जैन

पुद्गल परमाणु में वैभाविक पर्याय शक्ति नहीं है

शंका—परमाणु पुद्गलद्रव्य की स्वभावपर्याय है तथा द्वयणुक आदि पुद्गल की विभावद्रव्यपर्याय है। यदि पुद्गल में विभावशक्ति न होती तो पुद्गलपरमाणु का बन्ध होकर विभावरूप परिणमन नहीं हो सकता था। अतः पुद्गलद्रव्य में वैभाविकद्रव्यशक्ति है ऐसा क्यों न माना जाय?

समाधान—परमाणु के बन्ध का कारण स्निग्ध व रूक्ष गुण है। कहा भी है—

"स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥५।३३॥" (तत्त्वार्थ सूत्र)

स्निग्धत्व और रूक्षत्व के कारण पुद्गलपरमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है और इसमे सहकारीकारण कालद्रव्य है। कहा भी है—

"खंधा खलु काल करणा दु।"

पुद्गलपरमाणुओं का परस्पर बंध हो जाने पर द्वयणुक आदि स्कन्धरूप समानजाति-द्रव्य-पर्याय उत्पन्न हो जाती है जो विभावपर्याय है।

परमाणु मे नरम, कठोर, हलका, भारी स्पर्श नहीं है, किन्तु बंध होकर स्थूल स्कन्ध बन जाने पर उनमे नरम-कठोर तथा हलका-भारी स्पर्श उत्पन्न हो जाते हैं इसीप्रकार पुद्गलपरमाणु मे जल धारण करने की शक्ति या कर्णइन्द्रिय का विषय होने की शक्ति नहीं है, किन्तु पुद्गल परमाणुओ का बन्ध होकर घटरूप परिणमन होने पर जल धारण करने की नवीन पर्यायशक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा भाषावर्गणास्कन्धरूप परिणमन होने पर कर्ण-इन्द्रिय का विषय होने की नवीन पर्यायशक्ति उत्पन्न हो जाती है। घटपर्याय का व्यय हो जाने पर जल-धारण करने की पर्यायशक्ति नष्ट हो जाती है। भाषावर्गणारूप स्कन्ध का विघटन हो जाने पर कर्ण-इन्द्रिय के विषय होने की शक्ति का भी अभाव हो जाता है। इसप्रकार पर्यायशक्ति उत्पन्न होती रहती है, और विनष्ट होती रहती है। परमाणुओं का परस्पर बंध हो जाने पर पुद्गलपरमाणुरूप शुद्धपर्याय का अभाव होकर (व्यय होकर) स्कन्धरूप अशुद्धपर्याय उत्पन्न हो जाती है। और विभावरूप परिणमन होने लगता है। विभावरूप परिणमन को वैभाविक-शक्ति भी कह दिया तो कोई विशेष आपत्ति नही है, किन्तु अशुद्धद्रव्य की पर्यायशक्ति है द्रव्यशक्ति नही है। अशुद्ध-पर्याय का व्यय होने पर और अशुद्धपर्याय का उत्पाद होने पर इस पर्यायशक्ति का भी अभाव हो जाता है। किसी भी आर्षग्रन्थ में वैभाविक-द्रव्यशक्ति का उल्लेख नहीं है फिर उसको कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? पर्यायशक्ति के लिये प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २०० देखना चाहिये।

—जै ग 25-6-70/VII/ का ना. कोठारी

पुद्गलों (परमाणुओं) के बन्ध का नियम एवं मतवैभिन्य

शंका—परमाणु के बन्ध के विषय में तत्त्वार्थसूत्रकार से धवल का मत भिन्न है या तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों से धवल का मत भिन्न है ? सर्वार्थसिद्धि में सम्पादक पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने पृ० २३० पर बताया है कि "तत्त्वार्थसूत्र [५।३३–३७] एवं प्रवचनसार [गाथा १६६ की टीकाद्वय] का मत एक है, परन्तु षट्खंडागम [धवल पु० १४ पृ० ३३ गाथा ३६] में कही गई बन्ध-व्यवस्था इससे कुछ भिन्न है।" इस पर विशेष स्पष्टीकरण देने की कृपा करें।

समाधान—'तत्त्वार्थसूत्र' मे परमाणुओं के बन्ध होने मे दो सूत्र [निषेधात्मक] हैं। जघन्य गुण (अविभाग प्रतिच्छेद) वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता। दूसरे, जिन सदृशपरमाणुओं के गुणसमान हो उनका परस्पर बन्ध नहीं होता। सदृश परमाणुओं में यदि दो गुण अधिक हो तो बन्ध हो सकता है। रूक्ष व रूक्ष परस्पर सदृश हैं। स्निग्ध व स्निग्ध परस्पर सदृश हैं, किन्तु रूक्ष व स्निग्ध परस्पर सदृश नहीं हैं, किन्तु विसदृश हैं।

परन्तु श्री पूज्यपाद आचार्य और इनके पश्चात् होने वाले अकलंकदेव आदि ने भी "सदृश" को गौण करके "सदृश तथा विदृश दोनों में गुणों की समानता होने पर बन्ध नहीं होता" ऐसा अर्थ कर दिया है। परन्तु मूल सूत्रकार के सूत्र से यह अर्थ नहीं निकलता। अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए शब्द ही माध्यम है। शब्दों का जो अर्थ होता है वही ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

'धवल' से तत्त्वार्थसूत्रकार का मत भिन्न नहीं है, किन्तु टीकाकारों का मत भिन्न है; ऐसा पं० फूलचन्द्रजी सा० को लिखना चाहिए था। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'तत्त्वार्थसार' लिखा है। उन्होंने भी श्री पूज्यपादाचार्य को Follow किया है। श्री वीरसेनाचार्य ने श्री पूज्यपाद को Follow नहीं किया, किन्तु मूल ग्रन्थकर्ता (उमास्वामी) के शब्दों का अर्थ किया है।

अथवा इस सम्बन्ध में आचार्यों के दो भिन्न मत हैं। "जघन्यगुण और दो गुण अधिक" समझने के लिए धवल पु० १४ पृ० ४५० व ४५१ देखने चाहिए।

—पत्र 15-4-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

शंका—'तत्त्वार्थसूत्र' का 'धवला' से बन्धनियमविषयक मतभेद हो, ऐसा नजर नहीं आता। "सदृशानां" शब्द भी अवलोकनीय है। इस विषय में कृपया आप स्पष्टीकरण देवें। साथ ही धवलाकार के मतानुसार विदृशों में जब समगुणबन्ध एवं अद्व्यधिक बन्ध स्वीकृत है तो "बन्धेऽधिकौ पारिणमिकौ च [५।३७ त० सू०]" यह सूत्र वहाँ क्या काम करेगा ? समझाने की कृपा करें।

समाधान—परमाणुओं के परस्पर बन्ध के विषय में जो धवलाकार का [ध० पु० १४ में—**वर्गणा खण्ड में**] मत है वही मत तत्त्वार्थसूत्रकार का है। किन्तु श्रीमत्पूज्यपाद आदि आचार्यों का भिन्न मत है। 'तत्त्वार्थसूत्र', अध्याय ५ में सूत्र ३३ से ३७ तक परमाणुओं के परस्पर बन्ध का नियम बताया गया है। सूत्र ३३ में कहा गया है कि स्निग्ध व रूक्षगुण के कारण परमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है। ३४ वें एवं ३५ वें सूत्र में यह बताया गया है कि किन–किन अवस्थाओं में परमाणुओं का परस्पर बन्ध सम्भव नहीं है। चौंतीसवें सूत्र में बताया गया है कि जब स्निग्ध या रूक्षगुण के अविभागप्रतिच्छेद घटकर इतने कम हो जाते हैं कि उनमें बन्धशक्ति का अभाव हो जाता है तो उन परमाणुओं का बन्ध नहीं होता। जब स्निग्ध या रूक्षगुण के अविभागप्रतिच्छेद बढ़कर जघन्येतर हो जाते हैं तो उनमें बन्ध शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और उनका बन्ध सम्भव हो जाता है। पैंतीसवें सूत्र में बताया है कि यदि वे परमाणु सदृश हैं—अर्थात् एक परमाणु स्निग्ध है और दूसरा परमाणु भी स्निग्ध है [अथवा एक परमाणु रूक्ष है और दूसरा परमाणु भी रूक्ष है] तथा उन दोनों परमाणुओं के अविभागप्रतिच्छेद भी समान हों तो उनका परस्पर बन्ध नहीं होता। गुणों (अविभागप्रतिच्छेदों) की समानता का नियम विदृश (स्निग्ध का रूक्ष या रूक्ष का स्निग्ध के साथ) बन्ध में बाधक नहीं है। यदि गुण–समानत्व का नियम विदृशों में भी बन्ध का बाधक हो जावे तो सूत्र ३५ में प्रयुक्त 'सदृशानाम्' शब्द निरर्थक हो जायगा। छत्तीसवें सूत्र में बताया गया है कि सदृशों [स्निग्ध का स्निग्ध के साथ अथवा रूक्ष का रूक्ष के साथ] का बन्ध दो गुण अधिक होने पर ही सम्भव है।

सैंतीसवें सूत्र में यह बताया गया है कि बन्ध होने पर अधिक गुणवाले रूप परिणमन हो जायगा। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ होने पर हीनगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) वाला परमाणु भी अधिक स्निग्ध या अधिक रूक्ष हो जावेगा। इसीप्रकार स्निग्ध व रूक्ष परमाणुओं का परस्पर बन्ध होने से यदि दोनों के

अविभाग प्रतिच्छेद समान हैं तो उनके गुणों मे परिणमन नही होगा। यदि दोनो के अविभागप्रतिच्छेद असमान हो तो हीनगुण वाला परमाणु अधिकगुण वाले परमाणुरूप परिणमन करेगा। इसप्रकार सैंतीसवां सूत्र बन्ध-अबन्ध का नियामक नहीं है। इसमे तो यह बताया गया है कि हीनाधिक गुणवाले परमाणुओ का परस्पर बन्ध होने पर कैसा परिणमन होता है।

—पत्राचार/अगस्त ८७/ ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञानावरणादि कर्मों को तीस कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति कैसे सम्भव है ?

शंका— सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ अ० ५ सूत्र ७ की टीका की अन्तिम पंक्ति मे लिखा है—"उक्त विधि से बन्ध के होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों की तीसकोड़ाकोड़ीसागर स्थिति बन जाती है।" तीसकोड़ाकोड़ीसागर की स्थिति कैसे सम्भव है ? क्या द्वि-अधिक गुण परमाणु ३० कोड़ाकोड़ीसागर तक गुणान्तर को सक्रमण नहीं करते ?

समाधान—'तत्त्वार्थसूत्र' अ० ५ मे सूत्र ३३ से ३७ परमाणुओ के परस्पर बन्ध का कथन है। परस्पर स्कन्धों के बन्ध का या जीव पुद्गल के परस्पर बन्ध का कथन नहीं है। "बन्ध के समय दो अधिक गुणवाला परमाणु परिणमन कराने वाला होता है।" ऐसा ३७ वें सूत्र मे कहा गया है। 'बन्ध' की व्याख्या करते हुए श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा है—"पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते। इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् संयोगे सत्यप्यपारिणामिकत्वात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत। उक्तेन विधिना बन्धे पुनः सति ज्ञानावरणादीनां कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोट्यादिस्थितिरुपपन्ना भवति।" इसका अर्थ श्री पण्डित फूलचन्द्रजी ने इसप्रकार किया है—

"इससे पूर्व अवस्थाओ का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। अतः उनमे एकरूपता आजाती है। अन्यथा सफेद और काले तन्तु के समान सयोग के होने पर भी पारिणामिक न होने से सब अलग-अलग ही स्थित रहेंगे। उक्त विधि से बन्ध के होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों की तीसकोडाकोडीसागरोपम स्थिति बन जाती है।"

यहाँ बन्ध और सयोग का अन्तर दिखलाया गया है। बन्ध के होने पर पारिणामिकता होने से उन दोनो द्रव्यो मे एकरूपता आजाती है। त० सू० २।७ की टीका मे प्राचीन गाथा उद्धृत की गई है। जिसमे लिखा है— बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो तस्स हवइ णाणत्तं।" अर्थात् बन्ध की अपेक्षा पौद्गलिक कर्मों और आत्मा मे एकरूपता आजाती है। किन्तु लक्षण की अपेक्षा उन दोनो मे नानारूपता है। मात्र सयोग होने पर पारिणामिक न होने से एकरूपता नही आती। इस एकरूपता को समझाने के लिए आचार्य महाराज ने ज्ञानावरणादि कर्म और जीव के परस्पर बन्ध का दृष्टान्त दिया है। एकरूपता हो जाने के कारण कर्मों की ३० कोडाकोडीसागर स्थिति बन जाती है। स्पर्शादि गुणों में परिणमन होने पर भी ज्ञानावरणादि कर्मावस्था ३० कोड़ाकोड़ीसागर तक बनी रहती है। उसमे कोई बाधा नही आती। जैसे मेरुपर्वत ··· ··· ·· · अनादिकाल से स्थित है।

—पत्राचार 1978/ ज. ला. जैन, भीण्डर

¤

पुद्गल : स्कन्ध

स्कन्ध रूप परिणमे बिना शब्द पर्याय नहीं उत्पन्न होगी

शंका—बन्ध होने पर क्या कोई नवीनता आ जाती है ?

समाधान—बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है। श्री अकलंकदेव ने भी कहा है—'पूर्वावस्था प्रच्यवपूर्वकं तार्तीयकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येक स्कन्धत्वमुपपद्यते।" इस प्रकार अनन्त परमाणुओं के बंध होने पर भाषा वर्गणारूप स्कंध की एक तीसरी विलक्षण अवस्था हो जाती है। जिसमें शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। बंध के द्वारा तीसरी विलक्षण अवस्था को प्राप्त हुए बिना मात्र परमाणु शब्दरूप नहीं परिणमन कर सकता।

—जै. ग. 7-2-66/X/ र. ला. जैन

पुद्गल के भेद : छाया एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजी नहीं जाती

शंका—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २०६ की संस्कृत टीका में लिखा है—'छाया बादरसूक्ष्मम्, यच्छेत्तुं भेत्तुम् अन्यत्र नेतुम् अशक्यं तद्बादरसूक्ष्ममित्यर्थः अर्थात् छाया को बादरसूक्ष्म कहा है, क्योंकि जो छेदा-भेदा न जा सके और न एक जगह से दूसरी जगह लेजाया जा सके उसे बादरसूक्ष्म कहते हैं। अब यहाँ पर शंका होती है कि आज जो टेलीविजन में छाया भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर यंत्रों द्वारा भेजी जाती है वह कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—टेलीविजन मे यन्त्र द्वारा छाया एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं भेजी जाती। किन्तु छाया को यत्रों द्वारा Electric Waves मे सक्रमण करके Electric Waves एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं जहाँ पर Electric Waves को यत्रो द्वारा पुनः छायारूप मे सक्रमण कर देते हैं। छाया भी पुद्गल है और Electric Waves भी पुद्गल हैं, अतः इन दोनो के परस्पर सक्रमण होने मे कोई बाधा नही आती।

—जै. ग. 17-5-62/VII/ नानकचन्द

पुद्गल द्रव्य के गमन में धर्म व काल कारण हैं

शंका—पुद्गल के गमन में धर्म सहकारी कारण है, किन्तु द्रव्यसंग्रह में काल को भी लिखा है सो कैसे ?

समाधान—जीव और पुद्गल के गमन मे धर्मद्रव्य साधारण सहकारी कारण है यह बात सत्य है, किन्तु एक कार्य के होने मे अनेक सहकारी कारण होते हैं। जैसे मछली के गमन में धर्मद्रव्य के अतिरिक्त जल भी सहकारी कारण होता है। 'मोक्षशास्त्र' अध्याय ५ सूत्र २२ में कालद्रव्य का उपकार बतलाया गया है। उसमे 'क्रिया' भी एक उपकार बतलाया गया है। इसी प्रकार 'पंचास्तिकाय' गाथा ९८ मे भी कहा गया है।' एक कार्य के होने मे अनेक सहकारी कारण होने में कोई बाधा नहीं। 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' गाथा २५ की सस्कृत टीका में इस शंका का समाधान स्वय टीकाकार ने किया है वहाँ से विशेष देख लेना चाहिये।

—जै. ग. 17-5-62/VII/ रामदास

लोहे का स्वर्णरूप परिणमन

शंका—यह ठीक है, कि रसायन के योग से लोहा भी सोना बन जाता है, किन्तु जिसप्रकार अग्नि के संयोग हटने पर जल अपने वास्तविक स्वरूप पर आ जाता है। तो क्या सोना भी रसायन का प्रभाव हटने पर अपने वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। यदि सोना भी अपना वास्तविक स्वरूप ग्रहण कर लेता है तो यही सिद्ध होता है कि अन्यद्रव्य की पर्याय अन्यद्रव्य को एकसमय मात्र ही प्रभावित करती है सर्वदेश नहीं तथा उपचार से ही उसे सोना कह सकते हैं।

रसायन के योग से लोहा सोना बन जाना कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो शक्तिरूप से सोना है, वह तो परके संयोग से लोहा बना हुआ है और जो शक्तिरूप से लोहा है वह परके संयोग से सोना बना हुआ है।

लोहे से सोना बनने में निमित्तकारण तथा उपादानकारण क्या है? अर्थात् स्वर्णरूप कार्य के निमित्त व उपादान एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। आगम में कार्य की उत्पत्ति अनुकूल निमित्त अनुकूल उपादान तथा बाधक कारण के अभाव होने पर मानी है। अतः स्पष्ट करें। पुनश्च इसके अन्तर्गत बीज व भूमि का दृष्टान्त दिया, इनमें निमित्त व उपादान कौनसा है?

समाधान—रसायन के प्रयोग से जो लोहा सुवर्ण हो जाता है यह पुद्गल की द्रव्यपर्याय है और अग्नि के संयोग से जो जल का स्पर्शगुण शीतल से उष्णरूप परिणमन कर जाता है वह गुणपर्याय है। अग्नि का संयोग दूर हो जाने पर जल में नवीन उष्णता आनी बन्द हो गई और उसमे से उष्णता निकल कर हवा मे मिलने लगी, क्योंकि भौतिक परिवर्तन था। लोहे का सुवर्ण बनने मे रासायनिक परिवर्तन हो जाता है अर्थात् लोहा और रसायन ये दोनों मिलकर सुवर्णरूप परिणमन कर जाते हैं। अतः रसायन के पृथक् होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

—जै. ग. 17-7-69/···/ टो. ला. जैन

सोने और ताँबे का भी [बन्ध हो जाने पर] एकत्व सम्भव है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित 'ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव' पुस्तक के पृ० ३३० पर लिखा है 'सोना और तांबा कभी एकमेक होता ही नहीं।' क्या यह ठीक है?

समाधान—उपर्युक्त कथन ठीक नही है, क्योंकि सोने और तांबे का बंध हो जाने पर दोनो में एकत्व हो जाता है। श्री वीरसेन महानाचार्य ने कहा भी है—

"बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती।" धवल पु० १३ पृ० ७।

अर्थ—द्वित्व का त्यागकर एकत्व की प्राप्ति का नाम बंध है।

"एकीभावो बंधः सामीप्यं संयोगो वा युतिः।" धवल पु० १३ पृ० ३४८।

अर्थ—एकीभाव का नाम बंध है। समीपता या संयोग का नाम युति है।

इसी बात को श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

"यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीतानां रेण्वादीनां स्वगुणापादनात् पारिणामिकः। तथाऽन्योऽप्यधिकगुणः अल्पीयसः पारिणामिक इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः पारिणामिको भवति। ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते। इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् संयोगे सत्यप्यपारिणामिकत्वात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत।" सर्वार्थसिद्धि ५।३७।

श्री प० फूलचन्दजी कृत अर्थ—जैसे अधिक मीठे रसवाला गीला गुड उस पर पड़ी हुई धूलि को अपने गुणरूप से परिणमाने के कारण पारिणामिक होता है, उसीप्रकार अधिकगुणवाला अन्य भी अल्पगुणवाले का पारिणामिक होता है। इस व्यवस्था के अनुसार दो अवस्यंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का चार अवस्यंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है। इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था ही प्राप्त होकर उनमे एकरूपता आ जाती है। अन्यथा सफेद और काले तन्तु के समान सयोग के होने पर भी पारिणामिक न होने से सब अलग-अलग ही स्थित रहेगा।

इसप्रकार यह बतलाया गया कि बध होने पर एकत्व हो जाता है, किन्तु संयोग मे एकत्व नहीं होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य भी बध मे एकत्व स्वीकार करते हैं—

बन्धं प्रतिभवत्यैक्यमन्योन्यानुप्रवेशतः।
युगपद् द्रावितस्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः॥१८॥ तत्त्वार्थसार अ. ५

जिसप्रकार एकसाथ पिघलाये हुए सुवर्ण और चादी का एक पिण्ड बनाये जाने पर परस्पर प्रदेशों का एक दूसरे मे प्रवेशानुप्रवेश हो जाने से एकरूपता आजाती है उसीप्रकार बंध की अपेक्षा जीव और पौद्गलीक कर्मों के प्रदेशो का परस्पर मे प्रवेशानुप्रवेश हो जाने से दोनो मे एकरूपता हो जाती है।

जो एकरूपता स्वीकार नही करते वे बधतत्त्व को स्वीकार नहीं करते। बधतत्त्व को न मानने से मोक्षतत्त्व के अस्वीकारता का प्रसग आजायगा, क्योकि बधपूर्वक ही मोक्ष होता है। जो बधा नही उसके लिये मोक्ष का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

मुक्तश्चेत् प्राकभवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्।
अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः॥

यदि जीव मुक्त होता है तो इस जीव के बन्ध अवश्य होना चाहिये, क्योकि यदि बन्ध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है। अतः अबन्ध की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुञ्च् धातु का प्रयोग ही व्यर्थ है।

—जै. ग. 8-2-83/VII/ श्री सुलतानसिंह

टीन व प्लेटिनम मिश्रित धातुरूप हैं तथा पृथ्वीरूप ही हैं

शंका—टीन, प्लेटिनम आदि को पृथ्वी के ३६ भेदों में क्यों नहीं गिनाया? धवल १।२७४–२७५ प्राकृत पंचसंग्रह १।७७ तथा मूलाचार अधिकार ५ गाथा ८–१२ अथवा गाथा २०६–२०९ में छत्तीस भेद पृथ्वियों के बताये हैं; परन्तु उनमें टीन व प्लेटिनम के नाम नहीं कहे।

समाधान—टीन, प्लेटिनम आदि शुद्ध धातु नहीं हैं, मिश्रित हैं; अतः पृथिवियों के ३६ भेदो में उन्हें नहीं गिनाया।

—पत्र 13-2-79/···/ ज. ला. जैन, भीण्डर

स्कन्धों का बन्ध–विधान

शंका—स्कन्धों में बन्ध किस नियम से होता है ?

समाधान—स्कन्ध मे सभी आठों स्पर्श, दो गन्ध, पाँच रस एवं पाँच वर्ण होते हैं। दो स्कन्धो मे परस्पर बन्ध के लिए द्वयधिकगुण का नियम नहीं है। उनमे परस्पर बन्ध रासायनिक नियम से हो जाता है।[1]

—पत्र 16-2-78/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

पुद्गल स्कन्ध कालकरण है, जीव पुद्गलकरण है

शंका—पंचास्तिकाय गाथा ९८ में पुद्गलों को कालकरण कहा, पर जीव को कालकरण नहीं कहा क्यों ?

समाधान—जीव स्वभाव से निष्क्रिय है। कर्मोदय के कारण जीव मे गति होती है, जो विभाव है। **समयसार, आत्मख्याति टीका** के अन्त मे परिशिष्ट मे ४७ शक्तियों का कथन है। [उसमे जीव के गति या क्रियावती शक्ति नहीं कही गई; निष्क्रियत्व शक्ति (२३ वीं शक्ति) तो कही है] अतः जीव की गति मे कालद्रव्य को कारण न कह कर पुद्गल द्रव्य को कारण कहा है। [पं० का० ९८] यदि मात्र धर्म द्रव्य व कालद्रव्य को कारण कहा जाता तो पुद्गल [अर्थात् शुद्धपुद्गल] के समान जीव (शुद्ध जीव) मे भी गति के नित्य सद्भाव का प्रसग आ जायगा। अतः जीव को कालकरण न कहकर "पुग्गलकरणा" अर्थात् पुद्गलकरण कहा है।

—पत्र 21-4-80/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

पुद्गलों की विभाव पर्याय काल-प्रेरित होती है

शंका—पुद्गलद्रव्य की विभावपर्याय कालप्रेरित होती है। सो कालप्रेरित से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—पुद्गलद्रव्य मे बंध के कारण विभावपर्याय होती है। पुद्गल मे बन्ध स्निग्ध व रूक्षगुण के कारण होता है। जैसा कि **'मोक्षशास्त्र'** मे **'स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः'** इस सूत्र द्वारा कहा गया है।

पुद्गलपरमाणुओ का या सूक्ष्मस्कन्धो का बंध मे काल के अतिरिक्त अन्यद्रव्य कारण नहीं हो सकता है। इसीलिए **श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों** ने पुद्गल की विभावपर्याय को कालकृत या कालप्रेरित कहा है।

> जीवापुग्गल काया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
> पुग्गल–करण जीवा, खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥ [पं. का.]

१. (अ) द्वयो. स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्पराश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकः स्कन्धो भवति। एव सख्येयासख्येयानन्तप्रदेशस्कन्धो योज्य। रा वा ५।३३।२ पृ ४९८।

(ब) स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तः विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादिविषय. रा वा. ५।२४।७।४८७।

(स) एवमुक्तेन विधिना बन्धेसत्यणूनां, द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तप्रदेशावसानस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या।

रा. वा ५।३६।२।पृ ४९९

इन उक्त तीनों प्रकरणों से लगता है कि स्कन्धों का परमाणु से तथा स्कन्ध का स्कन्ध से भी स्निग्ध-रूक्ष गुण निमित्तक ही बन्ध होता है।—सम्पादक

टीका—"स्कन्धशब्देनात्र स्कंधाणुभेदभिन्ना द्विधा पुद्गला गृह्यन्ते। ते च कथंभूता? सक्रियाः। कं: कृत्वा? काल करणैर्हि, परिणामनिर्वर्तककालाणुद्रव्यैः, खलु स्फुटं।"

परिणामनिर्वर्तक कालद्रव्य द्वारा पुद्गलपरमाणु व स्कन्धों में प्रदेश-परिस्पंद पर्यायरूप क्रिया की जाती है।

पुग्गलदव्वे जो पुण विब्भाओ, काल पेरिओ होदि।
सो णिद्धरुक्ख सहिदो बन्धो, खलु होइ तस्सेव ॥२०॥

पुद्गलद्रव्य मे जो विभावपर्याय होती है, वह कालप्रेरित है। स्निग्ध व रूक्षसहित बन्धरूप पुद्गल की विभावपर्याय होती है।

अभिप्राय यह है कि काल के अभाव मे पुद्गलद्रव्य में विभाव परिणमन नही हो सकता है। काल की प्रेरणा से पुद्गल मे विभाव होता है।

—जै. ग 9-10-75/ ··· / र. ला. जैन, मेरठ

"कर्म योग्य पुद्गल" का अर्थ

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अ० ८ सूत्र २ 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।' यह लिखा है। यहाँ पर 'कर्मयोग्य पुद्गल' का क्या अभिप्राय है।

समाधान—पुद्गल की तेईस प्रकार की वर्गणा हैं। उनमें से एक कार्माणवर्गणा भी है। यह कार्माण-वर्गणा ही कर्मयोग्य-पुद्गल है। षट्खण्डागम के पाँचवें वर्गणाखण्ड के निम्नलिखित सूत्रों मे कहा भी है—

"कम्मइयदव्ववग्गणा णाम का ॥७५६॥ कम्मइयदव्ववग्गणा अट्ठविहस्स कम्मस्स गहणं पवत्तदि ॥ ७५७ ॥ णाणावरणीयस्स दसणावरणीयस्स वेयणीयस्स मोहणीयस्स आउस्स णामस्स गोदस्स अंतराइयस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण णाणावरणीयत्ताए दसणावरणीयत्ताए वेयणीयत्ताए मोहणीयत्ताए आउअत्ताए णामत्ताए गोदत्ताए अंतराइयत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि कम्मइयदव्ववग्गणा णाम ॥ ७५८ ॥

अर्थ—कार्माण द्रव्यवर्गणा क्या है? ॥७५६॥ कार्माणद्रव्यवर्गणा आठप्रकार के कर्म का ग्रहणकर प्रवृत्त होती है ॥७५७॥ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर ज्ञानावरणरूप से दर्शनावरणरूप से, वेदनीयरूप से, मोहनीयरूप से, आयुरूप से, नामरूप से, गोत्र-रूप से और अन्तरायरूप से परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, अतः उन पुद्गल द्रव्यों की कार्माणद्रव्यवर्गणा संज्ञा है ॥७५८॥

—जै. ग. 26-2-70/IX/ र. ला. जैन

रूप तथा वर्ण में भेद

शंका—समयसार गाथा ३९२ व ३९३ में 'रूप' और 'वर्ण' शब्द पृथक्-पृथक् प्रयुक्त हुए हैं। इनका पृथक्-पृथक् क्या तात्पर्य है, क्योंकि वैसे तो ये दोनों पर्यायवाची हैं।

समाधान—'रूप' शब्द से प्रयोजन मूर्ति से है। सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सूत्र ५ की टीका में, 'रूपं मूर्तिरित्यर्थः' रूप और मूर्ति इनका एक अर्थ है, ऐसा कहा है।

"वर्ण्यते वर्णमात्रं वा वर्णः स पञ्चविधः कृष्ण-नील-पीत-शुक्ल-लोहितभेदात्" (स. सि. ५।२३)

जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्र को वर्ण कहते हैं। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वह वर्ण पाँच प्रकार का है।

काला, नीला आदि वर्ण के भेद हैं, किन्तु रूप के भेद नहीं हैं, क्योंकि स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र को रूप कहते हैं। कहा भी है—

'यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं।' (समयसार गा० ५० की टीका)

इसप्रकार 'रूप' और 'वर्ण' पर्यायवाची नहीं हैं।

—जै. ग 24-12-70/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

'रूपादिक गुण अमूर्त हैं'; इसका अभिप्राय

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र १७ की टीका में 'वे रूपादिक गुण अमूर्त हैं? इसका क्या तात्पर्य है? यदि रूपादिक गुण अमूर्त हैं तो रूपादिक का धारक पुद्गल मूर्त कैसे हो सकता है?

समाधान—गुण का लक्षण इस प्रकार है—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥ [तत्त्वार्थसूत्र ५।४१]

जो निरन्तर द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और गुणो से रहित हैं वे गुण हैं। पुद्गल मे 'मूर्त' एक पृथक्गुण है जिसके कारण पुद्गल मूर्त होता है। किन्तु पुद्गल के अग रूपादिक गुणो मे मूर्तगुण नहीं रहता, क्योंकि एकगुण में अन्यगुण नहीं रहते अन्यथा वह गुण भी एक स्वतन्त्रद्रव्य हो जायगा। इसकारण रूपादि गुणो को मूर्त नही कहा जा सकता। इसप्रकार रूपादि गुण मूर्त नहीं हैं अर्थात् अमूर्त हैं। ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है।

—जै. ग. 25-3-76/VII/ र ला. जैन, मेरठ

पुद्गल के भी कथंचित् अमूर्त स्वभाव है

शंका—जैसे पुद्गल के सम्बन्ध से जीव को 'मूर्तिक' कहा गया है, क्या उसीप्रकार जीव के सम्बन्ध से पुद्गल को अमूर्तिक कह सकते हैं?

समाधान—जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हुआ सूक्ष्मकार्मणवर्गणारूप पुद्गल भी उपचार से अमूर्तिकभाव को प्राप्त कर लेता है। आलापपद्धति सूत्र २८ मे २१ स्वभावो का नाम निर्देश किया गया है जिसमें १४ वें, १५ वें क्रम पर मूर्त स्वभावः अमूर्तस्वभावः इन दो स्वभावो का नाम है। सूत्र २९ जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः द्वारा यह कहा गया है कि जीव और पुद्गल इन दोनो द्रव्यो मे २१ स्वभाव हैं। अर्थात् जीव मे भी मूर्त-अमूर्त दोनो स्वभाव हैं। पुद्गल मे भी मूर्त-अमूर्त दोनों स्वभाव हैं। आलापपद्धति ग्रन्थ के नययोजना अधिकार सूत्र १६६ मे 'पुद्गल के उपचार से अमूर्तत्व स्वभाव' कहा गया है। पुद्गलस्योपचारादेवास्त्यमूर्तत्वम्।

/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) अशुद्ध निश्चयनय से पुद्गल क्या है ?
(२) विविध अपेक्षाओं से व्यवहार भी निश्चय तथा निश्चय भी व्यवहार हो जाते हैं।

शंका—'नियमसार' गाथा २९ में पुद्गलपरमाणु को पुद्गल शुद्धनिश्चयनय से कहा और स्कन्ध को व्यवहारनय से ऐसा क्यों ? फिर अशुद्धनिश्चयनय से पुद्गल क्या है ?

समाधान—'नियमसार' गाथा २९ मे निश्चयनय का शब्द है, शुद्धनिश्चयनय का शब्द नहीं है। 'नियमसार' गाथा २९ निम्न प्रकार है—

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२९॥

अर्थ—परमाणु को पुद्गलद्रव्य निश्चय से कहा जाता है और स्कन्ध का पुद्गलद्रव्य ऐसा नाम व्यवहार से है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय और व्यवहार ऐसे दो शब्दो का प्रयोग किया है। निश्चय के शुद्धनिश्चय या अशुद्धनिश्चय तथा व्यवहार के सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार तथा उपचरितसद्भूतव्यवहार व अनुपचरितसद्भूतव्यवहार, उपचरितअसद्भूतव्यवहार व अनुपचरितअसद्भूतव्यवहार ऐसे भेद-प्रभेद की अपेक्षा कथन नहीं किया है। इसीलिये शुद्धनिश्चय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कहा गया है। असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा सद्भूतव्यवहार को निश्चय कहा गया है। उपचरितसद्भूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितसद्भूतव्यवहार को निश्चय कहा गया है। उपचरितासद्भूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितासद्भूतव्यवहार को निश्चय कहा गया है।

एक जीव दूसरे को सुखी दुःखी करते हैं अथवा मारते या जिलाते हैं, यह कथन उपचरितासद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है। अपने कर्मोदय से ही जीव सुखी दुःखी होता है अथवा मरता जीता है, यह कथन अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है, किन्तु समयसार कलश १६८ मे उपचरितासद्भूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितासद्भूत के कथन को निश्चय कहा है। इसी प्रकार समयसार गाथा ८३-८४ मे असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा सद्भूतव्यवहार के कथन को निश्चय कहा है।

अणु और स्कन्ध दोनों पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। कहा भी है "आह किमेषां पुद्गलानामणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनादिरुत आदिमानित्युच्यते। स खलूत्पत्तिमत्त्वादादिमान् प्रतिज्ञायते।" [सर्वार्थसिद्धि ५।२५]

इन पुद्गलों का अणु और स्कन्धरूप परिणाम होना अनादि है या सादि है।

अणु और स्कन्धरूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये सादि है।

"परमाणू पोग्गलाणं सो सब्भावाव पज्जाओ ॥३०॥" (नयचक्र)

अर्थ—परमाणु पुद्गल की स्वभावद्रव्यपर्याय है।

पर्याय व्यवहार नय का विषय है। कहा भी है—

"ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो ॥५७२॥" (गो. जी.)

"व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण।" (समयसार गा. १२)

अतः अणु-स्कन्ध दोनों पर्यायें व्यवहारनय के विषय हैं। अणु शुद्धपर्याय है, अतः अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। स्कन्ध अशुद्धपर्याय है अतः उपचरितासद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

"शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः द्व्यणुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णान्तरादिपरिणमनं विभावगुणपर्यायाः।"
(पंचास्तिकाय गा० ५ टीका)

यहाँ पर यह कहा गया है कि शुद्धपरमाणु स्वभावद्रव्यपर्याय है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध विभावद्रव्यपर्याय है।

पुद्गलस्कन्ध विभावद्रव्यपर्याय होने से उपचरितसद्भूतव्यवहार का विषय है। पुद्गलपरमाणु स्वभावद्रव्यपर्याय होने से अनुपचरितसद्भूतव्यवहार का विषय है। नियमसार गाथा २९ में उपचरितसद्भूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितसद्भूत को निश्चय कहकर पुद्गलपरमाणु को निश्चय का विषय कहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ मे किस स्थल पर निश्चय से क्या प्रयोजन है, इसको जानने के लिये नयचक्र, आलापपद्धति आदि ग्रन्थो से निश्चय और व्यवहार के भेद-प्रभेद तथा उनके लक्षणो को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है; अन्यथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो का यथार्थ भाव समझ मे आना कठिन है।

—जै. ग. 1-6-72/VII/ र ला जैन, मेरठ

जीव व पुद्गल की गति व स्थिति भी पर्यायरूप है

शंका—क्या गति व स्थिति पर्याय है ?

समाधान—गति व गतिपूर्वक स्थिति पर्यायें हैं। अन्यथा स्थिति पर्याय नहीं है।[1]

—पत्र 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

शब्द व प्रकाश किस इन्द्रिय के विषय हैं ?

शंका—शब्दवर्गणा किस इन्द्रिय की विषय है तथा कब ? प्रकाश किस इन्द्रिय का विषय है। आज के वैज्ञानिक तो कहते हैं कि प्रकाश स्वयं अदृश्य है, किन्तु प्रकाश में वस्तुएँ दिखती हैं ? क्या यह ठीक है। आगम में तो लिखा है कि "छाया, चांदनी, आतप, धूप, अंधकार आदि चक्षुइन्द्रिय के द्वारा दिखाई देने के कारण स्थूल हैं।" अर्थात् सूर्य का प्रकाश चक्षुइन्द्रिय से ग्राह्य है (महापुराण २४।१५०—१५३) समाधान करें।

समाधान—शब्दवर्गणा कर्ण इन्द्रिय से ग्राह्य है, किन्तु कब ? जब वे शब्दरूप परिणत हो जायें तब कर्णेन्द्रिय की विषय होती हैं। छाया, प्रकाश, अन्धेरा आदि चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य हैं। आपका कथन समीचीन है। आगम ही सर्वोपरि मान्य है।

—पत्र 31-3-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

---

१. इसको विशेष समझने के लिए प० काय गा० ८९ व उसकी टीका देखनी चाहिए।

धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य

प्रत्येकद्रव्य द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र है, पर्यायदृष्टि से परतन्त्र है

शंका—क्या धर्मादि द्रव्य भी द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र एवं पर्यायदृष्टि से परतंत्र हैं ? धर्मादि भी पर्यायदृष्टि से परतंत्र ही होने चाहिये, क्योंकि कालद्रव्य के बिना उनके भी परिणमन सम्भव नहीं। आकाश के बिना अवगाहनरूप अवस्था भी धर्मादि के सम्भव नहीं अतः धर्मादि भी पर्यायदृष्टि से परतंत्र होने चाहिये।

समाधान—आपने ठीक लिखा है। धर्मादि भी द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र हैं और पर्यायदृष्टि से परतंत्र हैं।

—पत्र 8-7-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

धर्म आदि द्रव्यों से आयुकर्म का सम्बन्ध

शंका—'राजवार्तिक' अध्याय २ सूत्र ७ की टीका में कहा है कि 'आयुकर्म का सम्बन्ध तो धर्म, अधर्म आदि अचेतन पदार्थों के साथ भी है; यह कैसे ?

समाधान—जहाँ पर आयुकर्म के पुद्गलपरमाणु हैं वहाँ पर धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य के प्रदेश तथा कालाणु भी हैं। अतः आयुकर्म का धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों से एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है।

—जै. ग. 23-5-63/IX/ प्रो मनोहरलाल

धर्मादिक चारों द्रव्यों का स्वभाव-परिणमन ही होता है

शंका—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य का क्या अशुद्ध या विभावरूप परिणमन भी होता है या मात्र स्वाभाविकपरिणमन होता है ?

समाधान—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमे विभावस्वभाव व अशुद्धस्वभाव नहीं है, अतः इन चार द्रव्यो का अशुद्धरूप या विभावरूप परिणमन नही होता है।

"चेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः विभावस्वभावः उपचरितस्वभावः अशुद्धस्वभावः एतैः पंचभिः स्वभावैर्विना धर्मादित्रयाणां (धर्माधर्माकाशानां) षोडश स्वभावाः सन्ति। तत्र बहुप्रदेशं विना कालस्य पंचदश स्वभावाः।"
आलापपद्धति।

यहाँ पर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यो में अशुद्धस्वभाव व विभावस्वभाव का अभाव बतलाया गया है।

—जै. ग 23-7-70/VII/ रो. ला. मित्तल

जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नहीं है

शंका—श्री पं० माणिकचन्दजी ने श्लोकवार्तिक पु० ६ अध्याय ५ सूत्र २ की टीका में लिखा है—धर्मादिक चारद्रव्य गुण या पर्याय स्वरूप नहीं हैं। यह कैसे संभव है क्योंकि 'गुण पर्ययवद् द्रव्यं' ऐसा सूत्र है ?

समाधान—द्रव्य, गुण और पर्याय में यद्यपि प्रदेश भेद नहीं है तथापि संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा तो भेद है। कहा भी है—

गुणगुण्यादिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः ॥११२॥ आलापपद्धति

द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनो पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ हैं। गुण अनेक हैं, पर्यायें अनेक हैं और द्रव्य एक है। द्रव्य का लक्षण सत् है, गुण का लक्षण—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' है अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय हो और स्वय निर्गुण हो वह गुण है। पर्याय का लक्षण–'दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो'। अर्थात् द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं।

इसप्रकार सज्ञा, सख्या, लक्षण की अपेक्षा जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नही है।

—जै. ग. 30-3-72/VII/ देहरा तिजारा से प्राप्त शंका

चार द्रव्यों की निष्क्रियता

शंका—जीव और पुद्गल के अतिरिक्त क्या शेष चारद्रव्य भी अपनी शुद्धअवस्था में स्वतः क्रियाशील (active) हैं ? यदि नहीं तो प्रत्येक द्रव्य परिवर्तनशील कैसे है, क्योंकि जो स्वय निष्क्रिय है उसमे अपनी पर्यायों का सदैव परिवर्तन होते रहना कैसे सम्भव है ? यदि द्रव्य में उसकी पर्यायें प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं तो यह अवश्य उस द्रव्य में एक क्रिया का होना कहा जाएगा और ऐसी दशा मे धर्मादि को निष्क्रिय तथा निराकार संज्ञाएँ कैसे दी जा सकती हैं; क्योंकि द्रव्यों को पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकती हैं ?

समाधान—धर्मादि चार द्रव्यो को मोक्षशास्त्र अध्याय ५ सूत्र ७ मे 'निष्क्रिय' कहा है सो वहाँ पर परिस्पन्द व चलनरूप क्रिया के अभाव की अपेक्षा से 'निष्क्रिय' कहा है। निष्क्रिय होते हुए भी धर्मादि द्रव्यो मे स्वनिमित्तक उत्पाद-व्यय होते रहते हैं अतः पर्यायें होती रहती हैं जैसा श्री राजवार्तिक पंचम अध्याय सूत्र ७ वार्तिक ३ की टीका मे कहा है—**अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थान पतितया वृद्धघा हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च।** आगम प्रमाण से जानने योग्य और जो षट्स्थान वृद्धि-हानिरूप वर्तन कर रहे हैं ऐसे अनन्तानन्त अगुरुलघु गुणो के स्वभाव से इन (धर्मादि द्रव्यो) का उत्पाद व व्यय होता है अतः धर्मादि शुद्ध द्रव्यो मे स्वनिमित्तक उत्पाद व्ययरूप क्रिया मानने मे कोई विरोध नही आता, किन्तु प्रदेश परिस्पन्द व चलनरूप क्रिया धर्मादि शुद्धद्रव्यो मे नही है।

—जै. सं. 6-9-56/VI/ बी. एल पद्म, शुजालपुर

जीव पुद्गल की शक्ति तो लोकाकाश से बाहर जाने की है

शंका—धर्मास्तिकाय के अभाव से जीव लोक के बाहर नहीं गया, यह व्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय कहता है कि जीव लोकाकाश का द्रव्य है, उसमे लोक के बाहर जाने की उपादानशक्ति ही नहीं है। विशेष कथन सोनगढ़ के मोक्षशास्त्र अध्याय १०, सूत्र ८ की टीका में है। फिर आप श्री कानजीस्वामी के निश्चयनय के कथन का क्यों विरोध करते हो ?

समाधान—सोनगढ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र पत्र ७९१ पर लिखा है "जीव और पुद्गल की गति स्वभाव से इतनी है कि वह लोक के अन्त तक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाश में लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद ही न रहें। गमन करनेवाले द्रव्य की उपादानशक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है अर्थात् वास्तव मे जीव की अपनी योग्यता ही अलोक मे जाने की नही है अतएव वह अलोक में नही जाता, धर्मास्तिकाय का अभाव तो इसमे निमित्तमात्र है।"

सोनगढ़वालो ने अपनी टीका मे इस सम्बन्ध में कोई आगमप्रमाण नहीं दिया है और न यह लिखा है कि वह किस ग्रन्थ के आधार पर जीव की गमनशक्ति को सीमित करते हैं। यदि किसी ग्रन्थ का उल्लेख होता तो उस-पर अवश्य विचार किया जाता। मेरे देखने मे ऐसा कोई आगमप्रमाण नही आया जिसमे जीव की गमनशक्ति को लोक के अन्त तक ही बताया गया हो। अन्य विद्वानो से भी इस सम्बन्ध मे चर्चा की, किन्तु उन्होने भी ऐसे आगमप्रमाण का निषेध किया।

धर्मास्तिकाय के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसा विभाग हो रहा है। जीवद्रव्य की उपादान गमनशक्ति सीमित न होते हुए भी धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण जीव लोकाकाश से बाहर गमन नहीं करता। किसी भी कार्य के लिए अन्तरग और बहिरग (उपादान व निमित्त) कारणों की आवश्यकता होती है। किसी एक कारण के अभाव मे कार्य का अभाव रहता है अर्थात् कार्य नही होता। जीवद्रव्य के गमन मे धर्मद्रव्य सहकारी कारण है, जिस प्रकार मछली के गमन मे जल कारण है। अलोकाकाश मे धर्मद्रव्य का अभाव होने के कारण (अर्थात् बाह्यकारण का अभाव होने से) जीव अलोकाकाश मे गमन नही कर सकता जैसे तालाब से बाहर जल न होने के कारण मछली तालाब से बाहर गमन नही कर सकती। वर्षाकाल मे जब जल तालाब से बाहर उमड आता है तो सहकारी कारण मिलजाने से मछली तालाब के बाहर भी गमन कर जाती है। मछली मे तालाब के बाहर भी गमनशक्ति रहते हुए भी सहकारी कारण के अभाव मे बाहर गमन का अभाव पाया जाता है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

शङ्काकार का उक्त कथन प्रत्यक्ष से बाधित होते हुए भी अब उस पर आगम की अपेक्षा से विचार किया जाता है। सोनगढ़वालो को श्रीमद् कुन्दकुन्द भगवान के वचन अधिक इष्ट हैं अतः सर्वप्रथम श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित ग्रन्थो के अनुसार लोक व अलोक के विभाग के कारण और जीव व पुद्गल की गमनशक्ति पर विचार किया जाता है।

जादो अलोगलोगो, जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता, अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥८७॥ पं० का०।

अर्थात्—जिन धर्म-अधर्मद्रव्य के अस्तित्व होने से लोक और अलोक हुआ है और जिनसे गति स्थिति होती है, वे दोनो ही अपने-अपने स्वरूप से जुदे-जुदे कहे गए हैं, किन्तु एकक्षेत्रावगाह से जुदे-जुदे नहीं हैं।

टीका—धर्माधर्मौ विद्येते लोकालोकविभागान्यथानुपपत्तेः। जीवादिसर्वपदार्थानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः। शुद्धैकाकाशवृत्तिरूपोऽलोकः। तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थिति परिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत। ततो न लोकालोकविभागः सिध्येत। धर्माधर्मयोस्तु जीवपुद्गलयोर्गतितत्पूर्वस्थित्योर्बहिरङ्गहेतुत्वेन सद्भावे अभ्युपगम्यमाने लोकालोकविभागो जायत इति।

अर्थ—धर्म और अधर्म विद्यमान हैं क्योकि अन्य प्रकार से लोक व अलोक का भेद नहीं हो सकता था। जहाँ जीवादि सब पदार्थ हो वह लोक है, जहाँ एक आकाश ही हो सो अलोक है। उन जीवादि द्रव्यो मे से जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य अपने स्वभाव से गति और गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होते हैं। उन दोनो (जीव और पुद्गल) का गतिरूप परिणमन व गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणमन अपने आप होने पर यदि धर्म व अधर्मद्रव्य बहि-रग कारण न हों तो उन दोनों की गति व स्थिति निरर्गल (बिना रोकटोक के) होने से अलोक मे भी उन दोनों की स्थिति को कौन रोक सकेगा? इसलिये लोक-अलोक का विभाग नहीं हो सकेगा। जीव व पुद्गल की गति व

गतिपूर्वक स्थिति के बहिरंगकारण धर्म-अधर्म को अंगीकार करने पर ही लोक-अलोक का विभाग होता है।
— श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की टीका

श्रीमद् जयसेनजी ने भी अपनी टीका मे इस प्रकार कहा है—धर्माधर्मौ विद्येते लोकालोकसद्भावात् षड्द्रव्यसमूहात्मको लोकः तस्माद्बहिर्भूतं शुद्धमाकाशमलोकः तत्र लोके गतितत्पूर्वकस्थितिमास्कन्दतोः स्वीकुर्वतोर्जीव-पुद्गलयोर्यदि बहिरङ्गहेतुभूतधर्माधर्मौ न स्यतां तदा लोकाद्बहिर्भूतबाह्यभागेऽपि गतिः केन नाम निषिध्यते न केनापि ततो लोकालोक विभागादेव ज्ञायते धर्माधर्मौ विद्येते।

अर्थ—लोक और अलोक की सत्ता है, इससे धर्म और अधर्म की सत्ता सिद्ध है। जो छह द्रव्यो का समूह है उसे लोक कहते हैं, उससे बाहर जो शुद्ध आकाशमात्र है उसको अलोक कहते हैं। यदि इस लोक मे जीव और पुद्गलों के चलने मे और चलते-चलते ठहर जाने मे बाहरी निमित्त कारण धर्म और अधर्म द्रव्य न होवें तो लोक के बाहरी भाग मे गमन को कौन निषेध कर सकता है ? यदि कोई भी रोकनेवाला न हो तब लोक और अलोक का विभाग ही न रहे, परन्तु जब लाक और अलोक है तब यह जाना जाता है कि अवश्य धर्म और अधर्मद्रव्य हैं।

इस गाथा व टीका से सिद्ध है कि जीव और पुद्गल मे तो लोकाकाश से बाहर जाने की भी शक्ति है, किन्तु धर्मद्रव्य के अभाव के कारण उन दोनो द्रव्यो की गति लोक के अन्त मे रुक गई अर्थात् धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण ही जीव और पुद्गल की गति अलोक मे नही हो सकी। लोक और अलोक का विभाग भी धर्म-द्रव्य के कारण है। इस विषय मे श्री १०८ आचार्य कुन्दकुन्द का अन्य प्रमाण इस प्रकार है—

जीवाण पुग्गलाणं गमण जाणेहि जाव धम्मत्थ।
धम्मत्थिकायाभावे, तत्तो परदो ण गच्छति ॥१८४॥ नि० सा०

अर्थ—जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहाँ तक जीव और पुद्गलो का गमन होता है ऐसा मैं (श्री कुन्द-कुन्दाचार्य) जानता हूँ। धर्मास्तिकाय के अभाव से उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता है।

नोट—इस गाथा में यह नहीं कहा है कि आगे अलोकाकाश मे जीव की जाने की शक्ति स्वभाव से ही नहीं है, किंतु धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिये आगे नहीं जाता।

टीका—यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति अतएव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्त स्वभावविभाव गतिक्रिया परिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति।

अर्थ—जैसे जल के अभाव मे मछली की चलन रूप क्रिया नही हो सकती इसलिये जहाँ तक धर्मास्तिकाय है उस क्षेत्र तक ही चेतन व अचेतन जड पुद्गल गमन करेंगे, इसके आगे नही।

इसप्रकार सोनगढ़ की मान्यता श्री कुन्दकुन्दाचार्य के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अब श्री मोक्षशास्त्र के टीकाकारो का प्रमाण इस प्रकार है—

मोक्षशास्त्र अध्याय १०, सूत्र ८ की सर्वार्थसिद्धि टीका में श्री पूज्यपादाचार्य लिखते हैं—गत्युपग्रहकारण-भूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। अर्थ—गतिरूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नही है इसलिये अलोक मे गमन नही होता। धर्मास्तिकाय के अभाव मे भी गमन माना जावे तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

तत्त्वार्थवृत्ति में श्री श्रुतसागरसूरिजी इस प्रकार लिखते हैं—'गत्युपकारकारणं धर्मास्तिकाय' स तु धर्मास्तिकायो लोकान्तात् परतोऽलोके न वर्तते तेन मुक्तजीवः परतोऽपि न गच्छति ।' अर्थ—चलने मे उपकार का कारण धर्मास्तिकाय है । वह धर्मास्तिकाय लोक के अन्त तक है, लोक से परे नहीं है इसलिये मुक्त जीव का भी लोक से परे गमन नही होता है ।

श्री भास्करनन्दी आचार्य सुखबोध टीका मे इस प्रकार लिखते हैं— गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते । अर्थ—गतिरूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नही है इसलिये अलोक मे गमन नही होता । धर्मास्तिकाय के अभाव मे भी गमन माना जावे तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है ।

इसी टीका के अध्याय ५ सूत्र १७ मे लिखा है—धर्माधर्माऽनभ्युपगमे सर्वत्राकाशे सर्व जीव पुद्गलगति-स्थिति प्रसगाल्लोकालोकव्यवस्था न स्यात् । ततो लोकालोकव्यवस्थाऽन्यथाऽनुपपत्तेधर्माधर्मास्तित्व सिद्धिः । अर्थ—धर्म व अधर्म द्रव्य के न मानने पर आकाश मे सर्वत्र सब जीव और पुद्गलो की गति व स्थिति का प्रसग प्राप्त होने से लोक और अलोक की व्यवस्था न रहेगी । इसलिये अन्य प्रकार से लोकालोक की उत्पत्ति न होने से धर्म व अधर्म द्रव्य की सिद्धि होती है ।

श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक अ० ५ सू० १७ टीका मे इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है—गतिस्थितिपरिणामिनां आत्मपुद्गलानां धर्माधर्मोपग्रहात् गतिस्थिति भवतो नाकाशोपग्रहात् गतिस्थिती स्यातां अलोकाकाशेऽपि भवेतां । अतश्च लोकालोकविभागाभावः स्यात् । अर्थ—चलने और ठहरने वाले जीवो और पुद्गलो के चलने व ठहरने मे धर्म तथा अधर्म का उपकार न हो और आकाश का उपकार हो तो अलोकाकाश मे भी जीव और पुद्गलो की गति व स्थिति हो जायगी इसलिए लोक और अलोक के विभाग का अभाव हो जाएगा ।

नोट—यदि गमन करने वाले द्रव्यो की उपादानशक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है और उनमे योग्यता ही अलोक मे जाने की नहीं है (जैसा कि सोनगढ मोक्षशास्त्र पत्र ७६१ पर लिखा है) तो धर्मद्रव्य की क्या आवश्यकता रह जाती है ? आकाशद्रव्य को ही गति मे उपकारी मान लेते । जीव और पुद्गल की उपादानशक्ति के कारण अलोक मे जीव व पुद्गल का अभाव भी बन जाता, किंतु महानाचार्य श्रीमद्भट्टाकलक स्वामी ने जीव व पुद्गल की गमनशक्ति तो अलोकाकाश मे भी जाने की स्वीकार करके, धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण अलोकाकाश मे जीव और पुद्गलो का अभाव माना है । सोनगढ़वालो की 'शक्ति के अभाव' की मान्यता उक्त आगमविरुद्ध है । सम्भवतः निमित्त के प्रसग के भय से उनको (सोनगढवालो को) उपादानशक्ति सीमित करनी पडी, किन्तु श्रीमद् भट्टाकलंकदेव इसी सूत्र १७ अध्याय ५ की वार्तिक ३१ की टीका मे इस प्रकार लिखते हैं—

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धे ॥३१॥ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्य दृष्ट यथामृत्पिण्डो घट-कार्यपरिणामप्राप्ति प्रतिगृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्र सूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाऽऽविर्भवति । नैकएवमृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधन सन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितु समर्थः । तथा पतत्रि-प्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्ति प्रत्यभिमुख नान्तरेण बाह्यानेककारण सन्निधिगतिस्थिति प्राप्तुमलमितितदुपग्रह-कारण धर्माधर्मास्तिकायः सिद्धिः ।

अर्थात् ससार मे यह प्रत्यक्ष दीख पडता है कि एक कार्य की सिद्धि मे अनेक कारणों की आवश्यकता पडती है । जिसतरह मिट्टी का पिण्ड जिससमय घटकार्यरूप परिणत होता है उस समय घटस्वरूप परिणत होने की अन्तरंग सामर्थ्य तो उस मिट्टी के अन्दर ही है, परन्तु बाह्य मे कुम्भकार, दण्ड, चाक, डोरा, जल, काल और

आकाश (क्षेत्र) आदि अनेक सहायक कारणों की भी उसे अपेक्षा करनी पड़ती है तब वह मिट्टी का पिण्ड घटस्वरूप होता है। कुम्भकार, चाक आदि बाह्यकारणों की सहायता के बिना अकेले मिट्टी के पिण्ड मे घटस्वरूप परिणत होने की सामर्थ्य नहीं। उसीप्रकार पक्षी आदिक द्रव्य जिससमय चलने व ठहरने के लिए उद्यत हैं, बाह्यकारणों की अपेक्षा के बिना उनकी गति व स्थिति नहीं हो सकती। पक्षी आदि की गति और स्थिति मे सहायक बाह्यधर्म और अधर्मद्रव्य हैं।

तत्त्वार्थसार मोक्षतत्त्व अधिकार के श्लोक ४४ में श्री अमृतचन्द्रसूरिजी लिखते हैं—ततोऽप्यूर्ध्वंगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परं ॥४४॥ अर्थात् ऐसा पूछा जाने पर कि उन सिद्ध जीवो की उस लोकाकाश से ऊपर गति क्यो नहीं होती ? (यही उत्तर है कि) गति मे हेतु कारण धर्मास्तिकाय का आगे अभाव होने से लोकाकाश के ऊपर सिद्धजीवो की गति नहीं होती।

उपर्युक्त आगम प्रमाणो से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया है कि जीव व पुद्गल मे अलोकाकाश मे भी जाने की शक्ति है, किन्तु बाह्य सहकारीकारण धर्मद्रव्य का अलोकाकाश मे अभाव होने के कारण जीव और पुद्गलों का अलोकाकाश मे गमन नहीं है।

सोनगढ़वालो की, शंकाकार की या अन्य किसी व्यक्ति की जो यह मान्यता है कि 'जीव व पुद्गल मे लोक के अन्त तक ही गमन करने की उपादानशक्ति है' यह श्रीमद् भगवान कुन्दकुन्द, श्रीमदमृतचन्द्रसूरि, श्री पूज्यपाद स्वामी, श्रीमद्भट्टाकलंकदेव आदि महानाचार्यों के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

यदि सोनगढ़ मतानुसार यह मान लिया जावे कि जीव व पुद्गल मे लोकाकाश तक ही गमन करने की उपादानशक्ति है तो 'धर्मास्तिकायाभावात् सूत्र ८ अ० १० मो० शा०' निरर्थक हो जाएगा और सूत्र अनर्थक होता नही है, क्योंकि वचनविसवाद के कारणभूत रागद्वेष व मोह से रहित जिनभगवान के वचन के अनर्थक होने का विरोध है। षट्खण्डागम पु० १० पत्र २८०

—जै. ग. 31-10-57 तथा 7-11-57/ ... ...

सिद्धों में निःसीम शक्ति होते हुए भी धर्म द्रव्य के अभाव से आगे गमन नहीं होता
जीव की गति में जीव और धर्म दोनों कारण हैं

शंका—जीव लोकाकाश का द्रव्य है। सिद्ध भगवान भी जीव होने से लोक के द्रव्य हैं, उनमें लोक से बाहर जाने की शक्ति का अभाव है इसलिये सिद्ध भगवान लोक के अन्त में ठहर जाते हैं, कुछ ऐसा कहते हैं। कुछ ऐसा कहते हैं कि धर्मद्रव्य के अभाव के कारण सिद्धजीव लोक से आगे नहीं जाते। इन दोनो मे से कौनसा कथन ठीक है ?

समाधान—जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ में श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने "विस्ससोड्ढगई" पद द्वारा जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव बतलाया है, किन्तु आयुकर्म ने जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्ध कर रखा है। कहा भी है—

"आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्"।

जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुकर्म का उदय और सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीयकर्म का उदय अरहंतो के पाया जाता है।

सिद्ध भगवान के आयुकर्म का क्षय हो जाने से आयुकर्म का उदय नहीं पाया जाता है। प्रतिबन्धक के अभाव के कारण सिद्धों की ऊर्ध्वगमनशक्ति असीम हो जाती है अतः यह कहना कि सिद्धों में लोकाकाश मे ही जाने की शक्ति है, उचित नही है किन्तु आर्षग्रन्थ विरुद्ध है।

गमन मे सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। इसीलिये जिनेन्द्र भगवान ने धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व कहा है।

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ॥१७॥ (वृ द्र सं)

गमन करते हुए जीव और पुद्गलो को धर्मद्रव्य गमन करने मे उसीप्रकार सहकारी कारण होता है जिस प्रकार जल मछलियो के गमन मे सहकारी कारण है, किन्तु ये जबरदस्ती गमन नही कराते।

आचार्य महराज ने मछलियो का दृष्टात देकर यह बतलाया है कि शक्ति होते हुए भी जिस प्रकार मछलियाँ जल की सहायता के बिना गमन नही कर सकती हैं उसीप्रकार शक्ति होते हुए भी जीव धर्मद्रव्य की सहायता बिना गमन नही कर सकता। तालाब आदि मे जहाँ तक जल होता है वहाँ तक ही मछलियाँ गमन कर सकती हैं। वर्षाकाल मे जब तालाब आदि मे जल की वृद्धि हो जाती है तो मछलियाँ पूर्व की अपेक्षा अधिक दूर तक गमन कर सकती हैं। ग्रीष्मऋतु मे जब जल सूखकर बहुत कम रह जाता है तो मछलियो का गमन भी उतने ही अल्पक्षेत्र मे होता है। इससे स्पष्ट है कि शक्ति होते हुए भी मछलियाँ वहाँ तक ही गमन कर सकती हैं जहाँ तक जल होता है, जल से बाहर गमन नही कर सकती हैं। इसीप्रकार असीम शक्ति होते हुए भी सिद्ध भगवान वहाँ तक ही गमन कर सकते हैं, धर्मद्रव्य के अभाव मे उससे आगे गमन नही कर सकते हैं। धर्मद्रव्य लोक के अंत तक है, अतः सिद्धभगवान का गमन भी लोक के अन्त तक ही होता है। उससे आगे धर्मद्रव्य का अभाव है, अतः सिद्ध भगवान का उससे आगे गमन नही हो सकता है। कहा भी है—

जीवाण पुग्गलाण गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥ (नियमसार)

टीका—अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया नास्ति परतो गतिहेतोर्धर्मास्तिकायाभावात्। यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति। अतएव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगति-क्रिया-परिणतानां जीवपुद्गलानांगतिरिति।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक जीवो का गमन होता है। धर्मास्तिकाय के अभाव में उससे आगे गमन नही होता है। लोक शिखर तक ही धर्मास्तिकाय है उससे आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है। अतः सिद्ध भगवान की गति लोकशिखर तक ही होती है तथा धर्मास्तिकाय के अभाव मे उससे आगे नही होती है। जैसे जल के अभाव मे मछलियो का गमन नही होता है।

इस गाथा द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सिद्धों का लोकाकाश से आगे गमन के अभाव मे शक्ति का अभाव कारण नहीं है, किन्तु गतिहेतुत्व लक्षणवाले धर्मास्तिकाय का अभाव कारण है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न श्लोक मे कहा है—

ततोऽप्यूर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्ति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ॥४४॥

लोकशिखर से ऊपर सिद्धो की गति क्यों नहीं होती ? गति का सहकारी कारण जो धर्मास्तिकाय उसका अभाव होने से लोकशिखर से आगे सिद्धों की गति नहीं होती।

श्री अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक मे कहा है—

"गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो न नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे लोकालोकविभागाभावः। प्रसज्यते।"

अर्थ—लोकाकाश से आगे गतिउपग्रह मे कारणभूत धर्मास्तिकाय नहीं है। अतः आगे सिद्धो की गति नहीं होती। आगे धर्मद्रव्य का सद्भाव मानने पर लोकालोक विभाग का अभाव ही हो जायगा।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेदूंहि।
जइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारे ॥१३५॥ (नयचक्र)

गमन और स्थिति के हेतुभूत धर्म-अधर्मद्रव्य ही लोक अलोक के विभाग के कारण हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य या सिद्धजीव लोक-अलोक के विभाग के कारण नहीं हैं। यदि धर्मद्रव्य लोक से बाहर भी होता तो जीव का गमन लोक से बाहर अवश्य हो जाता।

गमनरूप क्रिया मे जीव और धर्मद्रव्य दोनो ही कारण हैं। जो कार्य दो कारणो से होता है वह कार्य एक कारण से नहीं हो सकता।

"दोहिंतो वेदुप्पज्जमाणकज्जस्स तत्थेक्कादो समुप्पत्तिविरोहादो।"

अर्थ—दोनो से उत्पन्न होने वाले कार्य की उनमे से एक के द्वारा उत्पत्ति का विरोध है।

सिद्धों मे गमनशक्ति होते हुए भी धर्मास्तिकाय के अभाव मे लोकशिखर से आगे सिद्धों का गमन नहीं होता है।

—जै. ग. 26-12-68/VII/मगनमाला

क्या पुद्‌गल परमाणु १४ राजू से बाहर नहीं जा सकता है ?

शंका—क्या शीघ्रगति से गमन करने वाला पुद्‌गल परमाणु १४ राजू से बाहर नहीं जा सकता है ? यदि नहीं तो क्यों ?

समाधान—१४ राजू अर्थात् लोकाकाश से बाहर जीव या पुद्‌गल कोई भी द्रव्य नहीं जा सकता है, क्योंकि गमन मे सहकारी कारण धर्मद्रव्य का अभाव है। सिद्धों मे अनन्तवीर्य व ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण अनन्त राजू तक गमन शक्ति है, किन्तु धर्मद्रव्य निमित्त के अभाव में उपादान में योग्यता होते हुए भी गमनरूप कार्य नहीं हो रहा है। श्री कुंदकुंदाचार्य ने कहा भी है—

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८४॥ नि. सा.

अर्थ—जहां तक धर्मास्तिकाय है वहां तक जीवों का और पुद्‌गलों का गमन जानना चाहिए। धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उससे आगे जीव-पुद्‌गल गमन नहीं करते हैं।

यदि धर्मद्रव्य को जीव पुद्गल के गमन मे सहकारी कारण न माना जाय और उसके अभाव मे जीव-पुद्गलों के गमन का अभाव न माना जाय तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवान लोकाकाश के अन्त में क्यो रुक जाते ? कहा भी है—

"उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धाचिट्ठंति किधतत्थ।" (पं० का०)

तत्त्वार्थसूत्र में भी 'धर्मास्तिकायाभावात्।' सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण सिद्धजीव लोक के अन्त मे ठहर जाते हैं।

कुछ अन्य मतियो का यह कहना है कि जीव व पुद्गल लोकाकाश के द्रव्य हैं। उनमे लोकाकाश से बाहर जाने की शक्ति नही है, किन्तु उनकी यह मान्यता जैन मान्यता से विरुद्ध है, क्योंकि सिद्धो मे सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशक्ति है। कहा भी है—

"सर्वोत्कृष्टस्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणता भगवंतः सिद्धाः।"

लोक-अलोक का विभाजन भी धर्म-अधर्म के कारण हुआ है।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेदूहिं।
जइ णहि ताण हेऊ किह लोयालोयववहारं ॥१३५॥ नयचक्र

लोक-अलोक के विभाजन मे धर्म-अधर्मद्रव्य कारण है यदि धर्म-अधर्मद्रव्य का विभाजन न माना जाय तो लोक-अलोक का व्यवहार नही हो सकता है।

—जै. ग. 14-1-71/VII/ रो. ला. जैन

जीव को लोकाकाश से बाहर जाने को शक्ति तो है; पर व्यक्ति नहीं; यह त्रिकाल सत्य है

शंका—श्री कानजी स्वामी परमार्थ से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा 'जीव में लोकाकाश तक ही जाने की शक्ति है, अलोकाकाश में जाने की शक्ति नहीं है' कहते हैं। फिर ३१ अक्टूबर १९५७ के जैन-संदेश मे व्यवहारनय का आश्रय लेकर इस निश्चयनय के पक्ष का खंडन करना उचित नहीं है।

एक विद्वान ने अपने उपदेश में स्वामीजी के इस मत का मंडन करते हुए एक दृष्टान्त भी दिया है जो इस प्रकार है—'दूरान्दूर भव्य के मोक्ष जाने की शक्ति के व्यक्त होने का प्रसंग कभी नहीं आवेगा। इससे निश्चयनय से दूरानदूरभव्य के मोक्ष जाने की शक्ति का अभाव ही मानना पड़ेगा। इसीप्रकार जीव की अलोकाकाश में जाने की शक्ति के व्यक्त होने का प्रसंग कभी आवेगा नहीं अतः निश्चयनय से जीव में अलोकाकाश मे जाने की शक्ति का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा।'

या तो आप अपनी भूल को स्वीकार करें या निश्चयनय की अपेक्षा से इस विषय को स्पष्ट करने की कृपा करें ?

समाधान—मैंने ३१ अक्टूबर १९५७ के समाधान में अनेक दिगम्बर जैन आगमो का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि जीव में अलोकाकाश में जाने की शक्ति है, किन्तु लोकाकाश से आगे धर्मद्रव्य जो कि गमन मे सहकारीकारण है, का अभाव होने से वह शक्ति व्यक्त नहीं होने पाती। अतः धर्मद्रव्य के अभाव के कारण जीव लोकाकाश के बाहर गमन नहीं कर पाता, लोकाकाश के अन्त में रुक जाता है।

संसारी जीवों का कर्म के निमित्त से छहों दिशाओं मे गमन होता है, किन्तु मुक्त जीवों के स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है (**पंचास्तिकाय गाथा ७३ की टीका**) कर्मों के आधीन होने के कारण संसारी जीवो की गति तो सावधि हो सकती है, किन्तु मुक्त जीवो के कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनकी (मुक्त जीवो की) स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशक्ति सावधि न होकर निरवधि होगी, क्योकि विरोधी कारण का सर्वथा अभाव है। **श्री पंचास्तिकाय गाथा ९२ की टीका** मे कहा है कि सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति परिणत होते हैं '**सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणत भगवंतः सिद्धाः।**' **श्री अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा ९४ की टीका** मे लिखते हैं '**जीव पुद्गलानां गतिस्थित्योर्निःसीमत्वात्**' अर्थात् जीव व पुद्गलो की गति सीमारहित है।

'जीव मे उपादानशक्ति ही लोकाकाश तक गमन करने की है' ये वाक्य उपर्युक्त आगमप्रमाणो से तथा ३१ **अक्टूबर व ७ नवम्बर १९५७ के जैन-संदेश** मे दिये गये आगम प्रमाणो से विरुद्ध है। अतः शंकाकार स्वयं विचार करे कि उक्त समाधान मे मेरी भूल है या 'जीव की गमन शक्ति को सीमित' माननेवाले की। भूल स्वीकार करना दूषण नही, किन्तु भूषण है। यदि मेरी भूल होती तो मैं तुरत स्वीकार कर लेता।

निश्चयनय शक्ति का विवेचन करता है न कि शक्ति की व्यक्ति का कहा है—'**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया—त एव सर्वे संसारिणः शुद्धा सहजशुद्धकैकस्वभावाः।**' अर्थात् वे ही सब संसारीजीव निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध यानी स्वाभाविक शुद्धज्ञायकरूप स्वभाव धारक हैं। यह निश्चयनय का कथन शक्ति की अपेक्षा से है, क्योकि संसारी जीव अशुद्ध हैं फिर भी उनको निश्चयनय की दृष्टि मे शक्ति की अपेक्षा शुद्ध कहा है। (**बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १२ व टीका**) इसीप्रकार सिद्धभगवान का अलोकाकाश मे गमन न होने पर भी निश्चयनय की दृष्टि मे असीमित शक्ति की अपेक्षा यह ही कहा जावेगा कि सिद्धभगवान मे अलोकाकाश मे गमन करने की उपादानशक्ति है। अतः निश्चय नय की अपेक्षा भी सिद्धो की शक्ति को सीमित मानना आगमानुकूल नही है।

सिद्धभगवान मे अलोकाकाश मे गमन करने की उपादानशक्ति का अभाव सिद्ध करने के लिये जो दूरानदूर भव्य का दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योकि 'दूरानदूर भव्य मे मोक्ष जाने की शक्ति का अभाव है' ऐसा आगम वाक्य नहीं है, किन्तु उनमे मोक्ष जाने की शक्ति का सद्भाव है, जैसा कि **षट्खंडागम पुस्तक ७ पृ० १७६** पर कहा है—अनादि से अनन्तकाल तक रहनेवाले भव्य जीव हैं तो सही पर उनमे संसार अविनाशशक्ति का अभाव है अर्थात् संसार विनाशशक्ति का सद्भाव है।

वर्तमान मे दिगम्बर जैन वाणी के अतिरिक्त इस जीव का हितु अन्य कोई नहीं है। शास्त्रो के द्वारा ही देव, गुरु, धर्म व नवपदार्थ व निज के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है, जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। **श्री प्रवचनसार** मे कहा भी है—जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहसमूह क्षय हो जाता है इसलिये शास्त्र का सम्यक्प्रकार से अध्ययन करना चाहिये। (**गाथा ८६**) श्रमण (मुनि) एकाग्रता को प्राप्त होता है एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है इसलिये आगम मुख्य है (गा० २३२) आगमहीन श्रमण आत्मा को, पर को नही जानता। पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किसप्रकार क्षय कर सकता है (गा० २३३) इसलोक मे जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि नही है, उसके संयम नहीं है, इसप्रकार सूत्र कहता है और वह असंयत श्रमण कैसे हो सकता है (गा० २३६) आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो मुक्ति नहीं हो सकती (गा० २३७) प्रत्येक दिगम्बर जैन को आगम पर अवश्य श्रद्धान रखना चाहिये। जिसको आगम पर श्रद्धान है उसको आगमविरुद्ध उपदेश नहीं देना चाहिये। उसको तो ऐसे वाक्य भी नहीं उच्चारण करने चाहिये जिनका आगम से विरोध होता हो। आगम से विरुद्ध बोलनेवाला आगम का श्रद्धालु कैसे हो सकता है? जिसको दिगम्बर जैन आगम पर श्रद्धा नहीं वह क्या है, स्वयं पाठकगण

विचार करलें। हमारी तो जिनआगम पर ऐसी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये कि स्वप्न मे या भूल मे भी कोई वाक्य आगमविरुद्ध न निकले।

—जै. सं. 7-8-58/V/ दुलीचन्द

धर्मादिक द्रव्यों के कार्य

शंका—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अजीव होते हुए भी अरूपी हैं। इन चारों में से प्रत्येक द्रव्य का कार्य भिन्न-भिन्न है, किन्तु इनका कार्य जीव और पुद्गलद्रव्य की तरह अनुभव में नहीं आता ?

समाधान—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अरूपी हैं अतः ये द्रव्य इन्द्रियगोचर तो हो नहीं सकते, किन्तु इनके कार्यों से इनका अनुमान किया जा सकता है। अत. इनके अस्तित्व का ज्ञान होता है। जीव और पुद्गल यद्यपि सक्रिय द्रव्य हैं, किन्तु बिना धर्मद्रव्य के उनकी क्रिया नही हो सकती, क्योंकि धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन मे सहायक है जिसप्रकार जल मछली के चलने मे सहायक है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के चलने मे प्रेरक कारण नही है जिसप्रकार जल मछली के चलने मे प्रेरक कारण नही है। यदि धर्मद्रव्य प्रेरक कारण होता तो कोई भी जीव या पुदगल स्थिर न पाया जाता। शक्ति होते हुए भी धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गल गमन भी नही कर सकते। जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है सिद्ध भगवान मे अनन्त शक्ति है, किन्तु धर्मद्रव्य के अभाव के कारण अलोकाकाश मे गमन नहीं कर सकते। धर्मद्रव्य के अभाव के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं जो अनन्त शक्तिवाले सिद्ध भगवान के गमन को रोक दे, क्योंकि सिद्ध भगवान मे कर्मों का सर्वथा अभाव है।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र १७ 'गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः'। मे जो 'उपग्रह' शब्द आया है उसका अर्थ 'द्रव्यो की शक्ति का आविर्भाव करने मे कारण होना' है **राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १७ वार्तिक ३। इसी सूत्र की वार्तिक ३१** मे कहा है—"जैसे अकेले मृत्पिंड से घडा उत्पन्न नही होता; उसके लिये कुम्हार, चक्रचीवर आदि अनेक बाह्यकारण अपेक्षित होते हैं उसी तरह गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणो की अपेक्षा करती है। इनमे सब की गति और स्थिति के लिये साधारणकारण क्रमशः धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य होते हैं। इसतरह अनुमान से धर्म और अधर्मद्रव्य प्रसिद्ध हैं।" **पंचास्तिकाय गाथा ८७** मे कहा गया है कि लोक और अलोक का विभाग ही धर्म और अधर्म के कारण हुआ है। यदि धर्म और अधर्मद्रव्य गति व स्थिति मे कारण न होते तो अलोकाकाश मे भी जीव और पुद्गल पाये जाते **पंचास्तिकाय गाथा ९२, ९३, ९४ व उनकी टीका।**

इसीप्रकार अवगाहनहेतुत्वगुण के द्वारा आकाशद्रव्य का भी अनुमान होता है। कालद्रव्य का भी वर्तना-हेतुत्व गुण के द्वारा अनुमान होता है। यद्यपि परिणमन करने की शक्ति प्रत्येकद्रव्य मे है, परन्तु यदि कालद्रव्य न होता तो उन द्रव्यो की परिणमनशक्ति व्यक्त नही हो सकती थी। कालद्रव्य की 'समय' पर्याय है असंख्यात समयो की आवलि और संख्यात आवलियो का एक मुहूर्त होता है। यह काल अनुभव मे आता है। इसप्रकार काल का भी अनुमान होता है।

—जै. ग. 4-4-63/IX/ शान्तिलाल

आकाश सर्वव्यापक तथा दो भेदवाला कैसे है ?

शंका—आकाश सर्व व्यापक कैसे है ? यदि आकाश सर्व-व्यापक है तो उसके लोकाकाश और अलोका-काश ऐसे दो खण्ड नहीं हो सकते, क्योंकि सर्वव्यापक अखण्ड होता है ?

समाधान—आकाश अखण्ड एकद्रव्य है। तत्त्वार्थसूत्र मे कहा भी है—

"आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥"

आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं। ये तीनों द्रव्य की अपेक्षा से एक एक हैं, किन्तु क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अनेक हैं। कहा भी है—

"अवगाह्यनेकद्रव्य विविधावगाहनिमित्तत्वेन अनन्तभावत्वेऽपि प्रदेशभेदात् सति चानन्तक्षेत्रत्वे द्रव्यतः एकमेवाकाशमिति।" रा. वा अध्याय ५ सूत्र ६ वार्तिक ६।

अर्थ—आकाश को अवगाहन करनेवाले अनेक द्रव्यो के अनंत अवगाहन होते हैं इसलिये अनन्त अवगाहनो के कारण भाव की अपेक्षा यद्यपि आकाशद्रव्य अनन्त है एव आकाश के अनन्तप्रदेश हैं इसलिये क्षेत्र की अपेक्षा भी आकाश अनन्त है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा आकाश एक ही है।

एक द्रव्य मे प्रदेश (खण्ड) कल्पना मात्र हो सो भी बात नही है और प्रदेश भेद होने से अर्थात् खण्ड होने से एक द्रव्यपने की हानि हो जाती हो सो भी बात नही है। कहा भी है—

"एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पनोपचार इति चेत् न, मुख्यक्षेत्रविभागात्। मुख्य एवं क्षेत्रविभागाः अन्यो हि घटावगाह्यः आकाशप्रदेशः इतरावगाह्यश्चान्य इति। यदि अन्यत्वं न स्यात्; व्याप्तित्व व्याहन्यते। निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत् न, द्रव्यविभागाभावात्। यथा घटो द्रव्यतो विभागवान् सावयवः, न च तथैषां द्रव्यविभागोऽस्तीति निरवयवत्वं प्रयुज्यते।" (रा. वा अ. ५ सूत्र ८)

एक अखण्डद्रव्य मे प्रदेश कल्पना अर्थात् खण्ड कल्पना उपचार मात्र से है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा से अखण्डद्रव्य मे विभाग मुख्यरूप से हैं। जिसको घट ने अवगाहन कर रखा है वह आकाश प्रदेश अन्य है और जिसको अन्य पदार्थ ने अवगाहन कर रखा है वे आकाश प्रदेश अन्य हैं ऐसी प्रतीति है। यदि मुख्यरूप से क्षेत्र का विभाग न माना जायगा तो आकाश का व्यापकपना ही न सिद्ध होगा अर्थात् प्रदेशो को भिन्न भिन्न न मानकर यह घटाकाश है यह पटाकाश है यह मठाकाश है इसप्रकार आकाश ही भिन्न-भिन्न माना जायगा तो आकाश का व्यापकपना न बन सकेगा। जिसप्रकार घटरूप द्रव्य के जुदे-जुदे टुकडे हो जाते हैं इसलिये वह सावयव अर्थात् अवयवविशिष्ट पदार्थ है उसप्रकार धर्म-अधर्म आकाश द्रव्यो के विभाग नही किसी भी कारण से घट के समान उसके जुदे-जुदे टुकडे नही हो सकते, इसलिये उनका निरवयवपना बाधित नही है।

आकाशद्रव्य के प्रदेश अन्य सब द्रव्यो और उनके प्रदेशो से अनन्तगुणे हैं, अतः आकाशद्रव्य सबसे बडा होने के कारण व्यापक है। आकाशद्रव्य के प्रदेशो की गणना इसप्रकार है—

"सव्वजीवरासी वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरिगंतूण सव्वपोग्गलदव्वं पावदि। पुणो सव्वपोग्गलदव्वं वग्गिज्जमाण वग्गिज्जमाणं अणंतलोगमेत्तवग्गिणट्ठाणाणि उवरिगंतूण सव्वकाल पावदि। पुणो सव्वकाला वग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरिगंतूण सव्वागाससेठि पावदि।"
(परिकर्म सूत्र एवं त्रिलोकसार गाथा ६९ की टीका)

अर्थ—सर्व जीवराशिका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकप्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है। पुनः सब पुद्गलद्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब काल के समय प्राप्त होते हैं। पुनः सब कालसमयों का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व आकाश के प्रदेश प्राप्त होते हैं।

परिकर्म के इन आर्ष वचनों से जाना जाता है कि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है अतः वह व्यापक है।

—जै ग 23-9-71/VII/ रो. ला मित्तल

अवकाशदान आकाश का ही असाधारण गुण हो सकता है

शंका—अवकाश देना आकाश का ही असाधारण गुण क्यों? क्योंकि अन्य द्रव्य भी परस्पर एक दूसरे को स्थान देते हैं। सिद्धों के अवगाहनत्व गुण का क्या प्रयोजन है?

समाधान—इस प्रकार की शंका सर्वार्थसिद्धि मे भी उठाई गई है। उसका समाधान निम्न प्रकार किया गया है—

"यद्येवं नेदमाकाशस्यासाधारणं लक्षणम्, इतरेषामपि तत् सद्भावादिति? तन्न, सर्वपदार्थानां साधारणाव-गाहनहेतुत्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोषः। सर्वार्थसिद्धि ५।१८।

"यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः आकाशस्य क आधार इति? आकाशस्य नास्त्यन्याधारः। स्वप्रतिष्ठ-माकाशम्। यद्याकाशं स्वप्रतिष्ठम्; धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव। अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाश-स्याप्यन्य आधारः कल्प्यः। तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत्? नैष दोषः नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति यत्राकाशं स्थितमित्युच्येत सर्वतोऽनन्तं हि तत्।" सर्वार्थसिद्धि ५।१२।

अर्थ—यदि ऐसा है तो 'अवकाशदान' आकाश का असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे द्रव्यो मे भी अवकाशदान पाया जाता है? यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकाशद्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने मे साधारण कारण है, यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिये कोई दोष नहीं है।

यदि धर्मादिकद्रव्यो का लोकाकाश आधार है तो आकाश का क्या आधार है? आकाश का अन्य आधार नहीं है, क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है। यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिकद्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ होने चाहिये। यदि धर्मादिकद्रव्यो का अन्य आधार माना जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार मानना चाहिये और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। यह दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है, वह सबसे अनन्त है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि यदि आकाश के अतिरिक्त अन्य द्रव्यो मे भी 'अवकाशदान' असाधारण गुण माना जायगा तो उनको भी समस्त द्रव्यो को अवकाश देना चाहिये, किन्तु वे समस्त आकाशद्रव्य को अवकाश देने मे असमर्थ है, क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा आकाश से बडा अन्य नहीं है। आकाश ही सबसे बडा द्रव्य होने से आकाश तो अन्य द्रव्यो को अवकाश देता है, किन्तु अन्यद्रव्य सम्पूर्ण आकाश को अवकाश देने मे असमर्थ हैं। अतः अवकाशदान अन्यद्रव्यो का असाधारण गुण नहीं हो सकता है, मात्र आकाश का ही है

—जै. ग 1-6-72/VII/ र. ला जैन

लोक-अलोक की व्याख्या तथा इनके विभाजन का हेतु

शंका—लोक और अलोक की व्याख्या क्या है और इनके विभाजन का क्या कारण है?

समाधान—आकाश एक अखण्डद्रव्य है। उस आकाश के जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और कालद्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और उससे आगे अलोकाकाश है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

समवाओ पंचण्हं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं ।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ ख ॥ ३ ॥ पंचास्तिकाय

अर्थ— पाँच जीवादि द्रव्यों का समूह समय है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है । वही पाँचों का समुदाय लोक है, इससे बाहर अप्रमाण अलोकमात्र शुद्धआकाश है ।

"लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादि पदार्था यत्र स लोकः तस्माद्बहिर्भूतमनन्तशुद्धाकाशमलोक इति ।"

अर्थ—जहाँ जीव आदि पदार्थ दिखलाई पड़े सो लोक है, इसके बाहर अनन्त शुद्धआकाश है सो अलोक है ।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च हेदूहिं ।
जइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारं ॥१३५॥ (नयचक्र)

गमन और स्थिति के हेतुभूत धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के द्वारा लोक और अलोक का विभाजन किया गया है । यदि धर्म और अधर्मद्रव्य न होते तो लोक और अलोक का व्यवहार ही सम्भव नहीं हो सकता ।

"जादो अलोगलोगो तेसिं सब्भावदो य गमणठिदी ॥८७॥" (पंचास्तिकाय)

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य की सत्ता होने से ही लोक और अलोक का विभाजन हुआ है तथा जीव पुद्गल की गमन व स्थिति होती है ।

"लोकालोकद्वयं कस्माज्जातं ? ययोर्धर्माधर्मयोः स्वभावतश्च ।"

टीका—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के स्वभाव से ही लोक और अलोक इन दोनो की उत्पत्ति होती है ।

"धर्माधर्मौ विद्येते, लोकालोकविभागान्यथानुपपत्तेः । जीवादिपदार्थानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः । शुद्धैका-काशवृत्तिरूपोऽलोकः ।"

टीका—यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न हों तो लोक और अलोक का विभाग नहीं हो सकता । धर्म और अधर्म विद्यमान हैं, क्योंकि लोक और अलोक का विभाग पाया जाता है । जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र अस्तित्व-रूप लोक है, शुद्धएकआकाश से अस्तित्वरूप अलोक है ।

इन आर्षवाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक-अलोक का विभाजन धर्म अधर्मद्रव्यो के कारण है । जहाँ तक जीव आदि पदार्थ पाये जाते हैं वह लोक है । जहाँ पर केवल आकाश ही द्रव्य है वह अलोक है ।

—जै ग. 23-9-71/VII/ रो. ला. मित्तल

समय कथंचित् अविभागी व कथंचित् सविभागी है

शंका—आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में परमाणु को जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं । किन्तु तीव्रगति से एकसमय मे १४ राजू गमन करता है । १४ राजू के जितने प्रदेश हैं, समय के उतने भाग हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक प्रदेश को परमाणु भिन्न-भिन्न काल में स्पर्श करता है फिर समय को अविभागी क्यों कहा जाता है ?

समाधान—इस विषय मे अनेकांत है । समय अविभागी भी है, सविभागी भी है । कोई भी कार्य एक समय से कम काल मे समाप्त नहीं होता है, इस अपेक्षा से समय अविभागी है, किन्तु एक समय मे १४ राजू गमन

करने पर समय सविभागी है। इसीप्रकार परमाणु भी सावयव भी है और निरवयव भी है। परमाणु का विभाग नहीं हो सकता इस अपेक्षा से निरवयव है, किन्तु दो परमाणुओं का परस्पर देशस्पर्श होता है, अन्यथा स्थूल स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं बन सकती, इस अपेक्षा से परमाणु सावयव है। धवल पु० १३ पृ० २१-२४।

जैनधर्म का मूल सिद्धांत अनेकांत है। अनेकान्त का श्रद्धान करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है। जिसको किसी भी विषय में एकांत का आग्रह है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—जै ग 7-8-67/VII/ शान्तिलाल

काल की सत्ता है

शंका—भावसंग्रह पृ० २०५ गाथा ३१६ के अर्थ में लिखा है कि कालद्रव्य सत्तारूप से नहीं है, इसलिये उसे अस्तिकाय भी नहीं कहते। क्या जिन द्रव्यों की सत्ता मौजूद है वही अस्तिकाय द्रव्य हैं सो खुलासा करना?

समाधान—भावसंग्रह गाथा २०५ निम्न प्रकार है—

> एय तु दव्व छक्क जिणेहि पंचत्थिकाइयं भणियं।
> वज्जिय कायं कालो कालस्स पएसयं णत्थि ॥३१६॥

पृ० २०५ पर अर्थ इसप्रकार लिखा है—"इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने छहद्रव्यों का स्वरूप कहा है। इन छहो द्रव्यों मे से काल को छोड़कर शेष पाँचद्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। जिनकी सत्ता हो उनको अस्ति-कहते हैं और जो काय व शरीर के समान अनेक प्रदेशवाला हो उसको काय कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँचों द्रव्य बहुप्रदेशी हैं इसलिये अस्तिकाय कहलाते हैं। काल के प्रदेश नहीं हैं वह एक ही प्रदेशी है इसलिये अस्तिकाय नही कहते हैं।"

यहाँ पर 'काल की सत्ता नहीं है' ऐसा नही कहा है किन्तु 'वह एक ही प्रदेशी है' इससे काल की सत्ता स्वीकार की गई है, किन्तु बहुप्रदेशी न होने के कारण इस को काय नही कहा गया है।

'काल अस्तिकाय नहीं है' इन शब्दों मे शंकाकार को भ्रम हो गया है। किन्तु काल एक ही प्रदेशी है इससे काल की सत्ता स्वीकार की गई है।

—जै. ग. 12-6-69/VII/रो. ला मित्तल

प्रत्येक कालाणु की पृथक्-पृथक् समयरूप पर्याय होती है

शंका—'समय' पर्याय कालाणुओं की एक समयवर्ती दशा का ही नाम है या और कुछ? क्या वह प्रत्येक कालाणु पृथक् २ पर्याय होगी?

समाधान—कालाणु की समयरूप पर्याय है और समयरूप पर्याय की जो स्थिति है, वह समयरूप व्यवहार-काल है। पंचास्तिकाय गाथा २६ की टीका मे कहा है—

"समयस्तावत्सूक्ष्मकालरूपः प्रसिद्धः एव पर्यायः न च द्रव्यं। कथं पर्यायत्वमिति चेत्? उत्पन्नप्रध्वंसित्वात्पर्यायस्य, समओ उप्पण्ण पद्धंसीति वचनात्।"

समय सबसे सूक्ष्मकालरूप प्रसिद्ध एक पर्याय है, वह द्रव्य नहीं है। उत्पन्न होना और विनाश होना पर्याय का लक्षण है। समय भी उत्पन्न होता है और विनाश होता है। इसलिये पर्याय है।

"स्थितिः कालसंज्ञका । तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थिति सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः ।" द्रव्यसंग्रह गाथा २१ टीका ।

जो स्थिति है वह काल-संज्ञक है । अर्थात् द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखनेवाली जो समय, घड़ीआदिरूप स्थिति है; वह स्थिति ही व्यवहारकाल है, किन्तु पर्याय व्यवहारकाल नहीं है ।

प्रत्येक कालाणु पृथक् २ द्रव्य है अतः प्रत्येक कालाणु की पृथक्-पृथक् समयरूप पर्याय होती है ।

—जै॑ ग 24-8-72/VII/ र ला जैन

समस्त पर्यायों में कालद्रव्य कारण नहीं होता

शंका—क्या समस्त पर्यायों में कालद्रव्य कारण नहीं होता ?

समाधान—सर्वपर्यायो मे कालद्रव्य कारण नही होता । जैसे अभव्यत्व पर्याय है तथा इसी तरह अन्य अनादि-अनन्त पर्यायो मे कालद्रव्य कारण नही होता । सादि-अनन्तपर्यायो की स्थिति मे कालद्रव्य कारण नहीं होता । कालद्रव्य का लक्षण वर्तना मे कारणपना है, जो शुद्धद्रव्य मे अगुरुलघुगुण के कारण होती है और अशुद्ध-द्रव्यो मे बन्ध के कारण व काल के कारण होती हैं ।

—पत्र 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

काल के परिणमन में सहकारी कारण काल है

शंका—अन्य द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य सहकारी कारण है, किन्तु कालद्रव्य के परिणमन मे कौन सहकारी कारण है ?

समाधान—जिसप्रकार ज्ञान को जानने के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है, क्योकि ज्ञान जिसप्रकार पर को जानता है उसीप्रकार अपने को भी जान लेता है, इसीलिये ज्ञान को दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक कहा गया है । आकाशद्रव्य अन्य समस्त द्रव्यो को अवगाहन देता है और स्व को भी अवगाहन देता है, आकाश को अवगाहन देने के लिये अन्यद्रव्य की आवश्यकता नहीं होती है । इसीप्रकार काल भी अन्य द्रव्यों के परिणमन तथा अपने परिणमन मे कारण है । कहा भी है—

न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्यान्याव्यपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तत्स्वभावत्वात्स्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥१२॥ श्लोकवार्तिक ५।२२

यदि कोई यो कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने मे कालद्रव्य साधारण हेतु है और कालद्रव्य की वर्तना में भी वर्तयिता किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता पडेगी और उस अन्य द्रव्य की वर्तना करने मे भी द्रव्यान्तरों की आकाक्षा बढ़ जाने से अनवस्था दोष होगा ? ग्रन्थकार कहते हैं—हमारे यहाँ इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं आता है, क्योकि काल को अन्य द्रव्य की अपेक्षा नही है, अपनी वर्तना करने मे उस काल का वही स्वभाव कारण है, क्योकि दूसरो के वर्तना कराने के समान कालद्रव्य की स्वय निज मे वर्तना करने की प्रसिद्धि हो रही है । जैसे आकाश दूसरो को अवगाह देता हुआ स्वयं को भी अवगाह दे देता है तथा ज्ञान अन्य पदार्थों को जानता हुआ भी स्वय को जान लेता है । श्लोकवार्तिक छठा खड पृ. १६०-१६१ ।

—जै. ग. 7-1-71/VII/ रो. ला. मित्तल

आस्रव तत्त्व

आस्रव का कारण

शंका—आस्रव का कारण योग है या कषाय व योग है ?

समाधान—आस्रव का कारण योग है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र १ व २ मे योग को आस्रव कहा है। साम्परायिकआस्रव मे कषायसहित योग आस्रव का कारण है। साम्पराय का अर्थ कषाय है।

—जै. ग 31-10-63/IX/ र. ला जैन, मेरठ

एक ही समय में भावास्रव, द्रव्यास्रव व बन्ध होते हैं

शंका—जिससमय भावास्रव होता है क्या उसी समय द्रव्यास्रव होता है या उत्तर समय में ? बन्ध भी क्या उसीसमय में होता है या अनन्तर समय मे ?

समाधान—योग के निमित्त से द्रव्यास्रव होता है। द्रव्यास्रव का यह अर्थ नहीं है कि कार्माणवर्गणा कहीं बाहर से आती है, किन्तु जहाँ पर जीव है वहीं पर बंधयोग्य कार्माण-वर्गणारूप पुद्गलस्कंध भी है। कहा भी है—

"यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रेजीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति।" प्रवचनसार गाथा १६८ टीका।

अर्थात्—जहाँ पर जीव स्थित है वहीं पर बन्धयोग्य पुद्गल भी स्थित हैं बाहर से जीव नहीं लाता।

इसी बात को मोक्षशास्त्र अध्याय ८ सूत्र २४ में 'सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः' द्वारा कहा गया है। श्री अकलंकदेव ने भी इस सूत्र की टीका मे कहा है—

"आत्मप्रदेशकर्मपुद्गलैकाधिकरणव्यतिरिक्तक्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थमेकक्षेत्रावगाह इति वचनं क्रियते।"

अर्थात्—आत्मप्रदेश और कर्मयोग्य पुद्गलो का एक अधिकरण है तथा अन्य क्षेत्र के निराकरण के लिये सूत्र मे एक क्षेत्रावगाह वचन दिया गया है।

यह कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य आठ प्रकार का होता है षट्खंडागम मे कहा भी है—

"णाणावरणीयस्स दंसणावरणीयस्स वेयणीयस्स मोहणीयस्स आउअस्स णामस्स गोदस्स अंतराइयस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण णाणावरणीयत्ताए दंसणावरणीयत्ताए वेयणीयत्ताए मोहणीयत्ताए आउअत्ताए णामत्ताए गोदत्ताए अंतराइयत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि कम्मइयदव्ववग्गणा णाम ॥ ७५८ ॥"

वर्गणा खंड बन्धन-अनुयोगद्वार चूलिका

टीका—णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव मिच्छत्तादिपच्चएहि पंचणाणावरणीयसरूवेण परिणमंति ण अण्णेसिं सरूवेण। कुदो ? अप्पाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसिं कम्माणं वत्तव्वं, अण्णहा णाणावरणीयस्स जाणि दव्वाणि ताणि मिच्छत्तादिपच्चएहि णाणावरणीयत्ताए परिणामेदूण जीवा परिणमंति त्ति सुत्ताणुववत्तीदो।

सूत्र-अर्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के जो द्रव्य हैं, उनको ग्रहणकर ज्ञानावरणरूप से, दर्शनावरणरूप से, वेदनीयरूप से, मोहनीयरूप से, आयुरूप से, नामरूप से,

गोत्ररूप से और अन्तरायरूप से परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, अतः उन द्रव्यों की कार्माण-द्रव्य वर्गणा संज्ञा है ॥ ७५८ ॥

टीकार्थ—ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य हैं वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययो के कारण पाँच ज्ञानावरणीय-रूप से परिणमन करते हैं, अन्यरूप से वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं। इसीप्रकार सब कर्मों के विषय में कहना चाहिए, अन्यथा ज्ञानावरणीय के जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहणकर मिथ्यात्व आदि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूप से परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, यह सूत्र नहीं बन सकता है।

इससे सिद्ध है कि जिस समय भावास्रव (योग) है उसीसमय द्रव्यास्रव है, क्योंकि कार्माणवर्गणा (बध पुद्गलद्रव्य) बाहर से नहीं आता।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबंध के प्रत्यय अर्थात् हेतु (कारण) हैं। जहाँ पर ये पाँचो, चार, तीन, दो या एक कारण हैं वहाँ पर कर्मबंध होता है। कहा भी है—

"मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ ८।१ ॥" मोक्षशास्त्र

टीका—"मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं समुदायेऽवयवे च वेदितव्यम् ।"

सूत्रार्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं।

टीकार्थ—मिथ्यादर्शनादि समुदित और पृथक् पृथक् भी बन्ध के हेतु होते हैं।

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ ८।२ ॥"

अर्थ—कषायसहित होने से जीव अर्थात् कषायसहित जीव कर्म के योग्य (कार्माण वर्गणा) पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है। अर्थात् कषायसहित जीव का कर्म के योग्य पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण करना ही बन्ध है।

इससे स्पष्ट है कि आस्रव और बन्ध का भिन्नसमय नहीं है। जिससमय मे कर्म-आस्रव है उसीसमय मे बन्ध है। अन्यथा सकषायजीव के दसवें गुणस्थान के अन्त समय मे जो कर्मास्रव हुआ है, या तो उसका बन्ध अकषाय जीव अर्थात् ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान के प्रथमसमय मे बन्ध का प्रसग आजायगा या उसके बन्ध के अभाव का प्रसग आजायगा। जिससे उपर्युक्त सूत्र से विरोध आजायगा।

इन दोनो शकाओ से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकाकार का यह विचार है कि कारण और कार्य का भिन्न-भिन्न समय होना चाहिये, किन्तु ऐसा एकान्त नहीं है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश इन दोनो की युगपत् उत्पत्ति होती है फिर भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है।

सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हु प्रकाश, दीपक ते होई ॥ छहढाला-दौलतराम

इसप्रकार एक ही समय मे भावास्रव, द्रव्यास्रव और बन्ध आदि अनेक कार्य होने मे कोई बाधा नहीं है।

—जै. ग. 3-1-66/VIII/ म. ला. जैन

जीव के विभाव परिणमन में द्रव्यकर्म ही हेतु है

शंका—जीव में विभाव-परिणमन पुद्गल-द्रव्यकर्म के बंध के कारण है या अन्य कोई कारण है ?

समाधान—जब तक दूसरे द्रव्य के साथ बंध न हो उस समयतक कोई भी द्रव्य अशुद्ध नहीं हो सकता है। स्वर्ण का किट्टिमा के साथ बंध होने से स्वर्ण अशुद्ध होता है। उसीप्रकार जीव का द्रव्यकर्म के साथ बंध होने से जीव अशुद्ध होता है। अकेला जीव अशुद्ध नहीं हो सकता और न उसमे रागद्वेष आदि विभाव परिणति हो सकती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एव णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगस्वरूप आप तो नहीं परणमती, परन्तु वह स्फटिकमणि आप दूसरे लालआदि द्रव्यों से मेल होनेपर ललाईआदि रंगस्वरूप परणमती है। इसीप्रकार जीव आप शुद्ध है, वह राग आदि विभावरूप आप नहीं परिणमता, परन्तु अन्य राग आदि दोषरूप (क्रोध, मान, माया, लोभ कषायरूप) द्रव्यकर्मों से रागादि विभावरूप किया जाता है।

इसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—जैसे अकेला स्फटिकमणि परिणमन स्वभाव होने पर भी दूसरे द्रव्य के बिना आप लालरूप नहीं परिणमता, परन्तु परद्रव्य का मेल होने पर स्फटिकमणि अपने स्वभाव से च्युत होकर लालरग आदि विभावरूप परिणमता है, क्योंकि अपने विभावरूप परिणमने मे स्वय निमित्त कारण नहीं है। इसीप्रकार अकेला आत्मा परिणामस्वरूप होने पर भी आप ही रागादि विभावरूप नहीं परिणमता, क्योंकि अपने रागादि विभाव के लिये आप ही कारण नहीं है। परन्तु पुद्गलरूप द्रव्यकर्म के मेल से आत्मा अपने स्वभाव से च्युत होकर रागादि विभावरूप परिणमता है।

इससे सिद्ध है कि जीव के विभावरूप परिणमन मे द्रव्यकर्म कारण है, क्योंकि समस्त द्रव्यकर्म का क्षय हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है अर्थात् जीव का शुद्ध परिणमन हो जाता है और विभावरूप परिणमन का अभाव हो जाता है।

—जै. ग. 24-7-67/VII/ ज. प्र. म. कु.

आस्रव के अधिकरण

शंका—ज्ञानपीठ राजवार्तिक दूसरा भाग पृ० ५१३ पंक्ति २२, २३, २४ में अधिकरण के १० भेद बतलाये हैं उनमें ७ अजीव अधिकरण और ३ जीव अधिकरण जान पड़ते हैं। ये भेद कुछ समझ में नहीं आये। कृपया स्पष्ट करें। हमारे विचार से तो अनन्त भेद होने चाहिए। क्या इन भेदों का धवलादि ग्रन्थों में भी कहीं कथन आया है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र ७ में "जीव और अजीव ये आस्रव के अधिकरण हैं" ऐसा कहा गया है। राजवार्तिक टीका मे इन दोनो अधिकरणों के १० भेद इसप्रकार कहे हैं—विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटेरूप से युक्त मन, वचन, काय।' इनमे सात अचेतन और तीन चेतन हैं। ये १० भेद

उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी आस्रव के अधिकरण हैं, जिनका कथन सूत्र ८ व ९ मे है। यह सब संक्षेप से कथन है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया जावे तो अधिकरण के अनेक भेद हो सकते हैं। धवलग्रंथ मे इस दृष्टि से आस्रव के अधिकरण का कथन नहीं है।

—जै. ग. 27-2-64/IX/ प0 सरनाराम जैन

पापपुण्य कथंचित जीव के हैं, कथंचित् पुद्गल के

शंका—१० नवम्बर १९६६ के जैनसंदेश पृ० ३०९ कालम दो में लिखा है—"शुभाशुभ परिणाम (भाव-पुण्य भावपाप) का कर्त्ता तो जीव है," किन्तु इसी लेख के फलितार्थ में पृ० ३१३ पर लिखा है—"पुण्य और पाप चाहे वे भावात्मक हों और चाहे द्रव्यरूप हों दोनों ही पुद्गल की उपज हैं।" क्या इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध नहीं है ?

समाधान—शुभाशुभभाव न तो केवल जीव के परिणाम हैं, क्योंकि सिद्धो मे नही होते और न केवल पुद्गल के हैं, क्योंकि मेज, कुर्सी आदि मे नही पाये जाते। जीव और पुद्गल की बध अवस्था मे होते हैं। अतः कहीं पर उपादान की मुख्यता से शुभाशुभ भावो को जीव के कह दिए जाते हैं और कहीं पर निमित्त की मुख्यता से पुद्गल के कह दिए जाते हैं। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे पुण्य-पाप अवस्तु हैं।

—जै ग 5-10-67/VII/ र ला. जैन

(१) शरीर आदि की क्रिया से आत्मा को आस्रव होता है
(२) कथंचित् भावशून्य क्रिया का भी फल
(३) दिगम्बरेतर दर्शन में क्रियानिरपेक्ष भाव माना है
(४) नग्नता मोक्षमार्ग है

शंका—भावसहित क्रिया का फल होता है, भावरहित क्रिया का फल नहीं होता; क्या यह कथन सर्वथा सत्य है ? विस्तृत समाधान दीजिये।

समाधान—"काय-वाङ्-मनः कर्मयोगः ॥ १ ॥ सः आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥"
त० सू० अ० ६।

अर्थात्—शरीर, वचन और मन की क्रिया योग है। वह योग ही आस्रव है। शुभ योग से पुण्यास्रव और अशुभ योग से पापास्रव होता है।

मन, वचन और काय की क्रिया भावसहित भी होती है और भावशून्य भी होती है, किन्तु कर्मों का आस्रव हर हालत मे होता है और वह कर्मास्रव कम से कम एक समय की स्थितिवाला अवश्य होता है और अपना फल देकर जाता है।

यदि यह कहा जावे कि 'शरीर वचन मन' पुद्गलमयी हैं, क्योंकि "शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ त० सू० अ० ५ मे इनको पुद्गल का कार्य कहा है और पुद्गलमयी शरीर आदि की क्रिया से जीव के आस्रव नहीं होना चाहिये ('शरीर वचन और मन पौद्गलिक है') यह सत्य होते हुए भी शरीर आदि का आत्मा के साथ बंध होने के कारण एकत्व होरहा है। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि दूसरे अध्याय सूत्र ७ की टीका

में कहा है—"बंधं पडिएयत्तं" अर्थात् —बंध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल का एकत्व होरहा है, इसलिये शरीर आदि जड़ की क्रिया से जीव के आस्रव होता है।

यदि यह कहा जावे कि भावशून्य क्रियाओं का फल नहीं होता। सो ऐसा एकान्त भी नहीं है, क्योंकि कहीं पर भावशून्य क्रियाओं का भी फल देखा जाता है। जैसे श्री अर्हंत भगवान की कर्मोदयजनित विहार आदि भावशून्य शारीरिक क्रिया का फल मोक्ष देखा जाता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका मे कहा है—

"क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव। " नित्य-मौदयिकी कार्यभूतस्य बंधस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत।"

अर्थात्—उन अर्हंत की जो भी क्रिया है वह सब उस पुण्य के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी है। वह नित्य औदयिकी क्रिया बंध का तो कारण नहीं है, किन्तु मोक्षरूपी कार्य का कारण है इसलिये वह क्रिया क्षायिकी है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भावशून्यक्रिया का फल मोक्ष स्वीकार किया है। प्रवचनसार गाथा २११ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा उसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भावशून्य मात्र कायचेष्ठा का फल 'संयम का छेद' स्वीकार किया है।

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स काय—चेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया॥ २११॥

अर्थ—यदि श्रमण (मुनि) के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा मे छेद होता है तो उसे तो आलोचना पूर्वक अपने दोष को दूर करना चाहिये।

"संस्कृत टीका—"द्विविधः किल संयमस्य छेदः बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्ग, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरंगः। तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरंगच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जितत्वादालोचनापूर्विकया क्रिययैव प्रतिकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रययालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम्।"

अर्थ—संयम का छेद दो प्रकारका है; बहिरंग और अन्तरंग (उसमे मात्र कायचेष्टा संबंधी बहिरंग है और उपयोग संबंधी अंतरंग है। उसमे यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा से कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अंतरंगछेद से रहित है इसलिये आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतिकार होता है। किन्तु यदि वही श्रमण उपयोग संबंधी छेद होने से साक्षात् छेद मे ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहार विधि मे कुशल श्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा प्रतिसंधान होता है।

यह जो कहा गया है कि भावशून्य क्रिया का फल नहीं होता, इसका अभिप्राय यह है कि भावसहित होने से उस क्रिया का फल जितना होना चाहिये था, भाव रहित होने से उतना फल नहीं होता। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भावशून्यक्रिया का फल बिलकुल नही होता। यदि सर्वथा ऐसा मान लिया जावे तो मात्र

कायचेष्टा से संयम का छेद नहीं होना चाहिये था तथा अर्हंत भगवान की क्रिया मोक्ष की कारण नही होनी चाहिये थी, किन्तु श्री प्रवचनसार मे भावशून्य मात्र कायचेष्टा से सयम का छेद तथा अर्हंत भगवान की क्रिया को मोक्ष की कारणीभूत स्वीकार किया है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य भी पद्मनन्दि पचविंशतिका मे कहते हैं।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममयएणच्छिणावि तं पुण्णं।
जं जणइ पुरो केवलदंसण णाणाइ णयणाइ ॥ ७५७ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है जो कि भविष्य मे केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप नेत्र को उत्पन्न करता है।

४५ दिन के बालक को माता जिनमंदिर मे लेजाकर भगवान के दर्शन कराती है और उससमय से प्रतिदिन वह बालक मदिरजी मे भगवान के दर्शनार्थ लेजाया जाता है, किन्तु कई वर्ष तक उस बालक की वह क्रिया भावशून्य ही रहती है। क्या उस बालक का मंदिरजी मे लेजाया जाना सर्वथा निरर्थक है ? विद्वान् इस पर विचार करें। यदि इस क्रिया को सर्वथा निरर्थक मान लिया जावेगा तो जैन समाज मे जिनदर्शन की परम्परा उठ जावेगी। जिससे जैनधर्म का लोप हो जावेगा। आज जितने भी भावपूर्वक दर्शन करनेवाले व्यक्ति दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सबने सर्वप्रथम जिनदर्शन की क्रिया भावशून्य प्रारम्भ की थी। जिनमदिर मे जाने से तथा जिनेन्द्र के दर्शन करने से ही उनकी वह भावशून्यक्रिया भावपूर्वक होगई। यदि वे भावशून्यक्रिया को न करते तो उनको भावपूर्वक जिनेन्द्रदेव के दर्शन प्राप्त न होते। अतः 'भावशून्यक्रिया का कुछ भी फल नहीं होता,' ऐसा एकान्त मानना उचित नही है।

दिगम्बरेतर समाज मे शारीरिकक्रिया निरपेक्ष मात्र भावो से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की है जिसका खण्डन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'णग्गो हो मोक्ख मग्गो' अर्थात् 'नग्नता मोक्षमार्ग है' इन वाक्यों द्वारा किया है। उन्ही श्री कुन्दकुन्द के नाम पर अध्यात्म की आड मे एकान्तमिथ्यात्व का प्रचार उचित नहीं है।

—जै. ग. 12-3-64/IX/ स. कु. सेठी

पुण्य की कथंचित् हेयता, कथंचित् उपादेयता; पुण्य मोक्षपद में भी सहायक है

शंका—सम्यग्दर्शन क्या बिना तत्त्वश्रद्धान के हो सकता है और अगर तत्त्वश्रद्धान से होता है तो जैसा तत्त्व है वैसा ही समझने से होता है या पहले तत्त्व को किसी प्रकार समझा जाय फिर और प्रकार जाने जैसे आस्रव तत्त्व को प्रथम अवस्था मे उपादेय माने बाद मे हेय; क्या यही क्रम परिपाटी है ?

समाधान—जो सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तजीव ज्ञानावरणकर्म का विशेष क्षयोपशम न होने के कारण तत्त्वो को नही जान सकते, उनको भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा भी है—

जो ण वि जाणइ तच्चं सो जिणवयेण करेइ सद्दहणं।
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥ ३२४ ॥

जो जीव अपने ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरुसयोग बिना तत्त्वार्थ को नहीं जान सके हैं सो जिनवचनविर्षे ऐसैं श्रद्धान करे है कि जिनेश्वरदेव ने जो तत्त्व कहा है, सो सर्व ही मैं भले प्रकार इष्ट करूं हूं ऐसे भी श्रद्धावान होय हैं। ऐसैं सामान्य श्रद्धातैं भी आज्ञासम्यक्त्व कहा है।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥ गो.जी.

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रभगवान के उपदेश का श्रद्धान करता है, किन्तु किसी तत्त्व को अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है । 'अरहन्त देव का ऐसा ही उपदेश है' ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि उसने अरहन्त का उपदेश समझकर उस पदार्थ का वैसा श्रद्धान किया है ।

हेय और उपादेय ये तत्त्व नहीं हैं, किन्तु आपेक्षिक हैं जैसे बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा अन्त-रात्मा (छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि) उपादेय है, किन्तु परमात्मा की अपेक्षा वही अन्तरात्मा हेय है । जैसा कि परमात्म-प्रकाश गाथा १३ की टीका में कहा है—

"अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यप्यन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ।"

इसीका भाव ऊपर कहा जा चुका है ।

इसीप्रकार निरास्रव अयोगीजिन की अपेक्षा शुभास्रव हेय है, किन्तु साधक के शुभास्रव अर्थात् पुण्य उपादेय है । कहा भी है—पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादिसुखाननः । मूलाचार–प्रदीप पृ० २०० । अर्थात् पुण्यप्रकृतियाँ तीर्थंकर आदि पदों के सुख को देनेवाली हैं । ये पुण्यप्रकृतियाँ सिद्धगति अर्थात् मोक्ष के लिये सहकारी कारण हैं । पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में कहा भी है—

"निदानरहितपरिणामोपार्जित तीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्ट पुण्यरूपधर्मोऽपि सहकारिकारणं भवति ।"

निदानरहित परिणामों से उपार्जित तीर्थंकरप्रकृति व उत्तमसंहनन आदि विशिष्ट पुण्यरूप कर्म भी सिद्ध-गति का सहकारी कारण होता है । श्री विद्यानन्द आचार्य ने अष्टसहस्रीकारिका ८८ की टीका में कहा है—

"मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्र विशेषात्मक पौरुषाभ्यामेव संभवात् ।" मोक्ष की प्राप्ति भी परम पुण्य और चारित्ररूप पुरुषार्थ के द्वारा ही संभव है ।

मोक्ष के लिये जिसप्रकार चारित्रकी आवश्यकता है उसी प्रकार पुण्यकर्मोदय की भी आवश्यकता है ।

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीं मैन्द्रीं च दिव्य श्रियं ।
पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते ॥
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनम् ।
तस्मात् पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥ १२९ ॥ महापुराण सर्ग ३०

अर्थ—पुण्य से सबको विजय करनेवाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिलती है, इन्द्र की दिव्य लक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है, पुण्य से तीर्थंकर की लक्ष्मी भी मिलती है, और परम कल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है । यह जीव पुण्य से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है । इसलिये हे सुधिजन ! तुम लोग भी पुण्य का उपार्जन करो ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—"पुण्णफला अरहंता।" अर्थात् पुण्यकर्म का फल अरहत पद है। श्री जयसेन आचार्य ने भी कहा है।

"यसीर्थंकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति।"

श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में शुभोपयोग की मुख्यता व गौणता बतलाते हैं—

एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ २५४ ॥

अर्थ—यह प्रशस्तभूत चर्या (शुभोपयोग) श्रमणों के होती है, किन्तु गृहस्थो के तो मुख्य होती है, क्योंकि इस प्रशस्तभूत चर्या के द्वारा गृहस्थ परमसौख्य अर्थात् निर्वाणसौख्य को प्राप्त होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ईंधन के दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और इसलिए वह क्रमशः जल उठता है उसीप्रकार गृहस्थ को राग के सयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और क्रमशः परमनिर्वाण सौख्य को प्राप्त कर लेता है।

इन आर्षग्रन्थों से स्पष्ट है कि पुण्यकर्म व शुभोपयोग मोक्षमार्ग में सहकारी कारण हैं अत वे सर्वथा हेय नहीं हैं। अतः पुण्यास्रव कथंचित् उपादेय है कथंचित् हेय है ऐसा श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

—जै. ग. 15-1-70/VII/ प च. जैन

स्त्रीपर्याय (स्त्रीवेद) के आस्रव के कारण तथा उसके नाश का उपाय

शंका—स्त्रीपर्याय कौन-से पाप से अथवा किन-किन भावों से बन्ध करने पर मिलती है ? स्त्रीपर्याय के नाश करने का मुख्य उपाय क्या है ?

समाधान—असत्य बोलने की आदत, अतिसन्धानपरता (धोखा, छल, कपट) दूसरो के छिद्र ढूंढना और बढ़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेद के आस्रव हैं। कहा भी है—

"अलीकाभिधायितातिसन्धानपरत्वपररन्ध्रप्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादिः स्त्रीवेदस्योदयस्य।" सर्वार्थसिद्धि ६।१४।

इसका अर्थ ऊपर आ चुका है।

स्त्रीपर्याय में उत्पन्न न होने का मुख्य उपाय सम्यग्दर्शन है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव मरकर स्त्रियो मे उत्पन्न नहीं होता है ऐसा आर्षवचन है—

छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइसवणभवण सव्वइत्थीसु।
णेदेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी दु जो जीवो ॥१३३॥

इत्यार्षात् धवल पु० १ पृ० २०९ एवं धवल १।३३९

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टिजीव होता है, वह प्रथमपृथिवी के बिना नीचे की छह पृथिवियों में, ज्योतिषी व्यन्तर, भवनवासी देवो में और सर्वप्रकार की स्त्रियो मे उत्पन्न नहीं होता है। यह कथन पूर्व बद्धायुष्क की अपेक्षा है। पूर्व अबद्धायुष्क की अपेक्षा कथन निम्न प्रकार है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।। ३५ ।।(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

निर्दोष सम्यग्दृष्टिजीव व्रतरहित होने पर भी नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को नीचकुल, विकलाङ्ग, अल्पायु तथा दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होता है ।

—जै. ग. 14-12-72/VII/ कमलादेवी

आस्रव तत्त्व का वर्तमान में भी किन्हीं के विनाश देखा जाता है

शंका— धवल पु० ७ पृ० ७४ पर लिखा है कि मिथ्यात्व, असंयम और कषायरूप आस्रवों का वर्तमानकाल में भी किसी जीव के विनाश देखा जाता है । वर्तमानकाल में तो मिथ्यात्व का भी क्षय नहीं होता । फिर किसप्रकार लिखा है ?

समाधान—धवल ७ पृ० ७३ पर यह बतलाया गया है कि—'आस्रव कूटस्थ अनादिस्वभाव वाला नहीं है, क्योंकि प्रवाहअनादिरूप से आये हुए मिथ्यात्व असंयम और कषायरूप आस्रवों का वर्तमानकाल मे भी किसी-किसी जीव मे विनाश देखा जाता है । यहाँ पर यह नहीं कहा कि भरतक्षेत्र में वर्तमान मे विनाश देखा जाता है । विदेहक्षेत्र मे वर्तमान मे भी मिथ्यात्व, असयम और कषायरूप आस्रवो का विनाश देखा जाता है ।' अतः उक्त कथन समीचीन है ।

—जै. ग. 17-4-69/VII/ र. ला. जैन

द्रव्यकर्म/भावकर्म

शंका—पुद्गलजन्य कर्म दो प्रकार के माने हैं—(१) द्रव्यकर्म और (२) भावकर्म । जब भावकर्म भी पुद्गल की ही पर्याय है तो वे चेतन व अमूर्तिक कैसे हो सकते हैं ? यदि वे भावकर्म चेतन व अमूर्तिक हैं तो स्पष्टतः जीवजन्य, जीव के ही भाव सिद्ध हुए । अतः जीव के भाव (Feelings) भावमात्र ही हो सकते हैं, उन्हें पुद्गल अथवा पुद्गल की पर्याय कैसे कहा जा सकता है ? औदयिकभाव केवल जीव में उत्पन्न होते हैं अतः उनका कर्ता जीव ही है, तब वे पौद्गलिक कैसे हो सकते हैं ? पुद्गल जड़ पदार्थ में भाव (Thoughts and Feelings) कैसे सम्भव है ? भावकर्म पुद्गल किसप्रकार हैं ? भावकर्म की उत्पत्ति में उपादानकारण जीव है अथवा पुद्गल ? यदि जीव है तो रागद्वेषादि भाव जीव के कार्य अथवा भाव सिद्ध हुए । यदि पुद्गलद्रव्यकर्म को उपादान कारण माना जावे तो पुद्गल द्रव्यकर्म साकार मूर्तिक व अचेतन जड़ होने से भावकर्म रागद्वेषादि भी मूर्तिक व अचेतन ही होने चाहिए । इन दोनों में से सत्य क्या है ?

समाधान—जैनागम मे रागद्वेषरूप भावकर्म के विषय मे अनेक विवक्षाओ से कथन है । शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, परम अथवा सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय, स्वभाव, विभाव, उपादान, निमित्त, भेद, अभेदादि । इन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ की दृष्टि से भावकर्म पुद्गलकृत भी हैं, जीवकृत भी हैं, पुद्गल-जीवकृत भी है अथवा नहीं हैं; चेतन अमूर्तिक भी है और अचेतन मूर्तिक भी है । स्याद्वाद से एक को मुख्य करने से शेष कथन उसमे गौणरूप से रहता है, क्योंकि एकका मुख्यरूप से कथन करने पर शेष का अभाव नहीं होता—अर्पितानर्पितसिद्धेः ।५।३२।मो. शा. ऐसा तत्त्वार्थसूत्र का वाक्य है । एकान्त से एकरूप मानकर अन्य का निषेध करना उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है । राग-द्वेषरूप भावकर्म का उपादानकारण जीव है; अशुद्धनिश्चयनय से जीव इनका कर्ता है, ये जीव के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु विभाव हैं । द्रव्य और पर्याय की अभेददृष्टि से ये भावकर्म चेतन अमूर्तिक हैं, क्योंकि जीव की अशुद्धपर्याय है ।

रागद्वेषरूप भावकर्म का निमित्तकारण पुद्गल द्रव्यकर्म है। शुद्धनिश्चयनय से ये जीवकृत नहीं हैं, किन्तु भावकर्म कार्य हैं इनका कर्ता अवश्य होना चाहिए अतः पारिशेष न्याय से पुद्गलद्रव्यकर्म इनका कर्ता है। रागादिक, पुद्गल की विभावपर्याय द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं अतः रागादि पुद्गल के विभावभाव हैं (यहाँ पर भाव का अर्थ पर्याय है) पुद्गल की पर्याय होने से रागादिक अचेतन-मूर्तिक हैं अथवा चेतन की परिणति ज्ञान-दर्शनरूप है और रागादिक ज्ञानदर्शनरूप नहीं है। अतः चेतनगुण से भिन्न होने के कारण अचेतन हैं। रागादि, न शुद्ध जीव का स्वभाव है और न शुद्ध पुद्गल परमाणु का स्वभाव है अतः शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में रागादिक नहीं हैं।

श्री जयसेनाचार्यजी ने समयसार की टीका में कहा भी है—एते मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः। कस्मात्? पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति, दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धाः। शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः। पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति? ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनः वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत्? पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रयच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणित ॥ ११६–११९ ॥

अर्थ—ये मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्यय, शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अचेतन हैं। अचेतन क्यों हैं? क्योंकि ये भाव पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं, इसलिये अचेतन हैं। जैसे स्त्री और पुरुष दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ पुत्र है उसको उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है, ऐसा कोई कहते हैं। दूसरे कोई पिता की अपेक्षा से यह देवदत्त का पुत्र है, ऐसा कहते हैं। इस कथन में कोई दोष नहीं है, (दोनों ही ठीक हैं) तैसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न यह मिथ्यादर्शन व रागादिभाव प्रत्यय हैं सो अशुद्धनिश्चयनय व अशुद्धउपादानरूप से तो चेतन हैं (जीवसम्बन्धी होने से) तथा शुद्ध निश्चयनय से व शुद्धउपादानरूप से ये अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, क्योंकि शुद्धआत्मा में इनका सम्बन्ध नहीं पाया जाता। तथा परमार्थ से विचारा जाय तो यह एकान्त से न तो जीवरूप हैं न पुद्गलरूप हैं, परन्तु जैसे चूना और हल्दी के संयोग से एक जुदा परिणाम उपजता है ऐसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए विभावभाव हैं। वास्तव में सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह मिथ्यात्व व रागादिभाव असल में कुछ भी नहीं हैं, ये अज्ञान से उत्पन्न कल्पितभाव हैं। इस कथन से क्या कहा गया? इस कथन से यह कहा गया कि जो कोई एकान्त से ऐसा कहते हैं कि यह रागादिक भाव जीव सम्बन्धी है अथवा कोई कहते हैं कि यह पुद्गल सम्बन्धी हैं, इन दोनों के भी वचन मिथ्या हैं। मिथ्या क्यों हैं? क्योंकि पूर्व में कहे हुए स्त्री और पुरुष के दृष्टान्त के समान जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। यदि कोई प्रश्न करे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से ये भाव किसके हैं तो यही कहा जा सकता है कि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय से इनका अस्तित्व ही नहीं है।

भाव का लक्षण ध० ख० पु० ५ पत्र १८७ पर इसप्रकार कहा है—भावो णाम किं? दव्वपरिणामो पुव्वावरकोडिवदिरित्त वट्टमाण परिणामुवलक्खियदव्वं वा। कस्स भावो? छण्हदव्वाण।

अर्थ—भाव नाम किस वस्तु का है? द्रव्य परिणाम को अथवा पूर्वापर कोटि से व्यतिरिक्त वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं। भाव किसके होता है? छहों द्रव्यों के भाव होता है। इस आगम वाक्य से यह सिद्ध हुआ कि "विचार या अनुभव (Thoughts and Feelings)" को भाव नहीं कहते किन्तु द्रव्य के

परिणाम को भाव कहते हैं क्योंकि परिणाम (पर्याय) छहों द्रव्यों में होते हैं अतः पुद्गल में भी भाव होते हैं। भाव पाँच प्रकार के होते हैं जैसा ध० ख० पु० ५ पत्र १८८ पर कहा है—**कविविधो भावो ? ओदइओ उवसमिओ खइओ खओवसमिओ पारिणामिओ त्ति पंचविहो। केण भावो ? कम्माणमुदएण खएण खओवसमेण कम्माणमुवसमेण सभावदो वा। तत्थ जीवदव्वस्स भावा उत्तपचकारणेहिंतो होंति। पोग्गलदव्वभावा पुण कम्मोदएण विस्ससादो वा उप्पज्जंति। सेसाणं चदुण्हं दव्वाणं भावा सहावदो उप्पज्जंति।**

अर्थ—भाव कितने प्रकार का है ? औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक के भेद से भाव पाँच प्रकार का है। भाव किससे होता है ? भाव कर्मों के उदय से, क्षय से, क्षयोपशम से, उपशम से अथवा स्वभाव से होता है। उनमे जीवद्रव्य के भाव, उक्त पाँचों ही कारणो से होते हैं, किन्तु पुद्गलद्रव्य के भाव, कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं तथा शेष चार द्रव्यो के भाव स्वभाव मे ही उत्पन्न होते हैं। इस आगमवाक्य से पुद्गलद्रव्य के भी औदयिकभाव सम्भव हैं, क्योंकि पूर्वमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय से नवीन द्रव्यकर्म का बन्ध होता है अथवा पूर्व शरीरनामा नामकर्म के उदय होने पर नवीनकर्म का बन्ध होता है।

—जै. स. 23-8-56/VI/ बी एल पद्म, मुजालपुर

भावास्रव किस गुण की विकारीपर्याय है ?

शंका—भावास्रव आत्मा की किस गुण की किसप्रकार की विकारीपर्याय का नाम है ? उन गुणों में अंश-अंश में शुद्धता आती है या नहीं ? यदि आती है तो प्रतिपक्षी कौनसे कर्म का अभाव होने से आती है ?

समाधान—भावास्रव दो प्रकार का है ? साम्परायिक और ईर्यापथ। "सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥ (मोक्षशास्त्र अध्याय ६, सूत्र ४) इसमे से साम्परायिकभावआस्रव के १ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय, ५ योग, पाँच भेद हैं।

"मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तियचदु कमसोभेदा दु पुव्वस्स ॥२०॥" बृहद्द्रव्यसंग्रह

इनमे से 'मिथ्यात्व' आत्मा के दर्शन श्रद्धान गुण की विकारीपर्याय है। 'अविरति' 'प्रमाद' 'कषाय' ये तीनो आत्मा के चारित्रगुण की विकारीपर्याय हैं। 'योग' आत्मा की विकारीद्रव्यपर्याय है। ईर्यापथआस्रव का भेद "योग" है। "दर्शन" (श्रद्धान) व "चारित्र" गुण मे अंश-अंश शुद्धता आती है। दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीयकर्म के अभाव से शुद्धता आती है।

—जै. सं. 6-6-57/VIII/ जै. स्वा. म. कुचामन सिटी

पुण्य के फल में अर्हन्त पद की प्राप्ति होती है, यह कथन त्रैकालिक सत्य है

शंका—'समयसार-वैभव' की भूमिका में पं० जगन्मोहनलालजी ने लिखा है—'पुण्णफला अरिहन्ताः' प्रवचनसार की इस गाथा में पुण्य के फल से अरिहन्त पद प्राप्त हुआ है, ऐसा समझना नितान्त भ्रम है। अरिहन्त दशा तो चार घातिया कर्मों के विनाश से प्राप्त होती है।" प्रश्न यह है अरिहन्त पद प्राप्त करने में क्या पुण्यकर्म सहकारी कारण नहीं है ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा ४५ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पुण्णफला अरहंता' ऐसा लिखा है। इसी की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है—

"पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थंकरनामपुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति ।"

पंचमहाकल्याणक की पूजा को उत्पन्न करनेवाला तथा तीनलोक को जीतनेवाला जो तीर्थंकरनाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अरहन्त होते हैं।

"अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्व पुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति ।"

यहाँ पर भी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि वास्तव मे पुण्यरूपी कल्प वृक्ष के फल अरहन्त भगवान् हैं।

इसी बात को श्री वीरसेनाचार्य ने धवल ग्रंथराज में कहा है—

"काणि पुण्ण-फलाणि ? तित्थयर–गणहर–रिसि–चक्कवट्टि–बलदेव–वासुदेव–सुर–विज्जाहररिद्धीओ ।"
धवल पु० १ पृ० १०५ ।

अर्थ—पुण्य के फल कौनसे हैं ? तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरो की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

श्री विद्यानन्द आचार्य अष्टसहस्री जैसे महान ग्रन्थ मे लिखते हैं—

"मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मक पौरुषाभ्यामेव संभवात् ।"

परम पुण्यसे तथा अतिशय चारित्ररूप विशेष पुरुषार्थ से मोक्ष होता है।

यहाँ पर भी चारित्र के साथ परमपुण्य को मोक्ष का कारण स्वीकार किया गया है।

श्री पं० जयचन्दजी ने भी आप्तमीमांसा की टीका मे लिखा है—'मोक्ष भी होय है सो परमपुण्य का उदय अर चारित्र का विशेष आचरण रूप पौरुष तें होय है।

श्री देवसेन आचार्य भी भावसंग्रह मे कहते हैं—

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ ससार कारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ।। ४०४ ।।

सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य ससार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य मे निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है।

तम्हा सम्माविट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ।। ४२४ ।।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है। यही समझकर गृहस्थो को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

जब भी अरहतपद प्राप्त होगा वह उच्चगोत्र, वज्रवृषभनाराच संहनन, मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति नामकर्म तथा मनुष्यायु के उदय मे होगा। इनके अभाव मे अरहंतपद प्राप्त नहीं हो सकता। अतः इन पुण्यप्रकृतियों के उदय के साथ अरहंतपद का अन्वय व्यतिरेक घटित हो जाने से कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है। कहा भी है—

"जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं ।" धवल पु० १४ पृ० ९० ।

अर्थ—जिसके बिना जो नहीं होता है, वह उसका कारण है।

"यद्यस्य भावाभावानुविधानतोभवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इतिन्यायात्।" धवल पु० १४ पृ० १३।

अर्थ—जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है ऐसा कार्य-कारण के ज्ञाता कहते हैं यह न्याय है।

इन आर्षग्रन्थो से सिद्ध है कि पुण्योदय से तथा चारघातियाकर्मों के क्षय से अरहतपद प्राप्त होता है। पुण्योदय के बिना चारघातियाकर्मों का क्षय भी नहीं हो सकता है। अतः श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने पुण्य का फल अरहत पद कहा है। जिनकी बुद्धि इन आर्षग्रन्थों के विपरीत है उनकी बुद्धि मे भ्रम हो सकता है।

—जै. ग 11-1-73/ / ·····

बन्ध तत्त्व

(१) योग व कषाय के समय में ही क्रमशः आस्रव व बन्ध हो जाते हैं
(२) परमाणु, प्रदेश और समय तीनों कथंचित् सावयव हैं
(३) एक द्रव्य-पर्याय पर अन्य द्रव्य-पर्याय का प्रभाव पड़ता है

शंका—जिस एक अविभागीसमय में आत्मा में योग होता है क्या उसी एक अविभागीसमय में कर्मास्रव होता है अथवा ठीक अगले समय में ? जिस अविभागीसमय मे आत्मा का कषायपरिणाम होता है क्या उसी अविभागीसमय में पुद्गलवर्गणाओं में कर्मबंध पड़ जाता है अथवा ठीक अगले अविभागीसमय में ? एक ही अविभागीसमय में एकद्रव्य की पर्याय का प्रभाव दूसरे द्रव्य की उसी अविभागीसमय में होने वाली पर्याय पर कैसे पड़ सकता है ?

समाधान—जिस एक अविभागीसमय मे योग होता है उसी एक अविभागीसमय मे पुद्गल-द्रव्य-कर्मास्रव होता है। यदि यह माना जाय कि द्रव्यकर्मास्रव अनन्तर अगले समय मे होता है तो सयोगकेवली अर्थात् तेरहवें गुणस्थान के अन्तिमसमय के योग से चौदहवें गुणस्थान के प्रथमसमय मे अयोगकेवली के पुद्गल द्रव्यकर्म व आहार-वर्गणाओ के आस्रव का प्रसग आ जायगा। इसप्रकार योग से अनन्तर दूसरे समय मे आस्रव मानने से आर्षवाक्यों का विरोध होता है। वे आर्षवाक्य निम्नप्रकार हैं—

"युज्यत इति योग" धवल पु० १ पृ० १३९।

अर्थात्—जो संयोग को प्राप्त हो वह योग है।

"त्रिविधवर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पन्दो योगः सयोगकेवलिनोऽस्ति। तदालम्बनाभावादयोगकेवलि-सिद्धानां योगाभावः॥" [सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति ६।१]

अर्थात्—मन, वचन, काय इन तीनप्रकार की वर्गणाओ के आलम्बन की अपेक्षा से जो आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द होता है वह योग है जो सयोगकेवली के भी होता है। मन, वचन, कायरूप वर्गणाओं के आलम्बन का अभाव होने से अयोगकेवली और सिद्धो के योग का अभाव है।

यदि अयोगकेवली के प्रथमसमय मे आस्रव माना जावेगा तो उनके उक्त वर्गणाओं का अभाव नहीं रहेगा।

"वर्गणालम्बननिमित्तो योग आस्रव इष्यते।" राजवार्तिक ६।२।

अर्थात्—वर्गणाओं के निमित्त से होनेवाले योग को आस्रव स्वीकार किया गया है।

अयोगकेवली के वर्गणाओं का निमित्त नहीं है अतः वहाँ पर योग भी नहीं और आस्रव भी नहीं है।

जेसि ण संति जोगा सुहा सुहा पुण्ण-पाव संजणया।
ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंत-बल-कलिया॥ धवल पु० १ पृ० २८०।

अर्थात्—जिन जीवों के पुण्य और पापकर्म के आस्रव करने वाले शुभ और अशुभ योग नही पाये जाते, वे अनुपम और अनन्तबलसहित अयोगीजिन कहलाते हैं।

सयोगकेवली के अन्तसमय के योग से अनन्तरसमय मे आस्रव नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिससमय मे योग है, उसीसमय मे आस्रव है। 'स आस्रवः' सूत्र से यह बात जानी जाती है, क्योंकि इस सूत्र मे योग को आस्रव बतलाया है।

जिससमय मे कषायरूप परिणाम होते हैं, उसीसमय कर्मबन्ध होता है। कर्मबन्ध का लक्षण निम्न-प्रकार है—

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः॥ ८।२॥" मोक्षशास्त्र

अर्थ—कषायसहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है।

यदि कषायरूप परिणाम के अनन्तर समय मे बंध माना जावेगा तो दसवें गुणस्थान के अन्तसमय के कषाय-रूप परिणाम से अनन्तरसमय मे अकषायजीव के भी बंध का प्रसग आ जावेगा। परन्तु बन्ध के लक्षण मे कषाय-सहित जीव के ही बंध होता है, ऐसा कहा गया है। यदि अकषायजीव के बंध स्वीकार कर लिया जावे तो कर्मबन्ध का कभी अभाव नही होगा।

इसके अतिरिक्त जो ग्यारहवें गुणस्थान से गिरा है उसके प्रथमसमय मे कषाय के होते हुए भी बंध के अभाव का प्रसग आ जावेगा, क्योंकि प्रथमसमय की कषाय से अनन्तर दूसरे समय मे बंध होगा। इसप्रकार भी कषायसहित जीव के बंधाभाव हो जाने से उक्त बंध के लक्षण मे बाधा आती है।

इससे सिद्ध होता है कि जिस अविभागीसमय मे कषाय होती है, उसी अविभागीसमय मे कर्मबन्ध भी होता है।

दीपकरूप पर्याय जिस अविभागीसमय मे प्रगट होती है उसी अविभागीसमय मे पुद्गल की अन्धकारपर्याय नष्ट होकर प्रकाशरूप पर्याय उस दीपकरूप पर्याय के प्रभाव से हो जाती है। जिस अविभागीसमय में अग्नि और जल के पात्र की संयोगरूप पर्याय प्रगट होती है, उसी अविभागीसमय मे अग्नि के प्रभाव से जल में उष्णता आ जाती है। दर्पण के सामने स्थित मयूर मे जिस अविभागी समय मे जो पर्याय होगी उसी अविभागी समय मे दर्पण में स्थित मयूर प्रतिबिम्ब मे भी उसके अनुरूप परिणमन हो जाता है।

एक अविभागीसमय मे एकेन्द्रियजीव मरकर चौदहराजू गमन करता है। चौदहराजू के असंख्यातप्रदेश हैं प्रत्येक प्रदेश को उसी एक अविभागीसमय में क्रमशः स्पर्श करता हुआ जाता है। प्रत्येक आकाश-प्रदेश के स्पर्श

का भिन्न-भिन्नकाल होते हुए भी सबका काल मिलकर एकसमय है अर्थात् LEAST UNIT OF TIME है। केवलज्ञानी प्रत्येक आकाशप्रदेश के स्पर्श का भिन्न-भिन्न काल प्रत्यक्ष देखते हैं और छद्मस्थ आगमप्रमाण तथा अनुमान से परोक्षरूप से जानता है। इसप्रकार एक अविभागीसमय मे अनेको कार्य होने मे कोई बाधा नहीं आती है फिर भी एक समय से कोई भी जघन्यकाल नही है।

मरकर ऋजुगति मे उत्पन्न होनेवाला जीव उसी एक अविभागीसमय मे चौदहराजू गमनकर उत्पन्न हो आहारवर्गणाओ को ग्रहणकर उनसे शरीर, इन्द्रियादि पर्याप्ति प्रारम्भ कर लेता है।

ग्यारहवें गुणस्थान से मरकर देवो मे उत्पन्न होनेवाला मनुष्य प्रथमसमय मे चारित्रमोहनीयकर्म की प्रकृतियो का अपकर्षणकर उदय मे ले आता है। अपकर्षण होना और उदय होना तथा उदय के अनुरूप आत्मपरिणाम होना (ग्यारहवें से चतुर्थगुणस्थान मे आ जाना) ये सब कार्य एक अविभागीसमय मे होते हैं।

समय इस अपेक्षा से अविभागी है कि उससे जघन्य अन्य कोई काल नही है, किन्तु सर्वथा अविभागी नहीं है। यदि सर्वथा अविभागी मान लिया जाये तो एकान्तवाद का प्रसग आ जावेगा।

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयण सम्मं खु कहचि वयणादो ।। प्रवचनसार टीका

अर्थ—परसमयो (मिथ्यामतियो) का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव मे मिथ्या है। और जैनो का वचन कथचित् (अपेक्षासहित) कहा जाने से वास्तव मे सम्यक् है।

अनेक कार्यों की अपेक्षा से समय का ज्ञान द्वारा विभाजन भी किया जा सकता है अन्यथा एकसमय मे चौदहराजू के असख्यात आकाशप्रदेशो को क्रमश. स्पर्श करके गमन नही बन सकता है। जिसप्रकार परमाणु कथचित् निरवयव और कथचित् सावयव हैं उसीप्रकार समय भी कथचित् अविभागी और कथचित् सविभागी है। यदि कोई एकान्तवादी परमाणु को सर्वथा निरवयव मानता है तो उसको आर्षग्रथो पर अथवा जिनवाणी पर श्रद्धा नही है।

"पज्जवट्ठियणाए अवलबिज्जमाणे सिया एगदेसेण समागमो। ण च परमाणूणमवयवा णत्थि, उवरिमहेट्ठिममज्झिमोवरिमोवरिमभागाणमभावे परमाणुस्स वि अभावप्पसगादो। ण च एदे भागा संकप्पियसरूवा; उड्ढाधोमज्झिमभागाणं उवरिमोवरिमभागाणं च कप्पणाए विणा उवलंभादो। ण च अवयवाण सव्वत्थ विभागेण होदव्वमेवे त्ति णियमो, सयलवत्थूणमभावप्पसगादो। ण च भिण्णपमाणगेज्झाणं भिण्णदिसाण च एयत्तमत्थि, विरोहादो। ण च अवयवेहि परमाणू णारद्धो, अवयवसमूहस्सेव परमाणुत्तदंसणादो। ण च अवयावाणं सजोगविणासेण होदव्वमेवे त्ति णियमो, अणादिसजोगे तदभावादो।" धवल पु० १४ पृ० ५६-५७।

अर्थ—पर्यायार्थिकनय का अवलम्बन करने पर कथचित् एकदेशेन समागम होता है। परमाणु के अवयव नही होते, यह कहना ठीक नही है, क्योंकि यदि उसके उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग न हों तो परमाणु का ही अभाव प्राप्त होता है। ये भाग कल्पित होते हैं यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि परमाणु मे ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग तथा उपरिमोपरिम भाग कल्पना के बिना भी उपलब्ध होते हैं। तथा परमाणु के अवयव हैं इसलिये उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इस तरह मानने पर तो सब वस्तुओं के अभाव का प्रसग प्राप्त होता है। जिनका भिन्न-भिन्न प्रमाणों से ग्रहण होता है और जो भिन्न-भिन्न दिशावाले हैं। वे एक हैं यह कहना भी ठीक नही है। क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है। अवयवों

से परमाणु नहीं बना है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों के समूहरूप ही परमाणु दिखाई देता है। तथा अवयव संयोग का विनाश होना चाहिये यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादिसयोग के होने पर उसका विनाश नहीं होता।

जब परमाणु के अवयव हैं तो प्रदेश के भी अवयव होंगे, क्योंकि एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने क्षेत्र को आकाशप्रदेश कहते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

"आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया-भणिदं।" प्रवचनसार गाथा १४०।

अर्थ—एक परमाणु जितने आकाश-अंश मे रहता है, उतने आकाश की आकाशप्रदेश संज्ञा है।

जब परमाणु और आकाश-प्रदेश के अवयव हैं तो समय (सबसे जघन्यकाल) के भी अवयव होंगे, क्योंकि जितने काल में परमाणु एक आकाशप्रदेश को मंदगति से उल्लंघन करता है वह काल 'समय' है।

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ १३९ ॥ प्रवचनसार

अर्थ—परमाणु एक आकाश के प्रदेश को (मंदगति से) उल्लंघन करता है, उसके बराबर जो काल है अर्थात् उस उल्लंघन करने में जो काल लगता है वह समय (सर्व जघन्यकाल) है।

इसप्रकार परमाणु, प्रदेश और समय ये तीनो कथंचित् सावयव हैं। इसलिये एक ही समय मे योग, आस्रव व बंध, तथा एक ही समय मे कषायभाव का होना और उसके निमित्त से कार्माणवर्गणाओं में स्थिति अनुभागादि-रूप बंध हो जाना अथवा एकद्रव्य की पर्याय का दूसरेद्रव्य की उसी समय में होनेवाली पर्याय पर प्रभाव पड़ जाना असंभव नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि एकद्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय पर प्रभाव न पड़ता हो। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी इसप्रकार के प्रभाव का कथन किया है।

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥ प्रवचनसार

अर्थ—जैसे जगत में वो का वो ही बीज होने पर भी नानाप्रकार की भूमियो के कारण निष्पत्तिकाल में नानाप्रकार के धान्य फलित होते हैं (अर्थात् अच्छी भूमि में उसी बीज से अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमि मे वही बीज खराब अन्न देता है या फल ही नहीं देता) उसीप्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तुभेद से विपरीत फलता है।

"यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिः संगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्।" [प्रवचनसार गाथा २७० टीका]

अर्थात्—जैसे अग्नि की संगति से जल अपने शीतलस्वभाव को छोड़कर उष्ण हो जाता है, क्योंकि अग्नि उष्ण होती है, उसीप्रकार संयत भी लौकिकजनों की संगति से असंयत हो जाता है, क्योंकि लौकिकजन असंयत होते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बीज और भूमि का तथा जल और अग्नि का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि आत्मा पर भी परपदार्थों का प्रभाव पड़ता है।

श्री अनन्तवीर्य आचार्य ने भी प्रमेयरत्नमाला में पुद्गल का चेतना पर प्रभाव पड़ता है यह सिद्ध किया है—

"अमूर्ताया अपि चेतनशक्तेर्मदिरामदनकोद्रवादिभिरावरणोपपत्तेः। इन्द्रियाणामचेतनानामाप्यनावृतप्रख्यत्वात् स्मृत्यादिप्रतिबन्धायोगात्। नापि मनसस्तैरविरणम्, आत्मव्यतिरेकेणापरस्य मनसो निषेत्स्यमानत्वात्।" २।१२

अर्थात्—अमूर्त भी चैतन्यशक्ति का मदिरा, मदनकोद्रव आदि मूर्तपदार्थों से आवरण होता हुआ देखा जाता है। यदि कहा जाय कि मदिरा आदि से इन्द्रियों का आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ अचेतन हैं, सो उनका आवरण भी अनावरण के तुल्य है। यदि इन्द्रियों का आवरण माना जाय तो मदिरा पान करने वाले पुरुष के स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों का अर्थात् स्मरण आदि का अभाव नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि मदिरा आदि से मन का आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त भावमन का निषेध है। इसलिये अमूर्त चेतनशक्ति का आवरण नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं है। [इसप्रकार मदिरा आदि का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है]

—जै. ग. 16-1-67/VII/ प्रो. ल. च. जैन

मन्द कषायरूप विशुद्ध परिणाम ही मिथ्यात्वी मुनि के ग्रैवेयक-आयु का बन्ध कराते हैं। ये ही परिणाम सम्यक्त्व में भी कथंचित् कारण हैं

शंका—क्या आर्त-रौद्र परिणामों में मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि उपरिम ग्रैवेयक तक जाता है या धर्मध्यान से ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि के धर्मध्यान नहीं होता है। सकषाय सम्यग्दृष्टिजीव के धर्मध्यान होता है। आर्त और रौद्रध्यान या परिणाम भी उपरिमग्रैवेयक की देवायु के बन्ध का कारण नहीं हो सकते। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि के जो मंदकषायरूप विशुद्धपरिणाम होते हैं वे ही देवायु के बन्ध के कारण हैं। ये मंदकषायरूप विशुद्धपरिणाम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे भी कारण हो सकते हैं, क्योंकि मनुष्य या तिर्यंच के संक्लेशपरिणामों मे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती। कहा भी है—

"यद्यपि तिर्यग्मनुष्यो वा मन्दविशुद्धिस्तथापि तेजोलेश्याया जघन्यांशे वर्तमान एव प्रथमोपशमसम्यक्त्वप्रारम्भको भवति।" लब्धिसार गा० १०१ टीका।

अर्थ—यदि तिर्यंच या मनुष्य के मन्दविशुद्धता हो तो भी प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये तेजोलेश्या के जघन्यअंश तो होने ही चाहिये। अर्थात् कृष्ण, नील, कापोतलेश्या मे तिर्यंच या मनुष्य के प्रथमोपशमसम्यक्त्व का प्रारम्भ नही हो सकता।

श्री जयधवल मे भी कहा है—

"तिरिक्ख-मणुस्सेसु किण्हणील-काउलेस्साणं सम्मत्तुप्पत्तिकाले पडिसेहो कदो, विसोहिकाले असुहतिलेस्सापरिणामस्स संभवाणुववत्तीदो।"

अर्थ—तिर्यंच और मनुष्यों में कृष्ण, नील, कापोतलेश्या का सम्यक्त्वउत्पत्तिकाल में निषेध किया गया है, क्योंकि विशुद्धिकाल मे तीन अशुभलेश्यारूप परिणाम संभव नहीं हैं।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है कि मंदकषायरूप विशुद्ध परिणामों में ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति सम्भव है। इसलिये सम्यक्त्वउत्पत्ति मे विशुद्धपरिणाम भी एक कारण है। अन्यायरूप प्रवृत्ति तथा अभक्ष्य का सेवन करनेवाले मनुष्यों के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति संभव नही है। जिन जीवो को शरीर से इतना मोह है कि शरीर के स्वास्थ्य के लिये अशुद्ध औषधि का सेवन करते हैं बाजार की बनी हुई दही आदि वस्तु का सेवन करते हैं किसी प्रकार का त्याग नहीं है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? सम्यग्दृष्टि के अन्याय और अभक्ष्य दोनों का त्याग होता है।

—जै. ग. 23-9-65/IX/ ब. पन्नालाल

सम्यक्त्व प्रकृति का कार्य आदि मोहोदय होने पर भावमोह से अपरिणत जीव के बन्धाभाव कैसे ?

शंका—श्री प्रवचनसार गाथा ४५ जयसेनस्वामी की टीका 'द्रव्यमोहोदये सति शुद्धात्मभाव-बलेन भाव-मोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।' इसका जयधवल पु० ३ पृ० २४५ के कथन से विरोध मालूम होता है। स्पष्टीकरण करें।

समाधान—मिथ्यात्वप्रकृति कर्म के द्रव्यका उदय दो प्रकार से होता है। अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति का स्वमुख (निज यानी मिथ्यात्व) से उदय होता है या (परप्रकृतिरूप) परमुख से उदय होता है। यदि स्वमुख उदय है तो मिथ्यात्वरूप फल देगा। यदि स्तिबुकसंक्रमण द्वारा परमुख अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व या सम्यक्त्व प्रकृति-रूप उदय मे आता है तो उन प्रकृतिरूप फल देगा, किन्तु स्वरूप से या पररूप से फल दिये बिना कोई भी कर्म-अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता अर्थात् नही झडता। यह आगम का मूल सिद्धांत है जिसको जयधवल पु० ३ पृ० २४५ पर कहा गया है।

मिथ्यात्वप्रकृति का मिथ्यात्वरूप से उदय मिथ्यादृष्टिजीव के होता है, क्योकि मिथ्यात्वकर्म की उदयव्युच्छित्ति मिथ्यात्वगुणस्थान मे कही गई है (**गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २६५**)। मिथ्यादृष्टिजीव के शुद्धात्मभावना सभव नही है। चार अनन्तानुबन्धीकषाय और तीन दर्शनमोह इन सात प्रकृतियो के उपशम या क्षय होने पर अथवा क्षयोपशम होने पर (चार अनन्तानुबन्धीकषाय और मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व इन छहप्रकृतियो का पररूप से उदय होने पर और दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृति का स्वमुख उदय होने पर) शुद्धात्मभावना होती है। कहा भी है—'यदि वह व्यवहार मोक्षमार्गी भव्य मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो के उपशम क्षय या क्षयोपशम से शुद्धात्मा को उपादेय मानकर वर्तन करता है तब उसे अवश्य मोक्ष होगा। यदि वह सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं कर सकता तो शुद्धात्मा ही उपादेय है इसरूप भी वर्तन नही कर सकता तब उसे कदापि मोक्ष नहीं हो सकता। इसका भी यही कारण है कि सात प्रकृतियो के उपशम क्षय या क्षयोपशम के अभाव होने पर अनन्तज्ञानादि-स्वरूप आत्मा ही उपादेय है ऐसा वर्तन नहीं करता, क्योंकि यह अवश्य है कि जो कोई अनन्तज्ञानादिस्वरूप आत्मा को उपादेय मानकर श्रद्धान करता है उसके सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अवश्यमेव विद्यमान है और वह अवश्य भव्य है। जिसके पूर्व मे कहे प्रमाण शुद्धात्मा ही उपादेय हैं ऐसा श्रद्धान नहीं, उसके सात प्रकृतियो का उपशमादिक भी नही है ऐसा जानना योग्य है। इसलिये यह मिथ्यादृष्टि ही है।' **समयसार गाथा २७७ पर श्री जयसेनाचार्य की टीका।**

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में **"द्रव्य-मोहोदये सति यदि शुद्धात्म-भावना-बलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति"** का अभिप्राय यह है कि शुद्धात्मभावना के बल से मिथ्यात्वप्रकृति व मिश्रप्रकृति का द्रव्य यदि स्वमुख से उदय न आकर स्तिबुकसंक्रमण द्वारा पररूप से उदय मे आवे अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिरूप उदय में आवे तो सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय मे यह सामर्थ्य नहीं कि जीव उसके उदय के निमित्त से भावमोह अर्थात्

मिथ्यात्वरूप परिणाम आवे और न सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से दर्शनमोह का बन्ध होता है, क्योंकि सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति बंधयोग्य नहीं है, मात्र मिथ्यात्वप्रकृति ही बन्ध योग्य है। जिसका बन्ध मिथ्यात्वगुणस्थान मे होता है। सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से सम्यग्दर्शन का घात भी नहीं होता, क्योंकि इसमें सर्वघाती स्पर्द्धकों का अभाव है। कहा भी है—"यदि यह कहा जावे कि सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोह कर्म के तीन भेदो मे से एक भेद है—कर्म विशेष है; यह सम्यग्दर्शनरूप कैसे हो सकता है, क्योंकि सम्यक्त्व तो भव्यजीव का परिणाम है और यह परिणाम विकाररहित सदा आनन्दमयी एक लक्षण को रखनेवाले परमात्मतत्त्व आदि के श्रद्धानस्वरूप है तथा मोक्ष का बीज है। ऐसा कहना ठीक नही है। यद्यपि सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोहकर्म का ही भेद है, तथापि जैसे विष का विष मर जाने पर अर्थात् फूंका हुआ संखिया किसी के मरण का कारण नहीं हो सकता, तैसे ही मंत्र के समान शुद्धात्मभावनारूप परिणाम विशेष की शुद्धि से मिथ्यात्वकर्म मे मिथ्याभाव करने की शक्ति को नष्ट कर देती है। तब उस कर्म समूह को, जिसमे मिथ्यात्वभाव नष्ट हो गया है, सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं। यह सम्यक्त्वकर्मप्रकृतिविशेष, क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धियो से उत्पन्न प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के पश्चात् होने वाले वेदकसम्यग्दर्शन स्वभावरूप तत्त्वार्थश्रद्धानरूप, जीव के परिणाम को नहीं मार सकता है।" समयसार गाथा ३२८ के पश्चात् तात्पर्यवृत्ति में दी हुई गाथा पर श्री जयसेनस्वामी की टीका।

कषायपाहुडसुत्त पृ० ६३४ पर गाथा १०२ मे कहा है—"वेदकसम्यग्दृष्टि अर्थात् दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृति के उदय को वेदन करनेवाला जीव दर्शनमोह का अबन्धक है।" दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय होने पर भी जीव वेदकसम्यग्दृष्टि होता है; क्योंकि उसके भावमोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं होता और दर्शनमोह का बन्ध भी नहीं होता। इसप्रकार जयधवल और प्रवचनसार के कथन मे कोई मतभेद नहीं है।

—जै. ग. 28-3-63/IX/ प्यारेलालजी

कर्मबन्ध कथंचित् अनादि, कथंचित् सादि/कर्मबन्ध अहेतुक नहीं

शंका—कर्मबन्ध को यदि सादि माना जाय तो यह दोष आता है कि आत्मा कर्मबन्ध से पूर्व शुद्ध थी और शुद्धात्मा के कर्मबन्ध होता नहीं है, अन्यथा सिद्ध भगवान के कर्मबन्ध का प्रसंग आजायगा। इससे सिद्ध होता है कि जीव के साथ कर्मबन्ध अनादि है और अनादि में हेतु अर्थात् कारण का प्रश्न नहीं होता है, क्योंकि जो सहेतु होता है वह अनादि नहीं हो सकता जैसे घट आदि। जो अनादि होते हैं वे निर्हेतु होते हैं जैसे मेरु आदि। अतः कर्मबंध अनादि व अहेतुक हैं। यही श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने 'जैनसंदेश' में लिखा था। श्री पं० जीवन्धरजी ने इसका खण्डन क्यों किया है?

समाधान—यह सत्य है कि कर्मबंध को सर्वथा सादि मानने से शुद्धात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान के कर्मबंध का प्रसंग आता है अथवा रागद्वेष आदि को अकारणपने का तथा जीवस्वभाव का प्रसंग आजायगा। शुद्ध-आत्मा के कर्मबंध नहीं होता, क्योंकि सिद्धपर्याय सादि-अनन्त है। कहा भी है—

'सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः।' आलापपद्धति

'स एव क्षायिक-भावेन साद्यनिधनाः न च सादित्वात्सनिधनत्वं क्षायिकभावस्याशक्यम्। स खलूपाधिनिवृत्तौ प्रवर्तमानः सिद्धभाव इव सद्भाव एव जीवस्य, सद्भावेन चानंता एव जीवाः प्रतिज्ञायंते।

पंचास्तिकाय गाथा ५३ टीका

यहाँ यह बतलाया गया है कि सिद्धपर्याय के समान क्षायिक भाव का भी कभी नाश नहीं होता है, क्योंकि उपाधि की (कर्मबंध की) निवृत्ति होने पर क्षायिकभाव उत्पन्न होता है।

यह सिद्ध हो जाने पर भी कि शुद्धात्मा के कर्मबंध नहीं होता है, कर्मबंध सर्वथा अनादि नहीं है, किन्तु संतान की अपेक्षा अनादि है। जैसे अंकुर बीज पूर्वक होने से सादि है, किन्तु संतान की अपेक्षा अनादि है। कहा भी है—

'यथांकुरो बीजपूर्वकः स च सन्तानापेक्षया अनादि इति। सर्वार्थसिद्धि

यदि संतान की अपेक्षा भी जीव और कर्म का बंध अनादि न माना जाय तो वर्तमानकाल मे भी जीव और कर्म का बंध सिद्ध नहीं हो सकता। कहा भी है—

'जीवकम्माणं अणादिओ बंधो त्ति कधं णव्वदे ? वट्टमाणकाले उवलब्भमाणजीवकम्मबंधण्णहाणुववत्तीदो।'
(जयधवल पु० १ पृ० ५६)

अर्थ—जीव और कर्मों का अनादिकालीन संबंध है, यह कैसे जाना जाता है ? यदि जीव का कर्मों के साथ अनादिकालीन संबंध स्वीकार न किया जाय तो वर्तमानकाल मे जो जीव और कर्मों का सम्बन्ध उपलब्ध होता है वह बन नही सकता है। इस अन्यथानुपपत्ति से जीव और कर्मों का अनादिकाल से संबंध है, यह जाना जाता है।

इसी बात को श्री पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि मे इसप्रकार कहा है—

'अनादिसम्बन्धे सादिसम्बन्धे चेति। कार्यकारण-भावसन्तत्या अनादिसम्बन्धे, विशेषापेक्षया सादिसम्बन्धे च बीजवृक्षवत्।'

अर्थात्—जीव और कर्मों का अनादिसम्बन्ध भी है और सादिसम्बन्ध भी है। कार्यकारणभाव की परम्परा की अपेक्षा अनादिसम्बन्ध है और विशेष की अपेक्षा सादिसंबंध है। यथा बीज और वृक्ष का।

बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज अनादिकाल से चले आ रहे हैं, किन्तु बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज नहीं होता। इस अपेक्षा से प्रत्येक बीज और वृक्ष सादि व सहेतुक हैं। इसीप्रकार जीव परिणमन से द्रव्यकर्म बंध और कर्मोदय से जीव-परिणाम अनादिकाल से चले आ रहे हैं, किन्तु कोई भी जीव का विकारी परिणाम कर्मोदय के बिना नहीं होता और कोई भी कर्मबंध जीव के परिणाम बिना नहीं होता। इसप्रकार प्रत्येक कर्मबंध व जीव का विकारीपरिणाम सहेतुक व सादि है, किन्तु संतान परंपरा की अपेक्षा अनादि है। यदि किसी भी कर्मबंध को अनादि और अहेतुक मान लिया जाय तो उसके अविनाश का प्रसंग आजायगा, किन्तु किसी भी जीव के साथ कोई भी कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर से पूर्व का बंधा हुआ नही पाया जाता और कर्म स्वमुख या परमुखरूप से फल देकर निर्जरा को अर्थात् विनाश को प्राप्त हो जाता है, कहा भी है—

'कम्मं पि सहेउअं तव्विणासण्णहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो असिद्धो; बाल-जोव्वण-रायादि पज्जायाणं विणासण्णहाणुववत्तीए तव्विणाससिद्धीदो। कम्मकट्टिमं किण्ण जायदे ? ण; अकट्टिमस्स विणासाणुववत्तीदो। तम्हा कम्मेण कट्टिमेण चेव होदव्वं। (जयधवल पु० १ पृ० ५६-५७)

अर्थ—यदि कर्मों को अहेतुक माना जायगा तो उनका विनाश बन नहीं सकता है, इस अन्यथानुपपत्ति के बल से कर्म भी सहेतुक हैं यह जाना जाता है। यदि कहा जाय कि कर्मों का विनाश किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मों के कार्यभूत बाल, यौवन और राजादि पर्यायों का विनाश, कर्मों का विनाश हुए बिना बन नहीं सकता। इसलिए कर्मों का विनाश सिद्ध है। कर्म अकृत्रिम भी नहीं हैं, क्योंकि अकृत्रिम पदार्थ का विनाश नहीं बन सकता, इसलिए कर्मों को कृत्रिम ही होना चाहिए। आप्तपरीक्षा मे भी कहा है—

बन्धस्य प्रसिद्धो तद्धेतुरपि सिद्धः तस्याहेतुकत्वे नित्यत्वप्रसङ्गात् सतो हेतुरहितस्य नित्यत्वव्यवस्थितेः। (पृ० ४) न चायंभावबंधो द्रव्यबन्धमंतरेण भवति, मुक्तस्यापितत्प्रसङ्गादिति द्रव्यबंधः सिद्धः। सोपि मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगहेतुक एव बंधत्वात् भावबंध वदिति मिथ्यादर्शनादिर्बन्धहेतुः सिद्धः। (पृ० ५) कारिका २।

अर्थ—कर्मबंध सिद्ध हो जाने पर उसके हेतु (कारण) भी सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कर्मबन्ध को अहेतुक (निष्कारण) मानने पर कर्मबंध को नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि जो सत् है और कारणरहित है वह नित्य व्यवस्थित किया गया है। भावबंध भी द्रव्यबंध के बिना नहीं होता। अन्यथा मुक्त जीवों के भी भावबंध का प्रसंग आयगा। द्रव्यबंध भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से उत्पन्न होता है, क्योंकि बंध है, जैसे भावबंध। इसप्रकार द्रव्यबंध के मिथ्यादर्शन आदि कारण हैं, वह अहेतुक नहीं है।

—जै. ग. 14-8-67/VII/ ....

१. मात्र योग बन्ध का कारण नहीं है
२. कषाय सहित योग अथवा कषाय बन्ध का कारण है
३. मात्र योग वालों के भी स्थिति-अनुभाग बन्ध

शंका—क्या योग से बंध होता है या योग से मात्र आस्रव होता है और कषाय से बंध होता है? मात्र आस्रव तो हो जावे और बंध न हो क्या ऐसा भी सम्भव है?

समाधान—सर्व प्रथम योग के लक्षण पर विचार किया जाता है—प्रदेशपरिस्पन्दरूप आत्मा की प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य की उत्पत्ति को योग कहते हैं। आत्मा के प्रदेशों के संकोच और विस्ताररूप होने को योग कहते हैं। अथवा जीव के प्रणियोग को योग कहते हैं (ध. पु. १ पृ. १४०)। भावमन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। वचन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं (ध. पु. १ पृ. २७९)। मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलम्बन से जो जीव का संकोच-विकोच होता है वह मनोयोग है। भाषावर्गणा सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों के अवलम्बन से जो जीव प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह वचनयोग है। जो चतुर्विध शरीरों के अवलम्बन से जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह काययोग है (धवल पु. ७ पृ ७६)। कायवाक् (वचन) और मन के कर्म को योग कहते हैं (त. सू. अ. ६ सूत्र १)।

यह योग आस्रव है (तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सूत्र २)। जैसे जलागमन द्वार से जल आता है उसी तरह योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं अतः इस योग को आस्रव कहते हैं (राज. वा. अ. ५ सू. २ वा. ४)। 'कम्मागमकारणं जोगो' अर्थात् कर्म के आगमन के कारण को जोग कहते हैं (गो. जी. गा. २१६)। इन प्रमाणों से जाना जाता है कि योग से आस्रव होता है।

यह आस्रव दो प्रकार के जीवों के होता है। एक कषायसहित जीवों के और दूसरे अकषायजीवों के। सकषाय जीवों के साम्परायिकआस्रव होता है और अकषाय जीवों के ईर्यापथआस्रव होता है (त. सू. अध्याय ६ सूत्र ४)। इसी सूत्र की टीका में श्री अकलंकदेव लिखते हैं कि 'क्रोधादि परिणाम आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं। अथवा जैसे वट वृक्ष आदि का चेप चिपकने में कारण होता है उसी तरह क्रोध आदि भी कर्म बन्धन के कारण होने से कषाय हैं। मिथ्यादृष्टि से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़े पर धूल की तरह चिपक जाते हैं, उनमें स्थिति बंध हो जाता है, यह साम्परायिक-

आस्रव है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योग क्रिया से आये हुए कर्म कषाय का चेप न होने से सूखी दीवाल पर पड़े हुए पत्थर की तरह अनन्तर समय में अकर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं, बँधते नहीं हैं, पर ईर्यापथआस्रव हैं।' सूत्र २ की वार्तिक ५ में भी कहा है 'जैसे गीला कपड़ा वायु के द्वारा लाई गई धूलि को चारों ओर से चिपटा लेता है उसीतरह कषायरूपी जल से गीला आत्मा योग के द्वारा लाई गई कर्मरज को सभी प्रदेशों से ग्रहण करता है।' त. सू. अ. ८ सू २ में कहा है—'जीव सकषाय होने से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बंध है' इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वार्थसार बन्धतत्त्व वर्णन के श्लोक १३ में कहा है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी समयसार में कहा है कि रागीपुरुष कर्म से बँधता है। इन सब आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि मात्र योग बंध का कारण नहीं है, किन्तु कषायसहित योग बंध का कारण है। अथवा कषाय से स्थिति अनुभागबंध होता है, (गो. क.) अतः कषाय बन्ध का कारण है।

जैसा स्थिति, अनुभाग का बन्ध कषाय से होता है वैसा स्थिति, अनुभाग ईर्यापथआस्रव में नहीं होता, अतः स्थिति, अनुभागबन्ध नहीं होता। तथापि एकसमय की स्थिति का निवर्तक ईर्यापथकर्मबन्ध अनुभागसहित है ही, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। इसी कारण से ईर्यापथकर्म स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा अल्प है ऐसा कहा है। (धवल पु. १३ पृ. ४९)।

—जै. ग. 16-4-64/ / एस के जैन

एक ही भाव से बन्ध तथा मोक्ष

शंका—जो परिणाम देवेन्द्र आदि पद के कारण हैं वे परिणाम संवर और निर्जरा के कारण कैसे हो सकते हैं, क्योंकि जिन परिणामों से बंध होता है उन परिणामों से संवर-निर्जरा नहीं हो सकती ?

समाधान—जो परिणाम देवेन्द्र आदि पद के कारण हैं, वे परिणाम संवर और निर्जरा के कारण नहीं हो सकते ऐसा एकांत नियम नहीं है। मिथ्यादृष्टि के जो परिणाम देवेन्द्र आदि पद के कारण हैं वे परिणाम संवर और निर्जरा के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि निरतिशयमिथ्यादृष्टि के संवर और निर्जरा का अभाव है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का तप अभ्युदयसुख और संवर-निर्जरा इन दोनों का कारण होता है, जैसे एक ही बिजली से नाना कार्य देखे जाते हैं। यदि यह कहा जावे कि इस कथन से कुछ विद्वानों के मत का खण्डन होता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन का समर्थन आर्षवाक्यों से होता है। आर्ष वाक्य ही प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु के वाक्य हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी महान् आचार्य हुए हैं जिन्होंने समाधिशतक और इष्टोपदेश नाम से आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्हीं आचार्यवर ने स. सि. ग्रंथ अ० ९ सूत्र ३ की टीका में इसप्रकार लिखा है—

"ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नैषदोषः; एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्। यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदन-भस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षय-हेतुरित्यत्र को विरोधः।"

अर्थ—'कोई शंका करता है कि तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति के हेतुरूप से स्वीकार किया गया है, इसलिये वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य महाराज लिखते हैं—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य

उपलब्ध होते हैं, वैसे ही तप अभ्युदय (सांसारिक वैभव) और कर्मक्षय इन दोनों का कारण है ऐसा मानने मे क्या विरोध है अर्थात् कोई विरोध नहीं।

इसी बात को इष्टोपदेश ग्रंथ मे भी कहा है—

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्योः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्धे किं स सीदति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो भावमोक्ष दे सकता है उसके लिये स्वर्ग देना कितनी दूर है ? वह तो उसके निकट ही समझो। जैसे जो भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं, भार को ले जाते हुए खिन्न न होगा। बड़ी शक्ति के रहते हुए अल्प कार्य का होना सहज अर्थात् सरल ही है।

इसी की टीका मे निम्न श्लोक दिया गया है—

"गुरूपदेशमासाद्य, ध्यायमानः समाहितैः।
अनन्तशक्तिरात्मा सः भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति ॥"

अर्थ—गुरु के उपदेश को प्राप्तकर सावधान हुए प्राणियो के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्ति-वाला आत्मा चितवन करने वाले को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान भी कहते है शुभोपयोग से देवेन्द्र आदि के सुख तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥ प्रवचनसार

अर्थ—जीव को दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवो के साथ निर्वाण प्राप्त होता है।

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥ प्रवचनसार

अर्थ—यह प्रशस्तचर्या (शुभोपयोग) श्रमणो के गौण होती है और गृहस्थो के मुख्य होती है। ऐसा जिन आगम में कहा है। उसी से गृहस्थ परमसौख्य को प्राप्त होते हैं।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

"गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात् कषायसद्भावात् प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवनात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

अर्थ—वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्म प्रकाशन का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है, और क्रमशः परमनिर्वाणसौख्य का कारण होता है।

इसप्रकार एक ही भाव से बन्ध और मोक्ष आर्षग्रन्थो में स्पष्टतया कहा गया है। इन आर्षग्रन्थों के अनुसार ही अपनी श्रद्धा बनानी चाहिये। वह ही सम्यग्दर्शन है।

—जै. ग. 6-8-64/IX/ आर. डी.जैन

बन्ध, सम्बन्ध, तादात्म्य संबंध एवं संयोग संबंध

शंका—बंध, संबंध, तादात्म्यसंबंध और संयोगसंबंध इनके लक्षण क्या हैं ?

समाधान—दो द्रव्यों का परस्पर श्लेष होना बंध का लक्षण है। कहा भी है—

"परस्पर श्लेषलक्षणे बन्धे सतिद्वयणुकस्कन्धो भवति।" सर्वार्थसिद्धि ५।३३

इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है अतः उनमे एकरूपता आ जाती है। कहा भी है—

"ततः पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते।" स० सि० ५।३७

हाइड्रोजनहवा तथा आक्सीजनहवा का बंध होकर जल बन जाता है। जीव-कर्म का बंध सम्बन्ध है।

जिनके प्रदेश तो भिन्न न हो, किन्तु सज्ञा, संख्या लक्षण से भिन्न हो वह तादात्म्य-संबंध है। जैसे अग्नि और उष्णता का सम्बन्ध। गुण-गुणी का संबंध, पर्याय और पर्यायी का तादात्म्य सम्बन्ध है, क्योंकि इनके प्रदेश भिन्न नहीं हैं।

दो द्रव्यों का परस्पर इस प्रकार मिलना कि तीसरी अवस्था प्राप्त न हो उसको सयोगसम्बन्ध कहते हैं। जैसे कपड़े मे ताना और बाना का संयोगसम्बन्ध है।

—जै. ग. 19-12-66/VIII/ रतनलाल

समकितो के बन्ध का कारण चारित्रमोह

शंका—कलश नं० ११ पुण्य-पाप अधिकार समयसार में कहा है—"कर्म के उदय की बरजोरी से कषाय बिना जो कर्मउदय होय है सो तो बन्ध को ही कारण है" सम्यक्त्वप्रकृति का उदय बन्ध का कारण क्यों नहीं ?

समाधान—समयसार पुण्य-पाप अधिकार कलश नं० ११ मे जो कर्म के उदय को बन्ध का कारण कहा वहाँ पर चारित्रमोह कर्मोदय से अभिप्राय है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के दसवें गुणस्थानतक चारित्रमोहकर्म के उदय के कारण बन्ध होता रहता है। मिथ्यात्वकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म का उदय ही बन्ध का कारण है, शेष कर्मों का उदय बन्ध का कारण नहीं है। कहा भी है—"सभी औदयिकभाव बन्ध के कारण नहीं हैं। मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चार औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं।" धवल पु० २ पृ० ९। मात्र औदयिकभाव बन्ध का कारण नहीं, यदि वह मोहनीयकर्म उदयसहित है तो बन्ध होता है अन्यथा बन्ध नहीं होता है। [प्रवचनसार गाथा ४१। जयसेन आचार्य की टीका]

।. 28-3-63/IX/ प्यारेलाल

भावबन्ध का उपादान कारण

शंका—"भावबंध के विवक्षित समय से अनन्तरपूर्वक्षणवर्ती योग-कषायरूप आत्मा की पर्याय विशेष को भाव बंध का उपादान कारण कहा है।" अनन्तरपूर्ववर्तीक्षण से क्या आशय है ?

समाधान—जिन चेतनभावों से द्रव्यकर्म बंधते हैं वह भावबंध है।

"बज्झदि कम्मं जेण दु चेदण भावेण भावबंधो सो।"

अर्थ—जिस चेतनभाव से कर्म बंधता है वह भावबन्ध है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चेतनभावों से कर्म बंधता है।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥८।१॥ मोक्षशास्त्र

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (ये चेतनभाव) कर्मबंध के कारण हैं।

वह कर्मबंध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से प्रकृतिबंध व प्रदेशबंध का योग कारण है और स्थिति व अनुभागबंध का कषाय कारण है। श्री द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडि पदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥३३॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से द्रव्यबंध चारप्रकार का है। योगरूप चेतनभाव से प्रकृतिबंध व प्रदेशबंध होता है और कषायरूप चेतनभाव से स्थिति, अनुभागबंध होता है।

इससे सिद्ध होता है कि भावबंध मे योग और कषायरूप भावो की मुख्यता है। प्रतिक्षण की योग-कषाय-रूप आत्मा की पर्याय भावबंधरूप है। इसीलिए दसवें गुणस्थानतक प्रत्येक समय जीव के कर्मबंध होता रहता है।

विवक्षितक्षण से मिला हुआ पूर्वक्षण अर्थात् Just Before क्षण को अनन्तरपूर्ववर्तीक्षण कहते हैं।

—जै. ग. 4-7-66/IX/ म. ला जैन

मिथ्यात्वादि पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण हैं

शंका—पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय पन्द्रहयोग इन का समुदाय ही बंध का कारण है अथवा ये पृथक्-पृथक् भी बंध के कारण हैं ?

समाधान—पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग ये पृथक्-पृथक् भी बंध के कारण हैं। चतुर्थगुणस्थान में असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वोदयाभाव हो जाने से बारह अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग इनसे बंध होता है। संयत के बारह अविरति का भी अभाव हो जाने से कषाय व योग से बंध होता है। छद्मस्थवीतराग व सयोगकेवली के कषाय का भी अभाव हो जाने से मात्र योग से बंध होता है। इस-प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग पृथक्-पृथक् भी बंध के कारण हैं।

—जै. ग. 26-2-70/IX/ रो ला

द्रव्य एवं भाव बंध के हेतु

शंका—आत्मा के अशुद्ध परिणाम ही द्रव्यकर्म के बंध के हेतु हैं, तब अशुद्धपरिणाम का कौन हेतु है ? यदि कहा जाय कि वह अशुद्धपरिणाम द्रव्यकर्म की सयुक्तता से होते हैं, क्योंकि यह उसके कर्म हैं, किन्तु जीव के अशुद्धपरिणाम तो प्रतिक्षण होते रहते हैं तो इनमें कौन-सा द्रव्यकर्म हेतु पड़ता है ?

समाधान—जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पाँचभाव हैं। **त० सू० अ० २ सू० १** इनमे से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिकभाव तो मोक्ष के कारण हैं; औदयिकभाव बध के कारण हैं; पारिणामिकभाव न बध के कारण हैं और न मोक्ष के कारण हैं। कहा भी है—

ओदइया बंधयरा उवसम खयमिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होदि ॥ ध० पु० ७ पृ० ९

अर्थ—औदयिकभाव बध करने वाले हैं। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिकभाव बंध और मोक्ष दोनो के कारण से रहित हैं।

"ओदइया बंधयरा त्ति वुत्ते ण सव्वेसिमोदइयाणं भावाणं गहणं गदि-जादिआदीणं पि ओदइयभावाणं बंधकारणत्तप्पसंगा। .... जस्स अण्णय वदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णय-वदिरेगा उवलंभंति त तस्स कज्जमियरं च कारणं इदि णायादो मिच्छत्तादीणि चेव बंधकारणाणि।" (ध. पु. ७ पृ. १०)

"औदयिकभाव बध के कारण हैं, ऐसा कहने पर सभी औदयिकभावों का ग्रहण नही समझना चाहिये, क्योकि वैसा मानने पर गति, जाति आदि नामकर्मसम्बन्धी औदयिकभावो के भी बंध के कारण होने का प्रसग आ जायगा। जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आदि (मिथ्यात्व, कषाय) ही बध के कारण हैं।"

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध-हेतवः ॥१॥ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥ (त० सू० अ० ८)

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बध के कारण हैं। पूर्वकर्मोदय से जीव कषायसहित होता है अर्थात् ऐसा सकषायजीव कर्मों के योग्य नवीन पुद्गलो को ग्रहण करता है वह बध है।

दसवेंगुणस्थानतक कषाय का उदय निरतर रहता है जिससे जीव निरतर सकषाय होता रहता है और सकषाय होने के कारण उसके नवीनकर्मों का बध प्रतिक्षण होता रहता है।

—जै. ग. 18-3-71/VII/ रो. ला. जैन

सभी जीवों के अनादिकालीन बन्ध है जो कथंचित् असमान है

शंका—जीव के कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है वह सब जीवों के एक-सा ही होता है या कम-ज्यादा ? अगर एक-सा ही होता है तो अनादि से चारों गतियाँ न होकर एक ही गति सिद्ध होती है और अगर कम-ज्यादा होता है तो इसका क्या कारण ?

समाधान—अनादिसम्बन्ध मे यह प्रश्न ही नही होता कि सब जीवो के एक-से ही कर्मों का सम्बन्ध होता है या कम-ज्यादा। चारो गतियो के जीव अथवा सिद्धजीव निगोद से ही निकले हैं फिर भी वे अनादि से हैं।

अनादि से सिद्ध हैं और अनादि से ही चारों गतियो मे जीव हैं। जीवों के वर्तमान में जो बंध पाया जाता है वह सादि है, सकारण है और नानाजीवो की अपेक्षा उसमे हीनाधिकता है।

—जै. सं. 19-3-5?/V/ भैं ला. जैन, कुचामन सिटी

जीव व पुद्गल भिन्न-भिन्न द्रव्यों का अनादिकालीन सम्बन्ध है, इसका उदाहरण

शंका—मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३३ पर शंका उठाई गई है कि जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य जो न्यारे-न्यारे द्रव्य और अनादि से तिनिका सम्बन्ध ऐसे कैसे संभवे ? इसके समाधान में तिल तैल, जल-दूध, सोना किट्टिका व तुष-कण का उदाहरण देकर समझाया गया है। पर ये उदाहरण तो पुद्गलद्रव्य के पुद्गलद्रव्य में ही हैं। शंका जीव व पुद्गल अलग-अलग द्रव्य की है। अतः पूरी तरह से समझ में नहीं बैठा। ऐसे ही जीव व पुद्गल अलग-अलग द्रव्यों का उदाहरण देकर समझावें।

समाधान—प्रत्यक्ष पदार्थों का उदाहरण दिया जाता है। तिलतैल, सोना किट्टिका आदि प्रत्यक्ष देखने मे आते हैं, अतः इनका उदाहरण दिया गया है। उदाहरण एकदेश होता है, सर्वांग नहीं होता है। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध है यह प्रत्यक्ष अनुभव मे आ रहा है। यह सम्बन्ध यदि सादि होता तो सिद्ध भगवान के भी हो जाना चाहिये था। किन्तु सिद्ध भगवान के पुद्गल का सम्बन्ध होता नहीं अतः जीव-पुद्गल का सम्बन्ध अनादि का है। इसका उदाहरण जीव-पुद्गल ही है। जैसे राम-रावण युद्ध का उदाहरण राम-रावण युद्ध हो है। सर्वांग अन्य उदाहरण नही हो सकता है।

—जै. स. 19-3-59/V/ भैं. ला. जैन, कुचामनसिटी

जीव का कर्मों के साथ समवाय संबंध है

शंका—धवल सिद्धान्त ग्रन्थ पुस्तक १ पृष्ठ २३३ व २३४ पर लिखा है—'जीव के साथ कर्मों का समवायसंबंध होता है।' सो कैसे है ?

समाधान—जीव और कर्मों का अनादि काल से बंधनबद्ध संबंध है। इस बंधनबद्ध संबंध के कारण जीव और पुद्गल दोनो अपने-अपने स्वभाव से च्युत हो रहे हैं। कर्मोदय के कारण जीव विभावरूप परिणमन करता है। जीव मे रागद्वेष होने पर पुद्गल द्रव्य-कर्मरूप परिणम जाता है। इसप्रकार के बंधनबद्ध संबंध को संयोगसंबंध तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि पृथक् प्रसिद्ध पदार्थों के मेल को संयोग कहते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थों का एकरूप से मिलने का नाम समवाय है (ध० पु० १५ पृ० २४)। अतः जीव और कर्मों का समवायसंबंध है।

—जै स. 25-12-58/V/ क. दे गया

(१) पुण्य बन्ध किससे होता है ?
(२) संक्लेश व विशुद्धि का लक्षण

शंका—"राग घातिकर्म की पापप्रकृति है अतः उससे पुण्यबंध नहीं हो सकता, पुण्यबंध तो विशुद्धरूप परिणामों से होता है।" क्या ऐसा सिद्धान्त आगम अनुकूल है ? संक्लेश और विशुद्धि का क्या लक्षण है ? भव्य जीवों के उत्कर्ष का कारण विशुद्धि है या संक्लेश है ?

समाधान—राग यद्यपि चारित्रमोहनीय घातियाकर्म का भेद है, और घातियाकर्म पापरूप है तथापि वह राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। इनमे से प्रशस्तराग, घातियाकर्मरूप पापप्रकृति होने पर भी पुण्यबंध का कारण है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय मे कहा भी है—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपा संसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं, जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

—जिस जीव के प्रशस्तराग है, अनुकम्पायुक्त परिणाम हैं और चित्त में कलुषता (सक्लेश) का अभाव है उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है।

इस गाथा मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पुण्यास्रव के तीन कारण बतलाये हैं (१) प्रशस्तराग (२) अनुकम्पा (३) अकलुषता। इनमे से अकलुषता का स्वरूप बतलाते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा १३८ की टीका मे निम्नप्रकार लिखते हैं।

"क्रोध-मानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम। तेषामेव मंदोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम्।"

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ का तीव्रउदय कलुषता (सक्लेश) है और उन्ही क्रोधादि कषायो का मंदोदय अकलुषता है। कषायो का मंदउदय अर्थात् अकलुषता पुण्यास्रव व बंध का कारण है। कहा भी है—

"तच्चाकालुष्यं, पुण्यास्रवकारण भूतं।"

कषायो के मंदोदयरूप अकलुषता (विशुद्धि) भी पुण्यास्रव एवं बंध का कारण है। प्रवचनसार में भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो, णाणदंसणं भणिदो।
सोवि सुहो असुहो वा उवओगो, अप्पणो हवदि ॥१५५॥ (प्र० सा०)

टीका—ज्ञानदर्शनोपयोगधर्मानुरागरूपः शुभः विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः। अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्योपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं, जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पाव तेसिम भावे ण चयमत्थि ॥ १५६ ॥ (प्र० सा०)

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि ज्ञान-दर्शनमयी उपयोग यदि धर्मानुरागरूप है तो शुभ है यदि विषयानुराग है तो अशुभ है। अशुद्धोपयोग रागसहित होने के कारण विशुद्धि और सक्लेश से दो प्रकार का है। शुभोपयोग विशुद्धिरूप है और अशुभोपयोग सक्लेशरूप है।

प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग अर्थात् विशुद्धि मे कारण (आश्रय) का विपरीतता से प्रशस्तराग के फलस्वरूप पुण्य मे भेद हो जाता है। इस बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस गाथा व टीका मे कहा है—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण, फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव, सस्सकालम्हि ॥२५५॥ (प्र० सा०)

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं, सादप्पगं लहदि ॥२५६॥ (प्र० सा०)

टीका—शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किलफल, तत् कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं, तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भाव शून्य केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ॥ २५६ ॥ प्रशस्तरागविपाकात् शुभोपयुक्ताः ॥ २५६ ॥

प्रशस्तराग के विपाक से होने वाला शुभोपयोग अथवा विशुद्धि वस्तुभेद से विपरीतरूप फलता है । यदि वह प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित वस्तु मे उपयुक्त है तो उसका फल पुण्यसचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है । यदि वह प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग छद्मस्थ कथित वस्तु मे उपयुक्त है और उसके अनुसार व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि की क्रिया भी करता है तो उसका फल मोक्षशून्य मात्र निरतिशयपुण्य की प्राप्ति है । जिससे सुदेव मनुष्यत्वपर्याय तो मिल जायगी, किन्तु मुक्ति नहीं होगी । इसप्रकार निमित्तकारण की विपरीतता से उपादान के फल (कार्य) मे विपरीतता अवश्यम्भावी है ।

धवल अध्यात्मग्रंथ मे सक्लेश व विशुद्धि परिणामो का लक्षण इसप्रकार कहा है—

"को सकिलेसोणाम ? असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसोणाम । का विसोही ? सादबंध जोग्गपरिणामो ।"
ध० पु० ६ पृ० १८०

असाता के बध योग्य परिणामो को सक्लेश कहते हैं । साता के बध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं ।

"सादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि विसोही, असादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि सकिलेसोत्ति ।"
ध० पु० ११ पृ० २०९

सातावेदनीय के बन्धयोग्य कषायोदय स्थानो को विशुद्धि कहते हैं और असातावेदनीय के बंधयोग्य कषायोदय स्थानो को सक्लेश ग्रहण करना चाहिये ।

"सादबंधया इदि उत्ते साद-थिरसुभ-सुस्सर-सुभग-आदेज्ज-जसकित्ति-उच्चागोदाणमट्ठण्णं सुहपयडीणं परियत्तमाणीणं गहणं कायव्वं, अण्णोण्णाविणाभाविबंधादो। असादबंधया इदि उत्ते असाद-अथिर-असुह-दुभग-दुस्सरअणादेज्ज-अजसगित्ति णीचागोद बंधयाणं गहणं कायव्वं, बंधेण अण्णोण्णाविणाभावित्तदसणादो ।" ध० पु० ११ पृ० ३१२

सातावध योग्य कहने पर साता, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशकीर्ति और उच्चगोत्र इन आठ परिवर्तमान प्रकृतियो का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इनके बध मे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है । असाताबंधयोग्य कहने पर असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति और नीचगोत्र के बध का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि बध की अपेक्षा उनका अविनाभाव सबध है ।

सर्वज्ञ वीतराग कथित वस्तु मे उपयुक्त प्रशस्तराग-शुभोपयोगरूप विशुद्धि भव्य जीवों के उत्कर्ष का कारण है । छद्मस्थ कथित वस्तु मे उपयुक्त प्रशस्तरागरूप विशुद्धि और सक्लेश जीवों के उत्कर्ष का कारण नहीं है ।

—जै. ग. 27-5-76/VI/ रतनचन्द जैन

अबुद्धिपूर्वक बन्ध व उदय का स्वरूप, कारण तथा रोकने के उपाय

शंका—अबुद्धिपूर्वक बंध तथा उदय किसे कहते हैं। अबुद्धिपूर्वक बंध का कारण क्या है? जब इसका उदय होता है तो हमें इसकी अनुभूति या ज्ञान होता है या नहीं? आत्मा का इससे कितना सम्बन्ध है? इसे कैसे रोका जा सकता है जब कि बुद्धि का वहाँ उपयोग ही नहीं है?

समाधान—समयसार गाथा १७२ की टीका में कहा है कि जब तक ज्ञान सर्वोत्कृष्टभाव (केवलज्ञान अवस्था) को प्राप्त नहीं होता तब तक वह ज्ञान जघन्यरूप होता है। मोह के उदय के बिना ज्ञान की जघन्यता हो नहीं सकती इससे अबुद्धिपूर्वक मोह के उदय का सद्भाव पाया जाता है। पं० जयचन्दजी ने इस टीका के भावार्थ में 'अबुद्धिपूर्वक' के दो अर्थ किये हैं—

"आप तो करना नहीं चाहता और परनिमित्त से जबरदस्ती से हो, उसको आप जानता है। तो भी उसको अबुद्धिपूर्वक कहना चाहिये। दूसरा वह कि अपने ज्ञानगोचर ही नहीं, प्रत्यक्षज्ञानी उसे जानते हैं तथा उसके अविनाभावी चिह्न कर अनुमान से जानिये है उसे अबुद्धिपूर्वक जानना।" पं० राजमलजी ने भी गाथा १७२ के कलश की टीका मे इसप्रकार लिखा है—"अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहतां पचेन्द्रिय मन को व्यापार बिना ही मोहकर्म को उदय निमित्त पाय मोह, राग-द्वेषरूप अशुद्धविभावपरिणामरूप जीव असख्यातप्रदेश परिणवे सो यह परिणाम जीव की जान में नहीं और जीव का साराको (अनुभव) नहीं।" समयसार गाथा १७२ को नीचे टिप्पणी दी है जिसका अर्थ भी यही है।

अबुद्धिपूर्वक बध का कारण राग-द्वेष अथवा कषायभाव है। जब अप्रमत्तदशा मे चारित्रमोह के मंदउदय से अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष होता है तो उसका ज्ञान व अनुभव नहीं होता। रागद्वेष आत्मा के चारित्रगुण की वैभाविकपर्याय है अतः आत्मा का इससे तादात्म्य सम्बन्ध है, किन्तु त्रैकालिक तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध है।

अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष के मेटिवे को निरतरपने शुद्धस्वरूप को अनुभवे, शुद्धस्वरूप को अनुभव करने से सहज ही मिट जाय है।

—जै. सं. 2-1-58/VI/ लालचन्द नाहटा, केकड़ी

जघन्य रत्नत्रय कथंचित् बन्ध का कारण है

शंका—'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में देवों का कथन करते हुए लिखा है—

"बहुरि आयु बड़ी है। जघन्य दशहजारवर्ष, उत्कृष्ट इकतीससागर है। यातैं अधिक आयु का धारी मोक्षमार्ग पाए बिना होता नाहीं।"

यहाँ पर प्रश्न यह है कि मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रयस्वरूप है, क्या रत्नत्रय भी देवायु के बंध का कारण है?

समाधान—देवायु पुण्यप्रकृति है। उसकी उत्कृष्टस्थिति तैंतीससागर का बंध करनेवाला मनुष्य रत्नत्रय का धारी होना चाहिये। कहा भी है—

"देवायु. उक्क. ट्ठिदिबंध कस्स? अण्णदरस्स पमत्तसंजदस्स सागार जागारसुदोवजोगजुत्तस्स तप्पाओग्ग-विसुद्धस्स उक्कस्सियाए आबाधाए उक्क. ट्ठिदिबं. वट्ट.।" महाबंध पु० २ पृ० २५६

अर्थ—देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी कौन है ? श्रुतोपयोग से उपयुक्त, तत्प्रायोग्य विशुद्ध-परिणाम वाला है और उत्कृष्ट आबाधा के साथ उत्कृष्ट स्थितिबंध कर रहा है, अन्यतर प्रमत्तसंयत साधु देवायु के उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् तैंतीससागर स्थितिबंध का स्वामी है।

प्रमत्तसयतसाधु मोक्षमार्गी है इसीलिये 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे लिखा है कि ३१ सागर से अधिक आयु का धारी देव वही मनुष्य होगा जो मोक्षमार्गी है।

यदि कहा जावे कि रत्नत्रय से बंध नही होता है, सो भी बात नहीं है, क्योकि जघन्यरत्नत्रय से देवायु आदि पुण्यप्रकृतियो का बंध होना सम्भव है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः। इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४।४३॥ तत्त्वार्थसार

सरागसयम, सम्यक्त्व और देशसयम ये सब देवायु के आस्रव के कारण हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी कहते हैं—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥ १६४ ॥ (पं० का०)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है, इसलिये वे सेवने योग्य हैं ऐसा साधु पुरुषों ने कहा है। उन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतम्।
चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥
निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम्।
चतुष्टयमिदं वस्मं मुक्तेर्दुष्प्रापमङ्गिभिः ॥३०९॥ महापुराण सर्ग ४७

अर्थ—जिससे कर्मों की निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है। ये चारो ही (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप) गुण यदि कषायसहित हों तो स्वर्ग के कारण हैं और कषायरहित हों तो आत्महित चाहनेवाले लोगो को स्वर्ग-मोक्ष दोनो के कारण हैं। ये चारों ही मोक्षमार्ग हैं और प्राणियो को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते हैं।

जै. ग. 4-5-72/VII/ सुलतानसिंह

महाव्रत बन्ध के कारण नहीं हैं

शंका—सोनगढ़ के प्रचारक "सम्यक्त्वं च।" इस सूत्र का अर्थ तो इसप्रकार करते हैं कि सम्यक्त्व देवायु का कारण नहीं है, अपितु उसके साथ जो राग है वह देवायु का कारण है, किन्तु जहाँ महाव्रत व तप का प्रकरण आता है वहाँ पर वे प्रचारक यह अर्थ करते हैं कि महाव्रत व तप आस्रव के कारण हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं। वे यह नहीं कहते कि महाव्रत व तप आस्रव का कारण नहीं हैं, किन्तु महाव्रत आदि के साथ जो राग है वह आस्रव का कारण है। इसप्रकार अर्थ करके क्या सोनगढ़ के प्रचारक चारित्ररूप धर्म का अवर्णवाद नहीं करते हैं ?

समाधान—दिगम्बर महानाचार्य श्रीमदुमास्वामिविरचित त० सू० अ० ६ सू० २१ "सम्यक्त्वं च" में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन देवायु के आस्रव का कारण है। इस सूत्रपर श्री पूज्यपाद, श्री अकलंकदेव, श्री विद्यानन्दादि महापुरुषों ने टीकायें रची हैं, किन्तु किसी भी आचार्य ने इस सूत्र का यह अर्थ नहीं किया कि सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण नहीं, किन्तु राग देवायु के आस्रव का कारण है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवार्तिक में इस सूत्र की टीका मे लिखा है—

पृथक्सूत्रस्य निर्देशाद्धेतुर्वैमानिकायुषः।
सम्यक्त्वमिति विज्ञेयं संयमासंयमादिवत् ॥ ५ ॥

इस सूत्र का पृथक् निरूपण करने से सम्यक्त्व वैमानिक देवों की आयु का हेतु है, यह समझ लेना चाहिये जैसे कि संयमासंयम व सरागसंयम वैमानिकदेवो की आयु का आस्रव कराते हैं।

समयसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वार्थसार मे कहा है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४३ ॥

सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये देवायु के आस्रव के हेतु हैं। यहाँ पर भी सम्यक्त्व को देवायु के आस्रव का कारण कहा है—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी समयसार मे कहा है—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गल कम्मेण विविहेण ॥१७२॥

जब तक दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्यभावरूप परिणमते हैं तबतक उन जघन्यभावरूप परिणत दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।

इसप्रकार यथाख्यातचारित्र से पूर्वावस्था मे अर्थात् दसवें गुणस्थानतक सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र से बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है। यथाख्यातचारित्र हो जाने पर साम्परायिकआस्रव व बंध रुक जाता है, मात्र सातावेदनीय का ईर्यापथआस्रव होता है और संवर-निर्जरा विशेष होने लगती है।

यदि कहा जाय कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो मात्र मोक्ष के कारण हैं उनसे बन्ध सम्भव नहीं है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय मे इसप्रकार कहा है—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इद भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग है इसलिये वे सेवन योग्य हैं, ऐसा साधुओं ने कहा है, परन्तु उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बन्ध भी होता है व मोक्ष भी होता है।

यदि यह कहा जाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एक ही कारण से बन्ध और मोक्ष ऐसे दो कार्य सम्भव नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही दीपक कज्जल (कालिमा) व प्रकाश दोनों का कारण देखा जाता है।

श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा भी है—

"एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत् । यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मांगारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः।" (सर्वार्थसिद्धि ९-३)

अग्नि के समान एक ही कारण से अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विक्लेदन भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही सम्यक्तप अभ्युदय (सांसारिक सुख) और कर्मक्षय इन दोनों का हेतु है, ऐसा मानने मे कोई विरोध नहीं है।

निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतम् ।
चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥१०७॥
निष्कषायाणि भाक्तस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् ।
चतुष्टयमिदं धर्मं मुक्तेर्दुष्प्रापमङ्गिभिः ॥१०८॥ (महापुराण पर्व ४७)

जिससे कर्मों की निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है। ये रत्नत्रय व तप चारों ही गुण यदि कषायसहित हो तो स्वर्ग के कारण हैं और यदि कषायरहित हो तो आत्महित इच्छुक पुरुषों को स्वर्ग-मोक्ष दोनो के कारण हैं।

जयधवल जैसे महान्ग्रन्थ के कर्त्ता श्री भगवज्जिनसेनाचार्य ने उपर्युक्त श्लोक मे निष्कषाय, रत्नत्रय व तप को भी स्वर्ग का कारण कहा है, क्योंकि उपशांत-मोहजीव मरकर स्वर्ग में उत्पन्न होता है। सकषाय रत्नत्रय व तप स्वर्ग का कारण होने से देवायु के बन्ध का कारण है। इसीलिये श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार मे सराग-संयम को देवायु के बन्ध का कारण कहा है।

यद्विशुद्धेः परंधाम यद्योगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥१॥

अर्थ—जो विशुद्धता का उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरो का जीवन है और समस्त प्रकार की पापरूप प्रवृत्तियो से दूर रहना जिसका लक्षण है वह सम्यक्चारित्र है।

पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

श्री वर्द्धमानस्वामी तीर्थंकर भगवान ने तेरहप्रकार का चारित्र कहा उस चारित्र के पंचमहाव्रत तो मूल है पंचसमिति प्रसर (फैलाव) है और तीन गुप्ति फल है।

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितम् ।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णंचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥५॥

श्री वीर भगवान ने तेरहप्रकार का चारित्र कहा है—५ महाव्रत, ५ समिति और तीन गुप्ति।

हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे ।
विरतिर्व्रत-मित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥६॥ ज्ञानार्णव सर्ग ८

समस्त जीवों पर दयालु तीर्थंकर भगवान ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापो से विरति को महाव्रत कहा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी चारित्रपाहुड में कहा है—

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्तेह ताइं ॥ ३० ॥

अर्थ—महाव्रतो का श्रद्धान महापुरुष करते हैं, पूर्ववर्ती महापुरुषो ने इनका आचरण किया है और स्वयं भी महान् हैं अतः महाव्रत नाम सार्थक है।

इन उपर्युक्त आर्षवाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाव्रत चारित्र है। समन्तभद्राचार्य ने भी कहा है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥ (र० क० श्रा०)

अर्थ—पाप की नालीस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह से विरत होना अर्थात् ये पचव्रत सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

व्रत चारित्र है। चारित्र संवर और निर्जरा का कारण है अतः महाव्रत भी सवर-निर्जरा के कारण हैं। इसके विपरीत कथन करना अर्थात् महाव्रत को सवर-निर्जरा का कारण न मानना धर्म और श्रुत का अवर्णवाद है।

—जै. ग. 25-6-70/VII/ का. ना. कोठारी

भावलिंग महाव्रतरूप भाव बन्ध के कारण हैं या मोक्ष के ?

शंका—भावलिंगी महाव्रती छठे गुणस्थानरूप भाव बंध के कारण हैं या मोक्ष के ?

समाधान—जीव के शुभ, अशुभ तथा शुद्ध तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। जीव के जिस समय जो परिणाम होते हैं उस समय वह जीव उन परिणामो से तन्मय होता है। कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥
जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि, हि परिणामसब्भावो ॥९॥ प्रवचनसार

अर्थ—जिससमय जिसभाव से द्रव्य परिणमन करता है उस समय द्रव्य उसी भावमय हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इस कारण धर्म से परिणत आत्मा धर्म जानना। जब यह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामो कर परिणमता है तब यह शुभ व अशुभ होता है। जब यह जीव शुद्धभावरूप परिणमता है तब शुद्ध होता है।

इस गाथा ९ की टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने इसप्रकार कहा है—"मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र इन तीन गुणस्थानों मे जीव के तारतम्य से अशुभोपयोग होता है। उसके पश्चात् असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों मे तारतम्य से शुभोपयोग होता है। उसके पश्चात् अप्रमत्त से क्षीणकषायगुणस्थानतक तारतम्य

से शुद्धोपयोग होता है। सयोगि व अयोगि इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।"

उक्त आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि भावलिंगी महाव्रती प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थानवाले मुनि) के शुभोपयोग होता है। वह शुभोपयोग इन तीन (सम्यक्त्व, संयम व बुद्धि पूर्वक शुभराग) भावों से मिलकर बना है। यदि शुभोपयोग का अर्थ केवल शुभराग ही लिया जावे तो छठागुणस्थान नहीं बनता, क्योंकि छठेगुणस्थान मे सम्यक्त्व व संयम अवश्य होता है। यद्यपि छठेगुणस्थानवाले मुनि के शुभोपयोग है, शुद्धोपयोग नहीं है और वह उस काल मे शुभोपयोग से तन्मय है, किन्तु उसके प्रतिसमय संवर, निर्जरा होती है, क्योंकि उसके शुभोपयोग का अश सम्यक्त्व व संयम मौजूद है। सवर व निर्जरा मोक्ष के कारण हैं।

छठेगुणस्थानवर्ती मुनि के शुभोपयोग का एक अश शुभराग भी है, उसके कारण सयम की रक्षार्थ आहार, विहार, धर्मोपदेश, स्तुति, वदना, पचपरमेष्ठि गुणस्मरण आदि शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति भी होती है, किन्तु यह प्रवृत्ति विषय-कषायरूपी दुर्ध्यान-नाश का कारण ससारस्थिति को छेदने के लिये है। कहा भी है 'संसारस्थितिच्छेद-कारण, विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसम्बन्धिगुणस्मरणदानपूजादि कुर्युः।

(प. प्र. गा. ६१ टीका)

छठे गुणस्थानवाले के असम्पूर्ण रत्नत्रय है अतः उसके शुभराग भी है जिसके कारण उसके पुण्यबंध होता है वह बध भी मोक्ष का उपाय है, ससार का उपाय नहीं है। कहा भी है—

"सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्सहोइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥४०४॥ भावसंग्रह
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्तिकर्मबंधो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११०॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि सम्यग्दष्टि द्वारा किये हुए पुण्य मे निदान न किया जावे तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण है॥ ४०४॥ भावसंग्रह। असम्पूर्ण रत्नत्रय को भावनेवाले के जो कर्मबन्ध है वह विपक्ष (राग) कृत है और मोक्ष का उपाय अवश्य है, बंध का उपाय नही है॥ २११॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय।

छठेगुणस्थान मे निदान का अभाव है अतः छठेगुणस्थान मे शुभराग के कारण जो पुण्यबंध होता है वह मोक्ष का ही कारण है ऐसा उपर्युक्त आगम मे कहा है।

क. पा. पु. १ पृ ६ पर भी कहा है 'यदि शुभ और शुद्ध परिणामो से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो नही सकता।' (सुहसुद्ध परिणामेहिं कम्मक्खया भावे तक्खयाणुववत्तीदो।)

छठेगुणस्थानवाले के भावमोक्ष के कारण हैं, क्योंकि वहाँ पर रत्नत्रय मोक्षमार्ग है।

—जै स 9-1-58/VI/ टा. दा. कैराना

(१) व्रत बन्ध के कारण नहीं हैं
(२) सम्यग्दर्शन आदि से कदापि बन्ध नहीं होता; उनके साथ रहने वाला राग ही बन्ध का कारण है

शंका—व्रत तो बंध के कारण हैं। जैनशास्त्रों में व्रत को ग्रहण करने का क्यों उपदेश दिया गया?

समाधान—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। मनुष्य विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं वे पाप के कारण हैं। जो पाप-कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उन्हे इसी भव मे राजा दण्ड देते हैं और पापाचारी परलोक मे दुःख उठाते हैं, इसप्रकार वह बुद्धि से समझकर हिंसादिक से विरत हो जाता है। स. सि. अ. ७ सू. १ की टीका।

पापो से निवृत्ति अथवा विरति तो बंध का कारण नहीं हो सकती। यदि पापों से निवृत्ति या विरति बंध का कारण माना जावे तो क्या पापों मे प्रवृत्ति या रति संवर-निर्जरा का कारण होगी? सब पापो से निवृत्त होना सामायिक संयम नामक एक व्रत है। वही व्रत छेदोपस्थापना संयम की अपेक्षा पाँच प्रकार का है। दस धर्मों में से संयम भी एक धर्म है। चारित्र के पाँच भेदो मे से प्रथम व द्वितीय भेद सामायिक चारित्र व छेदोपस्थापना चारित्र है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ मे धर्म व चारित्र को संवर का कारण कहा है तो फिर व्रत बंध या आस्रव के कारण कैसे हो सकते है?

त. सू. अ. ८ सूत्र १ मे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बंध का कारण कहा है। व्रत न तो मिथ्यादर्शनरूप हैं; न अविरतिरूप हैं, न प्रमादरूप न कषायरूप हैं और न योगरूप हैं, फिर व्रत बंध के कारण कैसे हो सकते हैं? बंध का कारण जो अविरति उसका प्रतिपक्षी व्रत है। जैसे बंध का कारण मिथ्यादर्शन का प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन बंध का कारण न होकर संवर व निर्जरा का कारण है उसीप्रकार बंध के कारणभूत अविरति का प्रतिपक्षी व्रत भी संवर और निर्जरा का कारण है।

त सू. अ. ६ सूत्र २१ मे सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन को देवायु के आस्रव का कारण कहा है। उसका यह अर्थ है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे कषाय व योग के कारण जो आयुकर्म का आस्रव होगा वह मात्र सौधर्म आदि विशेष देवो की आयु का आस्रव होगा। सम्यग्दर्शन तो स्वयं आस्रव या बंध का कारण नही है। कहा भी है—'जितने अंश से सम्यग्दर्शन है उतने अंश से बंध नहीं है जितने अंश से राग है उतने अंश से बंध होता है।' पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१२। इसीप्रकार त सू अ. ६ सूत्र १२ व २० मे सराग संयम को साता वेदनीय व देवायु के बंध का कारण कहा है वहाँ पर भी संयम अर्थात् चारित्र को बंध का कारण कहने का अभिप्राय नहीं है, किन्तु संयम के होते हुए राग आदि के द्वारा जो वेदनीयकर्म व आयुकर्म का आस्रव होगा उसमे सातावेदनीय व देवायु का आस्रवबंध होगा। पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१४ व २१५ मे कहा भी है—'जितने अंश से चारित्र है उस अंश से बंध नहीं है तथा जितने अंश से राग है उतने अंश से बंध होता है। योग से प्रदेशबंध तथा कषाय से स्थितिबंध होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न योगरूप है न कषायरूप है अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र मे बंध नही होता।'

तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ मे जो व्रत को पुण्यास्रव का कारण कहा है उसका यह अभिप्राय है कि व्रत के समय यदि अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तु के ग्रहणरूप प्रवृत्ति होती है तो वह प्रवृत्ति बंध का कारण है। व्रत तो चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान मे भी है, क्योंकि प्रमत्तसंयतगुणस्थान से आगे सब जीव संयत होते हैं[1] किन्तु चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान मे आस्रव व बंध नहीं है, क्योंकि वहाँ व्रत का सद्भाव होते हुए भी प्रवृत्ति का अभाव है। अतः पापो से निवृत्ति या विरति बंध का कारण नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति आस्रव का कारण है।

१. 'संयमानुवादेन संयताः प्रमत्ताद्योगकेवल्यन्ताः।' स० सि० १।८

स. सि. अ. ७ सूत्र १ की टीका में यह शंका उठाई गई है कि व्रत आस्रव का कारण नहीं है, क्योंकि संवर के कारणों में इसका अन्तर्भाव होता है। इसका उत्तर देते हुए श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा है—'यह कोई दोष नहीं, वहाँ निवृत्तिरूप संवर का कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदि का त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तु का ग्रहणआदिरूप क्रिया देखी जाती है। दूसरे ये व्रत गुप्तिआदिरूप संवर के अङ्ग हैं। जिस साधु ने व्रतों की मर्यादा करली है वह सुखपूर्वक संवर करता है।' स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ९५ में भी कहा है—सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का जीतना और योगों का अभाव ये सब संवर के नाम हैं[1]। सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायोदय का अभाव हो जाने से मिथ्यात्व के उदयसे बंधनेवाली १६ प्रकृति और अनन्तानुबन्धी के उदय से बंधनेवाली २५ प्रकृति इस प्रकार ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाता है। देशव्रत के ग्रहण करने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से, अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय से बन्धनेवाली दस प्रकृतियों का संवर होजाता है। महाव्रत के ग्रहण करने पर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से प्रत्याख्यानावरण कषायोदय से बंधनेवाली चार प्रकृतियों का संवर हो जाता है। सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र १ की टीका। अतः अणुव्रत व महाव्रत १० व ४ प्रकृति के संवर के कारण हैं।

समयसार गाथा २६४ में भी व्रतों को बन्ध का कारण नहीं कहा है, किन्तु 'व्रतों में जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यबन्ध होता है ऐसा कहा है[2]। गाथा २६२ में भी कहा है निश्चयनय से जीव को मारो या मत मारो जीवों के कर्मबंध अध्यवसाय कर ही होता है यह ही बंध का संक्षेप है।'

नय के जानने वाले को अनेकान्त और स्याद्वाद के द्वारा अनेक कथनों का समन्वय कर लेना कोई कठिन नहीं है। कहा भी है—'तीर्थंकरो और आहारक कर्मों का भी जो बंध सम्यक्त्व और चारित्र से आगम में कहा है वह भी नय वेत्ताओं को दोष के लिये नहीं है (पु० सि० उ० श्लो० २१७)। एकान्ती इस कथन में विपरीत धारणा कर लेते हैं।

—जै. ग 25-1-64/VII/ कान्तिलाल

"मिथ्यात्वादि के सद्भाव में भी रागादि न करें तो बन्ध नहीं होता" इसका स्पष्टीकरण

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १४९ में लिखा है कि मिथ्यात्वादि कर्मों का सद्भाव रहते हुए भी यदि जीव रागादि न करे तो बन्ध नहीं होगा, यह कैसे संभव है ?

समाधान—उपशमसम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणी चढ़कर जब उपशातमोह ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है, तब उसके मिथ्यात्वकर्म, अप्रत्याख्यानावरणादिकर्म (द्रव्यअसंयम), क्रोधादिकषायकर्म, योग का सद्भाव तो है, किन्तु दर्शनमोहनीयकर्म व चारित्रमोहनीयकर्म का पूर्णरूप से उपशम हो जाने के कारण राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिये उसकी 'छद्मस्थवीतराग' संज्ञा है अतः उसके कर्मबंध अर्थात् स्थिति, अनुभागबंध नहीं होता है, क्योंकि सकषाय अर्थात् रागी-द्वेषी जीव ही कर्मों से बंधता है।

१. 'सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव ॥ ९५ ॥
२. तहवि अचोज्जे सत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ २६४ ॥

इस उपशांतमोहछद्मस्थवीतराग ग्यारहवेंगुणस्थान की अवस्था को ध्यान में रखकर श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १४९ की टीका मे इसप्रकार लिखा है।

"रागाद्यभावानामभावेद्रव्यमिथ्यात्वासंयमकषाययोगसद्भावेऽपि जीवा न बध्यन्ते"। रागादि भावों का अभाव होने से द्रव्यमिथ्यात्व (मिथ्यात्वकर्म), द्रव्य असंयम (अप्रत्याख्यानावरणादि कर्म), द्रव्यकषाय (क्रोधादिकर्म), द्रव्ययोग के सद्भाव (सत्त्व) मे जीव बंधते नहीं हैं।

दसवें गुणस्थानतक चारित्रमोहनीयकर्म का उदय रहता है, उस उदय के अनुरूप जीव के रागादिरूप परिणाम भी होते हैं और रागादि परिणामों के कारण जीव के बंध भी होता है। ऐसा संभव नहीं है कि द्रव्य-मिथ्यात्व का तो उदय हो और जीव के मिथ्यात्वरूप भाव न हो। मिथ्यात्वकर्मोदय होने पर जीव के मिथ्यात्वभाव अवश्य होंगे, क्योंकि अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ जो कर्म की अवस्था है, वह उदय है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा ५३ की टीका मे कहा भी है—

"यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि।"

दसवेंगुणस्थान मे आत्मपरिणामों मे विशुद्धता बहुत अधिक होती है और चारित्रमोहनीयकर्मोदय बहुत सूक्ष्म होता है तथापि उस सूक्ष्मलोभ कर्मोदय के अनुरूप उस शक्तिशाली सम्यग्दृष्टिजीव को सूक्ष्मलोभरूप परिणमन करना ही पड़ता है, इसीलिये इस दसवेंगुणस्थान का नाम सूक्ष्मसाम्पराय है।

"यदि जीवगतरागाद्यभावेपि द्रव्यप्रत्ययोदयमात्रेण बंधो भवति तर्हि सर्वदैव बंध एव। कस्मात् ? संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वादिति।" (श्री जयसेनाचार्यकृत टीका)

"यदि जीव के रागपरिणाम के अभाव में द्रव्यप्रत्ययोदय (द्रव्ययोगोदय) मात्र से बंध होने लगे तो सर्वदा बंध होगा, क्योंकि संसारीजीव के सर्वदा कर्मोदय रहता है।" इसके आधार पर यदि कोई यह कहे कि मात्र मिथ्यात्वादि कर्मोदय से बंध नहीं होता तो उसका ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि श्री जयसेनाचार्य ने स्वयं गाथा १५७ की उत्थानिका मे इसप्रकार लिखा है कि मिथ्यात्वादि कर्मोदय होने पर जीव के सम्यक्त्वादि गुणों का घात हो जाता है अर्थात् मिथ्यात्वादि प्रगट हो जाते हैं।

"अथ मोक्ष हेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्ष-भूतेन प्रच्छादनं दर्शयति।"

अतः 'द्रव्यप्रत्ययोदयमात्रेण' से द्रव्ययोग का ग्रहण करना चाहिये, मोहनीयकर्मोदय को नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि मोहनीयकर्मोदय होने पर रागादिक अवश्य होंगे और कर्मबन्ध भी अवश्य होगा। मोहनीयकर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मोदय से बंध नहीं होता है। कहा भी है—

"ओदइया बंधयरा त्ति वुत्ते ण सव्वेसिमोदइयाणं भावाणं गहणं, गदि-जादिआदीण वि ओदइयभावाणं बंधकारणत्तप्पसंगा। जस्स अण्णयवदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णयवदिरेगा उवलब्भंति त तस्स कज्जमियरं च कारणं इदि णायादो मिच्छत्तादीणि चेव बंधकारणाणि।" धवल ७ पृ० १०।

औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं ऐसा कहने पर सभी औदयिकभावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वैसा मानने पर गति, जाति आदि नामकर्मसम्बन्धी औदयिकभावो के भी बंध के कारण होने का प्रसंग

व्याख्या । 'जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है,' इस न्याय से मिथ्यात्वादिक ही बंध के कारण हैं ।

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।" त० सू० अ० ८ सू० २ ।

"कर्मणः इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतुर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मस्य कषायलेपोऽस्ति ।"

कर्मोदय से जीव कषाय सहित होता है । कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है ।

मोहनीयकर्मोदय होने से जीव के रागादिभाव होते हैं और रागादिभाव होने से जीव नवीनकर्मों को बांधता है । इसप्रकार मोहनीयकर्मोदय बध का कारण है अन्य कर्मोदय बंध के कारण नहीं हैं, क्योंकि ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में अन्य कर्मोदय होने पर भी मोहनीयकर्मोदय न होने से बंध नहीं होता है । दसवें गुणस्थान तक मोहनीयकर्मोदय है जिससे रागादिभाव उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्ध भी होता है ।

—जै. ग. 30-3-72/VII/ देहरा तिजारा

शुभोपयोग से बन्ध के साथ-साथ संवर-निर्जरा भी होते हैं

शंका—'शुभोपयोग मात्र-बंध का कारण है ।' क्या यह निश्चय का कथन है ?

समाधान—निश्चयनय की दृष्टि में जीव के न बन्ध है और न मोक्ष है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री समयसार ग्रंथ में कहा भी है—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥ १४१ ॥

अर्थात्—जीव में कर्म बद्ध है तथा स्पर्शता है ऐसा व्यवहारनय का वचन है जीव कर्मों से बद्ध नहीं ऐसा निश्चयनय का वचन है ।

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम् ।
अबंधे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः ॥

यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव को बंध अवश्य होना चाहिये, क्योंकि यदि बंध न हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? इसलिये अबद्ध (नहीं बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती । उसके तो मुंच् (छूटने की वाचक) धातु का प्रयोग ही व्यर्थ है । अर्थात् कोई जीव पहले बंधा हुआ हो फिर छूटे तब वह मुक्त कहलाता है, उसीप्रकार जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी की मोक्ष होती है ।

"बंधश्च शुद्धनिश्चयेन नास्ति तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बद्धो भवति तदासर्वदैव-बंध एव मोक्षो नास्ति ।"

शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से बंध है ही नहीं, इसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है । यदि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध, होता रहे, मोक्ष ही न हो ।

अतः निश्चयनय की दृष्टि में 'शुभोपयोग बंध का कारण है' यह कथन संभव नहीं है ।

शुभोपयोग से मात्र बंध ही होता हो ऐसा एकान्त नहीं है। शुभोपयोग से संवर व निर्जरा भी होते हैं। धवल व जयधवल जैसे महान् ग्रंथों के कर्ता श्री वीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

"सुहसुद्ध परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो। (ज० ध० पु० १ पृ० ६)

अर्थ—यदि शुभ परिणामों से और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

"अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुण कम्मक्खयकारओत्ति।"

अर्थ—अरहंत नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है।

अरहंत णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥

अर्थ—जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र सब दुःखों से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

धर्मध्यान शुभोपयोग है। उस धर्मध्यान के द्वारा दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय होता है इसीलिये धर्मध्यान मोक्ष का कारण है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥ भावपाहुड़

अर्थ—शुभ, अशुभ और शुद्ध ये तीनप्रकार के भाव जानने चाहिये। आर्त-रौद्रध्यान अशुभ हैं और धर्मध्यान शुभ है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

"मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।"

ध० पु० १३ पृ० ८१

अर्थ—मोहनीय का नाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अन्तिमसमय में उसका विनाश देखा जाता है।

"परे मोक्ष हेतु ॥९।२९॥" मोक्षशास्त्र

इस सूत्र में श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों को मोक्ष का कारण बतलाया है।

यदि शुभोपयोग से मात्र कर्मबंध ही होता और संवर-निर्जरा न होते तो धर्मध्यान, जो शुभोपयोगरूप है, मोक्ष का कारण न होता। अतः शुभोपयोग से मात्र बंध ही होता हो ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग संवरनिर्जरा का भी कारण है।

—जै. ग. 15-5-69/X/ सुमतप्रसाद

(१) शुभोपयोग बन्ध व संवर-निर्जरा दोनों का हेतु है
(२) शुद्धोपयोग से आस्रव भी होता है

शंका—शुभोपयोग से तो कर्मबन्ध होता है, उससे संवर, निर्जरा कैसे हो सकती है ? चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जितने अंशों में शुद्धोपयोग है उससे ही उन गुणस्थानों में संवर, निर्जरा होती है, शुभोपयोग से तो मात्र बन्ध ही होता है, ऐसा क्यों न माना जावे ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोग का लक्षण इस प्रकार कहा है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥ प्रवचनसार

जिस मुनि ने पदार्थों को, सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम-तप से युक्त है, वीतराग है और जिसको सुख दुःख समान है, ऐसा मुनि शुद्धोपयोगरूप होता है ।

इस गाथा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि मुनि के ही शुद्धोपयोग हो सकता है, श्रावक के शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है और वह मुनि (समस्तरागादिदोष रहितत्वाद्वीतरागः) बुद्धिपूर्वक समस्त रागादि दोषों से रहित होने के कारण, वीतरागी होना चाहिये ।

"निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति ।"

(प्रवचनसार गाथा २४२ जयसेना० पृ० ५८३)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्रता निश्चय से निर्विकल्पसमाधि मे होती है उसीका नाम परम साम्य है और वह साम्य ही शुद्धोपयोग का लक्षण है। वह साम्य ही श्रामण्य है अथवा मोक्षमार्ग है। इस कथन से इतना और स्पष्ट हो जाता है कि 'शुद्धोपयोग' निर्विकल्पसमाधि में होता है और निर्विकल्पसमाधि मुनि के ही होती है।

"सर्वपरित्यागः परमोपेक्षा संयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः ।" प्रवचनसार पृ. ५२२ ।

सर्वपरित्याग (अंतरंग व बहिरंग समस्त परिग्रह का पूर्णरूपेण बुद्धिपूर्वक परित्याग), परमोपेक्षा-संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग ये एकार्थवाची हैं। अर्थात् अपहृतसंयम या सरागचारित्र मे शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है । जब सरागचारित्र वाले के शुद्धोपयोग नहीं हो सकता तब एकदेशसंयत व असंयत के शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

"अथ प्राभृत शास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत् ? मिथ्यात्व-सासादन मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येना शुभोपयोगः, तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः तदनन्तरं सयोग्ययोगीजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥९॥ प्रवचनसार

प्राभृतशास्त्र मे उन शुभ, अशुभ व शुद्धोपयोग का संक्षेपरूप कथन १४ गुणस्थानों की अपेक्षा किया गया है, जो इस प्रकार है—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनगुणस्थानों मे तारतम्य मे घटता हुआ अशुभोपयोग है। असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों मे तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग है। अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छह गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है। सयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों मे शुद्धोपयोग का फल है।

इस आर्षवाक्य से स्पष्ट है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय चौथे गुणस्थान के प्रारम्भ मे तथा पाँचवें व छठे गुणस्थानों में व्रतों के कारण प्रतिसमय जो निर्जरा होती है वह शुभोपयोग का ही फल है, क्योंकि इन तीन गुणस्थानों मे शुद्धोपयोग नहीं होता है, जैसा कि उपर्युक्त आर्षप्रमाणों में कहा गया है।

चौथे, पाँचवें, छठे इन तीनगुणस्थानों में सम्यक्त्व तथा सम्यक्त्व व व्रतों के साथ-साथ बुद्धिपूर्वक राग भी है। अतः इस मिश्रभाव को शुभोपयोग कहा गया है, इससे बंध भी होता है और संवर, निर्जरा भी होती है। यदि कहा जाय कि एक ही कारण से दो भिन्न-भिन्न विपरीतकार्य नहीं हो सकते हैं सो ऐसा ऐकान्त भी नहीं है, क्योंकि घी के दीपकरूप एक ही कारण से प्रकाश व अन्धकाररूप धुआँ एक ही समय में दो विपरीत कार्य उत्पन्न होते हुए दिखाई देते हैं। कहा भी है—

"तपसोऽभ्युदय हेतुत्वान्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत् न एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् ।" [रा० वा० ९।३।४]

यहाँ पर शंकाकार कहता है कि तप से तो पुण्यबंध होकर इन्द्र आदि के सांसारिकसुख मिलते हैं, जैसा कि परमात्मप्रकाश २।७२ में 'इंदत्तणु वि तवेण' द्वारा कहा है; फिर तत्त्वार्थसूत्र "तपसा निर्जरा च ।।९।३।।" अर्थात् तप से संवर निर्जरा होती है ऐसा क्यों कहा गया है ? आचार्य कहते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि एक कारण से अनेक कार्य पाये जाते हैं अर्थात् तप से इन्द्रादि पद का कारण पुण्यबंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है।

धर्मध्यान शुभोपयोग है जैसा कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ में "सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं" पद द्वारा कहा है। इस शुभोपयोगरूप धर्मध्यान से संवर-निर्जरा भी होती है, इसीलिये तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ में "परे मोक्षहेतू ।।२९।।" सूत्र द्वारा शुभोपयोगरूप धर्मध्यान को मोक्ष का कारण कहा है। अर्थात् शुभोपयोगरूप धर्मध्यान से संवर व निर्जरा होती है इसीलिए मोक्ष का कारण बतलाया गया है।

श्री वीरसेनाचार्य भी जयधवल में कहते हैं—

"सुहसुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो ।" [पु० १ पृ० ६]

अर्थ—यदि शुभपरिणामों से और शुद्धपरिणामों से कर्म का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो नहीं सकता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। उनमें से पाँचवीं जो करणलब्धि है, उसमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है और उसके पश्चात् चतुर्थ आदि गुणस्थानों में कर्मों की निर्जरा होती है वह शुभोपयोग से ही होती है, क्योंकि शुद्धोपयोग तो सातिशयअप्रमत्तसंयत-सातवें गुणस्थान से होता है अथवा ग्यारहवें गुणस्थान से होता है। यदि शुभोपयोग से निर्जरा न मानी जाय तो करणलब्धि में निर्जरा के अभाव में सम्यक्त्वोत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आ जायगा जिससे मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

शुभोपयोग मिश्रित परिणाम होने के कारण विशिष्ट पुण्यबंध व संवर-निर्जरा इन दोनों का कारण होता है।

यदि कहा जाय कि शुभोपयोग में जितने अंशों में सम्यक्त्व व चारित्र है उतने अंशों में संवर, निर्जरा होती है और जितने अंशों में राग है उतने अंशों में बंध होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र मोक्ष के ही कारण हैं बंध के कारण नहीं हैं, तथा राग-द्वेष बन्ध का ही कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा एकान्तनियम नहीं है।

यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से सम्यग्दर्शन-चारित्र संवर व निर्जरा के कारण हैं और राग बंध का कारण है तथापि तीर्थंकर आदि कुछ ऐसी विशिष्ट कर्म-प्रकृतियाँ हैं जिनके बन्ध में सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व व चारित्र कारण होते हैं तथा विशिष्ट प्रशस्तराग भी मोक्ष का परम्परा कारण हो जाता है।

द्वादशांगसूत्रों के एकदेश का ज्ञान गुरुपरम्परा से श्री धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ था। श्री धरसेनाचार्य से यह ज्ञान श्री पुष्पदन्त व श्री भूतबलि को प्राप्त हुआ था, जिन्होंने उन द्वादशांगसूत्रों को लिपिबद्ध कर दिया और शास्त्र का नाम षट्खंडागम रखा। इस षट्खण्डागम के छठे खण्ड महाबन्ध में मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग को कर्मप्रकृतियों के बन्ध का कारण कहा है, किन्तु आहारकद्विक और तीर्थंकर इन तीनप्रकृतियों के लिये, मिथ्यात्व आदि को बन्ध का कारण न कहकर, सम्यग्दर्शन आदि को बन्ध का कारण कहा है। वे द्वादशांग के सूत्र इसप्रकार हैं—

"आहारदुगं संजमपच्चयं। तित्थयरं सम्मत्तपच्चयं।" (म. बं. पु. ४ पृ. १८६)

द्वादशांग के इन सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन व संयम विशिष्ट-कर्म-प्रकृतियों के लिये बन्ध का भी कारण है, इसीलिये इन प्रकृतियों के बन्ध का कारण मिथ्यात्वादि को नहीं कहा गया है। द्वादशांग के सूत्रों का अनुसरण करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥ (समयसार)

बन्ध के करनेवाले सामान्यरूप से चारप्रत्यय (कारण) कहे गये हैं। वे चार प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानने चाहिए।

जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥ १७१ ॥
दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गल कम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ (समयसार)

यद्यपि समयसार गाथा १०९ में मिथ्यात्वादि को बन्ध का कारण कहा है, किन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी जब तक जघन्यभाव से परिणमते हैं अर्थात् अपनी उत्कृष्टदशा को प्राप्त नहीं होते हैं तबतक उनसे भी बन्ध होता है।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बन्धो व मोक्खो वा ॥ १६४ ॥ पंचास्तिकाय

दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग हैं इसलिए वे सेवनयोग्य हैं ऐसा साधुओं ने कहा है। उन दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है। इसप्रकार एककारण से दोकार्य बतलाये हैं। श्री समंतभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निम्न प्रकार कहा है—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

संस्कृत टीका—'उत्तमे सुखे स्वर्गापवर्गादि प्रभवे सुखे, स धर्म इत्युच्यते।'

मैं समंतभद्राचार्य समीचीनधर्म को कहता हूँ। वह धर्म कर्मों का नाश करनेवाला है तथा प्राणियों को जन्म-मरणरूपी दुःखों से छुड़ाकर उत्तमसुख अर्थात् स्वर्ग व मोक्ष सुख में रखने वाला है।

यहाँ पर भी धर्म को पुण्यबन्ध के द्वारा स्वर्गसुख को देनेवाला और कर्मों के नाश से मोक्षसुख को देनेवाला बतलाया गया है।

ओंकारं बिन्दुसयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः॥

बिन्दु सयुक्त ओंकार का योगिजन नित्यध्यान करते हैं। वह ओंकार पुण्यबन्ध के द्वारा सांसारिकसुख का तथा मोक्षसुख का देनेवाला है। इसलिये ओंकार के लिये नमस्कार हो।

चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥
निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम्।
चतुष्टयमिदं वर्ग्म मुक्तेर्दुष्प्रापमङ्गिभिः ॥ ३०८ ॥ महापुराण पर्व ४७

श्री पं० पन्नालालजी कृत अर्थ—"चारो ही गुण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप) यदि कषायसहित हो तो (पुण्यबंध होने से) स्वर्ग के कारण हैं और कषायरहित हो तो आत्महित चाहनेवाले लोगो को स्वर्ग और मोक्ष दोनो के कारण हैं। ये चारो ही मोक्षमार्ग हैं और प्राणियो को बडी कठिनाई से प्राप्त होते हैं।" यहाँ पर कषाय-रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ये चारो स्वर्ग के कारण हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है।

तत्त्वार्थसूत्र मे यद्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग तथा "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ ८।१ ॥" सूत्र द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग को बधका कारण कहा है तथापि अध्याय छह में, जहाँपर आस्रव के विशेष कारणो का कथन है, वहाँ पर सूत्र २१ मे सम्यक्त्व तथा सूत्र २४ मे दर्शनविशुद्धि आदि को भी बध का कारण कहा है।

पुरुषार्थ सिद्धय् पाय के कर्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वार्थसार मे इसप्रकार कहा है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४।४३॥
विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः।
नाम्नस्तीर्थंकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४।४९-५२ ॥

सरागसंयम, सम्यग्दर्शन, देशसयम ये देवायु के आस्रव के कारण हैं ॥ ४३ ॥ सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट-विशुद्धता, शक्ति अनुसार तप व त्याग इत्यादि सोलह तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति के आस्रव के कारण हैं ॥४९-५२॥ यहाँ पर सम्यग्दर्शन के साथ या सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट विशुद्धता तथा तप व त्याग के साथ राग विशेषण नहीं लगाया है।

यदि कहा जाय कि तीर्थंकर व आहारकद्विक के बन्ध का कारण मात्रराग है, सम्यक्त्व व चारित्र तीर्थंकर-प्रकृति व आहारकद्विक के बध के कारण नहीं हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नयशास्त्र तथा द्वादशाग-सूत्रों से विरोध आता है। तीर्थंकर का बन्ध सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे होता है और सम्यग्दर्शन के अभाव मे तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं होता है। तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का सम्यक्त्व के साथ अन्वय-व्यतिरेक सुघटित हो जाने से कार्य-कारणभाव सिद्ध हो जाता है।

"अन्वय-व्यतिरेक-समधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारण-भावः। तौ च कार्यंप्रति कारण-व्यापार-सव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशम्प्रति। यथा कुलालस्य कलशं प्रत्यन्वयव्यतिरेकत्वं वर्तते, यतः सति कुलाले कलशस्योत्पत्तिर्जायते, अन्यथा न जायते। व्यापारस्यव्यपेक्षौ यथा।" (प्र० रत्नमाला)

सर्वत्र कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है। सो ये दोनों (अन्वय और व्यतिरेक) कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा में ही घटित होते हैं। जैसे कि कुम्भकार का घट के प्रति अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है। कुम्भकार होने पर ही कलश की उत्पत्ति होती है और कुम्भकार के अभाव में कलश की उत्पत्ति नहीं होती है। (प्रमेय रत्नमाला पृ० १८५)

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्वम्।" (मूलाराधना पृ० २३)

जगत् मे पदार्थ का सम्पूर्ण कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है। इस अन्वय-व्यतिरेक की दृष्टि से ही श्री अमृतचन्द्राचार्य को पुरुषार्थसिद्धय् पाय श्लोक २१८ मे सम्यक्त्व और चारित्र को तीर्थंकर व आहारकशरीर के बन्ध के लिए उदासीन अर्थात् अप्रेरक कारण स्वीकार करना पड़ा। जब श्री अमृतचन्द्राचार्य स्वयं तत्त्वार्थसार मे बंध के प्रति सम्यक्त्व की हेतुता (कारणता) स्वीकार कर चुके हैं फिर पुरुषार्थसिद्धय् पाय मे वे उसका विरोध कैसे कर सकते थे।

यद्यपि पुत्र की उत्पत्ति माता व पिता दो के संयोग से होती है, न मात्र माता से पुत्रोत्पत्ति होती है और न मात्र पिता से पुत्रोत्पत्ति होती है, किन्तु जब वह पुत्र अपने पितामह (बाबा) के यहाँ रहता है तो वह अपने पिता का पुत्र कहलाता है और जब वही पुत्र अपने नाना के यहाँ चला जाता है तो वह अपनी माता का कहलाता है। (यथा स्त्री-पुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रोविवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वदति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदंति दोषो नास्ति (समयसार पृ० १०१) इसीप्रकार सम्यक्त्व और राग दोनो के संयोग से तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है और चारित्र व राग इन दोनों के संयोग से आहारकशरीर का बन्ध होता है। मात्र राग से या मात्र चारित्र व सम्यक्त्व से बन्ध नहीं होता है। इनप्रकृतियों के बन्ध कारणो मे कहीं पर राग को गौण करके सम्यक्त्व व चारित्र को मुख्य करके कथन कर दिया जाता है और कहीं पर सम्यक्त्व व चारित्र को गौण करके राग को मुख्य करके कथन कर दिया जाता है। नयवेत्ताओ के लिये इन दोनो कथनो में कोई विरोध नहीं है। कहा भी है—

सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥ पुरुषार्थ सिद्धय् पाय

द्वादशाग मे अथवा तत्त्वार्थसारादि शास्त्रों मे जो यह उपदेश दिया गया है कि तीर्थंकरप्रकृति व आहारकशरीरप्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वचारित्र से होता है, वह उपदेश भी नयवेत्ताओ को दोष के लिये नहीं है।

तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व व राग दोनो से होता है और आहारकद्विक का बन्ध संयम व राग इन दो से होता है, न मात्र राग से या मात्र सम्यग्दर्शन व संयम से बन्ध नहीं होता है, क्योकि दोनो से ही उत्पन्न होने वाले कार्य की उनमे से एक के द्वारा उत्पत्ति का विरोध है।

"दोहितो चेवुप्पज्जमाणकज्जस्स तत्थेक्कादो समुप्पत्ति विरोहादो।" (धवल पु० ८ पृ० ८३)

वीतराग निर्विकल्प समाधि मे बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से वहाँ पर जो बन्ध होता है वह कर्मोदयवश से उत्पन्न हुए अबुद्धिपूर्वकराग से होता है। वीतरागसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बन्ध नहीं होता है। इसी दृष्टि से पुरुषार्थसिद्धय् पाय में श्लोक २११ से २२२ तक कथन किया गया है।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्म परिज्ञानमिष्यते बोधः[1]
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अपनी आत्मा का विनिश्चय सम्यग्दर्शन, आत्म-परिज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मा मे स्थिरतारूप सम्यक्-चारित्र ऐसे वीतराग-निर्विकल्परूप शुद्धरत्नत्रय से बन्ध कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है। यह शुद्धनय का कथन है।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

असम्पूर्ण रत्नत्रय की भावना करनेवाले के जो शुभकर्म का बन्ध है, वह बन्ध विपक्ष-कृत अर्थात् सम्पूर्ण रत्नत्रय से विपक्ष असमग्र रत्नत्रयकृत होने से अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध (संसार) का उपाय नहीं है, यह कथन अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से है। विकलरत्नत्रय से जो पुण्यबन्ध होता है वह मोक्ष का कारण है, ससार का कारण नहीं है।

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४॥ (भावसंग्रह)

जितने अंश से सम्यग्दर्शन है उतने अंश से बन्ध नहीं, जितने अंश से ज्ञान है उतने अंश से बन्ध नहीं, जितने अंश से चारित्र है उतने अंश से बन्ध नहीं तथा जितने अंश से राग है उतने अंश से बंध होता है। यह कथन शुद्धनय की दृष्टि से है।

जिस वीतरागनिर्विकल्पशुद्ध (पूर्ण) रत्नत्रय का कथन श्लोक २१६ मे है उसी शुद्धदृष्टि से श्लोक २१२-२१४ मे कथन है, अन्यथा 'तत्त्वार्थसार' के कथन से अर्थात् स्ववचन से विरोध आजायगा। दि० जैन आचार्यों के वचनों मे परस्पर विरोध होता नहीं है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २२० के अर्थ पर विचार किया जाता है—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

शुद्धरत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है अन्य का कारण नहीं है। जो पुण्य का आस्रव होता है, यह शुभोपयोग अर्थात् असमग्ररत्नत्रय का अपराध है।

"एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः। सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।" (प्रवचनसार पृ० ५५२)

एकदेश परित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग ये एकार्थवाची शब्द हैं। सर्व परित्याग परमोपेक्षा संयम वीतराग चारित्र शुद्धोपयोग ये एकार्थवाची शब्द हैं।

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाल मे सर्व रागद्वेषपरित्यागरूप जो वीतरागरत्नत्रय है वह शुद्धोपयोग है और सविकल्पावस्था मे जो एकदेश रागद्वेष परित्यागरूप सरागरत्नत्रय है वह शुभोपयोग है।

शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रय की उत्तम दशा है। और शुभोपयोगरूप-रत्नत्रय जघन्यरत्नत्रय है। समयसार गाथा १७२ मे जघन्यरत्नत्रय से बंध का होना बतलाया है। जघन्यरत्नत्रय शुभोपयोगरूप है अतः बंध को शुभोपयोग का अपराध बतलाया है। यदि प्रशस्तराग को ही शुभोपयोग कहा जावे तो शुभोपयोग का लक्षण अपहृतसंयम या सरागचारित्र नहीं हो सकता था।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व के सम्मुख करणलब्धि में प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तिकाल मे तथा पंचम, षष्ठगुणस्थान मे जो प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती है वह भी शुभोपयोग का फल है। स्वस्थानअप्रमत्तसंयत के शुभोपयोगरूप धर्मध्यान से निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार शुभोपयोग से संवर-निर्जरा भी तथा बंध भी दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य होने मे कोई बाधा नही है। कहा भी है—

एकस्मिन् समवायादत्यन्त विरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२२१॥ [पु. सि. उ]

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि शुद्ध घी जलाने का कारण नही है उसीप्रकार पूर्णरत्नत्रय भी बंध का कारण नही है। अग्नि के संयोग से जब घी का स्पर्शगुण विकारी हो जाता है अर्थात् उष्ण हो जाता है तो उस घी से जलाने का व्यवहार (कार्य) देखा जाता है। उसीप्रकार मोहनीयकर्मोदय के सयोग से रत्नत्रय जब असमग्रता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जघन्यभाव को प्राप्त हो जाता है तो वह जघन्यरत्नत्रय बंध का भी कारण हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य गृहस्थ के प्रशस्तराग को परम्परामोक्ष का कारण बतलाते हैं—

"स्फटिकसम्पर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।" प्रवचनसार पृ० ६०१।

जैसे ईधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और इसलिए वह क्रमशः जल उठता है, उसीप्रकार गृहस्थ को राग के सयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और इसलिए वह राग क्रमशः परमनिर्वाणसौख्य का कारण होता है। ऐसा आचार्य ने प्रवचनसार में कहा है।

विधूतमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥ आत्मानुशासन

अन्धकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा के समान है उससे स्वर्ग व मोक्ष होता है।

इसप्रकार यह एकान्त नहीं है कि राग से बंध ही होता है और रत्नत्रय से बंध नही होता है। आशा है विद्वत् मण्डल शांत चित्त से द्वादशांग के सूत्रों पर जो 'महाबंध' मे लिपिबद्ध हैं, विचार करने की कृपा करेंगे।

इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि इनमे शुद्धात्मध्यान से, शुद्धोपयोग से, ज्ञान-चारित्र, कषायनिग्रह, इन्द्रियनिरोध, प्रवचनअभ्यास, इनसे पुण्यबंध भी होता है और मोक्षसुख भी मिलता है, ऐसा बतलाया गया है।

जिणवर मएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाण लहइ किं तेण सुर लोय ॥२०॥
जो जाइ जोयण सयं दियहे एक्केण लेवि गुरुभार।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१॥ मोक्षपाहुड़

इन दो गाथाओ द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है—जो योगी ध्यान मे जिनेन्द्रदेव के मतानुसार शुद्धात्मा का ध्यान करता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है, सो ठीक ही है कि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है उसध्यान से क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता ? अर्थात् अवश्य प्राप्त हो सकता है, क्योकि जो मनुष्य बहुत भारी भार को एक दिन मे सौ योजन ले जाता है तो वह क्या आधा कोश भी नहीं ले जा सकता ? अवश्य ही ले जा सकता है।'

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुर मणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥ प्रवचनसार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्रधानतायुक्त चारित्र से जीवो को देवेन्द्र, असुरेन्द्र चक्रवर्ती की विभूतियों के साथ निर्वाण भी प्राप्त होता है।

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्धओ व उवओओ।
विवरीओ पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि ॥ ५२ ॥
कषायपाहुड पु० १ पृ० १०५

अणुकंपा सुद्ध वओगो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं।
तं विवरीदं आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥१८३४॥ मूलाराधना

संस्कृत टीका—"सुद्ध वओगो शुद्धस्य प्रयोगः परिणामः।"

यहाँ पर शुद्धोपयोग से पुण्यकर्मआस्रव बतलाया गया है।

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥४७॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—"सम्यक्त्वाविकारणेन यः कर्मबन्धः स पुण्यमित्युच्यते।"

यहाँ पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है—सम्यग्दर्शन, श्रुत, व्रत, कषायो का निग्रह, इन्द्रियनिरोध से जो कर्मबंध होता है वह पुण्यकर्म है।

तत्तो चेव सुहाइं सयलाइं देव मणुय खयराण।
उम्मूलियट्ठकम्मं फुड सिद्धसुहं पि पवयणादो ॥४९॥ धवल पु० १ पृ० ५९

अर्थ—प्रवचन के अभ्यास से देव, मनुष्य और विद्याधरों के सर्वसुख प्राप्त होते हैं तथा सिद्धसुख भी प्राप्त होता है।

—जै. ग. 5 व 12-10-72/IX-X-VI-IX/रो ला पांच

शुभोपयोग (शुभपरिणति) से बन्ध के साथ संवर व निर्जरा भी होती है

शंका—शुभ भावकर्म निर्जरा में कारण नहीं होते ऐसा क्यों ?

समाधान—शुभभावों से कर्मनिर्जरा भी होती है। यदि शुभभावों से कर्मनिर्जरा न हो तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जब प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख होता है तो उसके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पाँच लब्धियाँ होती हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के भेद से करण-लब्धि तीनप्रकार की है। उनमें से अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दो करणलब्धि में गुणश्रेणी निर्जरा, स्थिति-खंडन और अनुभागखण्डन होता रहता है। कहा भी है—

गुणसेढीगुणसंकम ट्ठिदिरसखंडा अपुव्वकरणादो।
गुणसंकमणेण समा मिस्साणं पूरणोत्ति हवे ॥५३॥ (लब्धिसार)

अपूर्वकरण के प्रथमसमय से लेकर जबतक सम्यक्त्वमोहनीय मिश्रमोहनीय का पूर्णकाल है तबतक गुण-श्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन, अनुभागखंडन ये चार आवश्यक होते हैं।

अतः यहाँ पर मिथ्यादृष्टि के गुण श्रेणी निर्जरा के कारण शुभोपयोग अर्थात् शुभभाव ही हो सकते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धभाव नहीं हो सकता है। और अशुभभाव संवर व निर्जरा का कारण होता नहीं। यदि शुभभाव को निर्जरा का कारण न माना जाय तो अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होने से कर्मों का क्षय अर्थात् मोक्ष हो नहीं सकता। कहा भी है—

"सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।" [जयधवल पु० १ पृ० ६]

यदि शुभपरिणामों से और शुद्धपरिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

धर्मध्यान शुभोपयोग है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

जिनवरदेव ने भाव तीनप्रकार कहा है—शुभ, अशुभ और शुद्ध। यहाँ अशुभभाव तो आर्त्तरौद्र ये ध्यान हैं और शुभ है सो धर्मध्यान है।

धर्मध्यानरूप शुभपरिणामों में ही मोहनीयकर्म का क्षय करने की सामर्थ्य है। कहा भी है—

"मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।"
धवल पु० १३ पृ० ८१

मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान के अंतिमसमय में उसका विनाश होता है।

इसीलिये श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने "परे मोक्षहेतू ॥२९॥" सूत्र द्वारा धर्मध्यान को मोक्ष अर्थात् कर्मक्षय का कारण बतलाया है।

दि० जैन प्राचीन आचार्यों का इतना स्पष्ट कथन होने पर जो शुभभाव को मात्र बंध का ही कारण मानते हैं कर्मनिर्जरा का कारण नही मानते, उनके मत मे मोक्ष कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धभाव तो मोहनीयकर्म के अभाव मे ही सम्भव है, क्योंकि मोहनीयकर्म के अभाव मे ही वीतरागभाव होता है।

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतव संजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥ प्रवचन०

जिन्होने पदार्थों को और सूत्रो को भले प्रकार जान लिया है, जो सयम और तप युक्त हैं, जो विगतराग हैं और जिनके सुख–दुःख समान हैं ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा है। अर्थात् जिनके राग की कणिका भी विद्यमान है वे शुद्धोपयोगी नही हैं, शुभोपयोगी हो सकते हैं।

जिस जीव के मिथ्यात्व और कषाय दोनो पाप विद्यमान हैं। उसके शुभ भाव अर्थात् आत्मकल्याणरूप भाव नहीं होते। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व पाप का अभाव हो गया है अत उसके शुभोपयोग होता है। जिसके मिथ्यात्व और कषाय दोनो पापो का अभाव हो गया है ऐसे वीतरागसम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोग होता है।

—जै. ग. 11-9-69/VII/ बसन्तकुमार

कथंचित् अव्रत सम्यग्दृष्टि अबन्धक है

शंका—अव्रत सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं होता है, ऐसा 'समयसार' ग्रंथ मे कहा है सो कैसे ?

समाधान—आगम मे अनेक दृष्टियो से कथन हैं। जहाँ पर सम्यग्दृष्टि को अबन्ध कहा है वहाँ पर यह समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि के अनन्तससार का कारण ऐसा बन्ध नहीं होता, क्योंकि उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय न होने से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीचतुष्क का बन्ध नहीं होता है। इन पाँच प्रकृतियो के अतिरिक्त उसके अन्य छत्तीसप्रकृतियो का भी बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उनकी बन्धव्युच्छित्ति पहले और दूसरे गुणस्थान मे हो जाती है। सम्यग्दृष्टि के केवल ४१ प्रकृति का बन्ध नहीं होता है। शेष प्रकृतियों का बन्ध तो अपने–अपने गुणस्थान अनुसार प्रतिसमय दसवेंगुणस्थान के अन्ततक होता रहता है। सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि सर्वथा अबन्धक नहीं है। अव्रत सम्यग्दृष्टि को सर्वथा अबन्धक मानना आगमविरुद्ध है। अनन्तसंसार का कारण ऐसा बन्ध सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है, इस अपेक्षा से कहीं-कहीं पर अव्रतसम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है।

—जै. स. 2-8-56/VI/ मो ला. उरसेवा

'द्रव्यमोह' व "भावमोह" से अभिप्राय

शंका—प्रवचनसार गाथा ४५ की तात्पर्यवृत्ति टीका में श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है—"द्रव्यमोहोदयेपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदाबन्धो न भवति।"

यहाँ पर 'द्रव्यमोह' से 'सम्यक्त्व प्रकृति' और 'भावमोह' से 'मिथ्यात्व' ग्रहण करना चाहिये या अन्य कुछ गूढ़ रहस्य है ? किसका बन्ध नहीं होता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीयकर्म की तीनप्रकृतियाँ हैं—(१) मिथ्यात्वप्रकृति, (२) सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, (३) सम्यक्त्वप्रकृति। कहा भी है—

"तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम्-सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयमिति। तत्र यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव-मिथ्यात्वं प्रक्षालन विशेषात्क्षीणाक्षीणमदशक्ति कोद्रववत्सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते। सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः।"

सर्वार्थसिद्धि ८।९।

अर्थ—दर्शनमोहनीय के तीनभेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने मे निरुत्सुक, हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। वही मिथ्यात्व जब शुभपरिणामो के कारण अपने स्वरस विपाक को रोक देता है और उदासीनरूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है तब वह सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय है। इस सम्यक्त्व दर्शनमोह के उदय का वेदन करनेवाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदो के समान अर्धशुद्ध स्वरस वाला होने पर तदुभय कहा जाता है। इसी का दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्व है। इसके उदय से अर्धशुद्ध मदशक्ति वाले कोदों और ओदन के उपयोग से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है।

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका मे जो 'द्रव्यमोह' पद आया है, सोनगढ़ वाले यद्यपि उसका अर्थ मिथ्यात्व प्रकृति करते हैं, तथापि उनका ऐसा अर्थ करना आगम अनुकूल नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय मे यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख रहता है तथा तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने मे निरुत्सुक रहता है। अतः मिथ्यात्व प्रकृति के उदय मे शुद्धात्म भावना सम्भव ही नही है।

अतः 'द्रव्यमोह' से सम्यक्त्व प्रकृति दर्शन मोहनीय कर्म ग्रहण करना चाहिये। मन्त्र शक्ति के द्वारा निर्विष किया हुआ विष जैसे मारने वाला नही होता है, वैसे ही शुभ परिणामो के द्वारा जब मिथ्यात्व का स्वरस विपाक रुक कर सम्यक्त्व प्रकृति रूप हो जाता है तो वह सम्यक्त्व का घातक नहीं होता है। अतः इस सम्यक्त्व प्रकृति दर्शन मोहनीय कर्मोदय का वेदन करने वाला जीव वेदक सम्यग्दृष्टि होता है।

"कधमेदस्स कम्मस्स सम्मत्तववएसो ? सम्मत्तसहचारादो।" धवल पु० १३ पृ० ३५८।

अर्थ—इस दर्शनमोह कर्म की सम्यक्त्व संज्ञा कैसे है ? सम्यग्दर्शन का सहचारी होने से इस दर्शनमोह द्रव्यकर्म की सम्यक्त्व संज्ञा है।

वेदक सम्यक्त्व के काल मे मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृति का स्वमुख उदय नहीं होता है, किन्तु संक्रमण द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति रूप परमुख उदय होता रहता है। इसलिये आत्मा भावमोह अर्थात् मिथ्यात्व रूप नहीं परिणमन करती है।

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले १६ प्रकृति-बंध तथा अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाला २५ प्रकृति-बंध अर्थात् निम्न ४१ प्रकृतियों का बध नहीं होता है।

मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डकसंस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर, यह १६ प्रकृति कर्म हैं जो मिथ्यात्वोदय से बंधते हैं।

निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गोत्र इन २५ कर्म प्रकृतियों का बंध अनन्तानुबन्धी कषायोदय में होता है।

इस सम्यक्त्व प्रकृति रूप द्रव्य मोह के उदय से सम्यग्दर्शन मे शिथिलता व अस्थिरता आ जाती है। कहा भी है—

"सम्मत्तस्स सिढिलभावुप्पाययं अथिरत्तकारण च कम्मं सम्मत्तणाम।" सम्यक्त्व मे शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारणभूत कर्म सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोह है।

ऐसा सम्भव नहीं है कि किसी भी द्रव्यमोह का उदय हो और उसके अनुरूप आत्म-परिणाम न हो। निर्विकल्प समाधि मे स्थित साधु के भी दसवें गुणस्थान मे सूक्ष्म लोभ कर्मोदय के अनुरूप सूक्ष्म साम्पराय रूप परिणाम होते हैं। ऐसा नही है कि वह उच्चकोटि का साधु सूक्ष्म लोभोदय में न जुड़े और सूक्ष्म कषाय रूप न परिणाम कर पूर्ण अकषाय हो जाय! चारित्र मोहोदय के अभाव में ही जीव ग्यारहवें आदि गुणस्थानो मे अकषाय होता है।

—जै. ग. 18-1-73/V/ ब्र. चुन्नीलाल देसाई

अव्रती सम्यक्त्वी के बन्ध, संवर व निर्जरा किस-किस कषाय की होती है

शंका—अव्रतसम्यग्दृष्टि के किस कषाय का संवर होता है। किस जाति की कषाय की निर्जरा होती है और किस जाति की कषाय का पुण्य तथा पाप का बंध होता है?

समाधान—अव्रतसम्यग्दृष्टिजीव के चार अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनंतानुबंधी माया, अनंतानुबन्धी लोभ, और नपुंसकवेद का संवर होता है। अव्रतसम्यग्दृष्टि जब अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करता है तब उसके अनंतानुबंधी चौकड़ी की पूर्ण निर्जरा होती है। अन्य अवस्था मे अनन्तानुबन्धी कषाय की स्तिबुक संक्रमण द्वारा निर्जरा करता है। अव्रतसम्यग्दृष्टि के सातिशय पुण्यबंध होता है 'शुभोपयोगस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः।' अर्थात्—शुभोपयोग का फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। अव्रतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीकषाय का उदयाभाव हो जाने से अनन्तसंसार का कारण ऐसा पापबंध नही होता। तथा २५ पापप्रकृतियो का संवर (बंधव्युच्छित्ति) हो जाने के कारण भी तीव्रपाप का बंध नहीं होता। कहा भी है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥ (र. क. श्रा.)

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन करि शुद्ध है ते व्रतरहितहू नारकीपणा, तिर्यंचपणा, नपुंसकपणा स्त्रीपणा कूं नाहीं प्राप्त होय है। अर नीचकुल मे जन्म अर विकृत नाहीं होय तथा अल्प आयु का धारक अर दरिद्रीपना कूं नहीं प्राप्त होय है।

—जै. स. 6-6-57/...... / जै. स्वा. म. कुचामनसिटी

स्वरूपावलम्बन के काल में भी कर्म अवश्य निमित्त बनता है

शंका—'समयसारवैभव' की भूमिका में पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने लिखा है—'कर्मोदय का अवलम्बन न कर अपने स्वरूप का अवलम्बन करे तो कर्म निमित्त नहीं बन सकता है।" इस पर प्रश्न होता है—क्या मोहनीय का आलम्बन न हो तो बन्ध भी नहीं होना चाहिये ? किन्तु प्रथम गुणस्थान से दशम गुणस्थान तक कोई ऐसा समय नहीं है, जिसमे कर्म बंध नहीं होता हो।

समाधान – श्री भगवदुमास्वामिप्रणीत 'तत्त्वार्थसूत्र' एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे प्रायः सर्व जैन सिद्धान्तो का सार भरा हुआ है। इसीलिये दि० जैन समाज मे इसका बहुत प्रचार है, ऐसा कोई भी गुरुकुल, विद्यालय या पाठशाला नही जिसमे छात्रो को 'तत्त्वार्थसूत्र' का अध्ययन न कराया जाता हो। जिन्होने स्वयं संस्कृत विद्यालय मे अध्ययन किया हो और उसके पश्चात् ४०-५० वर्ष से विद्यालय मे अध्ययन करा रहे हों, उनको 'तत्त्वार्थसूत्र' विशेषज्ञ होना चाहिये। उसी 'तत्त्वार्थसूत्र' के आधार पर इस विषय का विचार किया जाता है।

"विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ अध्याय ८।

सस्कृत टीका—"विशिष्टो विविधो वा पाक उदयः विपाकः, यो विपाकः स अनुभव इत्युच्यते। स अनुभवः प्रकृतिफल जीवस्य भवति। कथम् ? यथानाम प्रकृतिनामानुसारेण। तेन ज्ञानावरणस्यफल ज्ञानाभावो सविकल्पस्यापि। एवं सर्वत्र सविकल्पस्य कर्मणः फलं सविकल्पं ज्ञातव्यम्। दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्तिप्रच्छादनता। मोहनीयस्यफल मोहोत्पादनम्। आयुषः फलं भवधारणलक्षणम्। ततस्तस्माद्विपाकादनन्तरमात्मने पीडानुग्रहदानानन्तरं दुःखसुखदानानन्तरं निर्जरा भवति।"

'वि' अर्थात् विशेष और विविध, 'पाक' अर्थात् कर्मों के उदय या फल देने को अनुभव कहते हैं। प्रकृति के नाम के अनुसार वह अनुभव अर्थात् प्रकृतिफल जीव के होता है। ज्ञानावरणकर्म के फल से ज्ञान का अभाव होता है। आत्मा की दर्शनशक्ति को प्रच्छादन करना दर्शनावरण का फल है। आत्मा मे मोह को उत्पन्न करना मोहनीयकर्म का फल है। भव मे रोके रखना आयुकर्म का फल है। कर्म की विपाक (फल देने) के पश्चात् अर्थात् आत्मा का भला-बुरा करके अथवा सुख-दु:ख देकर कर्म की निर्जरा हो जाती है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

"स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि।" समयसार।

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम्।
असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः॥ तत्त्वार्थसार

क्षपक श्रेणी मे कर्मों का क्षय करनेवाले जीव के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का अवलम्बन होता है और दसवें गुणस्थान मे मोहनीयकर्म सूक्ष्म होता है, किन्तु सूक्ष्ममोहनीयकर्म भी उस स्वस्वरूप का अवलम्बन करनेवाली आत्मा को सूक्ष्मकषाय उत्पन्न कराता है। इसीलिये इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसाम्पराय रखा गया है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सूक्ष्मत्वेन कषायाणां शमनात्क्षपणात्तथा।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः॥ २७॥ तत्त्वार्थसार

श्री पं० पन्नालालजी कृत अर्थ—जो कषायों के उपशमन अथवा क्षपण करने के कारण उनकी सूक्ष्मता से सहित है वह सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थान मे रहनेवाला जीव सिर्फ संज्वलन-लोभ के सूक्ष्म उदय से युक्त होता है।

धुदकोसुंभयवत्थं, होदि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहुमकसाओ सुहुमसरागोत्तिणादव्वो ॥ ५८ ॥ [गो० जी०]

जिसप्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र मे लालिमा सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्मराग-लोभ कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्परायनामक दशमगुणस्थानवर्ती कहते हैं।

'गोम्मटसारकर्मकाण्ड' मे इस दसवें गुणस्थान मे १७ प्रकृतियो का बंध बतलाया है, क्योंकि वहाँ पर सूक्ष्मसंज्वलनलोभ के उदय से सूक्ष्मराग होता है।

"पञ्चानां ज्ञानावरणानां यशः कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसाम्परायो बन्धकः। तदभावादुत्तरत्रतेषां संवरः।" (सर्वार्थसिद्धि ९।१)

श्री पं० फूलचन्दजी कृत अर्थ—मन्दकषाय के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होनेवाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलहप्रकृतियों का सूक्ष्मसाम्परायजीव बंध करता है, अतः मन्दकषाय का अभाव होने से आगे इनका संवर होता है।

बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान मे 'कर्मोदय का अवलम्बन नहीं है, अपने स्वरूप का अवलम्बन है' फिर भी केवलज्ञान के अभाव के लिये ज्ञानावरणादिकर्म निमित्त बने हुए हैं। श्री अरहंत भगवान् की विहार आदि क्रिया में नाम कर्म तथा शरीर स्थित रहने मे अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव का घात करने मे आयुकर्म निमित्त कारण हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

"पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।"

अरहंत भगवान की क्रिया निश्चय से औदयिकी हैं अर्थात् कर्मोदय से होती हैं।

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥ १७६ ॥ नियमसार

आयुकर्म के क्षय से शेष प्रकृतियो का सम्पूर्ण नाश होता है, फिर वे शीघ्र समयमात्रमे लोकाग्रमे पहुँचते हैं।

"आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्वात्।" (धवल १।४७) जीव के ऊर्ध्वगमन-स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुकर्म है।

अव्रती सम्यक्त्वी आत्मा को प्रबन्धक मानना बन्ध तत्त्व विषयक भूल है

शंका—कानजीस्वामी के अभिनन्दन ग्रंथ पृ० १६२ पर श्री रामजीभाई ने लिखा है कि "अविरतसम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति नहीं होने से अबन्ध है और द्रव्यलिंगी के कषाय होने से बन्धरूप है।" क्या यह कथन ठीक है ? यदि ठीक है तो मिश्रगुणस्थान में भी अनन्तानुबंधी व मिथ्यात्व का भी अभाव है अतः वहाँ भी अबंध मानना पड़ेगा जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है।

समाधान—अविरतसम्यग्दष्टि के कषायो मे प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अविरत' शब्द ही कषायो मे प्रवृत्ति का द्योतक है। कहा भी है—

जो इंदियेसु विरदो, जो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ २९ ॥ गो० जी०

अर्थ—जो इन्द्रियो के विषयो से तथा त्रस-स्थावरजीवों की हिंसा से विरक्त नही है, किन्तु जिनवाणी पर श्रद्धा करता है वह अविरतसम्यग्दष्टि है।

चारित्तं णत्थि जदो अविरद अतेसु ठाणेसु ॥१२॥ गो० जी०

अर्थ—अविरतसम्यग्दष्टि अर्थात् चतुर्थगुणस्थानतक चारित्र (संयम) नहीं होता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य 'प्रवचनसार' गाथा २३७ में कहते हैं कि असयत अर्थात् अविरत का श्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन व्यर्थ है, क्योंकि वह निर्वाण को प्राप्त नहीं कराता है।

"सद्दहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥" प्रवचनसार

संस्कृत टीका—"असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धान यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात्।"

यथा प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि। तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यात्र किमपीति।"

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दष्टि भी यदि असयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है। आत्मतत्त्व प्रतीतिरूप श्रद्धान तथा यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान असयत के क्या करेगा ? अर्थात् असयत के आत्मतत्त्व का श्रद्धान व ज्ञानरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान निरर्थक है। जैसे दीपक को रखनेवाला स्वांखा पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूपपतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धानरूप दीपक व दष्टिरूप ज्ञान कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ तैसे ही यह जीव सम्यक्श्रद्धान व ज्ञानसहित भी है, परन्तु पौरुष के स्थानभूत चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असयम (अविरति) भाव से यदि अपने को नही बचाता है तो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान क्या हित कर सकते हैं कुछ भी नहीं कर सकते।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दिया है कि निज आत्मतत्त्व की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन व निजात्मानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान भी हो, किन्तु चारित्र न हो तो उस अविरतसम्यग्दष्टिजीव का सम्यग्दर्शन व ज्ञान निरर्थक है। अविरत-सम्यग्दष्टि यदि उपवास आदि तप भी करे तो वह भी उपकारी नहीं है क्योंकि तप के द्वारा जितनी कर्म निर्जरा होगी, अविरति के कारण उससे अधिक बन्ध हो जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कहा भी है—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिद कम्मं त तस्स ॥ १०।५२ ॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—"अपगतात्कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः। चुंदच्छिदः कर्मेव एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति, तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति।"

अर्थ— अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक नहीं है, क्योंकि तप के द्वारा जितना कर्म आत्मा से छूटता है उससे बहुतर कर्म असंयम से बंध जाता है ऐसा अभिप्राय निवेदन के लिये हस्तिस्नान का दृष्टान्त है। चुंदच्छिद (लकड़ी मे छेद करने वाला बर्मा) का एक पार्श्व भाग रज्जु से मुक्त होता है तो दूसरा पार्श्वभाग रज्जु से दृढ़ वेष्टित होता है, वैसे ही तप से अविरतसम्यग्दृष्टि कर्म की निर्जरा करता है, परन्तु अविरत-भाव के कारण उस निर्जरा से अधिक बहुतर कर्मों का ग्रहण होता है तथा वह कर्मबंध अधिक दृढ़ भी होता है।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य और उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्रादि आचार्यों ने यह स्पष्टरूप से बतलाया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि का श्रद्धान व ज्ञान लाभदायक नहीं है, क्योंकि निर्जरा से अधिक कर्मबंध होता है। श्री गौतमगणधर ने भी द्वादशांग के 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' में कहा है—

"जेते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्दे सो। गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइया बंधा। तिरिक्खाबंधा। देव बंधा। मणुसा बंधा वि अत्थि, अबंधा वि अत्थि।"

अर्थ—जो वे बंधक जीव हैं उनका यहाँ निर्देश किया जाता है। गतिमार्गणा के अनुवाद से नरकगति में नारकीजीव बंधक हैं, तिर्यंच बंधक हैं, देव बंधक हैं, मनुष्य बंधक भी हैं, अबंधक भी हैं।

यहाँ पर श्री गौतम गणधर ने यह बतलाया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानतक के सर्व नारकी, सर्वदेव तथा संयतासंयत पंचम गुणस्थान तक के सर्व तिर्यंच बंधक ही हैं, कोई भी नारकी, देव या तिर्यंच अबन्धक नहीं हैं। मनुष्यो मे बंधक भी हैं, अबंधक भी हैं। श्री वीरसेनाचार्य बतलाते हैं कि कौन मनुष्य बंधक है और कौन अबन्धक हैं—

"मिच्छत्तासंजमकसायजोगाणं बन्धकारणाणं सव्वेसिमजोगिम्हि अभावा अजोगिणो अबंधया। सेसा सव्वे-मणुस्सा बंधया, मिच्छत्तादिबंधकारणसंजुत्तत्तादो।"

अर्थ—कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग हैं। अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थान मे इन सब बन्ध कारणों का अभाव होने से अयोगीजिन अबन्धक हैं, शेष सब मनुष्य बन्धक हैं, क्योंकि मिथ्यात्वादि बन्ध कारणों से संयुक्त पाये जाते हैं।

ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानो मे छद्मस्थवीतरागी के और तेरहवें गुणस्थान मे सयोगकेवली के यद्यपि मिथ्यात्व, अविरत और कषाय इन बन्ध-कारणों का अभाव हो गया है तथापि बन्ध के कारण योग का सद्भाव होने से वे भी बन्धक हैं। कहा भी है —

"जे कम्मबन्धया ते दुविहा—इरियावहबंधया सांपराइयबन्धया चेदि। तत्थ जे इरियावहबन्धया ते दुविहा—छदुमत्था केवलिणो चेदि। जे छदुमत्था ते दुविहा—उवसंतकसाया खीणकसाया चेदि। जे सांपराइयबन्धया ते दुविहा—सुहुमसांपराइया बादरसांपराइया चेदि।"

अर्थ—जो कर्मों के बन्धक हैं, वे दो प्रकार के हैं—ईर्यापथबंधक और साम्परायिकबंधक। इनमे से जो ईर्यापथबन्धक हैं वे दो प्रकार के हैं—छद्मस्थ और केवली। जो छद्मस्थ ईर्यापथबन्धक हैं वे दो प्रकार के हैं—उपशान्तकषाय-ग्यारहवें गुणस्थानवाले और क्षीणकषाय-बारहवेंगुणस्थानवाले। जो साम्परायिकबन्धक हैं वे दो प्रकार के हैं—सूक्ष्मसाम्परायिक और बादरसाम्परायिक।

असंयतसम्यग्दृष्टि के अविरति, कषाय और योग इन तीन बंध के कारणों का सद्भाव है फिर असंयत-सम्यग्दृष्टि अबन्धक नहीं हो सकता। यदि अविरतसम्यग्दृष्टि को अबंधक माना जायेगा तो उपर्युक्त द्वादशांग के सूत्रों से विरोध आ जायगा।

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि।
आत्मतत्त्व-परिज्ञानी बध्यते कलिलैरपि ॥ १४७ ॥ योगसार प्राभृत

अर्थ—जिसके पर-वस्तु मे अणुमात्र अर्थात् अतिसूक्ष्म भी राग विद्यमान है, वह आत्मतत्त्व का ज्ञाता होने पर भी कर्मप्रकृतियों से बंधता है।

इस पद्य मे श्री अमितगति आचार्य ने यह बतलाया है कि जो योगी (मुनि) आत्मतत्त्व का परिज्ञाता तो है, परन्तु पर-वस्तु मे बहुत सूक्ष्मराग भी रखता है तो वह अवश्य कर्मबन्धन से बंध को प्राप्त होता है, मात्र सम्यग्दर्शन कर्मबंध रोकने मे समर्थ नहीं है, उसके लिये रागद्वेष के अभावरूप सम्यक्चारित्र का होना भी जरूरी है।

चतुर्थगुणस्थानवाले अविरतसम्यग्दृष्टि के लेशमात्र भी चारित्र नहीं है और रागद्वेष की बहुलता है अतः वह कर्मों से अवश्य बंधता है। अविरतसम्यग्दृष्टि के कर्मबंध नहीं होता है ऐसा कहना एक बड़ी भारी भूल है।

दसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ समयसार

अर्थ—जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय जघन्यभाव से परिणमता है, तबतक ज्ञानी (मुनि) भी नानाप्रकार के पुद्गलकर्मों से बंधता है।

इस गाथा मे बतलाया गया है कि यथाख्यातचारित्र से पूर्व सम्यग्दृष्टिमुनि के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्यभाव से परिणमते हैं अतः उस मुनि के पुद्गलकर्मों का साम्परायिकबंध होता रहता है। अविरतसम्यग्दृष्टि के तो चारित्र भी नहीं है, उसके तो कर्मों का बंध होना अवश्यभावी है। अविरतसम्यग्दृष्टि अबंधक नहीं हो सकता है।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इद भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥ १६४ ॥ पंचास्तिकाय

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है इसलिये वे सेवने योग्य हैं। ऐसा साधुओं ने कहा है। परन्तु उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

इस गाथा मे भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यद्यपि मोक्षमार्ग हैं तथापि जबतक वे जघन्यभाव से परिणमते हैं उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से साम्परायिक कर्मबंध होता है। अविरत-सम्यग्दृष्टिके तो मात्र सम्यग्दर्शनज्ञान है और वह भी जघन्यभाव से परिणत है उसके तो साम्परायिक कर्मबंध अवश्य होता है।

जो श्री गौतमगणधर ने द्वादशांग के 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' मे कहा है इसी को श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने कहा है। फिर भी यदि कोई अविरतसम्यग्दृष्टि के कर्मबंध स्वीकार नहीं करता तो यह उसकी भूल है।

—जै. ग. 31-5-70/VII/ र. ला. मित्तल

(१) बन्ध होने पर स्वतंत्रता नष्ट होकर परतन्त्रता उत्पन्न हो जाती है
(२) शरीर परमाणुरूप नहीं, स्कन्धरूप है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित 'ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव' पुस्तक के पृ० ७१ पर लिखा है—"शरीरादिक का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा बदल दे ऐसा तीनकाल में भी नहीं हो

सकता।" किन्तु इसके विपरीत श्री पं० टोडरमलजी ने लिखा है—"कबहूँ तो जीव की इच्छा के अनुसार शरीर प्रवर्ते है। कबहूँ शरीर की अवस्था के अनुसार जीव प्रवर्ते है। कबहूँ जीव अन्यथा इच्छारूप प्रवर्ते है, पुद्गल अन्यथा अवस्थारूप प्रवर्ते है। इहाँ ऐसा जानना, जैसे दोयपुरुषनिकै इकदंडी बेड़ी है। तहाँ एक पुरुष गमनादि किया चाहै अर दूसरा भी गमनादि करै तो गमनादि होय सकै, दोऊनिविषै एक बैठि रहै तो गमनादि होय सकै नाहीं अर दोऊनिविषै एक बलवान होय तो दूसरे को भी घीसि लेजाय। तैसे आत्मा कै अर शरीरादिकरूप पुद्गल कै एक क्षेत्रावगाहरूप बंधान है तहाँ आत्मा हलनचलनादि किया चाहै अर पुद्गल तिस शक्ति करि रहित हुआ हलनचलन न करै वा पुद्गलविषै शक्ति पाइए है आत्मा की इच्छा न होय तो हलनचलनादि न होय सकै। बहुरि इनि विषै पुद्गल बलवान होय हालै चालै तो ताकी साथि बिना इच्छा भी आत्मा आदि हालै चालै।" प्रश्न यह है कि शरीर क्या परमाणुरूप है या स्कन्धरूप है? और शरीर का परिणमन किस रूप हो रहा है?

समाधान—श्री उमास्वामी आचार्य ने "अणवः स्कन्धाश्च ॥५।२५॥" सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है अथवा पुद्गल की दो पर्यायें हैं एक अणुरूप और दूसरी स्कन्धरूप। इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार मे कहा है—

"अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्प।"

परमाणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है।

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ॥२८॥ [नियमसार]

संस्कृत टीका—परमाणुपर्य्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्य्यायः। स्कन्धपर्य्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वाद-शुद्धः इति।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अन्यद्रव्य निरपेक्ष होने से परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की स्वभावपर्याय अर्थात् शुद्धपर्याय है। स्वजातीयबंध के कारण स्कन्धरूप पर्याय पुद्गल की विभावपर्याय अर्थात् अशुद्धपर्याय है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य भी 'तत्त्वार्थसार' के तीसरे अधिकार मे कहते हैं—

द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः पुद्गलानामनेकधा।
सन्त्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता बन्धपर्यायाः ॥ ७६ ॥

अर्थ—द्व्यणुक को आदि करके अचित्तमहास्कन्धपर्यन्त पुद्गल की अनेकप्रकार की बंधपर्यायें हैं। शरीर-बंधरूप स्कन्धपर्याय हैं। जब पुद्गल की शरीररूप स्कन्धपर्याय होती है उससमय परमाणुरूप पर्याय का अभाव रहता है, क्योंकि पर्यायें क्रमवर्ती होने से एककाल मे एक ही पर्याय विद्यमानरूप रहती है। एककाल मे एकद्रव्य की एक से अधिक द्रव्यपर्याय विद्यमान नही रह सकती। अतः शरीररूप स्कन्धपर्याय मे परमाणुरूप पर्याय की विद्यमानता और उसकी स्वतंत्रता का स्वप्न देखना उचित नहीं है।

शरीर पुद्गल की बंधरूप पर्यायें हैं। श्री उमास्वामि आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ में "बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥" इस सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि बंध होने पर जो अधिक गुणवाला है वह पारिणामिक अर्थात् परिणमन कराने वाला होता है।

"यथा आर्द्रो गुडः अधिकमधुररसः स पारिणामिकः तदुपरि ये रेण्वादय पतन्ति ते भावान्तरम् तेषामुपादानं विलसो गुडः करोति, अन्येषा रेण्वादीनां स्वगुणमुत्पादयति परिणामयतीति पारिणामिकः, परिणामक एव पारिणामिकः ।" तत्त्वार्थवृत्ति पृ० २०६ ।

जैसे अधिक मधुररसवाला गीला गुड़ पारिणामिक (परिणमन कराने वाला) होता है उस गीले गुड पर जो धूल आदि गिरती है वे धूल-कण भावान्तर अर्थात् गुडरूप परिणम जाते हैं गीला गुड उन धूल-कण को ग्रहण करके अपने गुणरूप अर्थात् मधुररसरूप परिणमाता है इसलिये गीला गुड परिणामक अर्थात् पारिणामिक है। जैसे वह अधिक गुणवाला गुड़ पारिणामिक परिणमन करानेवाला होता है उसीप्रकार अन्य भी अधिकगुण वाले अल्प गुणवाले को परिणमाते हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी 'तत्त्वार्थसार' में कहा है—

बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात्सोऽन्यस्यपारिणामिकः ।
रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिन्न गुडो यथा ॥ ७५ ॥ [तत्त्वार्थसार]

बध होने पर जो अधिक गुणवाला है वह हीन गुणवाले को अपने रूप परिणमा लेता है। जैसे अधिक मिठास से युक्त गीला गुड़ धूलि को अपनेरूप परिणमाता हुआ देखा जाता है।

अतः सोनगढ़ वालों की यह मान्यता कि 'शरीरादिक का प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्ररूप से परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा बदल दे ऐसा तीनकाल मे भी नहीं हो सकता, उपर्युक्त आगम से विरुद्ध है। बन्ध हो जाने पर स्वतन्त्रता नष्ट हो जाने से परतंत्र हो जाता है। शरीर भी पुद्‌गल की बधरूप स्कन्ध पर्याय है।

जै. ग. 8-2-73/VII & VIII/ सुलतानसिंह

दो अमूर्तिक द्रव्यों का बन्ध (संबन्ध) नहीं होता

शंका—दो अथवा दो से अधिक अमूर्तिक द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध होने पर क्या कोई तीसरी अमूर्तिक वस्तु उत्पन्न हो सकती है, जिस प्रकार कि मूर्तिक परमाणुओं के परस्पर बन्ध से विभिन्न मूर्तिक वस्तुओं का उद्भव होता है।

समाधान—दो अमूर्तिक द्रव्यों का परस्पर बन्ध नही होता अतः तीसरी अमूर्तिक वस्तु के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। श्री प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका मे कहा भी है—अनेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुकः इत्यादि असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि।

अर्थ—अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्तिका कारणभूत द्रव्यपर्याय है। वह दो प्रकार है—(१) समानजातीय (२) असमानजातीय। समानजातीय वह है जैसे कि अनेक पुद्‌गलात्मक द्वि-अणुक, त्रिअणुक इत्यादि। असमानजातीय वह है जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि —नोट:—यहाँ पर दो या अधिक अमूर्तिक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति को कारणभूत ऐसी कोई द्रव्यपर्याय नहीं कही है। पुद्‌गल की पुद्‌गल के सम्बन्ध से तथा जीवपुद्‌गल के सम्बन्ध से दो प्रकार की ही द्रव्यपर्याय कही गई है, तीसरे प्रकार की कोई द्रव्यपर्याय नहीं कही है। अतः दो अमूर्तिक द्रव्यो के सम्बन्ध से कोई द्रव्यपर्याय उत्पन्न नही होती।

—जै. स. 6-9-56/VI/ बी. एल. पद्म भुपालपुर

संवर तत्त्व

संवर निर्जरा के हेतु

शंका— संवर और निर्जरा करने के लिये क्या-क्या करना होगा ? उसके लिये क्या-क्या आवश्यक है ?

समाधान—संवर और संवरपूर्वक निर्जरा ये दोनों मोक्षमार्ग हैं, क्योंकि बंध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा इन दोनों के द्वारा समस्तकर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाना ही तो मोक्ष है। कहा भी है—

"बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥" (त० सू० अ० १०)

बंध के हेतु (कारण) के अभाव ही का नाम संवर है। जिन-जिन प्रकृतियों के बंध के हेतु का अभाव हो जायगा उन-उन प्रकृतियों का संवर हो जायगा, जैसे मिथ्यात्वोदय से सोलह प्रकृतियों का बंध होता है और अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क के उदय में २५ प्रकृतियों का बंध होता है। सम्यग्दर्शन हो जाने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क के उदय का अभाव हो जाने के कारण, उनके हेतु से बंधने वाली ४१ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है अर्थात् संवर हो जाता है। इसीप्रकार अन्य कषायोदय तथा योग इनके अभाव में भी संवर हो जाता है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के कारण हैं जैसा तत्त्वार्थसूत्र अष्टम अध्याय में कहा है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥"

जब ये पाँच बंध के कारण हैं तो उनके प्रतिपक्षी 'सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग' मोक्ष के कारण होने चाहिये अर्थात् संवर और निर्जरा के कारण है। श्री विद्यानन्द स्वामी ने श्लो. वा. अ. ८ सूत्र १ की टीका में कहा है—

तद्विपर्ययतो मोक्षहेतवः पंचसूत्रिताः ।
सामर्थ्यादत्र नातोऽस्ति विरोधः सर्वथा गिराम् ॥ ३ ॥

अर्थ— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनसे उलटे सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद अकषाय और अयोग ये पाँच मोक्ष के कारण कहे गये हैं। यहाँ पर यह अर्थ सामर्थ्य से निकलता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। ऐसा दिव्यध्वनि में कहा गया है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाता है। देशव्रत हो जाने पर दस प्रकृतियों का, महाव्रत होने पर चार प्रकृतियों का, अप्रमत्त होने पर ६ प्रकृतियों का, अकषाय होने पर ५९ प्रकृतियों का और अयोग होने पर एक प्रकृति का संवर हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि पाँच कारणों के द्वारा समस्त १२० बंधयोग्य प्रकृतियों का संवर हो जाता है।

अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों संवर और निर्जरा के कारण हैं। तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्याय में कहा भी है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥'

अर्थ— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है, अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा संवर और निर्जरा होती है। सम्यग्दर्शन और चारित्र की प्राप्ति का उपाय निम्नप्रकार है—

जब तक यथार्थ ज्ञान, श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तब तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन-वचनों का सुनना, धारण करना तथा जिनवचन के कहने वाले श्री जिन-गुरु की भक्ति, जिनबिंब का दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है और जिसके श्रद्धान ज्ञान तो हुआ तथा साक्षात् प्राप्ति न हुई तब तक पूर्व कथित कार्य, परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत महाव्रत का ग्रहण समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तन, उसीतरह प्रवर्तन वालों की संगति करना और विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में आप प्रवर्तना तथा अन्य को प्रवर्ताना ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है। व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है। यदि सब असत्यार्थ जानकर छोड़ दें तो शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़े और शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं इसलिये उलटा अशुभोपयोग मे आकर भ्रष्ट हुआ यथा कथंचित् स्वेच्छारूप प्रवर्ते तब नरकादिगति तथा परम्परा निगोद को प्राप्त होकर संसार मे ही भ्रमण करता है। इस कारण साक्षात् शुद्धनयका विषय जो शुद्ध आत्मा उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है। ऐसा स्याद्वादमत मे श्री गुरु का उपदेश है।

(समयसार पृ० २७ रायचन्द्र ग्रन्थमाला)

इसी बात को श्री अमृतचन्द्र आचार्य निम्न कलश के द्वारा कहते है—

उभयनयविरोध ध्वंसिनि स्यात्पदांके,
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहा।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै,
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ— निश्चय-व्यवहाररूप जो दो नय उनके विषय के भेद से आपस मे विरोध है। उस विरोध के दूर करनेवाला स्यात्पद कर चिह्नित जो जिन भगवान का वचन, उसमे जो पुरुष रमते हैं–प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं वे पुरुष बिना कारण अपने आप मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमनकर इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्धआत्मा को शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। कैसा है समयसाररूप शुद्धात्मा ? नवीन नही उत्पन्न हुआ है–पहिले कर्म से आच्छादित था वह प्रगट व्यक्तरूप हो गया है। फिर कैसा है–सर्वथा एकान्तरूप कुनय की पक्षकर खंडित नहीं होता, निर्बाध है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये निश्चय या व्यवहार के एकान्त पक्ष का त्यागकर अर्थात् किसी भी एक नय का सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करके स्याद्वादमयी जिनवचनरूप आर्षग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए तथा जिन–गुरु (निर्ग्रन्थगुरु) व जिनदेव के दर्शन और भक्ति करनी चाहिये।

अथवा पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा; बाईस परिषहों को जीतना, पाँच पापों के त्यागरूप चारित्र और अंतरंग व बहिरंग तप द्वारा संवर व निर्जरा होती है। कहा भी है—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुवे
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भाव संवरविसेसा ॥३५॥ (बृ० द्र० सं०)

अर्थ—पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा बाईस परीषह-जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस तरह ये सब भावसंवर के विशेष भेद जानने। इनसे द्रव्यसंवर होता है।

—जै ग 13-8-64/IX/ बसंतकुमार

प्रतिमाधारी एवं आर्यिकाओं के संवर में विशेषता

शंका—फरवरी १९६६ के 'सन्मति संदेश' में पृ० १२ पर यह प्रश्न है कि "जितना संवर पहली प्रतिमा वाले के होता है उतना ही संवर आगे की प्रतिमा वालों के व आर्यिकाओं के होता है सो कैसे?" इसके उत्तर में श्री पं० फूलचन्दजी ने यह लिखा है कि "पाँचवें गुणस्थान में चारित्रसम्बन्धी विशुद्धि में तारतम्य है, सबके एक समान विशुद्धि नहीं होती। इसलिए उत्तरोत्तर संवर में भी विशेषता जान लेनी चाहिये।" चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर है और इसमें मनुष्यगति आदि दस प्रकृतियों के मिल जाने से पाँचवेंगुणस्थान में ५१ प्रकृतियों का संवर होता है। अब प्रश्न यह है क्या प्रथम प्रतिमा में ५१ प्रकृतियों से कुछ कम प्रकृतियों का संवर रहता है और ग्यारहवीं प्रतिमा में या आर्यिकाओं के ५१ से अधिक प्रकृतियों का संवर होता है?

समाधान—मिथ्यात्वकर्म से १६ प्रकृतियों का आस्रव होता है, अनन्तानुबन्धी कषाय से २५ प्रकृतियों का आस्रव होता है और अप्रत्याख्यानावरणकषाय से १० प्रकृतियों का आस्रव होता है। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व कर्मोदय का अभाव है, इसलिये मिथ्यात्वकर्मसम्बन्धी १० प्रकृतियो का आस्रव न होने से दूसरे गुणस्थान में १० प्रकृतियों का सवर है। तीसरे व चौथे गुणस्थानों मे मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीकषाय इनका उदय नहीं है, अतः इन दोनों गुणस्थानो में मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीसम्बन्धी ४१ प्रकृतियो का आस्रव नहीं होता है, अर्थात् तीसरे और चौथे गुणस्थानो मे ४१ प्रकृतियो का संवर है। पाँचवें गुणस्थान मे अर्थात् प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक सभी प्रतिमाओ मे अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय भी नहीं रहता अतः इन सब प्रतिमाओ मे अप्रत्याख्यानावरणकषायसम्बन्धी १० प्रकृतियो का आस्रव भी नहीं होता। पचमगुणस्थानवर्ती सभी प्रतिमा वालो के तथा आर्यिकाओ के ५१ प्रकृतियों का ही सवर होता है, हीनाधिक प्रकृतियो का सवर नहीं होता है। धवल पु० ८ सूत्र ७ व ८ तथा १५, १६, १७, १८ में इन प्रकृतियो के नाम का निर्देश है।

यद्यपि पचम गुणस्थान मे प्रति प्रतिमा उत्तरोत्तर विशुद्धता बढ़ती जाती है, जिसके कारण स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध मे अंतर पड़ता है तथापि संवरसबंधी ५१ प्रकृतियों की संख्या मे कोई विशेषता नही है।

—जै. ग. 4-4-66/IX/ र. ला. जैन

निर्विकल्प ध्यान के बिना भी संवर-निर्जरा

शंका—क्या निर्विकल्प ध्यान के बिना संवर तथा निर्जरा नहीं होती?

समाधान—शुभ परिणामो से भी कर्मों का संवर व निर्जरा होती है। कहा भी है—

'सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।' जयधवल पु० १ पृ० ६

अर्थ—यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय (निर्जरा) न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो नहीं सकता।

'अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो ।'

जयधवल पु० १ पृ० ९

अर्थ—अरहंत-नमस्कार तत्कालीनबन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, इसलिये उसमे भी (अरहत-भक्ति मे भी) मुनियों की प्रवृत्ति होती है।

इन आगमवाक्यो से सिद्ध है कि निर्विकल्पध्यान के बिना भी अरहतभक्ति आदि के द्वारा भी कर्मों का सवर व निर्जरा होती है।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ श्रा. कु. बड़जात्या

(१) संवर का स्वरूप, हेतु, आस्रव के हेतु
(२) गुप्ति आदि से पुण्य व पाप दोनों का संवर

शंका—आस्रव के निरोध को सवर कहते हैं। क्या बन्ध के निरोध को भी सवर कह सकते हैं ? यदि हां तो दोनों में कौन अधिक ठीक है ? संवर का कारण गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय व चारित्र कहा है। सो क्या ये पुण्य आस्रव के भी कारण हैं ? यदि नहीं तो पुण्यास्रव का कौन कारण है ? यदि हां तो संवर और पुण्य आस्रव के एक ही कारण कैसे होते हैं ?

समाधान—आस्रव के निरोध को सवर कहते है। मोक्षशास्त्र अ० ६ सूत्र १। बन्ध के निरोध को बन्ध-व्युच्छित्ति कहते हैं। आस्रवपूर्वक बन्ध होता है। सवर हो जाने पर बन्ध-व्युच्छित्ति तो बिना कथन किये भी सिद्ध हो जाती है। सात तत्त्वो मे इसी कारण संवर तत्त्व कहा है। गुप्ति आदि संवर के कारण हैं। जिस कर्मोदय से जिन-जिन प्रकृतियो का बन्ध होता है उस-उस प्रकृति के उदय के अभाव मे उससे बचने वाली प्रकृतियो का सवर हो जाता है। जैसे मिथ्यात्वोदय से १६ प्रकृतियो का और अनन्तानुबन्धीचतुष्क के उदय से २५ प्रकृतियो का बन्ध होता था। इनके उदय के अभाव मे १६ व २५ प्रकृतियो का सवर व बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है। मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीचतुष्क का अभाव पुण्यप्रकृतियो के आस्रव के कारण नही है। जिस-जिस गुणस्थान मे जो कषाय व योग है वह आस्रव का कारण है और जितनी कषाय का अभाव है वह सवर व निर्जरा का कारण है। गुप्ति आदि कषायो के अभाव स्वरूप हैं, अतः वे सवर का कारण हैं, किन्तु उस समय जो कषाय व योग हैं वे पुण्यास्रव के कारण हैं। दसवें गुणस्थान तक पुण्य व पाप दोनो प्रकार की प्रकृतियो का आस्रव होता रहता है। ११ वें १२ वें १३ वें इन तीन गुणस्थानो मे केवल सातावेदनीयरूप पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है; क्योकि वहाँ पर कषायोदय का अभाव है। गुप्ति आदि से मात्र पापप्रकृतियों का संवर होता हो सो भी बात नहीं, किन्तु देवायु व देवगति आदि पुण्यप्रकृतियो का भी सवर सातवें, आठवेंगुणस्थान में होता है। पाँचवें गुणस्थान मे मनुष्यायु व मनुष्यगति आदि छह पुण्य प्रकृतियो का सवर होता है और चौथे गुणस्थान मे तिर्यंचायुरूप पुण्यप्रकृति का संवर हो जाता है।

—जै. ग 9-1-64/IX/ र. ला. जैन

सविकल्पावस्था में भी संवर तत्त्व सम्भव है

शंका—संवर तत्त्व क्या सविकल्प अवस्था में भी सभव है ?

समाधान—सविकल्प अवस्था मे भी सवरतत्त्व संभव है। मिथ्यात्व कर्मोदय से जिनप्रकृतियों का आस्रव होता था, सासादनादि गुणस्थानो मे मिथ्यात्वोदय के अभाव मे उनका संवर हो जाता है। इसीप्रकार अनन्तानुबन्धी आदि कर्मोदय के कारण जिन कर्मप्रकृतियो का आस्रव होता है, उन-उन कर्मोदय के अभाव में उन-उन प्रकृतियों का सवर हो जाता है।

"मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति । किं पुनस्तत् ? मिथ्यात्वनपुंसकवेद नरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्ड संस्थानासम्प्राप्तासृपाटिकासंहननरक-गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकासाधारणशरीरसंज्ञक षोडशप्रकृति लक्षणम् ।" सर्वार्थसिद्धि ९।१ ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जिन कर्मों का आस्रव होता है, उनका मिथ्यादर्शन के अभाव में सासादन आदि शेष गुणस्थानो मे संवर होता है। मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रिय-जाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, हुण्डसंस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर इन सोलह कर्मप्रकृतियों का दूसरे आदि गुणस्थानों में संवर होता है।

निद्रानिद्रा आदि २५ प्रकृतियो का आस्रव अनन्तानुबन्धीकर्मोदय से होता है। तीसरे आदि गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी उदयाभाव मे इन २५ कर्म प्रकृतियो का संवर हो जाता है अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि तीसरे गुणस्थान मे और असयतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान मे (१६+२५) ४१ कर्मप्रकृतियो का संवर होता है।

दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानों मे सविकल्पअवस्था होते हुए भी संवरतत्त्व पाया जाता है।

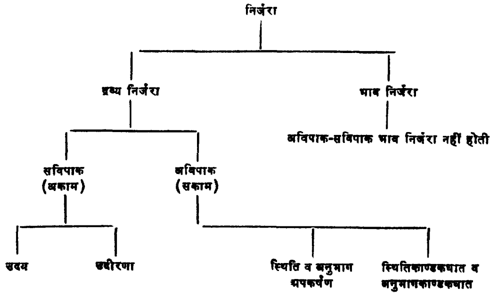
—जै. ग. 2-11-72/VII/ रोशनलाल

निर्जरातत्त्व

निर्जरा के भेदोपभेदों का विवेचन

शंका—द्रव्यनिर्जरा के कितने भेद होते हैं ? सविपाक–अविपाक किसके भेद हैं, द्रव्यनिर्जरा के या भाव-निर्जरा के ? क्या भावनिर्जरा के सविपाक–अविपाक भेद नहीं किये जा सकते हैं ? स्थितिकाण्डकघात तथा अनुभागकाण्डक से संजात निर्जरण किसमें अन्तर्भूत किया जा सकता है ? धवल पु० १२।४६८ पर जो कथन है वह अतिशयविशुद्धियुक्त मिथ्यात्वियों की अपेक्षा है। यहाँ 'अतिशयविशुद्धियुक्त' से क्या अभिप्राय ?

समाधान—निम्नलिखित विवरण से एतद्विषयक स्पष्टीकरण हो जायगा—



धवल पु० १२ पृ० ४६८ पर जो निर्जरा का कथन है वह सम्यग्दृष्टि तथा अतिशयविशुद्धियुक्त, अर्थात् सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा कथन है। सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के प्रायोग्यलब्धि में ४६ प्रकृतियों का बन्ध हो जाता है। तथा अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण (करणलब्धि) में अविपाकद्रव्यनिर्जरा विशुद्धपरिणामों द्वारा होती है। अन्य मिथ्यादृष्टियों के उदय व उदीरणा द्वारा सविपाकनिर्जरा होती है।

—पत्र 27-4-74/...... .../ ज. ला. जैन भीण्डर

अविपाक निर्जरा का स्वरूप, उत्पत्ति-गुणस्थान तथा द्रव्यनिर्जरा के भेदों के विवेचन

शंका—अविपाक भाव निर्जरा किसे कहते हैं ? कौन से गुणस्थान से चालू होती है ?

समाधान—आत्मा के जिन भावों अर्थात् परिणामों के द्वारा अनुदय प्राप्त कर्मों का गालन किया जाता है, उन परिणामों को अविपाकनिर्जरा कहते हैं। इन परिणामों में तप की मुख्यता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय, उपसर्ग-जय, विषय-कषाय-जय आदि भावों के द्वारा अविपाकनिर्जरा होती है, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० १०६ से ११४।

यह निर्जरा प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव के अपूर्वकरण से प्रारम्भ होती है। कहा भी है—

"प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तौ करणत्रय परिणाम चरमसमये वर्तमानविशुद्धिविशिष्ट-मिथ्यादृष्टेः आयुर्वर्जित ज्ञानावरणादि सप्तकर्मणां गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यम् ।"

इस मिथ्यादृष्टि के विशिष्ट विशुद्ध परिणाम अविपाकनिर्जरा के कारण हैं। इस अविपाक निर्जरा में कर्म निर्जीर्ण रस होकर झड़ते हैं।

शंका—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा ये दो भेद द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा इन दोनों के हैं या किसी एक के ?

समाधान—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा ऐसे दो भेद द्रव्यकर्म-निर्जरा के हैं। कहा भी है—"निर्जरा वेदना विपाक इत्युक्तम् । सा द्वेधा अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति । तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धी परिषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति ।" त. राज. ९।७।७।

वेदना के विपाक को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है (१) अबुद्धिपूर्वा (२) कुशलमूला। नरकादि गतियों मे कर्मफल विपाक से होनेवाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है, जिससे अकुशल (अकल्याणकारी कर्मों) का बंध होता है। परीषहजय आदि से कुशलमूला (कल्याणकारी) निर्जरा होती है, जो शुभ का बंध कराती है या बंध बिलकुल ही नहीं कराती।

"पूर्वार्जितकर्म परित्यागो निर्जरा। सा द्विप्रकारा वेदितव्या। कुतः ? विपाकजेतरा चेति। तत्र चतुर्गताअनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाककालप्राप्तस्य यस्य यथा सबद्धेतान्यतरविकल्पवद्रस्य तस्य तेन प्रकारेण विद्यमानस्य यथानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य स्थितिक्षयादुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिक क्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्य उदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकनिर्जरा। (रा० वा० ८।२३) 'तपसा हि अभिनवकर्मसबन्धाभावः पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च अविपाकनिर्जराप्रतिज्ञानात् ।"

रा० वा० ९।३।

पूर्वोपार्जितकर्म का झड़जाना निर्जरा है। वह निर्जरा दो प्रकार की है (१) विपाकजा (२) अविपाकजा। चतुर्गतिमहासागर मे चिर परिभ्रमणशील प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिकभावों से उदयावलि मे यथाकाल प्रविष्ट होकर, जिसका जिसरूप से बन्ध हुआ है उसका उसी रूप से स्वाभाविक क्रम से फल देकर स्थिति समाप्त करके, निवृत्त हो जाना विपाकजा निर्जरा है। जिन कर्मोंका उदयकाल नहीं आया है, उन्हें भी तप विशेष आदि से बलात् उदयावलि मे लाकर पका देना अविपाक निर्जरा है। जैसे कि कच्चे आम या पनसफल को प्रयोग से पका दिया जाता है। तप के द्वारा नूतन कर्मबन्ध रुककर पूर्वोपचित कर्मों का क्षय भी होता है, क्योंकि तप से अविपाक-निर्जरा होती है।

इसप्रकार जो कर्म अपने उदयकाल मे उदय मे आकर फल देकर झड जाता है, वह विपाकजा निर्जरा है। यह विपाकजा निर्जरा सब ससारीजीवो के अबुद्धिपूर्वक होती है और इससे अकल्याणकारी कर्मों का बन्ध होता है। तप आदि के द्वारा जो कर्म उदयकाल से पूर्व उदय मे लाकर निर्जरा को प्राप्त करा दिये जाते हैं, वह अविपाकजा निर्जरा है। यह अविपाकनिर्जरा बुद्धिपूर्वक होती है और कुशलमूला है, क्योंकि इस निर्जरा से या तो शुभकर्म का बन्ध होता है या बन्ध नही होता। विपाकजा निर्जरा अबुद्धिपूर्वक होती है अतः उसमें आत्मा के तप आदिक भाव कारण नहीं होते हैं। अविपाकजा निर्जरा मे आत्मा के तप आदि भाव कारण पडते हैं, अतः भावनिर्जरा अविपाक-निर्जरा है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से विपाक और अविपाकनिर्जरा का कथन पाया जो इसप्रकार है—

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते।
निर्जरायामपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः ॥२॥ योगसार प्राभृत

विपाकजा निर्जरा मे पके हुए कर्मों की निर्जरा (क्षय) होती है। अविपाकजा निर्जरा में पके हुए और बिना पके हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

अविपाकनिर्जरा में, पक्वकर्म और अपक्वकर्म, इन दोनो प्रकार के कर्मों का रस (अनुभाग) निर्जीर्ण कर दिया जाता है अतः उसको अविपाकनिर्जरा कहा है, किन्तु पक्वकर्म की अपेक्षा वह अविपाकनिर्जरा सविपाक भी है, क्योंकि कर्म यथाकाल उदय मे आ रहा है।

—जै. ग. 31-10-74/X/ ज. ला. जैन भीण्डर

गुणश्रेणीनिर्जरा अविपाक निर्जरा है

शंका—गुण श्रेणी में जो द्रव्य निर्जरा होती है, क्या वह अविपाकनिर्जरा है ?

समाधान—गुणश्रेणी निर्जरा मे अनुभाग क्षय होकर प्रदेश (द्रव्य) निर्जरा होती है अतः असंख्यातगुण-श्रेणीनिर्जरा में अविपाकनिर्जरा संभव है। कहा भी है—

"विसोहीहि अणुभागक्खएण पदेस णिज्जरा।" ध० पु० १२ पृ० ७९।

विशुद्धियो के द्वारा अनुभागक्षय होता है और उससे प्रदेशनिर्जरा होती है। इसके निम्नलिखित ११ स्थान हैं—

सम्मुत्पत्ती वि य सावय विरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसंते ॥७॥

खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।

(१) सम्यक्त्वोत्पत्ति (२) श्रावक, (३) महाव्रती, (४) अनन्तानुबन्धीकषाय का विसंयोजक, (५) दर्शन-मोहक्षपक, (६) चारित्रमोह उपशामक, (७) उपशान्त कषाय, (८) क्षपक, (९) क्षीणमोह, (१) स्वस्थान जिन, (११) योगनिरोध मे प्रवृत्त जिन, इन ग्यारह स्थानों मे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है। यह अविपाक-निर्जरा है।

—जै. ग. 19-9-74/X/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अविपाक और सविपाक निर्जरा का स्वरूप

शंका—अकाम और सकामनिर्जरा का क्या स्वरूप है ? सविपाक और अविपाकनिर्जरा में से किसभेद में शामिल हो सकती है ?

समाधान—काम का अर्थ इच्छा है और पूर्वकाल मे बँधे हुए कर्मों का झडना निर्जरा है। अत: जो कर्म बिना इच्छा के झडते हैं वह अकामनिर्जरा है। जो कर्म इच्छापूर्वक तप आदि के द्वारा निर्जीर्ण किये जाते हैं वह सकाम निर्जरा है। सविपाकनिर्जरा को अकामनिर्जरा कहते हैं और अविपाकनिर्जरा को सकामनिर्जरा कहते हैं, क्योंकि अविपाकनिर्जरा इच्छापूर्वक तप आदि के द्वारा की जाती है और सविपाक निर्जरा मे कर्म बिना इच्छा यथाकाल झडते जाते हैं। कहा भी है—

चिरबद्धकम्मणिवहं जीव पदेसा हु जं च परिगलइ।
सा णिज्जरा पउत्ता दुविहा सविपक्क अविपक्का ॥१५७॥
सयमेव कम्मगलणं इच्छारहियाण होइ सत्ताणं।
सविपक्क णिज्जरा सा अविपक्क उवायखवणादो ॥१५८॥ (नयचक्र)

चिरकाल से बँधे हुए कर्मों का जीवप्रदेश से जो परिगलन है वह निर्जरा कही गई है। सविपाक और अविपाक के भेद से वह निर्जरा दो प्रकार की है।

जीवों के इच्छारहित जो कर्मों का स्वयमेव गलना है वह सविपाकनिर्जरा है। जो उपाय द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है वह अविपाकनिर्जरा है। उपाय इच्छा पूर्वक होता है।

फलटन से प्रकाशित कुन्दकुन्दस्वामी विरचित 'मूलाचार' मे भी लिखा है—

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजादा य ॥५८॥
कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि।
तध कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ॥५९॥

पृष्ठ १४६ पर अर्थ इसप्रकार लिखा है—पूर्वकाल मे बँधे हुए कर्म का आत्मा से थोड़ा-थोड़ा जो निकल जाना उसको निर्जरा कहते हैं। इस निर्जरातत्त्व के दो भेद हैं। पहली विपाकनिर्जरा तथा दूसरी अविपाकनिर्जरा। उदय होने पर जो कर्मानुभव जीव को आता है उसको सविपाकनिर्जरा कहते हैं। अनुभव के बिना तपश्चरणादि कारणों के द्वारा कर्म का विनाश होना यह अविपाकनिर्जरा का लक्षण है ॥ ५८ ॥

द्रव्यनिर्जरा के विपाकजा और अविपाकजा ऐसे दो भेद हैं। विपाकजा का अकामनिर्जरा ऐसा भी नाम है। तथा अविपाकजानिर्जरा को सकामनिर्जरा भी कहते हैं। योग्यकाल में कर्म का उदय होकर उसकी निर्जरा होती है उसको विपाकजा अकामनिर्जरा कहते हैं तथा तपश्चरणादिक उपायो से अपक्वकर्म को पक्वावस्था मे लाकर उसका एक देश नष्ट होना वह सकामनिर्जरा है। इनको औपक्रमिकनिर्जरा भी कहते हैं। पहिली को विपाक-निर्जरा अनौपक्रमिकनिर्जरा ऐसा भी कहा जाता है। इन दो निर्जराओं का स्पष्टीकरण उदाहरण द्वारा किया जाता है—जैसे आम्रफल, पनसफल वगैरह की पक्वता अर्थात् मधुररसादि परिणति योग्यकाल मे होती है तथा पुरुष प्रयत्न से भी वह की जाती है। तथा ज्ञानावरणादिकर्म योग्य समय पर उदयावलि मे आकर फल देने लगता है। जिसकाल मे जो कर्मफल देने योग्य हैं उसीकाल में उसका उदय होकर फल प्राप्ति होना यह विपाकनिर्जरा है। और जो कर्म तपोबल से तथा सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के बल से उदयावलि मे लाकर उपभोगा जाता है वह अविपाकनिर्जरा है। मुमुक्षु लोगो को शुभाशुभ परिणामों के अभाव से कर्मों का संवर होकर शुद्धोपयोग युक्त तप से अविपाकनिर्जरा होती है। तथा इतर लोगो को योग्यकाल मे कर्म उदय मे आकर अपना सुख-दु:खादि रस देकर निर्जीर्ण होता है वह सविपाक निर्जरा है।

—जै. ग. 3-9-70/VI/ ब्र. छोटेलाल

अव्रतीसम्यक्त्वी के अविपाकनिर्जरा कब होती है, इसका विवेचन

शंका—सम्यग्दृष्टि के बिना तप के क्या अविपाकनिर्जरा संभव है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि के बिना तप के भी व्रत धारण करने से तथा अनन्तानुबन्धी की विसयोजना व दर्शनमोह के क्षपणा के समय तीनकरण द्वारा अविपाकनिर्जरा संभव है। कहा भी है—

"सम्यग्दृष्टिश्रावक विरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९)

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख गुणकम्म-णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवयधारी तत्तो य महव्वई णाणी ॥१०६॥
पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय सीलो य।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग-चत्तारि ॥ १०७ ॥
खवगो य खीण-मोह सजोइ-णाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असख गुण-कम्म-णिज्जरया ॥१०८॥ (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

मिथ्यादृष्टि अनिवृत्तिकरण के चरमसमय मे जो निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यक्त्वो-त्पत्ति के समय होती है। उससे असख्यातगुणी अणुव्रतधारी के, उससे असख्यातगुणी महाव्रती के, उससे असंख्यात-गुणी अनन्तानुबन्धी का विसयोजन करनेवाले के, उससे असंख्यातगुणी दर्शनमोहनीय की क्षपणा करनेवाले के कर्म-निर्जरा होती है।

"असंखेज्जगुणाए सेडीए कम्मणिज्जरणहेदू वदं णाम।" (धवल पु० ८ पृ० ८३)

असंख्यातगुणितश्रेणी से कर्मनिर्जरा के कारण व्रत हैं।

इसप्रकार व्रत के द्वारा निर्जरा होते हुए भी तप के द्वारा विशेष निर्जरा होती है, इसीलिये 'तपसा निर्जरा च ॥ ९।३ ॥' अर्थात् तप से निर्जरा होती है, ऐसा सूत्र है।

—जै. ग. 30-3-72/VII/ देहरा तिजारा

असंयत सम्यक्त्वी को नित्यनिर्जरा नहीं होती

शंका—चौथे गुणस्थान में अविपाकनिर्जरा कुछ समय होती है और हरसमय सविपाकनिर्जरा है यह किस तरह से है ? पाँचवें गुणस्थान में प्रतिसमय होनेवाली गुणश्रेणी निर्जरा का सम्यग्दर्शन तो चौथे गुणस्थान में भी है फिर वहाँ (चौथे गुणस्थान में) प्रत्येकसमय गुणश्रेणी निर्जरा क्यों नहीं है ?

समाधान—मिथ्यात्व अवस्था से जब जीव सम्यक्त्व अवस्था को प्राप्त होता है, तब सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् परिणामों की विशुद्धता के कारण एक अन्तर्मुहूर्ततक असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है। इसको अविपाकनिर्जरा भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रतिसमय असंख्यातगुणद्रव्य, उपरितन निषेकों से अपकर्षण करके उदयावली में व उसके बाहिर के एक अन्तर्मुहूर्त के निषेकों में दिया जाता है इस द्रव्य का अनुभाग भी कृश हो जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यह असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा नहीं होती। इसीप्रकार पंचमगुणस्थान के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है। चतुर्थगुणस्थान में संयम का अभाव होने के कारण संयमसम्बन्धी गुणश्रेणीनिर्जरा नहीं होती, किन्तु असंयम के कारण उसकी सब धार्मिक क्रिया भी गजस्नानवत् अथवा मथेनी की रज्जु के समान होती है। मूलाचार समयसार अधिकार गाथा ४९ व उसकी संस्कृत टीका में इस प्रकार कहा है—'अविरतसम्यग्दृष्टि के कर्मांश निर्जीर्ण होने पर भी असंयम के द्वारा पुनः बहुतर कर्मांश को ग्रहण करता है। गजस्नान दृष्टान्त का यह अभिप्राय है कि जितना कर्म आत्मा से छूटता है उससे बहुततर कर्म असंयम से जीव को बंध जाता है। मथेनी के दृष्टान्त का भी यह अभिप्राय है कि जितनी कर्मनिर्जरा हुई असंयमभाव से उससे अधिक कर्मों का ग्रहण हो जाता है।' पाँचवें गुणस्थान में संयम का एकदेश प्रगट हो जाता है अतः उसके प्रतिसमय गुणश्रेणीनिर्जरा होती रहती है।

—जै. स 11-12-58/V/ रामदास कैराना

अव्रतीसमकिती के निर्जरा (गुणश्रेणिनिर्जरा) का अभाव

शंका—असंयतसम्यग्दृष्टि के जो प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है वह चारित्र के बिना कैसे संभव है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टिजीव जब प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन को ग्रहणकर असंयतसम्यग्दृष्टि होता है उसके प्रथम अन्तर्मुहूर्त में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, किन्तु असंयत सम्यग्दृष्टि के सर्वकाल में असंख्यातगुणीनिर्जरा नहीं होती है। जितना कर्म फल देकर झडता है, असंयमभाव के कारण उससे अधिक कर्मबंध हो जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मूलाचार में कहा भी है—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।
होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ॥१०।४९॥

श्री वसुनन्दि आचार्य कृत संस्कृत टीका—"अपगतात्कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः। चुंदच्छिदः कर्मेव–एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसा निर्जरयति, कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति।

अविरतसम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक नहीं है, उसका तप गजस्नान तथा चर्मा (काष्ठ मे छेद करने का यंत्र) के समान है। जितना कर्म तप के द्वारा आत्मा से छूट जाता है उससे बहुतर कर्म असंयम के कारण जीव के बंध जाता है; ऐसा अभिप्राय बतलाने के लिये हस्तिस्नान का दृष्टान्त है। चर्मा का एक पार्श्वभाग रज्जु से दृढ़ वेष्टित होता है और दूसरा पार्श्वभाग मुक्त होता है वैसे ही तप से असंयतसम्यग्दृष्टि कर्म की निर्जरा करता है परन्तु असंयमभाव उससे (निर्जरा से) अधिक बहुतरकर्म ग्रहण किया जाता है तथा वह कर्म अधिक दृढ़ भी होता है।

इस आर्ष वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि असंयतसम्यग्दृष्टि के तप के द्वारा भी असंख्यातगुणीनिर्जरा नहीं होती है, क्योंकि असंयमभाव के कारण उसके बहुतर और दृढ़कर्म बंध होता रहता है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ टो. ला. जैन

असंयत के नित्य निर्जरा नहीं होती

शंका—क्या सर्वार्थसिद्धि, नवम अध्याय, सूत्र ४५ का यह अभिप्राय है कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रतिसमय गुणश्रेणिनिर्जरा होती रहती है?

समाधान—मोक्षशास्त्र अ० ९।४५ मे असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों का कथन है। वह धवल पु० १२।७८ गाथा ७ व ८ के आधार पर लिखा गया है। वहाँ पर गाथा ८ में "तब्विवरीदो कालो" से स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र ४५ मे मात्र इन स्थानो को प्राप्त होने के समय मे होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा का कथन है।

चतुर्थगुणस्थानमे प्रथमोपशमसम्यक्त्व के समय, अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना के समय अथवा दर्शनमोह की क्षपणा के समय असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा होती है; किन्तु व्रतों के अभाव मे प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा नहीं होती है। पांचवें आदि गुणस्थानों में व्रत का सद्भाव होने के कारण प्रतिसमय गुणश्रेणिनिर्जरा होती रहती है। कहा भी है—

असंखेज्जगुणाए सेढीए कम्मणिज्जरणहेदू वदं णाम। (ध० ८।८३)

अर्थ—व्रत कर्मों की असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा का कारण है।

—पत्राचार / ज. ला. जैन, भीण्डर

संयत से असंयत के असंख्यातगुणी निर्जरा

शंका—तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में क्रम से असंख्यातगुणीनिर्जरा के ग्यारहस्थान बतलाये हैं। उनमें तीसरा स्थान विरत अर्थात् मुनि का है और पाँचवां स्थान क्षायिकसम्यग्दृष्टि का है। यहाँ पर अविरत क्षायिक सम्यग्दृष्टि का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विरत से अविरत के अधिक निर्जरा संभव नहीं है। अतः मुनि क्षायिकसम्यग्दृष्टि ग्रहण करना चाहिये?

समाधान—विरत (महाव्रती) तीसरा स्थान है उससे असंख्यातगुणी निर्जरा चौथे स्थान मे अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाले के है और उससे असंख्यातगुणी निर्जरा पांचवें स्थान मे दर्शनमोहनीय की क्षपणा करनेवाले के है। त० सू० अ० ९ सूत्र। ४५ तथा गो० जीव० गा० ६६-६७ मे चौथे स्थान और पाँचवें स्थान में असंयत-सम्यग्दृष्टि संयतासंयत या संयत में से किसी भी अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाले अथवा दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वाले पुरुष के विरत (महाव्रती) से असंख्यातगुणी निर्जरा संभव है। कहा भी है—

"सत्थाणसंजदउक्कस्सगुणसेडिगुणगारादो असंजदसम्माविट्ठिसंजदासंजदसंजदेसु अणंताणुबंधि विसंजोजए तस्स जहण्णगुणसेडिगुणगारो असंखेज्जगुणो।" ध० पु० १२ पृ० ८२ ।

अर्थ—स्वस्थानसंयत के उत्कृष्ट गुणश्रेणि-गुणकार की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत जीवों में से विसंयोजना करनेवाले जीव का जघन्यगुणश्रेणीगुणकार असंख्यातगुणा है। इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा करनेवाले के विषय मे जानना चाहिये।

अनंतानुबंधी की विसंयोजना मे अनन्तानुबन्धी प्रकृतियो का और दर्शनमोहनीयकर्म के द्रव्य का सत्त्व से क्षय होता है इसलिये चौथे व पाँचवें स्थान मे महाव्रती की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा कही है।

—जै ग 26-6-67/IX/ रतनलाल

सातिशयमिथ्यात्वी की गुणश्रेणिनिर्जरा से समकिती के असंख्यातगुणी निर्जरा

शंका—क्या अविरतसम्यग्दृष्टि को सातिशयमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है?

समाधान—सातिशय मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि अर्थात् प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि को प्रथम अन्तर्मुहूर्त मे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। हरि० पु० सर्ग ६४ श्लोक ५२ व ५३ मे कहा भी है—"सर्वप्रथम सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक भव्यजीव जब करणलब्धि से युक्त हो, अतरगशुद्धि को वृद्धिगत करता है तब उसके बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। उसके बाद जब यह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य कारणो के मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता है तब उसके पूर्वस्थान की अपेक्षा असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है।" अविरतसम्यग्दृष्टि के प्रथम अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् यह निर्जरा रुक जाती है।

शंका—क्या सातिशय मिथ्यादृष्टि के मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है?

समाधान—साधारण मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणवाले सातिशयमिथ्यादृष्टि के असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है। अपूर्वकरण के प्रथमसमय मे वह गुणश्रेणी आयाम बनाता है। उस गुणश्रेणी आयाम के प्रथमसमय में वह जितना द्रव्य देता है उससे असंख्यातगुणा वह द्वितीयसमय मे देता है इसप्रकार गुणश्रेणी आयाम के अन्तसमय तक देता है। यह गुणश्रेणी आयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक होता है। इसप्रकार प्रतिसमय असंख्यातगुणा–असंख्यातगुणा द्रव्य अपकर्षणकर इस गलितावशेषगुणश्रेणीआयाम मे देता है (ल० सा० गाथा ५३, ७३, ७४ तथा ध० पु० ६ पृ० २२४–२२७)। जब गुणश्रेणी आयाम के निषेक उदय मे आते हैं उसकाल मे प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा सातिशयमिथ्यादृष्टि के होती है।

—जै. ग 4-4-63/IX/ शान्तिलाल

अविपाकनिर्जरा का हेतु, संवरपूर्वकत्व तथा गुणस्थान सम्बन्धी विवेचन

शंका—अविपाकनिर्जरा का कारण तप ही है या और कुछ भी? यह निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है या संवर के बिना भी? संवर होने पर होती ही है या नहीं भी? कौन से गुणस्थान से आरम्भ होती है?

समाधान—अविपाकनिर्जरा का मुख्य कारण तप है। इसीलिये त० सू० अ० ९ में 'तपसा निर्जरा च ॥३॥' अर्थात् तप से अविपाकनिर्जरा होती है, ऐसा पृथक् सूत्र लिखा है।

कालेण उवाएण य पच्चंति जधा वणप्फदिफलाणि ।
तध कालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ।। ५।४९ ।। मूलाचार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस गाथा में तप के द्वारा अविपाकनिर्जरा बतलाई है। श्री वसुनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य ने इसकी टीका मे "सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोभिः कृतानि कर्माणि पच्यन्ते विनश्यन्ति ध्वस्तीभवन्तीत्यर्थः। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप इनके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा कहा है। अर्थात् तप के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र भी अविपाकनिर्जरा के कारण हैं। यह बात तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र से भी सिद्ध होती है।

"सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्त वियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥"

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व करणलब्धि में अविपाकनिर्जरा होती है, उससे असख्यातगुणी प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय होती है। अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना का समय तथा दर्शनमोह की क्षपणा के समय जो करणलब्धि होती है उससे भी अविपाकनिर्जरा होती है। चारित्र के बिना एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यह अविपाकनिर्जरा रुक जाती है। कुछ अधिक तैंतीससागर अविरतसम्यग्दष्टि का काल है, किन्तु चारित्र के बिना अविपाकनिर्जरा नहीं होती है।

सा पुण दुविहा णेया सकालपत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया ।। १०४ ।। स्वा० का० अ०

वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक स्वकालप्राप्त निर्जरा और दूसरी तप के द्वारा की जानेवाली अविपाकनिर्जरा। पहली विपाकनिर्जरा चारो गति के जीवो के होती है और दूसरी निर्जरा व्रतीजीवों के होती है। श्री प० कैलाशचन्दजी इसके अनुवाद मे लिखते हैं—"दूसरे प्रकार की निर्जरा व्रतधारियो के ही होती है।"

"मिच्छादो सद्दिट्ठी असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि।" (स्वा० का० अ०)

टीका—"प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तौ करणत्रयपरिणामचरमसमये वर्तमानविशुद्धविशिष्ट मिथ्यादृष्टेः आयुर्वर्जितज्ञानावरणादिसप्तकर्मणां गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यं।"

इससे सिद्ध होता है कि सातिशयमिथ्यादृष्टि के भी प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व करणलब्धि के द्वारा अविपाकनिर्जरा होती है।

घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदोपावं ॥६०॥ जयधवल पु० १

यहाँ पर यह बतलाया है कि महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिका यत्र के जल के समान असख्यातगुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है।

व्रत व तप के अतिरिक्त जिनेन्द्रभक्ति भी अविपाकनिर्जरा का कारण है। कहा भी है—

"अरहंतणमोकारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओत्ति।" जयधवल पु० १ पृ० ९

अर्थ—अरहत नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है।

यह निर्जरा मात्र भावपूर्वक भक्ति के काल मे ही होती है। व्रत-धारियों के प्रतिसमय अविपाकनिर्जरा होती है।

अविपाकनिर्जरा संवरपूर्वक होती है, संवर के बिना नहीं होती है—

संवरेण विना साधोर्नास्ति पातक-निर्जरा।
नूतनाम्भः प्रवेशोऽस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥ ६ ॥ योगसार

संवर के बिना अविपाकनिर्जरा नहीं बनती। जब नये जल का प्रवेश हो रहा है तब सरोवर की रिक्तता कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती।

"मोक्षकारणं या संवरपूर्विका सैव ग्राह्या।" (द्रव्यसंग्रह गा० ३६ टीका)

मोक्ष के प्रकरण मे जो संवरपूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वही मोक्ष का कारण है।

एकदेशव्रत पचमगुणस्थान मे होते हैं, अत. पाँचवें गुणस्थान से प्रतिसमय होने वाली अविपाकनिर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। मात्र एक अन्तर्मुहूर्त तक होने वाली अविपाकनिर्जरा सातिशयमिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि के भी होती है।

—जै. ग 10-12-70/VI/ र. ला. जैन

सविपाक द्रव्य निर्जरा से समुत्पादित कषाय भाव सविपाक भावनिर्जरा नहीं कहलाते

शंका—सविपाक द्रव्यनिर्जरा के समय जो कषायभाव उत्पन्न होकर नष्ट (निर्जीर्ण) होते हैं, क्या उन कषायभावों के नष्ट होने को सविपाक भावनिर्जरा नहीं कह सकते?

समाधान—बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३६ में 'कम्म पुग्गलं जेण भावेण सडदि' इन शब्दों द्वारा भावनिर्जरा का स्वरूप इसप्रकार बतलाया है कि—आत्मा के जिनभावों से पुद्गल द्रव्यकर्म झड़ते हैं, आत्मा के वे परिणाम भाव निर्जरा हैं। द्रव्यकर्म के उदय मे आकर झड़ने से आत्मा मे जो कषायादिक औदयिकभाव उत्पन्न होते हैं वे तो बन्ध के कारण हैं, क्योंकि 'ओदइया बन्धयरा' अर्थात् औदयिकभाव बन्ध करनेवाले हैं ऐसा आर्षवाक्य है। द्रव्य-कर्मोदय से होने वाले आत्मा के औदयिकभाव द्रव्यकर्मनिर्जरा मे कारण नहीं हैं, अतः औदयिकभावो को भावनिर्जरा की सज्ञा नहीं दी गई।

—जै. ग. 21-11-74/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

"कोटि जनम तप तपें, ज्ञान बिनु कर्म झरे जे "

शंका—'कोटिजनम तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरे जे।' इसमें 'ज्ञान बिन' का अर्थ मिथ्यादृष्टि और 'तप' का अर्थ बालतप कर दिया जाय तो क्या हानि है।

समाधान—शंकाकार के अनुसार शब्दो का अर्थ करने पर इसका अर्थ यह होगा—"बालतप के द्वारा मिथ्यादृष्टि जीव करोड़जन्म मे जितनी कर्मनिर्जरा करता है उतनी कर्मनिर्जरा सम्यग्दृष्टि त्रिगुप्ति अर्थात् निर्विकल्पसमाधि के द्वारा एकक्षण मे कर देता है।" अर्थात् "मिथ्यादृष्टि की बालतप के द्वारा एक जन्म की निर्जरा को करोड़ से गुणित करने पर जो कर्मनिर्जरा का प्रमाण प्राप्त होता है, वह निर्विकल्पसमाधि अर्थात् क्षपकश्रेणी की एकसमय की निर्जरा के बराबर है।"

इसप्रकार अर्थ करने पर सिद्धांत से बाधाएँ आती हैं। प्रथम तो यह है कि मिथ्यादृष्टि के बालतप द्वारा आंशिक अविपाक कर्मनिर्जरा मानने पर, मिथ्यादृष्टि का बालतप उपादेय हो जावेगा, क्योंकि सिद्धान्त मे निर्जरा-तत्त्व उपादेय माना गया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जब असयतसम्यग्दृष्टि के तप को गुणकारी नहीं बतलाया है, तो मिथ्यादृष्टि जो नियम से असंयत होता है, उसका बालतप कैसे गुणकारी हो सकता है ? अर्थात् अविपाकनिर्जरा का कारण नहीं हो सकता है।

किसी भी दि० जैनाचार्य ने मिथ्यादृष्टि के बालतप द्वारा अविपाक कर्मनिर्जरा का कथन नहीं किया है। बालतप के द्वारा मिथ्यात्वप्रकृति का दृढ बधन होता है और अनन्तकाल तक ससार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के बालतप के द्वारा अविपाकनिर्जरा का निषेध हो जाने पर प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जिसको सम्यग्ज्ञान है उसको 'ज्ञान बिन' या अज्ञानी कैसे कहा जा सकता है ? सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होते हुए भी जबतक क्रोधादि कषायो से निवृत्त नहीं होता है उससमय तक उसके पारमार्थिक सच्चे भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। इस अपेक्षा से श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तथा श्री जयसेनाचार्य ने उसको अज्ञानी भी कह दिया है। जैसे कोई स्वाँखा मनुष्य प्रकाश के होते हुए भी कूप मे गिरता है तो उसको अंधा कहा जाता है श्री अमृत-चन्द्रजी ने समयसार की टीका मे कहा है—

"इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्त-मानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्येत् किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किम् ज्ञानं किं वाज्ञान ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तं ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति।"

इस तरह आत्मा और आस्रवों के तीन विशेषणोकर भेद देखने से जिस समय भेद जान लिया उसी समय क्रोधादिक आस्रवो से निवृत्त हो जाता है। उनसे (क्रोधादि आस्रव भावो से) जबतक निवृत्त नहीं होता, तबतक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्चे भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवो की निवृत्ति मे अविनाभावी जो ज्ञान उसी से अज्ञान कर हुआ जो पौद्गलिक कर्मों का बंध, उस बंध का निरोध होता है। यहाँ यह विशेष जानना—आत्मा और आस्रव का भेद है वह अज्ञान है कि ज्ञान ? यदि अज्ञान है तो आस्रव से अभेद हुआ। यदि ज्ञान है तो आस्रवो मे प्रवर्तता है कि उनसे निवृत्तिरूप है ? यदि आस्रवो मे प्रवर्तता है तो वह ज्ञान आस्रवो से अभेदरूप अज्ञान ही है। तथा जो आत्मा और आस्रवो का भेद ज्ञान है, वह भी आस्रवो से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं।

इसका तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान हो जाने पर भी यदि क्रोध आदि भावों से निवृत्त नहीं हो जाता तो वह अज्ञानी है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और श्रद्धान होने पर भी वह क्रोधादि मे प्रवर्तता है। इसप्रकार श्री अमृतचन्द्रा-चार्य ने भी सम्यग्ज्ञानी को अज्ञानी कहा है। पारमार्थिक ज्ञानी वही है जो निर्विकल्पसमाधि मे स्थित होकर क्रोधादिक आस्रवभावों से निवृत्त होता है। (अजमेर समयसार पृ० १९)

श्री जयसेनाचार्य ने भी 'अज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां' शब्दों द्वारा निर्विकल्पसमाधि से रहित को अज्ञानी कहा है इसीप्रकार समयसार गाथा १६१ की टीका में भी कहा है—"त्रिगुप्तसमाधिलक्षणभेदज्ञानाद्बाह्या

ये ते व्रतनियमान् धारयंतः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभंते । कस्मादितिचेत् ? येन कारणेन पूर्वोक्त भेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवंत्यज्ञानिनः ।"

जो त्रिगुप्तिरूप समाधि लक्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान से रहित हैं वे व्रत व नियम को धारण करने पर भी तथा शील व तपश्चरण को करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होते क्योंकि उनके पूर्वोक्त (त्रिगुप्तिरूप समाधि लक्षणवाला) भेदविज्ञान का अभाव है । उक्त भेदविज्ञान के अभाव के कारण वे परमार्थ बाह्य हैं इसलिये वे अज्ञानी हैं ।

यहाँ पर भी श्री जयसेनाचार्य ने त्रिगुप्तिरूप समाधि अथवा निर्विकल्पसमाधि से रहित को अज्ञानी कहा है उसके तप को साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं बतलाया है ।

इतना ही नहीं, उनके तप को बालतप और व्रत को बालव्रत कहा है—

"परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता पुरुषास्तपोधनानिर्वाणं प्राप्नुवंति लभंते इत्यर्थः । परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरण करोति व्रतादिकं च धारयति तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवंति कथयंति के ते ? सर्वज्ञाः कस्मात् ? इति चेत् पुण्यपापोदयजनितसमस्तेन्द्रिय सुखदुःखाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्न-त्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वाद् इति ।"

परमात्मस्वभाव मे स्थित रहनेवाले अर्थात् वीतराग स्वसंवेदनज्ञान मे लीन मुनि तपोधन ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं । जो परमात्मस्वभाव मे स्थित नहीं हैं । (वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में लीन नही हैं) समस्त इन्द्रिय-जनित सुख-दुःख के अधिकार से रहित अभेदरत्नत्रय (निर्विकल्पसमाधि) लक्षणवाले विशिष्ट भेदविज्ञान से रहित होने के कारण, उनका तप करना व व्रत धारण करना वह सब बालतप व बालव्रत है, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है—

श्री जयसेनाचार्य की दृष्टि मे जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से रहित है वह अज्ञानी (ज्ञान बिन) है और उसका तप बालतप है । इसी दृष्टि से श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार मे इसप्रकार कहा है—

"अथपरमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मेलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्प-समाधिलक्षणमात्मज्ञानं निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति । निर्विकल्प समाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक-विशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः, तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति । तद्यथा—बहिर्विषये परमागमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञान तथैवश्रद्धानं व्रताद्यनुष्ठानं चेति त्रयं, तत् त्रयाधारेणोत्पन्नं सिद्धजीवविषये सम्यक्परिज्ञानं ।

श्रद्धानं तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठानंचेति त्रय तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं विशदाखंडैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानंस्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूपं सम्यग्दर्शनम् तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारित्रमिति त्रयम् । तत् त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसंवेदन-ज्ञानं तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयंति तत्कर्मज्ञानी जीवो पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति ।"

आगे कहते हैं कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रय के मिलाप होने पर भी जो अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्पसमाधिमय आत्मज्ञान है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है । निर्विकल्पसमाधि-रूप निश्चयरत्नत्रयात्मक विशिष्ट भेदज्ञान के अभाव के कारण जो जीव अज्ञानी है वह जितने कर्मों को एकलाख

करोड़भव के द्वारा क्षय करता है, त्रिगुप्ति से गुप्त ज्ञानीजीव उतने कर्मों को उच्छ्‌वासमात्र में क्षय कर देता है। तथाथा—परमागम के अभ्यास के बल से बाह्य पदार्थों का जो सम्यग्ज्ञान होता है तथा उन्हीं का जो श्रद्धान होता है व्रत आदिरूप चारित्र पाला जाता है, इन तीनरूप मे रत्नत्रय के आधार से सिद्ध परमात्मा के स्वरूप मे सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान और उनके गुणस्मरण अनुकूल चारित्र होता है। इन तीनों के आधार से, निर्मल-अखंड-एक ज्ञानाकार निज शुद्धात्मा में जाननेरूप सविकल्पज्ञान तथा शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है 'ऐसी रुचि सो सविकल्परूप सम्यग्दर्शन और इसी आत्मस्वरूप मे रागादि विकल्परहित ऐसा सविकल्पचारित्र उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रसाद से निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चयरत्नत्रय लक्षणवाला विशिष्ट स्वसंवेदनज्ञान उत्पन्न होता है। इस निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक विशिष्ट स्वसंवेदनज्ञान के प्रभाव के कारण अज्ञानीजीव करोड़ोंभव के द्वारा जिसकर्म का क्षय करता है, पूर्वोक्त ज्ञानगुण के सद्भाव के कारण त्रिगुप्ति मे गुप्त ज्ञानी जीव उसकर्म को लीलामात्र से उच्छ्‌वासमात्र मे क्षय कर देता है।"

असंयतसम्यग्दृष्टि से असंख्यातगुणीनिर्जरा अणुव्रती श्रावक के होती है अर्थात् असंख्यातबार सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने से असंयत के जितनी कर्मों की निर्जरा होती है, उतने कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि एकबार अणुव्रत धारण करने से कर देता है। इसीप्रकार असंख्यातबार अणुव्रत को धारण करने से सम्यग्दृष्टि जितनी निर्जरा करता है उतनी कर्मनिर्जरा उस सम्यग्दृष्टि के एकबार महाव्रत धारण करने से हो जाती है। अर्थात् श्रावक से असंख्यातगुणीनिर्जरा महाव्रती के होती है। असंख्यातबार महाव्रत धारण करने मे जितनी कर्मनिर्जरा होती है उतनी कर्म-निर्जरा एक उच्छ्‌वासमात्र में निर्विकल्पसमाधि अर्थात् श्रेणी मे हो जाती है। अर्थात् निर्विकल्पसमाधि से रहित महाव्रती के असंख्यातगुणी निर्जरा निर्विकल्पसमाधि मे होती है।

लगातार करोड़ोभव तक मिथ्यादृष्टि के भी कुतप संभव नहीं है। कुतप के प्रभाव से देवायु का बंध होता है। एक मनुष्यभव मे कुतप के पश्चात् मरकर देव होगा और देवों में कुतप संभव नही है। देवगति से चयकर मनुष्य हो तो कुतप संभव हो सकता है यदि अन्यगति मे चला गया तो वहाँ पर भी कुतप संभव नहीं है। मनुष्य के भी बचपन मे कुतप सम्भव नहीं है। करोड़ोभव तक मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता रहे ऐसा होना भी कठिन है। अतः मिथ्यादृष्टि के भी लगातार करोड़ोभव तक कुतप संभव नहीं है बीच-बीच में व्युच्छेद होगा ही। एक जीव असंख्यातबार सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है तथा असंख्यातबार अणुव्रत धारण कर सकता है। असंयत-सम्यग्दृष्टि और श्रावक के निर्विकल्पसमाधि नहीं हो सकती है। अतः असंयतसम्यग्दृष्टि या श्रावक के तप के साथ जितनी कर्मनिर्जरा होती है उससे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा निर्विकल्पसमाधि में उच्छ्‌वासमात्र मे हो जाती है। अथवा असंख्यातभवों में सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने से या असंख्यातभवों मे अणुव्रत को धारण करके तप से जितनी कर्मों की निर्जरा होती है उतनी निर्जरा निर्विकल्पसमाधि मे त्रिगुप्ति के द्वारा उच्छ्‌वासमात्र मे हो जाती है। इससे सिद्धान्त मे कोई बाधा नहीं आती है।

—जै. ग. 3-5-73/VII/ र. ला. जैन

दान से मिथ्यात्वी के निर्जरा नहीं होती

शंका—साधारण संज्ञी पंचेन्द्रियपर्याप्त मिथ्यात्वीजीव वर्षपृथक्त्व की आयु हो जाने पर यदि विशुद्ध परिणामों से दान देवे तो क्या उसके अविपाक द्रव्यनिर्जरा नहीं होगी ?

समाधान—आत्मा के कम से कम ऐसे विशुद्ध परिणाम जो सम्यक्त्व को उत्पन्न कर देवें, उन विशुद्ध परिणामों के द्वारा जो द्रव्यकर्म निर्जीर्णरस होकर खिरते हैं, उन द्रव्यकर्मों के झड़ने को अविपाक द्रव्यनिर्जरा कहा

गया है। साधारण मिथ्यात्वीजीव के ऐसे विशुद्धपरिणाम, जो द्रव्यकर्मों को निर्जीर्णरस कर देवें, नहीं होते हैं अतः उसके अविपाकद्रव्यनिर्जरा संभव नहीं है। इसके लिये तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय १, सूत्र ४ वार्तिक १९ की टीका, देखनी चाहिये।

—जै. ग. 5-12-74/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अविपाक निर्जरा पुण्य भाव नहीं है

शंका—आपने लिखा है कि आत्मा के जो परिणाम (अविपाकनिर्जरा के नाम से पुकारी जानेवाली) द्रव्य-निर्जरा के कारण हैं उनको भावनिर्जरा कहते हैं। शंका—अविपाक निर्जरा तो पुण्यभाव से होती है, उसको भाव-निर्जरा कैसे कहा जा सकता है। पुण्यभाव से तो पुण्यबन्ध पड़ता है और भावनिर्जरा तो स्वभावभाव है। पुण्यभाव को स्वभावभाव कहना कहाँ तक सत्य है ? आप ही सोचिये।

भावनिर्जरा तो चारित्रगुण की अंश में शुद्ध अवस्था है और चारित्रगुण में श्रद्धा तथा ज्ञानगुण का अभाव है। तब श्रद्धा (दर्शन) तथा ज्ञान से निर्जरा मानना कहाँ तक योग्य है ? खुलासा करें।

समाधान—अविपाकनिर्जरा पुण्यभाव नहीं है। अविपाकनिर्जरा को शुभभाव लिखा हो ऐसा मेरे देखने मे नहीं आया। अविपाकनिर्जरा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से होती है, यह तीनों आत्मा के निज-भाव हैं। भावनिर्जरा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से भी गौणरूप से होती है। असंयतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी चौकड़ी की विसंयोजना के लिए जो तीन करणरूप परिणाम होते हैं उनके कारण निर्जरा होती है। अतः ये तीन करणरूप परिणाम निर्जरा के हेतु होने से भावनिर्जरा कहलाते हैं। इसीप्रकार जब असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्वप्रकृतियों की क्षपणा होती है उससमय भी तीन करणरूप परिणाम होते हैं जो निर्जरा के हेतु हैं। अतः उक्त तीन करणरूप परिणाम भी निर्जरा हैं। इसप्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि के भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से भावनिर्जरा गौणरूप से होती है।

—जै. स. 7-6-56/VI/ क. दे. गया

सम्यक्त्वी के भोग भी निर्जरा का कारण ?

शंका—सम्यग्दृष्टि के भोगनिर्जरा का कारण बतलाया है। यहाँ भोग से भोगोपभोग की सामग्री से अभिप्राय है या कर्म का उदय आना ? क्या उससमय लेशमात्र भी बन्ध नहीं होता ?

समाधान—वीतरागसम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण हैं ऐसा समयसार में कहा गया है—

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं, सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियोंकरि चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वे सब ही निर्जरा के निमित्त हैं।

इसकी टीका मे श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—"वीतरागस्योपभोगो निर्जरायामैव।" अर्थात्—वीतराग के उपभोग निर्जरा के लिये हैं।

इसी गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं—"अत्राह शिष्यः रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जरा-कारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः संति, ततःकथं निर्जराकारणं भवतीति। अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः। अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं।" अर्थात्—शिष्य पूछता है कि—राग-द्वेष-मोह का अभाव निर्जरा का कारण कहा गया है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के रागादि होते हैं उसके निर्जरा कैसे हो सकती है? आचार्य उत्तर देते हैं कि इस समयसार ग्रंथ मे वास्तव मे वीतरागसम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिये (इस समयसार ग्रंथ मे वीतरागसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से कथन है)।

इससे सिद्ध है कि वीतरागसम्यग्दृष्टि के भोगसामग्री मे राग नहीं है, अतः वीतरागता के कारण निर्जरा होती है, किन्तु सरागीजीव के भोगसामग्री मे राग है अतः राग के कारण उसके बंध भी होता है।[1]

—जै. ग. 14-10-65/X/ ब्र. पन्नालाल

मोक्षतत्त्व

नित्यनिगोद से निकलकर सीधे मनुष्य बनकर मोक्ष की प्राप्ति

शंका—ऐसा कथन कहाँ मिलेगा जिससे यह सिद्ध हो सके कि नित्यनिगोद से निकलकर जीव सीधा मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जा सकता है?

समाधान—"अनादिकाले मिथ्यात्वोदयोद्रेकान्नित्यनिगोदपर्यायमनुभूय भरतचक्रिणः पुत्रा भूत्वा भद्रविवर्द्धनादयस्त्रयोविंशत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुदेवपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः अल्पकालेनैव सिद्धाः संप्राप्तानंतज्ञानादिस्वभावाःशश्वन्निरस्त-द्रव्य-भाव-कर्मसंहतयश्च।" (मूलाराधना पृ० ६६)

अर्थ—अनादिकाल से मिथ्यात्व का तीव्र उदय होने से अनादि काल पर्यंत जिन्होंने नित्य निगोद पर्याय का अनुभव लिया था ऐसे ९२३ जीव निगोद पर्याय छोड़कर भरत चक्रवर्ती के भद्र विवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनको आदिनाथ भगवान् के समवसरण मे द्वादशांग वाणी का सार सुनने से वैराग्य हो गया। ये राजपुत्र इसी भव मे त्रसपर्याय को प्राप्त हुए थे। इन्होंने जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधना से अल्पकाल मे ही मोक्ष लाभ लिया।

—जै. ग. 12-12-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

सिद्धों की अवगाहना के प्रमाण में दो मत

शंका—तिलोयपण्णत्ती भाग २ पृ० ८७३ श्लोक ६ में सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष जघन्य ३॥ हाथ बतलाई है, किन्तु गाथा ११ में उत्कृष्ट अवगाहना ३५० धनुष जघन्य $\frac{3}{4}$ हाथ बतलाई है, ऐसा क्यों?

१. सम्यग्दृष्टि की महिमा दिखावने को जे तीव्रबंध के कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे, तिन भोगादिक कौं होते संते भी श्रद्धानशक्ति के बल तैं मन्दबन्ध होने लगा; ताकौं तौं गिन्या नाहीं अर तिसही बल तैं निर्जरा विशेष होने लागी; तातैं उपचार तैं भोग को भी बन्ध का कारण न कह्या; निर्जरा का कारण कह्या विचार किए भोग निर्जरा के कारण होय, तौं तिसकौं छोड़ि सम्यग्दृष्टि मुनिपद का ग्रहण काहे कौं करै?
मो० मा० प्र० अ० ८ पृ० ४१८

समाधान—इस विषय मे दो मत हैं। कुछ आचार्य तो चरमशरीर की अवगाहना से किंचित् ऊन सिद्धो की अवगाहना का कथन करते हैं। अन्य आचार्य चरमशरीर की अवगाहना का दो तिहाई (२/३) सिद्धों की अवगाहना का कथन करते हैं। शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है अत: सिद्धो की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष बतलाई। ५२५ धनुष का दो तिहाई (२/३) ३५० धनुष होता है, अत: दूसरे आचार्य ने सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ३५० धनुष बतलाई। इसीप्रकार जघन्य अवगाहना ३½ हाथ का २/३ भाग २⅓ हाथ होता है। तिलोयपण्णत्ती में उक्त दोनो मतो का उल्लेख है। इससमय केवली श्रुतकेवली का अभाव यहाँ पर है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों मे कौनसा सत्य है।

—जै ग. 25-7-66/IX/ ब्र सच्चिदानन्द

कुम्हारचक्र तथा मुक्तों की ऊर्ध्वगति में एकदेश साम्य है

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४७० पृ० २० "इसीप्रकार संसार में स्थित आत्मा ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये जो अनेक बार प्रणिधान किया है उसका अभाव होने पर भी उसके आवेशपूर्वक मुक्तजीव का गमन निश्चित होता है।" प्रश्न यह है कि मोक्ष के लिये जो प्रयत्न किया उसका आवेश क्या रहता है ? कुम्हार का चक्र तो लगातार वही क्रिया करता रहता है, किंतु इस दृष्टान्त में यह बात नहीं, तब इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—पूर्वप्रयोग के लिये कुम्हार-चक्र का दृष्टान्त देकर यह बतलाया गया है कि चक्र के भ्रमण का कारण जो डंडा उसके न रहने पर भी अथवा हट जाने पर भी जिसप्रकार चक्र घूमता है उसीप्रकार मोक्ष के प्रणिधान का अभाव हो जाने पर भी जीव मोक्ष के लिये गमन करता है। यहाँ पर मात्र भ्रमण के कारण का अभाव हो जाने पर भ्रमण का होना, इतना दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समानता ग्रहण करनी। यदि दृष्टान्त और दार्ष्टांत सर्वथा समान हो जाय तो दृष्टान्त ही दार्ष्टान्त हो जायगा। कहा भी है—

"न हि सर्वोदृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके भवितुमर्हति। अन्यथा दृष्टान्त एव न स्यादिति।"

प्रमेयरत्नमाला ३।२।

अर्थ—दृष्टान्त का सर्व ही धर्म तो दार्ष्टान्त विषै होय नाही, जो सर्व ही धर्म मिलै तौ दृष्टान्त नहीं, दार्ष्टान्त ही होय है।

अतः कुम्हारचक्र और मुक्तजीवों की ऊर्ध्वगति इन दोनो मे एकदेश समानता है सर्वथा समानता नहीं है।

—जै. ग. 27-12-65/VIII/ र ला. जैन

सिद्ध भी कथंचित् सुखी कथंचित् सुखी नहीं, कथंचित् मुक्त कथंचित् अमुक्त

शंका—अनेकान्त तो खिचड़ीवाद है। क्या जीव भी कथंचित् अजीव हो सकता है ? क्या सिद्ध भगवान कथंचित् 'सुखी' और कथंचित् 'सुखी नहीं' हैं ? क्या सिद्ध भगवान कथंचित् मुक्त कथंचित् अमुक्त हैं ? यदि जीव सर्वथा जीव ही है, सिद्ध भगवान सर्वथा सुखी ही हैं और मुक्त ही हैं तो फिर 'क्रमबद्ध पर्याय' को सर्वथा मानने में एकान्त मिथ्यात्व क्यों कहते हो ? 'वस्तु ऐसी भी है और ऐसी नहीं भी है' इसप्रकार का खिचड़ीवाद जैनमत में नहीं है।

समाधान—एक जीवद्रव्य में 'प्रमेयत्व' 'वस्तुत्व' 'अगुरुलघुत्व' 'अमूर्तत्व' 'जीवत्व' 'चेतनत्व' 'अस्तित्व' आदि अनेक धर्म हैं। प्रत्येक धर्म का लक्षण भिन्न है। अतः भिन्न भिन्न गुणों की अपेक्षा से एक ही द्रव्य को 'आत्मा' 'प्राणी' 'सत्त्व' 'भूत' 'जीव' आदि अनेक संज्ञाएँ दी गई हैं। भिन्न धर्मों की दृष्टि से ही सिद्ध भगवान की 'सहस्रनाम स्तोत्र' मे एक हजार नामों द्वारा स्तुति की गई है। अतः 'जीवत्व' धर्म की अपेक्षा से जो द्रव्य 'जीव' है वह ही द्रव्य अन्य धर्मों की अपेक्षा से अजीव है। यदि अन्य धर्मों की अपेक्षा से भी उस द्रव्य को जीव स्वीकार किया जावेगा तो अन्य धर्म भी 'जीवत्व' धर्मरूप हो जाने से संकरदोष का प्रसंग आजायगा अथवा अन्य धर्मों के अभाव का प्रसंग आजायगा। और 'अस्तित्व' आदि अन्य धर्मों के अभाव मे द्रव्य के अभाव का प्रसंग आजायगा। अतः एक ही आत्मा कथंचित् जीव है और कथंचित् अजीव है अर्थात् जीव-अजीव स्वरूप है। श्री अकलंकदेव ने स्वरूप-सम्बोधन में कहा भी है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥ ३ ॥

अर्थात्—प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतनरूप है और ज्ञानदर्शन की अपेक्षा से चेतनरूप भी है। दोनों अपेक्षाओं से चेतन-अचेतन स्वरूप है। इसीप्रकार आत्मद्रव्य जीव भी है और अजीव भी है।

सिद्धभगवान कथंचित् सुखी भी हैं और कथंचित् सुखी नहीं भी हैं। अतीन्द्रिय आत्मिक सुख की अपेक्षा सिद्ध भगवान सुखी हैं, किन्तु इन्द्रियजनित सुख से रहित होने के कारण वे ही सिद्ध भगवान सुखी नहीं भी हैं। कहा भी है—

जस्सोदएण जीवो सुहं व दुक्खं व दुविहमणुभवई।
तस्सोदयक्खएण दु सुह दुक्ख विवज्जिओ होई ॥

अर्थात्—जिसके उदय से जीव सुख और दुःख इन दोनो का अनुभव करता है, उसके उदय का क्षय होने से वह सुख और दुःख दोनों से रहित हो जाता है।

सिद्धभगवान मुक्त भी हैं और अमुक्त भी हैं। यदि सर्वथा मुक्त माना जायगा तो ज्ञान आदि से भी मुक्त हो जाने के कारण द्रव्य के अभाव का प्रसंग आजायगा और यदि सर्वथा अमुक्त माना जावे तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भी मुक्त न होने के कारण 'सिद्धत्व' के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अतः सिद्ध भगवान कथंचित् मुक्त कथंचित् अमुक्त हैं। कहा भी है—

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥ १ ॥ स्वरूप संबोधन

मंगलाचरण करते हुए आचार्य श्री अकलंकभट्ट कहते हैं कि जो अविनश्वर ज्ञानमूर्ति परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से, रागादिक भावकर्मों से व शरीर आदि नोकर्मों से मुक्त है और सम्यग्ज्ञान आदि स्वाभाविक-गुणों से अमुक्त है उस परमानंदमय परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

इसीप्रकार किसी अपेक्षा नियति (क्रमबद्ध पर्याय) और किसी अपेक्षा से अनियति (अक्रमबद्ध पर्याय) है।

अनेकान्त खिचड़ीवाद नहीं है जैसा कि शास्त्रीजी ने कहा है। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है। वस्तुस्वरूप को खिचड़ीवाद कहना शास्त्रीजी को कहाँ तक शोभा देता है। जिसप्रकार पीलिया रोग वाले को सफेद वस्तु भी पीली

दिखाई देती है, उसीप्रकार एकान्तमिथ्यात्व से ग्रसित प्राणी को अनेकान्तात्मक वस्तु भी एकान्त ही दिखाई देती है। ऐसे प्राणी के लिये स्याद्वाद से मुद्रित जिनवाणी परम औषधि है। यदि वह एकान्तवाद से दूषित श्रुतरूपी कुपथ का सेवन करेगा तो संसाररूपी रोग बढ़ता ही जावेगा।

—जै. ग. 13-12-62/X/ ही. एल. शास्त्री

मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्ष मानना एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—क्या मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है या अनुकूल बाह्य निमित्तों की भी आवश्यकता है ?

समाधान—मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा एकान्तनियम नहीं है। मोक्षप्राप्ति के लिये अनेक कारणों में से एक कारण आत्मयोग्यता भी है। कार्य की सिद्धि अनेक कारणों से होती है एक कारण से कार्य की सिद्धि नहीं होती।[1] जितने भी भव्यजीव हैं उन सबमें मोक्षप्राप्ति की योग्यता है। कहा भी है—'जो जीव सिद्धत्व अर्थात् सर्वकर्म से रहित मुक्तिरूप अवस्था के पाने के योग्य हैं वे भव्यसिद्ध हैं।'[2] इसी के विशेषार्थ में पं० फूलचन्दजी ने १९३९ में लिखा है—'सिद्ध अवस्था की योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्री के नहीं मिलने से सिद्ध पद की प्राप्ति नहीं होती है।' यदि मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्षप्राप्ति होती तो सब ही भव्य जीव मोक्ष में होते और संसार में भव्यों का अभाव हो जाने से अभव्यों के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इसप्रकार संसारी जीवों के अभाव से मुक्त जीवों के अभाव का भी प्रसंग आ जायगा क्योंकि समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्षसहित उपलब्ध होते हैं इस नियम के अनुसार प्रतिपक्ष के अभाव में विवक्षित पदार्थ का भी अभाव हो जायगा (ध० पु० १४ पृ० २३४, ज० ध० पु० १ पृ० ५२-५३)।

मुक्तिप्राप्ति के लिये आत्मयोग्यता के साथ-साथ मनुष्यपर्याय, द्रव्य पुरुषवेद, वज्रवृषभनाराचसंहनन, उत्तम कुल आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और सम्यग्दर्शनादि भाव की भी आवश्यकता है। अष्टसहस्री कारिका ८८ में भी कहा है कि दैव और पुरुषार्थ दोनों से मोक्ष की सिद्धि होय है। अतः मात्र उपादान की योग्यता से कार्य की सिद्धि मानने वालों के एकान्त मिथ्यात्व का दूषण आता है। जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। उसको नहीं छोड़ना चाहिये। मात्र आत्म-योग्यता से मुक्ति मानने पर स्त्री (महिला) की मुक्ति का निषेध नहीं हो सकेगा, जिनके पूर्व संस्कार महिला-मुक्ति के हैं वे ही संस्कारवश मात्र आत्मयोग्यता से मुक्ति मानते हैं।

—जै. ग. 5-12-63/IX/ पन्नालाल

म्लेच्छों के मोक्ष का अभाव

शंका—म्लेच्छ उसी भव से मोक्ष जा सकता है या नहीं ?

समाधान—कर्मभूमिज म्लेच्छ दो प्रकार के हैं। पाँच म्लेच्छ खंडों में उत्पन्न होने वाले म्लेच्छ और आर्यखण्ड में उत्पन्न होनेवाले शक, यवन आदि म्लेच्छ। आर्यखण्ड के म्लेच्छ तो मुनिदीक्षा के भी योग्य नहीं हैं, क्योंकि आर्यखण्ड के चार वर्णों में से उत्तम तीनवर्णों वाले दीक्षा के योग्य हैं [प्रवचनसार] म्लेच्छ खण्ड में उत्पन्न होने-

१. "सामग्री जनिका, नैकं कारणं" (रा. वा. अ. ५ सू. १७)
२. "सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा। [ध. पु. १ पृ. १५१ तथा गो. जी. ५५८]

वाले म्लेच्छमनुष्य चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड मे आवें और म्लेच्छ राजाओं का चक्रवर्ती आदि के साथ विवाहादि संबंध पाइए है तिनके दीक्षा का ग्रहण सभवे है। [ल० सा० गाथा १६५ की संस्कृत टीका]

इन म्लेच्छ के भी ऐसे उत्कृष्टसयम लब्धिस्थान नहीं होते जो उसी भव से मोक्ष हो सके। ऐसा लब्धिसार गाथा १९५ की सस्कृत टीका से प्रतीत होता है। विद्वत्मडल इस पर विशेष विचारने की कृपा करें।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ र. ला. जैन

गणधरों के तद्भव मोक्षगामी होने का नियम नहीं

शंका—क्या गणधर तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं ?

समाधान—सभी गणधरों के तद्भव मोक्षगामी होने का नियम नहीं है।

—जै. ग. 23-5-63/ / प्रो. मनोहरलाल

६ मास ८ समय के ६०८ वें भाग में एक जीव की मुक्ति का नियम नहीं

शंका—६ महिने ८ समय में ६०८ जीव निगोद से निकलते हैं और इतने समय में इतने ही जीव मोक्ष जाते हैं, यह नियम है। यह ६ महीना ८ समय का काल कब से कब तक का है। अर्थात् कब से आरम्भ होकर चलता है अर्थात् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि कोई काल आरम्भ होने के साथ या और किसी प्रकार। यदि ऐसा न हो और कभी का ६ महीना ८ समय माना जाय तब तो ६ महीने ८ समय के पूरे काल मे बराबररूप से विभक्त समयों में मोक्ष होना व निगोद से निकलना होना चाहिये ?

समाधान—छह महिने और आठसमय की गणना अनादिकाल से चली आ रही है। छहमहिने आठसमय की ऐसी सख्या है कि जिससे एकवर्ष या कल्पकाल पूरा विभाजित नही होता। अत छद्मस्थ यह नहीं जान सकता कि छह महिने और आठसमय काल किस समय प्रारम्भ हुआ और किस समय समाप्त होगा। किन्तु मात्र छद्मस्थ के न जानने से, आर्षग्रंथ का कथन झूठ या अप्रमाण नहीं हो सकता। जिसप्रकार हम यह नही जानते कि अमुक निश्चित समय हमको दर्शनोपयोग होता है या इससमय हो रहा है तो क्या दर्शनोपयोग का अभाव है ? दर्शनोपयोग अवश्य है, किन्तु हमारा ज्ञान इतना कम है कि हम उसको नही जान सकते।

श्री गौतम गणधर ने दिव्यध्वनि के आधार पर द्वादशाङ्ग मे नानाजीवो की अपेक्षा मोक्ष जाने का उत्कृष्ट अन्तर छह महिना कहा है और निरंतर मोक्ष जाने का उत्कृष्ट काल ८ समय कहा है अतः छहमहिने आठसमय का काल ६०८ बराबर भागो मे विभक्त नही है। कहा भी है—

चदुण्हं खवगाणं अजोगिकेवलीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि, णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं ॥१६॥ उक्कस्सेण छम्मासं ॥१७॥ ध० पु० ५ पृ० २०-२१।

अर्थ—चारों क्षपक और अयोगिकेवली का अन्तर कितने काल होता है ? नानाजीवो की अपेक्षा जघन्य से एकसमय होता है और उत्कृष्ट अन्तरकाल छहमास होता है।

"अट्ठसमयाहिय-छ-मासब्भतरे खवगसेढि पाओग्गा अट्ठसमया हवंति।" [ध० पु० ३ पृ० ९२]

अर्थ—आठसमय अधिक छह महिने के भीतर निरन्तर क्षपकश्रेणी के योग्य आठसमय होते हैं। साधु-पुरुषों के लिये आर्षग्रंथ ही चक्षु हैं। उसी के आधार पर कुछ कहा जा सकता है मात्र मन की कल्पनाओ पर आर्ष-वाक्यों का विरोध नहीं होना चाहिये।

—जै. ग. 27-12-65/VIII/ र. ला. जैन

६ मास ८ समय में ६०८ या ५९२ जीव मोक्ष जाते हैं

शंका—६०८ जीवों के ६ महिने ८ समय में नियम से मोक्ष में जाने और इतने ही जीवों का नित्य निगोद से निकलने का कथन कहाँ पाया जाता है? क्या यह संख्या निश्चित है या इसमें हीन अधिकता भी हो सकती है?

समाधान—श्री ज० ध० पु० ४ पृ० १०० पर कहा है कि छहमहीना आठसमय में छहसौआठ जीव जाते हैं और उतने ही जीव नित्यनिगोद से निकलते है। क्योंकि आय के अनुसार व्यय होता है।

"आयाणुसारिवयत्तादो। अट्ठुत्तरछस्सदजीवेसु चउगदिणिगोदेहिंतो णिव्वाणं गदेसु णिच्चणिगोदेहिंतो चउगदिणिगोदेसु एत्तिया चेव जीवा अट्ठसमयाहियछम्मासंतरेण पविसंति त्ति परमगुरूवदेसादो।"

ज० ध० पु० ४ पृ० १००

किन्तु श्री यतिवृषभाचार्य के मतानुसार ५९२ जीव ६ महीना आठसमय मे मोक्ष जाते हैं।

तीदसमयाण संखे पणसयबाणउदिरूवसंगुणिदं।
अउसमयाधिय छम्मासय भजिदं णिव्वुदा सव्वे ॥४।२९६०॥ (ति० प०)

अर्थ—अतीतकाल के समयो की सख्या को पाँचसौ बानवें रूपो से गुणित करके उसमे आठ समय अधिक छहमासो के समयो का भाग देने पर लब्धराशि प्रमाण सब मुक्तजीवो की संख्या है।

यह तो निश्चित है कि छह महीने आठसमय मे ६०८ या ५९२ जीव नित्यनिगोद से निकलकर व्यवहार-राशि मे आवेंगे किन्तु, यह निश्चित नही है कि विवक्षित छह महीना आठ समय मे अमुक-अमुक जीव नित्यनिगोद से निकलेंगे और न इसप्रकार का कथन आर्षग्रन्थो मे पाया जाता है।

—जै ग 4-1-68/VII/ ज्ञा. कु. बड़जात्या

संहनन मोक्ष में साधक

शंका—यदि सहनन की कमीवाले को वैराग्य आ जाता है। तो उसको मोक्ष क्यों नहीं होता।

समाधान—सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं। वह सुख स्पष्टतया मोक्ष में है, वह मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय के सिद्ध होने पर होता है। वह रत्नत्रय दिगम्बरसाधु के होता है। उक्त साधु की स्थिति शरीर के निमित्त होती है।[1] लोक मे मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है

१. सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटम्।
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः;
कालेक्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवीप्रायस्ततोवर्तते ॥८॥ [पद्मनन्दिपंचविंशति अ ७]

बहु मुनियों के द्वारा शरीर को शक्ति से धारण किया जाता है।[1] सम्यग्दर्शन संज्ञी अर्थात् मनवाले के ही होता है असंज्ञी जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता।[2] द्रव्यमन के बिना भावमन होता नहीं (ध. पु. १ पृ. २६०)। इसप्रकार शारीरिक शक्ति तथा द्रव्यमन भी मोक्ष प्राप्ति में सहकारीकारण है। अन्तर्मुहूर्त की स्थितिवाले ध्यान के लिये भी उत्तमसंहनन की आवश्यकता कही गई है।[3] अतः जिसके संहनन की कमी है उसके वैराग्य तो हो सकता है, किन्तु शक्ति के अभाव मे कारण शुद्धात्मस्वरूप मे स्थित नहीं रह सकता, अतः उसको मोक्ष नहीं होता। कहा भी है— "विशिष्ट संहननादि शक्त्यभावान्निरंतरं तत्र स्थातुं न शक्नोति।" "संहननादिशक्त्यभावाच्छुद्धात्मस्वरूपं स्थातुम-शक्यत्वाद्वर्तमानभवे पुण्यबंध एव, भवान्तरे तु परमात्मभावनास्थिरत्वे सति नियमेन मोक्षो भवति॥" (पंचास्तिकाय गाथा १७० और १७१ पर श्री जयसेनाचार्य की टीका) अर्थात्—संहननादि की शक्तिके अभाव के कारण शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थित होने के लिये अशक्य होने से वर्तमानभव मे पुण्यबन्ध करके भवान्तर मे नियम से मोक्ष जाता है। यद्यपि संहनन पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृति है तथापि सर्वोत्कृष्ट संहनन बिना मोक्ष नहीं जा सकता। अतः संहननकी कमी मोक्ष के लिये बाधक कारण है।

—जै. ग. .... / ...... / ब्र. पन्नालाल

छहों संस्थानों से मोक्ष

शंका—छहों संस्थानों मे से कौनसे संस्थान से मोक्ष है ? क्या वामनसंस्थान से भी मोक्ष है ?

समाधान—छहो संस्थान का उदय तेरहवेंगुणस्थान तक है क्योंकि संस्थाननामकर्मपुद्गलविपाकी है। तेरहवेंगुणस्थान के अन्त मे छहोसंस्थानों की उदयव्युच्छित्ति होजाती है (गो. क. गाथा २७१ टीका)। चौदहवें-गुणस्थान मे किसी भी संस्थान का उदय नहीं रहता और मोक्ष चौदहवेंगुणस्थान से होता है। तेरहवेंगुणस्थान मे जब छहोंसंस्थानो मे से किसी भी एक संस्थान का उदय संभव है तो वामनसंस्थान का उदय भी हो सकता है। किन्तु उससे शरीर मे इतना सूक्ष्म वामनपना होता है कि शरीर विडरूप नहीं हो जाता। कर्म का अनुभव उदय है। (प्राकृत पंचसंग्रह पृ० ६७६)। कर्म फल देने के समय मे 'उदय' संज्ञा को प्राप्त होता है (जयधवल पु० १ पृ० २९१)।

—जै ग 4-7-63/IX/ ब्र. सुखदेव

सिद्धों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य

शंका—सिद्धो में भी उत्पाद, व्यय, ध्रुव कहा जाता है। व्यय किसप्रकार है ?

समाधान—सिद्धजीव द्रव्य की शुद्ध अवस्था है। उस शुद्धअवस्था मे जीवद्रव्य भी तो है ही। द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा गया है और 'सत्' को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप कहा है (त. सू. अध्याय ५ सूत्र २९, ३०)। अतः सिद्धअवस्था मे भी जीव के अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। जिसके कारण प्रतिसमय

१. मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात्। [प. पंच. ६/१२ पूर्वार्ध]

२. एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिगुणट्ठाणे ॥३६॥ [धवल १/२६१]

3. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। [त. सू. ९/२७]

पूर्व-पूर्व पर्याय का व्यय और नवीन-नवीनपर्याय का उत्पाद होता रहता है। यह परिणमन शुद्ध होने के कारण सदृशपरिणमन होता है। आत्मा मे प्रतिसमय जानने की क्रिया होती रहती है। अथवा ज्ञेयपदार्थों मे प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय होता रहता है अतः केवलज्ञान मे भी ज्ञेयो की अपेक्षा प्रतिसमय परिणमन (उत्पाद, व्यय) होता रहता है (प्र. सा. गा. १९, श्री जयसेनाचार्य की टीका; ज. ध पु १ पृ. ५१ व ५५ वृहद्द्रव्यसंग्रह पृ. ४६ संस्कृत टीका) पूर्व-पूर्व पर्याय के व्यय की अपेक्षा सिद्धो मे भी प्रतिसमय उत्पाद व व्यय सिद्ध हो जाता है।

—जै ग 13-6-63/IX/ ब्र सुखदेव

शुद्धात्मा में योगशक्ति का अभाव

शंका—योग आत्मा की शक्ति है और शक्ति का कभी अभाव होता नहीं है। अतः मुक्तजीवों में भी योगशक्ति होना चाहिये ?

समाधान—सिद्धो मे योगशक्ति नही है, क्योकि आत्म-परिस्पन्दरूप क्रिया का अभाव है। सिद्धो मे तो निष्क्रियत्वशक्ति है। श्री समयसार मे भी कहा है—"सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपानिष्क्रियत्वशक्तिः।" अर्थात् समस्तकर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशो की निष्पन्दता स्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्मों के कारण आत्मप्रदेशो मे परिस्पद होना था, कर्मों का अभाव हो जाने पर मुक्तआत्मा मे स्वाभाविक-निष्क्रियत्वशक्ति प्रगट हो जाती है। सिद्धो मे जब निष्क्रियत्वशक्ति है तो योगशक्ति अर्थात् क्रियावतीशक्ति नही हो सकती। यहाँ पर भी परिस्पद को क्रिया कहा है।

गो० जीवकाण्ड मे निम्नलिखित गाथा आई है; जिसके आधार पर मुक्तजीवों मे योगशक्ति कही जाती है।

पोग्गलविवाई देहोदयेण मणवयण—काय—जुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥

अर्थात्—पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मोदय से, मन, वचन, काययुक्त जीव की उसशक्ति को योग कहते हैं जो कर्मों के आगमन मे कारण है।

इस गाथा मे "मन, वचन, काय से युक्त जीव की शक्ति है" इस पदपर से स्पष्ट कर दिया कि यह शक्ति संसारीजीव को है, मुक्तजीव की नही है, क्योकि मुक्तजीव मन, वचन, काययुक्त नही होते हैं। "पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से" इस पद से यह स्पष्ट करा दिया कि ससारी जीव की यह शक्ति स्वाभाविक शक्ति नहीं है, किन्तु कर्मोदयकृत है। क्योकि जहाँ तक शरीर नामकर्म का उदय रहता है वहाँ तक अर्थात् तेरहवेंगुणस्थान तक कर्मों के आगमन मे कारणरूप शक्ति अर्थात् योग रहता है। चौदहवें गुणस्थान मे शरीरनाम कर्मोदय का अभाव हो जाता है अत. इस शक्तिरूप उपयोग का भी अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मुक्त जीवो मे भी कर्मों के आगमन मे कारणरूप शक्ति का अभाव है। श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने मुक्त जीवो मे योगशक्ति का सद्भाव नहीं बतलाया है। आर्षग्रन्थ के आधार के बिना मुक्तजीवों मे योगशक्ति कहना उचित प्रतीत नहीं होता। सिद्ध भगवान मे चारित्र का अभाव और योग का सद्भाव मानना कहाँ तक ठीक है ? विद्वान इस पर गम्भीरता से विचार करें।

—जै. ग. 28-2-66/IX/ र. ला. जैन

मोक्षमार्ग में अवलम्बन

शंका—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप जो मोक्षमार्ग है वह किसके अवलम्बन से होता है ? क्या पारिणामिकभाव के अवलम्बन से होता है ?

समाधान—सात तत्त्वों के श्रद्धान व ज्ञान से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है कहा भी है 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ 'जीवाजीवास्रवबन्ध संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ (मो. शा. प्रथम अध्याय) इसीप्रकार समयसार मे भी कहा है—

'भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जर बंधोमोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥'

नियमसार गाथा ५ मे भी कहा है—

'अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।'

बृहद्द्रव्यसंग्रह में भी कहा है—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेस–विमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

इसप्रकार से जीवादि सात तत्त्वो के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और वह सम्यग्दर्शन निश्चय से आत्मा का ही परिणाम है अतः निश्चय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है और दुरभिनिवेश (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) से रहित सम्यग्ज्ञान है ।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ व ३६ मे चारित्र का लक्षण कहा है । निश्चयसम्यक्चारित्र का लक्षण इसप्रकार कहा है—'ससार के कारणों को नष्ट करने के लिये ज्ञानी जीव के जो बाह्य और अन्तरग क्रिया का निरोध है वह निश्चयचारित्र है ।' चारित्र मे भी ध्यान की मुख्यता है क्योकि कर्मों की विशेष निर्जरा ध्यान से होती है। इस ध्यान मे किसका अवलम्बन होता है ध्येय क्या होता है ? इस विषय मे बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५५ मे कहा है जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निस्पृहवृत्ति (समस्त इच्छारहित) होते हुए एकाग्रचित्त होते हैं तब उनका वह ध्यान निश्चयध्यान होता है ।' ध. पु १३ पृ ७० पर ध्येय का कथन करते हुए कहा है कि 'जिनदेव, द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ, बारह अनुप्रेक्षा, श्रेणी आरोहण विधि, तेईस वर्गणायें, पांच परिवर्तन, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग अथवा यह लोक ध्यान के आलम्बन से भरा हुआ है, क्योंकि क्षपक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है ।' आज्ञाविचय, विपाकविचय और सस्थानविचय ये सब धर्मध्यान हैं । मात्र पारिणामिकभाव के आलम्बन से ध्यान होता है, ऐसा एकान्त नहीं है, किन्तु नीचली अर्थात् प्रारम्भिक अवस्था मे आत्मा के शुद्ध स्वरूप अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को ध्येय बनाना चाहिये, क्योंकि वहां पर अन्य ध्येयों में रागादि की उत्पत्ति की सम्भावना है ।

पारिणामिकभाव तो न बन्ध का कारण है और न मोक्ष का कारण है । क्योकि पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त होने से नित्य हैं । नित्य में अर्थ-क्रिया बनती नहीं । स्पष्ट है कि अर्थक्रिया क्रमशः या युगपत् होती है और क्रम तथा यौगपद्य नित्य मे बनते नहीं । पारिणामिकभाव न शुद्ध हैं, न ही अशुद्ध हैं, क्योंकि वह नित्य हैं । नित्य होने से न वह कारण है और न कार्य है । कहा भी है—

ओदइया बंधयरा उवसम खय-मिस्सया य मोक्खयरा ।
भावो दु पारिणामिओ करणोभय-वज्जियो होदि ॥३॥

अर्थ—औदयिकभाव बंध करनेवाले हैं; औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्षके कारण हैं, तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं (ध पु. ७ पृ ९)

इस सबका सार यह है कि रागभाव बन्ध का कारण है और वीतरागता मोक्ष का कारण है। कहा भी है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥ (समयसार)

अर्थात्-रागी कर्मों को बांधता है, वीतरागी कर्मों से छूट जाता है, यह जिन भगवान का उपदेश है।

—जै. ग. 23-5-63/IX/ प्रो. मनोहरलाल जैन

सिद्धों में किस कर्म के क्षय से कौनसे गुण का प्रादुर्भाव होता है ?

शंका—किस कर्म के क्षय से कौनसा गुण सिद्धों में प्रगट होता है ? सिद्धों में अवगाहनत्व नामका गुण किस कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है ? और उसका क्या कार्य है ?

समाधान—श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'तत्त्वार्थसार' के मोक्षतत्त्व वर्णन के श्लोक ३७-४० में कर्मक्षय की अपेक्षा सिद्धों के गुणों का कथन किया है।

ज्ञानावरणहानान्ते, केवलज्ञानशालिनः ।
दर्शनावरणच्छेदादुद्यत् केवलदर्शनाः ॥३७॥
वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।
मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ॥३८॥
आयुः कर्मसमुच्छेदात्, परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः ।
नामकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ॥ ३९ ॥
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरव लाघवाः ।
अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाश्रिताः ॥४०॥

इन श्लोकों में यह बतलाया गया है—ज्ञानावरणकर्म के नाश से केवलज्ञान, दर्शनावरण के नाश से केवल-दर्शन, वेदनीयकर्म के नाश से अव्याबाध, मोहनीयकर्म के नाश से सम्यक्त्व, आयुकर्म के नाश से सौक्ष्म्य, नामकर्म के नाश से अवगाहन, गोत्रकर्म के नाश से अगुरुलघु और अन्तरायकर्म के नाश से अनन्तवीर्य इसप्रकार आठकर्मों के नाश से सिद्धों में आठ गुण होते हैं। यह कथन परमात्मप्रकाश गाथा ६१ की टीका में भी है। तथा ध. पु. ७ पृ. १४ पर भी है।

सिद्धों में अवगाहनगुण नामकर्म के क्षय से होता है। इसका कार्य अनन्तानन्तसिद्धों को अवगाह देना है। उस क्षेत्र में स्थित एकेन्द्रियजीवों को तथा पुद्गल आदि पाँचद्रव्यों को अवगाहन देना। किन्तु समस्त जीवों को समस्त पुद्गलों को, सम्पूर्ण धर्मद्रव्य को, सम्पूर्ण अधर्मद्रव्य को, समस्त कालद्रव्यों को, सम्पूर्ण आकाशद्रव्य को अवकाश देने में असमर्थ होने के कारण सिद्धों का अवगाहनहेतुत्व लक्षण नहीं कहा गया है। आकाशद्रव्य सम्पूर्ण

और समस्त द्रव्यों को अवगाहन देता है, इसलिये आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्व लक्षण कहा गया है। सिद्धो मे इन आठगुणों के अतिरिक्त अन्य भी अनन्तगुण हैं। जैसे—अकषायत्व, वीतरागता, निर्नामता आदि।

—जै. ग./......../......./.......

शंका—सिद्धों में सुख किस कर्म के अभाव से होता है?

समाधान—इस सम्बन्ध मे कोई एकान्त नियम नहीं है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने मोह के क्षय से सिद्ध भगवान मे सुख स्वीकार किया है—'सौख्यं च मोहक्षयात्।'

संस्कृत टीका—'सिद्धानां सौख्यं वर्तते। कस्मात्? मोहक्षयात्।'

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय से सुख प्रगट होता है। सिद्ध भगवान के मोह का क्षय हो जाने से सुख वर्तता है।

श्री श्रुतसागर आचार्य ने भी कहा है—'निर्वाणसुखम् तत्सुखं मोहक्षयात्।'

अर्थात्—निर्वाणसुख मोहक्षय से होता है।

सुख का लक्षण अनाकुलता है (*अनाकुलत्वलक्षणं सौख्य*)। रागद्वेष अर्थात् कषाय से आकुलता होती है। चारित्रमोह का क्षय हो जानेपर रागद्वेष कषाय का अभाव हो जाने से अनुकूलता स्वयमेव हो जाती है। इस अपेक्षा से चारित्रमोह के क्षय से सुख प्रगट होता है, ऐसा आर्षवाक्य है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यं' अर्थात् सुख का कारण स्वभाव (ज्ञान-दर्शन) के घातक (ज्ञानावरण-दर्शनावरण) कर्मों का क्षय है, ऐसा सुख का लक्षण किया है। अतः इनके तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य के मतानुसार चारो घातियाकर्मों के क्षय से सुख होता है, क्योंकि जहाँ पर स्वभाव का घात है वहाँ पर सुख नहीं हो सकता।

अव्याबाधगुण की अपेक्षा, वेदनीयकर्म के क्षय से सुख उत्पन्न होता है, क्योंकि वेदनीयकर्म सुख गुण का प्रतिबन्धक है।

'आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्।'

अर्थात्—ऊर्ध्वगमनस्वभाव का प्रतिबन्धक आयुकर्म का उदय और सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीयकर्म का उदय अरिहंतो के पाया जाता है।

जस्सोदएण जीवो सुहं व दुक्खं व दुविहमणुहवइ।
तस्सोदयक्खएण दु जायदि अप्पत्थणतसुहो॥

अर्थ—जिस वेदनीयकर्म के उदय से जीव सुख और दुख इसप्रकार की दो अवस्थाओं का अनुभव करता है, उसी वेदनीयकर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्तसुख उत्पन्न होता है।

'सिद्धानाम् अक्षजम् इन्द्रियउत्पन्नम् सुखं दुःख न। कस्मात्! वेदनीयकर्मविरहात् नाशात्॥'

अर्थात्—सिद्ध भगवान के इन्द्रियजनित सुखदुःख नहीं है, क्योंकि वेदनीयकर्म का क्षय हो गया है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से सुखोत्पत्ति के विषय मे अनेक कथन हैं जो वास्तविक हैं। जो मोह के क्षय से सुख नही मानता उसने 'स्याद्वाद' को नहीं समझा।

—जै. ग. 6-2-67/IX/.......

कथंचित् चारों गतियों से सिद्धि

शंका—तत्त्वार्थसूत्र दसमअध्याय में गति आदि की अपेक्षा आठ भेद कैसे सम्भव हैं, क्योंकि सिद्ध तो मात्र मनुष्यगति से होते हैं ?

समाधान—द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा न तो बंध है, न मोक्ष है, न मनुष्य आदि गति है। व्यवहारनय की अपेक्षा बंध, मोक्ष आदि सब अवस्थाएँ हैं। मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों की जो असमानजाति द्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है, वह मनुष्यगति है। मनुष्यगति मे ही तप होता है। मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगति मे ही शुक्लध्यान होता है और मनुष्यगति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २९९)। भूतनय (भूतपूर्व प्रज्ञापननय) की दृष्टि से अनन्तर गति की अपेक्षा केवल मनुष्यगति से सिद्ध होता है, किन्तु एकान्तरगति की अपेक्षा चारों गतियो से सिद्ध होते हैं; क्योंकि, किसी भी गति से मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है। प्रत्युत्पन्नदृष्टि से सिद्धगति मे सिद्ध होते हैं (रा० वा० अ० १० सूत्र ९ वार्तिक ४।

अनेकान्तदृष्टि से आगम मे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि आगम मे कथन अनेकान्तदृष्टि से है।

—जै. ग. 10-10-63/IX/ गुलजारीलाल

साक्षात् और परम्परा मोक्षमार्ग

शंका—ससार और मोक्ष का क्या कारण है ?

समाधान – राग-द्वेष संसार के कारण हैं और वीतरागता मोक्ष का कारण है, श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

रत्तोबंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥ समयसार

अर्थ—रागी जीव तो कर्म को बाँधता है तथा वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव कर्म से छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यह जिन भगवान का उपदेश है। इस कारण कर्मों मे प्रीति मत करो, रागी मत होओ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इसकी टीका में लिखते हैं—

"य खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः।"

अर्थ—जो रागी है वह अवश्य कर्मों को बाँधता ही है और विरक्त है वही कर्मों से छूटता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसा यह आगम का वचन है।

रत्तोबंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७८॥ प्रवचनसार

अर्थ—रागी आत्मा कर्मों को बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। यह जीवों के बंध का संक्षेप कथन है, ऐसा निश्चय से जान।

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ।।१७२।। (पंचास्तिकाय)

अर्थ—इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग न करो। ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतरागी होकर भवसागर से तिरता है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"साक्षान्मोक्षमार्गपुरस्सरो हि वीतरागत्वम् ।"

अर्थात्—साक्षात्मोक्षमार्ग में सचमुच वीतरागता ही अग्रसर है।

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने वीतरागता को साक्षात् मोक्षमार्ग कहा है तो क्या उसका प्रतिपक्षी परम्परा मोक्षमार्ग भी है। यदि परम्परा मोक्षमार्ग नहीं तो साक्षात् मोक्षमार्ग भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'सर्व सप्रतिपक्ष है' ऐसा सिद्धान्त है। वह परम्परा मोक्षमार्ग क्या है ?

समाधान—साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपक्षी परम्परा मोक्षमार्ग है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस परम्परा-मोक्षमार्ग का कथन किया है। जो इसप्रकार है—

"अर्हदादिभक्तिरूपपरसमयप्रवृत्तेः साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया मोक्षहेतुत्वसद्भावद्योतनमेतत् ।"

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतव संपओत्तस्स ।। १७० ।। (पंचास्तिकाय)

"यः खलु मोक्षार्थमुद्यतमनाः समुपार्जिताचिन्त्यसंयमतपोभारोऽप्यसंभावित-परम-वैराग्य-भूमिकाधिरोहण-समर्थप्रभुशक्तिः पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायेन नवपदार्थैः सहार्हदादिरुचिरूपां परसमयप्रवृत्तिं परित्यक्तुं नोत्सहते, स खलु न नाम साक्षान्मोक्षं लभते सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिरूपया परम्परया तमवाप्नोति ।"

अर्थ—अर्हंतादि की भक्तिरूप पर-समय प्रवृत्ति में साक्षात् मोक्षमार्ग का अभाव होने पर भी परम्परा मोक्षमार्ग के सद्भाव का द्योतन करते हैं—

गाथार्थ—संयमतप संयुक्त होने पर भी, नव-पदार्थ तथा तीर्थंकर के प्रति जिसका झुकाव है और जिनसूत्रों में जिसको प्रीति है, वह जीव अभी निर्वाण से दूर है। अर्थात् वह परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करेगा।

टीकार्थ—जो जीव वास्तव में मोक्ष के लिये उद्यमी है और अचिन्त्य संयम व तप का धारक है फिर भी परम वैराग्य को प्राप्त करने में असमर्थ है इसलिये नवपदार्थ तथा अर्हंतादि की प्रीतिरूप पर-समय प्रवृत्ति को त्याग नहीं सकता, वह जीव वास्तव में साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता अर्थात् उसी भव से मोक्ष नहीं जाता, किन्तु देवलोक आदि की परम्परा द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी इस गाथा की उत्थानिका में कहा है—

"अथार्हदादि-भक्तिरूपपरसमयप्रवृत्तपुरुषस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेपि परम्परया मोक्षहेतुत्वं द्योतयति ।"

अर्थात्—अर्हंत् आदि भक्ति साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण है।

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुर मणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥ (प्रवचनसार)

अर्थात्—दर्शन और ज्ञान की मुख्यतासहित चारित्र से जीव को इन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती आदि की सम्पदासहित निर्वाण मिलता है।

श्री जयसेनाचार्य भी इसकी टीका मे लिखते हैं—

"सरागचारित्रात् पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्याविशिष्ट पुण्यबन्धो भवति, परम्परा-निर्वाणंचेति।"

अर्थ—सरागचारित्र से मुख्यरूप से विशिष्टपुण्य बंध होता है जिससे देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति मिलती है तथा परम्परासे निर्वाण मिलता है।

"तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्त्यं कुर्वाणाः सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्यं कुर्वन्ति। वचनेन धर्मोपदेशं च शेषमौषधान्नपानादिकं गृहस्थानामाधीनं तेन कारणेन वैयावृत्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः तपोधनानां गौणः। द्वितीय च कारणं निर्विकारचिच्चमत्कारभावना-प्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादि धर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति तपोधन-संसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परंपरया निर्वाणं लभंते इत्यभिप्रायः।"

[प्रवचनसार गाथा २५४ टीका]

अर्थ—शेष तपोधन की वैयावृत्ति करनेवाला मुनि काय से पापरहित वैयावृत्ति का कार्य करता है और वचन से धर्मोपदेश देता है। औषधि और भोजन आदि गृहस्थो के आधीन है। इसलिये मुनियों के वैयावृत्ति गौण है और गृहस्थो के मुख्य है। विषय-कषाय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले आर्त-रौद्र खोटे ध्यान से बचने के लिए तथा मुनियों के संसर्ग से निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश के लाभ के लिये भी गृहस्थ वैयावृत्ति करता है। इसलिये वैयावृत्ति से परम्परया निर्वाण की प्राप्ति होती है।

"सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च। नो पुण्यबन्ध-मात्रमेव।" [प्रवचनसार गाथा २५५ की टीका]

अर्थ—सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से मुख्यपने पुण्यबंध होता है, किन्तु परम्परा से निर्वाण की प्राप्ति होती है, मात्र पुण्यबंध नहीं होता।

इन आर्ष वाक्यो से सिद्ध है कि पूर्व अवस्था में रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण है।

शंका—वीतरागता को मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाया वीतरागता, रत्नत्रय और सम्यक्चारित्र में क्या अन्तर है या वे तीनों एक ही हैं ?

समाधान—वीतरागता, रत्नत्रय और सम्यक्चारित्र इन तीनों का एक ही अभिप्राय है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्रवचनसार

अर्थ—चारित्र वास्तव मे धर्म है, ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है। साम्य मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने साम्यरूप चारित्र का लक्षण इसप्रकार कहा है—

'साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।'

अर्थ—दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीव का परिणाम साम्य अर्थात् वीतरागता है।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १५४ की टीका मे भी कहा है—

'रागादिपरिणत्यभावादनिन्दितं तच्चरितं; तदेव मोक्षमार्ग इति। तत्र यत्स्वभावावस्थितास्तित्वरूपं परभावावस्थितास्तित्वव्यावृत्तत्वेनात्यन्तमनिन्दितं तदत्र साक्षान्मोक्षमार्गत्वेनावधारणीयमिति।'

अर्थात्—रागादिपरिणाम के अभाव के कारण जो अनिंदित है वह चारित्र है, वही मोक्षमार्ग है। स्वभाव मे अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र, जो कि परभावो मे अवस्थित अस्तित्व से भिन्न होने के कारण अत्यन्त अनिंदित है, वह साक्षात् मोक्षमार्गरूप से अवधारना।

वीतरागचारित्र मे ही बंध के हेतु (राग-द्वेष) का अभाव है और इससे ही कर्मों की निर्जरा होती है इसीलिये वीतरागचारित्र को साक्षात् मोक्ष मार्ग कहा गया है।

श्री उमास्वामि ने कहा भी है—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥१०।२॥

अर्थ—बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

शंका—पूर्ण वीतरागता कोनसे गुणस्थान मे हो जाती है ?

समाधान—मोहनीयकर्म रागद्वेष की उत्पत्ति मे मुख्य कारण है। बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में मोहनीयकर्म का क्षय हो जाने से रागद्वेष का अभाव हो जाने के कारण पूर्ण वीतरागता हो जाती है। इसीलिये प्रवचनसार गाथा ७ की टीका मे और पंचास्तिकाय गाथा १५४ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि 'मोहनीयकर्म से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह क्षोभ (रागद्वेष) के अभाव के कारण जीव के अत्यन्त निर्विकार परिणाम होते हैं। और वह परिणाम ही चारित्र हैं तथा मोक्षमार्ग है।

शंका—जब क्षीणमोह गुणस्थान में पूर्ण वीतरागचारित्र हो जाता है तो उसी समय मोक्ष क्यों नहीं हो जाती ?

समाधान—यह सत्य है कि वीतरागता अथवा साम्यभाव की पूर्णता क्षीणमोह गुणस्थान में हो जाती है और यह वीतरागता ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १७२ में कहा है—

"साक्षान्मोक्षमार्गपुरस्सरो हि वीतरागत्वम्।"

अर्थात्—साक्षात् मोक्षमार्ग में सचमुच वीतरागता ही अग्रसर है।

फिर भी उसको प्रशरीर अवस्था उत्पन्न करने के लिये सहकारीकारणों की और बाधककारणों के अभाव की अपेक्षा रहती है। कहा भी है—

'क्षीणकषाये दर्शन-चारित्रयोः क्षायिकत्वेपि मुक्त्युत्पादने केवलापेक्षित्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् ।'

श्लो० वा० पु० ४८७ प्र० पु०

अर्थात्—क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान की आदि में सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक हो जाने पर भी मुक्तिरूप कार्य की उत्पत्ति करने मे केवलज्ञान की अपेक्षा रहती है, यह भले प्रकार प्रसिद्ध है।

मनुष्यायु की शेष स्थिति मुक्तिरूप कार्य की उत्पत्ति में बाधककारण है। केवलज्ञान के हो जाने पर भी वीतरागचारित्र मे मुक्तिरूप कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्यायु के शेष-स्थिति-काल द्वारा बाधित हो रही है जो आयु के अन्तिम समय मे अथवा चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिनेन्द्र के अन्तिम समय मे बाधक कारणो का अभाव हो जाने पर अपना कार्य अर्थात् मुक्ति को उत्पन्न कर देता है।

तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम् ।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकरणं ध्रुवम् ॥ ४७ ॥ (श्लो० वा० प्र० पु० पृ० ४८९)

इसलिये अयोगीजिन के चौदहवें गुणस्थान के अंतिम-समयवर्ती रत्नत्रय सम्पूर्ण कर्मों का विघात करने वाला कहा गया है।

केवलज्ञान आदि सहकारी कारणो से अथवा बाधककारणों के अभाव से बारहवेंगुणस्थान के क्षायिकचारित्र के अविभागी प्रतिच्छेदो मे अथवा क्षायिकचारित्र मे कोई वृद्धि नही होती है, जैसा कि कहा भी है—

"क्षायिकभावानां हानिर्नापि वृद्धिरिति ।"

अर्थ—क्षायिकभावो के हानि भी नहीं होती और वृद्धि भी नही होती।

भावो मे हानि-वृद्धि का कारण प्रतिपक्षीकर्म है अत कर्म का क्षय हो जाने पर क्षायिक भाव मे हानि-वृद्धि नहीं होती। इस अपेक्षा से बारहवें गुणस्थान मे वीतरागचारित्र की पूर्णता हो जाती है। फिर भी वह, सहकारी कारणों के अभाव मे और बाधक कारणों के सद्भाव मे अनन्तर समय में मुक्तिरूप कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिये साक्षात् कारण की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती वीतरागचारित्र को समर्थ कारण अथवा साक्षात् कारण कहा गया है। उससे पूर्व का रत्नत्रय परम्पराकारण अथवा असमर्थकारण है। इन दोनो कथनों मे कोई विवाद नहीं है, क्योंकि मात्र विवक्षा भेद है। दोनो ही कथन अपनी अपनी विवक्षा से यथार्थ हैं।

शंका—जब सभी जीवों के बारहवेंगुणस्थान में पूर्णवीतरागचारित्र हो जाता है तो सभी जीवों को समान काल के पश्चात् ही मोक्ष हो जाना चाहिये था, किन्तु कुछ तो अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही मुक्त हो जाते हैं और कुछ आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व पश्चात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं और कुछ इन दोनों के मध्यकालों में मुक्त होते हैं। इस काल की भिन्नता से यह ज्ञात होता है कि तेरहवेंगुणस्थान में सभी जीवों के वीतराग-परिणाम समान नहीं होते। तेरहवेंगुणस्थान में वीतराग-परिणामों की विभिन्नता से यह सिद्ध होता है कि बारहवें-गुणस्थान में वीतराग-चारित्र पूर्ण नहीं होता।

समाधान—बारहवें आदि तीनो गुणस्थानो में सभी जीवों के वीतरागपरिणाम समान होते हैं, उनमे विभिन्नता नही है क्योंकि वीतरागता में विभिन्नता का कारण मोहनीयकर्म था, जिसका बारहवेंगुणस्थान के प्रथम-समय मे अभाव हो जाता है।

बारहवेंगुणस्थान में पूर्ण वीतरागक्षायिकचारित्र हो जाने पर भी मुक्तिकाल में जो विभिन्नता पाई जाती है उसमें वीतरागपरिणामों की हीनाधिकता कारण नहीं है। किन्तु मुक्तिकाल की विभिन्नता का कारण मनुष्यायु का शेष स्थितिकाल है।

शंका—मोक्ष का साक्षात् कारण क्या है ?

समाधान—मोक्ष का साक्षात् कारण निश्चयनय से चौदहवें गुणस्थान के अन्तिमसमय का रत्नत्रय है, किन्तु व्यवहारनय से उससे पूर्व का रत्नत्रय भी मोक्ष का कारण है; स्याद्वादियों को इसमें कोई विवाद नहीं है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने कहा भी है—

रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोंऽतिमे—
क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितान्नयात् ॥ ९४ ॥
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम्।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तम् तत्त्ववेदिनाम् ॥ ९५ ॥ (श्लो वा. १।१)

"ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति।"
[प्रवचनसार पृ० २५ रायचन्द्र ग्रंथमाला]

अर्थ—ज्ञेयपदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनरूप से परिणमन करते हैं उसी के अनुसार अर्थात् ज्ञेयों के परिणमन को जानने की अपेक्षा से ज्ञान भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनरूप परिणमन करता है।

येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानिहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १४ टीका।

अर्थ—ज्ञेयपदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप से प्रतिसमय परिणमते हैं उन-उन के जाननेरूप आकार से निरिच्छुकवृत्ति से (बिना इच्छा के) सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है।

"ण च णाणविसेसदुवारेण उपज्जमाणस्स केवलणाणंसस्स केवलणाणत्तं फिट्टदि, पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्ध-जीवणाणंसाणं पि केवल-णाणत्ताभावप्पसंगादो।" ज. ध. पु. १ पृ. ५१।

अर्थात्—यदि केवलज्ञान के अंश मतिज्ञानादि ज्ञान विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनमें केवलज्ञानत्व नहीं माना जा सकता है तो प्रमेय के वश से सिद्धजीवों के भी ज्ञानांशों में परिवर्तन देखा जाता है, अतः उन अंशों में भी केवलज्ञानत्व नहीं बनेगा।

पदार्थों के परिणमन के आधार से केवलज्ञान का परिणमन होता है इसीलिये केवलज्ञान को पदार्थों की सहायता की आवश्यकता है इसके अतिरिक्त इन्द्रियादि की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इसी बात को श्री वीरसेनस्वामी ने कहा है—

"आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्।" ज. ध पु १ पृ. २३।

उपर्युक्त सर्वज्ञवाणी के विरुद्ध जो अन्यमतों की तरह केवलज्ञान के आधीन पदार्थों का परिणमन मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञवाणी पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

—जै. ग. 15-4-65/29-4-65/VII/......

नव केवल लब्धि

शंका—श्री पं० दौलतरामजी कृत भाषा स्तुति में 'नव केवल लब्धि रमा धरंत।' लिखा है। ये नौ केवल लब्धियाँ कौन-कौन सी हैं ?

समाधान—१ केवलज्ञान, २. केवलदर्शन, ३. क्षायिकसम्यक्त्व ४. क्षायिकचारित्र, ५. अनन्तदान, ६ अनन्तलाभ, ७. अनन्तभोग, ८. अनन्तउपभोग, ९ अनन्तवीर्य; ये नौ केवल लब्धियाँ हैं। कहा भी है—

"ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ २।४ ॥" मोक्षशास्त्र।

अर्थ—क्षायिक भाव के नौ भेद हैं—क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र।

श्री सर्वार्थसिद्धि टीका में श्रीपूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

"सूत्र मे 'च' शब्द सम्यक्त्व और चारित्र के ग्रहण करने के लिये आया है। ज्ञानावरणकर्म के अत्यन्तक्षय से क्षायिककेवलज्ञान होता है। इसीप्रकार दर्शनावरणकर्म के अत्यन्तक्षय से क्षायिककेवलदर्शन होता है। दानान्तरायकर्म के अत्यन्तक्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करनेवाला क्षायिकअभयदान होता है। समस्त लाभान्तरायकर्म के क्षय से कवलाहार क्रिया से रहित केवलियो के क्षायिकलाभ होता है जिससे उनके शरीर को बलप्रदान करने मे कारणभूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रतिसमय सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। समस्त भोगान्तरायकर्म के क्षय से अतिशय वाले क्षायिकअनन्तभोग का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं। समस्त उपभोगान्तराय के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चमर और तीनछत्र आदि विभूतियाँ होती हैं। वीर्यान्तरायकर्म के अत्यन्तक्षय से क्षायिकअनन्तवीर्य प्रगट होता है। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी-क्रोध-मान-माया-लोभ) के अत्यन्त विनाश से क्षायिकसम्यक्त्व होता है। इसीप्रकार चारित्रमोहनीयकर्म के अत्यन्त विनाश से क्षायिकचारित्र होता है।'

सिद्धों के भी क्षायक लब्धियाँ

शंका—ये नव केवल लब्धि अरहंत भगवान की हैं, किन्तु सिद्ध भगवान में ये नव केवल लब्धि नहीं पाई जाती हैं। "औपशमिकादिभव्यत्वानां च ।३। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥" मो० शा० अ० १० अर्थात् औपशमिकआदि भावों से भव्यत्व तक भावों का अभाव होने से मोक्ष होता है, पर केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्वभाव का अभाव नहीं होता। इन सूत्रों से भी स्पष्ट है नौ केवललब्धि में से सिद्धों में मात्र तीनलब्धि रहती हैं। केवलज्ञान के साथ अनन्तवीर्य भी लिया जा सकता है क्योंकि ज्ञान और वीर्य का अविना-भावी सम्बन्ध है, किन्तु क्षायिक चारित्र दान-लाभ भोग-उपभोग तो किसी भी अपेक्षा नहीं ग्रहण हो सकते। सिद्धों में मात्र चार केवललब्धि होती हैं, इससे अधिक किसी भी आचार्य ने नहीं कही हैं, सिद्धों के गुण निम्न प्रकार कहे हैं—

सम्यक्दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।
सूक्ष्म वीरजवान, निराबाध गुण सिद्धके॥

तथा गोम्मटसार जीवकांड में भी सिद्धों के सिद्धगति, केवलज्ञान; केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व और अनाहारक; ये पाँच मार्गणा होतीं हैं, शेष मार्गणा नहीं होती, ऐसा कहा है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सिद्धों में क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग ये पाँच लब्धि नहीं होती; शेष चार क्षायिक लब्धियाँ होती हैं और अरहंत भगवान में नौ क्षायिक लब्धि होती हैं; अर्थात् सिद्धों से अरहंतों में अधिक क्षायिकलब्धि होने के कारण ही सिद्धों से पूर्व अरहंतों को नमस्कार किया है। क्या यह ठीक नहीं है ?

समाधान—शंकाकार ने परमार्थ नहीं समझा है इसीलिये सिद्ध भगवान में चारित्र आदि पाँच क्षायिकलब्धियों का अभाव बतलाया है। घातिया कर्मों के क्षय से जो नौ क्षायिकलब्धियाँ प्रगट हुई हैं वह आत्मा का निजभाव हैं अर्थात् स्वभाव हैं, उनका सिद्ध भगवान मे कैसे अभाव हो सकता है। जो कर्म क्षय को प्राप्त हो गया है उसकी पुन: सत्ता सभव नहीं है, और बिना सत्ता के कर्मोदय हो नहीं सकता और प्रतिपक्षी कर्मोदय के बिना क्षायिक भाव का अभाव नहीं हो सकता।

"ण खविदाणं पुणरुप्पत्ती, णिव्वुआणं पि पुणो ससारित्तप्पसगादो।" (ध० पु० ५ पृ० २०७)

अर्थात्—क्षय को प्राप्त हुई प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यदि होने लगे तो मुक्त हुए जीवों का पुन: ससारी होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

बिना प्रतिपक्षी कर्मोदय के यदि सिद्ध भगवान में क्षायिकचारित्र आदि का अभाव माना जावे तो क्षायिकसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-वीर्य का भी अभाव क्यो न मान लिया जाय ? इस प्रकार सिद्ध भगवान् मे सभी गुणो का अभाव मान लेने पर जीवत्व के अभाव का प्रसंग आजायगा। सिद्धभगवान में क्षायिकचारित्रलब्धि के अभाव होने का कोई हेतु भी नहीं दिया है और बिना कारण के चारित्र आदि का अभाव होता नहीं है।

"परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ॥ ६।६४ ॥" परीक्षामुख

अर्थात्—दूसरे सहकारी कारणो की अपेक्षा रखने पर परिणामीपना प्राप्त होता है अन्यथा कार्य नहीं हो सकेगा।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान् मे चारित्र का अभाव नहीं है।

शंकाकार ने मोक्षशास्त्र अध्याय १० का सूत्र, 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥' उद्धृत किया है सो यह सूत्र देशामर्शक है। जिसप्रकार 'तालप्रलंब' एक वनस्पति के नाम से समस्त वनस्पतिकायिक का ग्रहण हो जाता है, उसीप्रकार केवल सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन के नामोल्लेख से शेष छह क्षायिककेवललब्धियों का भी ग्रहण हो जाता है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

"अनन्तवीर्यादिनिवृत्ति-प्रसङ्ग इति चेत्; न, तत्रैवान्तर्भावात् ॥ ३ ॥" रा० वा० १०।४।

अर्थात्—केवल सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व के कहने से क्षायिकअनन्तवीर्य आदि की निवृत्ति का प्रसंग आजायगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन क्षायिकसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन में शेष क्षायिकलब्धियों का अन्तर्भाव हो जाता है, अर्थात् ग्रहण हो जाता है।

सिद्ध भगवान के जो सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघु, अवगाहना, सूक्ष्म, निराबाध, आठ गुण कहे हैं। वे आठ कर्मों के अभाव की अपेक्षा कहे हैं। मोहनीयकर्म सम्यक्त्व और चारित्र दो गुणों को घातता है। कर्मोदय सामान्य सिद्धस्वभाव को घातता है।

"कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः औदयिकः ।" सर्वार्थसिद्धि २।६ ।

अर्थ—कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा से असिद्धत्वभाव होता है, इसलिये औदयिक है ।

मोक्षशास्त्र अध्याय १० सूत्र ४ में भी सिद्धभगवान के क्षायिकसिद्धत्व भाव का उल्लेख है, किन्तु उपर्युक्त आठ भावों में भी नहीं गिनाया है ।

इष्ट छत्तीसी आदि में जो आठ गुणों का कथन है वह भी देशामर्शक है । इन आठ के अतिरिक्त अन्य भी अनन्त गुण सिद्ध भगवान में पाये जाते हैं, जैसे क्षायिकचारित्र सिद्धत्व, ऊर्ध्वगमन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग आदि ।

श्री वीरसेनाचार्य प्राचीन गाथाओं को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

"एदस्स कम्मस्स खएण सिद्धाणमेसो गुणो समुप्पण्णो त्ति जाणावणट्ठमेदाओ गाहाओ एत्थ परूविज्जंति—

मिच्छत्त-कसायासंजमेहि जस्सोदएण परिणमइ ।
जीवो तस्सेव खयात्तव्विवरीदे गुणे लहइ ॥७॥
विरियोवभोग-भोगे दाणे लाभे जदुदयदो विग्घं ।
पंचविहलद्धि जुत्तो तक्कम्मखया हवे सिद्धो ॥११॥

अर्थ—इस कर्म के क्षय से सिद्धों के यह गुण उत्पन्न हुआ है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये ये गाथायें यहाँ प्ररूपित की जाती हैं—

जिस मोहनीयकर्मोदय से जीव मिथ्यात्व, कषाय और असयमरूप से परिणमन करता है, उसी मोहनीयक्षय से इनके विपरीत गुणों को अर्थात् सम्यक्त्व अकषाय और सयम को प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

जिस अन्तरायकर्म के उदय से जीव के वीर्य, उपभोग, भोग, दान और लाभ मे विघ्न उत्पन्न होता है, उसी कर्म के क्षय से सिद्ध पंचविध लब्धि से सयुक्त होते हैं ॥ ११ ॥

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध भगवान मे क्षायिकचारित्र और क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकउपभोग, क्षायिकभोग सिद्ध हो जाते हैं । इन आर्षगाथाओं का अन्य ग्रन्थों से विरोध भी नहीं है, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व मे क्षायिकचारित्र का और क्षायिकवीर्य मे क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग और क्षायिकउपभोग का अन्तर्भाव हो जाता है ।

गोम्मटसार जीवकांड मे सिद्धभगवान के सिद्ध गति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व और अनाहारक इन पाँच मार्गणाओं का तो उल्लेख किया है, किन्तु संयम आदि मार्गणा का निषेध किया है इसका कारण यह नहीं है कि सिद्धभगवान मे क्षायिकचारित्र नहीं होता, किन्तु इसका कारण निम्नप्रकार है—

द्वादशाङ्ग मे गतिमार्गणा के नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति ऐसे पाँच भेद किये हैं । वह सूत्र निम्न प्रकार है—

'आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी, तिरिक्खगदी, मणुसगदी, देवगदी, सिद्धगदी, चेदि ॥ २४ ॥'
[ष. खं. जीव. सत्प्र.]

अर्थ—आदेस अर्थात् मार्गणाप्ररूपणा की अपेक्षा गत्यानुवाद से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति है।

क्योंकि गतिमार्गणा का एक भेद सिद्धगति भी है अतः सिद्धभगवान में गतिमार्गणा का उल्लेख है।

णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंगणाणी, आभिणिबोहियणाणी, सुदणाणी, ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अर्थ—ज्ञानमार्गणा के अनुवाद से मतिअज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधक ज्ञानी श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं।

ज्ञानमार्गणा के आठ भेदों में से केवलज्ञान भी एक भेद है जो क्षायिक ही होता है और सिद्धभगवान मे केवलज्ञान होता है, इसलिये सिद्धभगवान मे ज्ञानमार्गणा का कथन किया गया है।

दसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि ॥ १३१ ॥

अर्थ—दर्शनमार्गणा के अनुवाद से चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

यहाँ भी केवलदर्शन की अपेक्षा से सिद्धभगवान के दर्शनमार्गणा कही गई है।

सम्मत्ताणुवादेण अत्थी सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसम-सम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि ॥ १४४ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टिजीव होते हैं ॥ १४४ ॥

सम्यक्त्वमार्गणा के क्षायिकसम्यक्त्व आदि छह भेदों में से क्षायिकसम्यक्त्व सिद्धभगवान के पाया जाता है इसलिये सम्यक्त्वमार्गणा का अस्तित्व कहा गया है।

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

अर्थ—आहारमार्गणा के अनुवाद से आहारक और अनाहारकजीव होते हैं ॥ १७५ ॥

सिद्धभगवान अनाहारक हैं, अतः उनमे आहारकमार्गणा का भी कथन संभव है।

उपर्युक्त पाँच मार्गणाओं में से प्रत्येक का एक भेद सिद्धभगवान मे पाया जाता है अतः उनके अस्तित्व का उल्लेख किया गया है किन्तु शेष ९ मार्गणाओ के अवान्तर भेदो मे से कोई भी भेद सिद्धभगवान में नहीं पाया जाता है अतः शेष मार्गणाओं का निषेध किया गया है। जैसे संयममार्गणा के अनुवाद से १-सामायिकशुद्धि संयत, छेदोपस्थापनाशुद्धि संयत, परिहारशुद्धि संयत, सूक्ष्मसांपरायशुद्धि संयत, यथाख्यातविहारशुद्धि संयत, ये पाँच प्रकार के संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं। संयममार्गणा के उपर्युक्त सात भेदों मे से क्षायिकसंयम कोई भेद नहीं है और नवकेवललब्धि में क्षायिकचारित्र है, अतः सिद्धभगवान मे संयममार्गणा का निषेध किया गया। जिसप्रकार सम्यक्त्वमार्गणा का अवान्तर भेद क्षायिकसम्यक्त्व है उसप्रकार संयममार्गणा के अवान्तर भेदों मे से

क्षायिकसंयम कोई भेद नहीं है। यदि क्षायिकसंयम अवान्तर भेद होते हुए, सिद्धभगवान के संयममार्गणा का निषेध होता तो यह निष्कर्ष निकालना संभव था कि सिद्धभगवान मे क्षायिकसंयम नहीं होता।

सिद्धभगवान व अरहन्त भगवान मे नवकेवललब्धि की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। वीरसेनाचार्य ने भी श्री सिद्धभगवान तथा श्री अरिहंतो मे गुणकृत भेद की चर्चा करते हुए कहा है—

"अस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।"

[धवल पु० १ पृ० ४७]

अर्थ—यदि ऐसा है तो रहो, अर्थात् अरिहंत और सिद्धो मे गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि वह न्याय संगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा उन दोनो परमेष्ठियो मे भेद है।

यदि दोनो परमेष्ठियो मे गुणकृत भेद नहीं है, मात्र सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा भेद है तो सर्व-प्रकार के कर्मलेप से रहित श्री सिद्धपरमेष्ठी के विद्यमान रहते हुए अघातियाकर्मों के लेप से युक्त श्री अरिहंतों को आदि मे नमस्कार क्यो किया जाता है?

इस प्रश्न का उत्तर श्री वीरसेनाचार्य ने इस प्रकार दिया है—

'नैष दोषः गुणाधिक सिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात्। असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मादादी-नाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया वाादावर्हन्नमस्कारः क्रियते।' [ध० पु० १ पृ० ५३]।

अर्थ—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि सबसे अधिकगुणवाले सिद्धो मे श्रद्धा की अधिकता के कारण श्री अरिहंतपरमेष्ठी ही हैं, अर्थात् श्री अरिहंतपरमेष्ठी के निमित्त से ही अधिक गुणवाले सिद्धो मे सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि श्री अरिहंतपरमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकता था, किन्तु श्री अरिहंतपरमेष्ठी के प्रसाद से हमे इस बोध की प्राप्ति हुई है, इसलिये उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरिहंतो को नमस्कार किया जाता है।

न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्। अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानु-पपत्तेश्च। आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्यापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः।'

[धवल पु० १ पृ० ५४]

अर्थ—यदि कोई कहे कि इसप्रकार आदि मे अरिहंतो को नमस्कार करना तो पक्षपात है? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है, किन्तु शुभपक्ष मे रहने से वह कल्याण का ही कारण है तथा द्वैत को गौण करके अद्वैत की प्रधानता से किये गये नमस्कार मे द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है। आप्त की श्रद्धा से ही आप्त आगम और पदार्थों के विषय मे दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बात को सिद्ध करने के लिये भी आदि मे अरिहंतो को नमस्कार किया गया है।

—जै. ग. 24-6-65/VI-VII/ ·········

निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप

शंका—निश्चय मोक्षमार्ग तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग चौथे से बारहवें के शुद्ध भाव को कहते हैं। क्या यह ठीक है?

समाधान—निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने बृहद्द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार कहा है—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो, तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ३९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनो के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो ।३९।।

संस्कृत टीकार्थ—श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित षड्द्रव्य, पाँचअस्तिकाय, साततत्त्व और नवपदार्थों का सम्यक्श्रद्धानज्ञान और व्रतादिरूप आचरण, इन विकल्पमयी व्यवहार मोक्षमार्ग है। निज निरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण मे एकाग्र परिणतिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग है। अथवा स्वशुद्धात्मभावना का साधक व बाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहारमोक्षमार्ग है। मात्र स्वानुभव से उत्पन्न व रागादिविकल्पो से रहित सुखानुभवनरूप निश्चयमोक्षमार्ग है। अथवा धातुपाषाण से सुवर्ण प्राप्ति मे अग्नि के समान जो साधक है, वह तो व्यवहारमोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य वह निश्चयमोक्षमार्ग है ॥ ३९ ॥ (टीका)

पुनः निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप बृहद्द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार कहा है—

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं, मुइत्तु अण्णदवियह्मि।
तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

अर्थ—आत्मा को छोडकर अन्यद्रव्य मे रत्नत्रय नहीं रहता, इसकारण रत्नत्रयमयी वह आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥ ४० ॥

संस्कृत टीकार्थ—जो रत्नत्रय हैं वे शुद्धआत्मा के सिवाय अन्य घट, पटादि बाह्यद्रव्यो मे नहीं रहते, इस कारण अभेद से वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा ही सम्यक्चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है। इस प्रकार कहे हुए लक्षणवाले निजशुद्धात्मा को ही मुक्ति का कारण जानो ॥ ४० ॥

इसप्रकार बृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथा ३९ व ४० से स्पष्ट हो जाता है कि गुण-गुणी के भेदरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है और गुण-गुणी के अभेदरूप 'आत्मा' निश्चयमोक्षमार्ग है। संस्कृत टीकाकार ने अन्य दृष्टियों से भी व्यवहार व निश्चयमोक्षमार्ग का कथन किया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी पंचास्तिकाय मे निश्चयव्यवहार मार्ग का कथन इस प्रकार किया है—

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥ १६० ॥
णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६१॥

अर्थ—धर्मास्तिकायादि का श्रद्धान सो सम्यक्त्व अङ्ग पूर्वसम्बन्धी ज्ञान और तप मे चेष्टा सो चारित्र इसप्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग है ॥१६०॥ जो आत्मा वास्तव में इन तीनों (सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र) से समाहित

(तन्मयी) है तथा अन्य कुछ भी करता नहीं है या छोड़ता नहीं है, वह आत्मा निश्चय से मोक्षमार्ग कहा गया है ॥ १६१ ॥

जिसको सम्यग्दर्शन होगा उसको पंचास्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्त्व और नवपदार्थों का श्रद्धान अवश्य होगा। अतः पंचास्तिकाय आदि के श्रद्धान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का कथन करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है, क्योंकि यह पराश्रित कथन है। किन्तु वह सम्यग्दर्शनरूप जो भाव है, उसका आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध है। अतः आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, ऐसा कथन निश्चयनय से सम्यग्दर्शन है, क्योंकि यह स्वाश्रित है। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय में जानना। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है और तन्मयी आत्मा निश्चय-सम्यग्दर्शन है। निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को मोक्षपद प्राप्त कराता है। कहा भी है—

सम्यक्त्व—चारित्र—बोध—लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपद पुरुषम् ॥ २२२ ॥ (पु० सि० उ०)

—जै. ग 14-11-63/VIII-IX/ सरनाराम जैन

निश्चय मोक्षमार्ग साध्य एवं व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है

शंका—भेद-व्यवहार का आश्रय छुड़ाने के हेतु 'आत्मधर्म' पत्रिका मे कहा गया है—"निश्चय को मुख्य कहना ठीक नहीं है, किन्तु मुख्य को निश्चय कहना ठीक है।" क्या यह ठीक है ?

समाधान—साध्य-साधन के भेद से मोक्षमार्ग निश्चय (मुख्य) व्यवहार (उपचार) दो प्रकार का है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा भी है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां, मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्य साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥ तत्त्वार्थसार उपसंहार

अर्थ—निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमे पहला अर्थात् निश्चयमोक्ष-मार्ग साध्यरूप है और दूसरा अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग उसका साधन है।

"न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्ण—सुवर्णपाषाणवत्। अतः एवोभयनया-यत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति।" पंचास्तिकाय गाथा १५९ टीका।

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग मे परस्पर विरोध आता हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चय-व्यवहार को साध्य साधनपना है। जिनभगवान की तीर्थप्रवर्तना दोनो नयो के आधीन है।

सम्यक्त्व बोध चारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥ २२२ ॥ पुरुषार्थसिद्धिउपाय

इसप्रकार यह निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त कराता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का बतलाया है। निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूप है और व्यवहारमोक्षमार्ग साधनरूप है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं निश्चयमोक्षमार्ग को मुख्य मोक्षमार्ग कहा है और व्यवहारमोक्षमार्ग को उपचार मोक्षमार्ग कहा है।

—जै. ग. 6-1-72/VII/ ......

(१) सम्यग्दर्शन आदि तीनों की युगपत्ता से ही मोक्ष सुख सम्भव है
(२) प्रकरणवश कहीं सम्यग्दर्शन को, कहीं ज्ञान की और कहीं चारित्र की मुख्यता रहती है

शंका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है ? इन तीनों मे किसकी मुख्यता है ?

समाधान—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनो की एकता मोक्षमार्ग है। इन तीनो मे से किसी एक के अभाव मे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। कहा भी है—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥ प्रवचनसार

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—

"श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्ध्यति।"

यहाँ पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है—आगमजनित ज्ञान यदि श्रद्धानशून्य है तो उस ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है। आगम-ज्ञान और उसका अविनाभावी श्रद्धान इन दोनों से भी यदि संयम (चारित्र) शून्य है तो मुक्ति नहीं होती है।

'अतः एतदायाति परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वानां मध्ये द्वयेनैकेन वा निर्वाणं नास्ति किन्तु त्रयेणेति।'

अर्थ—इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमागमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयमपना इन तीनों मे से मात्र एक से व केवल दो से निर्वाण हो नहीं सकता, किन्तु तीनो से ही मोक्ष होता है।

जहाँ पर ज्ञानरहित व्रतादिक की भर्त्सना की गई है वही पर चारित्ररहित ज्ञान-श्रद्धान की भी भर्त्सना की गई है।

हतं ज्ञानं क्रिया हीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥ त० रा० वा०

चारित्र के बिना सम्यग्ज्ञान किसी काम का नहीं है। जब सम्यग्ज्ञान किसी काम का नहीं है तब उसका सहचारी सम्यग्दर्शन भी चारित्र के बिना किसी काम का नहीं है। जैसे वन में आग लग जाने पर स्वांखा लंगड़ा मनुष्य उस आग से बच जाने का मार्ग तो जानता है और यह श्रद्धा भी है कि इस मार्ग से जाने पर अग्नि की दाह से बच सकूंगा, परन्तु चलनेरूप क्रिया (आचरण) नहीं कर सकता इसलिये अग्नि मे जलकर नष्ट हो जाता है।

उसीप्रकार संसाररूप वन मे रागद्वेषरूप आग लग रही है। असंयत सम्यग्दृष्टि को रागद्वेषरूप आग से बचने के मार्ग का ज्ञान भी है, श्रद्धान भी है, किन्तु चारित्ररूप किया न करने से रागद्वेष की अग्नि मे जलता रहता है और संसार मे नानाप्रकार के कष्ट उठाता हुआ दुःखी रहता है।

वन में आग लग जाने पर अन्धा पुरुष जहाँ-तहाँ दौडनेरूप क्रिया तो करता है, किन्तु यथार्थ मार्ग का ज्ञान न होने से आग से बच नहीं सकता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्रतादिरूप क्रिया तो करता है, किन्तु मोक्षमार्ग का यथार्थज्ञान व श्रद्धान न होने से राग-द्वेषरूप आग से बच नहीं सकता और ससार मे नानाप्रकार के दुःख सहता है।

इसप्रकार चारित्ररहित असंयतसम्यग्दृष्टि की और द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि की एक सी दशा है।

संसार मे राग-द्वेषरूप ज्वाला से बचने का उपाय मात्र एक सम्यक्चारित्र है। श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहा भी है—

"रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।"

अर्थात्—साधु पुरुष राग द्वेष को दूर करने के लिये सम्यक् चारित्र को धारण करता है। चारित्र के बिना मात्र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से राग-द्वेष दूर नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। अतः तीनो की युगपता से ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। फिर भी कहीं पर सम्यग्दर्शन की मुख्यता से कथन है और कहीं पर सम्यग्ज्ञान की मुख्यता से कथन है और कहीं पर सम्यक्चारित्र की मुख्यता से कथन है।

—जै. ग 18-2-71/VIII/ सुल्तानसिंह

रत्नत्रय (तीनों मिलकर) ही मोक्ष के मार्ग हैं

शंका—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह सूत्र है। ये तीनों भिन्न-भिन्नरूप से मोक्षमार्ग हैं या इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है?

समाधान—'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र मे 'मोक्षमार्गः' शब्द एक वचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनो की एकता मोक्षमार्ग है।

"मार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः।"

सर्वार्थसिद्धि।

सूत्र में मार्गः इस प्रकार जो एकवचनरूप से निर्देश किया है वह सब मिलकर मोक्षमार्ग है, इस बात को जताने के लिये किया गया है। इससे प्रत्येक में मार्गपना है, इस बात का निराकरण हो जाता है। अत. सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्ष का साक्षात् मार्ग हैं ऐसा जानना चाहिये।

प्रवचनसार में भी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत।"

आगमज्ञान (सम्यग्ज्ञान), तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व को युगपत्तावाले को ही मोक्षमार्गत्व होने का नियम सिद्ध होता है।

—जै. ग. 15-6-72/VII/ रो. ला. मित्तल

मोक्षमार्ग हेतु ज्ञान [भावश्रुतज्ञान] अत्यावश्यक है

शंका—कहा जाता है 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' किन्तु शिवभूति मुनि को अक्षरमात्र का ज्ञान नहीं था। यदि यह बात (सम्यग्ज्ञान) अनिवार्य होती तो शिवभूति को केवलज्ञान क्यों हुआ ? अतः मोक्षमार्ग के लिये मात्र सम्यग्दर्शन आवश्यक है।

समाधान—अक्षर या शब्द का ज्ञान द्रव्यश्रुतज्ञान होता है। पदार्थ का ज्ञान भावश्रुतज्ञान होता है। जैसे तिर्यंच को यह शब्द ज्ञान नहीं कि यह मेरी सतान है और यह मेरा मित्र है और यह मेरा शत्रु है फिर भी संतान के प्रति संतानरूप प्रवृत्ति, मित्र के प्रति मित्ररूप प्रवृत्ति और शत्रु के प्रति शत्रुरूप प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति का मूल कारण भावश्रुतज्ञान है। शब्द ज्ञान के बिना भी भावश्रुतज्ञान होता है। ऐसा ही "मोक्षमार्गप्रकाशक" ग्रन्थ मे कहा है—"जीव अजीवादिक का नामादिक जानो वा मति जानौ, उनका स्वरूप यथार्थ पहिचान श्रद्धान किये सम्यक्त्व हो है। तातैं तुच्छ ज्ञानी तिर्यंच आदि सम्यग्दृष्टि हैं, सो जीवादि का नाम न भी जाने हैं तथापि उनका सामान्यपने स्वरूप पहिचान श्रद्धान करे हैं। तातैं उनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो है। जैसे कोई तिर्यंच अपना वा औरनिका नामादि तो नाही जाने, परन्तु आप ही विषं आपौ माने है, औरनिको पर माने है; तैसे तुच्छज्ञानी जीव अजीव का नाम न जानै, परन्तु ज्ञानादि स्वरूप आत्मा है, तिस विषै आपौ माने है और शरीरादि को पर माने है। ऐसा श्रद्धान जाके हो है, सो ही जीव अजीव का श्रद्धान है। जैसे सोई तिर्यंच सुखादिक का नामादिक न जाने है, तथापि सुख अवस्था को पहिचान ताके अर्थि आगामी दुःख का कारण को पहिचान ताको त्यागे है। बहुरि जो दुःख का कारण बनि रह्या है, ताके अभाव का उपाय करे है। तुच्छज्ञानी मोक्ष आदि का नाम न जाने, तथापि सर्वथा सुखरूप मोक्ष अवस्था को श्रद्धान करि ताके अर्थि आगामी बंधकारण रागादि को त्यागे है। बहुरि जो संसार दुःख का कारण है, ताको शुद्ध भाव करि निर्जरा किया चाहे है।" इससे सिद्ध होता है कि शब्दज्ञान बिना भावज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ऐसा ही वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ की टीका मे कहा—"यदि शिवभूति मुनि पांचसमिति और तीनगुप्तियो का कथन करनेवाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होंने 'मा तुसह मा रूसह' इस एक पद को क्यो नहीं जाना। इसी कारण से जाना जाता है कि पाँच समिति और तीनगुप्तिरूप आठ प्रवचनमातृका प्रमाण ही उनके भावज्ञान था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था।" अतः 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र मे ज्ञान शब्द से भाव श्रुतज्ञान ग्रहण करना चाहिये न कि द्रव्यश्रुत (शब्दश्रुत) ज्ञान। जीव, अजीव आदि सात तत्त्वो के ज्ञान के बिना अथवा स्वपर के भेदज्ञान बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। कहा भी है—

> 'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाये किल केचन।
> अस्यैवा भावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥' (स. सा संवर अधि.)

अर्थ—जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो कर्म से बँधे हैं वे इसी भेदविज्ञान के अभाव से बँधे हैं। यद्यपि सम्यग्दर्शन तत्त्वज्ञान पूर्वक होय है, किन्तु ज्ञान को सम्यक् विशेषण सम्यग्दर्शन होने पर ही होय है, ज्ञान का सम्यक्त्व व मिथ्यात्व विशेषण सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन की सहचरता से होय है। अथवा जो जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान उस स्वभाव से ज्ञान का परिणमना वह तो सम्यग्दर्शन है और उसी तरह जीवादि पदार्थों का ज्ञान उस स्वभाव कर ज्ञान का होना वह सम्यग्ज्ञान है तथा जो रागादि का त्यागना उस स्वभावकर

ज्ञान का होना वह सम्यक्‌चारित्र है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों ही ज्ञान के परिणमन मे आ जाते हैं। इसकारण अभेद विवक्षा मे ज्ञान ही परमार्थरूप मोक्ष का कारण सिद्ध हुआ। समयसार गाथा १५५ की टीका।

—जै. सं. 26-2-59/V/ क्षु. कीर्तिसागर

सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है

शंका—क्या पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है ?

समाधान—जो वस्तु जिसरूप से है उस वस्तु का उसीरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। आलापपद्धति सूत्र ९५ मे कहा है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

"सामान्यविशेषात्मकं वस्तु ॥ ९५ ॥

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु मे 'सामान्य' को द्रव्य कहते हैं और विशेष को पर्याय कहते हैं। श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा भी है—

"द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकः। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः।" सर्वार्थसिद्धि १।३३।

द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है। इस सामान्य को विषय करनेवाला नय अथवा दृष्टि द्रव्यार्थिकनय अथवा द्रव्यदृष्टि है। पर्याय का अर्थ विशेष अपवाद और व्यावृत्ति है। इस विशेष को विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय अथवा पर्यायदृष्टि है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसीप्रकार कहा है—

अनुप्रवृत्तिः सामान्य द्रव्यं चैकार्थवाचकाः।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः ॥ ३९ ॥
व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिक मतः ॥ ४० ॥
(तत्त्वार्थसार प्रथमाधिकार)

अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय द्रव्य को विषय करता है वह द्रव्यार्थिकनय अर्थात् द्रव्यदृष्टि है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय अर्थात् पर्यायदृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि मे पर्यायें गौण होने से जीव न संसारी है और न मुक्त है, क्योंकि संसारी और मुक्त ये दोनों पर्यायें हैं। अतः द्रव्यदृष्टि मे मोक्ष और मोक्ष-मार्ग, ये दोनो पर्याय सम्भव नही हैं। इसीप्रकार श्रद्धागुण की मिथ्यादर्शन व सम्यग्दर्शन ये दोनों पर्यायें हैं। समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा भी है—

"शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च। प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यांतान्यष्टगुणस्थानानि गृह्यंते।"

स. सा. पृ० ७ अजमेर से प्रकाशित।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव मे शुभ या अशुभरूप परिणमन करने का अभाव है, इसलिये जीव न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर प्रमत्तविरत गुणस्थान तक छह गुणस्थानों मे जीव की जो अवस्था है वह प्रमत्त अवस्था है। अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर अयोग केवली गुणस्थानतक आठ गुणस्थानों मे जीव की जो पर्यायें हैं वे अप्रमत्त अवस्था है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि मे न बधमार्ग है और न मोक्षमार्ग है। यह पर्यायदृष्टि मे ही सभव है, जैसा कहा भी है—

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जओ, पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ प्र. सा. गा० १०३

"प्रादुर्भवति च जायते अन्यः कश्चिद्दर्शनान्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः पर्यायो व्येति विनश्यति अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूतः, तदपिशुद्धद्रव्यार्थिकनयेन परमात्मद्रव्य नैव नष्ट न चोत्पन्नम्।"

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि पर्यायदृष्टि से जीव को अनन्तज्ञान-सुख आदि गुणवाली शाश्वतिक मुक्तावस्थारूप स्वभावद्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है और उस मुक्तावस्था (पर्याय) से भिन्न निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिरूप तथा मोक्षपर्याय की उपादान कारण ऐसी मोक्षमार्गपर्याय का व्यय (नाश) होता है, किन्तु द्रव्यार्थिकदृष्टि से जीवद्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

अर्थात् द्रव्यदृष्टि मे न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है तथा न सम्यग्दृष्टि है और न मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि ये सब पर्यायें हैं।

"यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूति लक्षणस्य संसारावसानोत्पन्न कारण समयसारपर्यायस्य विनाशो भवति, तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च, भवति तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्म द्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति।" (प्र. सा गा. १८ टीका)

शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यक्श्रद्धान, उसी का सम्यग्ज्ञान तथा उसी की अनुभूति मे निश्चलतारूप चारित्र; इस रत्नत्रयमय लक्षण को रखनेवाले ससार के अ त मे होनेवाले कारणसमयसाररूप मोक्षमार्गपर्याय का यद्यपि नाश होता है और उसीप्रकार केवलज्ञान आदि की प्रगटतारूप कार्यसमयसाररूप मोक्षपर्याय का उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायों मे रहनेवाले आत्मद्रव्य का ध्रौव्यपना रहता है।

यहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि पर्यायदृष्टि मे ही मोक्षमार्गपर्याय का व्यय और मोक्षपर्याय का उत्पाद सभव है। द्रव्यदृष्टि मे, उत्पाद व व्यय न होने के कारण न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है।

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया: ॥११॥ (पं० का०)

टीका—"द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेवद्रव्यं। तदेव पर्यायार्थार्पणायां सोत्पादं सोच्छेदं चाववोद्धव्यम्।"

द्रव्यदृष्टि से द्रव्य को उत्पादरहित, विनाशरहित सत्स्वभाव वाला जानना चाहिये, किन्तु पर्यायदृष्टि से उत्पादवाला, विनाशवाला जानना चाहिये।

"ज्ञानावरणादिभावाःद्रव्यकर्मपर्यायाः सुष्ठु संश्लेषरूपेणानादिसंतानेन बद्धास्तिष्ठन्ति तावत्, यदा कालादिलब्धिवशाद्भेदाभेद रत्नत्रयात्मक व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गलभते तदा तेषां ज्ञानावरणादि भावानां द्रव्यभावकर्मरूपपर्यायाणामभावं विनाशं कृत्वा पर्यायार्थिकनयेनाभूतपूर्वसिद्धो भवति, द्रव्यार्थिकनयेन पूर्वमेव सिद्धरूप इति वार्तिकं।"
(पं. का गा. २० की ता वृ टीका)

इस संसारीजीव का अनादिप्रवाहरूप से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के साथ संश्लेषरूप बंध चला आ रहा है। जब कोई भव्यजीव कालादि लब्धि के वश से भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहारमोक्षमार्ग को और अभेदरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त करता है तब वह भव्यजीव उन ज्ञानावरणादि कर्मों की द्रव्य और भावरूप अवस्थाओं का नाशकरके पर्यायदृष्टि से सिद्धभगवान हो जाता है। वह सिद्धपर्याय पूर्व मे कभी प्राप्त नही हुई थी, उस सिद्धपर्याय को प्राप्त कर लेता है। द्रव्यदृष्टि से तो पहिले से ही यह जीव स्वरूप से ही सिद्धरूप है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि में मोक्षमार्ग संभव नही है।

एकात पर्यायदृष्टि से बौद्धमतरूप दूषण आता है और एकान्त द्रव्यदृष्टि से साख्यमतरूप दूषण आता है, क्योकि 'क्षणिकैकांतरूप बौद्धमत नित्यैकांतरूपं सांख्यमतं।' ऐसा आर्षवचन है। 'जैनमते पुनः परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायत्वान्नास्ति दूषणं।' किन्तु जैनमत मे परस्पर सापेक्ष द्रव्यदृष्टिपर्याय दृष्टि मानने से कोई दूषण नही आता।

"यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापिपर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत्। यदि पुनरेकांतेनपरिणामी भवति तदोपाधि परिणामो न घटते।"
अजमेर से प्रकाशित समयसार पृ० ३०१।

यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध है फिर भी पर्यायदृष्टि से कथंचित् परिणामीपना होनेपर अनादिकाल से धाराप्रवाहरूप से चले आये कर्मोदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। यदि द्रव्यदृष्टि के एकान्त से यह जीव अपरिणामी ही हो तो इस जीव का रागादि उपाधिरूप परिणाम कभी घटित नहीं हो सकता है। जब एकान्तद्रव्यदृष्टि मे इस जीव के रागादि परिणाम घटित नहीं हो सकते तो मोक्षमार्ग भी घटित नही हो सकता।

"पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः। न नश्यति कश्चिद्द्रव्यार्थिकनय विभागैः। यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवरूपं।"

यह जीव पर्यायदृष्टि से देव, मनुष्य आदि पर्यायो के द्वारा विनाश को प्राप्त होता है। द्रव्यदृष्टि से जीव नाश को प्राप्त नहीं होता है। इसप्रकार जीव नित्य अनित्यस्वभाववाला है। द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य अपरिणामी है और पर्याय दृष्टि से अनित्य परिणामी है। जो एकात से जीव को नित्य अपरिणामी मानते हैं वे सांख्यमतवालो के समान मिथ्यादृष्टि हैं।

"स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्यं। कथ मिथ्यादृष्टिः? इति चेत् यदैकांतेन नित्यकूटस्थोपरिणामी टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत्।"

जो एकांतद्रव्यदृष्टि से जीव को नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टंकोत्कीर्ण मानता है तो वह सांख्यमतवालों के समान मिथ्यादृष्टि है अर्हतमत का मानने वाला नहीं है।

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से सर्व जीव एक समान हैं उनमे कोई भेद नहीं है तथापि पर्यायदृष्टि से जीव तीनप्रकार का है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षप्राभृत मे कहते हैं—

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतो वाएण चयहि बहिरप्प ॥ ४ ॥ (मोक्षप्राभृत)

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥ (समाधितंत्र)

सर्वप्राणियों मे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इसप्रकार तीनप्रकार की आत्मा है । आत्मा के उन तीन भेदों (पर्यायो) मे से बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा अवस्था का ध्यान करो । उस परमात्मारूप पर्याय के ध्यान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

त सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहि ।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥ १९-१ ॥ प्रवचनसार

"एवं निर्दोषपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ।"

स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिक के इन्द्रो से पूजनीय और सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा का जो भव्य-जीव श्रद्धान करते हैं उनके सब दु ख नाश को प्राप्त हो जाते हैं । इसतरह निर्दोष परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होता है, ऐसा कहते हुए तीसरेस्थल मे गाथा पूर्ण हुई ।

परमात्म अवस्था जीव की पर्याय है, उस परमात्मपर्याय के श्रद्धान व ध्यान को मोक्षमार्ग बतलाया गया है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य का निम्न कलश भी दृष्टव्य है—

परपरिणति हेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
दविरतमनुभाव्य व्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
र्भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—यद्यपि शुद्धद्रव्यदृष्टि कर तो मैं शुद्ध हू चैतन्यमात्र मूर्ति हूं । परन्तु मेरी परिणति (पर्याय) मोहकर्म के उदय के कारण मैली रागादिरूप हो रही है । शुद्धात्मा की कथनीरूप जो यह समयसारग्रन्थ है, उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति (पर्याय) रागादि से रहित होकर शुद्ध हो अर्थात् मेरे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति हो ।

इस कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य की वर्तमान अशुद्धपर्याय पर दृष्टि रही है, जिसकी शुद्धि के लिये टीका रची गई है । यही मोक्षमार्ग है ।

तत्त्वार्थसूत्र में श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण इसप्रकार किया है—

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

यहाँ पर 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' के सिद्धांत को माननेवाला कहता है कि 'जीव और अजीव इन दो द्रव्यों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' इसप्रकार सूत्र की रचना होनी चाहिये थी, क्योंकि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तो पर्यायें हैं । इसपर श्री अकलंकदेव उत्तर देते हैं—

"अनेकान्ताच्च । द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्गुणप्रधानभावेन अर्पणानर्पणभेदात् जीवाजीवयोरास्रवादीनां स्यादन्तर्भावः स्यादनन्तर्भावः। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानर्पणात् अनादि पारिणामिकचैतन्याचैतन्यादि द्रव्यार्थार्पणाद् आस्रवादीनां स्याज्जीवेऽजीवे चान्तर्भावः। तथा द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्याद् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थिकार्पणाद् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थाऽनर्पणाद् आस्रवादीनां जीवाजीवयोः स्यादनन्तर्भावः। तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान् ।" [त. रा. वा.]

वस्तुतः जीव, अजीव और आस्रव आदि में परस्पर भेद भी है और अभेद भी है ऐसा अनेकांत है, अतः अनेकांतदृष्टि से विचार करना चाहिये। पर्यायदृष्टि गौण होने पर और द्रव्यदृष्टि की प्रधानता रहने पर अनादि पारिणामिक जीव और अजीवद्रव्य की मुख्यता होने से आस्रवादि पर्यायों की विवक्षा न होने पर उन आस्रव आदि पर्यायो का जीव और अजीव मे अन्तर्भाव हो जाता है, अतः जीव और अजीव इन दो पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। किन्तु जिससमय उन आस्रवादि पर्यायो को पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेवाली पर्यायार्थिकदृष्टि की मुख्यता होती है तथा द्रव्यदृष्टि गौण होती है तब आस्रवादि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता। अतः पर्यायदृष्टि से इन आस्रव आदि पर्याय का उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं है। अर्थात् आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन पर्यायो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, यह उपदेश पर्यायदृष्टि से यथार्थ है।

एकान्त मिथ्या मतो का समूह अनेकान्त नहीं है, क्योंकि उनके मतो मे नयो मे परस्पर सापेक्षता नहीं है। कहा भी है—

ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयल ववहार-सिद्धि सु णयादो होदि णियमेण ॥२६६॥ [स्वा का अ]

संस्कृत टीका—"सापेक्षाः स्वविपक्षापेक्षा सहिताः।"

जो नय सापेक्ष हो अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा करते हैं वे सुनय होते हैं। यदि नय निरपेक्ष हो अर्थात् विपक्ष की अपेक्षा से रहित हो तो दुर्नय होते हैं। द्रव्यदृष्टि यदि पर्यायदृष्टि सापेक्ष है तो सुदृष्टि है यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि से निरपेक्ष है तो कुदृष्टि है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः।
निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः॥ ५१ ॥ [त. सा. प्र. अ.]

ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा रखते हैं तो सम्यग्ज्ञानके हेतु होते हैं और यदि निरपेक्ष रहते हैं अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा नहीं रखते हैं तो मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं। यदि द्रव्य दृष्टि पर्यायदृष्टि सापेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि सापेक्ष है तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की कारण है। यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि निरपेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि निरपेक्ष है तो मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान के कारण हैं।

जिसप्रकार "न देवाः।" इस सूत्र के आधार पर यदि कोई देवपर्याय का निषेध करने लगे तो वह विद्वान् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने पूर्वापर प्रकरण अनुसार सूत्र का अर्थ नहीं समझा। इसीप्रकार 'मै सुखी-दुःखी, मै रंक राव' छहढाला के इस वाक्य के आधार पर सम्पादक जैन सन्देश 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' ऐसा सिद्धान्त बना लेवें तो यह उसकी भूल है, क्योंकि उन्होंने पूर्वापर प्रकरण पर दृष्टि नहीं दी। प्रकरण इसप्रकार है—

चेतन को है उपयोगरूप विनमूरति चिनमूरति अनूप ।
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल ।।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करैं देह में निज पिछान ।
मैं सुखी-दुःखी मैं रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव ।।
मेरे सुत तिय मैं सबलदीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाशमान ।।

जो कोई जीव के लक्षण उपयोग को स्वीकार नहीं करता, किन्तु शरीर को ही आपा मानता है, शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश से अपना नाश मानता है। शरीर के सुख मे अपने आपको सुखी और शरीर के दुःख मे अपने आपको दुःखी मानता है उसको यहाँ पर मिथ्यादृष्टि कहा है। जिसको अपनी ज्ञान-निधि की खबर नहीं है, बाह्यनिधि के कारण अपने आपको रंक व राव मानता है, उसको यहां पर मिथ्यादृष्टि कहा है।

छहढाला मे पर्यायदृष्टि को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है बल्कि पर्यायदृष्टि का उपदेश दिया गया है और पर्यायदृष्टि से मुक्ति बतलाई है। वह कथन इसप्रकार है—

"यह मानुष परजाय, सुकुल सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गये न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी ।।"
"बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरंतर, जो नित आनन्द पूजै ।।"

वज्रनाभि चक्रवर्ती पर्यायदृष्टि से विचार करते हैं—

"मैं चक्री पद पाय निरन्तर भोगे भोग घनेरे,
तो भी तनिक भये नहीं पूर्ण, भोग मनोरथ मेरे।"

इस पर्यायदृष्टि को रखते हुए भी वज्रनाभिचक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि नहीं हुए।

'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाय तो अनित्य, अशरण, संसार, अशुचि आदि भावनाओं का श्रद्धान करनेवालों के मिथ्यात्व का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि ये भावना पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से संभव है। द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से अनित्य आदि भावना संभव नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि में नित्यता स्वीकार की गई है।

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार ।।
दल बल देई देवता, मात पिता परिवार।
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखनहार ।।
दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ।।

इसप्रकार पर्यायदृष्टि से श्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं है, अपितु सम्यग्दृष्टि है।

सामायिक पाठ मे अपने दोषो की पर्यायदृष्टि से निम्नप्रकार आलोचना करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता वह तो सम्यग्दृष्टि है —

हा हा ! मै दुठ अपराधी, त्रस जीवन राशि विराधी ।
थावर को जतन न कीनो, उर मे करुना नहीं लीनो ॥
एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

सामायिकपाठ के इस श्लोक मे यह नहीं कहा गया कि द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि और पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि । यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मेरी आत्मा एक है और सदा शाश्वत है । यह द्रव्यदृष्टि से कथन है । मेरी आत्मा निर्मल और साधिगम है, यह स्वभावदृष्टि से कथन है । कर्मजनित औपाधिकभाव मेरे स्वभाव नहीं हैं और नाशवान हैं यह विभावपर्यायदृष्टि से कथन है ।

यहाँ पर द्रव्यदृष्टि से आत्मा सदा शाश्वत अर्थात् अनादि-अनन्त बतलाया गया है । आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बधी हुई है अतः शुद्ध नहीं है । अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय शुद्ध या अशुद्धात्मा नहीं है, किन्तु शुद्ध व अशुद्ध विशेषणो रहित सामान्य आत्मा है । श्री देवसेन आचार्य ने आलाप पद्धति मे कहा भी है—

"निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्या स्वभाव विभाव पर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यम् ।"

जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी-अपनी स्वभाव-विभावपर्यायो को प्राप्त होता है, होवेगा और हो चुका है, वह द्रव्य है ।

यदि द्रव्यदृष्टि का विषय शुद्धद्रव्य माना जाय तो वह विभावपर्यायो को प्राप्त नही हो सकता । अतः द्रव्यदृष्टि का विषय, शुद्धाशुद्ध विशेषणो से रहित सामान्य आत्मा है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा १० की टीका मे 'ऊर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये' शब्दो द्वारा द्रव्य का लक्षण ऊर्ध्वतासामान्य बतलाया है ।

'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।' परीक्षामुख

पूर्व और उत्तर पर्यायों मे रहनेवाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं । जैसे स्थास, कोश, कुशूल, घट आदि पर्यायों मे मिट्टी रहती है ।

यदि द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मद्रव्य के साथ शुद्ध विशेषण लगा दिया जाये तो वह अशुद्धपर्यायो मे नहीं रह सकेगा, किन्तु संसारी अशुद्धपर्याय मे आत्मद्रव्य रहता है । अतः शुद्धाशुद्ध विशेषणों से रहित सामान्य आत्मा द्रव्यदृष्टि का विषय है ।

'सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि ।' प्रवचनसार परिशिष्ट

सामान्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आत्मा सर्व पर्यायो मे व्याप्त होकर रहता है जैसे मोती की माला का डोरा माला के काले, पीले, शुक्ल वर्ण वाले सब दानो मे व्याप्त होकर रहता है ।

यह सामान्य आत्मा जब शुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है तब शुद्धपर्याय से तन्मय होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य कहलाता है । जब अशुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है, तब अशुद्धपर्याय से तन्मय होने के कारण अशुद्ध आत्मद्रव्य कहलाता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

द्रव्य जिसकाल मे जिसपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् जिसपर्याय को व्याप्त करता है उसकाल मे वह द्रव्य उसका रूप है ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है। इसलिये धर्मपर्याय को प्राप्त आत्मा को धर्मात्मा जानना चाहिए। जीव जब शुभपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् शुभपर्याय को प्राप्त करता है, तब वह जीव स्वय शुभ हो जाता है। वही जीव जब अशुभपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् अशुभपर्याय को प्राप्त करता है तब वह जीव स्वय अशुभ हो जाता है। जब वही जीव शुद्धभाव से परिणमन करता है अर्थात् शुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है, तब वह जीव स्वय शुद्ध हो जाता है, क्योकि जीव परिणमन स्वभाववाला है। इन तीनो अवस्थाओ मे रहनेवाला जो सामान्य आत्मद्रव्य है वह द्रव्यदृष्टि का विषय है। "तातैं द्रव्यदृष्टि करि एक दशा है, पर्यायदृष्टि करि अनेक अवस्था हो है, ऐसा मानना योग्य है। सो शुद्ध-अशुद्धअवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा (ससारी व सिद्ध मे) समानता मानिए सो यह मिथ्यादृष्टि है। तातैं आपका द्रव्य पर्यायरूप अवलोकेगा। द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्यायकरि विशेष अवधारना। ऐसे ही चितवन किए सम्यग्दृष्टि हो है। जातैं सांचा अवलोके बिना सम्यग्दृष्टि कैसे नाम पावे" (मो. मा. प्र.)

श्री गौतमगणधर प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाले जीव की योग्यता का कथन इसप्रकार करते हैं—

उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय विगलिंदियेसु। पंचिदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो सखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असखेज्जवस्साउगेसु वि ॥ धवल पु ६ पृ २३८

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म को उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है? चारों ही गतियो मे उपशमाता है। चारो ही गतियो मे उपशमाता हुआ पचेन्द्रियों मे उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो मे नही उपशमाता है। पचेन्द्रियों मे उपशमाता हुआ संज्ञियो मे उपशमाता है, असज्ञियो में नहीं उपशमाता। सज्ञियों मे उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिको (गर्भजजीवो) मे उपशमाता है, सम्मूर्च्छिमों मे नहीं गर्भोपक्रान्तिको मे उपशमाता हुआ पर्याप्तकों मे उपशमाता है, अपर्याप्तको मे नहीं, पर्याप्तकों मे उपशमाता हुआ सख्यातवर्ष की आयुवाले जीवो मे भी उपशमाता है और असख्यातवर्ष की आयुवाले जीवो मे भी उपशमाता है। अर्थात् उपशम-सम्यक्त्व उत्पन्न करता है।

गणधर ने सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन पर्यायदृष्टि से किया है। 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' यदि यह सिद्धान्त होता तो गणधर महाराज पर्यायदृष्टि से क्यो कथन करते ?

श्री गुणधराचार्य कषायपाहुड़ मे कहते हैं—

सव्वणिरय भवणेसु दीव-समुद्दे गुह जोदिस विमाणे।
अभिजोग्ग-अणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो ॥
सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो।
जोगे अण्णदरम्हिय जहण्णगो तेउलेस्साए ॥ [क. पा. ४३० व ४३२]

सर्व नरकों मे, सर्वप्रकार के भवनवासी देवों मे, सर्वद्वीप और समुद्रों मे, सर्व व्यन्तरदेवो मे, समस्त ज्योतिष्कदेवो मे, विमानवासीदेवो में आभियोग्य जाति के और अनाभियोग्य जाति के देवो मे दर्शनमोहनीय-कर्म का उपशम होता है। साकारोपयोग मे वर्तमान जीव ही दर्शनमोहनीयकर्म के उपशमन का प्रस्थापक होता है, किन्तु निष्ठापक और मध्यम अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है। तीनों योगो मे से किसी एक योग में वर्तमान और तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है। अर्थात् उपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन भी पर्यायदृष्टि से किया गया है। इससे स्पष्ट है कि सापेक्ष पर्याय-दृष्टि से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

द्रव्यदृष्टि सो सामान्यदृष्टि, क्योंकि "सामान्यं द्रव्य चैकार्थवाचकाः।" तत्त्वार्थसार

"पर्यायदृष्टि सो विशेषदृष्टि, क्योंकि विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः।" तत्त्वार्थसार

किन्तु सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान होता है। कहा भी है—

"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।"

सामान्य शास्त्र तें विशेष बलवान् है, क्योंकि विशेष ही तें नीके निर्णय हो है। इसीलिये कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय के मोक्षमार्ग प्ररूपक दूसरे अधिकार मे जीवतत्त्व का पर्यायो की अपेक्षा विशेष कथन किया है। गाथा १०९ मे ससारी व मोक्षपर्याय की अपेक्षा से जीवतत्त्व का कथन है। गाथा ११० से १२२ तक इन्द्रिय, गति, भव्य, अभव्य, कर्त्ता, भोक्ता आदि पर्यायों की अपेक्षा ससारीजीव का विशेष कथन है। जीवपदार्थ के कथन का उपसंहार करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं॥ १२३॥ (पंचास्तिकाय)

इसप्रकार अन्य भी बहुतसी पर्यायो द्वारा जीव को जानकर, ज्ञान से अन्य ऐसे जड लिंग द्वारा अजीव-पदार्थ को जानो।

यदि द्रव्यदृष्टि सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि ऐसा सिद्धान्त होता तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष-मार्गप्ररूपक अधिकार मे जीवपदार्थ का पर्यायो की अपेक्षा क्यों कथन करते तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य 'बहुभिः पर्यायैः जीवमधिगच्छेत्।' अर्थात् बहुतपर्यायो द्वारा जीव को जानो ऐसी आज्ञा क्यो देते ?

यथार्थ दृष्टि से पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। जिसकी मात्र सामान्य पर दृष्टि है, विशेष (पर्याय) पर दृष्टि नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता है।

२७ मई १९७१ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख मे जो प्रवचनसार का उल्लेख है अब उसपर विचार किया जाता है।

उक्त सम्पादकीय लेख मे प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का कुछ भाग उद्धृत किया गया है, किन्तु इस टीका का द्रव्यदृष्टि या पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है और न इस टीका का मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि से कोई सम्बन्ध है, वह टीका इसप्रकार है—

"रागादिपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम् । रागपरिणामस्यैवात्मा कर्त्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः, यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्त्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौस्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः साध्यस्य शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतकोव्यवहारनयः ॥१८९॥" प्रवचनसार ।

यहाँ पर रागादि परिणामो को आत्मा के कर्म और आत्मा उन रागादि का कर्त्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय कहा है । पौद्गलिक कर्म आत्मा के कर्म और आत्मा उन पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को अशुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहारनय कहा है ।

यहाँ पर शुद्धद्रव्य व निश्चयनय तथा अशुद्धद्रव्य व व्यवहारनय ये शब्द किस अभिप्राय से प्रयोग किये गये हैं, इसको समझने के लिये अध्यात्मनयो के स्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है । अध्यात्मनयो का कथन इसप्रकार है—

"पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति । सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति । व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्चतत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः । भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूत व्यवहारः।"

अर्थ—फिर भी अध्यात्मभाषा से नयो का कथन करते हैं । नयो के दो मूल भेद हैं, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय । निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है । निश्चयनय दो प्रकार का है १. शुद्धनिश्चयनय, २ अशुद्धनिश्चयनय । उनमे से जो नय कर्मजनित रागादिविकार से रहित गुण-गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह शुद्धनिश्चयनय है । जैसे केवलज्ञानादिस्वरूप जीव है । जो नय कर्मजनित रागादि विकारसहित गुण और गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्ध निश्चयनय है । जैसे मतिज्ञानादिस्वरूप जीव है व्यवहारनय दो प्रकार का है । १. सद्भूतव्यवहारनय, २ असद्भूतव्यवहारनय । एक वस्तु को विषय करनेवाला सद्भूतव्यवहारनय है । भिन्न वस्तुओ को विषय करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है ।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका मे जो आत्मा को रागादि परिणामो का कर्त्ता और रागादि परिणामो को कर्म कहा गया है, वह एक ही वस्तु मे कर्त्ता कर्म के भेदरूप से कथन है अत वह सद्भूतव्यवहारनय का कथन है । पौद्गलिककर्म आत्मा के कर्म और आत्मा पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता है, यह कथन असद्भूत व्यवहार का है, क्योकि पुद्गल और आत्मा ये दो भिन्न वस्तु हैं । शुद्धनिश्चयनय का विषय तो रागादि विकारीभावो से रहित शुद्ध आत्मा है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चय और व्यवहार इन दो ही शब्दों का प्रयोग किया है । भेद प्रति-भेदो का निर्देश नहीं किया है । जहाँ पर शुद्धनिश्चयनय को निश्चय कहा गया है, वहाँ पर शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कह दिया गया है । जहाँ पर असद्भूतव्यवहारनय को व्यवहार कहा गया है, वहाँ पर असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा सद्भूतव्यवहारनय को निश्चय कहा गया है ।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका मे 'शुद्धद्रव्य' का प्रयोजन निरुपाधि-आत्मद्रव्य से नहीं है, क्योंकि निरुपाधि-आत्मद्रव्य रागादि विकारीपरिणामों का कर्त्ता नहीं हो सकता है, किन्तु 'एकद्रव्य' से प्रयोजन है, क्योंकि रागादि परिणाम का कर्त्ता व कर्म दोनो एकद्रव्य की पर्यायें हैं। 'निश्चयनय' का प्रयोजन सद्भूतव्यवहारनय है, क्योंकि एकद्रव्य मे कर्त्ता कर्म का भेद सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। 'व्यवहारनय' का प्रयोजन असद्भूतव्यवहारनय से है, क्योंकि सोपाधि आत्मा और पौद्गलिककर्मों मे अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं मे कर्त्ता-कर्म का सम्बन्ध बतलाना असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

इसप्रकार प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि की चर्चा मे प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का उल्लेख करना अप्रासगिक है।

२७ मई १९७१ के जैनसदेश के सम्पादकीय लेख मे प्रवचनसार गाथा ९४ का उल्लेख है। इस गाथा मे 'जे पज्जयेसु णिरवा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।' जो यह कहा गया है, वह एकान्त पर्यायदृष्टिवालों की अपेक्षा से कथन है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका के 'निरर्गलैकान्तदृष्टयो' शब्दो से स्पष्ट है। सापेक्ष पर्यायदृष्टिवाला भी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नही कहा गया है।

यदि द्रव्यदृष्टि भी निरपेक्ष पर्याय दृष्टि है तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका मे कहा है—

"पज्जयमूढा हि परसमया—यस्मादित्थंभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति।"

पज्जयमूढा हि परसमया अर्थात् जो इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय के यथार्थज्ञान से मूढ है, अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप सर्वथा नही हूँ इसप्रकार भेदविज्ञान मे मूढ है वह वास्तव मे मिथ्यादृष्टि है।

अतः सापेक्ष द्रव्यदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष द्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि। सापेक्ष पर्यायदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि।

प्रवचनसार गाथा १० में कहा भी है—

"णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।"

इस लोक मे पर्याय के बिना पदार्थ नही है और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं है। प्रदेश की अपेक्षा पर्याय और पर्यायी अपृथक् हैं।

अतः सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग संभव है।

—जै. ग. मई-जून 1973/ मुकुटलाल, बुलन्दशहर

भावस्त्री को मोक्ष सम्भव, द्रव्य स्त्री को नहीं

शंका—भावस्त्री को मोक्ष कहा गया है। यहाँ पर भावस्त्री से क्या प्रयोजन है?

समाधान—जिन मनुष्यो का शरीर तो द्रव्यपुरुषरूप हो, किन्तु उनके स्त्रीवेद नोकषाय का उदय हो ऐसी भावस्त्रियो को मोक्षगति सम्भव है। जिन मनुष्यों का शरीर भी द्रव्य स्त्रीरूप है। ऐसी स्त्रियों अर्थात् महिलाओं

को मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि उनके उत्तमसंहनन का अभाव है तथा वे वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं और वस्त्र का ग्रहण भाव असंयम का अविनाभावी है।

अंतिमतिय संहण्णस्सुवओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतिगसंहडण णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ३२ ॥ गो. क

अर्थ—कर्मभूमियो की स्त्रियों के अन्त के तीन अर्द्धनाराचादि सहननों का ही उदय होता है। वज्रवृषभ-नाराचसंहनन आदि प्रथम तीनसहनन कर्म-भूमिया स्त्रियो के नही होते हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

'न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावि वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्ते।' धवल पु. १ पृ. ३३३।

उन द्रव्यस्त्रियों के भावसयम नहीं है, क्योंकि भावसंयम के मानने पर, उनके भाव असंयम का अविना-भावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नही बन सकता है।

—जै. ग. 23-12-71/VII/ जै. म. जैन

निरन्तर मोक्ष जाने पर भी जीवराशि का कभी अभाव नहीं होगा

शंका—विदेहक्षेत्र से सदा आत्मा मुक्ति को जाने का क्रम सतत चालू है। अतः इस तरह मुक्ति जाने का क्रम चालू रहा तो एक दिन जगत् क्या जीव आत्मा से खाली नहीं हो जावेगा?

समाधान—जीवो का प्रमाण अनन्तानन्त है। जिसमे से व्यय होने पर भी जिसका अन्त न हो उसको अनन्तानन्त कहते हैं, अन्यथा एक को भी अनन्त की सज्ञा हो जायेगी। षट्खण्डागम पुस्तक १, पृष्ठ ३९२ पर कहा भी है—'यदि सव्यय और निराय राशि को भी अनन्त न माना जावे तो एक को भी अनन्त के मानने का प्रसग आ जायेगा। व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नही होता है, यह एकान्त नियम है।' षट्खण्डागम पुस्तक ४, पृष्ठ ३३८ पर कहा है—'व्यय के होते रहने पर भी अनन्तकाल के द्वारा भी जो राशि समाप्त नही होती है, उसे महर्षियो ने 'अनन्त' इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है।'

—जै. स. 30-1-58/VI/ म. रा. घोडके, परली बैजनाथ

संसारी जीवराशि का कभी अभाव नहीं होगा

शंका—लोक मे जीव अनन्तानन्त हैं फिर भी वे अपने प्रमाण में जितने हैं उतने ही हैं। नूतन जीव उत्पन्न नहीं होता है। इनमे से ६०८ जीव ६ माह ८ समय में निरंतर मोक्ष जा रहे हैं जिसके कारण इन जीवों की संख्या में न्यूनता अवश्य पड़ेगी। इस क्रम से अनन्त कल्पकाल व्यतीत होनेपर संसार से जीवों का अभाव होना चाहिये।

समाधान—यद्यपि जीव नूतन उत्पन्न नहीं होते और मोक्ष जाने से संसारी जीवों के प्रमाण मे न्यूनता भी आती है, किन्तु जीवों का प्रमाण अनन्तानन्त होने से ससार से जीवो का कभी भी अभाव नही होगा। आय बिना व्यय होने पर भी जो राशि समाप्त न हो उसको अनन्तानन्त कहते हैं यदि ऐसा न माना जावे तो 'एक' सख्या को भी अनन्तानन्त होने का प्रसंग आ जावेगा। धवल पुस्तक १ पृ० ३९२, पुस्तक ४ पृ० ३३८।

—जै. सं 27-11-58/V/ आ. कु. जैन, बड़गांव (टीकमगढ़)

द्रव्यगुण पर्याय-गुण

द्रव्य व गुण

शंका—द्रव्य की सिद्धि गुणों के समुदाय से होती है या कैसे, क्योंकि गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि द्रव्य के आश्रय गुण हैं पर एकगुण मे दूसरागुण नहीं है तो क्या गुण द्रव्य के आश्रित है या गुणों का स,ुदाय सो द्रव्य है ?

समाधान—द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा है। त० सू० ५।२९। 'सत्' का लक्षण 'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य' है सूत्र ३०। अतः द्रव्य की सिद्धि 'सत्ता' से अथवा एक ही समय मे होनेवाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से होती है। द्रव्य तो अखण्ड है जिसमे प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है। ध्रौव्य अश को गुण तथा उत्पाद, व्यय अश को पर्याय कहते हैं। अतः द्रव्य को गुणपर्यायवाला कहा है। हरएक द्रव्य मे अनन्त शक्तियाँ होती हैं, क्योंकि एक द्रव्य से नानाकार्य होते हुए देखे जाते हैं जैसे अग्नि के दाह, ताप, पाचन, प्रकाश आदि कार्य और ये शक्तियाँ कभी नष्ट नही होती। एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नही हो जाती और न एक शक्ति दूसरी शक्ति का कार्य करती है। अतः एक शक्ति मे दूसरी शक्ति का अभाव है अथवा एक शक्ति अन्य दूसरी शक्ति से रहित है। इन शक्तियो का नाम गुण है। अतः मोक्षशास्त्र अ० ५ सूत्र ४१ मे गुण का लक्षण द्रव्याश्रयानिर्गुणाः गुणाः कहा है। इन गुणों की और गुणो की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है। जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही प्रत्येक गुण के प्रदेश हैं, किन्तु सज्ञा, सख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा से द्रव्य और गुण मे भेद है। द्रव्य अवयवी और गुण अवयव है। अवयव-अवयवी से सर्वथा भिन्न नही होता है। इन अपेक्षाओ को रखकर यदि यह कहा जावे कि गुणो का समुदाय द्रव्य है तो कोई बाधा नही है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि प्रत्येकगुण की सत्ता भिन्न-भिन्न थी और इनको मिलाकर द्रव्य बना है जिस-प्रकार ईंटों के मिलने से मकान बनता है।

—जै. स. 4-10-56/VI/ क. दे. गया

धर्म व गुण में अन्तर

शंका—धर्म और गुण में क्या अन्तर है ?

समाधान—वस्तु मे गुण भी होते हैं और धर्म भी। गुण स्वभावभूत हैं। इनकी प्रतीति पर-निरपेक्ष होती है। धर्मों की प्रतीति परसापेक्ष होती है। पर्यायानुसार धर्मों का आविर्भाव व तिरोभाव यथासभव होता रहता है। जीव मे ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्य आदि असाधारणगुण व वस्तुत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारणगुणो की सत्ता और प्रतीति परनिरपेक्ष व स्वाभाविक है। छोटा-बडा, पितृत्व, पुत्रत्व, गुरुत्व-शिष्यत्व आदि धर्म-सापेक्ष है। यद्यपि इन धर्मों का सद्भाव जीव मे है पर ज्ञान आदि के समान स्वरसतः गुण नही है। इसप्रकार गुण और धर्म मे अन्तर है। गुणो को भी 'धर्म' शब्द के द्वारा कहा जा सकता है इसप्रकार गुण तो धर्म हो सकते हैं, किन्तु सभी धर्म गुण नहीं हो सकते।

—जै. सं. 27-11-58/V/ कपूरीदेवी गया

गुणी व गुण में तादात्म्यता तथा कथंचित् भेदाभेद

शंका—गुणी में गुण सर्वांग में व्यापकरूप से रहते हैं या एक देश में ? यदि गुणी में गुण सर्वांग में व्यापक हैं तो गुण में गुणी व्यापक मानना पड़ेगा, गुण और गुणी में भिन्नता किसप्रकार है ?

समाधान—गुण और गुणी का तादात्म्यसम्बन्ध है। अतः गुणी मे गुण सर्वांग व्यापक है। कहा भी है—

'आत्मा हि समगुणपर्यायं द्रव्यम् इति वचनात् ज्ञानेन सहहीनाधिकत्व-रहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः।' प्रवचनसार गा. २३ टीका।

द्रव्य गुण और पर्याय के बराबर है हीनाधिक नहीं है इस आर्षवचन के अनुसार आत्मा अपने ज्ञान गुण से हीन अधिकरूप न होकर परिणमित होता है, अत. आत्मा ज्ञानप्रमाण है। यदि ज्ञान को आत्मा के बराबर न माना जाय तो हीन होने पर आत्मा के अचेतनपना आजायेगा। यदि अधिक माना जाय तो ज्ञान के अचेतनपना आजायगा। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी बात को कहा है—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कह जाणादि ॥२५॥ प्र० सा०

इस जगत मे जिसके मत मे आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है, उसके मत मे वह आत्मा अवश्य ज्ञान से हीन हो अथवा अधिक होना चाहिये। यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन हो तो वह ज्ञान अचेतन होने से नही जानेगा और यदि ज्ञान से अधिक हो तो ज्ञान के बिना अचेतन हो जाने से आत्मा कैसे जानेगा ?

गुणी मे अनन्त गुण हैं अतः गुणी किसी भी एक गुण के आश्रय होकर नही रहता है, किन्तु गुण-गुणी के आश्रय होकर रहता है।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ५।४१ ॥ [तत्त्वार्थसूत्र]

जो निरन्तर द्रव्य मे रहते हैं और स्वय अन्य गुणो से रहित है वे गुण हैं।

"यद्यपि कथञ्चिद् व्यपदेशादिभेद-हेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये, तथापि तदव्यतिरेका त्तत्परिणामाच्च।" [स सि. ५।४२]

यद्यपि सज्ञा, सख्या, लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा गुण-गुणी मे कथंचित् भेद है तथापि द्रव्य के परिणाम की अपेक्षा गुण-गुणी मे भेद नहीं है।

"गुण गुणीनोः प्रविभक्त प्रदेशत्वाभावात्।" [प्रवचनसार गा० १०६ टीका]

गुण और गुणी मे भिन्न प्रदेशत्व का अभाव है अर्थात् जो गुणी के प्रदेश हैं वे ही गुण के प्रदेश हैं।

"एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षण सद्भावात्।" [प्रवचनसार गा० १०६]

गुण-गुणी में प्रदेश भेद न होने पर भी गुण-गुणी में अन्यत्व है, क्योकि अन्यत्व का लक्षण असद्भाव उनमें पाया जाता है।

—जै. ग. 6-11-69/VII/ रो. ला. जैन

किसी भी गुण की एक समय में दो पर्याय नहीं होती

शंका—चेतनागुण की एकसमय मे ज्ञान और दर्शनरूप दो पर्यायें होती हैं। इनमें से ज्ञान की प्रत्येकसमय में पाँच पर्यायें और दर्शन की चारपर्यायें होती हैं। अतः एक गुण की एकसमय में एकपर्याय होती है यह सिद्धान्त गलत है। (सोनगढ़ से प्रकाशित सैद्धान्तिक चर्चा)।

समाधान—आत्मा मे ज्ञान और दर्शन ऐसे दो भिन्न-भिन्न गुण हैं। इन दोनो गुणो का कार्य प्रकाश करना है। अतः सामान्य से इन दोनो गुणो की चेतना सज्ञा दे दी गई। ज्ञान और दर्शनचेतना की पर्यायें नहीं हैं किन्तु चेतना के भेद हैं। ज्ञान यद्यपि एक गुण है किन्तु ज्ञानावरणकर्म के कारण उसके पाँच भेद हो जाते हैं। जैसे कमरे मे प्रकाश एक ही है, किन्तु दीवार मे चार खिडकियो के द्वारा आने के कारण वह प्रकाश चारप्रकार का हो जाता है। दीवार हट जाने पर पूर्ण प्रकाश है और वह प्रकाश एकप्रकाररूप हो जाता है। दीवार के कारण जितना अधकार था वह भी समाप्त हो जाता है। इसीप्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर केवलज्ञान एकप्रकाररूप रह जाता है। चार खिडकियो मे से जिस जिस खिडकी के कपाट बन्द हो जाते हैं उन-उन खिड़कियो मे से प्रकाश आना बन्द हो जाता है और शेष खिडकियो के आगे पडदा लगा होने के कारण अल्प प्रकाश आता है। यदि पडदा गहरा होता है, तो प्रकाश अल्पतर हो जाता है।

इसीप्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार खिडकियाँ उस ज्ञानावरणरूप दीवार मे हैं। इनके द्वारा छद्मस्थावस्था मे ज्ञान होता है। इन चार खिडकियो मे से यदि अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान या दोनो के सर्वघातिया स्पर्धकोदयरूप कपाट बन्द हैं तो इनके द्वारा ज्ञान नही होगा। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सर्वथा सर्वघातियास्पर्धकोदयरूप कपाट बन्द नहीं होते, किन्तु देशघातिस्पर्धकोदयरूप पर्दा पड़ा हुआ है। उस पडदे की विभिन्नता के कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मे भी विभिन्नता हो जाती है। ज्ञान के मतिज्ञान आदि चारो भेद कर्मकृत हैं, स्वाभाविक नही हैं। स्वाभाविक तो एक केवलज्ञान है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

> जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई।
> णाणुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥१०॥
>
> केवलमिंदियरहियं, असहायं त सहावणाण त्ति।
> सण्णाणिदर वियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
>
> सण्णाण चउ भेय, मदिसुद ओही तहेव मण पज्ज।
> अण्णाणं तिवियप्पं मदिआइ भेद दो चेव ॥१२॥
>
> तह दंसणउवओगो, ससहावेदर–वियप्पदो दुविहो।
> केवलमिंदियरहियं त सहावमिदि भणिदं ॥१३॥
> चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि भणिदं विभावदिच्छित्ति ॥१४॥ [नियमसार]

जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दोप्रकार का है। ज्ञानोपयोग दोप्रकार का है, एक स्वभावज्ञान, दूसरा विभावज्ञान अतीन्द्रिय असहाय जो केवलज्ञान है सो स्वभावज्ञान है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान के भेद से विभावज्ञान उपयोग दोप्रकार का है। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय के भेद से सम्यग्ज्ञानोपयोग चारप्रकार का है। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि के भेद से मिथ्या ज्ञानोपयोग तीनप्रकार का है। इसीप्रकार दर्शनोपयोग

भी दोप्रकार का है, एक स्वभाव दूसरा विभाव। अतीन्द्रिय और असहाय केवलदर्शनस्वभाव दर्शनोपयोग है। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के भेद से विभावदर्शनोपयोग तीनप्रकार का है।

इसप्रकार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के कर्मकृत भेदो मे से प्रत्येक भेद एक-एक वैभाविकगुण हो जाता है। प्रत्येक भेद की एकसमय मे एक ही पर्याय होती है, किसी भी भेद की एकसमय मे दोपर्याय नही होती है। ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मों का क्षय हो जाने से स्वाभाविकज्ञान और स्वाभाविकदर्शन एक-एकरूप हो जाता है। कर्मकृत भेदो का अभाव हो जाता है। जैसे एक बडे कमरे को दीवारो के द्वारा विभाजन करने पर प्रत्येक भाग एक भिन्न कमरा बन जाता है। एक ही समय में उनमे से किसी भाग मे अंधकार हो सकता है और दूसरे भाग मे प्रकाश हो सकता है। अंधकार और प्रकाशरूप ये दो पर्याय क्या उस बडे कमरे की हैं ? ये परस्पर विरोधी दोनो पर्यायें उस बड़े कमरे की नही हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न भागो की हैं। इन दोनो पर्यायो को एक ही बडे कमरे की कहना महान भूल है। अतः एकगुण की एकसमय मे एक ही पर्याय होती है यह निर्विवाद सिद्धान्त है जो कुयुक्ति के द्वारा खंडित नहीं हो सकता है। दीवारो के क्षय हो जाने पर वह बडा कमरा एकरूप हो जाता है, तब उस बड़े कमरे की एकसमय मे एक ही पर्याय होगी, दो पर्यायें नहीं हो सकतीं।[१]

—जै. ग. 24-6-76/VI/ ज. ला. जैन

शक्ति व व्यक्ति

शंका—जैनसंदेश में लिखा है—"द्रव्यशक्ति की व्यक्तता पर्यायशक्ति है।" इस लक्षण में क्या आपत्ति है ?

समाधान—शक्ति का कार्यकारीरूप परिणत हो जाना शक्ति की व्यक्तता है। अन्य परमाणुओं के साथ बंध को प्राप्त होने पर परमाणु मे स्कन्धरूप परिणमन करने की शक्ति की व्यक्तता है। शक्ति को व्यक्ति की शक्ति कहना कहाँ तक उचित है, आप स्वयं विचार कर लेवें। भव्यजीव मे मोक्ष जाने की शक्ति है। जब जीव मोक्ष को प्राप्त होता है तब उस द्रव्य-शक्ति की व्यक्ति होती है।

—जै. ग. 7-2-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

शंका—जैनसंदेश में अष्टसहस्री कारिका ४२ में से 'सर्वथा' शब्द पर टिप्पणी "शक्तिरूपेण द्रव्यपर्यायरूपेण वा।" उद्धृत करते हुए लिखा है—"इससे स्पष्ट है द्रव्यशक्ति की व्यक्ति का नाम ही पर्यायशक्ति है।" क्या इस टिप्पणी का यह अभिप्राय है ?

१. दि० २८-८-७४ को एक पत्र मे श्री जवाहरलालजी को आपने लिखा था—जो स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा जाना जाय वह स्पर्शन गुण हैं। उस गुण के ४ भेद हैं। प्रत्येक भेद की दो पर्यायें होती हैं। चार प्रकार के स्पर्श गुण की ४ पर्यायें एक समय में हो सकती हैं। ते चार पर्यायें एक गुण की नहीं हैं। सामान्य से चेतना गुण एक हैं। किन्तु उसके दो भेद हैं, अतः प्रत्येक भेद की भिन्न-भिन्न पर्याय होगी। सामान्य से मूर्तिक गुण एक हैं ? किन्तु उसके स्पर्श, रस, गन्ध व वर्ण; ये चार भेद होते हैं। अतः चारों की पृथक्-पृथक् पर्यायें होंगी। क्या ये चारों एक मूर्तिक गुण की हैं या भिन्न-भिन्न दो भेदों की कल्पना की हैं ? एक गुण के प्रत्येक भेद की एक समय में एक ही पर्याय होगी, अन्यथा पर्याय का लक्षण बाधित हो जायगा [क्रमवर्तिनः पर्यायाः; न तु सहवर्तिनः] सूक्ष्म तत्त्व तक पहुँच न होने के कारण इसप्रकार की अनेक भूलें होती हैं। "रतनचन्द मुख्तार"

समाधान—अष्टसहस्री पृ. १८८ टिप्पण नं. ५ 'सर्वथा' शब्द के स्पष्टीकरण के लिए है जो इस प्रकार है— 'शक्तिव्यक्तिरूपेण द्रव्यपर्यायरूपेण वा।' 'यद्यसत् सर्वथा कार्यं' कारिका ४२ मे 'सर्वथा' शब्द का अभिप्राय यह है कि जो कार्य शक्तिरूप से भी असत् है व्यक्तिरूप से भी असत् है, द्रव्यरूप से भी असत् है पर्यायरूप से भी असत् है वह कार्य सर्वथा असत् होता है। कारिका ४२ मे सर्वथा शब्द का यह अभिप्राय नहीं है कि द्रव्यशक्ति की व्यक्ति का नाम ही पर्यायशक्ति है, क्योंकि यहाँ द्रव्यशक्ति व पर्यायशक्ति का प्रकरण ही नहीं है। द्रव्य शक्ति की व्यक्ति पर्यायशक्ति है, ऐसा नहीं कहा गया है और न यह सम्भव है। भव्यजीव मे मोक्ष जाने की द्रव्यशक्ति है। जब वह मोक्ष पहुँच जाता है तो द्रव्यशक्ति व्यक्त होती है तो क्या मोक्ष पहुँचने पर मोक्ष जाने की पर्यायशक्ति उत्पन्न हुई ? ऐसा कोई नहीं कह सकता है।

—जै. ग. 7-2-66/X/ र. ला. जैन, मेरठ

स्कन्ध इन्द्रियग्राह्य होता है परमाणु नहीं। शब्द स्कन्धजन्य है

शंका—जैनसंदेश में लिखा है—"अतः परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति विद्यमान है, वही शब्द पर्यायरूप से व्यक्त होती है। इसी तरह परमाणु में इन्द्रिय ग्राह्य होने की भी योग्यता है। तभी तो स्कन्धरूप होने पर वे इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं।" इस कथन में क्या आपत्ति है ?

समाधान—पुद्गल की परमाणु और स्कन्ध दो पर्यायें हैं। पुद्गल की परमाणुरूप पर्याय सूक्ष्म-सूक्ष्म है जो परमावधिज्ञान का विषय भी नहीं है, किन्तु सर्वावधिज्ञान का विषय है।

"परमाणुः सूक्ष्म-सूक्ष्मम्, यत्सर्वावधिविषयं तत्सूक्ष्मसूक्ष्ममित्यर्थः।" स्वा. कार्ति. पृ० १४०। इसलिये परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हो सकता। बंध के द्वारा परमाणुरूप पर्याय का व्यय होकर स्थूलस्कन्धपर्याय का उत्पाद होने पर वह स्कन्धपर्याय इन्द्रियगोचर होती है, परमाणु इन्द्रियगोचर नहीं होता है। उस स्कन्ध मे पृथक्-पृथक् परमाणु इन्द्रियगोचर होते हो, ऐसा भी नहीं है। परमाणुरूप पर्याय मे इन्द्रिय ग्राह्य होने की योग्यता नहीं है, किन्तु स्थूलस्कन्ध में इन्द्रियग्राह्य होने की योग्यता है और जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने पर व्यक्त होता है।

परमाणु मे बंध के द्वारा भाषावर्गणारूप परिणत होने की शक्ति है। भाषावर्गणारूप स्कन्ध मे शब्दरूप परिणमन करने की योग्यता है, किन्तु परमाणु मे शब्दरूप परिणत होने की शक्ति नहीं है, क्योंकि शब्द स्कन्धजन्य है। (पंचास्तिकाय गाथा ७९)।

—जै. ग. 7-2-66/X/ र. ला. जैन, मेरठ

परमाणु भाषावर्गणारूप स्कन्ध का कारण

शंका—पंचास्तिकाय गाथा ७८ की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि परमाणु मे शब्द को अव्यक्तरूप से भी नहीं मानते हैं। किन्तु गाथा ८१ की टीका मे वे भी तथा आचार्य श्री जयसेन भी शक्तिरूप से शब्द का कारणभूत कहते हैं। इस सबका क्या तात्पर्य है ? इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि परमाणु में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है ?

समाधान—पंचास्तिकाय गाथा ७९ मे स्पष्टरूप से कहा है कि "सद्दो खंधप्पभवो, खंधो परमाणुसंग संघादो।" अर्थात् शब्द स्कंधजन्य है और स्कंध पुद्गलपरमाणुओं के समूह का संघात है। भाषावर्गणारूप स्कन्ध जिनमें शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है वे तो शब्द के अंतरंग कारण हैं जो समस्तलोक में व्याप्त हैं और तालु,

ओष्ठ, घटा आदि स्कन्ध शब्द के बहिरंग कारण हैं। इन दोनो कारणो के मिलने से शब्द प्रगट होता है। एकप्रदेशी परमाणु शब्द का न तो अंतरंग कारण है और न बहिरग कारण है, किन्तु भाषावर्गणारूप स्कन्ध का कारण है, क्योकि परमाणुसमूह का संघात ही तो भाषावर्गणारूप स्कन्ध है। अर्थात् परमाणु मे भाषावर्गणारूप परिणमन करने की शक्ति है और भाषावर्गणा शब्द का अंतरगकारण है। इस परम्परा से परमाणु को शब्द का कारण कहा गया है।

"परमाणुः शब्दस्कन्ध, परिणति-शक्ति-स्वभावात् शब्दकारणम्।"

परमाणुसमूह भाषावर्गणास्कन्धरूप परिणमन किये बिना प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् शब्दरूप परिणमन करने मे अशक्य है इसीलिये गाथा ७८ की टीका मे कहा है कि एकप्रदेशी परमाणु को अनेकप्रदेशात्मक शब्द के साथ एकत्व होने मे विरोध है।

परमाणु एक प्रदेशात्मक होने से जलधारण करने मे अशक्य है। किन्तु परमाणुसमूह का बध होकर जब घटपर्यायरूप परिणमन हो जाता है तो घट मे जल धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घट मे जल भर देने से घट की जलधारण शक्ति व्यक्त हो जाती है। घट मे जल निकाल लेने पर जलधारणशक्ति तो रहती है, किन्तु शक्ति की व्यक्ति नहीं रहती है। घटपर्याय नष्ट हो जाने पर जलधारण शक्ति भी नष्ट हो जाती है। घटपर्याय उत्पन्न होने पर जलधारणशक्ति उत्पन्न होती है और जल भर देने पर जल धारण शक्ति की व्यक्तता होती है। यदि किसी की यह मान्यता हो कि एकप्रदेशी परमाणु मे जलधारण की शक्ति है जो कि घटपर्यायरूप उत्पन्न होने पर व्यक्त होती है तो उसने शक्ति और व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप ही नहीं समझा।

—जै. ग. 7-2-66/IX/ र ला जैन

ज्ञानदर्शनगुण, उनकी पर्याय व उपयोग

शंका—ज्ञान और दर्शन क्या चेतनागुण की पर्याय हैं या चेतनागुण के दो भेद हैं? यदि ज्ञान और दर्शन को चेतना गुण के भेद मानकर दोनों को भिन्न गुण माना जावे तो छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान और दर्शन दोनों युगपत् होने चाहिये थे, क्योंकि इनमें दोनों की कोई न कोई पर्याय प्रतिसमय रहनी चाहिये और यदि ज्ञान व दर्शन के चेतनागुण की पर्याय मानी जावे तो केवलीभगवान में ज्ञान व दर्शन युगपत् नहीं होने चाहिये, क्योंकि एकसमय में एक गुण की दो पर्याय नहीं हो सकतीं।

समाधान—ज्ञान और दर्शन ये दोनों जीव के स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न गुण हैं। जीव के ये दो गुण ही ऐसे हैं जो चेतनारूप हैं अन्य गुण चेतनारूप नहीं हैं अतः इन ज्ञान व दर्शन दोनो गुणों को चेतना सज्ञा दी गई है। आठप्रकार के कर्मों मे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दो पृथक्-पृथक् कर्मों का निर्देश किया गया है। यदि ये दोनो पृथक् गुण न होते और एक चेतना गुण ही होता तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण के स्थान पर एक चेतनावरण कर्म का निर्देश होता। अतः ज्ञान और दर्शन दो पृथक्-पृथक् गुण हैं।

इन दोनो गुणों का विषय भी भिन्न-भिन्न है। ज्ञान का विषय बाह्यपदार्थ है और दर्शन का विषय अंतरंगपदार्थ है। ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है।

छद्मस्थ अवस्था में भी ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय और दर्शन की क्षायोपशमिकपर्याय युगपत् पाई जाती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि रूप ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय पाई जाती है। अचक्षुदर्शन-चक्षुदर्शनादिरूप दर्शनगुण

की पर्याय छद्मस्थ जीव के पाई जाती है। केवलीभगवान के ज्ञानगुण की क्षायिकपर्याय केवलज्ञानरूप और दर्शनगुण की क्षायिकपर्याय केवलदर्शनरूप एकसमय मे एकसाथ पाई जाती है। केवलीभगवान के आवरणकर्म का सर्वथा क्षय होगया है अतः उनके दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग भी युगपत् होते हैं, किन्तु छद्मस्थ के आवरण कर्म का उदय है अतः उस उदय के कारण दोनो उपयोग एकसाथ न होकर क्रमशः होते हैं। परन्तु क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शनलब्धिरूप से छद्मस्थावस्था मे भी एक साथ होता है। विशेष के लिए ध. पु. १, ६, ७ व १३ देखना चाहिये।

—जै. ग. 20-6-63/IX/ प्रेमचन्द

ज्ञान गुण परप्रकाशक है

शंका—क्या ज्ञान स्व को नहीं जानता ? फिर इसे स्व-पर प्रकाशक कैसे कहा जाता है। स्पष्ट करें।

समाधान—ज्ञान साकार होता है। जैसे दर्पण मे परपदार्थों का आकार तो पड़ता है, किन्तु स्व का आकार नहीं पड़ता। ज्ञान मे स्व का आकार नहीं पड़ता, इसलिए वह स्व को नही जानता। दर्शन निराकार होता है। इसलिए वीरसेनाचार्य ने अन्तर्मुखचित्प्रकाश को दर्शन तथा बहिर्मुखचित्प्रकाश को ज्ञान कहा है। यदि ज्ञान स्व-पर प्रकाशक हो तो दर्शन के लिए कोई विषय नहीं रहता।

अन्यमत वालो ने दर्शन गुण नहीं माना है। अतः न्याय ग्रन्थो मे भी दर्शन गुण का कथन नही किया गया। उन ग्रन्थो मे ज्ञान को ही स्व-पर प्रकाशक कहा है। इसका विशेष कथन धवल पु० ७ मे है।

—पत्र 19-2-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

दर्शनगुण ही आत्मा को जानता है

शंका—ज्ञान स्वयं आत्मा को नहीं जानता, दर्शनगुण ही आत्मा को जानता है तो दर्शनगुण इसप्रकार से जानता है क्या कि यह मेरी आत्मा है, ये उसके गुण हैं, यह गुणी है, यह उसकी वर्तमानपर्याय है आदि-आदि। यानी दर्शनगुण का विषय 'स्व' है, सो तो ठीक है, परन्तु वह स्व को गुण-गुणी भेदरूप भी जान सकता है या नहीं। यदि हाँ तो, दर्शन का विषय 'विशेष' भी हुआ। तथा यदि गुण-गुणी का भेद करके दर्शन आत्मा को नहीं जाने तो फिर तो आत्मा के पूरे-पूरे ज्ञान का ही अभाव ठहरता है। क्योंकि आत्मा को ज्ञानगुण तो जानता है नहीं, ऐसा स्वीकार किया जारहा है। किञ्च केवली की 'आत्मा को, आत्मपर्यायों को व अनन्त आत्मगुणों' को उनका दर्शन-गुण जान रहा है या ज्ञानगुण ? जैन न्यायशास्त्रों में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है तो फिर इस तरह तो जैन न्यायशास्त्र गलत हो गए, क्योंकि वास्तव में तो आत्मा का ज्ञान परप्रकाशक (पर-ज्ञाता) ही है तथा न्याय में कहा गया है स्व-पर प्रकाशक। यह उत्तर तो ठीक नहीं होगा कि अन्यमतियो को समझाने के लिए ऐसा किया गया है, क्योंकि अन्यमतियों को समझाने के लिए कहीं सिद्धान्त को गलत करके उनके सामने नहीं रखा जा सकता है ? ऐसा करने से तो हमारे श्रावक भी भ्रमित हो जाएंगे।

समाधान—जैनागम मे शंकाकार के कथनानुसार ही कथन है। जैनागम का मुख्य अभिप्राय शिष्य को प्रतिबोध कराने का है, क्योंकि अन्यमती आत्मा मे दर्शनगुण है, ऐसा नहीं जानता। उसे समझाने के लिए चेतना-गुण को ज्ञानगुण के नाम से कहकर ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक कहा गया है जैसे—बालकों या बाल-जनों को समझाने के लिए 'जो चलता है, बोलता है वह जीव है' ऐसा लक्षण कहा जाता है। जब वह कुछ प्रतिबुद्ध हो जाता है

तो जीव का अन्य लक्षण बताया जाता है। ऐसे ही क्षयोपशम, योग व लेश्या आदि के भिन्न-भिन्न लक्षण पाये जाते हैं।

धवल पुस्तक १ में पृ० १४७ पर कहा है "ततः सामान्यविशेषात्मकं बाह्यार्थ ग्रहणं ज्ञानं, तदात्मकस्वरूप-ग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्" अतः सामान्यविशेषात्मक बाह्यपदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करनेवाला दर्शन है। किन्तु ज्ञान सविकल्प है और दर्शननिर्विकल्प है अतः उसमे गुण-गुणी का भेद-विकल्प नहीं होता, जैसे केवलज्ञान द्रव्य-गुणो-पर्यायो को जानता तो है, किन्तु उसमे ऐसा विकल्प नहीं होता कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है। केवलज्ञान बाह्यपदार्थों को जानता है और केवलदर्शन आत्मा को जानता है ऐसा स्पष्ट कथन जयधवल पु० १, पृष्ठ ३०१ से ३१८ में गाथा सख्या १५ से २० मे आया है। जयधवल पुस्तक एक के पृ० ३२५-३२६ पर तथा धवला पुस्तक ६ के पृष्ठ ३४ पर भी ऐसा कथन है।

जैन न्यायशास्त्रो मे चेतना को ज्ञान कहकर ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है। जैसे जीव का लक्षण चेतना न कहकर ज्ञान कह देते हैं। चेतना का उसके मुख्य भेदज्ञान मे उपचार किया गया है। चेतना ज्ञान-दर्शन-रूप है अतः चेतना स्व-पर प्रकाशक है। चेतना का उपचार ज्ञान मे करने से ज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक हो जाता है। निमित्त व प्रयोजन होने पर उपचार होता है। (आलाप पद्धति)। यहाँ अन्यमती को प्रतिबोध कराना प्रयोजन है; अतः चेतना का उपचार ज्ञान मे करने से सिद्धान्त से कोई बाधा नही आती।

—पत्र 1-3-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

दर्शनगुण का कार्य

शंका—दर्शन को स्वग्राहक (आत्मग्राहक) धवल पु० १, ७ आदि में कहा है। तो क्या 'आत्मा का ज्ञान' दर्शनगुण की पर्याय है ? क्या केवलदर्शनपर्याय आत्मा के समस्त गुणों व पर्यायों को जानती है और केवलज्ञान आत्मा को नहीं जानता है ?

समाधान—'आन्तरिक आत्मज्ञान' दर्शनगुण की पर्याय है, क्योंकि वह अन्तर्मुख चित्प्रकाश है, किन्तु **'परीक्षामुख'** आदि न्यायशास्त्रो मे दर्शनगुण का कथन न होने से आत्मज्ञान को भी ज्ञानगुण की पर्याय कहा है।

केवलदर्शन आत्मा के सर्वगुण व सद्भावात्मक पर्यायो को जानता है। [धवल पु० १।३८५][1]

—पत्र 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

स्वकीय रागद्वेष दर्शन के विषय हैं

शंका—अपने स्वयं के रागद्वेषों का ज्ञान (छद्मस्थ अवस्था में) ज्ञान गुण को होता है या दर्शन गुण को ?

समाधान—अपने राग-द्वेष की जानकारी दर्शनगुण के द्वारा होगी, क्योंकि ज्ञान साकार होने से पर-पदार्थों को जानता है।

—पत्र 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

१. "ज्ञान आत्मा को नहीं जानता, दर्शन जानता है।" इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए धवल १।३८५, ध. १।१४८; वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४४ की टीका, जयधवल १।३२८ आदि देखने चाहिए।

शंका—क्या ये कथन ठीक हैं ? (१) अपना ज्ञान स्वयं खुद ज्ञान को नहीं जानता (२) अपना ज्ञान स्वयं खुद अपनी आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं को जान सकता है

समाधान—धवलमतानुसार आपका कथन ठीक है।

—पत्र 22-6-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

अनुजीवी व प्रतिजीवी, ऐसे गुणों के भेद आर्ष नहीं हैं

शंका—अनुजीवी गुण तथा प्रतिजीवी गुण; ऐसे गुणों के दो भेद पंचाध्यायी उत्तरार्ध ७४।३७९ में देखने मे आते है। जैनसिद्धान्तप्रवेशिका मे इसी का अनुसरण विदित होता है। श्लोकवार्तिक के हिन्दी-अनुवाद में भी प्रतिजीवीगुण व अनुजीवीगुण; ये शब्द देखने मे आते हैं [श्लो० १।४।५३।१५८] परन्तु यह भी स्पष्ट है कि पञ्चाध्यायी का अथवा तदनुसर्ता का अनुसरण है। परन्तु किसी आर्षग्रन्थ में ये नाम देखने को नहीं मिलते हैं। तब क्या आचार्यों के ग्रन्थों से अप्रमाणित ये भेद ग्राह्य हैं अथवा नहीं; स्पष्ट करें ?

समाधान—अनुजीवी व प्रतिजीवी; ये आर्षशब्द नही हैं, किसी के मनघडन्त हैं। हमे सदा आर्षवाक्यों को प्रमाण करना चाहिये।

—पत्राचार 22-10-79/ ज ला जैन; भीण्डर

(१) नास्तित्वगुण का सद्भाव सिद्धों में कैसे ?
(२) नास्तित्वस्वभाव अनन्तविध होता है।
(३) नास्तित्व; यह स्वभाव भी है तथा कथंचित् गुण भी।
(४) किसी भी आर्ष ग्रन्थ में प्रतिजीवी–अनुजीवी; ऐसे गुणों के भेद नहीं मिलते

शंका—सिद्धों के प्रतिजीवी गुण मे नास्तित्वगुण कहा। संसार का नाश कर दिया इस अभिप्राय से नास्तित्वगुण कहा या किसी अन्य अभिप्राय से ?

समाधान—आर्षग्रन्थो मे किसी भी गुण की 'प्रतिजीवी' ऐसी संज्ञा नही है और न गुणो के भेदो मे से कोई 'प्रतिजीवी' ऐसा भेद है। अत: 'प्रतिजीवीगुण' यह संज्ञा आर्षग्रन्थानुकूल नहीं है।

आर्षग्रन्थों मे सामान्य-गुण व विशेष-गुण इसप्रकार गुण के दो भेद हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यो के सामान्यगुण हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यो के विशेष गुण हैं। कहा भी है—

'अस्तित्वं वस्तुत्वं द्रव्यत्वं प्रमेयत्व अगुरुलघुत्वं प्रदेशत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः। ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगन्धवर्णाः गतिहेतुत्वं स्थितिहेतुत्वमवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडश विशेषगुणाः।' आलापपद्धति

इन गुणों मे नास्तित्व का उल्लेख नही है, किन्तु सामान्य स्वभावों मे नास्तित्व का उल्लेख है—

यन्ते। अस्तिस्वभाव: नास्तिस्वभाव: नित्यस्वभाव: अनित्यस्वभाव: एकस्वभाव: अनेकस्वभाव: भेदस्वभाव: अभेदस्वभाव: भव्यस्वभाव: अभव्यस्वभाव: परमस्वभाव: द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभाव:। चेतनस्वभाव: अचेतनस्वभाव: मूर्तस्वभाव: अमूर्तस्वभाव: एकप्रदेशस्वभाव: अनेकप्रदेशस्वभाव: विभावस्वभाव. शुद्धस्वभाव: अशुद्धस्वभाव: उपचरितस्वभाव: एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावा:। जीव पुद्गलयोरेकविंशतिः।' आलापपद्धति

यहाँ पर चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव ये चारो स्वभाव भी जीव और पुद्गल दोनों मे होते हैं ऐसा कहा गया है। अर्थात् जीव में अचेतनस्वभाव व मूर्तस्वभाव तो किसी अपेक्षा समव है, किंतु अचेतनगुण और मूर्तगुण जीव मे नहीं होते हैं। इसी प्रकार पुद्गल मे किसी अपेक्षा चेतन व अमूर्त स्वभाव सम्भव है किन्तु चेतनगुण व मूर्तगुण सम्भव नही है।

बंध की अपेक्षा जीव मे अज्ञान औदयिक भावरूप अचेतन स्वभाव है और स्थूल परिणमन रूप मूर्तस्वभाव है।

द्रव्य मे पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति स्वभाव है। पर चतुष्टय अनन्त हैं इसलिये नास्तिस्वभाव भी अनन्त प्रकार का हो जाता है। द्रव्य मे नास्ति स्वभाव पर की अपेक्षा से माना गया है अतः इसका गुणो मे उल्लेख नही किया गया है। किन्तु नास्ति-स्वभाव द्रव्य मे सदा रहता है इस अपेक्षा से इसको गुण भी कह दिया जाता है। जैसे प्रवचनसार गाथा ९५ की टीका मे कहा गया है—

"गुणाः विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात्। तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्व मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्व भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः। अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः।"

यहाँ पर भी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'नास्तित्व' को सामान्यगुण तो कहा है, किन्तु प्रतिजीवी गुण नहीं कहा है।

नास्तिस्वभाव का लक्षण निम्नप्रकार कहा गया है—

"परस्वरूपेणाभावात् नास्तिस्वभावः" (आलाप पद्धति)

परस्वरूप से नही होना नास्तिस्वभाव है।

नास्तिस्वभाव सामान्यस्वभाव होने से सब द्रव्यो मे पाया जाता है, क्योकि कोई भी द्रव्य परद्रव्यस्वरूप नहीं परिणमता। सिद्ध भी द्रव्य हैं और वे भी परद्रव्यस्वरूप नहीं होते, अतः उनमे भी नास्ति स्वभाव है।

—जै. ग 19-12-68/VIII/ मगनमाला

सुख गुण का आवारक कर्म मोहनीय अथवा वेदनीय है

शंका—फरवरी १९६६ के सन्मतिसंदेश मे श्री प० फूलचन्दजी ने लिखा है कि "कोई एक कर्म सुख गुण का प्रतिपक्षी स्वीकार नहीं किया गया है।" इस पर प्रश्न है कि सुखगुण का घातक क्या कोई एक कर्म नहीं है ?

समाधान—सुख का लक्षण अनाकुलता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार गाथा १८ की टीका में 'अनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं' शब्दो द्वारा सुख का लक्षण अनाकुलता बतलाया है। गाथा २६ व ५९ की टीका मे भी अनाकुलता को सुख का लक्षण कहा है।

आकुलता की उत्पादक इच्छा है और इच्छा चारित्रमोहनीय कर्मोदय से उत्पन्न होती है। अतः दिगम्बर जैनाचार्यों ने मोहनीयकर्म के क्षय से सुख की उत्पत्ति होनी बतलाई है—

दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहतेः, सौख्यं च मोहक्षयात् ।
वीर्यं विघ्नविघाततोऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः ॥
आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना ।
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद् दुःख सुख चाक्षजम् ॥८।९॥ पद्म. पंच.

अर्थ—सिद्धों के दर्शनावरण के क्षय से उत्कृष्ट अर्थात् केवलदर्शन, ज्ञानावरण के क्षय से उत्कृष्ट अर्थात् केवलज्ञान, मोहनीयकर्म के क्षय से सुख, अन्तराय के विनाश से अनन्तवीर्य, नामकर्म के क्षय से मूर्तिका अभाव होकर अमूर्तत्व, आयुकर्म के नष्ट हो जाने से जन्म-मरण का अभाव होकर अवगाहनत्व, गोत्र कर्म के क्षीण हो जाने पर उच्च एवं नीच का अभाव होकर अगुरुलघुत्व, तथा वेदनीय कर्म के नष्ट हो जाने से इंद्रियजन्य सुख दुःख का अभाव होकर अव्याबाध गुण प्रकट होता है।

श्री तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय ९ सूत्र ४४ की टीका में भी "तत्सुखं मोहक्षयात् ।" शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि निर्वाणसुख मोह के क्षय से उत्पन्न होता है।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध होता है कि मोहनीयकर्म के क्षय से आकुलता का अभाव होता है और अनाकुलता लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है। इसलिये मोहनीयकर्म सुखगुण का प्रतिपक्षी है। अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य प्रगट हो जाने पर अनाकुलतारूप सुख अनन्तसुख संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। और वेदनीयकर्म के क्षय हो जाने पर इस सुख की अव्याबाध संज्ञा हो जाती है। इसीलिये कुछ आचार्यों ने वेदनीयकर्म के क्षय से सुखगुण बतलाया है।

जस्सोदएण जीवो सुहं व दुक्खं व दुविहमणुहवइ ।
तस्सोदयक्खएण दु जायदि अप्पत्थणंतसुहो ॥६॥ ध. पु. ७ पृ. १४

अर्थ—जिस वेदनीयकर्म के उदय से जीव सुख और दुख इस दो प्रकार की अवस्था का अनुभव करता है, उसी कर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्तसुख उत्पन्न होता है।

इसप्रकार दि० जैन आचार्यों ने तो मोहनीयकर्म अथवा वेदनीयकर्म को आत्मस्थ सुख का प्रतिपक्षी बतलाया है।

—जै. ग. 11-4-66/IX/र. ला. जैन मेरठ

१. वीर्य गुण से योग में कारण कार्य सम्बन्ध है
२. परमार्थतः योग औदयिक है और उपचारतः क्षायोपशमिक

शंका—वीर्य आत्मा का स्वतन्त्रगुण है तब उसका योग से क्या सम्बन्ध है ?

समाधान—क्षायोपशमिकवीर्य की वृद्धि से योग में वृद्धि होती है, अतः क्षायोपशमिकवीर्य व योग मे कारण-कार्य-सम्बन्ध है। कहा भी है—

"विरियंतराइयस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण तेसिं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण समुब्भवादो लद्धखओवसमववएसं विरियं वड्ढदि तं विरियं पप्प जेण जीवपदेसाणं संकोचविकोचो वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ त्ति वुत्तो। विरियंतराइयखओवसमजणिदबलवड्ढि हाणीहिंतो जदि जीवपदेसपरिप्फंदस्स वड्ढिहाणीओ होंति तो खीणंतराइयम्मि सिद्धे जोगबहुत्तं पसज्जदे ? ण खओवसमियबलादो खइयस्स बलस्स पुधत्तदंसणादो। ण च खओवसमियबलवड्ढि-हाणी-हिंतो वड्ढि-हाणीणं गच्छमाणो जीवपदेसपरिप्फंदो खइयबलादो वड्ढिहाणीणं गच्छदि, अइप्पसंगादो। जदि जोगो वीरियंतराइयखओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे ? ण, उवयारेणखओवसमियं भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो।" (ध. पु. ७ पृ. ७५-७६)

अर्थ—वीर्यान्तरायकर्म के सर्वघातीस्पर्धकों के उदयाभाव से व उन्हीं स्पर्धकों के सत्त्वोपशम से तथा देशघातीस्पर्धकों के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढ़ता है तब उस वीर्य को पाकर अर्थात् उस वीर्य के कारण चूँकि जीवप्रदेशों का संकोच विकोच बढ़ता है, इसलिये योग क्षायोपशमिक कहा गया है। यहाँ पर यह शंका होती है—यदि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से प्रदेशों के परिस्पंद की वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग आता है ? आचार्य कहते हैं—सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल निरन्तर भिन्न देखा जाता है, क्षायोपशमिकबल की वृद्धि-हानि से वृद्धि-हानि को प्राप्त होनेवाला जीवप्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिकबल से वृद्धि-हानि को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा। पुनः शंका—यदि योग वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं कि सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग भी नहीं आता है। क्योंकि योग में क्षायोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है, असल में तो योग औदयिकभाव ही है और औदयिक योग का सयोगिकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है।

षट्खण्डागम में वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के कारण ही योग को क्षायोपशमिकभाव कहा गया है, क्योंकि वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से वीर्य में हानि-वृद्धि होती है और वीर्य की हानि-वृद्धि से योग में हानि-वृद्धि होती है, इसप्रकार योग और क्षायोपशमिकवीर्य में कार्य-कारणसम्बन्ध है।

—जै. ग. 16-7-70/VII/ रो. ला.

योग जीव से कथंचित् अनन्य है, कथंचित् अन्य

शंका—२३ दिसम्बर १९६५ के जैनसन्देश में समयसार गाथा १६४ के आधार पर यह कहा गया कि योग को द्रव्यप्रत्ययरूप और भावप्रत्ययरूप से अचेतन और चेतन कहा है। इसलिये योग जीवरूप होने से जीव की निजशक्ति है।

समाधान—समयसार गाथा १६४ में 'मिथ्यात्व, अविरति, कषाय ये चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार के हैं और जीव के अनन्य परिणाम हैं' यह कहा गया है। परन्तु यहाँ पर यह विचारणीय है कि जिसप्रकार उपयोग जीव का निजपरिणाम होने से अनन्यपरिणाम है क्या उसी प्रकार ये प्रत्यय भी जीव के अनन्य परिणाम हैं। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने इसका विवेचन गाथा १०९ से ११५ तक किया है जो इस प्रकार है—

प्रत्यय अर्थात् बंध के कारण जो आस्रव वे सामान्य से चार बंध के कर्ता कहे हैं वे मिथ्यात्व अविरत कषाय और योग जानने और उनके फिर तेरह भेद अर्थात् तेरह गुणस्थान मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली तक हैं। ये निश्चय ही अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गलकर्म के उदय से हुए हैं। वे कर्म को करते हैं, उनका भोक्ता आत्मा

नहीं होता। ये प्रत्ययगुण (गुणस्थान) नाम वाले हैं, क्योंकि वे कर्म को करते हैं, इसकारण जीव तो कर्म का कर्ता नहीं है। ये गुण (गुणस्थान) ही कर्मों को करते हैं। जैसे जीव से उपयोग अनन्य (एकरूप) है। उसीतरह यदि क्रोध भी जीव से अनन्य हो जाय अर्थात् एकरूप हो जाय तो इसतरह जीव और अजीव के एकपना प्राप्त हुआ। ऐसा होने से इस लोक मे जो जीव है वही नियम से वैसा ही अजीव हुआ। ऐसे दोनो के एकत्व होने मे यह दोष प्राप्त हुआ। इसी तरह प्रत्यय, नोकर्म और कर्म इन दोनो मे भी यही दोष जानना। अत. क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है, जिस तरह क्रोध है उसीतरह प्रत्यय (मिथ्यात्व अविरति, कषाय व योग), कर्म और नोकर्म से भी आत्मा से अन्य है।

यहाँ पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने योगप्रत्यय को भी अचेतन कहा है, क्योंकि पुद्गल कर्मोदय से हुआ है और यह भी कहा कि यदि उपयोग के समान योग प्रत्यय को भी जीव से अनन्य मान लिया जाय तो जीव और अजीव के एकपने का दूषण आ जायगा। अतः योगप्रत्यय आत्मा से अन्य ही है।

योग पुद्गलकर्मोदयकृत औपाधिकभाव है और समयसार गाथा ५७ मे जीव का और औपाधिकभावों या सम्बन्ध जल और दूध के समान बतलाया है और यह भी कहा है कि ये जीव के नहीं हैं क्योंकि जीव उपयोग गुणकर अधिक है।

जल और दूध के सम्बन्ध के समान जीव और योगप्रत्यय का सम्बन्ध है इस अपेक्षा से योग जीव से कथंचित् अनन्य है तथा चिदाभास है। किंतु योग का और जीव का त्रैकालिक तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य का कहना है।

—जै. ग 14-2-66/IX/ र. ला. जैन

अवगाहनगुण

शंका—अवगाहनशक्ति आकाश में है या और द्रव्यो मे भी है। अगर केवल आकाश मे है तो किस प्रकार से ? यदि अन्य द्रव्यों में भी है तो आकाश को स्थान देनेवाला क्यों बताया गया है ? अथवा आकाश का लक्षण अवकाशवान क्यों कहा है ?

समाधान—आकाश का लक्षण अवकाश देना है। कहा भी है—अवकासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं—वृ० द्र० सं० गाथा १९ जो जीवादि द्रव्यो को अवकाश देने वाला है उसे जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाशद्रव्य जानो। अन्य द्रव्यो मे द्रव्यो को अवकाश देने की शक्ति नहीं है। यदि कहा जावे कि 'धर्मद्रव्य' तथा 'अधर्म द्रव्य' मे अन्य समस्त द्रव्यो को अवकाश देने की शक्ति है किंतु 'अलोकाकाश' को अवकाश देने की शक्ति 'धर्मद्रव्य' तथा 'अधर्मद्रव्य' मे भी नहीं है। अतः सर्वद्रव्यो को अवकाशदान आकाश का असाधारणगुण है। प्रवचनसार गाथा १३३ की टीका में श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने इसप्रकार कहा है—विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य। तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसम्पादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणाम-सम्भवदाकाशमधिगमयति। युगपत् सर्वद्रव्यो के साधारण अवगाह का हेतुत्व आकाश का विशेषगुण है। एक ही काल मे समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह का सम्पादन (अवगाहहेतुत्वरूप लिंग) आकाश को बतलाता है, क्योंकि शेषद्रव्यो के सर्वगत न होने से ही उनके वह (अवगाह गुण) सम्भव नहीं है।

—जै. सं. 14-3-57/ / ला. रा. दा. कैराना

शंका—सिद्धों में भी अवगाहन देने की शक्ति है, क्योंकि एक सिद्ध में अनन्त सिद्ध हैं, ऐसा शास्त्रों में कथन पाया जाता है।

समाधान—सिद्धों में भी अवगाहन-दान शक्ति है। जहाँ पर एक सिद्ध भगवान हैं, वहाँ पर अन्य छहद्रव्य भी हैं। किन्तु सिद्धों में अन्य समस्त द्रव्यों को अवगाहनदान की शक्ति नहीं है अतः सिद्धों का अवगाहनदान असाधारणगुण नहीं है।

—जै. स. 14-3-57/ / ला रा. दा. कैराना

सिद्धों व निगोदजीवों में अवगाहना का हेतु

शंका—सिद्ध भगवान के आत्मप्रदेशों मे अवगाहनगुण होने के कारण अनन्त सिद्ध समा जाते हैं, इसीतरह निगोदजीव के शरीर में अनन्त निगोदिया रहते हैं क्या उसमें भी अवगाहनगुण कारण है या दोनों में कौन से कारण हैं ? सिद्धभगवान के और निगोदिया के अवगाहनगुण मे क्या अन्तर है ?

समाधान—नामकर्म के क्षय से स्वाभाविक अवगाहनगुण सिद्धों मे होता है। ससारावस्था मे शरीरनामकर्मोदय के कारण वह अवगाहनगुण आच्छादित रहता है।

साधारणनामकर्मोदय के कारण एक निगोदशरीर मे अनन्तानन्त जीव रहते हैं। कहा भी है—

'बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत् साधारणशरीरनाम ॥' स. सि ८-११

अर्थात्—एक साधारणशरीर का बहुत जीव उपभोग करते हैं। जिस कर्म के निमित्त से यह साधारण शरीर होता है वह साधारणशरीरनामकर्म है।

'नि नियतां गां भूमिं क्षेत्रं ददातीति अनन्तानन्तजीवानाम् इति निगोदाः साधारणजन्तवः।'

—स्वा० का० गा० १५० की टीका

अर्थ—जो एक क्षेत्र मे अनन्तानन्त जीवों को अवगाहन देते है उन्हे निगोदिया अथवा साधारणजीव कहते हैं।

इसप्रकार सिद्धो मे स्वाभाविक अवगाहनगुण के कारण एकक्षेत्र मे अनन्तानन्त सिद्ध रहते हैं और निगोदशरीर मे साधारणशरीर नामकर्मोदय के कारण एकक्षेत्र में अनंतानंत जीव रहते है।

—जै. ग 8-2-68/IX/ ध. ला. सेठी

एक द्रव्य में अगुरुलघु गुण की संख्या

शंका—प्रत्येक द्रव्य में कितने अगुरुलघुगुण होते हैं ? क्या किसी द्रव्य मे अनन्त अगुरुलघुगुण भी होते हैं ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य मे एक ही अगुरुलघुगुण होता है। पचास्तिकाय मे जो अनन्त अगुरुलघुगुण लिखे हैं वहाँ गुण से अभिप्राय अविभागप्रतिच्छेद का है। तत्त्वार्थसूत्र मे भी द्व्यधिकादिगुणानां तु [त० सू० ५।३६] इस सूत्र मे 'गुण' शब्द आया है वह अविभागप्रतिच्छेद के लिये ही आया है।

—पत्राचार/17-2-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

१. अगुरुलघुगुण का स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति का उपाय
२. संसारी जीवों में अगुरुलघुगुण विभाव परिणमन किये हुए हैं

शंका—अगुरुलघुगुण क्या है और वह कैसे प्राप्त होता है ?

समाधान—श्री देवसेनाचार्य ने अगुरुलघुगुण का लक्षण आलापपद्धति में निम्नप्रकार कहा है—

'सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणाद् अभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ।' आलापपद्धति

अगुरुलघुगुण सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिक्षण परिणमनशील है आगमप्रमाण से जाना जाता है।

यह अगुरुलघुगुण सामान्यगुण है सब द्रव्यों में पाया जाता है और इस अगुरुलघु के परिणमन के कारण शुद्धद्रव्यो में षड्वृद्धिरूप और षड्हानिरूप परिणमन पाया जाता है।

पुद्गलपरमाणु के अतिरिक्त प्रत्येक शुद्धद्रव्य मे प्रतिसमय जो स्वभावअर्थपर्याय हो रही है वह अगुरुलघुगुण के कारण ही हो रही है, क्योकि शुद्धद्रव्य के अन्य गुणो के अविभागप्रतिच्छेदो मे हानि-वृद्धि नही होती है मात्र अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेदो मे हानि-वृद्धि होती है और यही स्वभावअर्थपर्याय है।

'गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यंजनपर्यायभेदात् । अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् । अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्हानिरूपाः ।' आलापपद्धति

गुणविकार को गुणपर्याय कहते हैं। अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय के भेद से वह दो प्रकार की है। स्वभाव-अर्थपर्याय और विभावअर्थपर्याय के भेद से अर्थपर्याय भी दो प्रकार की है। अगुरुलघुगुणविकार स्वभावअर्थपर्याय है जो बारह प्रकार की है, क्योकि उस अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेदों मे (अनन्तवेंभाग, असंख्यातवेंभाग, सख्यातवेंभाग, सख्यातगुणी, असख्यातगुणी और अनन्तगुणी) छह प्रकार की वृद्धि व छह प्रकार की हानि नियतक्रम से होती रहती है।

ससारावस्था मे जीव के कर्मोदय के कारण इस अगुरुलघुगुण का अभाव रहता है क्योंकि कर्मोदय के कारण ज्ञानादि गुणो मे हानि-वृद्धिरूप परिणाम होता है। धवलग्रन्थ में कहा भी है—

'अगुरुलघुअत्तं णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा। ण च सहावविणासे जीवस्स विणासो, लक्खणविणासे लक्खविणासस्स णाइयत्तादो। ण च णाण दंसणे मुच्चा जीवस्स अगुरु-लहुअत्तं लक्खणं, तस्स आयासादीसु वि उवलंभा।'

अगुरुलघु जीव का स्वाभाविकगुण नहीं है, क्योकि ससारावस्था मे कर्म-परतत्र जीव मे स्वाभाविक-अगुरुलघुगुण का अभाव है। यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव का विनाश प्राप्त होता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योकि लक्षण का विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है ऐसा न्याय है, किन्तु ज्ञान-दर्शन को छोड़कर अन्य जीव का लक्षण नहीं है। अगुरुलघु भी जीव का लक्षण नहीं है, क्योकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों मे भी पाया जाता है अतः अगुरुलघुगुण का अभाव हो जाने पर भी (विभावरूप परिणमन हो जाने पर भी) जीव का अभाव नहीं होता है। कर्मों का नाश करने पर स्वाभाविक अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है।

श्री अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक मे कहा है—

'मुक्तजीवानां कथमितिचेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।'

मुक्तजीवो के अगुरुलघुत्व कैसे सम्भव है ? संसारी जीवो के अनादिकाल से कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध प्रवाह-रूप से चला आ रहा है, मुक्तजीवो के कर्म-नोकर्म उदयजनित अगुरुलघुत्व की अत्यन्तनिवृत्ति हो जाने से स्वाभाविक-अगुरुलघुगुण का आविर्भाव हो जाता है ।

इसी बात को श्री भास्करनन्दि आचार्य ने भी कहा है—

'मुक्तात्मानां तु कर्मकृतागुरुलघुत्वाभावेऽपि स्वभाविक तदाविर्भवति ।'

—जै. ग. 22-10-70/VIII/ पद्मचंद्र

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित 'लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका' में अगुरुलघुगुण का स्वरूप इसप्रकार कहा है— 'जिस शक्ति के कारण से द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता है और द्रव्य मे रहने वाले अनन्तगुण बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते हैं, उस शक्ति को अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं ।' इसका अभिप्राय क्या स्वरूप प्रतिष्ठत्व नहीं है जैसा कि समयसार की सत्तरहवीं शक्ति में कहा गया है ?

समाधान—आलापपद्धति सूत्र ९९ व श्लोक ५ मे अगुरुलघुगुण का स्वरूप इसप्रकार कहा गया है— 'अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षण वर्तमाना आगमप्रमाण्यादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः ॥९९॥

सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञासिद्ध तु तद्ग्राह्य , नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥

जो सूक्ष्म है, वचनो के अगोचर है, प्रतिसमय परिणमनशील है तथा आगमप्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघुगुण है ।

अगुरुलघुगुण चूंकि प्रतिसमय परिणमनशील है इसीलिए शुद्धद्रव्यो मे षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप स्वभावपर्याय होती रहती हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

'स्वाभावपर्यायो नाम समस्त द्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतित-वृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः ।'

समस्त द्रव्यो मे अपने-अपने अगुरुलघुगुणद्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभावपर्याय है ।

श्री अकलंकदेव ने भी कहा है—

'यस्योदयादयस्पिण्डवत् गुरुत्वाद्धाधः पतति न चाऽर्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । धर्मादी-नाममजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत् ? अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात् मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।'

—रा० वा० ८।११।१२

जिसके उदय से इतना भारी नहीं हो जाता कि लोहपिण्ड की तरह नीचे पृथिवी में घूमता चला जाय और इतना हल्का नहीं होता कि अर्कतूल (आँखो की रुई) के समान इधर-उधर उड़ता फिरे। धर्म, अधर्म, आकाश, काल मे अनादि स्वाभाविक अगुरुलघुगुण के कारण अगुरुलघुपना है। अनादिकाल से कर्म व नोकर्म से बन्धे हुए संसारी जीवो मे कर्मोदयकृत अगुरुलघुपना है। कर्म-नोकर्म से अत्यन्त निवृत्त होने पर मुक्तजीवो मे स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का आविर्भाव हो जाता है।

समयसार मे अगुरुलघुशक्ति का स्वरूप इसप्रकार कहा है—

'षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।'

स्वरूपप्रतिष्ठत्व मे कारणरूप षट्स्थानपतितवृद्धि हानिवाली विशिष्टगुणस्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। अर्थात् यदि षटस्थानपतितवृद्धि-हानि न हो तो शुद्धद्रव्यो मे परिणमन न होने से द्रव्य कूटस्थ हो जायगा। द्रव्य कूटस्थ होता नहीं, अतः षट्स्थानपतितवृद्धि-हानि द्रव्यके स्वरूप-प्रतिष्ठत्व मे कारण है। यहाँ पर यह नही कहा गया कि अगुरुलघु के कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप या एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, क्योंकि यह कार्य तो अस्तित्व गुण का है। लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका मे 'षट्स्थान पतितहानि-वृद्धि अगुरुलघुगुण का कार्य है' ऐसा कथन नहीं है। अत. लघुजैनसिद्धान्तप्रवेशिका मे अगुरुलघुगुण का जो स्वरूप बतलाया गया है वह आर्षग्रन्थ अनुकूल नही है।

—जै. ग. 9-10-75/र. ला. जैन; एम. कॉम.

सिद्धों में अगुरुलघुगुण

शंका—'सिद्धों मे गोत्रकर्म के नाश से अगुरुलघुगुण प्रकट होता है,' यहाँ अगुरुलघु का क्या तात्पर्य है? 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' सूत्र में सिद्धों के अगुरुलघुगुण का कोई जिक्र नहीं है, सिद्धों मे अगुरुलघु-गुण क्यों माना जाय?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य मे अगुरुलघु साधारण गुण होता है जिसके द्वारा षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमन अर्थात् स्वभावअर्थपर्याय शुद्धद्रव्यो मे प्रतिसमय होती रहती है। कहा भी है—

"अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्व, मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्। अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्तेद्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्हानि-रूपाः। सूक्ष्मा अवाग्गोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः। आलापपद्धति

"स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमान षट्स्थानपतित-वृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः।" प्रवचनसार गाथा ९३ टीका

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अगुरुलघु सामान्यगुण है जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, जिसमे प्रतिसमय वर्तना होती रहती है तथा आगमप्रमाण से जाना जाता है। समस्त द्रव्यों मे अपने-अपने अगुरुलघुगुण के द्वारा प्रतिसमय षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप स्वभावअर्थपर्याय होती रहती है।

संसारावस्था में द्रव्यकर्मबन्ध के कारण जीव अशुद्ध हो रहा है अतः उसमे स्वभाविक अगुरुलघुगुण का तिरोभाव हो रहा है, क्योंकि उसका विभावरूप परिणमन हो रहा है।

"अगुरुअलहुअत्तं णाम जीवस्स साहाविअमत्थि चे ण, संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा ।"

धवल पु० ६ पृ० ५८

अगुरुलघुत्व जीव का स्वाभाविकगुण है ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संसारावस्था में कर्म-परतन्त्र जीव में उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है ।

"मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्म सम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौतु स्वाभाविकमाविर्भवति ।" (रा. वा. ८।११।१२)

अनादि कर्म–नोकर्मबद्ध जीवों के अर्थात् संसारीजीवों के कर्मोदयजनित अगुरुलघुपना है। उस कर्मोदय-कृत अगुरुलघु से अत्यन्त निवृत्त हो जाने पर मुक्तजीवों के स्वाभाविकअगुरुलघुगुण का प्राविर्भाव होता है ।

"मुक्तजीवे षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षयाभङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ।"

(प्रवचनसार गा० १८ टीका)

मुक्तजीवों में अगुरुलघुगुण में षट्स्थानवृद्धि-हानि की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जानना चाहिये ऐसा सूत्र का तात्पर्य है ।

तत्त्वार्थसूत्र अ० १० सूत्र ४ में सिद्धों के समस्त गुणों के नाम नहीं दिये गये हैं मात्र कुछ गुणों का नाम देकर अन्यगुणों का संकेत किया गया है । श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने तत्त्वार्थसार में "गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरव-लाघवाः ।" इन शब्दों द्वारा सिद्धों में अगुरुलघुगुण का कथन किया है ।

—जै. ग. 19-11-70/VII/ ब्रा. कु बड़जात्या

शंका—सिद्धों में अगुरुलघुगुण में हानि-वृद्धि की अपेक्षा या अन्य किन्हीं गुणों की अपेक्षा भेद किया जा सकता है या नहीं ?

समाधान—स्वाभाविक अगुरुलघुगुण में नियतक्रम अनुसार अविभागप्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि होती रहती है । अतः सिद्धों में अगुरुलघुगुण में हानि-वृद्धि की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है । सिद्धों में अन्य गुणकृत भेद भी नहीं है, क्योंकि सभी गुण शुद्ध स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये हैं । क्षेत्र, काल व अवगाहना सम्बन्धी भेद है । पूर्व-पर्याय की अपेक्षा सिद्धों में भेद किया जा सकता है जिसका कथन स. सि. अ १० सूत्र ९ की टीका में किया गया है । वह सूत्र निम्नप्रकार है—"क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।"

—जै. ग. 1-4-71/VII/ र. ला. जैन

अगुरुलघुगुण में एक ही समय में पूरी षट्स्थान पतित वृद्धि हानि नहीं हो सकती

शंका—आत्मा में एक अगुरुलघुगुण भी है, जिसमें प्रतिसमय षट्स्थानपतितहानि-वृद्धि होती है तथा यह स्वभावपर्याय है, सिद्धों में भी होय है । इसके विषय में पं० दीपचन्दजी शाह ने चिद्विलासनामक पुस्तक के पृ० ८६ पर लिखा है—"षट्गुणी वृद्धि हानि एकसमय में सधे है ।" इसमें मुझे शंका है कि अशुद्ध जीव में स्वभावपर्याय कैसे संभव है ? एक ही समय में षट्स्थान–हानि और षट्स्थानवृद्धि अर्थात् छहप्रकार की हानियाँ और छहप्रकार की वृद्धियाँ एक ही अगुरुलघुगुण की बारह पर्यायें एक ही समय में कैसे संभव हैं ?

समाधान—आत्मा मे जो अगुरुलघुगुण है वह स्वाभाविकगुण है, किन्तु ससारावस्था मे कर्मपरतन्त्रजीव मे उस स्वाभाविकअगुरुलघुगुण का अभाव है। जैसा कि धवल पु० ६ मे कहा है—

"अगुरुवलहुअस्स णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण, संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा।" [पृ० ५८] इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है।

मुक्त (सिद्ध) जीवो मे इस स्वाभाविकअगुरुलघुगुणका आविर्भाव होता है। जैसा कि कहा गया है—

"मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबंधानाकर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति।" [रा वा. अ. ८ सूत्र ११ वार्तिक १२ टीका]

अनादिकाल से कर्म व नोकर्म से बद्ध जीवों के (ससारी जीवो के) कर्मोदय के द्वारा किया हुआ अगुरुलघुत्व होता है। कर्मोदय से अत्यन्त मुक्त हुए जीवो के (सिद्धो के) स्वाभाविक अगुरुलघुत्व आविर्भूत हो जाता है अर्थात् स्वाभाविक अगुरुलघुगुण के द्वारा अगुरुलघुत्व होने लगता है।

इस अगुरुलघुगुण मे छहप्रकार की वृद्धि और छहप्रकार की हानि होती है, (१) अनन्तभाग-वृद्धि, (२) असंख्यातभाग-वृद्धि, (३) सख्यातभाग-वृद्धि, (४) सख्यातगुण-वृद्धि, (५) असंख्यातगुण-वृद्धि, (६) अनन्तगुण-वृद्धि। (७) अनन्तभाग-हानि, (८) असख्यातभाग-हानि, (९) सख्यातभाग-हानि, (१०) सख्यातगुण-हानि, (११) असंख्यात गुण-हानि, (१२) अनन्तगुण-हानि। इन बारहप्रकार की वृद्धि-हानि मे से एकसमय मे अपने नियतक्रम से एक ही प्रकार की वृद्धि या हानि होगी। एक ही समय मे छहो प्रकार की वृद्धि-हानि का होना सम्भव नहीं है। छहोंप्रकार की वृद्धि का नियतक्रम इसप्रकार है—

"हेट्ठाट्ठाणपरूवणाए अणतभागब्भहिय कंदय गतूण असंखेज्जभागब्भहियट्ठाणं ॥ २१५ ॥ किं कदयपमाणं ? अंगुलस्स असंखेज्जदिभागो। असंखेज्जभागब्भहिय कंदय गतूण सखेज्जभागब्भहियं ट्ठाण ॥ २१६ ॥ सखेज्जभागब्भहिय कंडयं गंतूण संखेज्जगुणब्भहिय ट्ठाण ॥ २१७ ॥ संखेज्जगुणब्भहियं कंदय गतूण असखेज्जगुणब्भहियं ट्ठाणं ।२१८। असंखेज्जगुणब्भहियं कडय गंतूण अणतगुणब्भहियं ट्ठाणं ॥ २१९ ॥ अणतभागब्भहियाण कडयवग्ग कंदय च गतूण संखेज्जभागब्भहियट्ठाणं ॥ २२० ॥ असंखेज्जभागब्भहियाणं कंदयवग्गं कंदय च गतूण सखेज्जगुणब्भहियट्ठाणं ॥२२१॥ संखेज्जभागब्भहियाणं कडयवग्ग कदयं च गंतूण असखेज्जगुणब्भहियट्ठाण ॥ २२२ ॥ सखेज्जगुणब्भहियाणं कंदयवग्गं कंदयं च गतूण अणतगुणब्भहिय ट्ठाण ॥ २२३ ॥ सखेज्जगुणस्स हेट्ठदो अणतभागब्भहियाण कंदयघणो बेकदयवग्गा कदयं च ॥ २२४ ॥ असंखेज्जगुणस्स हेट्ठदो असखेज्जभागब्भहियाण कदयघणो बेकदयवग्गा कदयं च ॥ २२५ ॥ अणतगुणस्स हेट्ठदो सखेज्जभागब्भहियाण कदयघणो बेकदयवग्गा कदय च ॥ २२६ ॥ असखेज्जगुणस्स हेट्ठदो अणतभागब्भहियाणं कंदयवग्गावग्गो तिण्णिकदयघणा तिण्णिकदयवग्गा कदय च ॥ २२७ ॥ अणंतगुणस्स हेट्ठदो असखेज्जभागब्भहियाणं कदयवग्गावग्गो तिण्णिकदयघणा तिण्णिकदयवग्गा कदय च ॥ २२८॥ अणतगुणस्स हेट्ठदो अणतभागब्भहियाणं कदयो पंचहदो चत्तारिकंदयवग्गा वग्गा छकदयघणा चत्तारिकदयवग्गा कदय च ॥ २२९ ॥

[ध. पु. १२ पृ. १९३-२०२]

अधस्तनस्थान प्ररूपणा मे अनन्तभागवृद्धि काण्डकप्रमाण जाकर असख्यातभागवृद्धि का स्थान होता है ॥ २१५ ॥ अंगुल का असख्यातवाँभाग काडक का प्रमाण है। काडकप्रमाण असख्यातभागवृद्धि जाकर सख्यातभाग वृद्धि का स्थान होता है ॥ २१६ ॥ काण्डकप्रमाण सख्यातभागवृद्धि जाकर सख्यातगुणवृद्धि का स्थान होता है ॥ २१७ ॥ काण्डकप्रमाण संख्यातगुणवृद्धि जाकर असंख्यातगुणवृद्धि का स्थान होता है ॥ २१८ ॥ काण्डकप्रमाण

असंख्यातगुणवृद्धि आकर अनन्तगुणवृद्धि का स्थान उत्पन्न होता है ।। २१९ ।। काण्डक का वर्ग और एक काण्डक प्रमाणबार अनन्तभागवृद्धियों के होने पर एकबार संख्यातभागवृद्धि होती है ।। २२० ।। काडकवर्ग व एक कांडकबार असंख्यातभागवृद्धियों के होने पर एकबार सख्यातगुणवृद्धि होती है ।। २२१ ।। काण्डक वर्ग और एक कांडकबार सख्यातभागवृद्धियो के होने पर एकबार असंख्यातगुणवृद्धि होती है ।। २२२ ।। काडकवर्ग और एक काडकबार संख्यातगुणवृद्धियो के होने पर एकबार अनन्तगुणवृद्धि का स्थान होता है ।। २२३ ।। सख्यातगुणवृद्धि के नीचे, कांडक का घन + दो काडकवर्ग + एक काडक इतनी बार अनन्तभागवृद्धियाँ होती हैं ।। २२४ ।। एक बार असंख्यात गुणवृद्धिस्थान के नीचे, कांडकघन + काडकवर्ग + काडक, इतनी बार असख्यातभागवृद्धि होती है ।। २२५ ।। अनत-गुणवृद्धिस्थान के नीचे, एक काडक घन + दो काडकवर्ग + एक काडक, इतनी बार सख्यातभागवृद्धि होती है ।२२६। असख्यातगुणवृद्धि के नीचे, एक काडकवर्ग का वर्ग + तीन काडकघन + तीनकाडक वर्ग + एककाडक, इतनी बार अनन्तभागवृद्धि होती है ।। २२७ ।। अनन्तगुणवृद्धि के नीचे, एक कांडकवर्ग का वर्ग + तीन काडकघन + तीन काडक वर्ग + एक कांडक, इतनी बार असख्यातभागवृद्धि होती है ।। २२८ ।। अनन्तभागवृद्धि के नीचे, काडक की घात५ + चार काडकवर्ग का वर्ग + छह काडकघन + चार काडकवर्ग + एक काडक, इतनी बार अनन्तभागवृद्धि होती है ।। २२९ ।।

उपसंहार—एक षट्स्थानपतितवृद्धि में अनन्तगुणवृद्धि एक बार, असख्यातगुणवृद्धिकाडक (अंगुल का असख्यातवाँभाग) प्रमाणबार (सूत्र २१९), सख्यातगुणवृद्धि कांडकवर्ग और एक कांडकप्रमाणबार होती है (सूत्र २२३), सख्यातभागवृद्धि एक काडकघन + दो कांडकवर्ग + एक काडकप्रमाणबार होती है (सूत्र २२६), असख्यातभागवृद्धि एक काडकवर्ग का वर्ग + तीन कांडकघन + तीन काडकवर्ग + एक कांडकप्रमाणबार होती है (सूत्र २२८) अनन्तभागवृद्धि काडकघात ५ + चार काडक वर्ग का वर्ग + छह काडकघन + चार काडक वर्ग + एक काडकप्रमाण-बार होती है ।

इसीप्रकार छह हानिस्थान के विषय मे जान लेना चाहिये । ये सब हानि व वृद्धि असख्यात समयों मे होती है । सिद्धान्त के विरुद्ध एकसमय मे षट्स्थानवृद्धि व हानि का कथन उचित नही है । अनार्ष-ग्रंथों में सिद्धान्त-विरुद्ध कथनों की संभावना रहती है । अतः आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय करना उचित है । अनार्ष पुस्तकों को पढ़ने से सिद्धान्त विरुद्ध धारणा बन जाती है, जैसा कि प्रायः देखा जाता है ।

—पं. ग 12-2-76/VI/ ज ला. जैन

आत्मा में वैभाविक शक्ति नहीं; स्वाभाविक शक्ति है

शंका—आत्मा में स्वाभाविकशक्ति है या वैभाविकशक्ति है या दोनों शक्तियां हैं ?

समाधान—आत्मा में वैभाविकशक्ति तो है नहीं, क्योंकि किसी भी दि० जैनाचार्य ने आत्मा में वैभाविक-शक्ति का कथन नही किया है । समयसार की आत्मख्याति संस्कृत टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मा की ४७ शक्तियों का कथन किया है, उसमें भी वैभाविकशक्ति का कथन नही किया गया, किन्तु निम्न स्वाभाविक शक्तियो का कथन पाया जाता है—

"सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मकृत, ज्ञातृत्वमात्रा-तिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः ।"

अकर्तृत्वशक्ति, अभोक्तृत्वशक्ति, निष्क्रियत्वशक्ति ये स्वाभाविकशक्ति हैं, इनके विपरीत क्रियावती आदि वैभाविकशक्ति का कथन आर्षग्रन्थों में नहीं पाया जाता है। कर्मोदय के कारण इन शक्तियों का विपरीत परिणमन सम्भव है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिः सगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्।"

क्योंकि आत्मा परिणामस्वभाववाला है इसलिये लौकिकसंग से विकार अवश्यम्भावी है अतः संयत भी असंयत हो जाता है। जैसे अग्नि के संयोग से जल उष्ण हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा में स्वाभाविकशक्ति तो है, किन्तु वैभाविकशक्ति या क्रियावतीशक्ति नहीं है।

—जै. ग. 1-1-76/VIII/........

अशुद्ध जीव में पर्यायरूप वैभाविक शक्ति होती है; द्रव्यरूप नहीं

शंका—समयसार के अन्त में ४७ शक्तियों का कथन है। वे शुद्धजीव की ही शक्तियाँ हैं या संसारी की भी? विभावरूप परिणमन करने की शक्ति भी कोई विशेष होती है क्या?

समाधान—४७ शक्तियाँ प्रत्येक जीव में हैं। उनमें से कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो संसारीजीव के प्रगट नहीं हुई। श्री अरहंत भगवान व सिद्धभगवान के प्रगट हो गई हैं जैसे सर्वदर्शित्व शक्ति, सर्वज्ञत्वशक्ति। कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो मात्र श्री सिद्धभगवान के व्यक्त हैं जैसे अमूर्तत्वशक्ति।

विभावरूप परिणमन करने की शक्ति अर्थात् वैभाविकशक्ति पर्यायशक्ति है। जो अशुद्ध जीव के होती है। जीव की अशुद्ध अवस्था का अभाव होने पर वैभाविकशक्ति का भी अभाव हो जाता है। कहा भी है—

"भव्यजीव की अशुद्धपरिणति को अशुद्धशक्ति कारण कहना हो तो उसे जीव के विभावपरिणाम की या अशुद्धजीव की शक्ति कहना होगा, क्योंकि उसके विभावों का अभाव होते ही उसकी अशुद्धि का भी अभाव हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार शुद्धशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह पारिणामिक नित्य होने से कालद्रव्य के निमित्त से उसका शुद्ध परिणमन होता रहता है, उसीप्रकार अशुद्धि का अभाव होने पर भी अशुद्धशक्ति जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध को प्राप्त हुई होने से जीव की शुद्धावस्था में भी जीवाश्रित रहती है। ऐसा माना तो जीव की शुद्ध अवस्था में भी उस शक्ति का कालद्रव्य के निमित्त से अशुद्धपरिणमन होता ही रहेगा, किन्तु शुद्धजीव के अशुद्धपरिणमन का सद्भाव न शास्त्र सम्मत है और न युक्ति सिद्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध बने हुए भव्यजीव की अशुद्धशक्ति अनादिसांत है, वह अशुद्धजीव के विभावपरिणाम की शक्ति है, शुद्धजीव की नहीं है।" (फलटन नगरस्थ श्री वृषभनाथ दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित समयसार पृ० १२५)

—जै. ग. 4-2-71/VII/ कस्तूरचन्द

वैभाविकशक्ति तथा वैभाविक गुण

शंका—वैभाविकशक्ति तथा वैभाविकगुण में क्या अन्तर है? क्या ये दोनों पदार्थ में नित्यरूप से रहते हैं? क्या वैभाविकगुण नित्यरूप से द्रव्य में रहता है और वैभाविकशक्ति अनित्यरूप से रहती है?

समाधान—आर्षग्रन्थो मे वैभाविकगुण या वैभाविकद्रव्यशक्ति का कथन नही है, यदि अनार्षग्रन्थों में ऐसा कथन हो तो वह उससमय तक माननीय नहीं हो सकता जब तक कि उसका समर्थन किसी आर्षवाक्य के द्वारा न हो जावे। अनार्षग्रन्थ मे यदि एक भी कथन सिद्धातविरुद्ध पाया जाता है तो उसके अन्य कथन को भी श्रद्धादृष्टि से नहीं देखा जा सकता, जब तक यह सिद्ध न हो जावे कि वह कथन आर्षानुकूल है। वैभाविकगुण तो हो नहीं सकता है, क्योकि द्रव्य के शुद्धस्वभाव के अनुसार द्रव्य का परिणमन होने पर वैभाविकगुण निरर्थक हो जायगा। वैभाविकद्रव्यशक्ति भी नहीं हो सकती है किन्तु अशुद्धद्रव्य की पर्यायशक्ति हो सकती है। द्रव्य के शुद्ध हो जाने पर उस वैभाविकपर्यायशक्ति का अभाव हो जाता है।

आत्मा मे क्रियावतीशक्ति नही है, किन्तु निष्क्रियत्वशक्ति है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार के अन्त मे ४७ शक्तियो का कथन किया है उसमे २३ वी निष्क्रियत्वशक्ति है। निष्क्रियत्वशक्ति का स्वरूप इस-प्रकार है—

'सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।'

समस्त कर्मों के उपशमसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशो की निस्पन्दता स्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है। जब तक शरीरनामकर्मोदय रहता है उसके निमित्त इस निष्क्रियत्वशक्ति का क्रियारूप (प्रदेश परिस्पन्दरूप) विभावपरि-णमन होता है। कर्मों का क्षय हो जाने पर निष्क्रियत्वशक्ति का निस्पन्दता स्वाभाविकस्वरूप हो जाता है।

यदि श्री अमृतचन्द्राचार्य को वैभाविकद्रव्य शक्ति की मान्यता इष्ट होती तो ४७ शक्तियो मे वैभाविकशक्ति का भी अवश्य कथन करते। इससे स्पष्ट है कि वैभाविकशक्ति की मान्यता श्री अमृतचन्द्राचार्य को इष्ट न थी।

अनन्त पुद्गलपरमाणुओ का परस्पर बंध से घटपर्याय उत्पन्न होने पर उसमे जलधारणरूप पर्यायशक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु घट के नष्ट होने पर जलधारणरूप पर्यायशक्ति भी नष्ट हो जाती है। उसीप्रकार जीव और पुद्गल के परस्परबंध से विभावरूप परिणमनशक्ति है, मुक्त हो जाने पर विभावपरिणमनरूप वैभाविकपर्यायशक्ति का भी अभाव हो जायगा।

—जै. ग 6-1-72/VII/ ....

सिद्धों में भोक्तृत्व का सद्भाव कैसे ?

शंका—त. रा. वा. अध्याय २ सूत्र ७ वार्तिक १३ मे 'भोक्तृत्व' को जीव का साधारण पारिणामिकभाव कहा गया है। इस भाव का सद्भाव सिद्धो में कैसे सम्भव है ?

समाधान—सिद्धभगवान प्रतिसमय अव्याबाधसुख को भोगते हैं इसलिये सिद्धो मे भोक्तृत्व पारिणामिक-भाव है। भव्यसिद्धिक पारिणामिकभाव का तो, साक्षात् सिद्ध हो जाने पर, अभाव हो जाता है, क्योकि वे अब होने वाले सिद्ध नहीं हैं, किन्तु सिद्ध हो चुके हैं।

—पत्राचार/ज. ला. जैन; भीण्डर

साधारण संसारी जीव के अस्तित्व वस्तुत्वादि गुण अशुद्ध परिणमन करते हैं

शंका—मिथ्यादृष्टि अर्थात् साधारण संसारीजीव के निम्नगुण क्या शुद्धरूप परिणमन करते हैं—(१) अस्तित्व अर्थात् सत्ता गुण, (२) वस्तुत्व, (३) प्रदेशत्व, (४) अगुरुलघुत्व, (५) प्रमेयत्व, (६) अकार्य-कारणत्व, (७) नित्यत्व, (८) गुणत्व ?

समाधान—गुण का लक्षण इसप्रकार है—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" मोक्षशास्त्र ५/४१ ।

जो द्रव्य के आश्रय हों और स्वयं निर्गुण हो वे गुण हैं । पर्यायाश्रित गुण नहीं होते, क्योंकि पर्याय कादाचित्क होती है । तत्त्वार्थवृत्ति मे कहा भी है—

"ये नित्य द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणा भवन्ति न तु पर्यायाश्रयगुणा भवन्ति, पर्यायाश्रिताः गुणाः कादाचित्काः कदाचित् भवा वर्तन्ते इति ।" इसका भाव ऊपर कहा गया है ।

(१) अस्तित्व अर्थात् सत्गुण का लक्षण इसप्रकार है—**"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ५।२९ ॥** संसारी चतुर्गति मे भ्रमण के कारण विकारीपर्यायो का उत्पाद व व्यय हो रहा है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधि विवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥ १५ ॥ नियमसार

मनुष्य, नारक, तिर्यंच, देव ये विभावपर्यायें हैं तथा कर्मरहित जो पर्याय है वह स्वभावपर्याय है यदि कहा जाय कि पर्याय अशुद्ध है किन्तु द्रव्य तो शुद्ध है सो भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्य ने ही तो अशुद्धपर्यायरूप परिणमन किया है, और उससमय वह द्रव्य उस अशुद्धपर्याय से तन्मय है ।

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥ प्रवचनसार

द्रव्य जिससमय मे जिसपर्याय से परिणमन करता है, उससमय वह द्रव्य उसपर्यायरूप है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है । इसलिये धर्मपरिणत आत्मा को धर्म जानना चाहिये । अतः ससारी जीव का सत्तागुण विभावरूप हो रहा है ।

(२) वस्तुत्वगुण का लक्षण इसप्रकार है—**"वसन्ति द्रव्यगुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु ।" स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २४२ की टीका ।** जिसमे द्रव्यगुणपर्याय बसते हैं (रहते हैं) वह वस्तु है । ससारी जीव का द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों विकारी अर्थात् अशुद्ध हो रहे हैं अतः वस्तुत्वगुण भी अशुद्ध परिणमन कर रहा है ।

(३) **प्रदेशत्वगुण**—संसारीजीव के प्रदेशो मे निरन्तर सकोच-विकोच होता रहता है । कभी ससारीजीव अधिकक्षेत्र मे व्याप्त होकर रहता है, कभी स्तोकक्षेत्र व्याप्त कर रहता है अतः प्रदेशत्वगुण अशुद्ध हो रहा है, क्योंकि 'प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं' ऐसा श्री देवसेनाचार्य ने आलापपद्धति में कहा है ।

(४) **अगुरुलघुत्व**—अगुरुलघुत्वगुण का आविर्भाव सिद्धों में होता है, ससारावस्था में तो कर्मोदय के द्वारा अगुरुलघुत्व होता है । कहा भी है—**"मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।"** [रा० वा० ८।११।१२] अतः संसारीजीव के अगुरुलघुत्वगुण भी अशुद्ध हो रहा है ।

(५) **प्रमेयत्व**—मिथ्यादृष्टिजीव को स्व का यथार्थ बोध नहीं होता है अतः स्वज्ञान का विषय न होने से यद्यपि प्रमेयत्वगुण को अशुद्ध कहा जा सकता है तथापि स्वाभाविकज्ञान का विषय होने की अपेक्षा अशुद्ध नहीं भी कहा जा सकता है । मिथ्यादृष्टिजीव अशुद्ध होने के कारण अशुद्धरूप ही प्रमेय होगा ।

(६) अकार्य-कारणत्व धर्म है, गुण नहीं है । द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा प्रत्येकद्रव्य अकार्य व अकारण है, किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा कार्य-कारण भी है । द्रव्य पूर्वपर्यायसहित कारण है और उत्तरपर्याय कार्य है । स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारण, भावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय, कज्जं हवे णियमा ।। २२२ ।।

(७) नित्यत्व भी धर्म है, गुण नहीं है । द्रव्यदृष्टि से द्रव्य नित्य है, किन्तु पर्यायार्थिकनय से द्रव्य अनित्य है । श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स, य णत्थि अत्थि सब्भावो ।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति, तस्सेव पज्जाया ।। ११ ।। पंचास्तिकाय

टीका—"द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यं, तदेव पर्यायार्थार्पणायां सोत्पादं सोच्छेदं चावबोद्धव्यम् ।"

द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है सद्भाव (नित्य) है । उसी की पर्यायें उत्पाद, विनाश और ध्रुवता को करती रहती हैं । इसलिये द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य उत्पादरहित, विनाशरहित, सत् (नित्य) स्वभाववाला जानना चाहिये । और वही द्रव्य पर्यायार्थिकनय से उत्पादवाला तथा विनाशवाला (अनित्य) जानना चाहिये ।

(८) गुणत्व कोई गुण नहीं है । आलापपद्धति सूत्र ९ व ११ में सामान्य गुणों व विशेष गुणों का कथन है । उसमें 'गुणत्व' भी कोई गुण है, ऐसा कथन नहीं पाया जाता है । द्रव्य गुणवान है ऐसा कथन तो आर्ष-ग्रन्थों में पाया जाता है, किन्तु गुणत्व भी कोई स्वयं पृथक् गुण है । ऐसा आर्षग्रन्थों में देखने में नहीं आया है ।

—जै. ग. 26-2-76/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

मिथ्यात्वी के समस्त गुण अशुद्ध परिणमन ही करते हैं

शंका—सम्पादक सन्मतिसंदेश ने लिखा है कि "समस्त संसारियों के अनन्तवेंभागप्रमाण गुण शुद्ध भी हैं, बाकी सब गुण अशुद्ध हैं ।" क्या संसारी मिथ्यादृष्टि जीवों के गुण शुद्ध हो सकते हैं ?

समाधान—संसारी मिथ्यादृष्टि जीव के सभी भाव अशुद्ध होते हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार आत्मख्याति में कहा भी है—"सर्वएवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः ।" अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के सर्वभाव (द्रव्य, गुण, पर्याय) अज्ञानमय अर्थात् अशुद्ध होते हैं । यदि शंकाकार यह लिख देता कि मिथ्यादृष्टि के कौन कौन गुण शुद्ध होते हैं तो विशेष विचार हो सकता था । सन्मतिसंदेश भी मेरे पास नहीं है । मात्र शंका के आधार पर उत्तर दिया गया है ।

—जै. ग. 22-4-76/VIII/ जे एल. जैन

(१) संसारी जीवों के केवलज्ञान का प्रभाव है
(२) मतिश्रुत केवलज्ञान के कथंचित् अंश हैं
(३) वेदक सम्यक्त्व, राग आदि पर्यायें हैं

शंका—क्या ससारी जीवों के केवलज्ञान की अभी औदयिकपर्याय चल रही है ? क्या मतिश्रुतज्ञान केवलज्ञान के अंश हैं ? यदि हैं तो किस अपेक्षा से ? क्या क्षायोपशमसम्यक्त्व व चारित्ररूप हैं, अथवा पर्यायरूप ? विस्तृत समझाइये ।

समाधान—जैसे स्पर्श गुण एक है, किन्तु उसके ८ भेद हैं। उनमे से ४ भेद एक साथ रहते हैं। औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिकशरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणा तो आठस्पर्श वाली होती है; किन्तु तैजस, भाषा, मन व कार्मणवर्गणा ४ स्पर्शवाली होती है। [धवल पु० १४ पृ० ५५५—५५९] इसीप्रकार ज्ञान के ५ भेद हैं। उनमे से ४ ज्ञानो की क्षायोपशमिकपर्याय तथा केवलज्ञान की औदयिकपर्याय होती है। क्षायोपशमिक ज्ञान तभी तक सम्भव है जब तक कि ज्ञानावरणकर्म है, किन्तु इस कर्म का क्षय हो जाने पर क्षायिक-केवलज्ञान की क्षायिक-पर्याय प्रकट होती है तथा ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय नष्ट हो जाती है। ज्ञान के ये पाँच भेद भेदविवक्षा से हैं। अभेदविवक्षा मे ज्ञान एक है। छद्मस्थअवस्था मे उसके कुछ अविभागप्रतिच्छेद प्रकट रहते हैं। और शेष अविभाग-प्रतिच्छेदो पर आवरण रहता है। निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के सर्वजघन्य ज्ञान के जितने अविभागप्रतिच्छेद प्रकट हैं वे पूर्णज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के अंश हैं। वे ही बढ़ते—बढ़ते पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) के अविभागप्रतिच्छेद हो जायेंगे। जैसे द्वितीया का चन्द्रमा बढते-बढते पूर्णिमा का चन्द्रमा हो जाता है उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञातव्य है। जैसे द्वितीया का चन्द्र पूर्णिमा के चन्द्र का अंश है उसी प्रकार अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तक का पर्यायज्ञान भी केवलज्ञान का अंश है। केवलज्ञान मंगलरूप है; इसलिये उसका अंशपर्यायज्ञान भी मंगलरूप है। क्षायोपशमिकज्ञान व क्षायिकज्ञान की अपेक्षा पर्यायज्ञान केवलज्ञान का अंश नहीं है।

गुण अनादि—अनन्त हैं, ऐसा भी एकान्त नियम नहीं है। स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का ससारी जीव के अभाव पाया जाता है। जिसका कि आठों कर्मों का क्षय होने पर आविर्भाव होता है।

[राजवार्तिक अ० ८ सूत्र ११ वा० १२ एवं धवल पु० ६।५८]

अविभागप्रतिच्छेदो की अपेक्षा मतिज्ञान आदि पूर्ण ज्ञान के अंश हैं। इस अपेक्षा से ये गुण हैं। क्षायोपशमिकज्ञान की दृष्टि से ये विभावपर्यायें हैं। इसीप्रकार क्षायोपशमिकसम्यक्त्व व क्षायोपशमिकचारित्र भी विभाव-पर्यायें हैं, विभावगुण नही। जैसे कि राग-द्वेष गुण नहीं हैं, किन्तु चारित्रगुण की विभावपर्यायें हैं।

क्षायोपशमिकज्ञान की अपेक्षा मतिज्ञान आदि ज्ञानगुण की विभावपर्यायें हैं, क्योंकि इनमे देशघातिकर्मोदय की अपेक्षा है। इस दृष्टि से ये गुण नहीं हैं। अविभागप्रतिच्छेद की अपेक्षा ये स्वभाव [गुण] हैं, क्योंकि पूर्णज्ञान के अंश हैं।

आर्षग्रन्थो मे जितना भी कथन है वह सब किसी न किसी अपेक्षा को लिए हुए है। कोई विवक्षित कथन किस अपेक्षा से है, वह अपनी बुद्धि से समझने की बात है।

—पत्र 9-10-80/I-II/ ज. ला जैन, भीण्डर

ज्ञेयत्व अथवा प्रमेयत्व

शंका—ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व में शब्द भेद है या भाव (अर्थ) भेद भी है ?

समाधान—ज्ञान को ही प्रमाण कहा है। 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे ॥ १० ॥' (मोक्षशास्त्र अध्याय १)। अर्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। वे पाँचों ही प्रमाण हैं। ज्ञान है सो ही प्रमाण है (परीक्षामुख अध्याय १ सूत्र १)। ज्ञान का जो विषय उसको 'ज्ञेय' कहते हैं और प्रमाण का जो विषय उसको 'प्रमेय' कहते हैं। ज्ञान और प्रमाण में जब भेद नहीं तो उसके विषय में भी भेद कैसे हो सकता है। यहाँ पर संशय विभ्रम, विमोहरहित ज्ञान से प्रयोजन है। (अतः ज्ञेयत्व व प्रमेयत्व में मात्र शब्द भेद है, अर्थ भेद नहीं)।

—जै. सं. 22-1-59/V/ घा. ला. जैन, अलीगढ़ (टोंक)

पर्याय-सामान्य

परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति नहीं

शंका—'जैनसंदेश' में लिखा है—'अतः परमाणु में द्रव्यरूप से शब्दरूप परिणत होने की शक्ति विद्यमान है। यही द्रव्यशक्ति है।' क्या यह कथन ठीक है ?

समाधान—एकप्रदेशी परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति विद्यमान नहीं है, किन्तु अनन्त परमाणुओं के साथ बंध को प्राप्त होकर भाषावर्गणारूप स्कन्ध में परिणत हो जाने की शक्ति है। भाषावर्गणारूप स्कन्ध में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है जो बहिरंग कारणों के मिलने पर व्यक्त होती है अर्थात् भाषावर्गणा शब्दरूप परिणम जाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी लिखा है "सद्दो खंधप्पभवो" अर्थात् शब्द स्कन्धजन्य है।

—जै. ग. 7-2-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

जीव की विभावशक्ति पर्यायरूप तथा अनित्य है

शंका—क्या जीव में विभावशक्ति नित्य है, क्योंकि वह अनादि है ?

समाधान—जीव में जो विभावशक्ति है वह अनित्य है क्योंकि पर्यायशक्ति है, द्रव्यशक्ति नहीं है। जबतक जीव कर्म से बँधा हुआ है अर्थात् अशुद्ध अवस्था है तभी तक जीव में विभावरूप परिणमन करने की शक्ति है। द्रव्यकर्म से मुक्त हो जाने पर जब जीव की शुद्धअवस्था हो जाती है तब जीव में विभावरूप परिणमन करने की शक्ति भी नहीं रहती है।

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥ (जीवकाण्ड)

अर्थात् पुद्गलविपाकी शरीर-नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव के कर्मों के ग्रहण करने की शक्ति योग है, अर्थात् क्रियावतीशक्ति है।

किन्तु शरीरनामकर्म के अभाव में और समस्तकर्म क्षय हो जाने से स्वाभाविक निष्क्रियत्व शक्ति व्यक्त हो जाती है। कहा भी है—

"सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।" (समयसार आत्मख्याति)

कर्मबन्ध अनादि का है इसलिये वैभाविकशक्ति भी अनादि से है। किन्तु कर्मों का क्षय हो जाने पर वैभाविकशक्ति का भी अभाव हो जाता है।

—जै. ग 24-7-67/VII/ ज. प्र म. कु.

विभाव नाम की कोई भिन्न द्रव्य-शक्ति नहीं है, यह पर्यायशक्ति है

शंका—गुणों मे विभावरूप परिणमन होता है विभावशक्ति से। तो विभावनामकी शक्ति गुणों से भिन्न है या गुणों मे ही विभावरूप परिणमन होने की शक्ति है।

समाधान—जबतक द्रव्यशुद्ध है उसके गुण भी शुद्ध हैं और उस शुद्धद्रव्य का परिणमन तथा उसके गुणों का परिणमन भी शुद्ध होता है अर्थात् स्वभावपरिणमन होता है। बंधदशा मे द्रव्य अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि उसका दूसरे द्रव्य से मेल अर्थात् बंध हो गया है। अशुद्धद्रव्य का विभावपरिणमन होता है और उसके गुणों का भी विभावपरिणमन होता है कहा भी है—

"शुद्धपरमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणाः। द्व्यणुकादिस्कन्धे वर्णादयो विभावगुणाः। शुद्ध परमाणुरूपेणाव-स्थान स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः। द्व्यणुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः। तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णान्तरादिपरिणमन विभावगुणपर्यायाः।" पञ्चास्तिकाय गाथा ५।

अर्थात्—शुद्ध परमाणु मे जो वर्णादिगुण हैं वे स्वभावगुण हैं। द्वि-अणुकादि स्कन्धो मे जो वर्णादिगुण हैं वे विभावगुण हैं। शुद्धपरमाणुरूप स्वभावद्रव्यपर्याय है। और उसके गुणो मे परिणमन स्वभाव गुणपर्याय है। द्विअणुक आदि स्कन्ध विभावद्रव्यपर्याय हैं और उन स्कन्धो के गुणो मे परिणमन विभावगुणपर्याय है।

विभावनाम की कोई भिन्न द्रव्यशक्ति नहीं है। दूसरे द्रव्य के साथ बन्ध हो जाने पर द्रव्यअशुद्ध हो जाता है और उसमे विभावनामकी पर्यायशक्ति उत्पन्न हो जाती है। बंध का अभाव हो जाने पर वह विभावशक्ति भी समाप्त हो जाती है।

—जै. ग. 12-6-67/IV/ मू. च शास्त्री

कथंचित् व्यंजन पर्याय अविनाशी है

शंका— व्यंजनपर्याय को यदि चिरकाल स्थित रहने वाली मान ली जावे तो द्रव्य में प्रतिसमय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य कैसे सम्भव होगा?

समाधान—द्रव्य मे अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दो प्रकार की पर्यायें होती हैं। उनमे से अर्थपर्याय समयवर्ती अर्थात् एकसमय की स्थितिवाली होती है। इस अर्थपर्याय की अपेक्षा द्रव्य मे प्रतिसमय उत्पाद व व्यय होता रहता है। व्यंजनपर्याय चिरकाल तक रहनेवाली होती है। कोई-कोई व्यंजनपर्याय नाशवान भी नही होती, अनादि-अनन्त कालतक रहती है। श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका मे कहा भी है—

"तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथावाग्गोचराविषया भवन्ति। व्यञ्जनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकाल-स्थायिनो वाग्गोचराश्छद्मस्थदृष्टिविषयाश्च भवन्ति। समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यते।"

अर्थात्—'अर्थपर्यायें' सूक्ष्म होती हैं, क्षण-क्षण में नाशवान्, वचन के अगोचर और छद्मस्थ की दृष्टि का विषय नहीं होतीं। 'व्यंजनपर्यायें' स्थूल होती हैं, चिरकाल तक रहनेवाली, वचनगोचर और छद्मस्थ की दृष्टि का विषय होती हैं। एक-समयवाली पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं और चिरकालतक रहनेवाली पर्याय को व्यंजन-पर्याय कहते हैं।

"ण च वियंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवादप्पसंगादो।"

धवल पु० ७ पृ० १७८।

अर्थात्—सभी व्यंजनपर्यायों का अवश्य नाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आजायगा।

—जै. ग. 17-1-66/VIII/ ल. च. जैन

अर्थपर्याय का लक्षण

शंका—अर्थपर्याय का क्या लक्षण है ?

समाधान—'अर्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथावाग्गोचराविषया भवन्ति।' पंचास्तिकाय गाथा १६ की जयसेनाचार्य की टीका। अर्थपर्याय सूक्ष्म होती है, क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होने वाली है। वचन के अगोचर है और किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। अर्थात् एक समयवर्ती पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं।

—जै ग 18-6-64/IX/ ब्र. लाभानन्द

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त द्रव्य
(२) पर्याय-पर्यायों के भेद एवं मेरु आदि पर्यायों की नित्यानित्यात्मकता का प्रदर्शन

शंका—मोक्षशास्त्र अध्याय ५ सूत्र ३० मे "उत्पाद व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्" कहा है। द्रव्य जो है ध्रौव्य-रूप है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय होते हुए ही ध्रौव्य है। जो वस्तु की पर्याय उत्पन्न होती है उसका विनाश भी होता है, लेकिन जो अनादिनिधन तथा अनन्तानन्त काल से ध्रौव्य है उसमे उत्पाद और व्यय किस अपेक्षा से समझा जाय ? उत्पाद किस पर्याय का होता है और व्यय किस पर्याय का होता है ? जैसे कि सूर्य चन्द्रमा और विमानादिक, द्वीप, समुद्रादिक, अकृत्रिमचैत्यालय प्रतिमादिक अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे, तो इनमें कौनसी पर्याय की उत्पत्ति होती है और कौनसी पर्याय का व्यय होता है ?

समाधान—दिव्यध्वनि मे भगवान का उपदेश दो नयो के आधीन हुआ है (१) द्रव्यार्थिक नय (२) पर्यायार्थिकनय। इसी बात को श्री पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौद्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्तादेशना किंतु तदुभयायत्ता।"

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ (दिव्यध्वनि मे) कथन एक नय के अधीन नही होता, किन्तु दोनो नयो के अधीन होता है।

द्रव्य नित्य—अनित्यात्मक है। द्रव्यार्थिकनय का विषय द्रव्य की नित्यता है और पर्यायार्थिकनय का विषय द्रव्य की अनित्यता है।

उप्पज्जंति वियंती य भावा णियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ८ ॥ धवल पु० १ पृ० १३

अर्थ—पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सर्वपदार्थ सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं।

जो अपनी पर्यायों को प्राप्त हो वह द्रव्य है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ९ में कहा भी है—

"दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं ।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥ ९ ॥

अर्थात्—जो उन-उन अपनी पर्यायों को द्रवित होता है प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं और वह सत्ता से अनन्यभूत है।

द्रव्य अपनी पर्यायों से अनन्य है, इसीलिये द्रव्य अपनी पर्यायों के प्रमाणस्वरूप है।

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति ॥ १२ ॥ पंचास्तिकाय

अर्थ—पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होतीं, दोनों का अनन्यभाव है, ऐसा श्रमण अर्थात् महाश्रमण सर्वज्ञदेव ने कहा है।

एय-दवियम्मि जे अत्थपज्जया वयण-पज्जया चावि ।
तीदाणागय-भूदा तावदियं तं हवइ दव्वं ॥

अर्थ—एकद्रव्य मे अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनी अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है।

"अर्थव्यंजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति। तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्मा क्षणक्षयिणस्तथावाग्गोचराविषया भवन्ति। व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकालस्थायिनो वाग्गोचराश्छद्मस्थ दृष्टिविषयाश्च भवन्ति। एते विभावरूपा व्यंजनपर्याया जीवस्य नरनारकादयो भवन्ति, स्वभावव्यंजनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूपः। अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्-स्थानगतकषायहानिवृद्धिविशुद्धिसंक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्याः। पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्व्यणुकादि-स्कन्धेषु वर्णान्तरादिपरिणमनरूपाः। विभावव्यंजनपर्यायाश्च पुद्गलस्य द्व्यणुकादिस्कंधेष्वेव चिरकालस्थायिनो ज्ञातव्याः। शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुक गुणषड्हानिवृद्धिरूपेण पूर्वमेव सर्वद्रव्याणां कथिताः। ....एकसमय-वर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यंते।" पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका।

अर्थात्—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। अर्थपर्याय सूक्ष्म है, क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होनेवाली है तथा वचन के अगोचर है। व्यंजनपर्याय स्थूल है, चिरकाल तक रहनेवाली है, वचनगोचर है तथा छद्मस्थ के इन्द्रिय का विषय है। जीव की विभावव्यंजनपर्यायें नर, नारक आदि हैं और सिद्ध-रूप जीव की स्वभावव्यंजनपर्याय है। जीव की अशुद्ध अर्थपर्याय, विशुद्धि और संक्लेशरूप शुभ-अशुभलेश्यास्थानों मे कषाय की षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप जानना चाहिये। द्व्यणुकादि स्कन्धों में वर्णान्तर आदि परिणमनरूप पुद्गल की विभाव अर्थपर्याय है। पुद्गल की द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप चिरकालतक रहनेवाली पर्याय पुद्गल की

विभावव्यंजनपर्याय जाननी चाहिये। अगुरुलघुकगुण की षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप सर्वद्रव्यों की शुद्धअर्थपर्याय है। एकसमयतक रहनेवाली अर्थपर्याय है और चिरकाल तक रहनेवाली व्यंजनपर्यायें हैं।

सभी व्यंजनपर्यायों का नाश अवश्य होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एकान्तवाद (एकान्तमिथ्यात्व) का प्रसग आ जायगा। कहा भी है—

"ण च विंयंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवादप्प संगादो।"

धवल पु० ७ पृ० १७८

इसलिये अनादि-अनन्त और सादि-अनन्त भी व्यंजनपर्यायें होती हैं, जैसे मेरु आदि पुद्गल की अनादि-अनन्त व्यंजनपर्यायें हैं और 'सिद्ध' जीव की सादि-अनन्तपर्याय है अर्थात् कर्मों के क्षय से सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, अतः वह सादि है। किन्तु सिद्धपर्याय का व्यय (नाश) नहीं होता इसलिये अनन्त है।

"अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः। सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः।" (आलापपद्धति)

यद्यपि व्यंजनपर्याय की अपेक्षा मेरु आदिरूप पुद्गल नित्य है तथापि अर्थ पर्याय की अपेक्षा उसमें प्रतिक्षण परिणमन हो रहा है। क्योंकि अर्थपर्याय सूक्ष्म है और वचन-अगोचर है, अत उसका कथन होना सम्भव नहीं है।

—जै. ग. 11-8-66/VII/ र ला जैन

अर्थपर्याय तथा व्यञ्जनपर्याय का आगमोक्त स्वरूप

शंका—'जैन सिद्धान्तप्रवेशिका' पृ० ३५ व ३६ पर अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय का स्वरूप बतलाया है कि प्रदेशवत्त्वगुण के विकार को व्यंजनपर्याय व अन्य समस्त गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं। ऐसा ही कथन स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ. ५७ पर किया है। क्या ये कथन ठीक हैं ?

समाधान—स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० ५७ पर श्री पं० कैलाशचन्दजी ने प्रदेशत्व गुण के विकार को व्यंजनपर्याय और अन्य शेष गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं, जो यह लिखा है वह उनका निजीमत है। मूलगाथा या संस्कृत टीका मे ऐसा कथन नहीं है। इसीप्रकार पृ० १५३ पर भी पं० कैलाशचन्दजी ने अपनी कल्पना से कथन किया है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा के संस्कृत टीकाकार श्री शुभचन्द्राचार्य ने तो अर्थपर्याय का लक्षण निम्नप्रकार बतलाया है—

"अर्थपर्यायः सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी उत्पादव्ययलक्षणः। सूक्ष्मप्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः इतिवचनात्।"

स्वा० का० अ० गा० २७४ टीका

सूक्ष्म, प्रतिक्षण नाश होनेवाली उत्पाद-व्यय लक्षणवाली अर्थपर्याय है। आचार्य श्री वसुनन्दि ने भी कहा है—

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्था पज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥२५॥ वसुनन्दि श्रावकाचार

—अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है और क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होती रहती है। व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है, अर्थात् शब्दों द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णव में कहा है—

मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः॥ ६।४५॥

व्यंजनपर्याय मूर्तिक है, वचन के गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है। अर्थपर्याय सूक्ष्म है क्षणविध्वंसी है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—

"तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथाऽवाग्गोचराऽविषया भवन्ति। व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकाल-स्थायिनो वाग्गोचराश्छद्मस्थदृष्टिविषयाश्च भवन्ति। समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यंते इति कालकृतो भेदः।" (पंचास्तिकाय गा० १६ की टीका)

अर्थपर्याय सूक्ष्म है, प्रतिक्षण नाश होनेवाली है तथा वचन के अगोचर है। व्यजनपर्याय स्थूल होती है, चिरकालतक रहनेवाली है, वचनगोचर व अल्पज्ञानी के दृष्टिगोचर भी होती है। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय मे कालकृत भेद है, क्योंकि एकसमयवर्ती अर्थपर्याय है और चिरकालस्थायी व्यजनपर्याय है।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० ५७ व पृ० १५३ पर हिन्दी टीका में अर्थपर्याय व व्यजनपर्याय का लक्षण जो श्री प० कैलाशचन्द्रजी ने लिखा है वह उनका अपना मत है, जो आर्षवचनानुकूल नही है।

—जै. ग 2-3-72/VI/ कस्तूरचन्द जैन

अर्थ पर्याय एवं व्यंजन पर्याय का स्वरूप एवं भेद

शंका—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का क्या-क्या लक्षण है? शुद्धजीवद्रव्य में और अशुद्धजीवद्रव्य में कौनसी अर्थपर्याय है और कौनसी व्यजनपर्याय है?

समाधान—पर्याय दो प्रकार की है १ अर्थपर्याय २ व्यजनपर्याय।

"पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यंजनपर्याय भेदात्॥ १५॥" (आलापपद्धति)

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था॥ २५॥ वसुनन्दि श्रावकाचार

पर्याय के दो भेद हैं (१) अर्थपर्याय (२) व्यजनपर्याय। इनमे अर्थपर्याय सूक्ष्म है, प्रत्यक्षज्ञान का विषय है, शब्दो से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण मे नाश को प्राप्त होती रहती है, किन्तु व्यजनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है और चिरस्थायी है।

"तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथाऽवाग्गोचरा विषया भवन्ति। व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकाल-स्थायिनो वाग्गोचराश्छद्मस्थदृष्टिविषयाश्च भवन्ति। समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया-भण्यंते इति कालकृत भेदः।' पंचास्तिकाय गा. १६ टीका

अर्थपर्याय सूक्ष्म है प्रतिक्षण नाश होने वाली है तथा वचन के अगोचर है और व्यञ्जनपर्याय स्थूल होती है चिरकाल तक रहनेवाली, वचनगोचर व अल्पज्ञानी के दृष्टिगोचर होती है। अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायों में कालकृत भेद है, क्योंकि समयवर्ती अर्थपर्याय है और चिरकालस्थायी व्यञ्जनपर्याय है।

मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥६।४५॥ ज्ञानार्णव

अर्थ—व्यंजनपर्याय मूर्तिक है, वचनगोचर है, अविनश्वर है, स्थिर है, किंतु अर्थपर्याय सूक्ष्म है और क्षणविध्वंसी है।

'अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ॥१६॥' आलापपद्धति

अर्थपर्याय दो प्रकार की होती हैं १. स्वभावपर्याय २. विभावपर्याय।

दव्वगुणाण सहावा पज्जाय तह विहावदो णेय।
जीवे जीवसहावा ते वि विहावा हु कम्मकदा ॥१९॥ (नयचक्र)

द्रव्यपर्याय व गुणपर्याय दोनों स्वभाव व विभाव के भेद से दो प्रकार की हैं। जीव मे जीवत्व स्वभाव-पर्याय और कर्मकृत विभावपर्याय है।

'कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदिभणिदा।' (नि. सा. गा १५)

जो पर्यायें कर्मोपाधि से रहित हैं वे स्वभावपर्यायें हैं।

'अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायाः।'

शुद्धद्रव्य मे जो अगुरुलघुगुण का परिणाम है वह स्वाभाविक अर्थपर्याय है।

संसारावस्था मे इस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है इसलिये ससारावस्था में अगुरुलघुगुणकृत स्वभावपर्याय नही होती है। कहा भी है—

'अगुरुवलहुअत्तं णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा।'
—धवल पु. ६ पृ. ५८

अर्थ—अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वाभाविक गुण है, वह नामकर्म की प्रकृति कैसे हो सकता है? नहीं, क्योंकि ससारावस्था मे कर्मपरतन्त्र जीवके उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है।

लेश्या मे प्रतिसमय षट्स्थानगत हानि या वृद्धि होती रहती है, यह जीव की विभावअर्थपर्याय है। कहा भी है—

'विभावार्थपर्यायः षड्विधाः मिथ्यात्वकषायरागद्वेषपुण्यपापरूपाध्यवसायाः ॥१८॥' आलापपद्धति

अर्थ—विभावअर्थपर्याय छह प्रकार की हैं १. मिथ्यात्व २. कषाय ३. राग ४ द्वेष ५. पुण्य ६ पापरूप छह अध्यवसाय हैं। अर्थात् संसारी जीव मे मोहनीयकर्मोदय के कारण जो प्रतिसमय परिणमन होता है वह जीव की विभावअर्थपर्याय है।

'अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगतकषायहानिवृद्धि विशुद्धसंक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्याः ।'
—पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका

अर्थ—कषायों की षट्स्थानगत हानि-वृद्धि विशुद्ध या संक्लेशरूप शुभ-अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की विभावअर्थपर्यायें जाननी चाहिये ।

द्रव्य और गुण इन दोनों की स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्यायें होती हैं ।

'व्यञ्जन पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ।'

स्वभावव्यजनपर्याय और विभावव्यञ्जनपर्याय के भेद से व्यञ्जनपर्याय दो प्रकार की है ।

'विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्याया अथवा चतुरशीतिलक्षायोन्यः ॥१९॥' आलापपद्धति

नर, नारकादिरूप चार प्रकार की अथवा चौरासीलाख योनिरूप जीव की विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय है ।

'विभावगुणव्यञ्जनपर्यायामत्यादयः ॥२०॥' आलापपद्धति

अर्थ—मतिज्ञानादिक जीव की विभावगुणव्यञ्जनपर्याय है ।

'स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनसिद्धपर्यायाः ॥२१॥' आलापपद्धति

अर्थ—अन्तिमशरीर से कुछ कम जो सिद्धपर्याय है वह जीव की स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय है ।

'स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य ॥२२॥' आलापपद्धति

अर्थ—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य इस अनन्तचतुष्टयरूप जीव की स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय है ।

—जै. ग. 31-7-69/V/........

शुद्ध द्रव्यों में स्वभावव्यंजनपर्याय विषयक ऊहापोह

शंका—शुद्धद्रव्यों में व्यञ्जनपर्याय होती है या नहीं ? आलापपद्धति में तो 'व्यञ्जनेन तु सम्बद्धौ अन्यौ द्वौ जीवपुद्गलौ' कहकर धर्मादिक के व्यजनपर्याय का निषेध किया है । परन्तु जैनसिद्धांत प्रवेशिका में व्यजनपर्याय की जो परिभाषा की है उसके अनुसार तो धर्मादिक के भी स्वभावव्यंजनपर्याय सिद्ध हो जाती है, क्योंकि धर्मादिक द्रव्यचतुष्टय का अपना नियत आकार अवश्य है । इसलिये सभी शुद्धद्रव्यों में भी स्वभावव्यंजनपर्याय सिद्ध हो जाती है ? 'अभव्य' गुणपर्याय है या द्रव्यपर्याय ? शुद्ध द्रव्यों में अर्थपर्याय का हेतु क्या है ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा ९३ की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका तथा पंचास्तिकाय गाथा १६ की श्री जयसेनाचार्य कृत टीका से स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यव्यंजनपर्याय विभावरूप ही होती है, क्योंकि समान जातीय और असमानजातीय द्रव्यव्यंजनपर्याय विभावरूप है । इसीलिये चार शुद्धद्रव्यों मे विभावद्रव्यपर्याय अर्थात् द्रव्य-व्यंजनपर्याय का निषेध किया है । इन ४ शुद्ध द्रव्यों मे स्वभावव्यजनपर्याय होती है, ऐसा किसी भी ग्रन्थ मे नहीं कहा गया है । परमात्मप्रकाश अ० २ गाथा २८ की टीका मे भी स्वभावव्यंजनपर्याय नहीं कही गई । अभव्य अनादि-अनन्त व्यंजनपर्याय है, किन्तु यह विभावगुण पर्याय है । शुद्धद्रव्यों मे अगुरुलघुगुण के कारण स्वभाव अर्थ-पर्याय होती है ।

—पत्र 25-11-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञान सम्बन्धी विभाव गुण अर्थ पर्याय

शंका—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त किसी वस्तु का मतिज्ञान (मतिज्ञानोपयोग) होता है, यह विभावगुणव्यंजनपर्याय है; क्योंकि छद्मस्थों के अन्तर्मुहूर्त बिना मात्र एक समय में विवक्षित वस्तु से उपयोग नहीं हटता। इसी विभाव-गुणव्यंजनपर्याय के अन्मुंहूर्त कालरूप अवधि में जो प्रतिसमय (केवली गम्य) मतिज्ञान का सूक्ष्म परिणमन है वह विभावगुण अर्थपर्याय हो हुई; मेरे ख्याल से तो यह ठीक है। कृपया समाधान करें।

समाधान—प्रतिसमय नवीन-नवीन देशघाती मतिज्ञानावरणकर्म का उदय होने की अपेक्षा अर्थपर्याय (गुणअर्थपर्याय) घटित हो जाती है।

—पत्र 25-11-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

द्रव्यपर्याय एवं गुणपर्याय के दो-दो भेद

शंका—आलापपद्धति की टीका के पृ० ५२ पर लिखा है—'द्रव्यपर्यायें और गुणपर्यायें दोनों ही अर्थ एवं व्यंजनपर्याय के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। इन पर्यायों का कथन सूत्रकार स्वयं करेंगे।' इस कथन के अनुसार द्रव्यपर्याय के भी दो भेद होते हैं—१. द्रव्यव्यंजनपर्याय २.द्रव्यअर्थपर्याय। परन्तु आलापपद्धति में द्रव्यअर्थ-पर्याय का कथन नहीं है। द्रव्यव्यजनपर्याय का कथन तो है, क्योंकि द्रव्यपर्याय व्यंजनपर्यायरूप होती है। द्रव्यअर्थ-पर्याय का कथन आलापपद्धति में कहाँ पर है ?

समाधान—आलापपद्धति गाथा संख्या १ में श्री देवसेनाचार्य ने अर्थपर्याय का कथन किया है। गाथा इसप्रकार से है—

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्। उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥

अनादि-अनन्त द्रव्य में अपनी-अपनी पर्यायें प्रतिक्षण (प्रतिसमय) उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं। 'जलकल्लोल' द्रव्यपर्याय है तथा 'द्रव्ये स्वपर्यायाः' द्रव्य मे अपनी-अपनी पर्याय; इन वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि गाथा १ मे द्रव्यपर्याय का कथन है। 'प्रतिक्षणं उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति' अर्थात् वे पर्यायें प्रतिक्षण (प्रतिसमय) उत्पन्न होती हैं और विनशती रहती हैं, यह वाक्य अर्थपर्याय का द्योतक है क्योकि एकसमयवर्ती पर्याय अर्थपर्याय होती है और चिरस्थायीपर्याय व्यंजनपर्याय होती है।

समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते, चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यंते। पं० का० गाथा १६। किन्तु इतनी भूल हुई कि टीका मे यह अभिप्राय स्पष्ट नहीं किया गया।

द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है। आलापपद्धति सूत्र ६ और ७ इसप्रकार हैं—

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥६॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥७॥

यदि प्रतिसमय द्रव्य का उत्पाद-व्यय न हो तो द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। द्रव्य का प्रतिसमय उत्पाद-व्यय होना ही अर्थ द्रव्यपर्याय को सिद्ध करता है। सुदर्शनमेरु आदि पुद्गलद्रव्य भी अनादि-अनन्त व्यञ्जन-द्रव्यपर्याय हैं, किन्तु प्रतिसमय उसमें से कुछ परमाणु निकलते रहते हैं और नवीन परमाणु आते रहते हैं, यह अर्थद्रव्यपर्याय है।

।र/ज. ला. जैन, भीण्डर

पर्याय तथा द्रव्य का लक्षण

शंका—'जैनसिद्धान्तप्रवेशिका' में गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं; ऐसा लिखा है। यह लक्षण ठीक है क्या ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्र में 'सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥३८॥' द्रव्य के 'सत्', 'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य' 'गुण-पर्यायवाला' ये तीन लक्षण दिये हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १० में भी ये ही तीनों लक्षण दिये हैं। तथा

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्य विक्रिया।
द्रव्य ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः ॥६/६॥ तत्त्वार्थसार

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इस श्लोक में गुण और पर्याय इन दोनों के समूह को द्रव्य कहा है। प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने द्रव्यपर्याय व गुणपर्याय दो प्रकार की पर्यायें बतलाई हैं। गुणों के समूह को द्रव्य और गुणविकार को पर्याय कहने से द्रव्यपर्याय छूट जाती है।

गुणों के बिना द्रव्य नहीं हो सकता और द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते हैं इस अपेक्षा से गुण के समूह को द्रव्य कहा जा सकता है। गुण विकार को गुणपर्याय कहते हैं। सामान्य पर्याय का लक्षण 'क्रमवर्ती' है। 'क्रमवर्तिनः पर्यायाः' (आलापपद्धति)। 'व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः।' अर्थात् व्यतिरेक, विशेष, भेद ये पर्याय के वाचक शब्द हैं—तत्त्वार्थसार। विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

—जै. ग. 1-4-71/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

विभावरूप गुण नहीं होता, विभावरूप तो पर्याय होती है

शंका—गुण तो अनादि-अनन्त हैं फिर संसारावस्था के विभावगुणों का मोक्ष अवस्था में नाश क्यों हो जाता है, क्योंकि मतिज्ञानादि गुणों का मोक्ष में तो नाश माना है ही। तब तो फिर गुण अनादि-सान्त हुए ना ? न कि अनादि अनन्त।

समाधान—विभावगुण नहीं होते। विभावपर्याय हैं।

—पत्र 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

क्रमाक्रमवर्ती पर्यायों से अभिप्राय

शंका—क्रमवर्तीपर्याय और अक्रमवर्तीपर्याय से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।' अर्थात् द्रव्य गुणपर्यायवाला है।

'सहभुवो गुणाः, क्रमवर्तिनः पर्यायाः.' ॥९२॥ (आलापपद्धति) अर्थात् द्रव्य के साथ रहनेवाला गुण है और क्रम से होनेवाली पर्याय है।

अक्रमवर्ती का अर्थ है क्रम से न हो अर्थात् सहवर्ती हो अतः अक्रमवर्ती से गुण का ग्रहण होता है। परिणाम दो प्रकार के हैं—अनादि परिणाम और सादि परिणाम।

'परिणामो द्विधा भिद्यते। अनादिरादिमांश्चेति। तत्रानादि धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः। आदिमांश्च बाह्य-प्रत्ययापेक्षोत्पादः।' रा. वा. ५।४२।३

द्रव्य का परिणमन दो प्रकार का है। अनादिपरिणमन, दूसरा आदिपरिणमन। धर्मादि द्रव्यों का गति-उपग्रह आदि जो गुण है वह अनादिपरिणमन है। बाह्य निमित्तों के कारण जो उत्पाद होता है अर्थात् जो पर्याय उत्पन्न होती है और व्यय (नाश) होती है वह आदिमान परिणमन है। इस कथन से भी यह ज्ञात होता है कि अनादिपरिणमन अर्थात् अक्रमवर्तीपर्याय गुण है। और क्रम-क्रम से उत्पन्न होने वाली अर्थात् आदिमान् परिणमन क्रमवर्तीपर्याय है।

—जै. ग. 18-12-75/VIII/ ....

एक समय में एक गुण की एक ही पर्याय होती है

शंका—एकसमय में एकगुण की एक ही पर्याय होती है। क्या यह अकाट्य निरपवाद नियम है।

समाधान—पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होते हैं। अतः एकद्रव्य में एकसमय में अनेकगुण युगपत् रहते हैं, किन्तु पर्याय एक ही होगी, क्योंकि पर्याय क्रमवर्ती है सहवर्ती नहीं है। अतः यह अकाट्य निरपवाद नियम है कि एकगुण की एकसमय मे एक ही पर्याय होगी। गुण की पर्याय का लक्षण इसप्रकार है—

'गुणविकाराः पर्यायाः ॥१५॥ क्रमवर्तिनः पर्यायाः ॥९२॥ (आलापपद्धति) क्रमभाविनः पर्यायाः। (नयचक्र) पर्येति समये समये उत्पादविनाशं च गच्छतीति पर्यायः। (स्वा. का. टीका)'

गुण का विकार पर्याय है। क्रम-क्रम से होनेवाली पर्याय है। अथवा जो समय-समय मे उत्पन्न हो और विनाश को प्राप्त हो वह पर्याय है।

—जै. ग. 29-1-76/VI/ ज. ला जैन, भीण्डर

रागादि भाव और विकल्प भाव में अन्तर

शंका—रागादिभाव और विकल्पभावों में क्या अन्तर है ?

समाधान—रागादि भाव विकल्परूप ही हैं। जैसे कहा भी है—

'अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति।' (बृ. द्र. सं. गा ४१ टीका)

अंतरंग मे 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इसप्रकार का हर्ष-विषाद विकल्प है।

'विषयानन्दरूपं स्वसंवेदनं रागसम्वित्तिविकल्परूपेण सविकल्पम्।'

विषयानन्दरूप जो स्वसवेदन है वह राग के जानने रूप विकल्पस्वरूप होने से सविकल्प है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४२ की टीका में 'सम्मण्णाणं सायारं' की व्याख्या इसप्रकार की है—

'सम्यग्ज्ञानं भवति। तच्च कथंभूतं ? घटोऽयं पटोऽयमित्यादि ग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः।'

यहाँ पर घट-पट आदि के निश्चयात्मक जाननेरूप जो साकार ज्ञानोपयोग है उसको भी विकल्प कहा है। दर्शन को निर्विकल्प कहा है, उसकी अपेक्षा ज्ञान को सविकल्प कहा गया है।

—जै. ग. 2-12-71/VIII/ रो. ला. मित्तल

अनुभूति ज्ञान की पर्याय है

शंका—अनुभूति किसको कहते हैं ?

समाधान—चेतना अथवा ज्ञान को अनुभूति कहते हैं। कहा भी है—

"चेतयंते अनुभवन्ति उपलभते विंदंतीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात् ।"

पंचास्तिकाय गा० ३९ टीका

अर्थ—चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है ये एकार्थ हैं, क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है।

"ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ।" प्रवचनसार गा० २४२ टीका।

ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथा प्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है। इसप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने चेतना को अनुभूति कहा है।

चैतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च।
क्रिया मनोवचःकायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम् ॥ ९ ॥ आलापपद्धति

टिप्पण—"अनुभूतिर्जीवाजीवादि पदार्थानां चेतनमात्रम् ।"

यहाँ पर भी श्रीमद्देवसेन आचार्य ने चैतन्य को अनुभूति कहा है। यह अनुभूति ज्ञान की पर्याय है।

—जै. ग. 23-7-70/VII/ रो. ला. मित्तल

एक पर्याय दूसरी बार नहीं उत्पन्न होती। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यंताभाव की परिभाषा

शंका—क्या द्रव्य में अनादि से भूतकाल में जो पर्यायें अभी तक उत्पन्न नहीं हुई ऐसी नवीन-नवीन पर्यायों की प्रतिसमय उत्पत्ति होती है या वे पर्यायें दुबारा भी उत्पन्न हो सकती हैं ? यदि ऐसा है तो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा २४३ व २४४ से भारी विरोध पैदा होता है क्या ?

समाधान—प्रतिसमय नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं। जो पर्यायें उत्पन्न हो चुकी हैं उनका तो प्रध्वंस होकर अभाव हो चुका है, वे पर्यायें पुनः उत्पन्न नहीं हो सकती हैं किन्तु उनके सदृश पर्यायें उत्पन्न हो सकती हैं। द्रव्य की एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अन्यापोह अर्थात् इतरेतराभाव है, अन्यथा प्रतिनियत द्रव्य की सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जायेंगी अर्थात् एकद्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहेगा। श्री समन्तभद्राचार्य ने देवागम स्तोत्र में इसप्रकार कहा है—

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १० ॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्यते सर्वथा ॥ ११ ॥

पर्याय के उत्पन्न होने के पूर्व में जो अभाव है वह प्रागभाव है। इस प्रागभाव को न मानने पर घट-पटादि पर्यायें अपने-अपने स्वरूप लाभ (उत्पाद) के पूर्व में भी सद्भावरूप से विद्यमान ही रहनी चाहिये।

प्रागभाव को न मानने पर घटादि पर्यायों के अनादि हो जाने का प्रसंग आ जाता है जो इष्ट नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

पर्याय का विनाश प्रध्वंसाभाव है। इस प्रध्वंसाभाव को स्वीकार न करने पर घटादि पर्यायों का उत्पाद होने के पश्चात् कभी विनाश (व्यय) न होने से उनके अनन्तत्व का प्रसंग आता है। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि घटादि पर्यायों का अपने-अपने उत्पाद के पूर्व मे और विनाश (व्यय) के पश्चात् अवस्थान (सद्भाव) देखा नहीं जाता है।

एकद्रव्य की एकपर्याय का उसकी दूसरी पर्याय मे जो अभाव है, वह इतरेतराभाव है। इस इतरेतराभाव को न मानने पर प्रतिनियत की सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं।

एकद्रव्य मे दूसरे द्रव्यो के असाधारण गुणो का जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। जैसे पुद्गल-द्रव्य में चैतन्यगुण का अभाव है। इसको न मानने पर एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य मे तादात्म्यसम्बन्ध हो जाने से चेतन-अचेतनद्रव्यों की कोई व्यवस्था नहीं रहेगी।[1]

—जै. ग. 18-6-70/V/ का. मा. कोठारी

शुद्ध गुण की पर्याय एक-अनेक भी होती हैं तथा एक भी ?

शंका—गुण की शुद्ध पर्याय एक होती है या अनेक ? यदि अनेक होती हैं तो कौनसे गुण की शुद्धपर्याय अनेक होती हैं ?

समाधान—हरएक गुण की शुद्धपर्याय एक भी होती है और अनेक भी होती हैं। अनेकान्त से दोनो कथन घटित हो जाते हैं।

—जै. ग. / .... / ....

भव्यत्व व अभव्यत्व आत्मा के गुण हैं या पर्याय ?

शंका—भव्यत्व व अभव्यत्व आत्मा के गुण हैं या पर्याय ? यदि गुण हैं तो उक्त पर्यायें शुद्ध या अशुद्ध; कौनसी हैं ? यदि पर्यायें हैं तो किस गुण की पर्यायें हैं तथा वे शुद्धपर्यायें हैं या अशुद्धपर्यायें ?

समाधान—'सिद्धपर्याय' जीव की स्वभावव्यञ्जनपर्याय है। श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय मे गाथा १६ की टीका मे कहा भी है—'**स्वभावव्यजनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूपः।**' ससारावस्था मे जीव की 'असिद्धपर्याय' विभावव्यंजन पर्याय है। जीव की असिद्धपर्याय का काल दो प्रकार का है—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त। जिन जीवो के असिद्धपर्याय का काल अनादि-सान्त है वे भव्य हैं और जिनके अनादि-अनन्तकाल है वे अभव्य हैं। कहा भी है—**अघाइकम्मचउक्कोदयजणिवमसिद्धत्त णाम। तं दुविहं—अणादि अपज्जवसिद अणादिसपज्जवसिदं चेदि। तत्थ जेसिमसिद्धत्तमणादि-अपज्जवसिदं ते अभव्वा णाम। जेसिमवर ते भव्वजीवा।**

अर्थ—चार-अघातिकर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव है। वह दो प्रकार का है—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त। इनमे से जिनके असिद्धभाव अनादि अनन्त है वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। [धवला पु० १४ पत्र १३] असिद्धपर्याय जीव की व्यञ्जनपर्याय है, अत: उस व्यंजनपर्याय

१ धवल १५।२८-30 तथा जयधवल १।२५१ भी देखें। ... स०

का काल [भव्य व अभव्य] भी व्यंजनपर्याय है। कहा भी है—"अभवियभावो णाम वियंजणपज्जाओ, तेणेदस्स विणासेण होदव्वमण्णहा दव्वत्तप्पसंगादो त्ति ? होदु वियंजणपज्जाओ, ण च वियंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवादप्पसंगादो। ण च ण विणस्सदि त्ति दव्वं होदि, उप्पाद-ट्ठिदि-भंगसंगयस्स दव्वभावब्भुवगमादो।" [धवला ७।१७८]

शंका—अभव्यभाव जीव की एक व्यंजनपर्याय का नाम है, इसलिये उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अभव्यत्व के द्रव्य होने का प्रसंग आ जायगा ?

समाधान—अभव्यत्व जीव की व्यञ्जनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यञ्जनपर्याय का नाश अवश्य होना चाहिए। ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य होनी ही चाहिए, क्योंकि जिसमे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं उसे द्रव्यरूप से स्वीकार किया गया है।[1]

—जै. सं. 20-6-57/ .... / श्री दि० जैन स्वाध्याय मण्डल, कुचामन

(१) भव्यभाव व अभव्यभाव पर्यायें हैं।

(२) सदा मोक्ष जाते रहने पर भी अक्षय अनन्त होने से भव्यों का अभाव नहीं होता।

शंका—निश्चयनय मे जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, पारिणामिकभाव किस रूप में हैं ? आत्मा-आत्मा को समान बताते हुए भी उनकी शक्ति में भव्यत्व अभव्यत्व की विभेद रेखा क्यों डाली गई है ? भव्यों के मोक्षगमन उपरांत क्या सभी अभव्य नहीं रह जावेंगे।

समाधान—निश्चयनय की अपेक्षा से 'शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है' वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध-पारिणामिकभाव कहा जाता है। निश्चय की अपेक्षा से भव्यत्व-अभव्यत्वभाव ही नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय की अपेक्षा पारिणामिकभाव कहे जाते हैं। (वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा १३ टीका)। द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा भव्य व अभव्य दोनो जीवो मे शक्ति समान है (वृ० द्रव्य-संग्रह गाथा १४ की टीका) किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा भव्य मे केवलज्ञानादि व्यक्त हो जावेंगे और केवल-ज्ञानादि जो अभव्य मे शक्तिरूप से हैं, व्यक्त नहीं होंगे। भव्यत्व व अभव्यत्वभाव गुण या शक्ति नहीं है, किन्तु व्यंजनपर्याय है। श्री षट्खण्डागम पुस्तक ७ पृष्ठ १७८ पर कहा है 'अभव्यत्वजीव की व्यजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजनपर्याय का अवश्य नाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होनी चाहिये, क्योंकि जिसमें उत्पाद ध्रौव्य और व्यय पाये जाते हैं उसे द्रव्यरूप से स्वीकार किया गया है।'

जीव मे भव्य व अभव्य का भेद द्रव्यदृष्टि से नहीं है और न शक्ति की अपेक्षा से भव्य-अभव्य का भेद है। पर्यायदृष्टि से जीवों के भव्य व अभव्य ऐसे दो भेद हैं। पर्याय अनेक होती हैं। पर्याय की अपेक्षा से अनेक भेद हैं। जैसे संसारी व मुक्त; त्रस व स्थावर; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय; नारकी, तिर्यंच, मनुष्य व देव; इत्यादि।

१. नोट—भव्यत्व व अभव्यत्व दोनो अशुद्धव्यंजनपर्यायें हैं।

भव्यजीवों का प्रमाण अनन्त है। और अनन्त वही कहलाता है जो सख्यात या असंख्यातप्रमाणराशि के व्यय होने पर भी अनन्तकाल से भी समाप्त नहीं होता है। कहा भी है - व्यय के होते रहने पर भी अनन्तकाल के द्वारा भी जो राशि समाप्त नहीं होती, उसे महर्षियों ने 'अनन्त' इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है। (षट्खंडागम पुस्तक ४ पृष्ठ ३३८)। भव्यजीव अनन्त होते हैं। सान्तराशि को अनन्तपना नहीं बन सकता, क्योंकि सात को अनन्त मानने मे विरोध आता है। यदि सव्यय और निराय राशि को भी अनन्त न माना जावे तो एक को भी अनन्त मानने का प्रसग आ जायगा। व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नहीं होता है, यह एकान्तनियम है, (षट्खंडागम पुस्तक १ पृष्ठ ३९२)। इस आगम प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मोक्ष जाते हुए भी भव्यजीवों का अन्त नहीं होगा। अत. ससार मे भव्य तथा अभव्यजीव सदा बने रहेंगे। इन दोनो मे से किसी एक का कभी भी व्युच्छेद नही होगा।

—जै. स. 2-1-58/V/ ला च. माहटा

भव्यभाव व अभव्यभाव पर्यायें हैं, गुण नहीं

शंका—२० जून १९५७ के जैनसंदेश में भव्य व अभव्यभाव को पर्याय बताया है, किन्तु सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र मे पृ० २२७ पर भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को अनुजीवी गुण कहा है। फिर उक्त जैनसंदेश में किये गये समाधान में आगम से विरोध क्यों आता है ?

समाधान—२० जून १९५७ के जैनसदेश मे किये गये उक्त समाधान मे 'षट्खडागमरूपी महान्ग्रन्थ द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि भव्यत्व-अभव्यत्वभाव पर्याय हैं गुण नही हैं।' किसी आचार्यरचित ग्रन्थ मे 'भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को अनुजीवी गुण कहा हो' मेरे देखने मे नहीं आया है। सोनगढ मे प्रकाशित मोक्षशास्त्र टीका मे भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को अनुजीवीगुण कहा है, किन्तु वहाँ पर भी किसी दिगम्बर जैनाचार्य रचित ग्रन्थ का प्रमाण नही दिया है। सोनगढ़ की मोक्षशास्त्र टीका मे अनेक ऐसी बातें लिखी गई हैं जो दिगम्बर जैनाचार्यों के मत से विरुद्ध हैं! अतः उक्त टीका को आगम कहना उचित नही है।

श्री समयसार की टीका मे भी श्री जयसेनाचार्य ने भी भव्यत्व-अभव्यत्वभाव को गुण नही माना है। वहाँ इसप्रकार कहा है—

'दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिक नयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति।'

अर्थ—दशप्राणरूपी जीवत्वभाव, भव्यत्वभाव व अभव्यत्व ये तीनो अशुद्धपारिणामिकभाव हैं, क्योंकि ये भाव पर्यायार्थिकनय के आश्रित हैं। (गाथा ३२० पर तात्पर्यवृत्तिः टीका पृष्ठ ४२३ रायचन्द्र ग्रंथमाला)।

वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की सस्कृत टीका मे भी इसप्रकार कहा है—'कर्मजनित दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्यत्वम् अभव्यत्वं चेतित्रय, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञत्वाशुद्धपारिणामिकभावं उच्यते।'

अर्थ—कर्म से उत्पन्न दशप्रकार के प्राणोरूप जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व ये तीनो विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अशुद्धपारिणामिकभाव कहे जाते हैं।

इन उपर्युक्त दो आध्यात्मिकग्रन्थो के आधार से भी यह सिद्ध होता है कि भव्यत्व व अभव्यत्वभाव पर्याय हैं। यदि ये दोनो मात्र गुण होते तो इनको विनाशशील न लिखते। अभव्यत्वभाव विनाशशील होते हुए भी उसका विनाश नही होता, क्योंकि प्रत्येक पर्याय का विनाश अवश्य होना चाहिये ऐसा एकान्त नही है (षट्खंडागम पुस्तक ७ पृष्ठ १७८)। भव्यत्वभाव का अभाव होता है ऐसा मोक्षशास्त्र अध्याय १० सूत्र ३ में श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने कहा है, तथा राजवार्तिक टीका में श्री अकलंकदेव ने भी इसीप्रकार कहा है। अतः भव्यत्व-अभव्यत्वभाव गुण नहीं हैं।

यदि भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को गुण माना जावे तो द्रव्य की संख्या छह न रहकर सात हो जावेगी अर्थात् द्रव्य को सातप्रकार का मानना पडेगा। जिसप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्य मे सब गुण तो एकसार अर्थात् बराबर हैं, किन्तु मात्र एक गुण मे अन्तर है। एक मे गतिहेतुत्वगुण है दूसरे मे स्थितिहेतुत्व गुण है। एक गुण के भिन्न होने से भिन्न-भिन्न जाति के दो द्रव्य जैनागम मे माने गये हैं। इसप्रकार भव्य और अभव्य मे समस्त गुण एकसार अर्थात् बराबर होने हुए भी एक मे भव्यत्व गुण मानने से और दूसरे मे उससे भिन्न अभव्यत्वगुण मानने से इनको भिन्न दो जाति के द्रव्य मानने पड़ेंगे, क्योंकि गुण विशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिये' ऐसा आगमवाक्य है (प्रवचनसार गाथा १३४, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति)।

श्रीमान् सिद्धान्तमहोदधि तर्करत्न प० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य ने 'भव्य' शब्द का निरुक्ति अर्थ इसप्रकार किया है—"भविया, सिद्धी जेसि" "भवितु योग्यो भव्यः" इसप्रकार 'भू' धातु से 'यत्' प्रत्यय कर भविष्य योग्यता अनुसार बनाया गया शब्द ही भव्य को अन्तसहित कर रहा है, क्योंकि सिद्धि हो जाने पर भव्यता मरकर भूनता उपज चुकी है। (जैनदर्शन सोलापुर, १० जनवरी १९५८ पृष्ठ ५) यदि 'भव्यत्व' को शक्ति भी स्वीकार किया जावे तो यह पर्यायशक्ति या अनित्यशक्ति है। नित्य या द्रव्यत्वशक्ति नही है।

इसप्रकार २० जून १९५७ के जैन-संदेश मे प्रकाशित समाधान मे जो लिखा गया है वह आगमानुकूल है, यदि उसका सोनगढ मोक्षशास्त्र टीका से विरोध आता है तो आये, क्योंकि उक्त टीका आगम अनुकूल नहीं है।

—जै. स. 31-7-58/7-8-58/V/ हुलाशचन्द

शुद्ध द्रव्यों में अर्थपर्याय का अस्तित्व

शंका—क्या शुद्धद्रव्यों मे भी निरन्तर अर्थपर्यायरूप परिवर्तन होता रहता है ? विस्तार से स्पष्ट करें।

समाधान—शुद्धद्रव्यो मे भी अर्थपर्याय होती है, अन्यथा द्रव्य कूटस्थ हो जायगा और उत्पाद-व्ययरहित हो जाने से द्रव्य के अभाव का प्रसग आयगा। शुद्धद्रव्यो मे अगुरुलघुगुण के द्वारा प्रतिसमय नियतक्रम से षट्स्थान-पतित हानि-वृद्धिरूप परिणमन होता रहता है। यदि एकगुण मे भी परिणमन होता है तो द्रव्य मे परिणमन होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि द्रव्य और गुण का त्रैकालिक तादात्म्य-सम्बन्ध है। यही कथन आलापपद्धति, प्रवचनसार गाथा ९३ तथा पचास्तिकाय गाथा ५ एव १६ की जयसेनाचार्य कृत टीका मे है।

—पत्र 16-11-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) परिस्पन्द व क्रिया कथंचित् भिन्न हैं
(२) सिद्धों व परमाणुओं में गति सम्भव है, पर परिस्पन्द नहीं

शंका—क्रिया तथा परिस्पन्द मे क्या अन्तर है ? गति तथा परिस्पन्द में क्या अन्तर है ? पुद्गलपरमाणु मे किसरूप क्रिया होती है ? परिस्पन्दरूप या मात्र गतिरूप अथवा उभयस्वरूप ? सिद्धों की ऊर्ध्वगति में परिस्पन्द होता है या नहीं ?

समाधान—क्रिया तथा परिस्पन्द कथंचित् एक हैं, कथंचित् भिन्न हैं। इसीप्रकार गति व परिस्पन्द के विषय मे जानना चाहिए। सुदर्शनमेरु तथा अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयो मे गतिरूप क्रिया तो नहीं होती, परन्तु प्रदेश-परिस्पन्द होता है। पुद्गलपरमाणु मे गतिरूप क्रिया होती है, किन्तु प्रदेश परिस्पन्द नही होता, क्योंकि वह एक-प्रदेशी है। पंचास्तिकाय मे लिखा है—जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति

से पुद्गलकरणाः । तदभावान्निष्क्रियत्वं सिद्धानाम् [पं० का० ९८ टीका] । समयसार में कहा है—सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः [स० सार; आ० ख्या०, परिशिष्ट, शक्ति सं० २३] इससे जाना जाता है कि सिद्धों के प्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता; परन्तु ऊर्ध्वगमन तो प्रथमसमयवर्ती सिद्ध के है ही । धवला मे भी कहा है—सिद्धों की ऊर्ध्वगति मे परिस्पन्द नहीं होता । ध. पु. ७ पृ. १७, १८, ७७ तथा पु० १० पृ० ४३७ ।

—पत्र 8-1-79/ज. ला. जैन; भीण्डर

सम्यग्दर्शन व ज्ञान पर्याय चारित्र बिना भी उत्पन्न होती हैं

शंका—तत्त्वार्थसूत्र मे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सूत्र है । यहाँ जिस सम्यग्ज्ञान का उल्लेख है, क्या वह सम्यग्ज्ञान चारित्र के अभाव में संभव है ? क्या जैनाचार्यों को यह मान्य रहा है कि किसी चारित्रहीन व्यक्ति को सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त हो जाता है ?

समाधान—एक नही अनेक महान् दिगम्बराचार्यों का मत रहा है कि चारित्रहीन अर्थात् चारित्ररहित व्यक्ति को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है । असख्यात नारकी, तिर्यंच और देव ऐसे हैं जिनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो प्राप्त है, किन्तु चारित्र नही है अर्थात् चारित्रहीन हैं । सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी भोगभूमिया मनुष्य भी चारित्रहीन अर्थात् चारित्ररहित हैं ।

असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले के सम्यग्ज्ञान तो है, क्योकि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं, किन्तु सम्यक्चारित्र नहीं होता है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं अतः असयत-सम्यग्दृष्टि कहने से असंयतसम्यग्ज्ञानी का भी ग्रहण हो जाता है । श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक मे कहा भी है—

"युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वत्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः, पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहण नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चरित्रमुत्तरं भजनीयम् ।"

न्यायदिवाकर श्री पं० पन्नालालजी कृत अर्थ—"सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान इन दोनो का एक ही काल मे आत्म-लाभ है । तातैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान इन दोनो को पूर्वपना है । जैसे साहचर्यतैं पर्वत और नारद इन दोऊनिका एक के ग्रहण से ग्रहणपना होय है । पर्वत के ग्रहण करि नारद का ग्रहण होय है, अर नारद का ग्रहण करि पर्वत का ग्रहण होय है साहचर्य हेतु तैं एक के ग्रहण तैं दोऊनिका ग्रहण होय है । तैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोऊनिका साहचर्य संबधतैं एक के ग्रहण किये तिन दोऊनिका ग्रहण होय है यातैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोऊनिका या इन दोऊनि मे से एक का आत्म-लाभ कहने पर उत्तर जो चारित्र सो भजनीय है ।"

न्यायतीर्थ श्री पं० गजाधरलालजी तथा न्यायालंकार श्री पं० मक्खनलालजी द्वारा कृत अर्थ—"पर्वत और नारद दोनो एकसाथ रहते हैं इसलिये उनका साहचर्यसम्बन्ध है । पर्वत के ग्रहण करने पर नारद का और नारद के ग्रहण करने पर पर्वत का भी ग्रहण हो जाता है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एकसाथ उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनका भी साहचर्यसंबध है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों मे से किसी एक के होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है । इस रीति से 'पूर्वस्य' इस एकवचन निर्देश से सम्यग्दर्शन का भी ग्रहण हो सकता है और साहचर्यसम्बन्ध से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों का भी ।

कविवर श्री पं० दौलतरामजी ने भी छहढाला मे कहा है—

सम्यक्साथै ज्ञान होय पै भिन्न आराधो ।
लक्षण श्रद्धा जान दुहूमें भेद अबाधो ॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई ।
युगपद् होते हू प्रकाश दीपकतैं होइ ॥ २।४ ॥

जिसको छहढाला का भी बोध है वह यह नहीं कह सकता कि शास्त्रो मे असंयतसम्यग्दृष्टि का तो उल्लेख है असंयतसम्यग्ज्ञानी का उल्लेख नहीं है। साहचर्य हेतु से असंयत-सम्यग्दृष्टि कहने से ही असंयतसम्यग्ज्ञानी का ग्रहण हो जाता है।

"सम्यक्ज्ञानी होइ बहुरि दिढ़ चारित लीजे।" इन शब्दों द्वारा श्री पं० दौलतरामजी ने छहढाला में यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक दृढ़ चारित्र नहीं लेता तबतक वह सम्यग्ज्ञानी असंयतसम्यग्ज्ञानी है।

"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।" इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है जो जीव सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी तो है, किन्तु सम्यक्चारित्री नहीं है वह निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। कहा भी है—

"असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपज्ञानं वा किं कुर्यात्। ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः।" (प्रवचनसार गाथा २३७ टीका)

यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत को क्या करेगा? इसलिये संयमशून्य आत्मश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) व आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥ शीलपाहुड

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है कि चारित्रहीन (चारित्ररहित) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन रहित (सम्यग्ज्ञानरहित) मुनिलिंग (द्रव्यचारित्र) और संयम हीन (संयमरहित) तप ये तीनों निरर्थक हैं, क्योंकि इन तीनों मे से किसी को भी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

इसी बात को श्री अकलंकदेव ने कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥

न्यायतीर्थ श्री पं० गजाधरलालजी तथा न्यायालंकार श्री पं० मक्खनलालजी कृत अर्थ—"चारित्र के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं, जब ज्ञान किसी काम का नहीं तब उसका सहचारी दर्शन (सम्यग्दर्शन) भी किसी काम का नहीं। जिस तरह वन मे आग लग जाने पर उसमे रहनेवाला लंगडा मनुष्य नगर को जानेवाले मार्ग को जानता है, 'इस मार्ग से जाने पर अग्नि से बच सकूंगा' इस बात का उसे श्रद्धान भी है, परन्तु चलनेरूप क्रिया नहीं कर सकता, इसलिये वहीं जलकर नष्ट हो जाता है। ज्ञान (और दर्शन) रहित क्रिया भी निरर्थक है। जिसतरह वन मे आग लग जाने पर उसमे रहनेवाला अन्धा जहाँ-तहाँ दौड़नेरूप क्रिया करता है, किन्तु उसको नगर मे जानेवाले मार्ग का ज्ञान नहीं और न उसको यह श्रद्धान ही है कि अमुक मार्ग नगर में पहुँचाने वाला है, इसलिये वह वहीं जलकर नष्ट हो जाता है। इस रीति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही मोक्षमार्ग हैं।"

यहाँ पर 'ज्ञान' शब्द से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान इन दोनों को ग्रहण किया गया है, क्योंकि इन दोनों में साहचर्य है।

इन आर्षग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रहीन अथवा (चारित्ररहित) के भी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है अथवा चारित्र के अभाव में भी वह सम्यग्ज्ञान होता है जिसका तत्त्वार्थसूत्र में कथन है। इन आर्षग्रन्थों की दि० जैनाचार्यों द्वारा रचना हुई है, अतः दि० जैनाचार्यों को यह मान्य रहा है कि 'किसी चारित्रहीन (चारित्ररहित) व्यक्ति को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किन्तु वह सम्यग्ज्ञान पारमार्थिक नहीं है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

"यदा एव अयं आत्मास्रवयोः भेदं जानाति तदा एव क्रोधादिभ्यः आस्रवेभ्यः निवर्तते तेभ्यः अनिवर्तमानस्य पारमार्थिक तद्भेद विज्ञानासिद्धेः।"

असंयतसम्यग्ज्ञानी का सम्यग्ज्ञान होते हुए भी पारमार्थिक ज्ञान नहीं है, इसीलिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शीलपाहुड़ गाथा ५ में तथा श्री अकलंकदेव ने 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनं' इन शब्दों द्वारा उस सम्यग्ज्ञान को भी निरर्थक बतलाया है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तो उस सम्यग्ज्ञान को अज्ञान ही कह दिया है, क्योंकि वह रागादि आस्रवों से निवृत्त नहीं है।

"यत् तु आत्मास्रवयोः भेदज्ञानं अपि न आस्रवेभ्यः निवृत्तं भवति तत् ज्ञानं एव न भवति।"

—जै. ग. 2-7-70/VII/ ज्ञानचन्द, देहली

उत्पाद व्यय निरपेक्ष नहीं होते

शंका—श्री कानजी स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० १६६ पर शंका-समाधान के अन्तर्गत लिखा है कि प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य निरपेक्ष होते हैं, क्या यह ठीक है ?

समाधान—श्री जिनसेनाचार्य ने उत्पाद और व्यय का लक्षण इसप्रकार बतलाया है—

"अभूत्वाभाव उत्पादो भूत्वा चाभवनं व्ययः।"

अर्थात्—जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद है। किसी पर्याय का उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना 'व्यय' है। ऐसा श्री आदिनाथ भगवान ने दिव्यध्वनि मे कहा है। (आदिपुराण पर्व २४ श्लोक ११०)

यहाँ पर पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व व्यय बतलाया है। यदि उत्पाद व व्यय को निरपेक्ष अर्थात् अहेतुक माना जायगा तो पर्याय के नित्यपने का प्रसग आ जायगा, क्योंकि श्री विद्यानन्द आचार्य ने 'आप्तपरीक्षा' मे कहा है—"सतो हेतुरहितस्य नित्यत्वव्यवस्थितेः।" अर्थात्—जिसका कोई कारण (हेतु) नही होता और मौजूद है वह नित्य व्यवस्थित किया गया है।

इसीलिये श्री स्वामीसमंतभद्र आचार्य ने आप्तमीमांसा कारिका २४ मे कहा है—

"नैकं स्वस्मात् प्रजायते।"

श्री पं० जयचन्दजी कृत टीका—'आप ही तैं आपकी उत्पत्ति हूँ नांही होय। तथा उपजना बिनशना एक ही कै आप ही तैं अन्य कारण बिना होय नाहीं।'

प्रमेयरत्नमाला अध्याय ४ सूत्र १ की टीका मे भी कहा है—

"तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदसिद्धम्, घटाद्यभावस्य मुद्गरादिव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । तत्कारणत्वोपपत्तेः ।"

श्री पं० जयचन्दजी कृत अर्थ—नाश (व्यय) विषै अन्य की अपेक्षातै रहितपणा हेतु कह्या सो प्रसिद्ध है जातैं घटादिक का अभाव (व्यय) कै मुग्दर आदि के व्यापार का अन्वय व्यतिरेक का अनुसारीपणातै तिसके अभाव (घट के व्यय) के प्रति कारणपणा है । मुग्दर की दिये घट फूटै, न दे तो न फूटै है ।

श्री स्वामिसमन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा मे कहा है—

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः ।"

श्री पं० जयचन्दजी कृत अर्थ—क्षणक्षय एकान्तवादी नाश (व्यय) कूँ अहेतुक कहे हैं । जो वस्तु विनसै है सो स्वयमेव बिना हेतु विनसे (व्यय होय) है । सो ऐसा कहतैं है तो जो हिंसा करने वाला हिंसक है सो हिंसा का हेतु न ठहरचा ।

इसप्रकार यह बतलाया है कि यदि पर्याय का व्यय अहेतुक माना जायगा तो हिंसारूप पाप का अभाव हो जायगा ।

श्री पूज्यपादाचार्य ने भी सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र ३० की टीका मे कहा है—

"उभयनिमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः ।"

अन्तरग और बहिरंग निमित्त के वश से जो नवीन अवस्था की उत्पत्ति वह उत्पाद है ।

"तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः ।"

उसीप्रकार अर्थात् अतरंग और बहिरग निमित्त के वश से पूर्व अवस्था के निकल जाने को अर्थात् नाश को व्यय कहते हैं ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद और व्यय बहिरग निमित्तो की भी अपेक्षा रखता है । बहिरंग निमित्त दो प्रकार के हैं—सामान्य व विशेष । सभी उत्पाद और व्ययों में सामान्य बहिरग निमित्त कालद्रव्य है और प्रत्येक उत्पाद व व्यय के लिये विशेष निमित्त भिन्न-भिन्न हैं । कहा भी है—

"धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः । को णिजर्थः ? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः ।"

(स. सि. ५।२२)

अर्थ—यद्यपि धर्मादिकद्रव्य अपनी-अपनी नवीनपर्याय के उत्पन्न करने मे स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह उत्पत्ति बाह्य सहकारीकारण के बिना नहीं हो सकती इसीलिये उसे प्रवर्तानेवाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना काल का उपकार कहा है । णिजर्थ क्या है ? द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलनेवाला काल है ।

पंचास्तिकाय गाथा २३ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

"इह हि जीवानां पुद्गलानां च सत्तास्वभावत्वादस्ति प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यैकवृत्तिरूपः परिणाम। स खलु सहकारिकारणसद्भावे दृष्टः। यस्तु सहकारीकारण स कालः। तत्परिणामान्यथानुपपत्तिगम्यमानत्वादनुक्तोऽपि निश्चयकालोऽस्तीति निश्चीयते।"

इस जगत् मे वास्तव मे जीवों को और पुद्गलो को सत्तास्वभाव के कारण प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय ध्रौव्य की एक वृत्तिरूप परिणाम वर्तता है। वह उत्पाद, व्ययरूप परिणाम वास्तव मे सहकारी कारण के सद्भाव में दिखाई देता है। उस उत्पाद, व्ययरूप परिणाम मे जो सहकारीकारण है वह काल है। जीव और पुद्गल के उत्पाद-व्ययरूप परिणाम की सहकारिकारण के बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती इस अन्यथा अनुपपत्तिद्वारा 'काल' जाना जाता है।

परीक्षामुख में भी कहा है—

"समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६।६३ ॥

संस्कृत टीका—"निरपेक्षसमर्थतस्वस्य कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्।"

यदि घट आदि विशेष पर्यायरूप कार्य का उत्पाद व व्यय निरपेक्ष माना जायगा तो निरतर घट की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि घटरूप उत्पाद अन्य की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु घट को निरन्तर उत्पत्ति नहीं होती, अतः वह कुम्भकार आदि की अपेक्षा रखता है।

—जै. ग 4-6-70/VII/ रो. ला. मित्तल

(१) एक द्रव्य को पर्याय द्रव्यान्तर को पर्याय को निमित्तकर्त्ता होती है।
(२) पुण्य विष्ठा नहीं है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित श्री समयसार में प्रारम्भिक मंगलाचरण इसप्रकार है—भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशकमिद शास्त्र श्री समयसारनामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्य-देवविरचित" इस पर यह शंका उत्पन्न होती है श्री समयसार शास्त्र तो पौद्गलिक है जड़ है वह भव्य जीवों को प्रतिबोध करनेवाला कैसे हो सकता है? पुण्य तो विष्टा है जिसको ज्ञानी पुरुष दूर से ही छोड़ देते हैं फिर पुण्य को प्रकाश करनेवाले श्री समयसारशास्त्र की स्वाध्याय क्यों करनी चाहिये पुण्य प्रणाशक शास्त्र की स्वाध्याय करनी चाहिये? पुद्गलमयी शास्त्र के कर्त्ता श्री सर्वज्ञदेव तथा गणधरदेव तथा उसके रचनेवाले श्री कुन्दकुन्दाचार्य जो चेतन हैं; कैसे हो सकते हैं? पुद्गलमयी शास्त्र का कर्त्ता तो पुद्गल होना चाहिये, न कि चेतनमयी जीवद्रव्य। प्रारम्भिक मंगलाचरण में जो इसप्रकार कहा गया है, वह क्या वास्तविक है या मात्र लोगो को बहकाने के लिये लिखा गया है? यदि वास्तविक है तो ऐसा क्यों कहा जाता है कि एकद्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय की कर्त्ता नहीं है? यदि अवास्तविक है तो जिस शास्त्र के प्रारम्भिक मंगलाचरण में ही अवास्तविकता है तो उस ग्रंथ में अवास्तविकता क्यों नहीं होगी?

समाधान—श्री समयसार शास्त्र यद्यपि पुद्गलमयी जड़ है तथापि अक्षर, शब्द, पद और वाक्यों का समूह है। अर्थ और शब्द मे वाच्य और वाचकसम्बन्ध है। कहा भी है—"जिसप्रकार प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि, चन्द्रमा आदि घट-पट आदि प्रकाश्यभूत पदार्थों से भिन्न रहकर भी उन पदार्थों के प्रकाशक देखे जाते हैं, इसीप्रकार शब्द अर्थ से भिन्न होकर भी अर्थ का वाचक होता है। जयधवल पु० १ पृ० २४१।" "बाह्य शब्दात्मक निमित्तों से क्रम से जो वर्णज्ञान होता है और जो अक्रम से स्थित रहते हैं उनसे उत्पन्न होनेवाले पद और वाक्यों से अर्थ-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है—जयधवल पु० १ पृ० २६८।" "शब्द से पद की सिद्धि होती है पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है, अर्थनिर्णय से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। और तत्त्वज्ञान से परमकल्याण होता है।"—धवल पु० १ पृ० १०। पद वाक्यों से पदार्थों का बोध होता है अतः निमित्त कर्त्ता की अपेक्षा श्री समयसार शास्त्र 'भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं' (भव्यजीवों को प्रतिबोध करनेवाला) है। पदार्थ के बोध से तत्त्वज्ञान होता है और उस तत्त्वज्ञान से परमकल्याण होता है अतः समयसारशास्त्र पुण्यप्रकाशक है। व्यवहारनय से यह सब कथन वास्तविक है, क्योंकि दो भिन्न द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। यदि उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय को सर्वथा अवास्तविक माना जाय या पंचाध्यायी ग्रन्थ को प्रामाणिक मानकर नयाभास माना जावे तो समयसारशास्त्र 'भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं व पुण्यप्रकाशकं' नहीं हो सकता।

'पुण्य' विष्ठा नहीं है। किसी भी आचार्य ने 'पुण्य' के लिये विष्ठा जैसे अपवित्र शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है' वह पुण्य है (स० सि० अ० ६ सूत्र ३)। आत्मा को पवित्र करनेवाला पुण्य ज्ञानीजीवों के लिये त्याज्य कैसे हो सकता है ? आत्मा की पवित्रता को नष्ट करनेवाले शास्त्रों की स्वाध्याय ज्ञानीजन कैसे करेंगे ?

'वाक्य' स्वयं यह बतला रहा है कि मेरा 'वक्ता' अर्थात् कर्त्ता कोई अवश्य होना चाहिये। यदि पुद्गल को कर्त्ता माना जावे तो पुद्गल तो जड है वह प्रमाणभूत नहीं हो सकता, अतः समयसारशास्त्र को प्रमाणता प्राप्त नहीं होगी। किन्तु समयसारशास्त्र प्रामाणिक है, अतः उसका कर्त्ता भी प्रमाण अर्थात् ज्ञान होना चाहिये। कहा भी है—'वचन ज्ञान का कार्य है।' ध० पु० १ पृ० ३६८। ज्ञान जीव के आश्रय से रहता है अतः समयसारशास्त्र के मूलग्रन्थ कर्त्ता सर्वज्ञदेव, उत्तरग्रन्थ कर्त्ता श्री गणधरदेव और रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं क्योंकि वे समयसारशास्त्र के निमित्तकर्त्ता हैं। निमित्त कर्त्ता अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि आगमप्रमाण से निमित्त-कर्त्ता सिद्ध है। कहा भी है—'शास्त्र की प्रमाणता को दिखलाने के लिये कर्त्ता का प्ररूपण किया गया है, क्योंकि वक्ता की प्रमाणता से ही वचन में प्रमाणता आती है ऐसा न्याय है।' (ध० पु० १ पृ० ७२)।

जैसे दर्पण मे मयूर का प्रतिबिम्ब पड रहा है। वह प्रतिबिम्ब मयूर का है या दर्पण की स्वच्छता का विकार है। उपादान की दृष्टि से देखा जावे तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण की स्वच्छता का विकार है; अन्यथा पत्थर आदि मे भी प्रतिबिम्ब हो जाना चाहिये था। किन्तु वह प्रतिबिम्ब मयूर के निमित्त से हुआ है, मयूर के अभाव में प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। जिसके होने पर जो होता है और जिसके बिना जो नियम से नहीं होता वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है ध० पु० १२ पृ० २८८-२८९, आप्तपरीक्षा ४०-४१। प्रतिबिम्ब का परिणमन भी मयूर के परिणमन के अधीन है। अतः प्रतिबिम्ब का कर्त्ता मयूर है। जिसकी सहायता या कर्तृत्व से कोई वस्तु बने, वह निमित्त-कारण है (संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ)। शास्त्ररचनारूप परिणमन श्री सर्वज्ञदेव तथा श्री गणधरदेव तथा कुन्दकुन्दाचार्य के ज्ञान के अनुसार हुआ है अतः वे ग्रन्थकर्त्ता हैं। यह वास्तविक है। कथन-मात्र नहीं है या अवास्तविक नहीं है। अनेकान्त मे यह सब सत्य है।

—जै. ग. 25-1-64/VII/ मू. च. जैन

क्रियावती शक्ति परमाणु में है, पर सिद्धों में नहीं

शंका—क्या पुद्गल परमाणु और सिद्धों में भी क्रियावतीशक्ति होती है ?

समाधान—क्रिया का लक्षण परिस्पंदन है अथवा परिस्पंदनरूप पर्याय को क्रिया कहते हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

"परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया।" प्र. सा. गा. १२९ टीका

"परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया।" पं. का. गाथा ९८ टीका

प्रदेश—परिस्पन्दनरूप पर्याय अशुद्धजीवो और पुद्गलो मे ही होती है अतः क्रियावतीशक्ति अशुद्धजीवों और पुद्गलों में होने से यह पर्यायशक्ति है, द्रव्यशक्ति नहीं है। शुद्धजीव मे निष्क्रियत्वशक्ति है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

"सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।" (स सा. आत्मख्याति)

अर्थ—समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशो की निस्पन्दतास्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है।

"जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति।" (प. का. गाथा ९८ टीका)

अर्थ—जीवों के सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म का संचयरूप पुद्गल है, इसलिये जीव पुद्गल करणवाले हैं। उसके अभाव के कारण सिद्धो के निष्क्रियपना है। पुद्गलोको सक्रियपने का बहिरग साधन परिणाम निष्पादक काल है, इसलिये पुद्गल काल करण वाले है। कर्मादि की भाँति काल का अभाव नहीं होता, इसलिये सिद्धों की भाँति पुद्गलो को निष्क्रियपना नहीं होता।

पुद्गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है तथापि वह बन्ध को प्राप्त हो सकता है, इसलिये उसको अस्तिकाय कहा है। इसी अपेक्षा से वह सक्रिय भी है।

अभव्यजीव की अशुद्धपरिणति को अशुद्धशक्तिकारणक कहना हो तो उसे जीव के विभाव परिणाम की या अशुद्धजीव की शक्ति कहना होगा, क्योंकि उसके विभावभावो का अभाव होते ही उसकी अशुद्धि का भी अभाव हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध बने हुए भव्यजीव के अशुद्धशक्ति अनादि-सात है। वह अशुद्धभव्यजीव के विभावपरिणाम की शक्ति है, शुद्धजीव की नहीं है। (पं० मोतीलाल जैन द्वारा सम्पादित समयसार)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्रियावतीशक्ति अर्थात् योगशक्ति शुद्धजीवो मे नहीं है, क्योंकि योग विभावपर्यायरूप शक्ति है।

—जै. ग. 6-5-71/VII/ सुल्तानसिंह

अज्ञान पर्याय किस द्रव्य तथा गुण की है ? जीव की विभिन्न अवस्थाओं में उसका अस्तित्व

शंका—अज्ञान क्या है ? कौन से द्रव्य तथा गुण की पर्याय है ? उसको गुणस्थानों पर घटाकर बतलाइये।

समाधान—मिथ्यात्वसहित क्षायोपशमिकज्ञान को भी अज्ञान कहते हैं और ज्ञानावरणकर्म के उदय से ज्ञान के अभाव को भी अज्ञान कहते हैं (मो. शा. अ. २, सू. ५ व ६)। 'अज्ञान' जीवद्रव्य व ज्ञानगुण की पर्याय है। पहले और दूसरे गुणस्थान मे दोनो प्रकार का अज्ञान है। चौथे से बारहवें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकर्मोदय से होनेवाला अज्ञान है। चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्वोदय का अभाव है अतः वहाँ से मिथ्याज्ञानरूपी अज्ञान का अभाव है। तेरहवें गुणस्थान मे ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से सर्वथा अज्ञान का अभाव है।

—जै. स. 6-3-58/VI/ गु. च. शाह, लश्करवाले

(१) विचार तथा अनुभव ज्ञानगुण की पर्यायें हैं
(२) पाँच भावों में जड़–चेतनरूप विभाजन

शंका—ता० २३-८-५६ के जैनसंदेश में आपने भाव को परिणाम (पर्याय) सिद्ध किया है। फिर विचार एवं अनुभव (Thoughts and feelings) क्या हैं ? विचारों एवं परिणामों में क्या अन्तर है ? दोनों के क्या कारण हैं ? रागद्वेषभाव एवं परिणाम में क्या अन्तर है ? भाव जड़ है या चेतन ? पाँच प्रकार के भावों में कौन से जड़ हैं कौन से चेतन ?

समाधान—विचार एव अनुभव (Thoughts and feelings) छद्मस्थ अवस्था मे ज्ञानगुण की पर्याय हैं। हरएक द्रव्य व गुण की पर्याय को परिणाम कहते हैं, किन्तु विचार ज्ञानगुण की पर्याय है। अन्तरग मे परिणमनशक्ति बाह्य मे कालद्रव्य इसके कारण हैं। रागद्वेषभाव चारित्रगुण की वैभाविकपर्याय है जो कि चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय होने पर अवश्य होती है। परिणाम व्यापक है और रागद्वेषभाव व्याप्य हैं। भाव जड भी हैं और चेतन भी हैं। अचेतनद्रव्य के सर्वभाव जडरूप हैं। चेतनद्रव्य के भाव चेतन भी हैं, किसी अपेक्षा से कुछ भाव अचेतन भी हैं। शंकाकार ने पाँचभावो के नाम नही लिखे कि उसका किन पाँचभावो से प्रयोजन है। पारिणामिक जीवत्वभाव व क्षायिकभाव, क्षयोपशमिक व औपशमिकभाव चेतना है। भव्यत्व, अभव्यत्व व औदयिकभाव चेतन भी हैं और जड़ भी हैं।

—जै. सं. 2-1-58/VI/ ला. च. नाहटा

निगोदपर्याय कर्मभार (कर्मोदय) से हुई है

शंका—आत्मधर्म वर्ष ९ अक २ पृष्ठ ३३ पर श्री कानजीस्वामी इस प्रकार लिखते हैं—"सिद्ध या निगोद हरेक आत्मा अपने स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और कर्म के चतुष्टय का वामें अभाव है। निगोद जीव की अत्यन्त हीन पर्याय है सो उनको अपना स्वकाल के कारण से ही है कर्मभार से नहीं है, ऐसा जो कोई न माने तो उनमें अस्ति-नास्ति धर्म ही सिद्ध नहीं होगा।' श्री कानजी स्वामी का ऐसा कहना क्या आगमअनुकूल है ?

समाधान—आत्मा की स्वभाव और विभाव दो प्रकार की पर्याय होती हैं, उनमे से सिद्धरूप स्वभावपर्याय है और नर, नारकादि विभावपर्याय है (पंचास्तिकाय गाथा ५ व १६ तात्पर्यवृत्ति)। परद्रव्य के संबंध से निवृत्त होने के कारण ही नर, नारकादि पर्याय अशुद्ध हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—'सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणाः परद्रव्यसंबन्धनिर्वृत्तत्वादशुद्धाश्चेति' (पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका) जीव की देव, मनुष्य, तिर्यंच व नरकपर्याय गतिनामा नामकर्म तथा आयुकर्म के उदय से होती हैं; जैसा कि पचास्तिकाय गाथा ११८ की टीका में तथा प्रवचनसार गाथा ११८ की टीका मे कहा है—'देवगतिनाम्नो देवायुषश्चोदयाद्देवाः मनुष्यगतिनाम्नो मनुष्या-

युषस्योदयान्मनुष्याः। तिर्यग्गतिनाम्नस्तिर्यगायुषश्चोदयात्तिर्यञ्चः। नरकगतिनाम्नो नरकायुषश्च उदयान्नारकाः। अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत्।' निगोद भी तिर्यंचपर्याय है जो तिर्यंचगति नामकर्म व तिर्यंचायुकर्म के उदय से होती है जैसा कि श्री पंचास्तिकाय व प्रवचनसारग्रंथ से स्पष्ट है। श्री कानजी स्वामी का यह कहना कि 'आत्मा की निगोदपर्याय कर्मभार से नहीं है' कैसे आगमानुकूल हो सकता है? कर्मोदय से जीव की निगोदपर्याय मानने से अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी के सिद्धान्त मे कोई बाधा नहीं आती। यदि कर्मोदय से जीव की निगोदपर्याय मानने से अस्ति-नास्ति के सिद्धान्त में बाधा आती होती तो आचार्यश्री प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में ऐसा उपदेश क्यों देते? श्री कानजीस्वामी की युक्ति भी आगम विरुद्ध है।

—जै. स. 15-1-59/V/ सो अ. शाह, कलोल (गुजरात)

पर्याय अहेतुक नहीं होती

शंका—श्री कानजीस्वामी ने आत्मधर्म वर्ष ८ अंक ३ पृष्ठ ५२ पर इसप्रकार लिखा है—"प्रवाह का वर्तमान अंश है सो वह अपने अंश से ही है। समय-समय का अंश अहेतुक है, सब पदार्थों का त्रिकाल का वर्तमान हरेकअंश निरपेक्षसत् है। वर्तमानपरिणाम पूर्वपरिणाम का व्ययरूप है, इसलिये वर्तमानपरिणाम को पूर्वपरिणाम की अपेक्षा ही रही नहीं तो फिर परपदार्थ के कारण से उसमें कुछ भी हो जाय, यह बात ही कहाँ रही।" क्या प्रत्येक समय की पर्याय का उत्पाद अहेतुक है? क्या उत्तरपर्याय पूर्वपर्याय की अपेक्षा रखती है अर्थात् पूर्वपर्याय-सहित द्रव्य उत्तरपर्याय को कारण है या नहीं?

समाधान—उत्पन्न होनेवाला वर्तमान हरेकअंश (पर्याय) कार्य है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कहीं भी नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा होनेपर अतिप्रसंग दोष आता है (ध. खं. ध. पु. १२ पृ. ३८२) जो कार्य होता है वह कारण के बिना नहीं हो सकता (आप्तपरीक्षा पृष्ठ २४७)। कारण के अभाव मे कार्य (पर्याय) की अनुत्पत्ति है (अष्टसहस्री पृष्ठ १५९)। उपजना व विनशना एक ही के आप ही ते अन्य कारण बिना होय नाहीं (आप्तमीमांसा कारिका २४ पं० जयचन्दजी कृत भाषा टीका) अतः इन आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि हरेक समय के अंश का उत्पाद (सत) अहेतुक नही है।

पूर्वपर्याय की अपेक्षा से ही उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है। जैसे पीपल मे पूर्व ६३ पुट आजाने के पश्चात् ही ६४ वीं पुट आ सकती है। यदि पीपल मे पूर्व ६३ पुट न दी जावे तो ६४ वी पुटवाली चरपराहट की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। यदि ६४ वीं पुटवाली चरपराहट ६३ वीं पुट की अपेक्षा नही रखती तो पीपल मे प्रथम पुट देने पर ही ६४ वीं पुट वाली चरपराहट क्यों उत्पन्न नहीं हो जाती। आगम मे भी कहा है—'पूर्वपरिणामसहित द्रव्य है सो कारणरूप है बहुरि उत्तरपरिणाम युक्त द्रव्य है सो कार्यरूप नियमकरि है।' स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २२२। वर्तमानपरिणाम केवल पूर्वपर्याय की ही अपेक्षा नही रखता, किन्तु बाह्य सहकारीकारणों की भी अपेक्षा रखता है। कहा भी है—'बाह्यसहकारीकारण और अंतरंगउपादानकारण से कार्यकी सिद्धि होय है (अष्टसहस्री पृष्ठ १४९)।

स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है वह स्वयं लाल, पीला आदिरूप परिणमने मे असमर्थ है, किन्तु लाल, पीले आदि परद्रव्य का संयोग होने पर वह स्फटिकमणि लाल, पीलीरूप परिणमती है। यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है। श्री समयसार गाथा २७८ में भी श्री १०८ कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—"जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगस्वरूप आप तो नहीं परिणमती, परन्तु वह दूसरे लाल, काले आदि द्रव्यों से ललाई आदि रंगस्वरूप परि-

जमाई जाती है। अतः परपदार्थ के कारण से भी परिणाम पर असर पड़ता है और उसके अनुकूल परिणमन भी हो जाता है।

—जै. सं. 22-1-59/V/सो. अ. शाह कलोल, गुजरात

क्रमबद्धपर्याय

(नियतिवाद)

क्रमबद्ध पर्याय

शंका—द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है या अक्रम भी ? एकगुण की एकसमय में एक ही पर्याय होती है या अधिक भी ? यदि नहीं होती तो एक स्पर्श गुण की एक समय में दो पर्याय होती हैं जैसे शीत, स्निग्ध या रूक्ष, उष्ण। और प्रत्यक्ष देखते भी हैं जो आम १० दिन बाद पकता है वह आम पाल आदि में दबा देने से समय से पहले भी तैयार हो जाता है, इसलिए पर्याय क्रमपूर्वक ही होती है, यह समझ में नहीं आता।

समाधान—द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रम से ही होती है, क्योंकि सहभावी को गुण और क्रमभावी को पर्याय कहा है, किन्तु प्रत्येक पर्याय का काल नियत है या अनियत, इस विषय मे एकान्त नही है। श्री प्रवचनसार ग्रंथ की श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति के अन्त मे परिशिष्टरूप से ४७ नयो का कथन किया है। उन ४७ नयों मे से ३० वें कालनय का कथन इसप्रकार किया है—कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमान सहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥ ३० ॥ अर्थ—आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति है। ३१ वें अकालनय का कथन इसप्रकार है—अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमान सहकारफलवत् समयानायत्तसिद्धिः ॥ ३१ ॥ अर्थ—आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति है। वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है अतः एकान्त पक्ष का आग्रह करना उचित नहीं है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे कहा है—

जत्तु जदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥ ८८२ ॥

अर्थ—जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय, उससे, तैसे, उसके ही होता है। ऐसे नियम से सब वस्तुओं का मानना उसे नियतिवाद कहते हैं। (यह गाथा एकान्त मिथ्यात्व के भेद कहते हुए कही है।) वस्तुस्वरूप नित्यानित्यात्मक होते हुए भी वैराग्य बढ़ाने के लिए अनित्यभावना कही है, नित्यभावना नहीं कही है। इसीप्रकार वस्तुस्वरूप नियत (कालनय), अनियत (अकालनय) होते हुए भी स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे इसप्रकार कहा है—

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मिकालम्मि।
णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ वारेदुं, इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जो जिस जीव के जिस देश विषै, जिस काल विषै, जिस विधान कर, जन्म तथा मरण सर्वज्ञदेव ने जाण्या है, सो तिस प्राणी के तिस ही देश में, तिस ही काल मे, तिस ही विधान करि नियम तैं होय है, ताको इन्द्र तथा जिनेन्द्र कोई भी निवार नाहीं सके है। भाषा के कवि ने भी कहा है—

जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहू नहिं होती, काहे होत अधीरा रे ॥

जो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय हो अथवा जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श गुण है। (षट्खण्डागम १।२३८) शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, नर्म, कठोर, हलका, भारी स्पर्श के द्वारा जाने जाते हैं। अतः भिन्न-भिन्न होते हुए भी इनको एक स्पर्शनगुण में गर्भित किया है। एक स्पर्शनगुण होते हुए भी कार्य भिन्न-भिन्न हैं अतः प्रत्येक की भिन्न-भिन्न पर्याय है। जिसप्रकार चेतना एक गुण होते हुए भी उसके ज्ञान और दर्शन दो भिन्न-भिन्न कार्य दिखाई देते हैं। अतः ज्ञान और दर्शन की पर्याय भी पृथक्-पृथक् है। इसी कारण कहीं-कहीं पर तो ज्ञान और दर्शन को भी गुण मान लिया है। एकगुण की एकसमय में एक ही पर्याय होती है और स्पर्शन या चेतना गुण के द्वारा इसमें व्यभिचार भी नहीं आता, क्योंकि उनके द्वारा एकसाथ अनेक कार्य होते हुए दिखाई देते हैं।

—जै. सं 31-5-56/VI/ क दे गया

क्या हमारी परिणति केवलज्ञान के आधीन है ?

शंका—जैसा केवलज्ञानी ने देखा है वैसा ही हम करेंगे। क्या हमारी परिणति केवलज्ञान के आधीन है ?

समाधान—केवलज्ञान का द्रव्य, गुण और पर्यायों के साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है अर्थात् द्रव्य, गुण व पर्याय ज्ञेय हैं और केवलज्ञान उनका ज्ञायक है। द्रव्य, गुण और पर्यायो के साथ केवलज्ञान का कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है। अंतरंग व बाह्य कारणों से कार्य होता है। जैसे अतरग व बाह्य कारण होंगे वैसा ही कार्य होगा; अतः यह सिद्ध हुआ कि हमारी परिणति बाह्य और अतरंग कारणो के आधीन है। हमको बाह्य अतरग कारण उत्तम मिलाने चाहिये जिससे हमारी परिणति उत्तम हो।

—जै स. 25-7-57/ / ब. प्र सरावगी; पटना

(१) नियति विषयक कथन गोम्मटसार में या कार्तिकेयानुप्रेक्षा में परस्पर अविरुद्ध है
(२) जीव पुरुषार्थ द्वारा अपने जन्म-मरण को टाल सकता है
(३) कथंचित् नियति है, कथंचित् अनियति

शंका—तारीख २६-९-५७ के जैनसंदेश मे नियतिवाद, सर्वज्ञ सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान किया है उसमें नियतिवाद का निम्नस्वरूप बताया है—जो जिससमय, जिससे, जैसे, जिसके, नियम से होता है वह, उससमय, उससे, उसके वैसा होता है। ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं। फिर लिखा है कि इसप्रकार की श्रद्धा करनेवाला गृहीतमिथ्यादृष्टि है। अतः इसप्रकार नियति की श्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

जिसे नियतिवाद कहकर मिथ्यादर्शन बताया है उसे ही स्वामी कार्तिकेय ने सम्यग्दर्शन कहा है। 'जं जस्स जम्मिदेसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि। णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥ तं तस्स

लम्मिवेसे तेण विहाणेण तम्मिकालम्मि को सक्कइ चालेदुं इंदो अह जिणिंदो वा ।। ३२२ ।। ऐसा निश्चय करनेवाले को ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं, संशय करने वाले को मिथ्यादृष्टि—'एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व पज्जाए। सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ।। ३२३ ।।

उपर्युक्त जैनसंदेश के उत्तर में इससे विरोध लक्षित होता है, क्योंकि नियतिवाद का लक्षण तो श्री पंच-संग्रह और गोम्मटसार से बताया है और उसे षट्खण्डागम में मिथ्यात्व घोषित किया है। इसलिये विरोध यह आया है। उपर्युक्त गाथा से जैसा नियतिवाद का स्वरूप बताया है वैसा ही स्वरूप सिद्ध होता है। फिर आचार्य ने इसको श्रद्धा करनेवाले को सम्यग्दृष्टि और शंका करनेवाले को मिथ्यादृष्टि बताया है ? ऐसा क्यों ?

केवलीभगवान सब द्रव्यों की त्रैकालिक सब पर्यायों को जानते हैं तो हम उसमें कुछ भी परिवर्तन कर सकते हैं या नहीं। अगर हां तो उनका ज्ञान सम्यक् नहीं रहेगा और नहीं तो फिर नियतिवाद ठहर जायगा या नहीं जो कि समाधान के शब्दों में गृहीतमिथ्यात्व है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञता भी यथार्थ सिद्ध नहीं होती।

समाधान—शंकाकार को यह भ्रम हो गया कि 'नियतिवाद' का स्वरूप जो पंचसंग्रह व गोम्मटसार ग्रंथों मे कहा गया है, किन्तु उनग्रन्थो मे नियतिवाद को मिथ्यात्व नहीं कहा है। जैनसंदेश २६-९-५७ में समाधान के प्रारंभ मे लिखा है—'पंचसंग्रह ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद की गाथा ३०८ से ३१७ तक मिथ्यात्व का कथन है। गृहीतमिथ्यात्व के भेदो मे से 'नियति' मिथ्यात्व भी है जिसका स्वरूप गाथा ३१२ मे इसप्रकार दिया है।' समाधान के इन शब्दों से स्पष्ट है कि 'पंचसंग्रह' ग्रंथ मे भी नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है। समाधान के इन शब्दों से 'इसीप्रकार गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है।' यह सिद्ध है कि गोम्मटसार मे भी नियति को मिथ्यात्व कहा है। शंकाकार का यह कहना—'उत्तर मे इससे विरोध लक्षित होता है, क्योकि नियतिवाद का लक्षण तो श्री पंचसंग्रह और गोम्मटसार से बताया है और उसे मिथ्यात्व षट्खंडागम से घोषित किया है। इसलिये विरोध यह आया है।' कहाँ तक उचित है स्वयं शंकाकार विचार कर लें। यदि पंचसंग्रह व गोम्मटसार से उक्त प्रकरण देख लिया जाता तो सम्भवतः शंकाकार का बहुत कुछ समाधान हो जाता।

२६-९-५७ के जैनसंदेश में समाधानरूप से जो लिखा गया है वह भी पंचसंग्रह, गोम्मटसार, कर्मकांड व षट्खंडागम के शब्द लिखे गये हैं। श्री अमितगति आचार्य ने तथा श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ति ने 'नियति' को स्पष्ट शब्दो मे मिथ्यात्व कहा है। उन्हीं आचार्यों के शब्द समाधान मे लिखे गये हैं।

मूल प्रश्न यह रह जाता है कि पंचसंग्रह गाथा ३१२ व गो० क० गा० ८८२ का और स्वामि कार्तिकेयानु-प्रेक्षा की गाथा ३२१-३२२-३२३ का परस्पर विरोध क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान भी २६-९-५७ के जैनसंदेश में गौणरूप से दिया हुआ है फिर भी संक्षेप से पुनः विचार किया जाता है।

जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (मिथ्यात्व) हैं, क्योंकि परसमयो (मिथ्यात्वियो) का वचन सर्वथा (अपेक्षारहित) कहा जाने से वास्तव मे मिथ्या है और जैनों का वचन कथंचित् (अपेक्षासहित) कहा जाने से वास्तव मे सम्यक् है (प्रवचनसार परिशिष्ट, गो० क० गाथा ८९४-८९५)। जिसप्रकार द्रव्य 'नित्या-नित्यात्मक' है। यदि अनित्यनिरपेक्ष द्रव्य को सर्वथा नित्य माना जावे तो मिथ्यादृष्टि है। यदि अनित्यसापेक्ष द्रव्य की नित्यता मे संदेह या शंका की जावे तो मिथ्यादृष्टि है। इसीप्रकार अन्यनयसापेक्ष वस्तु को 'नियतिस्वरूप' माननेवाला सम्यग्दृष्टि है और शंका (संदेह) करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। अन्यनय निरपेक्ष वस्तु को 'नियतिस्व-रूप' माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तू (अन्य कोई भी द्रव्य या जिनेन्द्र) पर जीवों के आयुकर्म को तो हरता नहीं है तो तूने (या अन्य किसी ने) उनका मरण कैसे किया। गाथा २४८ जीव आयुकर्म के उदय से जीते हैं ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू (या अन्य कोई भी) जीवों को आयुकर्म तो नहीं दे सकता तो तूने (या अन्य किसी ने) उनका जीवन कैसे किया ? गाथा २५१। सभी जीव कर्म के उदय से सुखी दुःखी होते हैं तू (या अन्य कोई) कर्म देता नहीं तो तू (या अन्य कोई) उन्हें दुःखी-सुखी कैसे कर सकता है ? ॥ गाथा २५४ ॥ जो यह मानता है मैं (या अन्य कोई) पर जीवो को मार, बचा सकता है, दुःखी या सुखी कर सकता है वह अज्ञानी है। गाथा २४७-२५०, २५३, (समयसार) भव, क्षेत्र, काल और पुद्गलद्रव्य का आश्रय लेकर कर्मउदय मे आता है (क० पा० सु० पृ० ४६५)।

इन उपर्युक्त आगमकथनो का यह अभिप्राय है कि—'जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है या देखा है कि जिस क्षेत्र (देश) जिस काल और जिस पुद्गल द्रव्य को आश्रय लेकर उदय मे आने वाले कर्म द्वारा जिस जीव के जो मरण, जीवन, सुख या दुःख होता है उस क्षेत्र काल और द्रव्य के आश्रय से उदय मे आनेवाले कर्म के फलस्वरूप जीवन-मरण सुख या दुःख को अन्य कोई भी यहाँ तक इन्द्र या जिनेन्द्र भी निवार (टाल) नहीं सकते, क्योंकि, कोई एक किसी अन्य को कर्म नही दे सकता। जो ऐसा श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है अर्थात् यह मानता है कि मैं या इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कर्म दे सकते हैं और सुखी दुःखी कर सकते हैं, जिला या मार सकते हैं वह मिथ्यादृष्टि है।

श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१८-३२३ मे कुदेवपूजन खंडन के लिये यह कहा है कि—कोई भी अन्य जीव को लक्ष्मी नही दे सकता और न उपकार कर सकता है, क्योंकि, शुभ अशुभ (पुण्य-पाप) कर्म उपकार या अपकार करते हैं। यदि भक्ति या पूजा करने से व्यन्तरदेव लक्ष्मी देता है तो धर्म क्यो किया जावे ॥ ३१९-३२० ॥ इसके पश्चात् गाथा ३२१ व ३२२ मे इस विषय को पुष्ट करने के लिये कहते हैं कि व्यन्तरदेव की तो बात ही क्या, इन्द्र या जिनेन्द्र भी जीव के सुख, दुःख जीवन या मरण टालने मे समर्थ नहीं हैं, गाथा ३२३ मे यह कहा कि इसप्रकार की श्रद्धा करनेवाला सम्यग्दृष्टि है और जो इसमे शंका करके यह मानता है कि व्यन्तरदेव मुझको लक्ष्मी या सुख आदि दे सकते हैं वह मिथ्यादृष्टि है।' गाथा ३१८-३२३ में एक ही प्रकरण है जिसका 'नियति' से कुछ सम्बन्ध नहीं है। गाथा ३२१-३२२ मे 'नियति' का कथन नही है, क्योकि इन दो गाथाओ मे यह निषेध नहीं किया गया कि जीव स्वयं भी अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने जन्म-मरण सुख को नहीं निवार सकता; किन्तु अन्य कोई नही टाल सकता यह कहा गया है। अतः स्वामिकार्तिकेय गाथा ३२१-३२३ का पंचसंग्रह आदि ग्रन्थो से विरोध नहीं है।

श्री राजवार्तिक मे भी इसीप्रकार कहा है—'भव्य के नियमितकाल करि ही मोक्ष की प्राप्ति है ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है जातै कर्म की निर्जरा को काल नियमरूप नही है यातैं भव्यनि के समस्त कर्म की निर्जरापूर्वक मोक्ष की प्राप्ति मे काल का नियम नहीं संभवे है। कोई भव्य तो संख्यातकाल करि मोक्ष प्राप्त होगे और कोई असंख्यातकाल करि और कोई अनन्तकाल करि सिद्ध होयगे बहुरि अन्य कोई भव्य हैं ते अनन्तानन्तकाल करि के भी सिद्ध न होयगे। ताते नियमितकाल ही करि भव्य के मोक्ष की उत्पत्ति है ऐसा कहना युक्त नहीं, ऐसा जानना। नियमितकाल ही करि मोक्ष है यह कहना युक्त नाहीं। निश्चय करि जो सर्वकार्य प्रतिकाल इष्ट प्रत्यक्ष के विषयस्वरूप अथवा अनुमान के विषयस्वरूप बाह्य–आभ्यंतर कारण के नियम का विरोध आवे (श्री रा० वा० अ० १, सूत्र ३, पृ० ११५-११६ हस्तलिखित पं० पन्नालाल न्यायदिवाकरकृत अनुवाद)

यदि यह भी मान लिया जावे कि श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२ में 'नियत' का कथन है तो वह अन्यनय सापेक्ष 'नियति' का कथन है। एकान्त या सर्वथानियति का कथन नहीं है। इसप्रकार भी स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा के कथन में विरोध नहीं है।

केवलज्ञानी, अनन्तज्ञानी, क्षायिकज्ञानी या सर्वज्ञ ये सब पर्यायवाची नाम हैं। जो सर्वद्रव्यों की सर्वपर्यायों को युगपत् एकसमय मे जानते है और जिनके ज्ञान से बाहर कुछ शेष नहीं रहा वे सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ का यह लक्षण प्राय: सभी दि० जैनग्रन्थो मे पाया जाता है और सर्वज्ञ की सिद्धि भी नाना हेतुओ द्वारा की गई है फिर ऐसा कौन दि० जैन होगा जो सर्वज्ञ के अस्तित्व को स्वीकार न करे।

इस सर्वज्ञता की आड मे अनेको युक्तियो द्वारा दि० जैनागम के मूल सिद्धान्तो का खडन किया जा रहा है तथा एकान्त का पोषण किया जा रहा है। जो इसप्रकार है—

पर्यायो की सततिअपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टि से प्रत्येकद्रव्य अनादि-अनन्त है, क्योंकि असत् का उत्पाद नहीं और सत् का व्यय (नाश) नहीं होता (पंचास्तिकाय गाथा ११-१५)। किन्तु निम्न युक्ति के बल पर सर्वज्ञता की आड मे द्रव्य को पर्याय सतति अपेक्षा भी आदि सात सिद्ध किया जा रहा है, जो आगम विरुद्ध है। वह युक्ति इस प्रकार है—सर्वज्ञ ने प्रत्येक द्रव्य की सर्वपर्यायो को जान लिया है और वे सब पर्याय क्रमबद्ध हैं। कोई भी पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान से बाहर रही नही। अत: क्रमबद्धता मे पडी हुई आदि व अन्त की पर्याय को सर्वज्ञ ने जान ली। इसलिये प्रत्येक द्रव्य सादि-सान्त ही है, अनादि-अनन्त किसी भी अपेक्षा मे नहीं है। यदि सर्वज्ञ ने आदि व अन्त की पर्याय को नहीं जाना तो सर्वज्ञता का अभाव होता है। द्रव्य को अनादि-अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता का लोप करते हैं।' ऐसा इस युक्ति के बल पर कहा जाता है, किन्तु उनकी यह युक्ति आगम विरुद्ध है।

सर्वज्ञ ने भी द्रव्य को अनादि-अनन्त कहा है और अनादि-अनन्तरूप से जाना है। यदि द्रव्य को सर्वथा सादि-सांत मान लिया जावे तो यह प्रश्न होता है कि विवक्षित द्रव्य का उत्पाद सत् पदार्थ से हुआ या असत् से। यदि असत् का उत्पाद होने लगे तो अव्यवस्था हो जावेगी। यदि अन्य सत् पदार्थ से विवक्षितद्रव्य का उत्पाद हुआ तो उस अन्य सत् पदार्थ का किसी अन्य सत् पदार्थ से उत्पाद माना जावेगा। इसप्रकार अनवस्था दोष आ जावेगा। इस युक्ति के बल से भी द्रव्य पर्याय-सतति-अपेक्षा अनादि-अनन्त सिद्ध होता है। इसप्रकार द्रव्य को कथंचित् अनादि अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता का लोप करनेवाले नहीं हैं।

दूसरी कुयुक्ति इसप्रकार है—'सर्वज्ञ ने समस्त आकाशद्रव्य को जान लिया है तो आकाशद्रव्य का अन्त भी जानना चाहिये। आकाशद्रव्य का अन्त जान लेने पर आकाश द्रव्य अनन्त न होकर सान्त हो जाता है। यदि आकाशद्रव्य का अन्त नहीं जाना तो सर्वज्ञता का अभाव हो जाता है।' इस युक्ति के बल पर यह कहा जाता है कि आकाशद्रव्य को अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु उनकी यह युक्ति आगमानुकूल न होने से कुयुक्ति है। कहा भी है सूत्रविरुद्ध युक्ति होती नहीं है, क्योंकि वह युक्त्याभासरूप होगी।

(ध० ख० पु० ९ पृ० ३२)

सर्वज्ञ ने आकाशद्रव्य को अनन्तरूप से जाना है और आगम में भी आकाशद्रव्य अनन्त कहा गया है। यदि आकाशद्रव्य को सान्त मान लिया जावे तो यह प्रश्न होता है, आकाश के पश्चात् (बाहर) क्या है? यदि कुछ है तो वह सातवाँ द्रव्य कौनसा है। इसप्रकार सातवें द्रव्य के पश्चात् बाहर आठवाँ और आठवें के पश्चात नौवाँ आदि कहना पडेगा। जिससे अनवस्था दोष आता है। अत: आकाशद्रव्य अनन्त है यह सिद्ध हो जाता है। आकाशद्रव्य को अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता को अस्वीकार करनेवाले नहीं हैं।

इसीप्रकार सर्वज्ञता की आड़ में ऐसी युक्तियों द्वारा नियतिवाद की सिद्धि की जा रही है। उस नियति को श्री अमितगति आचार्य ने पंचसंग्रह में गृहीतमिथ्यात्व कहा है। 'नियति' जिसको पंचसंग्रह में गृहीतमिथ्यात्व कहा है उसका स्वरूप गाथा ३१२ में इसप्रकार दिया है—'जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है, तभी, तैसे ही, वहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है। यह सर्व नियति के आधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' नियति की सिद्धि के लिये जो युक्तियाँ दी गई हैं वे आगमविरुद्ध होने से युक्त्याभास हैं।

(ष० खं० पु० ९ पृ० ३२)

सर्वज्ञभगवान ने पदार्थ को 'नियति-अनियतिस्वरूप' देखा है। श्री प्रवचनसार में भी नियतिनय और अनियतिनय दोनों नयों का कथन है। यदि सर्वथा 'नियति' स्वीकार करली जावे तो पुरुषार्थ का अभाव हो जायगा और उपदेश निरर्थक हो जावेगा। पुरुषार्थ व उपदेश के निरर्थक हो जानेपर मोक्षमार्ग का अभाव हो जायगा। दुराचार फैल जावेगा। दुराचारी का स्पष्ट यह उत्तर होगा कि इसमें मेरा क्या दोष, सर्वज्ञ के ज्ञान में ऐसा ही झलका था। मैं उसको अन्यथा कैसे कर सकता था? प्रायश्चित्त आदि का अभाव हो जावेगा। सर्वथा नियति स्वीकार करने पर अनेको दोषों का प्रसंग आ जायगा और आगम से विरोध हो जायगा।

केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान है, प्रमाण है। केवलज्ञान से जैसा वस्तु का स्वरूप है उसीप्रकार से जाना, अन्यथा नहीं जाना। विवक्षितपर्याय अथवा प्रत्येकपर्याय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य अर्थात् सादि-सान्त है, किन्तु पर्याय-सतति-अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टिअपेक्षा द्रव्य अनादि—अनन्त अर्थात् नित्य है। इसीप्रकार केवली ने जाना है।

आकाशद्रव्य अखंड क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त है, किन्तु प्रत्येक प्रदेश की अपेक्षा सान्त है। केवलज्ञानी ने भी आकाशद्रव्य को इसीप्रकार जाना है।

नियतिनय, कालनय, स्वभावनय, दैवनय की अपेक्षा से 'नियति' है; किन्तु अनियतिनय, अकालनय, अस्वभावनय और पुरुषार्थनय की अपेक्षा 'अनियति' है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ ने देखा है।

—जै. सं. 6/13-2-58/VI/ बंशीधर शास्त्री, कलकत्ता

केवली का भविष्यज्ञत्व विषयक प्रपञ्च

शंका—केवली के पास कोई मनुष्य जाकर यह पूछे कि—मेरी यह बद्ध मुष्टि कितनी देर में खुलेगी तो केवली क्या निश्चित उत्तर देंगे? जबकि मुष्टि का खोलना और बन्द करना उस मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। स्याद्वादी केवली क्या भविष्य का अपेक्षाकृत उत्तर नहीं देते? अगर भविष्य को निश्चित मान लिया जाता है तो फिर मनुष्य का पुरुषार्थ क्या अर्थ रखता है? किसी अदृष्ट निश्चितशक्ति के अनुसार ही मनुष्य को प्रवर्तना पड़ता है या मनुष्य कुछ स्वतंत्र भी है? शराब के पीने से नशा चढ़ता है या शराब को पीना ही था और नशे को चढ़ना ही था इसलिये नशा चढ़ता है? अगर केवली के भविष्यज्ञान को अपेक्षाकृत निश्चित मान लिया जाय तो क्या बाधा है? जैसे किसी की आयु ६० वर्ष की निश्चित होने पर भी अकालमृत्यु पहिले भी सम्भव हो सकती है। उत्तरपुराण पर्व ७६ में बताया है कि—गौतम गणधर ने श्रेणिक के पूछने पर कहा 'अगर तुम इन मुनि को अन्तर्मुहूर्त के पहले जाकर संबोधित कर दोगे तो मुक्त हो जायेंगे, नहीं तो नरक जा सकते हैं। इससे भविष्यज्ञान के विषय में हमें किन निष्कर्षों की सूचना मिलती है? क्या केवली के भविष्यज्ञान में प्रतिसमय की पर्याय निश्चित है? अगर है तो फिर उपदेश संयमादि व्यवहार क्यों? और मनुष्य को व्यर्थ पुरुषार्थ करने की भी जरूरत क्या? ऐसी हालत में अनाचार की प्रवृत्ति क्यों संभव नहीं? ज्ञान में पर्यायों का झलकना दूसरी बात है पर बिना विकल्प के दूसरों

को लक्ष्य करके उन्हें बताना किस तरह संभव है ? तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा ८०८ और ९२६ में बताया है कि 'समवसरण स्थित वापिकाओं के जल में और भगवान के प्रभामण्डल में अवलोकन करने पर मनुष्यों को अपने सातभवों का दर्शन हो जाता है ।' अगर ऐसी बात है तो फिर भव जानने के लिये श्रोता प्रश्न ही क्यों करते हैं और भगवान भी उत्तर क्यों देते हैं ? समवसरण वापिकाओं में और प्रभामंडल में जो भव दिखाई देते हैं वे किसरूप में दिखते हैं उनकी क्या सब भूत-भविष्य की पर्याय दिखती हैं ? वे क्रम से दिखती हैं या एक साथ ? आदि । एतद् विषयक सब बातों का पूर्ण स्पष्टीकरण करें ।

समाधान—केवलीभगवान के मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से इच्छा का भी अभाव है अतः प्रश्न के पश्चात् उत्तर देने की इच्छा न होने से केवलीभगवान उत्तर नहीं देते । फिर भी प्रथमानुयोग मे जो यह कथन आता है कि 'केवलीभगवान ने उत्तर दिया' उसका यह अभिप्राय है कि—भगवान की दिव्यध्वनि के बीजाक्षर, अतिशय के कारण प्रश्नकर्ता के कानों मे प्रवेश करते समय प्रश्न के उत्तरस्वरूप परिणम जाते हैं अथवा दिव्यध्वनि के निमित्त से प्रश्नकर्ता के ज्ञान का क्षयोपशम ऐसा हो जाता है कि उसको अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं समझ में आ जाता है । अतः मुष्टिसबधी केवली भगवान कोई उत्तर नही देंगे । केवली स्याद्वादी अवश्य हैं, किन्तु भविष्य का अपेक्षाकृत या किसी प्रकार भी उत्तर देना सभव नहीं है । भविष्य को सर्वथा निश्चित या नियत मान लिया जावे तो मनुष्य का पुरुषार्थ निरर्थक हो जावेगा । मनुष्य स्वतन्त्र भी है । कर्म के तीव्र उदय में परतन्त्र है, किन्तु मदउदय मे पुरुषार्थ द्वारा भविष्य मे उदय मे आने वाले कर्म का संक्रमण, स्थितिघात, अनुभागघात कर सकता है । शराब को पीने से नशा चढता है, न कि शराब को पीना ही था और नशा चढ़ना ही था । 'केवली का भविष्य-सबधी ज्ञान अपेक्षाकृत है' ऐसा कथन आगम मे नही पाया जाता । बाह्यकारणो के मिलने पर और आयुकर्म की उदीरणा होने पर कर्मभूमिज मनुष्यो व तिर्यंचो की अकालमृत्यु हो सकती है । उत्तरपुराण पर्व ७६ के प्रकरण का केवली से कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु पर्व ७२ श्लोक १८० मे कहा है—'बारह वर्ष के बाद मदिरा का निमित्त पाकर यह द्वारावतीपुरी द्वीपायन के द्वारा निर्मूल नष्ट हो जायेगी ।' यह ही कथन हरिवंशपुराण इकसठवां सर्ग श्लोक २२-२३ मे है । केवली को भविष्य का ज्ञान नियति-अनियतिरूप से है ।

श्री गौतमगणधर ने सर्वावधि व विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के द्वारा श्री श्वेतवाहनमुनि के विषय मे यह तो बतला दिया कि—बाह्यकारणो के मिलने से इनके अन्तःकरण मे तीव्र अनुभागवाले क्रोधकषाय के स्पर्धको का उदय हो रहा है । सक्लेशरूप परिणामो से उनके तीन अशुभ लेश्याओं की वृद्धि हो रही है । जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गये हैं उनमे हिंसादि सर्वप्रकार के निग्रहो का चिंतवन करते हुए वे संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान मे प्रविष्ट हो रहे हैं ।' किन्तु भविष्य के विषय मे यह कहा—यदि अब आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरकआयु का बंध करने के योग्य हो जावेंगे ।' (उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक २१-२३) इस कथन से यह विदित होता है कि भविष्य की पर्याय सर्वथा नियत नहीं है अन्यथा श्री गौतमगणधर भविष्य के लिये 'यदि' शब्द का प्रयोग न करते । जिसप्रकार श्री गौतमस्वामी ने भूत व वर्तमान के लिये निश्चितरूप से उत्तर दिया था उसीप्रकार भविष्य के लिये निश्चितरूप से उत्तर न देकर अपेक्षाकृत उत्तर दिया । यद्यपि उनको अवधि व मनःपर्ययज्ञान के द्वारा अनेक भवों का तथा भविष्यसम्बन्धी औदयिक, क्षायोपशमिक व औपशमिकभावो का ज्ञान था ।

केवली को जब सब पर्यायो का ज्ञान है अतः भविष्य की प्रत्येक समय की पर्याय का भी ज्ञान है । किन्तु भविष्य की पर्याय नियत भी हैं अनियत भी हैं, अतः जिसरूप से भविष्य की पर्याय हैं उसीरूप से उन पर्यायो का केवली को ज्ञान है । पर्याय सर्वथा नियत नहीं है अतः उपदेश व संयमादि का व्यवहार है । यदि पर्यायों को सर्वथा

नियत मान लिया जावे तो उपदेश, सयमादि व पुरुषार्थ की निरर्थकता व अनाचार की प्रवृत्ति संभव है। भगवान की वाणी बिना इच्छा के निकलती है अतः उसमें किसी व्यक्ति विशेष का लक्ष्य नहीं होता।

ति० प० अ० ४ गाथा ८०८ व ९२६ मे जो सातभवों के दिखने का कथन है, उसका अभिप्राय यह है— वापिकाजल व भामंडल मे सातभव लिखे नहीं रहते, किन्तु भगवान की निकटता के कारण वापिकाजल व भामण्डल मे इतना अतिशय हो जाता है कि उनके अवलोकन से अपने सात भवो के ज्ञान का क्षयोपशम हो जाता है। स्थूल-रूप से सातभवो के ज्ञान का क्षयोपशम हो जाने पर भी जिसका उस क्षयोपशम की तरफ उपयोग नहीं जाता या जो सूक्ष्मरूप से जानना चाहता है वह प्रश्न कर लेता है और दिव्यध्वनि के सुनने से उसका स्वयमेव समाधान हो जाता है। भगवान के मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से वे इच्छापूर्वक किसी के प्रश्न का उत्तर नही देते।

—जै. सं. 27-2-58/VI/ र. ला कटारिया, केकड़ी

सृष्टि को आदि तथा अनन्त राशि के अन्त को असत्त्व के कारण केवली नहीं जानते

शंका—सृष्टि अनादि है और इसका कभी अन्त नहीं होगा। मनुष्य ज्ञान की अपेक्षा से अनादि है या सर्वज्ञ-ज्ञान की अपेक्षा से भी अनादि है ? सृष्टि की आदि को सर्वज्ञ जानते हैं अथवा नहीं जानते। अनन्त का अंत सर्वज्ञ जान लेते हैं या नहीं ? सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा 'अनन्त' सान्त है या अनन्त ही है ?

समाधान—'सृष्टि' अनादि है' इसमे शकाकार को विवाद नही है, क्योंकि सृष्टि को आदि मानने में अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे—क्यों बनी ? किसने बनाई ? किससे बनाई ? कहाँ बनाई ? कब बनाई ? इत्यादि। इन प्रश्नों का उत्तर देने से फिर प्रश्न होते हैं—जिसने बनाई उसको किसने बनाया ? जिस पदार्थ से बनी वह पदार्थ किससे बना ? इन प्रश्नों के उत्तर पर पुनः ये ही प्रश्न हो जायेंगे इसप्रकार अनवस्था दोष आजायगा। अतः 'सृष्टि संततिअपेक्षा अनादि है' यह निर्विवाद सिद्ध है।

केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान है और प्रमाण है। सम्यग्ज्ञान उसको कहते हैं—जो ज्ञान पदार्थ को जैसा का तैसा जानता हो, न न्यून जानता हो, न अधिक जानता हो और सशय विपरीत अनध्यवसाय से रहित हो (र० क० श्रा० श्लो० ४२) अतः केवलज्ञान भी पदार्थ को सशय, विभ्रम, विमोह से रहित जैसे का तैसा जानता है। सृष्टि भी एक पदार्थ है जिसको केवलज्ञान सशय, विपरीत और अनध्यवसाय से रहित जानता है। सृष्टि अनादि है। यदि केवलज्ञानी सृष्टि को आदि रूप से जान ले तो उसका ज्ञान विपरीत ज्ञान हो जायगा और केवलज्ञान मे सम्यग्ज्ञान के लक्षण का अभाव होने से मिथ्याज्ञान हो जावेगा। मिथ्याज्ञान होने से अप्रमाणिक हो जायगा।

बहुत से यह मानते हैं कि ''केवलज्ञानी सृष्टि की आदि को जानता है। यदि केवलज्ञानी सृष्टि की आदि को न जाने तो 'सर्वज्ञता' का अभाव हो जायगा। 'सृष्टि अनादि है' ऐसा छद्मस्थों की अपेक्षा से कहा गया है, सर्वज्ञ की अपेक्षा से तो सृष्टि सादि है।" किन्तु उसका ऐसा कहना सर्वज्ञता को नहीं स्थापित करता अपितु खंडित करता है, क्योंकि सृष्टि को सादि मानने से अनवस्थादोष आजावेगा और सर्वज्ञ का ज्ञान विपरीत ज्ञान हो जाने से सम्यग्ज्ञान नहीं रहेगा। छद्मस्थ व सर्वज्ञ दोनों की अपेक्षा से सृष्टि अनादि है। सृष्टि का अनादिपना संतति की अपेक्षा से है। सतति की अपेक्षा सृष्टि का आदि ही नहीं है, तो सर्वज्ञ सृष्टि की आदि को कैसे जान सकते हैं ?

औपचारिक अनन्त का अन्त तो सर्वज्ञ जानते हैं, क्योंकि वह राशि सान्त है। छद्मस्थ के ज्ञान का विषय न होने से और मात्र केवलज्ञान का ही विषय होने से उस सान्त राशि को भी उपचार से अनन्त कहा गया है;

क्योंकि वह अनन्तमयी केवलज्ञान का विषय है। जो राशि व्यय होते रहने पर भी समाप्त नहीं होती वह राशि वास्तविक अनन्त है। ऐसी अनन्तराशि का अन्त है ही नहीं। जिस राशि का अन्त है ही नहीं उस राशि के अन्त को सर्वज्ञ कैसे जान सकते हैं। कुछ सज्जन ऐसा कहते हैं कि 'सर्वज्ञ वास्तविक (अक्षय) अनन्तराशि के अन्त को भी जानते हैं, अन्यथा सर्वज्ञता का अभाव' हो जायगा।' किन्तु उनका ऐसा कहना, सर्वज्ञता के अभाव को सिद्ध करता है। जिस राशि का अन्त नहीं है, उस राशि के अन्त को केवलज्ञान जानता है' इस कथन से 'केवलज्ञान' मिथ्याज्ञान हो जायगा। अक्षय अनन्त राशि सर्वज्ञ और छद्मस्थ दोनों की अपेक्षा से 'अनन्त' है; 'सान्त' नहीं है। सर्वज्ञता के अभाव के भय से वस्तुस्वरूप का अन्यथा कथन करना उचित नहीं है। इस अन्यथा कथन में नियतिवाद का कथन भी गर्भित है।

—जै. सं. 6-11-58/V/ मिश्रेमल जैन

(१) कथंचित् पर्याय क्रमबद्ध कही जा सकती है
(२) क्रमबद्धपर्याय सर्वथा पूर्वनिश्चयानुसार नहीं होती

शंका—विभाव या भावबन्ध क्या यह क्रमबद्धपर्याय है ?

समाधान—विभाव या भावबन्ध (भावकर्म) पर्याय हैं। पर्याय क्रम से होती हैं, एकगुण की एकसमय मे एक से अधिक पर्याय नहीं है अतः पूर्व पर्याय का नाश (व्यय) और उत्तरपर्याय का उत्पाद प्रतिसमय होता रहता है। पर्याय क्रमवर्ति हैं। अतः पर्याय (विभाव) इस अपेक्षा से क्रमबद्ध कही जा सकती है।

शंका—क्रमबद्धपर्याय क्या पूर्व निश्चयानुसार होती है ?

समाधान—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, सिद्धजीव मे अगुरुलघुगुण व कालद्रव्य के निमित्त से जो प्रतिसमय शुद्ध परिणमन होता है यह नियत है। अपने नियत क्रमानुसार होता रहता है, किन्तु यह नियम विभावपर्याय मे सर्वथा लागू नहीं होता है, क्योंकि विभाव पर्याय मे कालद्रव्य के अतिरिक्त अनेक बाह्यकारण होते हैं। उन सब बाह्यकारणों व अंतरंग कारण के मिलने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। (आप्त-परीक्षा कारिका ६ की टीका) कार्य का क्रम, अक्रम, कारण के क्रम, अक्रम अनुसार है—'कारण क्रमाक्रमानुविधायित्वात्कार्यं क्रमाक्रमस्य।' कार्य का होना, न होना विलम्ब से होना व जल्दी होना सब कारण के व्यापार पर निर्भर है—'तद् व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।' परीक्षामुख ३।५६। अतः विभाव पर्याय सर्वथा पूर्व निश्चयानुसार होती है ऐसी बात नहीं है। यदि क्रमबद्धपर्याय को सर्वथा पूर्व निश्चयानुसार मान ली जावे तो तत्त्वोपदेश व्रत, संयम, तप, औषधि सेवन, सर्प-सिंह आदि से बचना सब व्यर्थ हो जायगा। अकालमृत्यु भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। जिससे आगम से विरोध आ जायगा। श्री राजवार्तिक मे इसप्रकार कहा है—'जैसे आम्र के पकने का नियमरूप काल है। तातैं पहिले भी उपाय करि क्रिया का आरंभ होते सेते, आम्रफलादि के पकना देखिये है। तैसे ही आयु बंध के अनुसार नियमित मरणकाल ते पहिले उदीरणा के बल से आयुकर्म का घटना होय है। जैसे वैद्यकशास्त्र के जानने मे चतुर वैद्य, चिकित्सा मे अतिनिपुण, वायु आदि रोग का काल आए बिना ही पहिले वमन विरेचन आदि प्रयोग करि नहीं उदीरणा को प्राप्त भये श्लेष्मादिक का निराकरण करे है। बहुरि अकालमरण के अभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश दे है प्रयोग करे है। ऐसा न होय तो वैद्यकशास्त्र के व्यर्थपना ठहरे। सो वैद्यकशास्त्र मिथ्या है नाहीं। यातैं वैद्यकशास्त्र की सामर्थ्य तें अकालमृत्यु है ऐसा सिद्ध होय है। वैद्यकशास्त्र का प्रयोग अकालमरण न होने के अर्थ भी प्रयोग करे है।' (पं० पन्नालाल न्यायदिवाकर कृत अनुवाद)। यदि मृत्यु का समय पूर्व निश्चित या तो

अकालमृत्यु औषध आदि के द्वारा कैसे टल सकती थी ? पर्याय का होना अथवा न होना बाह्य-आभ्यंतरकारणों पर निर्भर है। उन कारणों मे 'काल' भी एक कारण है। इस विषय में पं० टोडरमलजी ने इसप्रकार लिखा है—'तिन कारण विषैं काललब्धि वा होनहार तौ किछु वस्तु नाहीं। जिस काल विषैं कार्य बनै, सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।' (मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९)। श्री राजवार्तिकजी अध्याय १ सूत्र ३ की टीका में कहा है—'निश्चय करि जो सर्वकार्य प्रतिकाल इष्ट होय तो, प्रत्यक्ष के विषय स्वरूप अथवा अनुमान के विषय स्वरूप बाह्य-आभ्यंतरकारण के नियम का विरोध आवे है। भावार्थ—कार्यमात्र का आत्मलाभ है सो बाह्य तथा आभ्यंतरकारण के निकट होते होय। ताते मोक्ष कार्य प्रतिकाल ही को कारण कहना यह नियम नाहीं संभवे है।' इन आगमप्रमाणो से यह सिद्ध है क्रमबद्धपर्याय सर्वथा पूर्वनिश्चयानुसार नही होती।

यदि क्रमबद्धपर्याय को सर्वथा पूर्व निश्चयानुसार मान लिया जावे तो नियतिवाद का प्रसंग आ आवेगा और नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व है। नियतिवाद का स्वरूप इसप्रकार है—'जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है, तभी तैसे ही तहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' जो ऐसा मानते हैं कि क्रमबद्धपर्याय पूर्व निश्चयानुसार होती है उनकी यह मान्यता मिथ्या है (पंचसंग्रह गाथा ३१२) और इस मान्यता का लोप करते हैं क्योकि सर्वज्ञ ने काल व अकाल दोनो नयो का उपदेश दिया है।

शंका—क्रमबद्धपर्याय क्या विभावभाव मानी गयी है ?

समाधान—पर्याय क्रम से होती हैं। पर्याय स्वभाव व विभाव दोनो प्रकार की होती हैं। क्रमबद्धपर्याय अर्थात् क्रम से होनेवाली पर्यायें न केवल स्वभाव ही हैं और न केवल विभाव ही हैं अतः क्रमबद्धपर्याय को मात्र विभाव मानना उचित नहीं है।

शंका—शास्त्रों में यह बतलाया है कि 'क्रमभाविनो पर्यायाः, सहभाविनो गुणाः' यानी पर्याय क्रमभावी है। क्या यह ठीक है और किस आधार पर होती हैं ?

समाधान—एक गुण या एक द्रव्य की पर्यायें क्रम से होती हैं यह कथन ठीक और आगमानुकूल है। प्रत्येक पर्याय अपने अनुकूल अंतरंग व बहिरंग समर्थकारणो के मिलने पर होती है, कारणो के अभाव में नहीं होती। यदि अनुकूल समर्थकारण मिलेंगे तो पर्याय होगी यदि कारण नहीं मिलेंगे तो पर्याय नहीं होगी। 'कारण के अभाव मे कार्य (पर्याय) की उत्पत्ति नहीं होती' (ध० खं० पु० १२ पृष्ठ ३८२; अष्टसहस्री पृष्ठ १५९)।

—जै. ग 20-11-58/V/ छोटालाल घेलाभाई गांधी; अंकलेश्वर

किसी भी शास्त्र से क्रम-नियत पर्याय की सिद्धि नहीं होती

शंका—श्री समयसार गाथा ३०८-३११ की टीका में इसप्रकार लिखा है—'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो' जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः।' यहाँ पर 'क्रमनियमित' से क्या क्रमबद्धपर्याय अर्थात् प्रत्येक पर्याय का काल नियत है' ऐसा अर्थ निकलता है। श्री कानजीस्वामी इसके आधार पर 'क्रमबद्धपर्याय' अर्थात् नियति का उपदेश देते हैं। इसीप्रकार श्री प्र० सा० अ० २, गाथा ७ की टीका में आये हुए 'स्वावसरे स्वरूप पूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूति' इन शब्दों से तथा गाथा २१ में आये हुए 'क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः' शब्दों से क्रमबद्धपर्याय का अभिप्राय निकालते हैं। उक्त शब्दों से 'क्रमबद्धपर्याय' की पुष्टि होती है क्या ?

समाधान—श्री समयसार गाथा ३०८-३११ की टीका में 'क्रमनियमित' शब्द का अर्थ क्रमवर्ती है, क्रमबद्ध नहीं है। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं युगपत् नहीं होती अतः टीकाकार ने 'क्रमनियमित' शब्द दिया है। अथवा 'नियमित' शब्द 'क्रम' का विशेषण नहीं है किन्तु 'आत्मपरिणाम' का विशेषण है जैसा कि पं० जयचन्दजी के अर्थ से विदित होता है। प० जयचन्दजी ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'जीव है सो तौ प्रथम ही और नियत निश्चित अपने परिणाम तिनिकरि उपजता संता जीव ही है, अजीव नहीं है।' ('नियमित' शब्द देने का प्रयोजन यह है कि जीव के परिणाम जीवरूप ही हैं अजीवरूप नहीं हैं।) प० जयचन्दजी ने भावार्थ में भी कहा है—'सर्वद्रव्यनि के परिणाम न्यारे न्यारे हैं' पं० जयचन्दजी के शब्द ज्यों के त्यों कलकत्ता से प्रकाशित समयसारप्राभृत में दिये हुए हैं। अतः श्री समयसार आत्मख्याति गाथा ३०८-३११ से 'क्रमबद्धपर्याय अर्थात् एकान्तनियति' का सिद्धांत सिद्ध नहीं होता।

श्री प्रवचनसार गाथा ७ व २१ अध्याय २ की टीका से भी 'क्रमबद्ध पर्याय' की पुष्टि नहीं होती है। गाथा २१ मे 'असत् उत्पाद' का कथन है। जिस काल मे जो पर्याय उत्पन्न हुई है उससे पूर्वकाल मे वह पर्याय अविद्यमान थी अतः असत् का उत्पाद है। जिसकाल मे जो पर्याय अपने अनुकूल अंतरग व बहिरग कारणों से उत्पन्न होती है वह काल उस पर्याय का स्वकाल कहलाता है। यहाँ पर पर्याय के स्वकाल से यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक पर्याय का काल निश्चित है। गाथा ७ मे यह बतलाया गया है—"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत्‌रूप है। स्वभाव मे नित्य अवस्थित होने से द्रव्य सत् है। ध्रौव्य-उत्पाद विनाश की एकतारूप परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। प्रवाहक्रम मे प्रवर्तमान द्रव्य के सूक्ष्म-अंश परिणाम हैं वे परिणाम परस्पर व्यतिरेक (भिन्न-भिन्न भेद लिए हुए) है, अन्यथा प्रवाहक्रम नहीं हो सकता था। परिणामो की परस्पर व्यतिरेकता सिद्ध करने के लिए इन पंक्तियो में यह कहा गया है कि प्रत्येक परिणाम का अपना-अपना काल भिन्न है अत. प्रत्येक परिणाम अपने-अपने काल पर उत्पन्न होता है उससमय पूर्व परिणाम नाश हो जाते हैं। यदि उससमय पूर्वपरिणाम नाश न हो तो परिणामों मे व्यतिरेकता नही हो सकती। यहाँ पर 'स्वावसरे' का अर्थ 'नियतकाल' नहीं है। अंतरग और बहिरग निमित्तो से जिस अवसर या काल मे जो पर्याय प्रगट हो गई वह ही उसपर्याय का काल है। पं० टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक मे ऐसा ही कहा है—'काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु नाहीं। जिस काल विषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।' श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है 'आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नही रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाति।'

श्री आचार्य अकलंकदेव ने भी श्री राजवार्तिक मे इसीप्रकार कहा है—भव्य के नियमित काल करि ही मोक्ष की प्राप्ति है ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है, जातें कर्म की निर्जरा को काल नियमरूप नहीं है, भव्यनि के समस्त कर्म की निर्जरा पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति मे काल का नियम नही सभवे है। काई भव्य तो सख्यात काल करि मोक्ष प्राप्त हो गये, कोई असख्यातकाल करि और कोई अनन्तकाल करि सिद्ध हो गये। बहुरि अन्य कोई भव्य हैं ते अनन्तकाल करि के भी सिद्ध न होंयगे। ताते नियमितकाल ही करि भव्य के मोक्ष की उत्पत्ति है, ऐसा कहना युक्त नाहीं, ऐसा जानना। नियमितकाल ही करि मोक्ष है, यह कहना युक्त नहीं। निश्चय करि जो सर्वकार्य प्रतिकाल इष्ट होय तो प्रत्यक्ष के विषय स्वरूप अथवा अनुमान के विषय स्वरूप बाह्य आभ्यतर कारण के नियम का विरोध आवे (श्री राजवार्तिक अध्याय १, सूत्र ३ स्वर्गीय पं० पन्नालाल न्यायदिवाकर कृत अनुवाद हस्तलिखित पृ० ११५-११६)।" श्री राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका में भी प्रश्नोत्तररूप इसप्रकार कहा है—"प्रश्न—आयु बंध मे जितनी स्थिति पडी है, ताका अंतिम समय आये बिना मरण की अनुपलब्धि है, जातें काल

आये बिना कार्य होय नाहीं, तातै आयु के अपवर्त्तन कहना नाही सभवे है ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नाहीं है, जातै आम्रफल आदि की ज्यो अप्राप्तकाल वस्तु का उदीरणा करि परिणमन देखिए है। जैसे आम का फल पाल में दिये शीघ्र पके है, तैसे कारण के वशतें, जितनी स्थिति को लिये आयु बांध्या था, ताकी उदीरणा करि अपवर्तन होय पहले ही मरण हो जाय। चिकित्सा में अतिनिपुण वैद्य अकालमरण के अभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश करे है, प्रयोग करे है, ऐसा न होय तो वैद्यकशास्त्र के व्यर्थपणा ठहरे है किन्तु वैद्यशास्त्र मिथ्या है नाहीं। अकालमृत्यु को दूर करने अर्थ चिकित्सा देखिये है।" इन आगमप्रमाणो से स्पष्ट है कि प्रत्येक पर्याय का कोई नियतसमय हो ऐसा नहीं है, किन्तु बाह्य और अतरंगकारणों के अनुसार कार्य की उत्पत्ति होती है। श्री समयसार व प्रवचनसार या उनके टीकाकार ने यह नहीं कहा कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येकपर्याय का काल नियत है, क्योकि वे वीतराग गुरु थे अतः आगम विरुद्ध कैसे उपदेश दे सकते थे।

—जै. स 15-1-59/V/ सोमचंद अमथालाल शाह कलोल (गुजरात)

उपर्युक्त शंका के सम्बन्ध में पं० मुन्नालालजी रांधेलीय, न्यायतीर्थ, सागर द्वारा भेजा गया समाधान इसप्रकार है—सं०

समयसार गाथा ३०८ आत्मख्याति टीका मे ऐसा उद्धरण है। उसके अर्थ एश रहस्य मे कुछ विवाद सा है। श्री कानजीस्वामी और पण्डितवर्ग भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं। यद्यपि क्षायोपशमिकज्ञान मे यह असम्भव नहीं है परन्तु सत्य वही है जो आगम और युक्ति से पुष्ट होकर अनुभव मे उतर जावे। उसमे पक्षपात की गुंजायश नहीं रहती, न रहना चाहिये। बुद्धि का कोई ठेका नहीं है। आदि आदि।

मेरी समझ मे पूर्वोक्त वाक्यो का (शब्दो का) अर्थ इस तरह आता है कि जीवद्रव्य वा अजीवद्रव्य सभी का परिणमन (परिणाम या पर्याय) दो तरह का होता है (१) क्रमिक (२) नियमित। अर्थात् १ क्रमबद्ध (क्रमवर्ती) २ नियमबद्ध (नियमवर्ती)। सो क्रमबद्ध या क्रमिक उसे कहते हैं जो क्रम से हो याने भूत-वर्तमान-भविष्यत् (उत्पन्न-उत्पद्यमान-उत्पत्स्यमान) के रूप मे हो। जैसाकि होता रहता है—शाश्वतिक[1] है। और नियमबद्ध या नियमित उसे कहते हैं जो उसीद्रव्य का उसी मे हो (नियत या निश्चित परिणामरूप) जैसे जीवद्रव्य का जीव मे, अजीवद्रव्य का अजीवद्रव्य मे होता रहता है। अन्य का अन्य मे नही। सो ऐसा उभयरूप परिणाम जीवद्रव्य मे एवं अजीवद्रव्य मे सदैव होना पाया जाता है। और निश्चय मे स्वत. सिद्ध है। व्यवहार मे परतः (निमित्त से) सिद्ध कहते हैं। बस, यही क्रमबद्ध या क्रमिक तथा नियमित या नियमबद्ध पर्याय का अर्थ है। न कि उसका अर्थ नियतवाद (नियतकाल) या एकान्तवाद है, जैसाकि बहुधा बिना विचारे समझे, लोग यद्वातद्वा अर्थ कर देते हैं। मूल मे शब्दभेद भी है—नियमितशब्द है, नियतशब्द नहीं है। यह तत्त्वविचार बड़ा गहन है, इसमे कठिनाई से प्रवेश होता है। सो जब यथार्थ मे भीतर प्रवेश होता है तभी उसको स्याद्वादरूप मिलता है तथा एकातवाद हट जाता है।

नोट—इसी प्रकार समाधान प्रवचनसार की गाथा नं० ७, अध्याय २ तथा राजवार्तिक के उद्धरणों का भी समझना उपयुक्त होगा। इसके सिवाय नियतकाल मानने पर सबसे बड़ी हानि श्री कानजीस्वामी को ही होगी। इसलिये कि वे स्वय निमित्तकारणों को अकिंचित्कर मानते हैं। उपादानकारण को ही मुख्य सर्वस्व कहते हैं। तब नियतकाल मानने पर कालद्रव्य भी निमित्तकारणरूप मुख्य सिद्ध हो जावेगा। एव वह किंचित्कर ठहर जाएगा। इत्यादि दोषोत्पत्ति होगी।

१. पूर्वपर्याय का व्यय व उत्तरपर्याय का उत्पाद त्रैकालिक क्रमरूप।

क्रमबद्धपर्याय अथवा नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—श्री कानजीस्वामी ने वर्ष ८ अंक ३ के आत्मधर्म पृष्ठ ४९-५० पर इसप्रकार कहा है—'अहो ! देखो तो सही ! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गम्भीरता है ! द्रव्य की पर्याय परसे फिर जाती है यह बात तो है नहीं, परन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को क्रमबद्ध के नियम विरुद्ध फेरना चाहे तो भी वह फिर सकती नहीं।' श्री कानजीस्वामी का उक्त कथन क्या समीचीन है ?

समाधान—श्री कानजीस्वामी का उपर्युक्त कथन सम्यक् नहीं है, किन्तु 'नियतिवाद' एकान्तमिथ्यात्व का पोषक है। श्री पंचसंग्रह मे एकान्तमिथ्यात्व के कथन के प्रकरण मे नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व का स्वरूप इसप्रकार कहा है—"जब जैसा जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है; तभी तैसे ही वहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है। यह सब नियति के अधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नही कर सकता ।। ३१२ ।।" श्री कानजी-स्वामी के क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त मे और नियतिवाद के सिद्धान्त मे कोई अन्तर नहीं है मात्र शब्दभेद है। इस-प्रकार के मिथ्यात्व के प्रचार से जीव पुरुषार्थहीन हो रहे हैं और उनका अकल्याण हो रहा है। एक सज्जन ने जो श्री कानजीस्वामी के भक्त हैं और क्रमबद्धपर्याय पर अटल श्रद्धा रखते हैं, श्री जिनमंदिर मे आना छोड़ दिया। जब अन्य सज्जनो ने मंदिर मे आने के लिए उनसे प्रेरणा की तो उत्तर यह मिला कि क्रमबद्धपर्याय के अनुसार सब कार्य होते हैं, मैं उसमे हेरफेर कैसे कर सकता हूँ।

—जै. सं. 22-1-59/V/ लो अ. शाह, कलोल, गुजरात

(१) मोटर अपनी योग्यता से नहीं रुकती, किन्तु पेट्रोल के अभाव से रुकती है
(२) "सर्वज्ञ ने सबको जाना" इसका खुलासा

शंका—'वस्तुविज्ञानसार' में श्री कानजीस्वामी ने लिखा है कि मोटर पेट्रोल समाप्त होने के कारण नहीं रुकती है, अपितु मोटर रुकने की योग्यता उससमय होने से मोटर रुकती है। भगवानसर्वज्ञ के ज्ञान में भविष्य जैसा प्रतिबिम्बित होता है, वैसा ही भविष्य में होगा भी। उसमे परिवर्तन नहीं होगा। हमलोग भी मानते हैं कि भगवान के ज्ञान मे जो प्रतिभासित हुआ है उससे भिन्न नहीं होगा। फिर कानजीस्वामी का विरोध क्यो ?

समाधान—ससार मे प्रत्येक कार्य अपने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणो के मिलने पर होता है। बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता। यदि कारण के बिना कार्य होने लगे तो अतिप्रसङ्गदोष आ जायेगा। (ध. ख. पु. १२, पृ० ३८२, आप्तपरीक्षा पृ० २४७, आप्तमीमांसाकारिका २१, अष्टसहस्री पृ० १५९)। यदि उपादानकारण ही कार्य में सहकारीकारण भी हो जावे तो लोक मे जीव और पुद्गलमात्र दो ही द्रव्य रह जावेंगे; क्योंकि, धर्मादिद्रव्यों का जो गति आदि में सहकारीकारण है, क्या प्रयोजन रह जावेगा (पं० का० गा० २४ पर श्री जयसेनआचार्यकृत टीका) ? यदि उपादानकारण ही स्वयं अपना सहकारीकारण भी हो जावे तो दूसरा दोष यह आवेगा कि नित्य ही कार्य होता रहेगा, क्योकि, उपादान और सहकारीकारणो के होने पर कार्य अवश्य होता है। अतः मोटर के चलने या रुकने मे अन्य कोई सहकारीकारण नहीं है तो मोटर नित्य चलना चाहिए या रुका रहना चाहिए। कारण के सद्भाव मे कार्य का होना कारण के व्यापार के आधीन है (प्रमेयकमलमार्तण्ड अ० ३, सूत्र ५९) जब मोटर चलती है तब मोटर मे पेट्रोल अवश्य होता है और पेट्रोल के अभाव में मोटर नहीं चलती। इस-प्रकार पेट्रोल का मोटर के चलने के साथ अन्वय-व्यतिरेक है। अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही कार्यकारणभाव सुप्रतीत होता है (आप्तपरीक्षा पृ० ४०–४१)। यदि यह मान लिया जावे कि पेट्रोल के अभाव के कारण बिना ही मोटर रुकी

तो मोटर का रुकना अकारण हो गया। जिसका कोई कारण (हेतु) नही होता और मौजूद है वह नित्य होती है। सत् और कारणरहित को नित्य कहते हैं (आप्तपरीक्षा पृष्ठ ४) मोटर का रुकना पर्याय है अतः वह नित्य नहीं है। इसलिये मोटर के रुकने में पेट्रोल का अभाव है।

योग्यता—मोटर रुकने की योग्यता रुकने से पूर्व मे थी या मोटर रुकने के पश्चात् आई? यदि मोटर में रुकने की योग्यता पूर्व मे ही थी तो उस समय मोटर क्यो चलती रही? यदि मोटर रुकने के पश्चात् योग्यता आई तो उस योग्यता ने क्या किया, क्योंकि मोटर तो पूर्व मे ही रुक चुकी थी। यदि मोटर रुकने की योग्यता और मोटर का रुकना ये दोनो पर्याय एक साथ उत्पन्न हुई तो एकद्रव्य की दो पर्याय एकसमय मे नहीं होती। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं। मोटर में रुकने की योग्यता नित्य होती है या अनित्य। यदि नित्य है तो मोटर नित्य ही रुकी रहनी चाहिए। यदि अनित्य है तो उस योग्यता का उत्पाद किस कारण से हुआ। यदि विना कारण उत्पाद होने लगे तो 'गधे के सींग' के भी उत्पाद का प्रसग आ जायेगा। अथवा गेहूँ के बोने पर जौ उगने का प्रसग आ जावेगा। अतः उत्पाद नि.कारण नहीं होता। कहा भी है—'उभयनिमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः।' (स० सि० अ० ५, सू० ३० की टीका)। अर्थ—उभयनिमित्त (बाह्य-अभ्यन्तर अथवा उपादान-निमित्त) वश से भावान्तर (नवीनभाव) की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं। जिसका उत्पाद है उसका व्यय भी होता है। व्यय भी निःकारण नही होता (आप्तमीमांसाकारिका २४, प० जयचन्दजीकृत भाषा टीका पृ० ३४)। अतः मोटर मे रुकने की योग्यता उत्पन्न हुई। वह भी बिना कारण नहीं हुई, किन्तु उसमे भी पेट्रोल का अभाव कारण हुआ। 'वस्तुविज्ञानसार' मे श्री कानजीस्वामी ने जो यह लिखा है कि 'मोटर पेट्रोल समाप्त होने के कारण नही रुकती है।' यह लिखना आगम व युक्ति से विरुद्ध है एव उपहास के योग्य है।

सर्वज्ञ—सर्व प्रथम तो यह बात है कि सर्वज्ञ का ज्ञान पदार्थ के परिणमन मे कारण नहीं है, किन्तु पदार्थ का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान को कारण है (ज० ध० पु० १) पदार्थ का परिणमन सर्वज्ञ-ज्ञान के आधीन नही है, किन्तु प्रत्येकपदार्थ अपने-अपने अंतरंग व बहिरग निमित्तों के आधीन परिणमता है। अतः 'सर्वज्ञज्ञान के कारण मोटर रुकी या मोटर मे रुकने की योग्यता आई' ऐसा कहना कार्य कारणभाव की नासमझी है।

सर्वद्रव्य को और उनकी सर्वपर्यायों को सर्वज्ञ व्यवहार अथवा उपचारनय से जानता है, ऐसा आगम-वाक्य है और इसमे किसी को विवाद भी नहीं है। यदि यह माना जावे कि सर्वज्ञ सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायो को नहीं जानता तो सर्वज्ञ का अभाव हो जायेगा, किन्तु 'सर्वज्ञ है' ऐसा हेतु द्वारा आगम मे सिद्ध किया जा चुका है और सर्वज्ञ के अभाव का खण्डन किया गया है। केवलज्ञान, सम्यग्ज्ञान है अतः सर्वज्ञ पदार्थ को हीन अधिक नहीं जानते किन्तु जिसरूप पदार्थ है उसरूप ही जानते हैं। सर्व पदार्थ को जानने का यह अर्थ नहीं है कि सर्वज्ञ ने समस्त आकाशद्रव्य को जान लिया अर्थात् अलोकाकाश का अन्त जान लिया। क्योंकि अलोकाकाश अनन्त है उसको सांतरूप से सर्वज्ञ कैसे जान सकते हैं। इसप्रकार सर्वपर्यायो को जानने का भी यह अर्थ नही कि सर्वज्ञ प्रत्येकद्रव्य की सम्पूर्ण पर्याय को जान ले, क्योंकि, द्रव्य अनादि-अनंत है सम्पूर्णपर्याय जानने से द्रव्य सादि-सान्त हो जाता है। अतः सर्वज्ञ अनादि-अनंत पदार्थ को सादि सान्तरूप कैसे जान सकते हैं। ऐसा भी नहीं है कि आकाश छद्मस्थज्ञान की अपेक्षा अनंत है और सर्वज्ञज्ञान की अपेक्षा सान्त हो अथवा प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें छद्मस्थज्ञान की अपेक्षा अनादि-अनन्त हो, किन्तु सर्वज्ञज्ञान की अपेक्षा सादिसान्त हों। द्रव्य नित्य-अनित्य है सर्वज्ञ भी नित्य-अनित्यरूप से जानते हैं, मात्र नित्यरूप या मात्र अनित्यरूप ही नहीं जानते। इसीप्रकार काल व अकालनय की अपेक्षा पर्यायें नियत व अनियत हैं। सर्वज्ञ भी नियत-अनियतरूप से जानते हैं। सर्वज्ञज्ञान मे पर्याय नियत हों ऐसा नहीं है। एकान्तनियति (अर्थात् जिससमय जो होना है उससमय वह अवश्य होगा उसमें कोई कुछ भी परिवर्तन नहीं कर

सकता) के सिद्धांत को जिनआगम मे मिथ्यात्व कहा है (पञ्च० श्लो० ३१२, प्रवमअध्याय पृ० ११०; गो० क० गाथा ८८२) अतः ऐसी मान्यता कि 'सर्वद्रव्यो की भविष्य की सर्वपर्याय नियत हैं उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता' मनुष्य को पुरुषार्थहीन कर देती है। प्रत्येकमनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मों को नाशकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष जाने का कोई काल नियत नही है। (रा. वा. अ. १, सूत्र ३ की टीका)

—जै स 5 3-59/VI/ रामकँलाश, पटना

(१) पर्यायें कथंचित् नियत व कथंचित् अनियत हैं
(२) परमाणु कथंचित् निरवयव तथा कथंचित् सावयव
(३) "समय" कथंचित् निरवयव कथंचित् सावयव

शंका—जब केवलज्ञानी ने प्रत्येकद्रव्य की भविष्य व भूत की सब पर्यायों को जान लिया है तो केवलज्ञानी ने जिस समय जिसपर्याय को देखा है उससमय उसद्रव्य की वह पर्याय ही होगी। फिर सर्वथा क्रमबद्ध पर्याय मानने में क्या हानि है ?

समाधान—'क्रमबद्ध' पर्याय का शब्द किसी भी दि० जैन आगम मे नही है। प्रायः सभी महान् आचार्यों ने यह कथन किया है कि केवलज्ञानी प्रत्येकद्रव्य की समस्तपर्यायों को जानते हैं, किन्तु फिर भी किसी आचार्य ने क्रमबद्धपर्याय का कथन क्यों नहीं किया ? आगम मे 'नियति' का कथन अवश्य पाया जाता है जिसे केवलज्ञानी ने अपनी दिव्यध्वनि मे एकान्तमिथ्यात्व कहा है। इस दिव्यध्वनि के अनुसार गणधर महाराज ने द्वादशांग की रचना की है, जिसके बारहवें दृष्टिवाद अंग के 'सूत्र' नामक अधिकार के तीसरे अधिकार मे 'नियति' परमत का खडन है।[1]

इस 'नियति' का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—"जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है तभी तैसे ही, वहाँ ही, उसी हेतु से उसीके द्वारा वह होता है। यह सर्व नियति के अधीन है दूसरा कोई कुछ भी नही कर सकता। (संस्कृत पंचसंग्रह अ० १ श्लोक ३१२; गो० क० गा० ८८२; प्राकृत पंचसंग्रह पृ० ५४७।)

यदि केवलज्ञानी ने प्रत्येकद्रव्य की पर्यायों को सर्वथा 'नियतरूप' से देखा होता तो वे 'नियति' को एकान्त मिथ्यात्व क्यों कहते। इससे सिद्ध है कि केवलज्ञानी ने पर्यायों को कथंचित् नियतिरूप और कथंचित् अनियतिरूप देखा है।

यदि कहा जाय कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२ मे 'नियति' का उपदेश दिया गया है। सो यह भी ठीक नहीं है। वहाँ पर सम्यग्दृष्टि को व्यतर आदि कुदेवों के पूजने के निषेध के लिये यह बतलाया गया है कि "कोई भी व्यतर आदिक किसी जीव का उपकार या अपकार नहीं कर सकता, शुभ या अशुभकर्म ही जीव का उपकार या अपकार करते हैं। व्यंतर आदि यदि जीव को लक्ष्मी आदि दे सकते हैं तो फिर धर्माचरण के द्वारा शुभ कर्म से क्या लाभ ? (गाथा ३१९-३२०)। व्यतर आदि क्षुद्रदेव ही नही किन्तु बड़े-बड़े इन्द्र या स्वयं जिनेन्द्र भी उस सुख-दुःख को टालने मे असमर्थ हैं (गाथा ३२१-३२२)।' क्योंकि कोई भी अन्यजीव के कर्मों में

१ अट्ठासी-अहियारेसु चउण्हमहियाराणमत्थि णिद्देसो। पढमो अबंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धव्वो। तदियो य णियइ-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयम्मि।

परिवर्तन करने मे असमर्थ है। किन्तु वह जीव स्वयं तो अपने कर्मों में शुभ या अशुभ परिणामों के द्वारा उत्कर्षण अपकर्षण अथवा संक्रमणरूप परिवर्तन कर सकता है। अतः गाथा ३२१-३२२ में एक भी शब्द ऐसा नहीं लिखा गया कि जैसा जिनेन्द्र ने देखा है वैसा अवश्य होगा। क्योंकि स्वामिकार्तिकेयाचार्य जानते थे कि ऐसा लिख देने से उस एकान्तनियति का प्रसंग आजायगा, जिस को द्वादशांग के दृष्टिवाद अंग मे एकांतमिथ्यात्व कहा है। सम्यग्दर्शन परिणामों के द्वारा यह जीव अनन्तानन्त ससारपर्यायों को काटकर अर्थात् मिटाकर; अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर देता है (ध० पु० ७ पृ० ११, १४, १५; प० का० गा० २० पर श्री जयसेनाचार्यकृत टीका।[1])

किसी भी दि० जैनागम मे एकान्तमिथ्यात्व का समर्थन नहीं मिलेगा। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय का मंगलाचरण करते हुए दूसरे श्लोक मे कहा है कि जैनसिद्धान्तपद्धति का प्राण 'स्यात्कार' है तथा समयसार गाथा ५ की टीका मे भी जिनागम 'स्यात्' पद से मुद्रित कहा है। फिर ऐसे जिनागम मे सर्वथानियति (क्रमबद्धपर्याय) का समर्थन कैसे हो सकता है।

यद्यपि परमाणु निरवयव है, क्योंकि वह भेदा नहीं जा सकता और न उससे छोटा कोई अन्य पुद्गलद्रव्य है फिर भी केवलज्ञान मे प्रत्यक्षरूप से और श्रुतज्ञान मे परोक्षरूप से वह परमाणु सावयवरूप से प्रतिभासित होता है, क्योंकि यदि परमाणु के उपरिम, अधस्तन भाग न हो तो परमाणु का ही अभाव हो जायगा। विवक्षित परमाणु को पूर्व की ओर एक अन्य-परमाणु ने स्पर्श किया, पश्चिम की ओर दूसरे अन्य परमाणु ने स्पर्श किया, उत्तर की ओर तीसरे अन्य परमाणु ने स्पर्श किया, दक्षिण की ओर चौथे अन्य परमाणु ने स्पर्श किया, ऊपर की ओर अन्य पांचवें परमाणु ने स्पर्श किया, नीचे की ओर अन्य छठे परमाणु ने स्पर्श किया। इसप्रकार एक ही विवक्षित परमाणु के छह विभिन्न भागों को छह भिन्न-भिन्न अन्य परमाणुओं ने स्पर्श किया है। ये भाग कल्पितरूप भी नहीं हैं, क्योंकि परमाणु में ये भाग उपलब्ध होते हैं। केवलज्ञान तथा श्रुतज्ञान मे इन अवयवों के प्रतिभासमान होने पर भी क्या परमाणु सर्वथा सावयव होगया। यदि परमाणु को सर्वथा सावयव माना जायगा तो परमाणु को निरवयव कहनेवाले जिनागम से विरोध आवेगा। अतः परमाणु कथंचित् निरवयव और कथंचित् सावयव है और ऐसा ही केवलज्ञानी ने देखा है, क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है। (ध० पु० १४ पृ० ५६-५७)।

यद्यपि 'समय' व्यवहारकाल का सबसे छोटा अंश होने से अविभागी है तथापि जब पुद्गलपरमाणु तीव्रगति से उस एकसमय मे चौदहराजू गमन करता है तब उस पुद्गलपरमाणु के चौदहराजू के असख्यातप्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश को स्पर्श करने का भिन्न-भिन्नकाल अर्थात् 'समय' के अंश, केवलज्ञान मे प्रत्यक्षरूप से और श्रुतज्ञान में परोक्षरूप से प्रतिभासमान होता है। केवलज्ञान में 'समय' के विभागी प्रतिभासमान हो जाने से क्या उक्त 'समय' सर्वथा विभागी होगया। यदि 'समय' को सर्वथा विभागी माना जावेगा तो अव्यवस्था हो जायगी तथा अविभागी कहनेवाले आगम से विरोध आवेगा। अतः 'समय' कथंचित् अविभागी, कथंचित् सविभागी है, ऐसा मानना सम्यक् अनेकान्त है।

इसीप्रकार पर्यायों को भी कथंचित् नियतिरूप कथंचित् अनियतिरूप मानना सम्यक् अनेकान्त है और सर्वज्ञ ने भी इसीप्रकार देखा व जाना है।

रा० वा० अ० १ सू० ३ की टीका में यह प्रश्न उठाया गया कि 'भव्यजीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायगा। यदि समय (नियतकाल) से पूर्व मोक्षप्राप्ति की सभावना हो तभी अधिगमसम्यक्त्व की सार्थकता

1: यथा वेणुदण्डो विचित्र-चित्रप्रक्षालने कृते शुद्धो भवति तथा अयं जीवोपि ......।

है।' इसका उत्तर देते हुए महानाचार्य अकलंकदेव लिखते हैं—'भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही। अतः भव्य के मोक्ष के कालनियम की बात उचित नहीं है। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यंतर कारण-सामग्री का ही लोप हो जायगा।' श्री अकलंकदेव यह भी जानते थे कि 'केवलज्ञानी तीनकाल की पर्यायों को जानते हैं;' जैसा कि उन्होंने रा० वा० अ० एक सूत्र २९ की टीका में कहा है, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों मे कहा कि 'भव्यजीव के मोक्षप्राप्ति का कोई समय निश्चित नहीं है।' आगमवाक्य इतने स्पष्ट होने पर भी जो एकान्त क्रमबद्धपर्याय का डंका बजा रहे हैं वे विचार करें कि उनको दिगम्बर जैनागम पर श्रद्धा है या नहीं।

—जै. ग 29-11-62/VIII/ डी. एल. शास्त्री

सर्वथा "क्रमबद्धपर्याय", यह मिथ्या एकान्त है

शंका—'वस्तु अनेकान्तात्मक ही है' यह भी तो एकान्त हुआ। भले ही आप अपने को अनेकान्तवादी कहते हों, वास्तव में तो आप भी एकान्तवादी हैं, फिर एकान्त को सर्वथा मिथ्या क्यों कहते हो? सम्यगेकान्त का कथन भी तो श्री समन्तभद्राचार्य ने किया है। जिसप्रकार 'सर्वथा अनेकान्त है,' इस एकान्त को सम्यगेकान्त कहते हो, उसीप्रकार सर्वथा क्रमबद्ध पर्याय को सम्यगेकान्त क्यों नहीं मान लेते?

समाधान—अनेकान्त को सर्वथा एकान्तरूप कहना उचित नहीं है, क्योंकि अनेकान्त भी प्रमाण और नय से सिद्ध होता हुआ अनेकान्तरूप है, प्रमाण की अपेक्षा वह अनेकान्तरूप है और अर्पितनय की अपेक्षा एकान्तरूप भी है। बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक १०३।

वस्तु प्रमाण की अपेक्षा नित्य-अनित्यरूप अनेकान्तात्मक है किन्तु वही वस्तु द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से नित्य ही है और पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से अनित्य ही है। प्रमाण सकलादेश और नय विकलादेश है[1]। अतः नित्य-अनित्य उभयरूप प्रमाण का विषय है किन्तु केवल नित्य अथवा केवल अनित्य, यह नय का विषय है।

प्रमाण की अपेक्षा वस्तु नित्य-अनित्यात्मक है यह तो अनेकान्त है, क्योंकि इसमे परस्पर दो विरोधी धर्मों का ग्रहण है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वस्तु 'नित्य' ही है यह सम्यगेकान्त है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय मात्र 'नित्य' है अतः द्रव्यार्थिकनय 'अनित्यता' को ग्रहण करने मे असमर्थ है। यदि द्रव्यार्थिक नय का विषय भी नित्य-अनित्य हो जाय तो प्रमाण व नय मे कोई अन्तर नहीं रहेगा अथवा पर्यायार्थिकनय का कोई विषय न रहने से पर्यायार्थिकनय के अभाव का प्रसंग आवेगा। पर्यायार्थिकनय का अभाव है नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक (पंचास्तिकाय गाथा ४ समय व्याख्या टीका)। यदि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा बिना 'द्रव्य नित्य ही है' ऐसा कहा जायगा तो वह मिथ्या एकान्त हो जायगा। इसीप्रकार बिना किसी अपेक्षा के 'पर्यायें क्रमबद्ध' अर्थात् नियत हैं ऐसा कहना भी मिथ्या एकान्त है सम्यगेकान्त नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि केवलज्ञान की अपेक्षा से पर्यायें क्रमबद्ध अर्थात् नियत हैं, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान प्रमाण है और प्रमाण सकलादेश है, उसकी अपेक्षा तो पर्यायें नियत-अनियत उभयात्मक होंगी, मात्र नियत (क्रमबद्ध) नहीं हो सकतीं। केवल नियत विकलादेश होने से नय का विषय है। पर्यायों को केवल नियत कहने के लिए किसी नय की शरण लेना होगा और यदि वह नय अपने प्रतिपक्षनय से निरपेक्ष है तो वह

१. सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः। (स. सि. अ. १)

नय भी मिथ्या होगा। अतः सम्यगेकान्त के लिये भी अर्पितनय की अपेक्षा से नियत (क्रमबद्ध पर्याय) और अनर्पितनय की अपेक्षा से अनियत (अक्रमबद्ध पर्याय) स्वीकार करना होगा।

अनियत (अक्रमबद्धपर्याय) निरपेक्ष नियत (क्रमबद्धपर्याय) मिथ्या एकान्त है। अतः मिथ्या एकान्त का दुराग्रह छोड़कर जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अनेकान्त अथवा प्रतिपक्ष सापेक्ष सम्यगेकान्त की श्रद्धा ग्रहण करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है।

शंका—'क्रमबद्धपर्याय' पर्याय नाशवान है, ऐसा एकान्त है तो फिर पर्याय नियत (क्रमबद्ध) है ऐसा भी एकान्त क्यों नहीं मान लेते ?

समाधान—'पर्याय नाशवान है' ऐसा सर्वथा नहीं है अर्थात् ऐसा एकान्त नहीं है कि 'पर्याय नाशवान है।' कुछ पर्यायें 'अनादि अनन्त' हैं, जैसे अकृत्रिम चैत्यालय सुदर्शनमेरु आदि पुद्गल की पर्यायें, अभव्यत्व जीव की पर्याय। कुछ पर्यायें सादि-अनन्त भी हैं, जैसे सिद्धपर्याय आदि। कुछ पर्यायें सादि-सान्त हैं; उनमें से कुछ पर्यायें एक समयवर्ती हैं और कुछ पर्यायें संख्यात, असंख्यात या अनन्त समयवाली हैं। श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है "अभव्यत्व जीव की व्यंजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यजनपर्याय का अवश्य विनाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसग आ जायगा।" (ध० पु० ७, पृ० १७८)

पर्याय का विनाश अवश्य होना चाहिये, जब ऐसा भी एकान्त नहीं है; फिर पर्यायों का क्रम नियत (क्रमबद्ध) होना चाहिये ऐसा एकान्त कैसे स्वीकार किया जा सकता है। जैन आगम में अपेक्षा बिना एकान्त को तो मिथ्याएकान्त कहा है। अनेकान्त जैनागम का प्राण है।

—जै. ग 20-12-62/ / डी. एल. शास्त्री

क्रमबद्ध पर्याय मानने पर आने वाले दोष:—

(१) व्यसन त्याग के उपदेश की अनावश्यकता
(२) द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग की व्यर्थता
(३) अकालनय व अनियति नय का अभाव
(४) अन्याय पोषण का प्रसंग
(५) आलोचन प्रतिक्रमण आदि का अभाव

शंका—केवलज्ञानी ने जिसपदार्थ को जिससमय, जिसस्थान पर जिसकेद्वारा सेवन होना देखा है वह पदार्थ उसी समय उसीस्थान पर उसीके द्वारा अवश्य भोगा जायगा। उसको कोई भी निवारण करने में समर्थ नहीं है अर्थात् दाने-दाने पर मोहर है। तब मद्य, मांस, मधु आदि के त्याग से क्या लाभ ? केवली ने हमारे द्वारा जिस-मद्य-मांस-मधु आदि का सेवन जिस समय जिस स्थान पर होना देखा है, उस मद्य मांस आदि का हमारे द्वारा उसी समय उसी स्थान पर सेवन अवश्य होगा। उस सेवन को हम त्याग के द्वारा निवारण नहीं कर सकते। हमारी सब परिणति केवलज्ञान के द्वारा नियत हो चुकी है फिर बाह्यवस्तु का तथा अन्तरंग रागद्वेष का त्याग करना हमारे वश में कैसे है ?

समाधान—शंकाकार ने त्याग न करने के लिये जो हेतु दिया है यद्यपि वह स्थूलदृष्टि से उचित प्रतीत होता है। किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर उसमें कोई सार नहीं है। शंकाकार का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जावे तो चरणानुयोग का उपदेश निरर्थक हो जायगा। चरणानुयोग का ही नहीं, किन्तु द्रव्यानुयोग का उपदेश भी अकिंचित्कर हो जायगा, क्योंकि जिस जीव को जिससमय जिस स्थानपर सम्यग्दर्शन होना है, उस जीव को उसीसमय उसी स्थान पर सम्यग्दर्शन अवश्य होगा उससे पूर्व या उसके पश्चात् नहीं हो सकता।

पदार्थ अनेकान्तस्वरूप है। पर्यायों में भी सर्वथा एकान्त घटित नहीं होता। यदि कहा जावे कि सब ही पर्यायें नाशवान हैं तो ऐसा भी एकान्त नहीं है क्योंकि पुद्गल की मेरु पर्याय अनादि-अनन्त है। सिद्ध पर्याय सादि-अनन्त है इत्यादि। कहा भी है—"अनादिनित्य पर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्योमेर्वादिः। सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायोनित्यः।' (आलापपद्धति)। इसीप्रकार कालनय की अपेक्षा कार्य की सिद्धि समयपर निर्धारित है, जैसे आम्रफल गर्मी के दिनों के अनुसार पकता है, किन्तु अकालनय से कार्य की सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती है, जैसे कृत्रिम गर्मी से आम्रफल पक जाता है (प्रवचनसार)। समवसरण के प्रभाव से अथवा किसी विशेषमुनि के आगमन से भी छहों ऋतु के फल-फल एकसाथ आ जाते हैं तथा जाति बैर विरोधी जीव भी परस्पर बैर-भाव छोड़कर एक स्थान पर प्रेम भाव से बैठ जाते हैं।

जिसप्रकार 'कालनय' 'अकालनय' हैं उसीप्रकार 'नियतिनय' और 'अनियतिनय' भी हैं। जैसे अग्नि के साथ उष्णता नियत है, किन्तु जल के साथ उष्णता अनियत है। जब कभी जल को अग्नि का संयोग मिलेगा तब जल उष्ण हो जावेगा; यदि अग्नि आदि का संयोग प्राप्त नहीं होगा तो जल उष्ण नहीं होगा, (प्रवचनसार)।

इसप्रकार आगमप्रमाण से जाना जाता है कि कोई पर्याय काल के अनुसार होती है कोई पर्याय अकाल में भी होजाती है। कोई पर्याय नियत है और कोई पर्याय अनियत है। यदि ऐसा न माना जावे तो 'अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तीनों करण करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्राप्त होने के प्रथमसमय में अनन्तसंसार को छिन्नकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र संसार का काल कर लेता है।'[1] आगम से इस कथन की कैसे संगति बैठ सकती है? श्री पंचास्तिकाय गाथा २० की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—'जिसप्रकार नानाप्रकार के चित्रों से चित्रित वेणु दण्ड (बांस) को धोने से बांस शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार नाना सांसारिकपर्यायों से चित्रित जीव भी उन सांसारिक पर्यायों को सम्यग्दर्शनादि के द्वारा नष्ट करके शुद्ध (सिद्ध) हो जाता है।'[2] श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी भावपाहुड़ गाथा ८२ में कहा है—'जिणधम्मो भाविभवमहणं।' अर्थात् जिनधर्म भाविभव मंथन कहिए आगामी संसार का नाश करने वाला है। श्री मूलाचार अ० २ गाथा ७७ में भी कहा है—'एक्कं पंडिदमरणं छिंदवि जादीसयाणि बहुगाणि।' अर्थात् जाते एकहू पंडितमरण है सो बहुत जन्म के संकडेनि कू छेदे है।

इन आगमप्रमाणों से भी सिद्ध है कि जीव सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा आगामी संसार का नाश कर अकाल में ही सिद्ध होजाता है। यदि यह कहा जावे कि मोक्ष तो अपने नियतकाल पर ही हुआ क्योंकि उस जीव के आगामीसंसार नहीं था सो ऐसा कहना उपर्युक्त आगम से विरुद्ध है। इसी बात को आचार्य अकलंकदेव ने श्री राजवार्तिक प्र० अ० सूत्र १ की टीका में कहा है—'भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है। अतः भव्य के मोक्ष के कालनियम की बात उचित नहीं है जो व्यक्ति मात्र ज्ञान से या चारित्र से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं उनके यहाँ कालानुसार मोक्ष होगा, यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही

---

१. 'एक्केण अणादिय-मिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण उवसमसम्मत्तं पडिवण्णपढमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तोकदो।' (धवल पु ५ पृ. ११, १२, १४, १५, १६)

२. 'यथा वेणुदण्डो विचित्र-चित्र-प्रक्षालने कृते शुद्धो भवति तथायं जीवोपि।'(पंचास्तिकाय गा 20 टीका)

कारण मान लिया जावे तो बाह्य और आभ्यन्तरकारण-सामग्री का ही लोप हो जायगा।' श्री राजवार्तिक के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कारण-कार्य' की दृष्टि मे नियतिवाद का कोई स्थान नहीं है और 'नियतिवाद' की दृष्टि मे 'कारणो' का कोई स्थान नहीं है। जैसे द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि मे 'अनित्यता' का कोई स्थान नही है और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि मे 'नित्यता' का कोई स्थान नहीं है।

आगम मे जिसप्रकार कही पर द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से कथन है कहीं पर पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन है उसीप्रकार आगम मे कहीं पर 'नियतिवाद' की अपेक्षा से कथन है और कहीं पर कारण कार्य की अपेक्षा कथन है, किन्तु एकान्तपक्ष की छूट कहीं पर नहीं है, क्योंकि दिगम्बर जैनागम मे सर्वथा एकान्तपक्ष को एकान्तमिथ्यात्व कहा है। अतः 'दाने दाने पर मोहर' ऐसा सर्वथा एकान्त सिद्धान्त दिगम्बर जैनागम मे कही पर भी नहीं कहा गया है। दिगम्बर जैनागम मे तो सर्वज्ञ ने पदार्थ को अनेकान्तात्मक कहा है, और स्याद्वाद के द्वारा वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है, इस आगम के विरुद्ध सर्वज्ञज्ञान के आधार पर सर्वथा एकान्त नियतिवाद की दृष्टि सम्यक् नहीं है।

जिसने मद्य, मास, मधु आदि को आत्मा के घातक भले प्रकार समझकर आत्महित के लिये इनका त्याग किया है उनकी इन परिणामो द्वारा आगामी मद्य आदि सेवन की पर्याय नष्ट हो जाती है, जिसप्रकार सम्यग्दर्शन-रूप परिणामों के द्वारा अनन्तसंसार का नाश हो जाता है। इस सम्बन्ध मे खदिरसार भील की कथा प्रथमानुयोग से जानी जा सकती है। जिसके मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग है वे निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं (पु० सि० उ० श्लो० ७४)। अर्थात् बिना मद्य, मांस, मधु आदि के त्याग किये सम्यग्दर्शन भी मनुष्य को नही हो सकता।

सर्वज्ञ का फलितार्थ 'एकान्त नियतिवाद' को कहने से शिथिलाचार का पोषण होता है, जिससे धर्म की हानि होती है। सर्वज्ञ का फलितार्थ अनेकान्त है और अनेकान्त सर्वज्ञ ने उपदेश दिया है। शंकाकार ने जो एकान्त नियतिवाद (क्रमबद्धपर्याय) के आधार पर मद्य, मास, मधु के त्याग का निषेध किया था। अनेकान्त दृष्टि द्वारा उसका खण्डन हो जाता है।

—जै. ग 19-12-63/IX/ प्रेमचन्द

शंका—भारत पर आक्रमण के कारण संसार चीन को बुरा कहता है। हम जैन भी चीन की निन्दा करते हैं तो हमको क्या सर्वज्ञ की श्रद्धा है? सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार चीन का आक्रमण हुआ या सर्वज्ञज्ञान के विरुद्ध चीन का आक्रमण हुआ? यदि सर्वज्ञज्ञान के अनुसार चीन का आक्रमण हुआ तो इसमें चीन का क्या दोष? क्योंकि वह तो सर्वज्ञज्ञान के अनुसार परिणमन करने के लिये बाध्य था, अन्यथा परिणमन नहीं कर सकता था। इसमें चीन का क्या दोष? जिसप्रकार अन्यमतवाले यह मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध पत्ता नहीं हिल सकता, उसीप्रकार हम यह मानते हैं कि सर्वज्ञज्ञान के विरुद्ध भी पत्ता नहीं हिल सकता। इन दोनों सिद्धान्तों का अभिप्राय एक है, मात्र कुछ शब्दों का अन्तर है।

समाधान—पूर्व शका नं० १ और इस शका नं० २ का आधार एकान्त नियतिवाद [क्रमबद्धपर्याय] है। एकान्त नियतिवाद के बलपर इस शंका मे अन्याय का पोषण है। जैनधर्म का मूलसिद्धान्त अनेकान्त है जिसमे नियतिवाद और अनियतिवाद दोनों की स्वीकारता है। अनियतिनिरपेक्ष 'नियति' और नियतिनिरपेक्ष 'अनियति' दोनों ही सर्वथा एकान्त होने से मिथ्या हैं। कहा भी है—ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय करते हैं तो मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा के बिना ये नय जिसप्रकार की वस्तु का निश्चय कराते हैं, वस्तु वैसी नहीं है (ज० ध० पु० १ पृ० २४५।)

सर्वज्ञदेव ने सर्वथा नियतिवाद को एकान्तमिथ्यात्व कहा है। कहा भी है—'जिसका, जहाँ, जब, जिस-प्रकार, जिससे, जिसके द्वारा, जो होना होता है, तब, तहाँ, तिसका, तिसप्रकार, तिससे, तिसके द्वारा, वह होना नियत है; अन्य कुछ नहीं कर सकता'। यह सर्वथा नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व है (अमितगति पंचसंग्रह १।३१२; गो० सा० क० कां० गाथा ८८२, प्राकृतपंचसंग्रह पृ० ५४७)।

यदि चीन न्यायमार्ग को न छोड़ता तो भारत पर चीन का आक्रमण नहीं हो सकता था। सर्वज्ञज्ञान की आधीनता के कारण नहीं, किन्तु बुद्धि-पूर्वक चीन ने न्यायमार्ग छोड़ा है अतः वह निन्दा का पात्र हुआ। चीनन्याय-मार्ग को ग्रहण करने तथा छोड़ने मे स्वतन्त्र था, नियति (क्रमबद्धपर्याय) की कोई पराधीनता नहीं थी। 'नियति' का सिद्धान्त किसी अपेक्षा से है, सर्वथा नही है। यदि नियति का सिद्धान्त अनियतिनिरपेक्ष होता तो शंकाकार की शका उचित थी।

शंकाकार स्वय विचार करे कि उक्त शंका कागज पर इसलिये लिखी गई कि उस कागज कलम तथा हाथ आदि का उसप्रकार का परिणमन उससमय ऐसा होना नियत था, या शकाकार ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा-पूर्वक उक्त शकाओ को अपने पुरुषार्थ द्वारा लिख कर भेजा है।

शंका—श्री केवलीभगवान समस्त द्रव्यों को सर्वपर्यायों को जानते हैं, ऐसा आगम में कहा है। समस्त-पर्यायों के क्रम को भी जानते हैं कि अमुकपर्याय से पूर्व व पश्चात् अमुकपर्याय हुई थी और अमुकपर्याय होगी तभी तो वे भूत व भविष्यपर्यायों को बतला देते हैं। ऐसा होने से केवलीभगवान प्रत्येक पुद्गलद्रव्य की अनन्तानन्तकाल पूर्व अर्थात् प्रथमपर्याय को और अनन्तानन्त काल पश्चात् होनेवाली अर्थात् अन्तिमपर्याय को भी जानते होंगे; तो क्या किसी भी केवलीभगवान ने आज किसी भी द्रव्य की प्रथम और अंतिमपर्याय का कथन किया है? समस्त-पर्यायों के क्रम के ज्ञाता श्रीकेवलीभगवान से किसी पुद्गलद्रव्य की प्रथमपर्याय व अन्तिमपर्याय का प्रश्न करे तो क्या वे बतला सकते हैं? इसीप्रकार प्रथम होनेवाले सिद्धजीव का क्या नाम या किस गति, क्षेत्र से तथा काल में सिद्ध हुए थे और अन्तिम सिद्ध कौन जीव होगा; क्या केवलीभगवान यह बतला सकते हैं?

समाधान—केवलीभगवान प्रत्येकद्रव्य को जानते है। द्रव्य मे अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनी अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें होती हैं, वह द्रव्य तत्प्रमाण है (गो० सा० जी० का० गाथा ५८२) अतः केवली प्रत्येकद्रव्य की समस्तपर्यायो को जानते हैं यदि केवली समस्त पर्यायों के समूह को न जाने तो वे द्रव्य को नहीं जान सकते। केवलज्ञान मे ऐसा विकल्प सम्भव नही है कि अमुकपर्याय के पूर्व और पश्चात् कौन-कौन पर्याय होगी, या हुई थी, इसप्रकार का विकल्प छद्मस्थ-ज्ञान मे सम्भव है। इसलिए केवलज्ञान मे यह भी विकल्प सम्भव नहीं है कि प्रथमपर्याय क्या थी और अन्तिमपर्याय क्या होगी। केवलज्ञानी प्रश्न सुनकर उत्तर देते हो, ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि केवलज्ञानी के इन्द्रियज्ञान का अभाव होने के कारण 'सुनकर' ऐसा कहना ही उचित नहीं है; दूसरे 'इच्छा का अभाव होने के कारण 'उत्तर देते हैं' यह बात नहीं सिद्ध होती। इसीप्रकार समस्त सिद्धों को जानते हुये भी केवलज्ञान में यह विकल्प नहीं होता कि प्रथम सिद्ध कौन हुआ और अन्तिमसिद्ध जीव कौन होगा?

आगम में ऐसा कथन है कि 'केवलीभगवान प्रथमपर्याय या अन्तिमपर्याय को अथवा प्रथमसिद्ध और अन्तिमसिद्ध को जानते हैं,' मेरे देखने मे नहीं आया। 'केवलज्ञानी समस्त पर्यायो और समस्त सिद्धों को जानते हैं,' ऐसा कथन आगम में अवश्य पाया जाता है। केवलीभगवान किसरूप से और किसप्रकार जानते हैं ये तो हम नहीं जानते, अतः केवलीभगवान ने जिस आगम का अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको गणधरदेव ने धारण किया है,

जो गुरुपरम्परा से चला आरहा है, जिसका पहिले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुष के द्वारा व्याख्यान होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। प्रमाणता को प्राप्त आचार्यों के द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है, इसलिये उपलब्ध आगम प्रमाण है। (धवल १ पृ० १९६-१९७) अतः हमको आगम पर श्रद्धान कर अपना कल्याण करना चाहिये। साधु पुरुषों की चक्षु आगम है (प्रवचनसार गाथा २३४) और वह आगम 'स्यात्' शब्दरूपी अमृत से गर्भित होना चाहिये।

'द्रव्य नित्य भी है, अनित्य भी है, सादि भी है, अनादि भी है, अनन्त भी है, सान्त भी है, नियत भी है, अनियत भी है, काल भी है, अकाल भी है।' इत्यादि अनेकान्तरूप से आगम मे कहा है। मात्र एकान्त 'नियति' या 'काल' आदि का किसी भी दि० जैनागम मे उपदेश नही पाया जाता। अत हमको आगम वाक्यो पर श्रद्धान करना चाहिये।

शंका—किसी मनुष्य ने व्रत ग्रहण किये। उनमें अतिचार लगने पर वह विचार करता है कि 'केवलज्ञानी ने मेरी ऐसी पर्याय देखी थी अतः अन्यथा हो नहीं सकती थी।' यह विचार कर अतिचार या अनाचार के विषय में आलोचना या प्रतिक्रमण नहीं करता। इसीप्रकार दूसरों के विषय में विचारकर वह दूसरों का स्थितिकरण भी नहीं करता। यदि कोई उस मनुष्य से आलोचना, प्रतिक्रमण या स्थितिकरण की बात भी करता है तो वह मनुष्य उत्तर देता है कि 'तुम सर्वज्ञ को नहीं मानते, अतः ऐसी बातें करते हो।' क्या उस मनुष्य का आलोचन-प्रतिक्रमण तथा स्थितिकरण न करना उचित है ?

समाधान—जो सर्वज्ञज्ञान के आधार पर अनियति-निरपेक्ष सर्वथा-एकान्त-नियतिवाद। (क्रमबद्धपर्याय) को मानते हैं वे ही उपरोक्त विचार कर आलोचन-प्रतिक्रमण तथा स्थितिकरण आदि नही करते, किन्तु अनेकान्तवादी सम्यग्दृष्टि तो उस समय अनियतिनय के अनुसार उन कारणों की खोज करता है जिनकारणों से स्वयं को या पर को अतिचार आदि लगे हैं। आलोचन-प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान के द्वारा तथा उपदेशादि के द्वारा निज और पर का स्थितिकरण करता है। 'स्थितिकरण' सम्यग्दर्शन का अङ्ग है। अनियति सापेक्ष नियतिनय के द्वारा कथन सम्यगेकान्त है। अनियति निरपेक्ष नियतिनय मिथ्याएकान्त है। जो अनेकान्त को मानता है वह केवलज्ञान को माननेवाला है, क्योंकि केवली ने अनेकान्त के उपदेश के द्वारा एकान्त का खण्डन किया है।

—जै. ग. 26-12-63/IX/ प्रेमचन्द

कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१–२२–२३ वीं गाथाओं का खुलासा

शंका—स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१ व ३२२ को मिलाकर श्री पं० जयचन्दजी ने इकट्ठा अर्थ किया है और गाथा ३२३ में लिखा है कि जो यह नहीं मानता कि जैसा जिनेन्द्रदेव ने देखा है वैसा ही होगा, ऐसा नियत है वह मिथ्यादृष्टि है। फिर आजकल गाथा ३२१-३२३ को मिलाकर अर्थ क्यों नहीं किया जाता है ? क्या ३२३ गाथा का ३२१ व ३२२ से सम्बन्ध नहीं है ? क्या गाथा ३२१ व ३२२ में सर्वज्ञ का लक्षण नहीं है ? यदि गाथा ३२१ व ३२२ का सम्बन्ध गाथा ३२३ से नहीं है तो किन गाथाओं से सम्बन्ध है ?

समाधान—श्री पं० जयचन्दजी छाबड़ा ने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१, ३२२ व ३२३ का इकट्ठा अर्थ नहीं किया है। गाथा ३२१ व ३२२ को मिलाकर अर्थ किया है और ३२३ का पृथक् अर्थ किया है। गाथा

३२१ व ३२२ में, व्यंतर आदि देवों की पूजा न करने के संस्कारों को दृढ़ करने के लिये सम्यग्दृष्टि क्या विचार करता है, सम्यग्दृष्टि के उन विचारों का कथन है। गाथा ३२३ मे यह कहा है कि जो जिनागम अर्थात् सर्वज्ञ के आगम अनुसार द्रव्यनिकी सर्वपर्यायो को जाने है, श्रद्धान करे है वह सम्यग्दृष्टि है। इसप्रकार गाथा ३२१ व ३२२ का सम्बन्ध गाथा ३२३ से नही है।

गाथा ३२१ व ३२२ मे सर्वज्ञ का लक्षण नही है। श्री पं० जयचन्दजी की टीका प्रमाणस्वरूप जो उद्धृत की गई, किन्तु उस पर विचार नहीं किया गया। यदि उस पर विचार कर लिया जाता तो एकान्तनियतिवाद की दृष्टि समाप्त हो जाती। श्री प० जयचन्दजी ने गाथा ३२१ व ३२२ के शीर्षक में लिखा है, 'आगे सम्यग्दृष्टि के विचार होय सो कहे हैं।' इस शीर्षक के होते हुए यह कहना कि 'गाथा ३२१ व ३२२ में सर्वज्ञ का स्वरूप कहा गया है', ठीक नही है। गाथा ३२१ व ३२२ का सम्बन्ध गाथा ३२० से है क्योंकि गाथा ३२० मे भी सम्यग्दृष्टि के विचारो का कथन है।

भत्तीए पुज्जमाणो वितरदेवो विदेदि जदिलच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥ ३२० ॥

श्री पं० जयचन्दजी कृत अर्थ—सम्यग्दृष्टि ऐसे विचारै है जो 'व्यंतरदेव ही भक्ति करि पूज्या हुवा लक्ष्मी दे है तो धर्म काहे कूं कीजिये।'

गाथा ३२०, ३२१ व ३२२ मे सम्यग्दृष्टि के विचारो का कथन एक दृष्टि से है किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं है, क्योंकि जैनधर्म का मूल सिद्धान्त 'अनेकान्त तथा सर्वसप्रतिपक्ष' है। श्री अकलंकदेव तथा विद्यानन्दस्वामी ने देवों के प्रभाव का लक्षण इसप्रकार किया है—'क्रुद्ध होकर किसी को अनिष्ट प्राप्त करा देना शाप स्वरूप प्रभाव है और किसी के ऊपर प्रसन्न होते हुए इष्ट प्राप्त करा देना अनुग्रह नामक प्रभाव है।

'शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः। शापोऽनिष्टापादनम्, अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम्।'

इन सर्वज्ञवाक्यों पर सम्यग्दृष्टि की दृढ़ श्रद्धा है, किन्तु व्यतर देव की पूजा-निषेध के लिये वह उपर्युक्त सर्वज्ञ वाक्य को गौण करके यह विचारता है कि व्यंतर आदि लक्ष्मी नहीं दे सकते, किंतु धर्म करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा ६ में कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म से निर्वाण भी मिलता है तथा देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती आदि की सम्पदा प्राप्त होती है। गाथा इसप्रकार है—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुर मणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दसण णाणप्पहाणादो ॥ ६ ॥

सम्यग्दृष्टि यह भी जानता है कि सर्वज्ञदेव ने द्वादशाग के दृष्टिवादनामक बारहवें अंग मे यह कहा है—'जिसका, जहाँ, जब, जिसप्रकार, जिससे, जिसके द्वारा जो होना है तब, तहाँ, तिसका, तिसप्रकार, उससे, उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ नहीं कर सकता ऐसी मान्यता एकातमिथ्यात्व है।' इस सर्वज्ञवाक्य पर सम्यग्दृष्टि की पूर्ण श्रद्धा है, किन्तु व्यतरदेव की पूजा के निषेध को दृढ करने के लिए इस सर्वज्ञवाक्य को गौण करके वह सम्यग्दृष्टि नियतनय के अनुसार विचार करता है कि जो जिस जीव के, जिस देशविषै, जिस काल विषै, जिस विधानकरि, जन्म तथा मरण सर्वज्ञदेव ने जाण्या है जो ऐसे ही नियमकरि होयगा, सो ही तिस प्राणी के, तिस ही देश में, तिस ही काल मे तिस ही विधान करि नियमतै होय है ताकूं इन्द्र तथा जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कोई भी निवारि नही सके है।

कोई जीव गाथा ३२१ व ३२२ को पढ़कर नियतिवादी एकांतमिथ्यादृष्टि न बन जावे ऐसा विचारकर श्री स्वामी कार्तिकेय ने गाथा ३२३ व ३२४ मे कहा कि 'जो सर्वज्ञ के आगमानुसार द्रव्य की सर्व पर्यायनिको जाणै है, श्रद्धान करे है अथवा जो जिन वचन मे श्रद्धा करे है जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है वह सर्व ही है, भले प्रकार इष्ट करै हैं' वह सम्यग्दृष्टि है। सर्वज्ञ के आगम मे पर्यायों को शुद्ध-अशुद्ध, स्वभाव-अस्वभाव काल-अकाल, नियत-अनियत अर्थ-व्यंजन इत्यादि सप्रतिपक्ष कहा है। सम्यग्दृष्टि की सप्रतिपक्षपर्यायो पर सर्वज्ञआगम अनुसार श्रद्धा है किन्तु प्रयोजनवश कही पर किसी को गौण और किसी को मुख्य कर लेता है। जैसे अनित्य, अशरण आदि भावनाओं के समय द्रव्यार्थिक नय को गौण करके पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से, 'वस्तु को नाशवान, अपने आप को शरण रहित' आदि विचार करता है। सम्यग्दृष्टि को किसी एकान्त का पक्ष नही होता, उसको स्याद्वादमयी सर्वज्ञवाणी अथवा आगम पर पूर्ण श्रद्धा होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि मानता है कि पर्यायें नियत भी हैं और अनियत भी हैं।

—जै. ग. 6-3-66/IX/ ....

(१) परस्पर विरुद्ध नययुगल के ग्रहण से अनेकान्त होता है
(२) अकालनय से कार्यसिद्धि समयाधीन नहीं है
(३) गणधर देव ने भी अनियत पर्याय का कथन किया था

शंका—क्या "काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुष" इन पाँचों के मानने से अनेकान्त होता है ? या काल अकाल, स्वभाव-अस्वभाव, नियति-अनियति, दैव-पुरुषार्थ के मानने से अनेकांत होता है ?

समाधान—परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को मानने से अनेकांत होता है। जो धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं है ऐसे अनेकधर्मों के मानने से अनेकांत नहीं होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में 'सप्प सपडिवक्खा' सिद्धांत का उपदेश दिया है अर्थात् 'सर्वप्रतिपक्षसहित है', ऐसा उपदेश श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दिया है जिसका अनुसरण श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री वीरसेनादि आचार्यों ने किया है।

श्री प्रवचनसार में कालनय अकालनय, स्वभावनय-अस्वभाव नय, नियतिनय-अनियतिनय, दैवनय-पुरुषार्थ नय, ईश्वरनय-अनीश्वरनय इसप्रकार परस्पर विरुद्धनयों का कथन है। यदि इन परस्पर विरुद्धनय युगलों मे से किसी एक नय को तो माना जावे और उसकी प्रतिपक्षी दूसरी नय को स्वीकार न किया जाय तो एकांतमिथ्यात्व का प्रसंग आ जाता है। जैसे कांटा तो स्वभावनय से तीक्ष्ण है, किन्तु आलपिन तो स्वभावनय से तीक्ष्ण नही, उसमें तीक्ष्णता उत्पन्न की जाती है। अतः आलपिन अस्वभावनय से तीक्ष्ण है। यदि अस्वभावनय को स्वीकार न किया जाय तो आलपिन मे तीक्ष्णता का अभाव मानना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई कार्य अपने व्यवस्थित समयपर उत्पन्न होता है और किसी कार्य का काल व्यवस्थित नही होता है, किन्तु कारणो के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। विशेष बाह्य कारणों से निरपेक्ष होने वाली मृत्यु का मृत्युकाल व्यवस्थित (निश्चित) है। किन्तु शस्त्रप्रहारादि कारणो से होनेवाली अपमृत्यु का मृत्युकाल शस्त्रप्रहार आदि के द्वारा उत्पन्न होता है। (श्लो० वा० २।५३)

इसलिये प्रवचनसार मे कहा है कि कालनय से कार्य की सिद्धि समय के आधीन होती है, और अकालनय से कार्य की सिद्धि समय के आधीन नही है।

अतः 'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषार्थ' इन पाँचों की परस्पर सापेक्षता से अनेकांत नहीं होता, एकांतमिथ्यात्व ही रहता है। किन्तु काल-अकाल की सापेक्षता से, स्वभाव-अस्वभाव की सापेक्षता से, नियति अनियति की सापेक्षता से, दैव और पुरुषार्थ की सापेक्षता से अनेकांत होता है।

शंका—१७ जून १९६५ के जैनसंदेश पृ० ९८ पर—

'कालो सहाव णियई उव्वकम्म पुरिस कारणे गंता।
मिच्छत्त ते चेवा समासओ होंति सम्मत्तं ॥

गाथा उद्धृत की गई है जिससे यह सिद्ध किया गया है कि जो काल, स्वभाव, नियति पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषार्थ इन पांचों से कार्य की सिद्धि मानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो इन पांचों में से किसी एक से कार्य की सिद्धि मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्या यह ठीक है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है। इस गाथा का अभिप्राय यह है कि जो अकाल से निरपेक्षकाल को, अस्वभाव से निरपेक्ष स्वभाव को, अनियति से निरपेक्ष नियति को, पुरुषार्थ से निरपेक्ष दैवको, दैवसे निरपेक्ष पुरुषार्थ से कार्य की सिद्धि (उत्पत्ति) मानता है वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है और जो काल-अकाल, स्वभाव-अस्वभाव, नियति-अनियति, दैव-पुरुषार्थको परस्पर सापेक्ष मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

शंका—आर्ष ग्रंथों में भविष्य में होनेवाले २४ तीर्थंकरों का, पंचमकाल के अन्त में होनेवाले मुनि आर्यिका श्रावक-श्राविका आदि का कथन पाया जाता है। क्या यह कथन असत्य है ? यदि सत्य है तो नियतिवाद सिद्ध हो जाता है। अनियति का कोई स्थान नहीं रहता ?

समाधान—जो सर्वथा अनियति मानता है ऐसे एकान्त-अनियतिवादी मिथ्यादृष्टि के लिये तो उपर्युक्त आपत्ति आती है, किन्तु स्याद्वादी के लिये कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह तो नियतिवाद और अनियतिवाद दोनों को मानता है। भावी २४ तीर्थंकरो की तथा पंचमकाल के अन्त मे होनेवाले मुनि आदि की पर्याय नियत हैं उनका आर्षग्रन्थों में कथन पाया जाता है, किन्तु जो पर्याय अनियत है उनका आर्षग्रन्थों में कथन होना असंभव है। इस हुडावसर्पिणी काल के पश्चात् जो हुडावसर्पिणी आयेगा उसमें प्रथमतीर्थंकर किसका जीव होगा यह कथन आर्षग्रन्थो मे क्यों नही मिलता। इत्यादि।

जो पर्याय अनियत होती है उन्ही के साथ 'यदि' आदि शब्दो का प्रयोग होता है। जैसे कोई पूछे कि क्या तुम कल दिल्ली जाओगे ?' यदि दिल्ली जाने की पर्याय नियत है तो यह उत्तर होगा कि 'मैं कल दिल्ली जाऊँगा'। यदि दिल्ली जाने की पर्याय अनियत है तो यह उत्तर होगा कि 'यदि दिल्लीसे सूचना न आई तो दिल्ली जाऊँगा।' चार ज्ञान के धारी श्री गौतमगणधर ने समवशरण मे राजा श्रेणिक को निम्नप्रकार उत्तर दिया था, जिससे सिद्ध है कि पर्याय अनियत भी होती है।

अतः परं मुहूर्तं चेदेव मेव स्थिति भजेत्।
आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योऽयं भविष्यति ॥

अर्थ—यदि अब आगे अंतर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरकायु का बंध करने योग्य हो जावेंगे।

जो मात्र एकांतनियतिवाद को मानने वाले हैं उनके अभिप्रायानुसार श्री गणधरदेव का उपर्युक्त उत्तर ठीक नहीं बैठेगा।

कोई पर्याय नियतनय से होती है जैसे अग्नि की उष्णपर्याय और कोई पर्याय-अनियति नय से होती है जैसे जल की उष्णपर्याय, क्योंकि यदि कारण मिलेंगे तो जल उष्ण हो जावेगा अन्यथा नहीं।

शंका—जैनसन्देश में लिखा है कि श्री सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ७ की टीका में धर्म का लक्षण नियति कहा है। फिर अनियतिनय क्यों माना जावे ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ७ मे धर्म को 'नियति लक्षणः' कहा है वहाँ पर 'नियति' का अर्थ 'संयत' है अर्थात् धर्म का लक्षण 'संयम' है। 'निष्परिग्रहतालम्बनः' अर्थात् परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि 'नियति' से संयत' ग्रहण करना चाहिये। इसका 'निश्चित' अभिप्राय लेना उचित नहीं है—प्रकरण विरुद्ध है।

शंका—यदि कोई मात्र 'नियति' माने और अन्य कारणों को न माने तो मिथ्यादृष्टि है, किन्तु नियति के साथ अन्य कारणों को भी माने वह सम्यग्दृष्टि है। जैसे कोई यह माने कि अग्नि के संयोग से अमुकजल की अमुकसमय में उष्णपर्याय का होना नियत है वह सम्यग्दृष्टि है क्योंकि उसने अग्नि के संयोग को कारण स्वीकार किया है।

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नही है ? विवक्षितसमय मे विवक्षितजल के साथ अग्नि का सयोग होना नियत है या अनियत ? प्रथमपक्ष मानने पर तो कारण का मिलना भी नियत के आधीन ही रहा। इसलिये सब नियति के आधीन हैं ऐसा एकान्तनियतिवादमिथ्यात्व आ गया, दूसरा पक्ष मानने पर, जब अग्नि का संयोग होना अनियत है तो विवक्षितजल की विवक्षितसमय मे उष्णपर्याय कैसे नियत हो सकती है ?

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि विवक्षितजल के साथ विवक्षितसमय में विवक्षितअग्नि का ही संयोग होगा या अविवक्षितअग्नि का ? यदि विवक्षितअग्नि का संयोग माना जावे तो कारण भी नियत होने से सब कुछ नियति के आधीन हो जाता है और एकान्तनियतिवाद का प्रसग आ जाता है। यदि यह माना जाय कि किसी भी अग्नि का सयोग हो सकता है तो जल से अग्नि की सयोगरूप पर्याय अनियत हो गई। इससे अनियतपर्याय सिद्ध हो जाती है।

शंका—एक सज्जन मनुष्य शांत बैठा हुआ है। एक गुंडे ने आकर उस सज्जन के लाठी मारदी। वह गुंडा विचार करता है कि इससमय मेरे हाथ के द्वारा इस लाठी की ऐसी पर्याय होना नियत थी तथा इस सज्जन के भी इस लाठी के द्वारा चोट लगना नियत था। मैं तो क्या इन्द्र या जिनेन्द्र भी इसको अन्यथा करने में समर्थ नहीं थे, इसलिये मेरा क्या दोष ? क्या उसका ऐसा विचार करना उचित है ? क्या यह उस गुंडे की इच्छा पर निर्भर था कि वह उस सज्जन के लाठी मारे अथवा न मारे या क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्तानुसार वह गुंडा लाठी मारने के लिये मजबूर था ?

समाधान—गुडे का ऐसा विचार करना कि "लाठी, हाथ और पिटनेवाले सज्जन की इससमय अपने-अपने कारणो के द्वारा इस-इसप्रकार की पर्याय होना नियत थी जिसको वह स्वय, इन्द्र या जिनेन्द्र भी टाल नहीं सकते थे," उचित नहीं है; क्योंकि यह उस गुंडे की इच्छा पर निर्भर था कि वह उस निरपराधी सज्जन को लाठी मारे अथवा न मारे। वह गुंडा क्रमबद्धपर्याय (नियतिवाद) अनुसार लाठी मारने के लिये बाध्य भी नहीं था ऐसा मानने से सर्वज्ञता का भी खडन नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ ने हिंसा आदि पाँच पापो के त्याग का स्वयं उपदेश दिया है और जिनको सर्वज्ञवाणी पर श्रद्धा है वे एकदेश या सर्वदेश हिंसा आदि पापों का त्याग भी करते हैं। यदि किसी कारणवश स्वय त्याग करने मे असमर्थ हैं, तो जिन्होंने हिंसा आदि पापों का त्याग किया है उनकी अनुमोदना

करते हैं, निन्दा नहीं करते। जिनको सर्वज्ञवाणी पर श्रद्धा नहीं है और एकान्तनियतिवाद मिथ्यात्व की श्रद्धा है वे हिंसा आदि के त्यागरूप व्रतों को हेय बतलाते हैं सर्वथा बंध के कारण बतलाते हैं।

जिस सज्जन के चोट लगी है उसको द्वेष दूर करने के लिए यही विचार करना चाहिये कि ऐसा ही होना नियत था इसमें अन्य किसी का कोई दोष नहीं है।

— जै. ग 13-3-67/VII/ ....

(१) एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है
(२) नियतिवाद आगम में निषिद्ध है

शंका— श्री वादीभसिंहसूरि ने क्षत्रचूड़ामणि में कहा है कि रसायन के प्रयोग से लोहा भी सोना बन जाता है, किन्तु सोनगढ़सिद्धांत कहता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव या असर नहीं पड़ता है। इन दोनों में कौन सिद्धांत ठीक है?

समाधान— श्री वादीभसिंह सूरि को जो ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था वही क्षत्रचूड़ामणि में लिखा गया है अतः उनके वाक्य कैसे अन्यथा हो सकते हैं? सोनगढ़ वाले अविरत हैं। जिनके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पापों का एकदेश भी त्याग नहीं है अत. उनका सिद्धांत कैसे सत्य हो सकता है? श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे निम्नप्रकार कहा है—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २५५ ॥

संस्कृत टीका— यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं। तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात् कार्यविशेषस्यावश्यं भावित्वात्।

यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीय शुभोपयोगो भूमिस्थानीय पात्रभूत वस्तुविशेषेण भिन्न-भिन्न फलं ददाति। तेन किं सिद्धम्। यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च। नो चेत्पुण्य बन्धमात्रमेव।"

इस गाथा व संस्कृत टीका मे बतलाया गया है कि 'एक ही बीज होने पर भी यदि उसको जघन्यभूमि में बोया जायगा तो जघन्यभूमि के निमित्त के वश से उस बीज का फल निःकृष्ट होगा यदि उस बीज को मध्यम भूमि में बोया जाय तो मध्यमभूमि के निमित्त के वश से उसी बीज का फल मध्यम होगा। यदि उसी बीज को उत्कृष्ट भूमि मे बोया जाय तो उत्कृष्टभूमि के निमित्त के वश से उसी बीज का फल उत्तम होगा, क्योंकि निमित्तकारण की विशेषता से कार्य मे विशेषता अवश्यंभावी है। इसीप्रकार निमित्तभूत पात्रों की विशेषताओं से शुभोपयोग के फल मे विभिन्नता हो जाती है। शुभोपयोग मात्र पुण्यबन्ध का कारण नहीं है, किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण भी है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य के उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव या असर पड़ता है और जिससे कार्य में भी अन्तर पड़ना अवश्यंभावी है।

इसी सम्बन्ध में प्रवचनसार की दूसरी गाथा निम्न प्रकार है—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ २७० ॥

संस्कृत टीका—यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिः संगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिक-संगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत् समगुणसंगात् गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिक-संगात् गुणवृद्धिः॥ २७० ॥

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने बतलाया है—"जीव परिणामस्वभाववाला है इसलिये लौकिकजनो की संगति से विकार का होना अवश्यभावी है अर्थात् संयत मनुष्य भी असंयत हो जाता है। जैसे अग्नि के संयोग से जल में विकार होना अवश्यंभावी है अर्थात् अपने शीतलस्पर्श को छोड़कर उष्ण हो जाता है। इसलिये सांसारिक दुःखो से मुक्ति चाहनेवाले श्रमण (मुनि) को (१) समानगुणवाले श्रमणों के साथ अथवा (२) अधिकगुणवाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये। (१) जैसे शीतलघर के कोने मे रखे हुए शीतलजल के शीतलगुण की रक्षा होती है, उसीप्रकार समान गुणवाले मुनियो की संगति से उसश्रमण के गुणों की रक्षा होती है (२) जैसे अधिक शीतल हिम (बरफ) के संपर्क से शीतलजल के शीतलगुण मे वृद्धि होती है, उसी-प्रकार अधिक गुणवाले मुनियों की संगतिसे श्रमणके गुणो मे वृद्धि होती है।"

इस गाथा व टीका में श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तीन सिद्धान्त बतलाये हैं (१) एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, (२) द्रव्य का परिणमन स्वभाव होने पर भी वह परिणमन किसप्रकार का हो वह निमित्ताधीन है अर्थात् निमित्त के कारण परिणमन मे विशेषता का होना अवश्यभावी है। (३) क्रमबद्धपर्याय अर्थात् एकांतनियतिवाद का निषेध, क्योंकि मुनि की इच्छा पर निर्भर है कि वह लौकिक जन की संगतिकर अपने संयमगुण का नाश कर देवे अथवा समान-गुणवालों की संगति करके संयमगुण की रक्षा कर लेवे, या अधिकगुण-वालो की संगति कर अपने संयम गुण मे वृद्धि कर लेवे।

इन गाथाओ से भी सिद्ध होता है कि परिणाम स्वभाववाला लोहा भी रसायन के प्रयोग अर्थात् संगति से सुवर्ण बन जाता है।

—जै. ग. 14-5-70/IX/ रोशनलाल मित्तल

क्रमबद्ध–नियत पर्याय की मान्यता आगम–विरुद्ध है

शंका—जितनी तीनों काल की पर्यायें हैं उतना ही द्रव्य है। वे पर्यायें क्रम से होती हैं अर्थात् एकके बाद दूसरी हुआ करती है। पर्यायें क्योंकि कालक्रमसे होती हैं, इसलिये वे नियत हैं अतः उनको क्रमबद्ध मानने में क्या हानि है ?

समाधान—पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। 'क्रमवर्तिनः पर्यायाः' आलापपद्धति। अखण्ड प्रदेशसमूहवाला द्रव्य पर्यायो को प्राप्त हुआ था, प्राप्त हो रहा है और प्राप्त होगा। कहा भी है—"निजनिज प्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या-स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यम्।" आलापपद्धति अर्थात् जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के द्वारा अखडरूप से स्वभाव-विभाव पर्यायो को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था वह द्रव्य है। इसी-

लिये द्रव्य को अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों के समूह के बराबर कहा गया है। किन्तु इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि पर्यायें नियत हैं या क्रमबद्ध हैं। इससे तो यह सिद्ध होता है कि पूर्व-पूर्व पर्यायों का व्यय होता रहता है और उत्तर-उत्तर पर्यायें उत्पन्न होती हैं। अमुकसमय में अमुकपर्याय ही उत्पन्न होगी, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है, जो ऐसा नियम मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। कहा भी है—

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत्, तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुटं नियत्येह नियंत्र्यमाणं, परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥ ३१२ ॥ (पंचसंग्रह)

जिसका, जहाँ, जब, जिसप्रकार, जिससे, जिसके द्वारा, जो होना है, तब, तहाँ, तिसका, तिसप्रकार, उससे, उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ हेर फेर नहीं कर सकता। ऐसा जो मानता है वह एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

उत्तर पर्याय की उत्पत्ति अंतरंग और बहिरंग कारणो के आधीन है। द्रव्य मे नानाप्रकाररूप परिणमन करने की शक्ति होने पर भी, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव मिल जायगा उस पर्यायरूप परिणमन होगा। उसको रोकने मे कोई भी समर्थ नहीं है। कहा भी है—

कालाइ-लद्धि-जुत्ता णाणा सत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

यहाँ यह बतलाया गया है कि द्रव्य मे नानापर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति है। जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव मिल जायँगे उस पर्यायरूप उसद्रव्य का परिणमन हो जायगा। अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणो के मिल जाने पर उस पर्याय के उत्पाद को कोई नहीं रोक सकता है।

कुछ को ऐसी मान्यता है कि "जिसप्रकार सिनेमा के फिल्म की रील पर नानाचित्र क्रमशः बने रहते हैं और सिनेमा के पर्दे पर उन चित्रों का नियतक्रम से आविर्भाव व तिरोभाव होता रहता है और फिल्म उतनी ही है जितनी कि रील पर चित्रों की संख्या है। इसीप्रकार द्रव्य भी उतना ही है जितनी कि उसकी त्रैकालिकपर्यायें हैं जो कि द्रव्य के अन्दर विद्यमान हैं और अपने नियतक्रम से उन पर्यायों का आविर्भाव व तिरोभाव होता रहता है।" किन्तु उनकी यह मान्यता जैनसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। जैनसिद्धान्तमे पर्यायों का आविर्भाव व तिरोभाव स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु असत्-पर्याय का उत्पाद और सत्पर्याय का व्यय (नाश) माना गया है।

जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व ॥ २४३ ॥
सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाई-लद्धीए अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥
(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—जिसप्रकार देवदत्त विद्यमान है, किन्तु पर्दे के पीछे छिपा हुआ है, पर्दा हटने पर प्रगट हो जाता है। उसी प्रकार द्रव्य में सर्व पर्यायें विद्यमान हैं किन्तु तिरोहित (छिपी) हैं। यदि ऐसा माना जाय तो 'पर्यायों का उत्पाद होता है' ऐसा कहना व्यर्थ हो जायगा। अनादि-निधन द्रव्य में कालादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव) के मिलने पर अविद्यमान (असत्) पर्यायो की उत्पत्ति होती है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार असत्पर्याय का उत्पाद होता है जो पर्यायें असत्‌रूप हैं उनका नियतक्रम या उनमें क्रमबद्धपना संभव नहीं है। इसीलिये जैन दर्शन मे 'नियतिवाद' को एकान्त मिथ्यात्व कहा गया है।

अधीरता को दूर करने के लिये या कुदेव आदि की पूजा के निषेध के लिये कहीं-कहीं पर होनहार को मुख्य करके उसका उपदेश दिया जाता है, किन्तु इतने मात्र से 'नियतिवाद' का एकान्तनियम सिद्ध नहीं हो जाता है।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ टो. ला. जैन

(१) ज्ञेय का स्वरूप
(२) ज्ञेयत्व द्रव्य में ही होता है
(३) द्रव्य की कथंचित् त्रैकालिक पर्यायों से अभिन्नता
(४) द्रव्य की प्रतिसमय कथंचित् पूर्णता
(५) त्रैकालिक पर्यायों का द्रव्य में व्यक्तितः असद्भाव

शंका—ज्ञेय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसके आश्रय ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण रहता है वह ज्ञेय है। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी भी ज्ञान (प्रमाण) का विषय अवश्य होता है वह ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण है। कहा भी है—

"प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूप परिच्छेद्यं प्रमेयम्।" (आलापपद्धति)

जो स्व और पररूप प्रमाण (ज्ञान) के द्वारा जानने के योग्य हो वह प्रमेय (ज्ञेय) है। उस प्रमेय (ज्ञेय) का भाव प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) है।

"प्रमाणगोचराः जीवादिपदार्थाः प्रमेयाणि।" (प्र० र० मा० पृ० ५)

यदि ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण द्रव्य मे न हो तो द्रव्य ज्ञान का विषय नही हो सकता।

शंका—गुण और पर्यायें भी तो ज्ञान के द्वारा जानी जाती हैं, अतः उनमें भी ज्ञेयत्व गुण होना चाहिये ? मात्र द्रव्य में ज्ञेयत्व गुण क्यों कहा गया ?

समाधान—दस सामान्य गुणों में पाँचवाँ प्रमेयत्व भी सामान्यगुण है। उन सामान्यगुणों के नाम निम्नप्रकार हैं—

"अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं, मूर्तत्वममूर्तत्वं, द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः। (आलापपद्धति)

गुण द्रव्य के आश्रय रहता है, अन्य गुण व पर्याय के आश्रय से नहीं रहता है, क्योंकि गुण का लक्षण इसप्रकार है—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥" (त० सूत्र अ० ५)

जो निरंतर द्रव्य में रहते हैं और गुणरहित हैं, वे गुण हैं।

यदि अन्यगुणो मे प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण माना जावे तो गुण के उपर्युक्त लक्षण मे बाधा आती है, क्योंकि गुण का आश्रय द्रव्य है, एकगुण दूसरेगुण का आश्रय नहीं है। दूसरे गुण मे अन्यगुण रहने से 'निर्गुणा गुणाः' व्यर्थ होता है। अतः प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण के अतिरिक्त अन्य गुणो मे प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण नहीं रहता है।

यदि पर्याय के आश्रय ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण को माना जायगा तो पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न होती है और विनशती है (पर्येति समये समये उत्पादं विनाशं च गच्छतीति पर्यायः) अतः गुण के भी प्रतिसमय उत्पन्न होने और विनष्ट होने का प्रसग आ जायगा, किन्तु 'सहभुवो गुणाः' गुण तो सदा द्रव्य के साथ रहते हैं अर्थात् गुण अन्वयी हैं।

"अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः।" (सर्वार्थसिद्धि ५।३८)

प्रदेशत्व की अपेक्षा गुण और पर्याय द्रव्य से अभिन्न है अतः द्रव्य के ज्ञेय होनेपर उससे अभिन्न गुण और पर्याय भी ज्ञान का विषय बन जाती हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी पंचास्तिकाय में कहा है—

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ १२ ॥
दव्वेण विणा गुणा गुणेहिं, दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥ १३ ॥

पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होतीं। द्रव्य और पर्याय का अनन्यभाव है अर्थात् दोनों मे भिन्नता नहीं है।

द्रव्य बिना गुण नहीं होते और गुणो के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिये द्रव्य और गुणो का अव्यतिरिक्त (अभिन्न) भाव है।

पं० दरबारीलाल कोठियाजी ने भी लिखा है—"यथार्थ मे गुण-कर्मादि द्रव्य के विभिन्न धर्म अथवा परिणमन मात्र हैं, वे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। वे द्रव्य के साथ ही उपलब्ध होते हैं, द्रव्य को छोड़कर नहीं और इसलिये वे द्रव्य के आश्रित हैं और द्रव्य के परतन्त्र हैं। पदार्थ तो ठोस और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला होता है। यदि गुणकर्मादि (पर्यायादि) द्रव्य से भिन्न पदार्थ हो तो 'अस्य द्रव्यस्य अयं गुणः' इस द्रव्य का यह गुण है, इत्यादि व्यपदेश नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कोई नियामक नहीं है।"

शंका—क्या त्रैकालिकपर्यायों से द्रव्य की अभिन्नता है या मात्र एक पर्याय से ?

समाधान—द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील है। त्रैकालिकपर्यायों में परिणमन करने के कारण त्रैकालिक-पर्यायों से अभिन्नता को प्राप्त होता है। क्योंकि द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता।

शंका—द्रव्य क्या एक समय में तीन काल की समस्त पर्यायों से अभिन्नता को प्राप्त होता है ?

समाधान—द्रव्य जिससमय मे जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उससमय उसपर्याय से तन्मयता को प्राप्त होने के कारण मात्र उसपर्याय से अभिन्नता को प्राप्त होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं, तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा, धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥
जीवोपरिणमदि जदा सुहेण, असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि, परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

इन दो गाथाओ मे यह बतलाया गया है कि द्रव्य जिससमय मे जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उससमय उसपर्यायरूप ही है ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है। जब आत्मा धर्मपर्यायरूप परिणमन करता है, उससमय धर्मरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण आत्मा को धर्मरूप जानना चाहिये। जीव जब शुभपर्यायरूप परिणमन करता है तब शुभरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण जीव शुभरूप होता है। जीव जब अशुभपर्यायरूप परिणमन करता है तब अशुभपर्याय से तन्मय होने के कारण जीव अशुभरूप है जीव जब शुद्ध पर्यायरूप परिणमन करता है तब शुद्धरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण जीव शुद्ध होता है, क्योंकि जीव परिणमनस्वभावी है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य की उपर्युक्त गाथाओं से यह स्पष्ट है कि द्रव्य मात्र वर्तमानपर्याय से तन्मय होता है; शेषपर्यायों से उससमय तन्मय नहीं होता है, क्योंकि वर्तमानपर्याय के अतिरिक्त उससमय शेषपर्यायों का प्रध्वंसाभाव व प्रागभाव है अर्थात् अभाव है। इसीलिये श्री वीरसेनाचार्य ने वर्तमानपर्याय को ही अर्थ (ज्ञेय) कहा है। श्री वीरसेनाचार्य के वाक्य निम्नप्रकार हैं—

"वर्तमानपर्यायाणामेवकिमित्यर्थत्वमिष्यत इति चेत्, न, अर्यते परिच्छिद्यते इति न्यायतस्तत्रार्थत्वोपलम्भात् तदनागतातीतपर्यायेष्वपि समानमिति चेत्, न, तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहणपूर्वकत्वात् ।"

[ज० ध० पु० १ पृ० २२]

जो जाना जाता है उसे अर्थ (ज्ञेय) कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्याय मे ही अर्थपना (ज्ञेयत्व) पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि व्युत्पत्ति के अनुसार जिसप्रकार वर्तमानपर्याय मे अर्थपना (ज्ञेयत्व) पाया जाता है उसीप्रकार अनागत और अतीतपर्यायों मे भी अर्थपना (ज्ञेयत्व) सभव है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि अनागत और अतीतपर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायें भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ (ज्ञेय) मे ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ (ज्ञेय) के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये भूत और भविष्यत् पर्यायों को अर्थ (ज्ञेय) यह सज्ञा नहीं दी जा सकती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान पर्याय ज्ञेय है किन्तु उसमे अन्य पर्यायें भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से विद्यमान हैं अतः वे पर्यायें भूत और भविष्यत् शक्ति रूप से जानी जाती हैं।

शंका—प्रत्येक समय में द्रव्य पूर्ण है या अपूर्ण ?

समाधान—प्रत्येक समयमें द्रव्य पूर्ण भी है और अपूर्ण भी है।

जिससमय मे जो द्रव्य जिसपर्यायरूप परिणमन कर रहा है उससमय वह द्रव्य उस पर्याय से तन्मय है उसपर्याय से हीनाधिक नहीं है (प्रवचनसार गा० ८)। यदि द्रव्य को पर्याय से अधिक माना जावे तो पर्याय से रहित होने के कारण उस अधिक के द्रव्यत्व का अभाव हो जायगा, क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य नही रह सकता (पंचास्तिकाय गा० १२)। यदि द्रव्य को पर्याय से हीन माना जाय अर्थात् पर्याय को द्रव्य से अधिक तो उस अधिकपर्याय का भी, आश्रयभूत द्रव्य के अभाव होने से, अभाव हो जायगा (पंचास्तिकाय गाथा १२)। प्रत्येक समय मे द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय होने के कारण पूर्ण है। जैसे १० ग्राम सुवर्ण कुण्डलपर्याय मे उस कुण्डल पर्याय से तन्मय होने के कारण पूर्ण है और वही १० ग्राम सुवर्ण कड़ेरूप पर्याय मे उस कड़ेरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण १० ग्राम पूर्ण है, हीनाधिक नही है।

यदि द्रव्य को प्रत्येक समय अपनी उससमय की पर्याय से सर्वथा तन्मय मानकर सर्वथा पूर्ण मान लिया जाय तो उस पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य के भी अभाव का प्रसग आयगा, किन्तु द्रव्य का अभाव होता नहीं है, क्योकि उसपर्याय का व्यय होने पर द्रव्य अन्य नवीनपर्यायरूप परिणम जायगा और उस नवीनपर्याय से तन्मय हो जायगा।

इसलिये द्रव्य का लक्षण निम्नप्रकार कहा गया है—

"द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् स्वगुण पर्यायान् इति द्रव्यम् ।" (स्वा० का० अ० गा० २४० टीका)

जो अपने गुण और पर्यायो को प्राप्त होता है वह द्रव्य है।

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि ।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवइ दव्वं ॥ १०८ ॥
(ज० ध० पु० १ पृ० २५३)

एक द्रव्य मे अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय होती है, तत् प्रमाण वह द्रव्य होता है।

प्रत्येकसमय मे मात्र वर्तमानपर्याय सद्भावरूप विद्यमान रहती है और शेषपर्यायें असद्भावरूप अविद्यमान रहती हैं अतः प्रत्येक समय मे द्रव्य कथचित् अपूर्ण है।

शका—कुछ जैन भाई द्रव्य में त्रैकालिक पर्यायों को सद्भावरूप विद्यमानता मानते हैं और इसप्रकार प्रत्येक समय मे द्रव्य को सर्वथा पूर्ण मानते हैं। क्या यह मान्यता ठीक नहीं है ?

समाधान—द्रव्य मे त्रैकालिक पर्यायो की सद्भावरूप विद्यमानता जो भी मानते हैं वे जैनसिद्धान्त के माननेवाले नही हैं, किन्तु सांख्यमत के मानने वाले हैं। जैन सिद्धान्त मे तो पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद बतलाया गया है।

जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति ।
ता उप्पत्ति विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व ॥२४३॥ (स्वा० का० अ०)

टीका—अथ सांख्यादयः एवं वदन्ति। द्रव्ये जीवादिपदार्थे सर्वे पर्यायाः तिरोहिताः आच्छादिताः विद्यमानाः सन्ति।

सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाई-लद्धीए अणाइ णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥ (स्वा० का० अ०)

टीका—अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्ति स्यात् ।

सांख्यमतवाले ऐसा मानते हैं कि जीवादि द्रव्य मे त्रिकालवर्ती सब पर्यायें सत् रूप विद्यमान रहती हैं, किन्तु ढकी हुई रहती हैं. जैसे सत्‌रूप विद्यमान देवदत्त कपडे के पीछे ढका हुआ रहता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि सांख्यमत मे पर्याय की उत्पत्ति कहना निष्फल है अर्थात् सांख्य मतानुसार पर्याय का उत्पाद घटित नहीं होता है। अतः अनादिनिधन द्रव्य मे योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव का लाभ होने पर अविद्यमान असत्‌पर्यायों की उत्पत्ति होती है अर्थात् उत्पाद होता है।

सांख्यमत वाले त्रैकालिक पर्यायो को विद्यमान सत्‌रूप मानते हैं, किन्तु उनमे से एकपर्याय प्रकट रहती है और शेष पर्यायें तिरोहित रहती हैं। किन्तु जैनसिद्धान्त वर्तमान पर्याय के अतिरिक्त शेष पर्यायो का अभाव (प्रध्वंसाभाव—प्रागभाव) मानता है। पूर्व पर्याय का व्यय (नाश) और अविद्यमान—असत् नवीन-पर्याय का उत्पाद मानता है। यह दोनों सिद्धान्तो मे अन्तर है। अतः त्रैकालिकपर्यायो को विद्यमान-सत् मानकर द्रव्य को सर्वथा पूर्ण मानना ठीक नहीं है।

—जै. ग. 18-11-71/VII/ अजितकुमार

"क्रमबद्धपर्याय" कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थ से कल्याण (मोक्ष) सम्भव है

शंका—यह दुर्लभ मनुष्यपर्याय व जिनवाणी श्रवण इत्यादिक निमित्त पाकर भी यह प्राणी अपना कल्याण क्यों नहीं करता है ? क्या इसमें कर्मोदय कारण है या पुरुषार्थ की कमी है या अभी कल्याण की क्रमबद्धपर्याय नहीं आई ?

समाधान—'क्रमबद्ध पर्याय' तो कोई वस्तु नहीं है और न आर्षग्रन्थो मे क्रमबद्धपर्याय का उल्लेख है, यह तो मात्र मनघडन्त है।

संज्ञी-पंचेन्द्रिय-पर्याप्तमनुष्य, इन्द्रियो की पूर्णता, ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम जिनवाणी श्रवण इत्यादिक सामग्री जिसको प्राप्त हो उसके कर्म का तीव्र उदय तो संभव नहीं है। जिस संलग्नता से धनोपार्जन के लिए निरंतर पुरुषार्थ किया जाता है, यदि उसी तत्परता के साथ आत्म-कल्याण के लिए पुरुषार्थ करे तो कल्याण हो सकता है। हम स्वयं तो आत्म-कल्याण के लिए यथार्थ पुरुषार्थ नहीं करते किन्तु काललब्धि, होनहार, क्रमबद्धपर्याय इत्यादि के भरोसे छोड देते हैं। बहुतो की तो ऐसी श्रद्धा बन गई है कि केवली ने हमारा आत्मकल्याण जब होना देखा है उससमय स्वयमेव हो जायगा। उसके पूर्व या पश्चात् करने मे न हम स्वयं समर्थ हैं और न अन्य कोई समर्थ है। उपदेशक धर्मोपदेश देकर स्वयं अपना समय बरबाद करते हैं और दूसरो का बरबाद करते हैं।

जिन मनुष्यों को यथार्थ तत्त्वोपदेश उपलब्ध है और उस उपदेश को धारण करने की योग्यता (ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम) भी है, उन मनुष्यो का कर्मशत्रु सोया हुआ है (कर्म का मंदोदय है) यदि वे जिनवाणी रूपी शस्त्र का प्रयोग करें अर्थात् जिनवाणी के अनुसार श्रद्धान व आचरण करें तो वे कर्मशत्रु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। तीव्रवेग में नदी से पार होना यद्यपि दुःसाध्य है, किन्तु मन्दवेग मे पार होना सरल है। यदि मंदवेग में

भी कोई पुरुषार्थ न करे तो इसमे उस मनुष्य का ही दोष है। वर्तमान में हमारे कर्मोदय मंद है। यदि हम जिनवाणी के उपदेशानुसार श्रद्धान व आचरण करें तो ससार समुद्र से पार हो सकते हैं। यदि क्रमबद्धपर्याय के भरोसे पडे रहेगे तो हमारा कल्याण होने वाला नही है। पुरुषार्थ की हीनता मुख्य कारण है और कर्मोदय गौण है। कहा भी है—

"यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति, हीयमानस्थित्यनुभागत्वेनं कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवंति तदा धीमान् भव्य निर्मल भावनाविशेषखड्गेन पौरुष कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति।" वृहद् द्रव्यसंग्रह गा० ३७ टीका

—जै. ग. 29-6-72/IX/ रो ला. जैन

'सर्वथा क्रमबद्धपर्याय', यह एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव पुस्तक के पृ० ७ पर लिखा है—गोम्मटसार में नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है। जैसा होना होगा वैसा होगा, ऐसा कहकर स्वच्छन्द होकर मिथ्यात्व का पोषण करें, उसे नियतिवाद कहा है। यदि ज्ञान स्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्धपर्याय को समझें तो इस पुरुषार्थ से मिथ्यात्व और स्वच्छन्दता छूट जावे।

क्या यह लिखना ठीक है ?

समाधान—जिनवाणीरूप द्वादशाग के बारहवें दृष्टिवाद अंग के सूत्रनामक अर्थाधिकार में ३६३ मतों का पूर्वपक्षरूप से वर्णन है। इस सूत्र नामक अर्थाधिकार के अट्ठासी अधिकारों में से तीसरे अधिकार में 'नियतिवाद' एकांत मिथ्यात्वका पूर्वपक्ष से कथन है। कहा भी है—

अट्ठासी अहियारेसु चउण्हमहि यारााणमत्थ णिद्देसो।
पढमो अबंधयाणं विदियो तेरा सियाण बोद्धव्वा॥ ७६॥
तदियो य णियइ-पक्खे हवदि चउत्थो ससमयम्मि॥

सूत्रनामक अर्थाधिकार के अट्ठासी अधिकारो मे से चार अधिकारो का नाम निर्देश मिलता है। उनमे पहला अधिकार अबन्धकों का, दूसरा त्रैराशिकवादियों का, तीसरा नियतिवाद का इसप्रकार ये तीन परमतो के अधिकार समझने चाहिये। चौथा अधिकार स्वसमय का प्ररूपक है।

जिस नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व का कथन पूर्वपक्षरूप से तीसरे अधिकार में है, उसका स्वरूप गोम्मटसार आदि ग्रन्थो मे निम्नप्रकार कहा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु॥

जो, जिससमय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह, उससमय, उससे, तैसे, उसके होता ही है। ऐसा नियम से सबके मानना, वह नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व है।

सोनगढसिद्धान्त मे इस नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व को ही क्रमबद्धपर्याय के नाम से कहा गया है। यदि सोनगढवाले नियतिवाद अर्थात् क्रमबद्ध-पर्याय का प्रतिपक्षी अनियतवाद अर्थात् क्रमअबद्धपर्याय को भी स्वीकार कर लेते तो एकान्तमिथ्यात्व का दूषण न आता, किन्तु सोनगढवाले तो सर्वथा नियतिवाद अर्थात् क्रमबद्धपर्याय को ही मानते हैं अतः उनकी क्रमबद्धपर्याय की मान्यता एकान्तमिथ्यात्व है, क्योकि मिथ्यामतियो का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव मे मिथ्या है और जैनों का वचन 'कथंचित्' कहा जाने से वास्तव मे सम्यक् है। कहा भी है—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहचि वयणादो ॥ प्रवचनसार

इसका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'सव्वपयत्था सप्पडिवक्खा' अर्थात् सर्व पदार्थ सप्रतिपक्ष उपलब्ध होते हैं।' ऐसे सिद्धान्त का उपदेश दिया है जैसा मुक्तपर्याय का प्रतिपक्ष ससारपर्याय है। अभव्यपर्याय का प्रतिपक्ष भव्यपर्याय है। ससारपर्याय के अभाव मे मुक्तपर्याय के अभाव का प्रसग आता है। भव्यो के अभाव मे अभव्यो के अभाव का प्रसग आता है।

"जेहि अदीदकाले कयाचि वि तसपरिणामो ण पत्तो ते तारिसा अणंता जीवा णियमा अत्थि, अण्णहा संसारे भव्व जीवाणमभावावत्तीदो। ण चाभावो, तदभावे अभव्वजीवाणं पि अभावावत्तीदो। ण च त पि, संसारीजमभावावत्तीदो। ण चेदं पि, तदभावे असंसारीणं पि अभावप्पसंगादो। संसारीणमभावे सते कथं असंसारीणमभावो? वुच्चदे, तं जहासंसारीणमभावे सते असंसारिणो वि णत्थि, सव्वस्स सप्पडिवक्खस्स उवलंभण्णहाणुववत्तीदो।

अर्थ—जिन्होने अतीतकाल मे कदाचित् भी त्रसपर्याय प्राप्त नही की है वैसे अनन्त जीव नियम से हैं, अन्यथा ससार मे भव्य जीवो का अभाव प्राप्त होता है, भव्यजीवों का अभाव है नहीं, क्योकि उनका अभाव होने पर अभव्यजीवो का भी अभाव प्राप्त होता है। अभव्यजीवो का भी अभाव नही है, क्योकि उनका अभाव होने पर ससारीजीवो का भी अभाव प्राप्त होता है। संसारीजीवो का भी अभाव नही है, क्योकि ससारीजीवो का अभाव होने पर मुक्तजीवो के अभाव का प्रसग आता है। ससारी जीवो का अभाव होने पर मुक्तजीव भी नहीं हो सकते, क्योकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा बन नही सकती।

सादिपर्याय की प्रतिपक्षी अनादिपर्याय है। सान्तपर्याय की प्रतिपक्षी अनन्तपर्याय है। सूक्ष्मपर्याय की प्रतिपक्षी बादरपर्याय है। प्रतिपक्षीपर्याय के अभाव मे विवक्षितपर्याय के भी अभाव का प्रसग आता है। धवल आगम मे कहा भी है—

"जदि सुहुमणामकम्मं ण होज्ज, तो सुहुमजीवाणमभावो होज्ज। ण च एवं, सप्पडिवक्खाभावे बादराण पि अभावप्पसगादो।"

यदि सूक्ष्मनामकर्म न हो तो सूक्ष्मपर्यायवाले जीवो का अभाव हो जायगा, किंतु ऐसा है नहीं, क्योकि बादरपर्याय की प्रतिपक्षी सूक्ष्मपर्याय के अभाव मे बादरपर्याय वाले जीवों के अभाव का भी प्रसग आता है।

यदि क्रमअबद्धपर्याय को स्वीकार न किया जायगा तो उसके अभाव मे, उसके प्रतिपक्षरूप क्रमबद्धपर्याय का भी अभाव हो जायगा और पर्याय का अभाव हो जाने पर द्रव्य का भी अभाव हो जायगा। द्रव्य के अभाव हो जाने पर सर्वशून्यवाद का प्रसग आ जायगा, किंतु ऐसा है नही, क्योकि प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

सोनगढ़ का जो सर्वथा क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत है वह एकांतमिथ्यात्व है, क्योंकि सोनगढ़वाले क्रम-अबद्धपर्याय को स्वीकार नहीं करते हैं।

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कार जीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः ॥

'स्यात्कार' जिसका जीवन है जो नयसमूह के दुर्निवार विरोध का नाश करनेवाली औषधि है ऐसी जैनी (जिनभगवान की) सिद्धान्तपद्धति जयवन्त हो।

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित 'ज्ञान स्वभाव-ज्ञेय स्वभाव' पुस्तक के पृष्ठ २८० पर लिखा है—

"जिसप्रकार जीने की सीढ़ियाँ क्रमवार होती हैं, उसीप्रकार आत्मा असंख्यप्रदेशों में फैला हुआ एक है। उसके क्षेत्र का प्रत्येक अंश सो प्रदेश है। संपूर्ण द्रव्य का अस्तित्व प्रवाहरूप से एक है। उस प्रवाह के प्रत्येकसमय का अंश सो परिणाम है। उन परिणामों का प्रवाहक्रम जीने की सीढ़ियों की तरह क्रमबद्ध है। उनका क्रम आगे पीछे नहीं होगा।"

पृ० २९२ पर लिखा है—"द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उलटा—सीधा करना चाहे तो नहीं हो सकता।"

पृ० २९४ पर लिखा है—"पूर्वपरिणाम का अभावरूप वर्तमानपरिणाम है, इसलिये पूर्व के संस्कार वर्तमान में नहीं आते और न पूर्व का विकार वर्तमान में आता है।"

प्रश्न यह है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों का कोई नियतक्रम है जो सुनिश्चित है ?

समाधान—पर्याय दो प्रकार की हैं। एक स्वपर-सापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष।

"पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥ १४ ॥" [नियमसार] जो पर्याय परनिरपेक्ष है वह स्वभाव पर्याय है। कहा भी है—

"अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो ॥ २८ ॥" [नियमसार] वह स्वभावपर्याय अगुरुलघुगुण में षट्स्थानपतित हानिवृद्धि के कारण होती है। कहा भी है—

अगुरुलहुगा अणंता, समयं समयं समुब्भवा जे वि।
दव्वाण ते भणिया, सहावगुणपज्जया जाण ॥ २२ ॥ [नयचक्र]

अनन्त अविभागप्रतिच्छेदवाले अगुरुलघुगुण में प्रतिसमय हानि या वृद्धिरूप पर्याय उत्पन्न होती रहती है। वे द्रव्य की स्वभावगुणपर्याय कही गई हैं।

"स्वभावगुणपर्याया अगुरुलघुकगुणषट्हानिवृद्धिरूपाः सर्वद्रव्य साधारणाः। [पं० का० गा० १६ टीका]

अगुरुलघुगुण में षट्हानि षट्वृद्धिरूप सर्वद्रव्यों में साधारण स्वभावगुणपर्याय है।

इस अगुरुलघुगुण में षट्हानिवृद्धि का सुनिश्चित नियतक्रम है। जैसे अंगुल के असंख्यातवेंभागबार अनन्तवें-भागवृद्धि होने पर एकबार असंख्यातवें भाग वृद्धि होती है। पुनः अंगुल के असंख्यातवेंभागबार अनन्तवेंभागवृद्धि होने पर एकबार असंख्यातवेंभागवृद्धि होती है। इसप्रकार पुनः पुनः असंख्यातवेंभागवृद्धि होते हुए जब अंगुल के असंख्यातवेंभागबार असंख्यातवेंभागवृद्धियाँ हो जाती हैं तब एकबार संख्यातवें भाग वृद्धि होती है। इत्यादि।

अगुरुलघुगुण मे हानि-वृद्धि का सुनिश्चित नियतक्रम होने के कारण स्वभावपर्यायों का भी सुनिश्चित नियत क्रम है, किन्तु ससार अवस्था मे कर्मपरतन्त्र-जीवों में उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव होने के कारण कर्मोदयकृत अगुरुलघुत्व है। अतः ससारी जीवो मे स्वाभाविक अगुरुलघुगुण के अभाव के कारण पर्यायो का भी सुनिश्चित नियतक्रम नही रहा। कहा भी है—

"ससारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा।" [धवल पु० ६ पृ० ५८]

"अनादिकर्मनोकर्मसम्बन्धानांकर्मोदयकृतागुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तो तु स्वभाविकमाविर्भवति।" [राजवार्तिक अ० ८ सूत्र ११ वार्तिक १२]

जीने की सीढियों का जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी विषम है, क्योंकि जीने की सीढियाँ सद्भावरूप हैं विद्यमान हैं, किन्तु द्रव्य मे आगामी पर्यायो का अभाव है, वे अविद्यमान हैं। यदि आगामी पर्यायो का प्रागभाव (प्राक्+अभाव) न माना जाय तो उनका उत्पाद सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि सद्भाव का उत्पाद नहीं होता है। कहा भी है—

जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति।
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व ॥ २४३ ॥
सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाई-लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥ [स्वा. का. अ.]

संस्कृत टीका—"अनादिनिधने अविनश्वरे पदार्थे कालादिलब्ध्या द्रव्यक्षेत्रकालभावलाभेन उत्पत्तिर्भवति उत्पादः स्यात्। किंभूतानाम् अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्तिः स्यात्।"

यदि द्रव्य मे पर्यायें विद्यमान होते हुए भी ढकी हुई हैं तो उनकी उत्पत्ति निष्फल है। जैसे वस्त्र से ढके हुए देवदत्त का वस्त्र के हट जाने पर देवदत्त का आविर्भाव तो होता है, किन्तु उत्पत्ति (उत्पाद) नहीं होती है, क्योंकि देवदत्त तो विद्यमान था ही। अतः अनादिनिधन द्रव्य मे बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के मिलने पर द्रव्य मे अविद्यमान असत्पर्यायो की उत्पत्ति अर्थात् उत्पाद होता है।

जीने की सीढियाँ विद्यमान सद्रूप हैं अतः उनमे क्रमबद्धता सभव है, किन्तु जो पर्यायें अविद्यमान-असद्रूप हैं और जिनकी उत्पत्ति बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो के लाभ पर निर्भर है उनमे क्रमबद्धता सभव नहीं हो सकती है।

यदि कहा जाय कि ज्ञान मे सर्व आगामी पर्यायें विद्यमान हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पर्यायें स्वय द्रव्य मे विद्यमान सत्रूप नही हैं वे ज्ञान मे भी विद्यमान सत्रूप नहीं हो सकती हैं, क्योंकि ज्ञान भूतार्थ का प्रकाश करनेवाला होता है।

"भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। अथवा सद्भावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्।" [धवल पु. १ पृ. १४२ व १४३]

भूतार्थ अर्थात् सत्रूप अर्थ का प्रकाश करनेवाला ज्ञान होता है। अथवा सद्भाव के विनिश्चय करनेवाले धर्म को ज्ञान कहते हैं।

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥ [र. क. श्रा.]

जो ज्ञान न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और सन्देहरहित जैसा का तैसा जानता है, शास्त्र के ज्ञाता पुरुष उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अतः जो पर्यायें द्रव्य में अविद्यमान-असत्रूप हैं वे सम्यग्ज्ञान में विद्यमान-सत्रूप नहीं हो सकती हैं।

जो भावी पर्यायें द्रव्य मे अविद्यमान असत्रूप हैं उनमे क्रमबद्धता नही हो सकती अर्थात् उनका नियतक्रम नहीं हो सकता है। इसीलिये दृष्टिवाद अंग मे नियतिवाद को एकान्तमिथ्यात्व कहा है। जब तक अनियति को भी स्वीकार नही किया जायगा उस समय तक नियतिवाद अथवा पर्यायो की क्रमबद्धता मे एकान्त मिथ्यात्व का दोष दूर नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 26-1-73/VIII & IX/ मुलतानसिंह

"क्रमबद्ध व नियत पर्याय" का सिद्धान्त आगम विरुद्ध है

शंका—श्री जयधवल टीका के आधार पर आपने यह लिखा और उसमें कि—'सर्वज्ञ अतीत-अनागतपर्यायों को अविद्यमान होने से उन्हे वर्तमानपर्याययुक्त द्रव्य के आधार से जानते हैं, क्योंकि भूत-भविष्यत्पर्यायों को अर्थपना नहीं है।' इससे यह बात सिद्ध की गई है कि सर्वज्ञज्ञान मे भूत-भविष्यत्पर्यायें चूंकि अभावात्मक होने से तद्रूप ही अर्थात् अभावात्मकरूप से ही ज्ञात होती हैं।

अगर वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक भूत-भविष्यत्पर्यायों का ज्ञान होता है तो यह ज्ञान तो ऐसा ही हुआ जैसे अवग्रह के ग्रहणपूर्वक ईहादिकज्ञान होते हैं तब यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष कैसे माना जायगा ?

श्री जयधवला में शक्तिरूप से माना है तो शक्तिरूप में तो उसका आकार नहीं होता है वे शक्तिरूप पर्यायें वर्तमान में व्यक्तरूप से नहीं झलक सकती हैं।

किन्तु श्री प्रवचनसार जो श्री महावीरजी से टीका सहित प्रकाशित हुआ है उसकी गाथा क्र० ३७ से लेकर केवलज्ञान में प्राप्त हुये ज्ञेयों का कथन इसप्रकार है कि—केवलज्ञान में अतीत-अनागत-पदार्थ वर्तमान की तरह प्रत्यक्षरूप से प्रतिभासित होते हैं, जैसे चित्रपट में चित्र प्रतिभासित होते हैं। तो चित्रपट में चित्रों का आकार होता है तभी वे प्रतिभासित होते हैं इसीप्रकार केवलज्ञान में भी भूत-भावीपर्यायों का आकार वर्तमान की भांति झलकता है, किन्तु श्रीजयधवल के अनुसार भूत-भावीपर्यायों का आकार ही जब बना नहीं फिर वे कैसे झलकते हैं और श्री प्रवचनसार के अनुसार अविद्यमानपदार्थ विद्यमान की तरह झलकते हैं इसका क्या मतलब है ?

विद्यमान की तरह झलकना तो यही हो सकता है जैसे विद्यमानपदार्थ का आकार बना हुआ है और वह केवलज्ञान में झलकता है। यदि ऐसा माना जावे तो भूत-भावीपर्यायें जो अनाकाररूप से हैं वे साकाररूप से कैसे ज्ञात होंगी ?

कृपया इसका ठीकप्रकार से स्पष्टीकरण करने का कष्ट करें ताकि शंका समाधान होकर हृदय स्वच्छ हो जाय।

समाधान—ज० ध० पु० १ पृ० २२ व २३ पर, श्री पं० कैलाशचन्द्रजी व श्री पं० फूलचन्द्रजी बनारस ने अनुवाद करते हुए, इस प्रकार लिखा है—

प्रश्न—यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूप से असत्पदार्थ में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खरविषाण मे भी उसकी प्रवृत्ति होओ ? उत्तर—नहीं, क्योंकि खरविषाण का जिसप्रकार वर्तमान मे सत्त्व नहीं पाया जाता है,

उसीप्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत्‌शक्तिरूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता है । अर्थात् जैसे वर्तमानपदार्थ मे उसकी अतीतपर्यायें, जो कि पहले हो चुकी हैं, भूतशक्तिरूप विद्यमान है और अनागतपर्यायें, जो कि आगे होनेवाली हैं, भविष्यत्‌शक्तिरूप से विद्यमान हैं, उसतरह खरविषाण—गधे के सीग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूतशक्तिरूपसे उसकी सत्ता किसी पदार्थ मे विद्यमान होती, अथवा वह आगे होनेवाला होता तो भविष्यत्‌शक्तिरूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ मे विद्यमान रहती, किन्तु खरविषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा । अतः उसमे केवलज्ञान को प्रवृत्ति नहीं होती है । प्रश्न—जबकि अर्थ मे भूतपर्यायें और भविष्यत्‌पर्यायें भी शक्ति रूपसे विद्यमान रहती हैं तो केवलवर्तमानपर्यायो को ही अर्थ क्यो कहा जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि 'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्यायों मे ही अर्थपना पाया जाता है । प्रश्न—यह व्युत्पत्त्यर्थ अनागत और अतीतपर्यायो मे भी समान है । अर्थात् जिसप्रकार ऊपर कही गई व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्यायों मे अर्थपना पाया जाता है उसीप्रकार अनागत और अतीतपर्यायो मे भी अर्थपना सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि अनागत और अतीतपर्यायो का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है ।

अर्थात् अतीत और अनागत–पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत्-शक्तिरूपसे वर्तमान अर्थ मे ही विद्यमान रहती हैं । अतः उनका ग्रहण वर्तमानअर्थ के ग्रहण-पूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हे अर्थ यह सज्ञा नहीं दी जा सकती है । अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षासे रहित है, इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय है । इसप्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना चाहिये ।"

"तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहण पूर्वकत्वात् ।" अर्थात् अनागत और अतीतपर्यायो का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है । इस वाक्य मे पूर्वका अर्थ निमित्त या कारण है, क्योंकि वर्तमानपर्याय बिना भूत शक्तिरूप भूतपर्यायो का और भाविशक्तिरूप भविष्यत्‌पर्यायों का ग्रहण नहीं हो सकता है । कहा भी है—

"पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम् ।" [स० सि० १।२०]

"मदिपुव्वं सुद, मदिणाणेण विणा सुदणाणुप्पत्तीए अणुवलंभादो ।" [ज० ध० पु० १ पृ० २४]

इनका भाव ऊपर कहा जा चुका है । भूत और भविष्यत्‌पर्यायें अविद्यमान हैं, ऐसा श्री स्वामिकार्तिकेय ने भी कहा है—

जदि दव्वे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा संति ।
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व ॥ २४३ ॥

संस्कृत टीका—अथ सांख्यादयः एवं वदन्ति । द्रव्ये जीवादिपदार्थे सर्वे पर्यायाः तिरोहिताः आच्छादिताः विद्यमानाः सन्ति, त एव जायन्ते उत्पद्यन्ते, सर्वं सर्वत्र विद्यते, इति तन्मतं समुत्पाद्य दूषयति । द्रव्ये जीवपुद्गलादिवस्तुनि पर्याया नरनारकादिकुण्ड्यादयः स्कन्धादयः परिणामा विद्यमानाः सद्रूपाः अस्तिरूपाः तिरोहिताः अन्तर्लीना अप्रादुर्भूताः सन्ति विद्यन्ते यदि चेत् तर्हि पर्यायाणामुत्पत्तिः उत्पादः निष्पत्तिः विफला निष्फला निरर्थका भवति । पटपिहिते देवदत्ते इव, यथा वस्त्राच्छादिते देवदत्ते तस्य देवदत्तस्य वस्त्रे उत्पत्तिर्न घटते यथा तथा सर्वे नरनारककुण्ड्यादयः पदार्थाः प्रकृतौ लीनाः तर्हि अंगुल्यग्रे हस्तिशतयूथं कथं न जायते इति दूषणसद्भावात् अविद्यमानाः पर्यायाः जायन्ते ॥ २४३ ॥

सव्वाण पज्जयाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती।
कालाई लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥

संस्कृत टीका—सर्वेषां पर्यायाणां नरनारकादिपुद्गलादीनां द्रव्ये जीवादिवस्तुनि। किंभूते? अनादिनिधने अविनश्वरे पदार्थे कालादिलब्ध्या द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलाभेन उत्पत्तिर्भवति उत्पाद: स्यात्। किं भूतानाम्? अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्तिः स्यात्। यथा विद्यमाने मृद्द्रव्ये घटोत्पत्त्युचितकाले कुम्भकारादौ सत्येव घटादयः पर्याया जायन्ते तथा ॥ २४४ ॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे उपर्युक्त दो गाथाओ तथा उन पर संस्कृत टीका के द्वारा यह बतलाया गया है कि जैसे वस्त्र से ढका हुआ देवदत्त अथवा पर्दे के पीछे बैठा हुआ देवदत्त वस्त्र या पर्दे के हटते ही प्रकट हो जाता है यदि उसीप्रकार द्रव्य मे पर्यायें विद्यमान होते हुए भी ढकी हुई हैं तो उत्पाद अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति निष्फल है, क्योंकि पर्दे के पीछे जिसप्रकार देवदत्त पहिले से ही विद्यमान था, इसीतरह सांख्यमतानुसार यदि द्रव्य मे पर्याय पहले से ही विद्यमान है और पीछे प्रकट हो जाती है तो उसकी उत्पत्ति कहना उचित नहीं है। उत्पत्ति तो अविद्यमान को ही होती है। अतः अविनश्वर अनादिनिधन द्रव्य मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव के मिलने पर द्रव्य मे अविद्यमान अर्थात् असत्पर्याय की उत्पत्ति होती है। उचित काल तथा कुम्हार आदि के द्वारा ही विद्यमान मिट्टी में असत्रूप घट आदि पर्याय की उत्पत्ति होती है। मिट्टी के पिंड घट, शिकोरा, गिलास आदि पर्यायें शक्तिरूप से हैं अर्थात् मिट्टी के पिंड मे घट शिकोरा गिलासआदिरूप परिणमन करने की नानाशक्तियाँ विद्यमान हैं। वर्तमानपर्याय सहित द्रव्य और उसमे पडी हुई नानाशक्तियाँ ही सम्यग्ज्ञान का विषय हो सकती हैं। अविद्यमानपर्याय अर्थात् असत्रूप पर्याय का विद्यमान या सत्रूपसे ग्रहण नही हो सकता है। जो ज्ञान अविद्यमान को विद्यमानरूपसे, असत् को सत्रूपसे जानता है वह सम्यग्ज्ञान नही हो सकता है, क्योंकि जैसा पदार्थ था वैसा नहीं जाना, अन्यथा जाना है।

"सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः।" [आलापपद्धति]

सदा साथ मे रहनेवाले गुण हैं और क्रम-क्रम से होनेवाली पर्यायें है। पर्याय के इस लक्षण से भी स्पष्ट है कि द्रव्य मे भूत और भाविपर्यायें विद्यमानरूप से या सद्भावरूप से नहीं रहती हैं। भूतपर्यायों का प्रध्वंसाभाव है और भाविपर्यायो का प्रागभाव है। इसप्रकार द्रव्य मे भूत और भावि दोनो पर्यायो का अभाव है। इस वस्तुस्थिति को ध्यान मे रखते हुए प्रवचनसार की गाथाओं का अर्थ करना चाहिये।

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीण ॥ ३७ ॥ [प्रवचनसार]

उन समस्त द्रव्यो की सद्भूत और असद्भूत सर्वपर्यायें, वर्तमानपर्याय के समान, विशेषरूप से ज्ञान मे वर्तती हैं।

इस गाथा मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दो प्रकार की पर्यायों का उल्लेख किया है। (१) सद्भूत अर्थात् वर्तमानपर्याय, (२) असद्भूतपर्यायें अर्थात् भूत व भाविपर्यायें। ये दोनों प्रकार की पर्यायें, वर्तमानपर्याय के समान, ज्ञान में वर्तती हैं। अर्थात् असद्भूतपर्यायों के लिये वर्तमानपर्याय की उपमा दी है। उपमा और उपमेय मे एकदेश सदृशता होती है, सर्वथा सदृशता नहीं होती। यदि सर्वथा सदृशता हो जाय तो उपमा और उपमेय ऐसे दो भेद नहीं हो सकते हैं।

जिसप्रकार वर्तमानपर्याय को, इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना, केवलज्ञान जानता है, उसीप्रकार इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना असद्‌भूतपर्यायों को भी जानता है। इतनी सदृशता की अपेक्षा 'तत्कालिगेव' वर्तमानपर्याय 'इव' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि केवलज्ञान (सम्यग्ज्ञान) जिस-प्रकार वर्तमानपर्याय को सद्‌भूतरूपसे जानता है, उसी प्रकार असद्‌भूत (भूत-भावि) पर्यायोंको भी सद्‌भूतरूपसे जानता है। यदि ऐसा अर्थ किया जायगा तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं रहेगा, क्योंकि जैसा पदार्थ है उसको वैसा ही जाने वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। कहा भी है—

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥ [र० क० श्रा०]

जो न्यूनतारहित अधिकतारहित विपरीततारहित और सन्देहरहित जैसा का तैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान है, ऐसा शास्त्रों के ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

प्रवचनसार गाथा ३७ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पर्यायों के छह विशेषण दिये हैं (१) जितने तीनकाल के समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, (२) वे पर्यायें क्रमसे उत्पन्न होती हैं, (३) वे पर्यायें सद्‌भूत-असद्‌भूत के भेद से दो प्रकार की हैं, (४) वे दोनोंप्रकार की पर्यायें अत्यन्त मिश्रित हैं (५) किन्तु विशेष (भिन्न-भिन्न) लक्षण को धारण किये हुये हैं, (६) वर्तमानपर्याय इव (के समान) एक समय में ही ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती है अर्थात् जानी जाती हैं।

प्रथम विशेषण है—"जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।" तीनकाल अर्थात् भूत—वर्तमान—भावि—काल के समय हैं प्रत्येक द्रव्य की उतनी पर्यायें हैं। भूतकाल के समय अनादि-सान्त हैं अतः भूतकाल की पर्यायें भी अनादि-सान्त हैं। केवलज्ञान भी भूतकाल की पर्यायों को अनादि—सान्तरूप से जानता है, क्योंकि केवली ने भूतकाल के अनादित्व का उपदेश दिया है। भूतकाल की पर्यायों को प्रवाहरूप से अनादिरूप जानना ही सर्व भूतपर्यायों को जानना है। भूतकाल को या भूतपर्यायों को सादिरूप जानना तो अन्यथा जानना है। वर्तमानकाल सादि-सान्त है अतः वर्तमानपर्याय भी सादि-सान्त है। भाविकाल सादि अनन्त है अतः भाविपर्यायें भी सादि-अनन्त हैं। केवलज्ञान भी भाविपर्यायों को सादि—अनन्तरूप से जानता है। यदि सान्तरूप जाने तो अन्यथा जानना हो जावे।

दूसरा विशेषण है—"वे पर्यायें क्रमसे उत्पन्न होती हैं" अर्थात् जिसप्रकार समस्तगुण एकद्रव्य में एकसाथ रहते हैं उसीप्रकार समस्तपर्यायें या एकसे अधिक द्रव्यपर्यायें एकसाथ एक द्रव्य में नहीं रहती हैं। उन पर्यायों में से पूर्व—पूर्व पर्याय व्यय (नष्ट) होती रहती है और उत्तर—उत्तर पर्याय उत्पन्न होती रहती है। एक द्रव्य में एक-समय में एक ही द्रव्यपर्याय रहती है। केवलज्ञान भी पर्यायों को इसीप्रकार जानता है।

तीसरा विशेषण है—"वे पर्यायें सद्‌भूत व असद्‌भूत के भेद से दो प्रकार की हैं। अर्थात वर्तमानपर्याय सद्‌भूत है और भूत व भाविपर्यायें असद्‌भूत हैं।

चौथा विशेषण है—"सद्‌भूत पर्याय और असद्‌भूतपर्यायें अत्यन्त मिश्रित हैं।" वर्तमानपर्याय, जो सद्‌भूत है, उस वर्तमानपर्याय में ही असद्‌भूत-भूतपर्यायें भूतशक्तिरूपसे पड़ी हुई हैं और असद्‌भूतभाविपर्यायें भी भविष्यत्-शक्तिरूपसे उस वर्तमानपर्याय में पड़ी हुई हैं। एक ही सद्‌भूत वर्तमानपर्याय में असद्‌भूतपर्यायें शक्तिरूप से होने के कारण सद्‌भूतपर्याय और असद्‌भूतपर्यायों को अत्यन्त मिश्रित कहा है।

पाँचवाँ विशेषण है—"वे सद्भूत और असद्भूतपर्यायें विशेष लक्षण को अर्थात् भिन्न-भिन्न लक्षण को धारण किये हुए हैं।" अर्थात् वर्तमानपर्याय सद्भूत होने से व्यक्तलक्षण को धारण किये हुए है। भूत व भाविपर्यायें असद्भूत होने से शक्तिलक्षण को धारण किये हुए हैं।

छठा विशेषण है—"वर्तमान पर्यायवत् एकसमय में ही ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती है।" जिसप्रकार इन्द्रियादि की सहायता बिना सद्भूत वर्तमानपर्याय ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं, उसीप्रकार इन्द्रियादि की सहायताबिना भूत और भाविअसद्भूतपर्यायें भी, जो कि वर्तमानपर्याय मे भूतशक्तिरूप और भविष्यत् शक्तिरूप से पड़ी हुई हैं, वर्तमानपर्याय के साथ-साथ ज्ञानमन्दिर मे स्थिति को प्राप्त होती हैं। 'इव' शब्द से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सद्भूतपर्याय असद्भूत नही होजाती या असद्भूतपर्यायें सद्भूत नहीं हो जाती हैं। जो पर्याय जिसरूप है वह उसीरूप रहती है और वे पर्यायें अपने-अपने स्वरूप से ही ज्ञानमन्दिर मे स्थिति को प्राप्त होती हैं अन्यस्वरूप से नहीं।

सद्भूत और असद्भूतपर्यायो का ज्ञानमन्दिर मे स्थिति को प्राप्त होना अयुक्त नहीं है, उसके लिये श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तीन दृष्टान्त दिये हैं (१) छद्मस्थ का ज्ञान, (२) चित्रपट (३) आलेख्याकार।

(१) छद्मस्थ अपने स्मृतिरूप परोक्षज्ञान के द्वारा असद्भूत भूतपर्यायों के आकारों का चिंतवन कर सकता है अथवा अनुमान परोक्षज्ञान के द्वारा भूत तथा भाविपर्यायो के आकार चिंतवन कर सकता है। क्या केवलज्ञान भी इसीप्रकार चिंतवन द्वारा भूत और भावि असद्भूतपर्यायो को जानता है? केवलज्ञान निर्विकल्प और सकलप्रत्यक्ष है। छद्मस्थ का मति–श्रुतज्ञान सविकल्प और परोक्ष है। कहा भी है—

"सविकल्प मानस तच्चतुर्विधम्, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम्। निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानमिति प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः।" [आलापपद्धति]

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय मे चारो ज्ञान सविकल्प हैं और केवल-ज्ञान निर्विकल्प है।

जिसप्रकार केवलज्ञानियो के सुख को समझाने के लिये यह कहा जाता है कि समस्त छद्मस्थजीवों के तीन काल के सुख को एकत्रित कर लिया जाय, वह सुख जितना हो उससे भी अनन्तगुणा सुख एकक्षण मे केवलज्ञानी को है। छद्मस्थ का सुख इन्द्रियजनित है और केवलज्ञानियों का सुख अतीन्द्रिय है। दोनों सुखों की जाति भिन्न है। इन्द्रियजनित वास्तव में सुख नहीं सुखाभास है। इसीप्रकार छद्मस्थ का ज्ञान क्षायोपशमिक है सविकल्प है, किन्तु केवलज्ञान क्षायिक है और निर्विकल्प है। दोनो की जाति भिन्न है। क्षायिक-निर्विकल्पकेवलज्ञान भूत और भावि असद्भूतपर्यायों को जानता है, इसको समझने के लिये सविकल्प क्षायोपशमिकज्ञान का दृष्टान्त दिया है। दोनों के जानने में महान् अन्तर है।

दूसरा दृष्टान्त चित्रपट का दिया गया है। चित्रपट मूर्तीक है, जड़ है उसपर चित्र बन सकता है। क्या अमूर्तिक चैतन्यमयी ज्ञान पर भी चित्र अर्थात् ज्ञेय का आकार बनता है? मूलाराधना में निम्नप्रकार कहा है—

"विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि स्याद् रूपरसगन्धस्पर्शात्मकतास्यात्तथा च-'अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणा-गुणमसद्दं।' इत्यनेन विरोधः। विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकस्य युज्यते। एकदा आकारद्वय संवेदनप्रसंगश्च। बाह्यस्यैकनीलादिविज्ञानगतमपरं।"

यदि ज्ञान विषय (ज्ञेय) के आकार से परिणमेगा तो वह स्पर्श, रस, गंध, वर्णात्मक होगा, ऐसी अवस्था हो जाने पर, समयसार में जो यह कहा गया है कि 'आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अस्पर्श है, अमूर्तिक है,

अशक्य है, चेतनागुणयुक्त है' उससे विरोध हो जायगा। तथा एकपदार्थ में विरुद्ध ऐसे नील व पीत परिणाम नहीं रह सकते हैं। एकसमय मे दो आकारो के अनुभव का प्रसग आवेगा अर्थात् एक बाह्यपदार्थ (ज्ञेय) का आकार और दूसरा ज्ञानाकार ऐसे दो आकारो के सवेदन का प्रसंग आवेगा।

चित्रपट पर जो चित्र है वह चित्रपट की वर्तमानपर्याय है उसको देखकर परोक्षरूपसदृशप्रत्यभिज्ञान के द्वारा उस जैसे आकारवाली अन्यपर्याय का ज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान सदृशप्रत्यभिज्ञानरूप नहीं है। प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियजनित क्षायोपशमिकज्ञान है और केवलज्ञान अतीन्द्रिय क्षायिकज्ञान है। दोनो ज्ञानो मे महान अन्तर है। केवलज्ञान असद्भूतरूप भूत और भाविपर्यायो को जानता है, मात्र इतना समझाने के लिये चित्रपट का दृष्टान्त दिया गया है।

तीसरा दृष्टान्त आलेख्याकार का है। वर्तमानरूप आलेख्याकार वर्तमान है, किन्तु नष्ट और अनुत्पन्न आलेख्याकार तो वर्तमान नहीं है। वर्तमान आलेख्याकार को देखकर सदृशता के कारण उस आकारवाली अन्य पर्यायो के मात्र आकार का प्रत्यभिज्ञान हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान केवलज्ञानरूप नहीं है। वर्तमानपर्याय को देखकर भूतशक्तिरूप से भूतपर्याय का और भविष्यत्शक्तिरूप से भाविपर्याय का ज्ञान हो सकता है, क्योकि वर्तमान-पर्याय मे उसप्रकार की शक्तियाँ पडी हुई हैं।

प्रवचनसार गाथा ३८ इसप्रकार है—

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाण पच्चक्खा॥ ३८॥

अर्थ—जो पर्यायें वास्तव मे उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो पर्यायें वास्तव मे उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं वे असद्भूतपर्यायें हैं। वे पर्यायें ज्ञान मे प्रत्यक्ष होती हैं अर्थात् ज्ञान उनको प्रत्यक्षरूप से जानता है।

प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् इन्द्रियआदि की सहायता के बिना जानता है।

संस्कृत टीका मे जो 'सद्भूता एव भवन्ति' वाक्य है उसका अर्थ होता है कि वे व्यक्तरूप से असद्भूतपर्यायें शक्तिरूप से सद्भूत ही हैं। यदि शक्तिरूप से भी सद्भूत न हो तो अनुकूल सामग्री मिलने पर भी उनकी व्यक्तता नहीं हो सकती है जैसे रेत मे घटपर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है, कुम्भकार आदि अनुकूल सामग्री मिल जाने पर भी रेत मे घटपर्याय व्यक्त नहीं हो सकती है। यदि मृतिकापिण्ड मे भाविघटपर्याय का व्यक्तरूप से सद्भाव मान लिया जाय तो कुम्भकार को घटानुकूल व्यापार करने की कोई आवश्यकता न रहेगी। तथा एक ही समय मे पिण्डरूप और घटरूप दो द्रव्यपर्यायो के सद्भाव का प्रसग आ जायगा और 'क्रमवर्तिनः पर्यायाः' इस आर्ष वाक्य से विरोध आ जायगा।

प्रवचनसार गाथा ३९ इस प्रकार है—

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति॥ ३९॥

अर्थ—जो अनुत्पन्नपर्यायें अर्थात् भाविपर्याय तथा नष्टपर्यायें तथा भूतपर्यायें केवलज्ञान के प्रत्यक्ष न हो अर्थात् केवलज्ञान उन पर्यायो को प्रत्यक्षरूप से न जाने तो वह ज्ञान दिव्य है ऐसा कौन कहेगा?

जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से जानता है वह दिव्यज्ञान नहीं हो सकता। केवलज्ञान दिव्यज्ञान है इसीलिये यह कहा गया है कि वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना जानता है।

यदि भूत और भावि को भी सद्भावरूप माना जाय तो निम्न दोष आते हैं—

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ।। १० ।। [देवागम]

अर्थ—प्रागभाव का आलाप होने पर कार्यरूप द्रव्य के अनादि हो जाने का प्रसंग आता है तथा प्रध्वंसरूप धर्म का (प्रध्वंसाभाव का) अभाव होने पर वह अनन्तता (अविनश्वरता) को प्राप्त हो जायगा।

विशेषार्थ—कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व में जो उसकार्य की अविद्यमानता है, उसे प्रागभाव (प्राक्+अभाव) कहा जाता है। इस अभाव को न मानने पर घटपटादि कार्य (पर्यायें) अपने स्वरूपलाभ (उत्पत्ति) के पूर्व में भी विद्यमान (सद्भाव) ही रहना चाहिये। इसप्रकार प्रागभाव (प्राक्+अभाव) के अभाव में घटादि कार्यों (पर्यायों) के अनादि हो जाने का अनिष्ट प्रसंग आता है। कार्य (पर्याय) के विनाश का नाम प्रध्वंसाभाव (प्रध्वंस+अभाव) है। इस अभाव को स्वीकार न करने पर चूंकि घटादि कार्यों (पर्यायों) का उत्पन्न होने के पश्चात् कभी विनाश तो होगा ही नहीं, अतएव उन (पर्यायों) के अनन्त (अन्तरहित) हो जाने का प्रसग आता है, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि घटादि पर्याय-विशेषों का अपनी उत्पत्ति के पूर्व में और विनाश के पश्चात् उन-उन आकार विशेषों में अवस्थान देखा नहीं जाता। [ध० पु० १५ पृ० २९]

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य में भूतपर्यायों (और भविष्यत्पर्यायों का सद्भाव नहीं होता। तब केवली असद्भूत को जान भी कैसे सकते ?)[१]

—जै. ग. 1/8-3-73/ चन्दनमल गांधी

"क्रमबद्ध-नियतपर्याय" सिद्धान्त आगम से प्रतिकूल है।
द्रव्य की भाविपर्याय नियत (निश्चित) नहीं होती।

शंका—श्लोकवार्तिक पु० ४ पृ० ७४ पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में केवली को त्रिकालज्ञ माना गया है सो किसप्रकार ?

समाधान—मात्र केवलज्ञान ही नहीं, किन्तु प्रत्येकज्ञान त्रैकालज्ञ है, क्योंकि ज्ञान का लक्षण निम्नप्रकार कहा गया है—

जाणइ तिकाल सहिए, दव्व-गुणे-पज्जए य बहु भेए।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण, णाणे त्ति णं बेंति ।। ९१ ।। [ध. पु. १ पृ. १४४]

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेकप्रकार की पर्यायों को प्रत्यक्ष (इन्द्रियादि की सहायता के बिना) और परोक्ष (इन्द्रियादि की सहायता से) जाने वह ज्ञान है।

१. कोष्ठकस्थोऽयं पाठः समाधातुः अग्यलेखस्य भावानुसारेण संलग्नीकृतः। सं०

मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन की सहचरता के कारण ज्ञानके भी मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान ऐसे दो भेद हो गये हैं। सम्यग्ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए श्री समंतभद्राचार्य ने कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं, बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ ४२ ॥ [र. क. श्रा.]

जो न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और संदेहरहित तथा जैसा का तैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान है।

सर्वज्ञदेव केवलीभगवान ने द्रव्य का लक्षण सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा गुण, पर्यायवाला कहा है।

दव्वं सल्लक्खणयं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा, जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ १० ॥ [पंचास्तिकाय]

सर्वज्ञदेव ने द्रव्य को सत् लक्षणवाला, उत्पाद व्यय ध्रौव्य से संयुक्त अथवा जो गुण-पर्यायों का आश्रय आधारस्वरूप कहा है। इसीप्रकार मोक्षशास्त्र में भी कहा गया है—

संस्कृत टीका—"पूर्वभावविनाशः समुच्छेदः"

"सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥
गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥" [मोक्षशास्त्र]

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहि सहिदो, संसरमाणो कुणदि जीवो ॥ २१ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका—

सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावाभावकर्तृत्वमुपपादितं। तस्यैव चासतः पुनर्मनुष्यादिपर्यायस्योत्पादमारभमाणस्या भावभाव कर्तृत्वमभिहितं।"

एवं सदो विणासो असदो, जीवस्स होइ उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं, अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥ ५४ ॥ [पंचास्तिकाय]

इसप्रकार केवलीभगवान जिनेन्द्रदेव ने यह कहा कि पर्यायार्थिकनय से सत्पर्याय का विनाश होता है और असत्पर्याय का उत्पाद होता है, द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य का न उत्पाद है और न व्यय है क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है और पर्यायार्थिक की अपेक्षा अनित्य है। अतः द्रव्य नित्यानित्यात्मक है।

कुछ की ऐसी मान्यता है कि असत्पर्याय का उत्पाद नहीं होता और न सत्पर्याय का व्यय होता है ऐसी मान्यतावाले जैनधर्म अर्थात् अर्हंत के मतसे बाह्य है, क्योंकि, यदि पर्याय का अपने उत्पाद से पूर्व उस पर्यायरूप से सद्भाव था तो वह घट व शब्दादि पर्याय अनादि ठहरती है, सो है नहीं। यदि विवक्षितपर्याय का उस पर्यायरूप से विनाश न माना जाय तो घट व शब्द आदि पर्याय के अविनाशिताका प्रसंग आता है सो है नहीं, क्योंकि घट व शब्द आदि पर्याय का घटरूप से तथा शब्दरूप से विनाश पाया जाता है। कहा भी है—

कार्य-द्रव्यमनादि, स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य, प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ [अष्टसहस्री पृ० ९७]

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है ।

यदि सांख्यमतावलम्बी की तरह द्रव्य में अतीत अनागतवर्तमान सबपर्यायों का सद्भाव मान लिया जाय तो व्यय व उत्पाद कहना निरर्थक हो जायगा । उत्पाद-व्यय के अभाव में द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि लक्षण के अभाव में लक्ष्य का सद्भाव नहीं हो सकता । अतः अविद्यमानपर्याय का उत्पाद होता है, विद्यमान पर्याय तो पहले से ही विद्यमान थी उसका उत्पाद संभव नहीं है, श्री स्वामिकार्तिकेय आचार्य ने कहा भी है—

जदि दव्वे पज्जाया वि, विज्जमाणा तिरोहिदा संति ।
ता उप्पत्ती विहला पडिपिहिदे, देवदत्तो व्व ॥ २४३ ॥
सव्वाण पज्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती ।
कालाईं लद्धीए अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥ [स्वा का. अ.]

इन आर्षवाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि अतीत व अनागतपर्यायें अनादिनिधन द्रव्यमें वर्तमानपर्याय के समान विद्यमान, सद्रूप या अस्तित्वरूप से नहीं है । किन्तु वर्तमानपर्यायसहित अनादिनिधन द्रव्य में शक्तिरूप से पड़ी हुई हैं । शक्ति की व्यक्ति निमित्तानुसार होती है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

रागो पसत्थभूदो, वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह, बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २५५ ॥ [प्रवचनसार]

श्रीजयसेनाचार्य कृत टीका—"नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाले इव जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभूमिविशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति ।"

श्रीअमृतचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका—यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं, कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यम्भावित्वात् ।

एक ही बीज होने पर भी नानाभूमियों के कारण उसके फल में विभिन्नता आ जाती है । उत्तमभूमि में उस बीज से उत्तमफल उत्पन्न होगा, मध्यमभूमि में उसी बीज से मध्यमफल उत्पन्न होगा, जघन्यभूमि में उसी बीज से जघन्यफलरूप पर्याय उत्पन्न होगी । बंजर खराब भूमि में वही बीज खराब हो जायगा, उससे कोई फल उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि निमित्तकारण की विशेषता से पर्यायरूप कार्य में विशेषता होना अवश्यंभावी है ।

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही बीज अथवा पदार्थ में नाना-नाना आगामी पर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति है । वह बीज या पदार्थ किस पर्यायरूप परिणमन करेगा यह निश्चित नहीं है क्योंकि यह भूमि आदि निमित्तकारणों पर निर्भर है । इसी बात को दूसरे दृष्टान्त द्वारा प्रवचनसार की टीका में सिद्ध किया गया है—

"यथाग्निसंयोगाज्जलस्य शीतलगुणविनाशोभवति तथा व्यावहारिक जनसंसर्गात् संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्त्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाश्रयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहित-शीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गात् गुणरक्षा भवति । यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादि

शीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः।"

जिसप्रकार अग्नि के निमित्त से जल का शीतलगुण नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार लौकिकजन के संसर्ग से संयमी का संयमगुण नष्ट हो जाता है। यदि उसी जल को शीतल भाजन मे मकान के शीतल कोने मे रख दिया जाय तो उस जलका शीतलगुण ज्यो का त्यो बना रहता है। यदि उसी जल को मकान के कोने मे कपूर आदि शीतल पदार्थ निक्षिप्त करके रख दिया जाये तो जल के शीतलगुण मे वृद्धि हो जायगी।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि एक ही जल मे उष्णरूप, ज्यो का त्यो शीतलरूप तथा अधिक शीतलरूप परिणमन करने की शक्ति है। यह निश्चित नहीं कि इन तीनपर्यायो मे से कोनसी पर्यायरूप जल का आगामी परिणमन होगा। जिसप्रकार के पदार्थ का ससर्ग हो जायगा वैसा ही जल का आगामी परिणमन हो जायगा।

इन दोनो दृष्टान्तो से स्पष्ट हो जाता है कि बीज व जलादि पदार्थों की आगामी पर्याय निश्चित नहीं है, जैसा कारण मिलेगा वैसी पर्याय उत्पन्न हो जायगी, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है जिसको श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार गाथा २५५ व २७० मे लिपिबद्ध किया है। इतना ही नही, यदि आगामी शक्तिरूप पर्याय के अनुकूल बाह्यसामग्री न मिले तो वह शक्तिरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होगी।

श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—"स्वपर-प्रत्ययो उत्पादविगमो येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः। के पुनस्ते ? पर्यायाः। द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः परः प्रत्ययः तस्मिन् सत्यपि स्वयमतत्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरम् आस्कन्दति इति। तत्समर्थः स्वश्च प्रत्ययः। तावुभौ संभूय भावानाम् उत्पादविगमयोर्हेतु भवतः नान्यतरापाये कुशूलस्थमाषा—पच्यमानोदकस्थघोटकमाषवत्।"

स्व और पर कारणो से होनेवाली उत्पाद और व्ययरूप पर्यायें हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप बाह्य-प्रत्यय हैं अर्थात् परकारण हैं। तथा उसरूप परिणमन करने की अपनी शक्ति स्वकारण है। बाह्य कारणो के रहने पर भी यदि उस पर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति न हो तो वह पर्याय उत्पन्न नही होगी। यदि उस पर्यायरूप परिणमन करने की अपने मे शक्ति हो, किन्तु उस पर्याय के अनुकूल बाह्यद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न हो तो वह पर्याय उत्पन्न नही होगी। स्व और पर दोनो कारणो के मिलने पर ही पर्याय उत्पन्न होती है, किसी एक कारण के अभाव मे पर्याय उत्पन्न नहीं होती। जैसे पकने की शक्ति रखनेवाला उडद यदि बोरे मे पड़ा हुआ है तो शक्ति होते हुए भी पकनेरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होगी, क्योकि बटलोई आदि बाह्य (पर) कारणो का अभाव है। न पकने-वाले उडद को यदि बटलोई मे उबलते हुए पानी मे भी डाल दिया जाय तो भी पकनेरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होगी, क्योकि स्वशक्ति का अभाव है इससे स्पष्ट है कि शक्तिरूप पर्याय का उत्पाद होना निश्चित नही है।

जब केवली भगवान ने यह उपदेश दिया है कि द्रव्य में आगामी पर्याय असत्-अविद्यमान, प्रागभाव और अनिश्चितरूप से है, तब यह कहना कि केवलीभगवान आगामी पर्याय को सत्, विद्यमान, सद्भाव व निश्चितरूप से जानते हैं; क्या केवली अवर्णवाद नहीं है ? केवलीभगवान जिसरूप से पदार्थ, पर्याय, गुण को जानते हैं, क्या उसरूप से उपदेश नहीं देते अर्थात् क्या केवली अन्यथावादी हैं ?

केवलीभगवान तीनोंकाल की पर्यायों को जानते हैं, किन्तु जो पर्याय जिसरूप से है, उसरूप से जानते हैं और उसीरूप से उसका उपदेश दिया है। जो पर्याय सद्रूप विद्यमान है उनको उसरूप से जानते हैं और उसीरूप से उपदेश दिया है। जो पर्याय असद्रूप हैं अविद्यमान हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभावरूप हैं उनको असत्, अविद्यमान

और प्रागभाव-प्रध्वसाभावरूप से जानते हैं, अन्यथा नहीं जानते क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानी हैं, और न अन्यथा उपदेश दिया है, क्योंकि वे वीतराग-सर्वज्ञ हैं।

सर्व आचार्यों ने केवलज्ञानी को त्रिकालज्ञ कहा है, किन्तु किसी भी आचार्य ने उनको अन्यथा ज्ञाता या अन्यथावादी नहीं कहा है।

असत्, अविद्यमान, प्रागभाव, प्रध्वंसाभावरूप पर्यायों को उसीरूप से जानने मे सर्वज्ञता की हानि भी नहीं होती है। जैसे कि असख्यात को असंख्यातरूप और अनन्त को अनन्तरूप जानने मे सर्वज्ञता की हानि नहीं होती, क्योंकि सर्वज्ञ अन्यथा ज्ञाता नहीं हैं। वे तो यथार्थ ज्ञाता हैं।

यथाअनन्तमनन्तात्मनोपलभमानस्य न सर्वज्ञत्व हीयते तथा असंख्येयमसंख्येयात्मनाऽवबुध्यमानस्य नास्ति सर्वज्ञत्वहानिः। न हि अन्यथाऽवस्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात्।" [राजवार्तिक] इसका भाव ऊपर आ चुका है।

—जै ग 6-3-75/ / ज्ञानसभा

मन:पर्यय ज्ञानी भूत भविष्य को कैसे जानता है?

शंका—क्या मन:पर्ययज्ञानी जो कि हमारे ८-९ भव जानता है तथा उन आठ भवों में एक भव यदि लोकान्तस्थ निगोद का है तो क्या उस भव को मन: पर्ययज्ञानी नहीं जानता? यदि नहीं तो जघन्य से ८-९ भव विपुलमति मन:पर्ययज्ञानी जानता है, यह बात गलत ठहरती है। तथा 'हां' कहा जाता है तो "विचार्यमाण पदार्थ मन:पर्यय की प्रभा से अवष्टब्ध क्षेत्र के भीतर हो तो जाना जायगा" (धवला १३।३४४) यह उपदेश गलत ठहरता है। कृपया स्पष्ट करें।

समाधान—मन:पर्ययज्ञानी ७-८ भव जानता है इसके द्वारा काल का ज्ञान कराया गया है। इतने काल के अन्दर वर्तन करने वाले द्रव्यो को जानता है। जिनका प्रागभाव या प्रध्वसाभाव है उन अभावात्मक भवों को मन:पर्ययज्ञानी कैसे जान सकता है? वर्तमान पर्याय का ही द्रव्य के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है न कि भूत या भावी पर्यायो का। वर्तमानपर्याय मे जो भूतपर्यायें या भावीपर्यायें शक्तिरूप से विद्यमान हैं वे पर्यायें शक्तिरूप से जानी जा सकती हैं। श्रुतज्ञान सविकल्प है अतः वह नैगमनय से निमित्तज्ञानादि द्वारा असत् पर्यायो को भी जान लेता है; जैसे-एक बीज है, यदि उसे उत्तमभूमि मे बो दिया जावे तो उत्तम फल लगेगा और जघन्यभूमि मे बो दिया जाए तो जघन्यफल लगेगा। अतः उस बीज की पर्याय निमित्ताधीन होने के कारण अनिश्चित है उसको मन:पर्ययज्ञानी किस रूप से जानेगा? गाथा का शब्दार्थ भिन्नप्रकार का होता है और परमार्थ भिन्न प्रकार का होता है। धवल पुस्तक ७ मे चक्षुदर्शन के प्रकरण मे यह स्पष्ट किया है।

—पत्र 1-3-80/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

※ "नियतिवाद का कालकूट ईश्वरवाद से भी भयंकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है। पर नियतिवाद अभेद्य है, आश्चर्य यह है कि इसे अनन्त पुरुषार्थ का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जाता है। ईश्वरवादी साँप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवाद कालकूट का, इस भीषण दृष्टिविष का कोई उपाय नहीं, क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।"

—तत्त्वार्थवृत्ति भूमिका पृ० ४८ से ५०; प्रो० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य

※ ※ ※

※ "जिस समय जो पर्यायें आने वाली हैं, उनमें फेर-बदल नहीं हो सकता।" इसे मैं उनकी (कानजी स्वामी की) भ्रमबुद्धि का परिणाम मानता हूँ।"

—'पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी' पृ० १६; पं० बंशीधर शास्त्री, व्याकरणाचार्य

※ ※ ※

※ "क्रमबद्ध पर्याय का प्रचार करना, मिथ्यात्व का प्रचार करना है, इसमें सन्देह नहीं।"

—क्रमबद्ध पर्याय समीक्षा पृ० १५१; प० मोतीचन्द कोठारी, व्याकरणाचार्य

जैन न्याय

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त का स्वरूप एवं नियतिवाद

शंका—अनेकान्त में 'अनेक' का अर्थ 'बहुत' और 'अन्त' का अर्थ धर्म है। जो वस्तु में अनेकधर्म स्वीकार करता है वह सम्यक्अनेकांत दृष्टिवाला है और जो अपनी इच्छानुसार एक या दो धर्मों को स्वीकार करता है अर्थात् वस्तु मे बहुतधर्मों को स्वीकार नहीं करता, वह एकान्तमिथ्यादृष्टि है। ऐसा ही गोम्मटसार कर्मकांड में एकान्तमिथ्यात्व के ३६३ भेदों को दिखाते हुए कहा है जो (१) स्वभाववाद (२) आत्मवाद (३) ईश्वरवाद (४) कालवाद (५) संयोगवाद (६) पुरुषार्थवाद (७) नियतिवाद (८) देववाद; इन आठवादो में से अपनी रुचि के अनुसार एक या दो वादों को तो स्वीकार करे और अन्य का निषेध करे तो वह एकान्तमिथ्यादृष्टि है। यदि ऐसा न माना जावे तो जैनागम के सभी तत्त्वो को मिथ्यात्व का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि 'गोम्मटसार' में उक्तस्थल पर मात्र 'नियति' को नहीं, किन्तु 'स्वभाव' 'पुरुषार्थ' सप्तभग' 'नवपदार्थ' 'साततत्त्व' सभी को मिथ्यात्व कहा है। देखो ब्र० जिनेन्द्रकुमार का लेख १९-७-६२ का जैनसन्देश। 'अनेकान्त' में कोई भी ऐसा शब्द नहीं जिसका अर्थ 'विरोधी' हो सके। फिर दो विरोधी धर्मों को अनेकान्त कैसे कहते हो? 'सत्य' तो एक ही होता है; दो हो ही नहीं सकते। ऐसा भी है और ऐसा भी; इसप्रकार वस्तु-स्वरूप है ही नहीं। जैसे वस्तु 'नित्य' भी है 'अनित्य' भी है, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। वह तो संशयवादी है। किन्तु वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं है, ऐसा वस्तुस्वरूप है और यही अनेकान्त है।

समाधान—यहाँ पर 'अनेकान्त' पद का शब्दार्थ नही ग्रहण करना चाहिये, किन्तु आगम मे जो अर्थ प्राचीन महानाचार्यों ने किया है वह अर्थ ग्रहण करना चाहिये। **श्री समयसार के परिशिष्ट मे श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है 'स्याद्वाद समस्त वस्तुओ के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हंत सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है। वह, सर्ववस्तु अनेकान्तात्मक है, इसप्रकार उपदेश करता है, क्योकि समस्त वस्तु अनेकान्त स्वभाववाली है। अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है, जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इसप्रकार एक वस्तु मे परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना अनेकान्त है।'

प्रमाणदृष्टि से द्रव्य अनेकातात्मक जात्यन्तर को प्राप्त एकरूप है ज. ध. पु. १ पृ. ५५)। द्रव्य न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है, किन्तु जात्यन्तररूप नित्यानित्यात्मक है। सर्वथा नित्यवाद के पक्ष मे जीव का सुख और दु.ख से सम्बन्ध नही बन सकता। तथा सर्वथा अनित्यवाद के पक्ष मे भी सुख और दु ख की कल्पना नही बन सकती[1]। चू कि वस्तु को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य मानने पर बन्ध आदि के कारणरूप योग और

---

१. **सुहदुक्ख-संपओओ संभवई ण णिच्चवायपक्खम्मि। एयंतुच्छेयम्मि वि सुहदुक्खवियप्पणमजुत्तं॥**
(ज. ध. पु. १ पृ २४९ तथा स त १।१८)

कषाय नहीं बन सकते हैं तथा योग और कषाय के न मानने पर वस्तु सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं बन सकती है। इसलिये केवल अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि है। परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हो तो समीचीनपने को प्राप्त होते है[1]।

शास्त्रीजी ने जो, 'वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं है' ऐसा अनेकान्त बनाया वह तो 'नित्य' एकान्त है। शास्त्रीजी ने तो 'अनित्य' का निषेध किया है। 'अनित्य' की स्वीकारता किये बिना अनेकान्त का स्वरूप नहीं बन सकता। जिस प्रकार 'अस्ति' वस्तु का धर्म है उसी प्रकार 'नित्य' भी वस्तु का धर्म है। 'अस्ति' का प्रतिपक्षी 'नास्ति' धर्म भी अस्ति के साथ वस्तु मे पाया जाता है। उसी प्रकार 'नित्य' के प्रतिपक्षी 'अनित्य' धर्म का वस्तु मे होना अवश्यभावी है। 'वस्तु नित्यानित्यात्मक है अथवा द्रव्यार्थिकनय से वस्तु नित्य है और पर्यायार्थिकनय से वस्तु अनित्य है', यह अनेकान्त है। यदि भिन्न-भिन्ननयो की अपेक्षा के बिना वस्तु को नित्य भी और अनित्य भी कहा जाता तो सम्यगनेकान्त न रहकर सशय की कोटि मे आजाता। भिन्न-भिन्ननयो की अपेक्षा वस्तु ऐसी भी है और ऐसी भी है; कहने मे कोई बाधा नही। जैसे एक ही देवदत्त-नामक पुरुष अपने पुत्र यज्ञदत्त की अपेक्षा पिता है और अपने पिता रामदत्त की अपेक्षा पुत्र है। अत यज्ञदत्तनामक पुरुष पिता भी है और पुत्र भी है, ऐसा कहने मे कोई बाधा नहीं है। जो ज्ञानी है वे तो यथार्थ समझ जाते है, किन्तु जो अज्ञानी है उनको तो 'अनेकान्त' सशय रूप दिखलाई देता है।

गोम्मटसारकर्मकाण्ड मे गाथा ८७६ से गाथा ८८९ तक इन १४ गाथाओ मे गृहीतमिथ्यात्व के ३६३ भेदो का कथन है। उन मिथ्यादृष्टियो की जीव आदि नवपदार्थों अथवा जीवादि साततत्त्वो मे से प्रत्येक के विषय मे किस-किसप्रकार एकान्त मान्यता है तथा अस्ति-नास्ति आदि सातभग मे से प्रत्येक के विषय मे किसप्रकार की अज्ञानता है तथा देव-राजा आदि के सम्बन्ध मे किसप्रकार वैनयिक-मिथ्यात्व है, इन सबका कथन है। गाथा ८९० एकान्तपौरुषवाद, गाथा ८९१ मे एकान्तदैववाद, गाथा ८९२ मे एकान्तसयोगवाद और गाथा ८९३ मे एकान्तलोकवाद का कथन है।

यदि शास्त्रीजी ने या मेरे परम मित्र श्री ब्र जिनेन्द्रकुमार पानीपत ने ध्यानपूर्वक गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उक्त प्रकरण को पढकर समझने का प्रयत्न किया होता तो वे कभी यह लिखने का साहस न करते कि गोम्मटसार मे 'नवपदार्थ', 'सप्ततत्त्व', 'सप्तभग' को मिथ्यात्व कहा है। श्री १०८ नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती महान आचार्य के सम्बन्ध मे हम जैसे तुच्छ प्राणियो को इसप्रकार के शब्दो का प्रयोग शोभा नही देता।

गोम्मटसारकर्मकाण्ड गाथा ८७७ मे जीवादि नवपदार्थों मे प्रत्येक पदार्थ के अस्तित्व के सम्बन्ध मे 'काल-वाद', 'ईश्वरवाद', 'आत्मवाद', 'नियतिवाद' 'स्वभाववाद' इन पाँचो वादो मे से प्रत्येक वादवाले 'स्वत' 'परत' 'नित्यपने' 'अनित्यपने' मे एकान्त मिथ्याकल्पना करते है। इसका कथन है। क्या इस गाथा मे नवपदार्थों को मिथ्या कहा है या नवपदार्थों के अस्तित्व के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न १८० एकान्त मान्यताओ को मिथ्या कहा है।

इन पाँचवादो मे से एकवाद 'नियतिवाद' भी है जिसका स्वरूप गाथा ८८२ मे कहा है। इस 'नियति-वाद' (जिसको वर्तमान मे 'क्रमबद्ध पर्याय' से कहा जाता है) को भी एकान्तमिथ्यात्व कहा है। एकान्तमिथ्यात्व कहने का अभिप्राय यह है कि वह 'नियतिवाद' अपने प्रतिपक्षी विरोधी 'अनियतिवाद' की अपेक्षा नहीं रखता।

---

१. **तम्हा मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा। अण्णोण्णणिस्सिया उण लहंति सम्मत्तसब्भावं॥**

(ज. ध. पु १ पृ. २४८)

'अनियति' निरपेक्ष सर्वथा 'नियति' एकान्तमिथ्यात्व है, किन्तु सर्वथानियति न मानकर यदि 'स्यात्-नियति' 'स्यात्-अनियति' माना जावे तो 'नियति' अपने विरोधी 'अनियति' की सापेक्षता के कारण 'सम्यक्नियति' है।

यदि 'नियति' के विरोधी धर्म 'अनियति' को तो स्वीकार न करें, किन्तु नियति के साथ 'कालनय' 'ईश्वरनय' 'स्वभावनय' आदि अनेक नयो को स्वीकार करें तो भी मिथ्याएकान्त का दूषण दूर नही होगा, क्योकि एक ही पदार्थ में दो विरुद्धधर्मों को स्वीकार करना अनेकान्त है न कि अनेकधर्मों को स्वीकार करना अनेकान्त है। इसीप्रकार 'अनियति' भी यदि 'नियति' से निरपेक्ष है तो वह भी मिथ्याएकान्त है। इसीप्रकार 'कालनय' 'अकाल-नय' 'ईश्वरनय' 'अनीश्वरनय' 'स्वभावनय' 'अस्वभावनय' 'पुरुषार्थनय' दैवनय' आदि परस्पर विरुद्ध दो नयो को सापेक्षता की दृष्टि मे सम्यक् कहे हैं और निरपेक्षता की दृष्टि मे मिथ्याएकात कहा है। उपर्युक्त परस्परविरुद्ध दो नयो का कथन प्रवचनसार परिशिष्ट मे है, वहाँ से जान लेना। जैनसिद्धान्त का मूल तत्त्व सम्यगनेकान्त है, उसको 'नियतिनिरपेक्ष अनियति इत्यादि' से तो बाधा आती है, किन्तु 'नियतिसापेक्ष अनियति' से बाधा नही होती, अपितु पुष्टि होती है।

—जै. ग 6-12-6 / V/ डो. एल. शास्त्री

(१) अनेकान्त का स्वरूप व सप्त भंगी
(२) सम्यगेकान्त व मिथ्यैकान्त का स्वरूप
(३) दो और दो चार होते हैं; सर्वथा ऐसा कहना भूल है

शंका—वस्तु को अर्थात् द्रव्य को 'नित्य और अनित्य' ऐसा कहा जाता है, किन्तु इन दोनो मे एक ही सत्य होगा, और अन्य केवल आरोप मात्र होगा, जो असत्य होगा। इन दोनों में 'नित्य' सत्य है, क्योंकि द्रव्यार्थिक अर्थात् निश्चयनय का विषय है। 'अनित्य' कहना असत्य है, क्योंकि पर्यायार्थिक अर्थात् व्यवहारनय का विषय है। समयसार में भी निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। जैसे दो और दो ४ ही होते हैं, '५' या अन्य संख्यारूप नहीं होते, क्योंकि किसी भी प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर एक ही होता है, दो नहीं होते; इसीप्रकार वस्तुस्वरूप क्या है इसका ठीक-ठीक उत्तर एक यही होगा कि 'वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं है'। 'नित्य भी है', 'अनित्य भी है' ऐसे दो उत्तर ठीक-ठीक नहीं हो सकते, यह तो संदेहात्मक उत्तर है। यदि यह कहा जावे कि इस उत्तर से (वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं है) एकांतमिथ्यात्व का पोषण होता है और अनेकान्त का खंडन होता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि 'नित्य है' इससे 'अस्ति' धर्म को स्वीकार किया गया है, 'अनित्य नहीं' इससे 'नास्ति' धर्म को स्वीकार करने से अस्तिनास्तिरूप अनेकान्त को स्वीकार किया गया अथवा 'वस्तुस्वरूप नित्य ही है' यह सम्यगेकान्त है। यदि सम्यगेकान्त को स्वीकार न किया जावेगा तो 'वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक ही है ऐसा एकान्त आ जायगा।

समाधान—शकाकार ने इस शका मे मात्र अपनी एक मान्यता रक्खी है जिसको युक्ति व दृष्टान्त के बल पर सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है किन्तु 'अनेकान्त' तथा 'सम्यगेकान्त' का यथार्थस्वरूप न समझने के कारण आपकी ऐसी एक भ्रमात्मक मान्यता होगई है।

श्री समयसार ग्रन्थ के स्याद्वादाधिकार मे कहा है—"स्याद्वाद सब वस्तु के साधनेवाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञ का शासन है, वह स्याद्वाद सब वस्तुओ को अनेकांतात्मक कहता है, क्योकि सभी पदार्थों का अनेकधर्म-रूप स्वभाव है। वस्तु को ज्ञानमात्रपने अनेकांत का ऐसा स्वरूप है कि 'जो वस्तु सत्स्वरूप है, वही वस्तु असत्त्व-

रूप है, जो वस्तु नित्यस्वरूप है वही वस्तु अनित्यस्वरूप है', इसप्रकार एकवस्तु मे वस्तुपने का निष्पादन करनेवाली परस्पर दो विरुद्ध शक्ति का प्रकाशन 'अनेकान्त' है।''

श्री समयसार ग्रन्थ मे दी हुई अनेकान्त की व्याख्या अनुसार 'जो वस्तु नित्यस्वरूप है वही वस्तु अनित्यस्वरूप है अर्थात् वस्तु नित्य भी है अनित्य भी है।' ऐसा कहना होगा। 'वस्तु नित्य ही है, अनित्य नही' इसमे तो मात्र 'नित्य' धर्म को तो स्वीकार किया गया है और उसके विरोधीधर्म 'अनित्य' का निषेध करने से एकान्त-मिथ्यात्व का दोष आ जाता है।

'वस्तु नित्य है' इस वाक्य मे वस्तु के 'नित्य' धर्म का कथन किया गया है, 'अस्ति' धर्म का कथन नहीं किया गया। अनेकान्त के लिये 'नित्य' धर्म के विरोधी 'अनित्य' धर्म को स्वीकार करना ही होगा। वस्तु स्याद्-नित्य है, स्याद्अनित्य है, स्याद्नित्यानित्य है, स्याद्वक्तव्य है, स्याद्नित्यावक्तव्य है, स्याद्नित्यानित्यवक्तव्य है, स्याद्नित्यानित्यअवक्तव्य है, इसप्रकार 'नित्य' धर्म की अपेक्षा स्याद्वाद सप्तभगी बन जाती है।

'वस्तु अस्ति है' इस वाक्य मे 'अस्ति' धर्म की विवक्षा है। 'अस्ति' का विरोधी 'नास्ति' है। अनेकान्त के लिये 'वस्तु अस्ति भी है नास्ति भी है', ऐसा स्वीकार करना होगा। अस्तिधर्म की अपेक्षा से भी सप्तभगी बन जाती है। प्रत्येकवस्तु मे अनन्तधर्म है और प्रत्येकधर्म अपने विरोधीधर्म को लिये हुए वस्तु मे रहता है। ऐसा अनेकान्तात्मक वस्तु स्वभाव है जो जैनधर्म का मूल सिद्धात है।

वस्तुस्वरूप सर्वथा अनेकान्तात्मक हो ऐसा भी नही है क्योंकि 'अनेकात' भी 'अनेकातरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और अर्पितनय की अपेक्षा एकातरूप है। (ज. ध. पु. १ पृ. २०७) श्री जयसेनाचार्य ने **प्रवचनसार की टीका के अन्त में भी कहा है—'परस्पर सापेक्षानेकनयैः प्रमीयमाणं व्यवह्रियमाणं क्रमेण मेचकस्व-भाव विवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति। तदेव जीवद्रव्य प्रमाणेन प्रमीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणां युगपद्व्यापकचित्र पटवदनेकस्वभावं भवति।' अर्थात्**—परस्पर सापेक्षनयो की अपेक्षा क्रम से विवक्षित एक-एक धर्म को धारण करने से एकस्वभाववाला है और प्रमाण से युगपदनेकधर्म धारण करने से अनेक स्वभाववाला है। इसप्रकार 'अनेकान्त' मे एकान्त का दोष नही आता।

यदि विवक्षितनय अपने विरोधीनय की अपेक्षा रखता है, भले ही वह विरोधीनय गौण हो, तो वह सुनय है। यदि वह नय परस्पर सापेक्ष नही है तो वह कुनय है। सुनय का विषय सम्यगेकान्त है, क्योंकि वह अपने विरुद्धधर्म की अपेक्षा रखता है। बिना अपेक्षा के सर्वथा एकान्त कहना सम्यगेकान्त न होकर मिथ्याएकान्त है। कहा भी है—'**सम्यगेकांतो हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः। एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिरा-करण-प्रवणप्रणिधिर्मिथ्यैकान्तः।' (रा. वा. अ. १ सू. ६ वा. ६)**

शका—क्या व्यवहारनय असत्यार्थ है ?

समाधान—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो ही नय अपने-अपने विषयभूत एकधर्म की मुख्यता से वस्तु का बोध अर्थात् ज्ञान कराते है। कहा भी है—'**प्रमाणनयैरधिगमः।' (त. सू. प्र. अ. सू. ६)** 'जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नयवाक्यो से भी वस्तु का बोध होता है।' **(ज. ध. पु. १ पृ. २०९)।** सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने मे समीचीन है और दूसरे नयो का निराकरण करने मे मूढ है अत. अनेकान्त के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नही करते।

(ज. ध. पु. १ पृ. २५७)

वस्तु का लक्षण 'सत्' है और 'सत्' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होता है (त. सू. अ. ५ सूत्र २९-३०)। इसमे से ध्रौव्य का (जो द्रव्यार्थिकनय का विषय है) वस्तु के साथ त्रैकालिक तादात्म्यसबध है, क्योकि यह वस्तु की सर्वअवस्थाओ मे तादात्म्यरूप से व्याप्त होकर रहता है। पर्यायार्थिकनय का विषय, उत्पादव्ययात्मक पर्यायका वस्तु के साथ कथचित् तादात्म्यसबध है, क्योकि वह वस्तु की मात्र एक अवस्था मे तादात्म्यरूप से व्याप्त होकर रहती है सर्वअवस्था मे व्याप्त होकर नही रहती। द्रव्यार्थिक अथवा निश्चयनय का विषयभूत 'ध्रौव्य' अर्थात् 'सामान्य' का वस्तु के साथ त्रैकालिक तादात्म्यसम्बन्ध होने से वह त्रैकालिक सत्यार्थ है अर्थात् त्रैकालिक रहनेवाला है। पर्यायार्थिक अथवा व्यवहारनय का विषयभूत 'पर्याय' अर्थात् 'विशेष' का वस्तु के साथ कथचित् तादात्म सम्बन्ध होने से असत्यार्थ, (कथचित् सत्यार्थ है) अर्थात् हमेशा रहने वाला नही है। यहाँ पर 'असत्यार्थ' मे 'अ' का निषेधात्मक अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये किन्तु 'ईषत्' अर्थ मे ग्रहण करना चाहिये (रा. वा. अ. ८ सू. ९ वा. ३)। इस दृष्टि से समयसार गाथा ११ में व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है। स. सा. गाथा ६१ की टीका तथा प्र. सा. गाथा ८ के स्वाध्याय से समझ मे आजाता है। अत इस विषय को समझने के लिये उक्त गाथाओ का अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

वस्तु का स्वरूप क्या है ? 'अनेकान्त' इसका यह एक सत्य उत्तर है। अन्वयधर्म और व्यतिरेकधर्म के तादात्म्यरूप होने से 'अनेकान्त' जात्यन्तररूप है (ज. ध. पु० १ पृ० २५६)। जीव अनेकान्तात्मक है, जात्यान्तर-भाव को प्राप्त है (ज० ध० पु० १ पृ० ५५)।

शकाकार ने 'दो और दो चार' का दृष्टान्त देकर एकान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यह दृष्टान्त भी एकान्त को सिद्ध करने मे असमर्थ है। दो और दो जोडने की अपेक्षा अथवा गुणा की अपेक्षा चार होते है, किन्तु सर्वथा 'दो और दो' 'चार' नही होते, क्योकि घटाने की अपेक्षा 'दो' और 'दो' शून्य होता है अथवा 'दो' और 'दो' परस्पर मिलने की अपेक्षा (२२) बाईस हो जाते है, भाग की अपेक्षा 'दो' और 'दो' एक हो जाता है। अत 'दो' और 'दो' को सर्वथा चार कहना बडी भारी भूल है।

'वस्तु नित्य है' यह सत्य है, 'वस्तु अनित्य है' यह असत्य है, इसप्रकार की कल्पनामात्र एकान्तमिथ्या-दृष्टियो के हृदय मे उत्पन्न हुआ करती है। अनेकान्तवादी अर्थात् सम्यग्दृष्टि तो वस्तु को नित्यानित्यात्मक जात्य-न्तरस्वरूप मानता है। अनेकान्त जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है। अत नियति (क्रमबद्धपर्याय) अनियति आदि किसी एक विषय मे भी एकान्त का आग्रह नही करना चाहिए।

—जै. ग 27-12 62/IX/ हीरालाल

तर्क से असिद्ध बात भी प्रमाण हो सकती है

शका—जो बात तर्क से सिद्ध न हो उसे क्यों माना जावे ?

समाधान—जो बात प्रमाण सिद्ध है उसको मानना चाहिये। वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का है।[1] परोक्षप्रमाण भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाँच प्रकार का है[2]। जिसप्रकार तर्क व अनुमान प्रमाण है उसीप्रकार प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और आगम भी प्रमाण है। जैसे कोई भोग से

१. "तद्द्वेधा ॥ १ ॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥" (परीक्षामुख अध्याय २)।

२. प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् । [३।२ प० मु०]

प्राप्त हुए अपने पूर्व आनन्द का स्मरण कर रहा हो, ऐसे स्मृतिज्ञान को क्या तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है ? 'अग्नि उष्ण है' यह प्रत्यक्षप्रमाण से जाना जाता है। क्या अग्नि का उष्णपना किसी तर्क से सिद्ध हो सकता है ? तर्क से सिद्ध न होने पर भी प्रत्यक्ष व स्मृतिप्रमाण के द्वारा सिद्ध है, अत स्वीकार करना चाहिये। उसीप्रकार परमाणु आदि सूक्ष्मपदार्थ तथा राम, रावण आदि कालान्तरितपदार्थ, मेरु-स्वर्ग-नरक आदि क्षेत्रान्तरितपदार्थ भी तर्क के विषय नहीं हैं। वे आगमप्रमाण से मानने योग्य है। आगम तर्क का विषय नहीं है।

(ध० पु० १ पृ० २०६ व १७१; पु० १४ पृ० १५१)

सर्वज्ञ के वचन को आगम कहते है[1]। जिस आगम का अरहत ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको गणधर ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान गुरु-परम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्यवाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निप्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुषो के द्वारा व्याख्यान होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। (ध. पु. १ पृ. १९६)

मात्र तर्क से सिद्ध वस्तु ही मानने योग्य नही है, किन्तु प्रत्यक्ष आगमप्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु भी मानने योग्य है। यदि ऐसा न माना जावेगा तो मात्र तर्क-प्रमाण ही रह जावेगा और इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अभाव हो जायगा। और जो वस्तु तर्क का विषय नही उसके भी अभाव का प्रसग आजायगा, किन्तु उनका अभाव है ही नही, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से उनका सद्भाव सिद्ध है।

—जै. ग 10-10-63/IX/ गुलजारीलाल

सम्यक्त्वाभाव तुच्छाभावरूप नहीं है

शंका—अनादिकाल से सम्यक्पर्याय का अभाव है। उस अभाव का अभाव होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। अभाव तो अवस्तु है फिर अभाव का अभाव कैसे सम्भव है ?

समाधान—अभाव तुच्छाभावरूप नही है, किन्तु भावान्तर से सद्भावरूप है।

"भावान्तरस्वभावस्वादभावस्य भावन्तरस्वभावो हि क्वचित् व्यपेक्षया घटाभावस्य कपालस्वभाववत्"

—प्र. र. मा. पृ. ३७

अभाव भी भावान्तरस्वभाववाला होता है, तुच्छाभावरूप नही। घट का अभाव कपाल के सद्भावरूप है। इसीप्रकार सम्यक्त्व का अभाव मिथ्यात्व के सद्भावरूप है। अत मिथ्यात्व के अभाव से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

—जै. ग. 7-1-71/VII/ टी. ला. मित्तल

द्रव्यत्व, सत्त्व तथा जीवत्व में परस्पर भिन्नत्वाऽभिन्नत्व

शंका—द्रव्यत्व, सत्ता और जीवत्व ये तीनों अभिन्न हैं या इनमें कोई भेद है ?

समाधान—द्रव्यत्व, सत्ता और जीवत्व ये तीनो जीवद्रव्य के पारिणामिकभाव है। इन तीनो मे सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा परस्पर भेद है, किन्तु प्रदेशभेद नही है, क्योंकि ये तीनो जीवद्रव्य के आश्रय हैं।

१ **'सर्वज्ञवचनं तावदागमः।' (समयसार गाथा ४४ आत्मख्याति टीका)।**

(१) द्रव्यत्व, सत्ता, जीवत्व ये तीनो शब्द भिन्न-भिन्न है अत: संज्ञा की अपेक्षा इन तीनो मे भेद है।

(२) 'द्रव्यत्व' का लक्षण इसप्रकार है—**'द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्या स्वभाव-विभावपर्यायान् द्रवतिद्रोष्यति अदुद्र वदिति द्रव्यम् ।' आलापपद्धति सूत्र ९६**

अर्थ—जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव-विभावपर्यायो को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है। उसद्रव्य का जो भाव है वह द्रव्यत्व है। यहा पर वस्तु के सामान्यअश को द्रव्यत्व कहते है, क्योकि वह सामान्य ही विशेषो (पर्यायो) को प्राप्त होता है।

'स्वभावलाभादच्युतत्वादस्ति स्वभाव: ॥१०६॥' आलापपद्धति

अर्थ—जिसद्रव्य का जो स्वभाव है उस स्वभाव से कभी भी च्युत नही होना, वह अस्ति स्वभाव (सत्तास्वभाव) है।

'जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थ: ।' स. सि २।७। जीवत्व का अर्थ चैतन्य है।

इसप्रकार इन तीनो के लक्षण भिन्न-भिन्न है। द्रव्यत्व मे प्रयोजन वस्तुके सामान्य अश से है। सत्ता से प्रयोजन वस्तु के अस्तित्व का है। जीवत्व से प्रयोजन चैतन्यभाव का है। अत इन तीनो का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। तथापि इन तीनो मे प्रदेशभेद नही है। कहा भी है—

गुणपज्जयदो दव्वं दव्वादो ण गुणपज्जया भिण्णा ।
जह्या तह्या भणियं दव्वं गुणपज्जयमणण्ण ॥४२॥ [नयचक्र]

अर्थ—गुण व पर्याय से द्रव्य और द्रव्य से गुण व पर्याय भिन्न नही है अर्थात् प्रदेशभेद नही है। इसलिये गुण व पर्याय से द्रव्य को अनन्य कहा है, अर्थात् गुण और गुणी मे अभेदस्वभाव कहा है।

—जै ग 11-5-72/VII/... ....

"असत्ता" वस्तु का धर्म कैसे है ?

शका—पररूप से जो वस्तु की असत्ता मानी गई है वह स्व का धर्म कैसे हो सकता है ?

समाधान—प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। कहा भी है—

"स्याद्वादो हि समस्त वस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकातस्वभावत्वात् ।" स. सा. आत्मख्याति स्याद्वादाधिकार

अर्थ—स्याद्वाद समस्त वस्तुओ के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला, अर्हत्सर्वज्ञ का एक अस्खलितशासन है। वह स्याद्वाद उपदेश करता है कि सर्व अनेकान्तात्मक है, क्योकि समस्त वस्तु अनेकान्त स्वभाववाली हैं।

अनेकान्त का लक्षण निम्नप्रकार है-

"एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त: ।

अर्थ—एक वस्तु मे वस्तुत्व को उपजानेवाली परस्परविरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना अनेकांत है।

जैसे 'यदेवैकंतदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् ।' अर्थात् जो वस्तु एक है वही वस्तु अनेक है। जो वस्तु सत्-रूप है वही वस्तु असत्रूप है। यदि द्रव्य की अपेक्षा वह वस्तु एक है तो गुणपर्याय की अपेक्षा वही वस्तु अनेक है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा जो वस्तु सत्रूप है, वही वस्तु परचतुष्टय की अपेक्षा असत् है। यदि परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु सत्रूप हो जावे तो संकरदोष आजायगा। पटरूप परचतुष्टय की अपेक्षा भी घट सत्रूप हो जावे तो घट और पट दोनो एक हो जायेंगे। दोनो मे कोई भेद नही रहेगा। पट की अपेक्षा घट असत् है।

"वस्तु एक है, अनेक नही है" ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नही है।

—जै. ग 26-2-70/IX/ रो ला. मि.

प्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है

शंका—आप्तपरीक्षा कारिका ८८ के अर्थ मे पृ. २०६ पर तथा कारिका ९६ के अर्थ मे पृ. २१४ पर 'निश्चित' शब्द आया है। वहाँ पर निश्चित का क्या अर्थ है?

समाधान—पृ. २०६ पर 'सुनिश्चित प्रत्यक्षपदार्थ' शब्द है। अर्थात् प्रत्यक्षपदार्थों का निश्चितरूप से प्रत्यक्षज्ञान है। पृ. २१४ पर प्रमेयपना हेतु का अन्वय अच्छी तरह निश्चित है। 'इन दोनो स्थलो पर निश्चित' से अभिप्राय 'नि संदेह' का है।

– जै. ग 6-1-72/VII/

'ही' शब्द एकान्त का द्योतक है अथवा अनेकान्त का?

शंका—'ही' शब्द एकान्त का द्योतक है अथवा अनेकान्त का?

समाधान—'एव' अर्थात् 'ही' शब्द एकान्त का द्योतक है और 'स्यात्' 'कथञ्चित्' शब्द अनेकान्त के द्योतक है। क्योकि इनमे अन्यधर्मों की सापेक्षता रहती है। पं. का. गाथा १४ की टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने कहा भी है—

"स्यादस्ति द्रव्यमिति पठनेन प्रमाणसप्तभंगी ज्ञायते। कथमिति चेत्? स्यादस्तीति सकलवस्तु ग्राहकत्वात्प्रमाणवाक्यं स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यं। तथाचोक्तं— सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति अस्ति द्रव्यमिति दुःप्रमाण–वाक्यं। अस्त्येव द्रव्यमिति दुर्नयवाक्यं। एवं प्रमाणादिवाक्यचतुष्टय-व्याख्यानं बोद्धव्यं।"

'स्यात् द्रव्य है' इत्यादि, ऐसा पढने से प्रमाण सप्तभंगी जानी जाती है, क्योकि 'स्यादस्ति' यह वचन सकल वस्तु को ग्रहण करनेवाला है, इसलिये प्रमाण वाक्य है। 'स्यादस्ति एव द्रव्यम्' अर्थात् 'द्रव्य स्यात् अस्ति-रूप ही है' ऐसा वचन वस्तु के एकदेश को अर्थात् उसके मात्र 'अस्तित्व-स्वभाव' को ग्रहण करनेवाला है, यह नय वाक्य है। कहा भी है—सकलादेश प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन है। 'अस्ति द्रव्य' यह दु प्रमाण वाक्य है व 'अस्ति एव द्रव्य' यह दुर्नय वाक्य है, क्योकि अन्यधर्मों की सापेक्षता का द्योतक ऐसे 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का अभाव है यहाँ प्रमाण, दु प्रमाण, नय, दुर्नय के चार वाक्यो का व्याख्यान है।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ (बृहत्स्व. श्लोक १०३)

हे जिन ! आपके मत मे प्रमाण और नय से सिद्ध होता हुआ अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा वह अनेकान्तरूप है और अर्पितनय की अपेक्षा एकान्तरूप है।

सम्यगनेकान्त, सम्यगेकान्त, मिथ्या-अनेकान्त, मिथ्या-एकान्त के भेद से वचन चार प्रकार के होते है। जो वचन अन्यधर्मों व अन्यनयो से निरपेक्ष होते है वे मिथ्या है और जो सापेक्ष होते है वे सम्यक् है। **श्री समन्तभद्राचार्य** ने कहा भी है—

"निरपेक्षा नया मिथ्यासापेक्षा वास्तु तेऽर्थकृत् ।"

जो नय निरपेक्ष (प्रतिपक्षी धर्म के सर्वथा निराकरणरूप) होते है वे ही मिथ्यानय (दुर्नय) होते है। सापेक्षनय (जो कि प्रतिपक्षीधर्म की उपेक्षा अथवा उसे गौण किये होते है) मिथ्या न होकर सम्यक्नय होते है, उनके विषय अर्थ-क्रियाकारी होते है, इसलिये उनके समूह के वस्तुपना सुघटित है।

मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण लहंति सम्मत्तसब्भाव ॥

केवल अपने-अपने पक्षसे प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि है, परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हो तो समीचीन पने को प्राप्त होते है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते है।

'जैसे पिता ही है' यह वचन मिथ्या है, क्योंकि यह वचन निरपेक्ष होने से इसमे अन्य धर्मों का निराकरण है। यदि यह कहा जावे कि 'पुत्र की अपेक्षा पिता ही है' यह वचन सम्यक् है, क्योंकि यह कथन पुत्र की सापेक्षता लिए हुए है। इसलिए वही मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है यह बात अनर्पित अर्थात् गौण है।

'पिता भी है' यह वचन सम्यगनेकान्त है, क्योंकि 'भी' शब्द से पिता के अतिरिक्त अन्य समस्त धर्मों का ग्रहण हो जाता है। 'पुत्र की अपेक्षा पिता भी है' यह मिथ्याअनेकान्त है, क्योंकि पुत्र की अपेक्षा 'पिता' धर्म के अतिरिक्त अन्यधर्म सभव नही है और 'भी' शब्द अन्यधर्मों का द्योतक है।

इसप्रकार प्रमाण, दु प्रमाण, नय, दुर्नय वाक्यो को जानकर सम्यगनेकान्त और सम्यक्नय वाक्यो का प्रयोग होना चाहिये।

—जै ग. 26-10-72/VII टो. ला. मि.

स्याद्वाद व अनेकान्त में अन्तर

शंका—स्याद्वाद और अनेकान्त में क्या अन्तर है ? नय की अपेक्षा दोनों रखते हैं ?

समाधान—'अनेकान्त' का अर्थ है 'अनेक' बहुत अनन्त। 'अन्त' का अर्थ 'धर्म' है। जिसमे बहुत मे विरोधी धर्म हो उसको 'अनेकान्त' कहते है। 'स्याद्वाद'—'स्यात्' का अर्थ 'कथचित्' 'किसी अपेक्षा से'। 'वाद्' का अर्थ 'कहना'। 'स्याद्वाद' का अर्थ हो गया कथचित् अथवा किसी अपेक्षा से कहना। यद्यपि नय की अपेक्षा से स्याद्वाद और अनेकान्त दोनो है, किन्तु 'अनेकान्त' वस्तुस्वभाव को द्योतन करता है और 'स्याद्वाद' इन अनेक धर्मों मे से किसी एकधर्म के कहने के ढग को बतलाता है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्मवाली ही नही है उसमें इसके अतिरिक्त अन्य भी धर्म है। इसप्रकार स्याद्वाद और अनेकान्त मे अतर है। अनन्तधर्मात्मक वस्तु का निर्दुष्टरूप से कथन करनेवाली भाषा स्याद्वादरूप होती है।

—जै. स. 20-11-58/V/ कपूरीदेवी, गया

१. कथंचित् अग्नि पानी को गर्म करती है, कथंचित् नहीं।
२. कथंचित् कुन्दकुन्द समयसार के कर्ता हैं, कथंचित् नहीं।
३. कथंचित् एक द्रव्य की क्रिया दूसरा द्रव्य करता है।

शंका—अग्नि पानी को गर्म नहीं करती, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया को नहीं करता?

समाधान—अग्नि पानी को गर्म नहीं करती ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि एकग्राम पानी को एकडिग्री सेन्टीग्रेड गर्म करने के लिये एक कलरी तापमान की आवश्यकता होती है। यह एक कलरी तापमान जल में तो है नहीं। इसके लिये इसको तो अग्नि आदि उष्णपदार्थों की आवश्यकता होगी। अग्नि आदि उष्णपदार्थों के बिना जल स्वयं गर्म नहीं हो सकता। अतः अग्नि पानी को गर्म करती है इसमें कोई बाधा भी नहीं है। यह व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि 'उष्ण' जल की पर्याय है और पर्याय व्यवहारनय का विषय है।

श्री जिनेन्द्र भगवान दिव्यध्वनि के कर्त्ता हैं और **श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार** आदि ग्रन्थ के कर्ता हैं अन्यथा इनमें प्रमाणता का अभाव हो जायगा। इस पर भी यदि किसी को शंका हो तो मदिरापान करके देख लेवे कि मदिरा उसको उन्मत्त करती है या नहीं। इसप्रकार एक द्रव्य की क्रिया को दूसरा द्रव्य करता है, किन्तु उपादानरूप से एकद्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया को नहीं करता क्योंकि एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो जाता।

—जै. ग. 12-12-66/VII/ज. प्र. म. कु.

कथंचित् असत् का उत्पाद व सत् का विनाश

शंका—असत् का कभी उत्पाद नहीं होता और सत् का कभी विनाश नहीं होता। यह सिद्धांत किस अपेक्षा से है?

समाधान—असत्द्रव्य का कभी उत्पाद नहीं होता और सत्द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य अनादिअनन्त है किन्तु पर्यायें उत्पन्न भी होती हैं और नष्ट भी होती हैं, अतः पर्याय की अपेक्षा असत् का उत्पाद और सत् का विनाश भी होता है। द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता से इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है? **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं॥

इसप्रकार पर्यायदृष्टि से जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है ऐसा जिनेन्द्रभगवान ने कहा है। यद्यपि यह कथन द्रव्यदृष्टि (सत् का नाश नहीं, असत् का उत्पाद नहीं) के विरुद्ध है, तथापि सापेक्षता में यह कथन विरुद्ध भी नहीं है।

इसप्रकार असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का नाश नहीं होता, ऐसा एकान्त नहीं है। अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों कथन सत्य हैं। 'सांख्य' यह मानते हैं कि असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का नाश नहीं होता है, इसलिये वे द्रव्य को कूटस्थ नित्य मानते हैं, किन्तु अनेकान्तवादी जैन तो द्रव्य नित्यानित्यात्मक मानते हैं।

—जै. ग. 14-2-66/IX/ र. ला. जैन

१. एक द्रव्य का धर्म कथंचित् दूसरे द्रव्य में हो जाता है।
२ संसारी जीव कथंचित् रूपी अथवा मूर्तिक या पुद्गल है।

शंका—जीव और पुद्गल के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के विषय में कुछ को ऐसा भ्रम क्यों होता है कि जीव के गुण व धर्म पुद्गल में चले जाते हैं और पुद्गल के गुण-धर्म जीव में चले जाते हैं ?

समाधान—भ्रम का कारण मिथ्योपदेश की प्राप्ति तथा मिथ्या मान्यता है। ऐसा भी एकान्त नहीं है कि जीव के धर्म पुद्गल में न जाते हो और पुद्गल के धर्म जीव में न जाते हो। जब हम प्रात जिनमन्दिर मे जाते हैं तो वहाँ पर हमको जिनबिम्ब मे वीतरागता के दर्शन होते है। यदि जिनबिम्ब मे वीतरागता के हमको दर्शन न होते तो आर्षग्रन्थो मे जिनबिम्ब स्थापना का उपदेश न दिया जाता। वीतरागता आत्मा का धर्म है जिसका दर्शन पुद्गलमयी जिनबिम्ब मे होता है।

'मूर्त' पुद्गल द्रव्य का गुण है, क्योकि **'रूपिणः पुद्गलाः ॥५।५॥'** ऐसा सूत्र वाक्य है। किन्तु जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन से बधा हुआ है इसलिये वह मूर्तभाव को प्राप्त हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने **तत्त्वार्थसार** मे कहा भी है—

तथा च मूर्तिमानात्मा, सुराभिभवदर्शनात्।
नह्यमूर्तस्य नभसो, मदिरा मदकारिणी ॥१९॥ बंध-अधिकार

आत्मा मूर्तिक है, क्योकि उस पर मदिरा का प्रभाव देखा जाता है, अमूर्तिक आकाश मे मदिरा मद को उत्पन्न नही करती है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने भी **गो. सा जी गा** ५६३ मे कहा है—

'ससारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया।'

समारीजीव रूपी (मूर्तिक) है, और कर्मरहित सिद्धजीव अमूर्तिक है।

'रूपिष्ववधे' इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि अवधिज्ञान का विषय मूर्तपदार्थ है। ससारीजीव भी कर्मबध के वश से पुद्गलभाव को प्राप्त हो जाने मे अर्थात् मूर्त हो जाने से अवधिज्ञान का विषय बन जाता है। कहा भी है—

"कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवदव्वाणं च पच्चक्खेण परिच्छित्ति कुणइ ओहिणाणं।"

ज ध पु. १ पृ ४३

अर्थ—कर्मसम्बन्ध के वश से पुद्गलभाव को प्राप्त हुए जीवो को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है वह जीव है।

'अणंताणंतविस्सासुवचयसहिदकम्मपोग्गलक्खंधो सिया जीवो, जीवादो पुधभावेण तदणुवलंभादो।'

ध. पु १२ पृ. २९६

अर्थ—अनन्तानन्त विस्रसोपचयसहित कर्मपुद्गलस्कन्ध कथचित् जीव है, क्योकि वह जीव से पृथक् नही पाया जाता है।

'सरीरागारेण ट्ठिदकम्मणोकम्मक्खंधाणि णोजीवा, णिच्चेयणत्तादो। तत्थ ट्ठिदजीवा वि णोजीवा, तेसिं तत्तो भेदाभावादो।' ध. पु १२ पृ २९७

अर्थ—शरीराकार से स्थित कर्म व नोकर्मस्वरूप स्कन्धो को अजीव कहा जाता है, क्योकि वे चैतन्यभाव से रहित है। उनमे स्थित जीव भी अजीव है, क्योकि उसका उनसे भेद नही है।

इसप्रकार कर्मपुद्गलस्कन्धो को कथचित् जीव और जीवको कथचित् अजीव बतलाया है।

श्री देवसेनाचार्य ने आलापपद्धति मे भी कहा है कि जीव और पुद्गल दोनो के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त इन चारो स्वभावो सहित २१ स्वभाव होते है।

'जीवपुद्गलयोरेकविंशति ॥ २९ ॥

जीव मे और पुद्गल मे इक्कीस–इक्कीस स्वभाव होते है।

इसप्रकार एकद्रव्य का धर्म कथचित् दूसरे द्रव्य मे भी हो जाता है।

—**जै. ग. 2-12-71/VIII/ टो. ला. मि.**

संसारी जीव कथंचित मूर्त है, कथंचित् अमूर्त

शंका—मई १९६५ के सन्मतिसन्देश पृ. सं. ६२ पर लिखा है—'व्यवहारनय से ससारी जीव को मूर्त बतलाया है, किन्तु उसको न समझकर यह मानना कि यथार्थ में जीव मूर्त है, स्वरूपविपर्यास है।' क्या संसारीजीव मूर्त नहीं है ? यदि संसारी जीव यथार्थ में मूर्त नहीं है तो पूर्वकालीन आचार्यों ने अयथार्थ कथन क्यों किया ?

समाधान—भगवान् की दिव्यध्वनि मे दो नयो के अधीन कथन हुआ है—**'द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खलु एकनयायत्ता देशना, किंच तदुभयायत्ता।'** [पं. का गा ४ टीका]

अर्थ—भगवान् ने दो नय कहे है। द्रव्यार्थिक (निश्चय) और पर्यायार्थिक (व्यवहार)। वहाँ कथन एकनय के अधीन नही है, किन्तु दोनो नयो के अधीन होता है।

संसारिणो मुक्ताश्च [त सू २-१०], सूत्र द्वारा जीवों के ससारी और मुक्त, ये दो भेद पर्याय की अपेक्षा कहे हैं। यह भी व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय का विषय नही है।

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठ्ठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ [स सा. गा ५६]

अर्थ—ये जो वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त २९ भाव कहे गये है, वे व्यवहार नय से तो जीव के होते हैं, परन्तु निश्चयनय से इनमे से कोई भी जीव के नही है।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं। (स. सा. १४१)

अर्थ—जीव मे कर्म बद्ध तथा स्पृष्ट (स्पर्शित) हैं, ऐसा व्यवहारनय का वचन है, अर्थात् व्यवहारनय से जीव ससारी है, परन्तु निश्चयनय से जीव संसारी नही है।

जीव की बद्ध अवस्था अथवा ससारी अवस्था वास्तव मे सर्वथा अयथार्थ नही है। यदि ससारी अवस्था सर्वथा अयथार्थ हो तो मोक्ष और मोक्षमार्ग के अभाव का प्रसग आजायगा। इसलिए व्यवहारनय का विषय कर्म-बद्ध अवस्था अथवा ससारी अवस्था सर्वथा अयथार्थ नही है।

"आत्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।" [स सा गा १४ आ ख्या]

अर्थ— आत्मा के अनादि पुद्गल कर्म से बद्धस्पृष्टपने की अवस्थारूप से अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है–यथार्थ है। पुद्गल के स्पर्शन योग्य नही ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टपना असत्यार्थ (अयथार्थ) है।

जीव के मूर्तत्व और अमूर्तत्व के विषय मे भी इसीप्रकार जानना चाहिए। आत्मा के अनादि पुद्गलकर्म से बद्धस्पृष्टपने की अवस्था से अनुभव किये जाने पर मूर्तपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है—यथार्थ है। आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर मूर्तपना असत्यार्थ है—अयथार्थ है। इसलिए आत्मा के मूर्तत्व के विषय मे अनेकान्त है। कहा भी है—

.... . कर्मबन्धापेक्षया हि ते भावाः। न चामूर्तेः कर्मणा बन्धो युज्यते इति ? तन्न, अनेकान्तात्। नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात् स्यान्मूर्तः। यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेक प्राप्नोति ? नैष दोषः, बन्ध प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते। उक्तं च —

बध पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्त।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयतो होई जीवस्स ॥ स. सि. २।७।

अर्थ—प्रश्न–औपशमिकादि पाँच भाव नही बन सकते, क्योंकि आत्मा अमूर्त है। ये औपशमिकादिभाव कर्मबन्ध की अपेक्षा होते है, परन्तु अमूर्तआत्मा के कर्मों का बन्ध नही बनता है ?

उत्तर—आत्मा के विषय मे अनेकान्त है। यह कोई एकान्त नही कि आत्मा अमूर्त ही है। कर्मबन्धरूप पर्याय की अपेक्षा उससे युक्त होने के कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्धस्वरूप की अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो कर्मबन्ध के आवेश से आत्मा का ऐक्य हो जाने पर आत्मा का उससे भेद नही रहता।

उत्तर— यह कोई दोष नही। यद्यपि बन्ध की अपेक्षा अभेद है, तो भी लक्षण के भेद से कर्म और आत्मा का भेद जाना जाता है।

गाथार्थ—आत्मा बध की अपेक्षा एक है तथापि लक्षण की अपेक्षा वह भिन्न है। इसलिए जीव का अमूर्तिकभाव अनेकान्तरूप है। वह एक अपेक्षा से है और एक अपेक्षा से नही है।

"कम्मसंबधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवाजीवदव्वाण च पच्चक्खेण परिच्छित्ति कुणइ ओहिणाणं।
[ज. ध. पु. १ पृ. ४३]

अर्थ—कर्म के सम्बन्ध से पुद्गलभाव को प्राप्त हुए जीवो को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

"कध मुत्ताणं कम्माणममुत्तेण जीवेण सह संबंधो ? ण, अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स संसारावत्थाए अमुत्तत्ताभावादो।" [धवल १५।३२]

प्रश्न—मूर्त कर्मों का अमूर्तजीव के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—नही, क्योकि अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव के ससारावस्था मे अमूर्तत्व का अभाव है।

"द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च।" [ध. पु. १ पृ. २३४]

अर्थ—दो मूर्त पदार्थ (जीव और पुद्गल) के सम्बन्ध होने मे कोई विरोध भी नही आता है।

यदि ससारी जीव का मूर्तपना सर्वथा अयथार्थ माना जाय तो मदिरा आदि के सेवन करने पर ज्ञान मे मूर्च्छा नही होनी चाहिए थी, किन्तु ज्ञान मे मूर्च्छा देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि ससारी आत्मा मूर्तिक है। [**तत्त्वार्थसार**]

"अमुत्तो जीवो कध मणपज्जवणाणेण मुत्तट्ठपरिच्छेदियोहिणाणादो हेट्ठिमेण परिच्छिज्जदे ? ण, मुत्तट्ठ-कम्मेहि अणादिबंधबद्धस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो।"

शंका—क्योंकि जीव अमूर्त है, अतः वह मूर्त अर्थ को जाननेवाले अवधिज्ञान से नीचे के मनःपर्ययज्ञान के द्वारा कैसे जाना जा सकता है ?

समाधान—नही, क्योकि ससारीजीव आठ मूर्तकर्मों के द्वारा अनादिकालीन बन्धन से बद्ध है, इसलिये वह अमूर्त नही हो सकता। कहा भी है—

जीवाजीवं दव्वं रूवारूवि त्ति होदि पत्तेय।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया॥ [गो. जी. ५६३]

अर्थ—द्रव्य सामान्य के दो भेद है। एक जीवद्रव्य, दूसरा अजीवद्रव्य। इनमे से प्रत्येक दो-दो प्रकार का है—रूपी तथा अरूपी। वहाँ ससारी जीव रूपी है और कर्म से मुक्त सिद्धजीव अरूपी है।

इसी कथन को **देवसेनाचार्य** ने इसप्रकार किया है—

मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो न मोक्षस्यावाप्तिः स्यात्। सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथात्मनः संसारविलोपः स्यात्।

अर्थ—एकान्त से आत्मा को मूर्तिक मानने पर मोक्ष का अभाव हो जायगा। (इसीप्रकार) आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानने पर आत्मा के ससार का लोप हो जायगा।

अत मूर्त-अमूर्त के इस अनेकान्त मे किसी एक को अयथार्थ कहना एकान्तमिथ्यात्व है।

—जै. ग. 8-7-65/IX/... ....

आत्मा कथंचित् मूर्तिक है—

शंका—मोक्षमार्गप्रकाशक दूसरा अधिकार पृ० ३५ पर इसप्रकार लिखा है—"जो मूर्तीक-मूर्तीक का तौ बन्धान होना बने, अमूर्तीक मूर्तीक का बन्धान कैसे बने ? ताका समाधान—जैसे इन्द्रियगम्य नहीं ऐसे सूक्ष्म पुद्गल और व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं ऐसे स्थूल पुद्गल, तिसका बन्धान होना मानिये है। तैसे इन्द्रियगम्य होने योग्य नाहीं ऐसा अमूर्तीक आत्मा और इन्द्रियगम्य होने योग्य मूर्तीक कर्म्म इनका बन्ध मानना।" इसपर यह शंका है कि दृष्टान्त मूर्तिक-मूर्तिक का दिया गया है इससे मूर्तिक और अमूर्तिक का बन्ध कैसे सिद्ध होवे ? क्या मूर्तिककर्म इन्द्रियगम्य हैं ?

समाधान—पुद्गल के ६ भेद है—'स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म। इन छह भेदो मे से सूक्ष्मभेदरूप कार्माणवर्गणायें है। वे कार्माणवर्गणाएँ ही जीव के साथ कर्मरूप से बँधती है। कर्म किसी भी इन्द्रिय के द्वारा गम्य नही है। जैसा कि **गो. सा. जी. गा. ६०२ व ६०३** से सिद्ध है। **पंचास्तिकाय गाथा ७६ की टीका में तो श्री अमृतचन्द्र स्वामी** ने स्पष्ट कहा है कि 'कर्मवर्गणा सूक्ष्म है जो इन्द्रियगम्य नाही है'[1]।

आत्मा अमूर्तिक है, क्योकि आत्मा मे मूर्तत्व के हेतुभूत स्पर्श, रस, गध, वर्ण नही पाये जाते[2]। यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से है, क्योकि निश्चयनय की दृष्टि मे आत्मा अबन्ध है[3]। मोक्षमार्ग मे उक्त कथन निश्चयनय की अपेक्षा से तो है नहीं, क्योकि उक्त कथन मे आत्मा और पुद्गलमयी द्रव्य कर्मों के बन्ध को स्वीकार करके यह कहा गया है कि मूर्तिक अमूर्तिक का बन्ध होता है। **श्री वीरसेनस्वामी** ने मूर्त और अमूर्त के बन्ध का निषेध किया है, जैसा कि **ध. पु. ६ पृ. ५२** पर कहा—'शरीररहित होने से अमूर्त आत्मा के कर्मो का होना भी सम्भव नही है क्योकि मूर्तपुद्गल और अमूर्त आत्मा के सम्बन्ध होने का अभाव है।'

'कर्म मूर्त है और जीव अमूर्त है, इन दोनो का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?' यह प्रश्न आचार्यो के सामने भी रहा है। **श्री वीरसेनस्वामी** ने तो इस प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि "जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन से बधा हुआ है इसलिये कथचित् मूर्तपने को प्राप्त हुए जीव के साथ मूर्तकर्मो का सम्बन्ध बन जाता है।" **(ज. ध. पु. १ पृ. २८८)**। अनादिकालीन बन्धन मे बद्ध रहने के कारण जीव के ससारावस्था मे अमूर्तत्व का अभाव है। **(ध. पु. १५ पृ. ३२)**। मूर्त आठ कर्मजनित अनादिशरीर से सबद्ध जीव ससारावस्था मे सदाकाल इससे अपृथक् रहता है। अतएव उसके सम्बन्ध से मूर्तभाव को प्राप्त हुए जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध होने मे कोई विरोध नही है **(ध. पु. १६ पृ. ५१२)**।" **श्री जयसेनाचार्य** ने भी इसीप्रकार कहा है—'यद्यपि यह आत्मा निश्चयनय से अमूर्त है तथापि अनादि कर्मबन्ध के वश से व्यवहारनय से मूर्त होता हुआ द्रव्यबन्ध के निमित्तभूत रागादि-विकल्परूप भावबधोपयोग को करता है। इसमे मूर्त द्रव्यकर्मों के साथ सश्लेषसबध होता है **(प्र. सा. गा. १७४ की टीका)** निश्चयनय से जीव यद्यपि अमूर्त है तथापि व्यवहारनय से मूर्तपने को प्राप्त जीव के बध सम्भव है **(प. का. गाथा १३४ की टीका)**।" **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने इस सम्बन्ध मे इसप्रकार कहा है। "मूर्त, मूर्त को स्पर्श करता है, मूर्त, मूर्त के साथ बन्ध को प्राप्त होता है, मूर्तत्वरहित जीव मूर्तकर्मों को अवगाह देता है और मूर्तकर्म जीव को अवगाह देते है **(प. का. गाथा १३४)** जैसे रूपादिरहित जीव रूपीद्रव्यो को तथा गुणो को देखता जानता है उसीप्रकार उसके साथ बध जानो **(प्र. सा. गाथा १७४)**।" जीव और कर्मो का अनादिसबध स्वीकार किया है, यदि सादि सम्बन्ध स्वीकार किया होता तो यह दोष आ सकता था कि अमूर्त जीव के साथ मूर्तकर्म का बध कैसे हो सकता है? **(ज. ध. पु. १ पृ ५९)**।

'कर्मबध अवस्था मे जीव मूर्तिक है' इस सम्बन्ध मे एक प्राचीन गाथा है जिसको सर्वार्थसिद्धि, पचास्तिकाय, द्रव्यसग्रह आदि ग्रन्थों की टीका मे उद्धृत किया गया है। वह गाथा इसप्रकार है—

"बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो, हवइ तस्स णाणत्त।
तम्हा अमुत्ति भावोऽणे यतो होइ जीवस्स ॥"

१. **सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः।**
२. **वृहद् द्रव्यसग्रह गाथा ७।**
3 **समयसार गाथा १४१।**

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पं. का. गा २७ व ९७ की टीका मे तथा समयसार मे शक्तियो **के** कथन मे बीसवी शक्ति मे ससारावस्था मे आत्मा को कथचित् मूर्तिक स्वीकार किया है।

अत उपर्युक्त आगम प्रमाणो से यह सिद्ध है कि आत्मा कर्मसम्बन्ध के कारण कथंचित् मूर्तिक है अत. मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्म से बन्ध होना सम्भव है।

—जै ग 6-6-63/Page/IX/ **प्रकाशचन्द**

(१) अनेकान्त का स्वरूप एवं उदाहरण [कथंचित् आत्मा चेतन है, कथंचित् अचेतन]
(२) "नियति" एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—अनेकान्त किसे कहते हैं ? आगमानुसार अनेकान्त का लक्षण क्या है ? अस्ति-नास्ति ये दो भंग अनेकान्त के करते हैं तब उनका क्या अर्थ होता है ?

आत्मधर्म मार्च १९६४ के अङ्क में ऐसा दिया है कि स्व-स्वरूप की अस्ति और विरुद्ध स्वभाव की नास्ति ऐसा अनेकान्तस्वरूप पदार्थ होता है। यह कथन आगम सम्मत है या नहीं ? 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के अनुसार भी कुछ ऐसा ही लगता है कि 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है, क्योंकि यह तो भ्रम है। 'ऐसे ही है, अन्य नहीं है' अनेकान्त का ऐसा स्वरूप कई जन मानते हैं। स्व-स्वरूप से अस्ति पररूप से नास्ति ऐसा मानने पर भी प्रतिपक्षपना प्रगट नहीं होता। तब अस्ति-नास्ति में प्रतिपक्षपना कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—'अनेकान्त' दो शब्दो से मिलकर बना है, अनेक + अन्त। 'अनेक' का अर्थ 'एक से अधिक' है। 'अन्त' का अर्थ 'धर्म' है। 'अनेकान्त' का अर्थ 'अनेक धर्मात्मक' है। यहाँ अनेक धर्म से परस्पर प्रतिपक्षी दो धर्म लिये गये है। जैसे 'अस्तित्व' का प्रतिपक्षी 'नास्तित्व', नित्यत्व का प्रतिपक्षी अनित्यत्व, अनेक का प्रतिपक्षी एक, भेद का प्रतिपक्षी अभेद, काल का प्रतिपक्षी अकाल, नियति (क्रमबद्धपर्याय) का प्रतिपक्षी अनियति (अक्रमबद्धपर्याय, क्रमाबद्धपर्याय), तत् का प्रतिपक्षी अतत् इत्यादि। ये सब धर्म अपेक्षा भेद से प्रत्येकवस्तु मे अवश्य पाये जाते है। इसलिये प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त कहा जाता है। प्रत्येकवस्तु मे अनेकधर्म तो प्राय सभी मतवाले मानते हैं, किन्तु उसको अनेकान्त नही कहते। परस्पर दो विरोधी धर्मो का एक वस्तु मे पाया जाना अनेकान्त है। **श्री अमृतचन्द्र ने भी समयसार** की टीका मे कहा है—

"एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः।"

अर्थ—एकवस्तु मे वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

प्रत्येकवस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य और विशेष दोनो परस्पर विरोधीधर्म है। अत वस्तु को जाननेवाले के क्रमश सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें (नय) है द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

इनमे से पर्यायार्थिकचक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र द्रव्यार्थिकचक्षु के द्वारा देखा जाता है तो मात्र एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवादिपर्याय (विशेष) दृष्टिगोचर नही होते अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा उस जीवद्रव्य मे नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवपर्यायें नही हैं, किन्तु पर्यायार्थिकनय की दृष्टि

से उस जीव द्रव्य मे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवादिपर्यायो का अस्तित्व पाया जाता है। अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा नरकादिपर्यायो की अस्ति है, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नरकादिपर्यायो की नास्ति है।

प्र. सा. गाथा ११४

पचास्तिकाय मे भी कहा है—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूपा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥ ८॥

अर्थ—सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, एक है, सर्वपदार्थस्थित है, सविश्वरूप है, अनन्तपर्यायमय है और सप्रतिपक्ष है।

टीका—"**द्विविधा हि सत्तामहासत्तावान्तरसत्ता च। तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी साहश्यास्तित्व सूचिका महासत्ता। अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। तत्र महासत्ताऽवान्तरसत्तारूपेणाऽसत्ता-ऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणाऽसत्तेत्यसत्ता सत्ताया।**"

अर्थ—सत्ता दो प्रकार है—महासत्ता और अवान्तरसत्ता। उनमे सर्वपदार्थसमूह मे व्याप्त होनेवाली स्वरूपअस्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता (सामान्यसत्ता) है। दूसरी प्रतिनियत वस्तु में रहनेवाली स्वरूप-अस्तित्व को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता (विशेषसत्ता) है। वहाँ महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से (अवान्तरसत्ता की अपेक्षा) असत्ता है। अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से (महासत्ता की अपेक्षा) असत्ता है। इसलिये सत्ता (अस्ति) का प्रतिपक्षी असत्ता (नास्ति) है।

इस सम्बन्ध मे अन्य भी उदाहरण दिये जा सकते है—जब वस्त्र मे तन्तु अनपेक्षित रहते हैं तब केवल एकवस्त्ररूप अस्तित्व प्रतीत होता है और जब वस्त्र की अपेक्षा न रहकर तन्तुओ की प्रधानता हो जाती है तब वस्त्र की प्रतीति न होकर केवल तन्तुओ की ही प्रतीति होती है अर्थात् तन्तुओ की अपेक्षा वस्त्र की नास्ति है।

श्री अकलंकदेव 'स्वरूपसम्बोधन' मे इसप्रकार कहते है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैर चिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः॥ ३॥

अर्थ—प्रमेयत्वादि धर्मों की अपेक्षा अचेतनरूप है और ज्ञानदर्शन की अपेक्षा चेतनरूप भी है। अत आत्मा चेतन-अचेतनरूप है।

ज्ञानाद्भिन्नं न च भिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथञ्चन॥ ४॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान मे भिन्न है, अर्थात् संज्ञा, सख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा ज्ञान मे आत्मा भिन्न है। आत्मा ज्ञान से भिन्न नही है, अर्थात् आत्मा और ज्ञान के प्रदेश भिन्न नही हैं, इसलिये ज्ञान से आत्मा अभिन्न है। इसप्रकार ज्ञान से आत्मा कथचित् अभिन्न है।

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैवसः।
ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा॥ ५॥

अर्थ—वह आत्मा अपने शरीर के बराबर नहीं भी है, अर्थात् समुद्घातअवस्था में मूलशरीर से बाहर भी आत्मा के प्रदेश निकल जाने से मूलशरीर के बराबर नहीं रहता। वह आत्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र नहीं भी है। अर्थात् ज्ञानगुण को मुख्य करके अन्यगुणों को गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा ज्ञानमात्रदृष्टि में आता है और यदि अन्यगुणों को मुख्य किया जाय तो ज्ञानमात्र दृष्टि में नहीं भी आता। लोकपूरण केवलीसमुद्घात की अपेक्षा आत्मा विश्वव्यापी है अन्य अवस्था में विश्वव्यापी नहीं है। अथवा केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोकालोक को जानने की अपेक्षा आत्मा सर्वगत है, क्योंकि सम्पूर्णपदार्थ आत्मा से गत अर्थात् ज्ञात है। सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हुए भी आत्मप्रदेश विश्व में व्याप्त नहीं हुए इसलिये विश्वव्यापी नहीं भी है।

श्री अकलंकदेव ने आत्मा को चेतन भी कहा है और अचेतन भी कहा है। यह नहीं कहा कि आत्मा चेतन है, अचेतन नहीं है, क्योंकि चेतन के प्रतिपक्षीधर्म अचेतन को स्वीकार नहीं करने से एकान्त का पक्ष आ जायगा, जो मिथ्यात्व है।

इसीप्रकार जीव स्वदेहप्रमाण भी है और स्वदेहप्रमाण नहीं भी, ज्ञान से जीव भिन्न भी और ज्ञान से जीव अभिन्न भी है। परस्परविरोधी दोधर्मों में से किसी एकधर्म को तो स्वीकार करे और उनके प्रतिपक्षी दूसरे धर्म को अस्वीकार करे तो एकान्तमिथ्यात्व का दोष आजायगा। अनेक विद्वान अनेकान्त के इस यथार्थस्वरूप को न समझने से यह कह देते हैं कि 'ऐसे भी है ऐसे भी है' यह अनेकान्त भ्रमरूप है। किंतु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्नदृष्टियों के द्वारा देखने से वह अनेकप्रकार दृष्टिगोचर होती है।

एक ही मनुष्य अपने पिता की दृष्टि से 'पुत्र' है, किन्तु वही मनुष्य अपने पुत्र की अपेक्षा से 'पिता' है अर्थात् एक ही मनुष्य में 'पुत्र और पितारूप' दोनों धर्म है। ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से हैं, एक अपेक्षा से नहीं है।

बौद्धमत को और सांख्यमत को चलानेवाले साधारणव्यक्ति नहीं थे, क्योंकि साधारण व्यक्ति एक नवीनमत नहीं चला सकता इन्होंने भी अनेकान्त (ऐसे भी है और ऐसे भी है) को भ्रम बतलाया क्योंकि वे यह समझ नहीं पाये कि यह भिन्न अपेक्षाओं से कथन किया गया है और वे दोनों अपेक्षाएँ सत्य है। जैसे संसारी जीव पर्यायार्थिकनय (व्यवहारनय) से रागी-द्वेषी है, किन्तु स्वभावनय (निश्चयनय) से रागी-द्वेषी नहीं है। ये दोनों ही बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। इनमें से किसी एक को सत्य मानना दूसरी को असत्य मानना एक भ्रम है। इसीप्रकार व्यवहारनय से द्रव्य अनित्य है और निश्चयनय से द्रव्य नित्य है। पर्यायों का उत्पाद तथा नाश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है पर्यायों से भिन्न द्रव्य दृष्टिगोचर होता नहीं अतः बौद्धमतवालों ने द्रव्य को सर्वथा अनित्य मान लिया। पर्याय व्यवहारनय का विषय है, और द्रव्य निश्चयनय का विषय है। अतः बौद्धों ने व्यवहारनय को सत्यार्थ और निश्चयनय को असत्यार्थ मान लिया। सांख्य ने व्यवहारनय को असत्यार्थ मान और निश्चयनय को सत्यार्थ मान द्रव्य को सर्वथा नित्य मान लिया। यदि वे दोनों नयों के विषयों को अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्यार्थ मानकर द्रव्य को नित्य भी है अनित्य भी है ऐसा स्वीकार कर लेते तो यथार्थ वस्तुस्वरूप समझ में आजाता।

वर्तमान में एक नवीनमत चला है जो एकान्तनियति का प्रचार कर रहा है। 'पर्यायें सर्वथा नियत हैं अनियत नहीं हैं' यह अनेकान्त है। इसप्रकार अनेकान्त का विपरीतस्वरूप बतलाकर दिगम्बर जैन समाज को कुमार्ग अर्थात् एकान्तमिथ्यात्व में ले जा रहा है। इस नवीनमत में "पर्यायें नियत भी हैं अनियत भी है।" इस यथार्थ अनेकान्त को भ्रम बतलाया जाता है। **सर्वज्ञवाणी के अनुसार श्री गौतमगणधर** ने द्वादशांग की रचना की

थी। उस द्वादशाग के दृष्टिवादनामक बारहवें अग मे इस 'नियति' को एकान्तमिथ्यात्व कहा है। जिनको सर्वज्ञ-वाणी पर श्रद्धा नही है अर्थात् सर्वज्ञ पर श्रद्धा नही है वे इस मत को मानने लगे हैं।

—जै. ग. 12-11-64/IX-X/ र. ला. जैन, मेरठ

कथंचित् कर्मों ने जीव को रोका है

शंका—क्या कर्मों ने जीव को नहीं रोका, किन्तु जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से रुका ?

समाधान—विपरीत पुरुषार्थ मे कारण क्या केवल जीव ही है या जीव के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण है ? यदि केवल जीव ही कारण होता तो सिद्धो मे भी विपरीतपुरुषार्थ होना चाहिये था, क्योकि कारण के होनेपर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है। यदि कारण के होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो तो कार्य की सर्वथा अनुत्पत्ति का प्रसग आ जायेगा, किन्तु सिद्धो मे विपरीतपुरुषार्थ नही पाया जाता। अत सिद्ध हुआ कि मात्र जीव ही विपरीतपुरुषार्थ का कारण नही है, किन्तु जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी विपरीतपुरुषार्थ मे कारण है, जिसका अभाव होने पर सिद्धो मे विपरीतपुरुषार्थ नही होता। कहा भी है—'यदि एकान्त से ऐसा माना जाय कि जीव स्वय क्रोधादिरूप परिणमन कर जाता है तो यह दोष होगा कि उदय मे प्राप्त द्रव्य क्रोध के निमित्त के बिना भी यह जीव भावक्रोधादिरूप (विपरीत पुरुषार्थ रूप) परिणमन कर जावे, क्योकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नही रखती। ऐसा होने पर मुक्तात्मा सिद्धजीव भी द्रव्यकर्म के उदय न होने पर भी क्रोधादिरूप (विकारीपरिणतिरूप) प्राप्त हो जावेंगे। यह बात मानी नही जा सकती, आगम से विरुद्ध ही है।' **(स. सा. गा १२१–१२५ श्री जयसेनाचार्य की टीका)**। यह कथन उपचार से नही है, किन्तु वास्तविक कथन है, क्योकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

जीव मे विपरीतपुरुषार्थ का कारण भी कर्मोदय है। कर्मोदय के (मोहनीयकर्मोदय) होने पर ही विपरीत पुरुषार्थ पाया जाता है और मोहनीयकर्मोदय के अभाव मे विपरीतपुरुषार्थ नही पाया जाता। कहा भी **है—जेणविणा जं णियमेण णोवलब्भदे त तस्स कज्जमियरं 'च कारणमिदि।' अर्थात्**—जिसके बिना जो नियम से नही पाया जाता है वह उसका कार्य व दूसरा कारण होता है, **(ध. ख. पु. १२ पृ. २८८) 'यस्मिन् सत्येव-भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्।' अर्थात्**—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नही होता वह उसका कारण होता है। ऐसा न्याय है। **(ध. ख पु १२ पृ. २८९)**। अत विपरीतपुरुषार्थ का कारण कर्मोदय है।

जिन जीवो के मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने के कारण विपरीतपुरुषार्थ का भी अभाव हो ऐसे **श्री अरहत भगवान** भी ८ वर्ष कम एककोटीपूर्व तक रुके रहते है इससे ज्ञात होता है कि रुकने मे कारण केवल विपरीतपुरुषार्थ नही है, किन्तु कर्मोदय भी कारण है अन्यथा तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय मे ही मोक्ष हो जानी चाहिये थी। न्यायशास्त्र द्वारा कार्यकारणभाव को भलीभाँति समझकर उपर्युक्त कथन ठीक-ठीक समझ मे आ सकता है।

—पं. सं 19-12-57/V/ रतनकुमार जैन

आत्मा और इन्द्रियों में कथंचित् एकत्व कथंचित् अनेकत्व

शंका—आत्मा और इन्द्रियो में एकत्व है या अन्यत्व ?

समाधान—इन्द्रियाँ दो प्रकार की है–(१) भावेन्द्रिय, (२) द्रव्येन्द्रिय। **(स. सि. २/१७-१८)** उनमे से लब्धि व उपयोगरूप भावेन्द्रिय तो आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय है, अतः आत्मा का और भावेन्द्रिय का प्रदेश-भेद नही है, किन्तु सज्ञा, सख्या, आदि की अपेक्षा भेद भी है।

निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है। उनमे से अन्तरगनिर्वृत्ति तो आत्मप्रदेशो की विशेष रचना है जो आत्मप्रदेशरूप होने से आत्मा से अभिन्न है, किन्तु पर्याय और पर्यायी सर्वथा अभिन्न नही है कथचित् भिन्न भी हैं, क्योकि पर्याय नाशवान है और पर्यायीरूप द्रव्य द्रव्यार्थिकनय मे अविनाशी है।

बहिरगनिर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय शरीररूप पुद्गलद्रव्य की पर्यायें है इस अपेक्षा से आत्मा से भिन्न है, किन्तु शरीर और आत्मा का परस्पर बध न होकर एक असमानजाति द्रव्यपर्याय बनी है इस अपेक्षा से अभिन्न है।

"बध पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्त।"

अर्थ—शरीर और आत्मा बध की अपेक्षा एक है, किन्तु लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न है इसप्रकार आत्मा और इन्द्रियो मे एकत्व या अन्यत्व के विषय मे एकान्त नही है अनेकान्त है। कथचित् भिन्न है, कथचित् अभिन्न है।

—जै ग 9-4-70/VI/ **रो ला मित्तल**

भावाऽभाव अभाव के कथंचित् भेद व अभेद

शंका—तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ० ११४४ पर लिखा है—'जो पदार्थ नहीं है उसका अभाव है। वह अभाव एकस्वरूप है, क्योंकि अभावस्वरूप से अभाव का भेद नहीं, अभावस्वरूप से वह एक ही है। उस अभाव से भिन्न-भाव है और वह अनेकस्वरूप है।' यहां प्रश्न है कि वह अभावरूप पदार्थ क्या है तथा उसका क्या स्वरूप है? यदि कहा जाय कि स्वमे परका अभाव है, किन्तु वह अभाव भी अनेकस्वरूप है, फिर एकस्वरूप क्यो कहा?

समाधान—वस्तु भावाभावात्मक है। यदि अभाव न माना जाय तो वस्तु के वस्तुअन्तर अर्थात् अन्य-वस्तुरूप होने का प्रसग आ जायगा, जिससे सकरादि दोषो की सम्भावना हो जायगी। अत प्रत्येकवस्तु मे उससे भिन्न सर्ववस्तुओ का अभाव है। वस्तु मे वह अभाव एकरूप है। स्व की अपेक्षा मे उस अभाव के भेद नही किये जा सकते है, अत स्व की अपेक्षा से वह अभाव एकरूप कहा गया है। किन्तु पर की अपेक्षा से वह अभाव अनेकरूप है जैसे घट-पटाभाव, पुस्तकाभाव आदि अनेकरूप है। जैनधर्म मे तुच्छाभाव स्वीकार नही किया गया है। जैसे जीव का अभाव अजीव नही है, किन्तु पुद्गलादि अजीवद्रव्य है जिनमे जीवत्वगुण का अभाव है। अत पुद्गल भावात्मक द्रव्यो को अजीव कहा गया है।

—जै ग 8-1-70/VII/ **रो. ला मित्तल**

धर्मात्मा कथंचित् दुनिया में अधिक समय नहीं रहते हैं; कथंचित् रहते भी हैं

शंका—हमारा ख्याल तो यह था कि जो धर्मात्मा जीव हैं वे दुनिया में ज्यादा दिन नहीं रहते, न सुख भोगते हैं और न दुःख भोगते हैं। मगर ईसरी जाने पर यह मालूम हुआ कि धर्मात्मा आदमी ज्यादा दिन तक जिन्दा रहता है। यह कहां तक ठीक है?

समाधान—आपका ख्याल ठीक है कि धर्मात्माजीव दुनिया (ससार) मे अधिककालतक भ्रमण नही करता उसकी ससारस्थिति अल्प रह जाती है। एकबार सम्यक्त्व हो जाने पर वह जीव अर्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक ससार मे भ्रमण नही करता। किसी अपेक्षा यह बात भी सत्य है कि धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) जीव न (सासारिक) सुख दु ख भोगता है। पं० **दौलतरामजी** ने कहा भी है—**'बाहिर नारक कृत दुख भोगे, अतर सुखरस गटागटी। रमत अनेक सुरनिसंग पै तिस, परनतितैं नित हटाहटी। चिन्मूरत दृगधारी की मोहि, रीत लगत है अटापटी ॥'**

किन्तु ईसरी मे जो यह बात कही गई 'धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) मनुष्य ज्यादा दिन तक जिन्दा रहता है। अर्थात् अधिक आयुवाला होता है' सो भी सत्य है। मनुष्य आयु शुभ आयु है अथवा पुण्यप्रकृति है। यह नियम है कि अतिसक्लेशपरिणामो से शुभायु की कर्मस्थिति अल्प पडती है और विशुद्ध परिणामो से अधिक पडती है। सम्यग्दृष्टि के अतिसक्लेशरूप परिणाम नही होते अत सम्यग्दृष्टि के मनुष्य आयु की अल्पस्थिति नही बँधती है। **श्री रत्नकरड श्रावकाचार श्लोक ३५** मे कहा भी है—**'जो जीव सम्यग्दर्शन करि शुद्ध हैं वे व्रतरहित हूं नारकीपणा, तिर्यंचपणा, नपुंसकपणा, स्त्रीपणा को नाहीं प्राप्त होय हैं। अर नीच कुल मे जन्म, विकृतअग तथा अल्पआयु का धारक और दरिद्री नहीं होय है।''** इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि धर्मात्मा आदमी ज्यादा दिन तक जिन्दा रहता है।

—जै. स 9-10-58/VI/**इतरसेन जैन, मुरादाबाद**

आत्मा में "नास्तित्व" धर्म स्व की अपेक्षा भी एवं पर की अपेक्षा भी

शंका—आत्मा मे जो 'नास्तित्व' धर्म है **वह स्व का अभाव सूचित करता है या पर का ?**

समाधान—आत्मा मे जो 'नास्तित्व' धर्म है वह पर की अपेक्षा से भी है और स्वकी अपेक्षा से भी है। 'आत्मा' स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव) की अपेक्षा से अस्ति है और परचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य, क्षत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति है। 'आत्मा' शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ इसप्रकार है—'अत' धातु निरतर गमन करनेरूप अर्थ मे है। सब गमनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती है। अत यहाँ पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इसकारण जो ज्ञानगुण मे सर्वप्रकार वर्तता है वह आत्मा है। आत्मा मे ज्ञान के अतिरिक्त अनन्तगुण है। अन्यगुणो की अपेक्षा 'आत्मा' सज्ञा सभव नही है। अत 'आत्मा' ज्ञानगुण की अपेक्षा से है अन्यगुणो की अपेक्षा से आत्मा नही है। इसप्रकार आत्मा मे स्वगुणों की अपेक्षा से 'नास्तित्व' है।

—जै स 22-1-59/V/ **घासीलाल जैन, अलीगढ़ (टौक)**

संसारी जीव कथंचित् शुद्ध है तथा कथंचित् अशुद्ध

शंका—संसारीजीव को क्या किसी भी नय से शुद्ध कहा जा सकता है ?

समाधान—आलापपद्धति मे द्रव्यार्थिकनय के दस भेद कहे गये है। उनमे से **पहला भेद कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकनय है**। इस कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा ससारीजीव को सिद्धसमान शुद्ध कहा जा सकता है। क्योंकि इसनय की दृष्टि मे कर्मोपाधि की विवक्षा न होने से गौण है। कहा भी है—

"द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः ।। ४६ ।। कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिकः यथा संसारीजीवः सिद्धसदृशशुद्धात्मा ।। ४७ ।।"

कम्माणं मज्झगयं जीवं, जो गहइ सिद्धसंकासं।
भण्णइ सो सुद्धणओ खलु, कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥१८॥ [नयचक्र]

कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीवद्रव्य शुद्ध है जैसे ससारीजीव सिद्धसमान शुद्धआत्मा है।

कर्मों के बीच मे पड़े हुए जीव को सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करने वाला कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धनय है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ में भी "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इन शब्दो द्वारा यह कहा गया है, शुद्धनय (शुद्धद्रव्यार्थिकनय) की अपेक्षा सब जीव शुद्ध हैं।

यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से कर्मोपाधि को गौण करके संसारीजीवो को भले ही सिद्धसमान शुद्ध कह दिया जावे तथापि जबतक ससारीजीव कर्मों से बँधा हुआ है तबतक तो कर्मोपाधिसापेक्षअशुद्धद्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा समारीजीव अशुद्ध है, क्योकि उसके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप शुद्धस्वभाव का अभाव है तथा अचक्षु आदि तीन दर्शन, मति आदि चार ज्ञान, क्षायोपशमिक वीर्य, इन्द्रियसुख (सुखाभास) का सद्भाव है।

यदि ससारीजीव को सिद्धसमान सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तो **'संसारिणो मुक्ताश्च'** यह सूत्र तथा ससारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधा स्मृता ' **श्री अमृतचन्द्राचार्य** के ये वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे।

"संसारो विद्यते येषां ते संसारिणः। मुक्ताः संसारान्निवृत्ता इत्यर्थः।" जिनके पचप्रकार परिवर्तनरूप ससार विद्यमान है वे जीव ससारी है और जो ससार से निवृत्त हो गये है अर्थात् अष्टकर्मों का क्षयकरके सिद्ध हो गये है वे मुक्त जीव है। इसप्रकार ससारीजीव और मुक्तजीव मे महान् अन्तर है।

ससारीजीव भी पचमहाव्रत, पचसमिति और तीनगुप्ति इस तेरहप्रकार के चारित्र द्वारा कर्मों का क्षय करके सिद्धसमान शुद्ध हो सकता है। वर्तमान मे तो ससारीजीव शुद्ध नही है। यदि ससारीजीव को वर्तमान मे भी शुद्ध मान लिया जाय तो मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जायगा।

द्रव्य जिससमय जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उससमय वह द्रव्य उसपर्याय से तन्मय हो जाता है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं, तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा, धम्मो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥
जीवो परिणमदि जदा सुहेण, असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि, हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

द्रव्य जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उसीसमय वह द्रव्य उसपर्याय के साथ तन्मय हो जाता है। इसलिये धर्मपर्यायरूप परिणमन करता हुआ आत्मा धर्मरूप हो जाता है। परिणमन स्वभावधारी यह जीव जब शुभभाव से अथवा अशुभभाव से परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ हो जाता है और जब शुद्धभाव से परिणमन करता है तब निश्चय से शुद्ध होता है।

इसीप्रकार यह परिणमन स्वभावधारीजीव जब संसार पर्यायरूप परिणमन करता है तब यह जीव ससारी होता है, किन्तु जब यह जीव चारित्र के द्वारा अष्टकर्मों का क्षयकर शुद्ध सिद्धपर्यायरूप परिणमन करता है तब यह जीव शुद्ध हो जाता है। एक जीव की एक ही समय मे ससारी और सिद्ध ऐसी दो पर्यायें नही हो सकती हैं। ससाररूप पूर्वपर्याय का व्यय (नाश) होने पर अपूर्व नवीन सिद्ध शुद्धपर्याय का उत्पाद होता है। जबतक ससार-रूप पर्याय विद्यमान है तबतक सिद्धपर्याय का उत्पाद नही हो सकता।

—जै. ग 22-5-75/VIII/ शान्तिलाल

प्रत्येक द्रव्य कथंचित् स्वतंत्र है, कथंचित् परतन्त्र

शंका—प्रत्येक द्रव्य कथचित् परतत्र व कथंचित् स्वतत्र है। क्या यह कथन सत्य है ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य द्रव्यदृष्टि से स्वतत्र है, पर्यायदृष्टि से परतत्र है, यह बात सिद्धो मे भी लागू होती है।

—पत्र 28-6-80/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

स्याद्वाद अधूरा सत्य नहीं है

शंका—श्री हेमचन्द्राचार्य ने स्याद्वाद को अधूरासत्य बतलाया है। अथवा यो कहा जाय कि स्याद्वाद अधूरेसत्य पर ले जाकर छोड़ देता है। सो यदि वास्तव में स्याद्वाद अधूरासत्य है तो पूर्णसत्य कौनसा है ? बताने की कृपा करें।

समाधान—किसी भी दि० जैनाचार्य ने स्याद्वाद को अधूरासत्य नही बतलाया है। सभी ने पूर्णसत्य बतलाया है।

वस्तुस्वरूप का अर्थात् उसके गुणो और पर्यायो का प्रमाण के द्वारा एकसाथ ज्ञान तो हो सकता है, किन्तु उसका एकसाथ विवेचन नही हो सकता है, क्योकि वचनो की प्रवृत्ति क्रम से होती है।

'क्रमप्रवर्तिनी भारती' (स्वामिकार्तिकेय संस्कृत टीका पृ० २२२) इसीलिये केवली की दिव्यध्वनि मे क्रम से ही आचाराग आदि का उपदेश होता है।

अक्रमज्ञानात्कथ क्रमवतावचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात्।" (ध पु. १ पृ ३६८)

केवली के अक्रमज्ञान से क्रमिकवचनो की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ऐसी शका ठीक नही है, क्योकि घटविषयक अक्रमज्ञान से युक्त कुम्भकार द्वारा क्रम से घट की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञान से क्रमिकवचनो की उत्पत्ति मान लेने मे कोई विरोध नही आता है।

यद्यपि वस्तु मे अनेकधर्म है, किन्तु वचनो के द्वारा एकसमय मे एक ही धर्म का कथन हो सकता है। जिसधर्म का कथन हो रहा है उसके अतिरिक्त अन्यधर्म भी वस्तु मे हैं इस बात को बतलाने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

'स्यात्' शब्द के प्रयोग के बिना विवक्षितधर्म को छोडकर शेष धर्मों के अभाव का प्रसग आजायगा। उनका अभाव मानने पर द्रव्यके लक्षण का अभाव हो जायगा और लक्षण का अभाव हो जाने पर द्रव्यके अभाव का प्रसग आता है। इसलिये द्रव्य मे अनुक्त समस्त धर्मों के घटित करने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। (ज. ध. पु. १ पृ ३०७)।

"स्याद्वाद सब वस्तुओ को साधनेवाला एक निर्बाध अर्हतसर्वज्ञ का शासन है, वह स्याद्वाद सब वस्तुओ को अनेकातात्मक कहता है, क्योकि सभी पदार्थों का अनेकधर्मरूप स्वभाव है।" (समयसार)।

इसप्रकार स्याद्वाद अधूरा सत्य नही है, किन्तु सर्वांग सत्य है।

—जै. ग. 29-8-68/VI/ रोशनलाल

उपादान निमित्त

निमित्त का लक्षण; निमित्त उपादान की असमर्थता का नाशक होता है

शंका—निमित्त का क्या लक्षण है ?

समाधान—फलटन से प्रकाशित समयसार पृ १२ पर निमित्त का लक्षण निम्नप्रकार दिया गया है—

"उपादानस्य परिणमनक्रियया सहैव तत्परिणमनानुकूलं परिणमनं यस्य भवति तस्यैव निमित्तत्वं, निमेदति सहकरोतीति निमित्तमिति निमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तेः, भवितृभवनव्यापारानुकूलव्यापारवन्निमित्तमित्येवंविधलक्षणत्वान्निमित्तस्य, एवंविधस्य निमित्तं लक्षणस्यामृतचन्द्राचार्यैः स्वोपज्ञटीकायां समर्थितत्वाच्च।"

उपादान के परिणमन की क्रिया के साथ उपादान के परिणमन के अनुकूल जिसका परिणमन होता है उसी को निमित्तपना प्राप्त है। निमेदति अर्थात् जो उपादान के साथ मे साहाय्य करता है वह निमित्त है। इस प्रकार निमित्त शब्द की व्युत्पत्ति है। होने वाले का (उपादानका) होनेरूप (परिणमनरूप) व्यापार के अनुकूल जिसका व्यापार होता है वह निमित्त है। इसप्रकार के निमित्त का लक्षण श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वोपज्ञ टीका मे कहा है।

"तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारीकारणं स्यात्।" अष्टसहस्री

जो उपादान की असमर्थता को खण्डित नही करता वह सहकारी कारण (साथमे करनेवाला निमित्त-कारण) कैसा ? अर्थात् सहकारी कारण (निमित्तकारण) उपादानकी असमर्थताको खडित करता है अथवा जो उपादान की असमर्थता को खडित करे वह सहकारीकारण अर्थात् निमित्तकारण है।

—जै. ग. 1-4-71/VII/ ट. ला. जैन

निमित्त बिना उपादान में परिवर्तन सम्भव नहीं

शंका—क्या निमित्त के बिना उपादान में परिवर्तन हो सकता है ?

समाधान—कोई भी परिणमन निमित्त के बिना नहीं हो सकता है। सब ही परिणमनो में कालद्रव्य साधारणनिमित्त है। अशुद्धपर्यायो मे कालद्रव्य के अतिरिक्त अन्य भी निमित्त कारण होते है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार द्वितीयाधिकार मे कहा भी है—

वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ ४२ ॥
न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते ।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥ ४३ ॥

अपनी-अपनी पर्यायो के द्वारा परिणमन करनेवाले द्रव्यो के कालद्रव्य हेतुकर्तृता को प्राप्त होता है, क्योकि वह कालद्रव्य वर्तना कराने वाला है। यद्यपि कालद्रव्य निष्क्रिय है, तथापि इस कालद्रव्य की हेतुकर्तृता विरुद्ध नही है, क्योकि निमित्तमात्र मे भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

प्रश्न यह होता है कि कालद्रव्य के परिणमन मे कौन निमित्त है ? ऐसी शका ठीक नही है, क्योकि कालद्रव्य स्वय के परिणमन मे और दूसरे द्रव्यो के परिणमन मे निमित्त है।

न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्याव्यपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तत्स्वभावत्वात्स्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥५।२२।१२॥ श्लोकवार्तिक

यदि कोई यो कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने मे काल द्रव्य साधारणहेतु है तो कालद्रव्य की वर्तना मे भी वर्त्तयिता किसी अन्यद्रव्य की आवश्यकता पडेगी और उस अन्यद्रव्य की वर्तना कराने मे भी द्रव्यान्तरो की आकाक्षा बढ जाने से अनवस्थादोष होगा। **श्री विद्यानन्द आचार्य** कहते है कि हमारे यहाँ इसप्रकार अनवस्थादोष नही आता है, क्योकि कालद्रव्य को अन्यद्रव्य की व्यपेक्षा नही है। अपनी वर्तना करने मे उस काल का वही स्वभाव है, क्योकि दूसरो की वर्तना कराने के समान कालद्रव्य की स्वय निज मे वर्तना करने की प्रसिद्धि हो रही है, जैसे आकाश दूसरो को अवगाह देता हुआ स्वय को भी अवगाह देता है, ज्ञान अन्य पदार्थों को जानता हुआ भी स्वय को जान लेता है। (**श्लोकवार्तिक पु ६ पृ. १६०**)

यदि यह कहा जाय कि जिसप्रकार कालद्रव्य निज परिणमन मे स्वय निमित्त है उसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने परिणमन मे अपने आप निमित्त क्यो न हो जावें ? ऐसा कहना ठीक नही है। जिसप्रकार घट स्व-परप्रकाशक नही है, किन्तु ज्ञान स्व-परप्रकाशक है उसीप्रकार अन्यद्रव्य स्व-पर परिणमन मे निमित्त नही है, किन्तु कालद्रव्य स्व-परपरिणमन मे निमित्त है। कहा भी है—

तथैव सर्वभावानां स्वयं वृत्तिर्न युज्यते ।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वादीनामिति विचिंतितम् ॥ ५।२२।१३ ॥ (श्लोकवार्तिक)

यहाँ किसी का यह कटाक्ष करना युक्त नही है कि जिसप्रकार काल स्वय अपनी वर्तना का प्रयोजकहेतु है, उसीप्रकार सम्पूर्ण पदार्थों की स्वयमेव वर्तना हो जायगी, कारण कि घट-पटादि सम्पूर्ण पदार्थों को स्वय वर्तना का प्रयोजकहेतुपना मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणो करके बाधा आती है। प्रदीप का स्वपरोद्योतन स्वभाव है, घट का नही।

विभावपरिणमन मे कालद्रव्य के अतिरिक्त अन्यद्रव्य भी कारण पडते है। कार्य की उत्पत्ति एक कारण से नही होती है, किन्तु अनेककारणो से होती है।

'कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ॥३१॥ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिप्रतिगृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षःघट पर्या-

येणाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादि बाह्यसाधन सन्निधानेन बिना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः।
रा. वा. ५।१७।३१

इस लोक मे कार्य अनेककारणो से सिद्ध होता हुआ देखा जाता है। जैसे मृत्पिण्ड मे घटरूप परिणमन करने की अतरग शक्ति है तथापि घटोत्पत्ति के लिये बाह्य कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर, जल, आकाश, काल आदि अनेक कारणो की अपेक्षा रखता है। कुलालादि बाह्यसाधनो के बिना अकेला मृतपिण्ड घटोत्पत्ति करने मे समर्थ नही है।

इसप्रकार कोई भी परिणमन क्यो न हो, उसको बाह्यनिमित्त की अपेक्षा रहती है।

—**जै ग** 14-12-72/VII/ **कमलादेवी**

निमित्त एवं उसके भेद तथा उदाहरण

शंका—'इष्टोपदेश' मे निमित्त को धर्मास्तिकायवत् कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे जीवद्रव्य चले तो धर्मद्रव्य निमित्त है, नहीं चले तो नहीं। तब इसप्रकार की स्थिति अन्य निमित्तो की है या नहीं ?

समाधान—'इष्टोपदेश' मे सब निमित्तो को धर्मास्तिकायवत् नही कहा है। निमित्त दो प्रकार के है—(१) प्रेरक (२) अप्रेरक (जैनसिद्धातदर्पण) जो अप्रेरकनिमित्त है, उनको ही इष्टोपदेश मे धर्मास्तिकायवत् कहा है, क्योकि, धर्मास्तिकाय अप्रेरकनिमित्त है (**सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र १**)। प्रेरकनिमित्त को अप्रेरकनिमित्त धर्मास्तिकायवत् कैसे कहा जा सकता है ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायादि अप्रेरकनिमित्त है। अप्रेरकनिमित्त की सहकारिता बिना भी कार्य नही होता। प्रेरकनिमित्त के कुछ उदाहरण इसप्रकार है—'भाववचन की सामर्थ्य से युक्त आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचनरूप से परिणमन करते है' (**सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सू. १९, राजवार्तिक अ. ५ सू. १९**)। अचेतन जडशरीर का विविध चेष्टा है, तिस चेष्टा का प्रेरक कोई निमित्त आत्मा है (**गोम्मटसार बडी टीका पृ १०६२, १०६४**)। चाक के एक दड की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चक्र घूमने लगता है (**बृहद्द्रव्यसग्रह गाथा २२ टीका**) 'पवन ध्वजा को प्रेरक कारण है' (**पचास्तिकाय गाथा ८८ टीका**) 'अयस्कात पत्थर (मकनातीस) लोहे की सूई को प्रेरित करता है' (**समयसार गाथा १६७ तात्पर्यवृत्ति**) 'कर्मों के द्वारा प्रेरित होकर' (**समयसार पृ. ३२२ ब्र. शीतलप्रसादजी कृत अनुवाद**)।

प्रेरकनिमित्त की स्थिति अप्रेरकनिमित्त समान नही है। जिससमय जिसप्रकार के कर्म का उदय होगा उससमय उस उदय के अनुसार जीव के परिणाम अवश्य होगे। जिससमय मिथ्यात्वप्रकृति का उदय होगा उससमय जीव के मिथ्यात्वभाव अवश्य होगे, जीव की इच्छा पर निर्भर नही है कि वह मिथ्यात्वभाव करे या न करे। कहा भी है' जो जीव को परतत्र करते है अथवा जीव जिनके द्वारा परतत्र किया जाता है उन्हे कर्म कहते है' (**आप्तपरीक्षा कारिका ११४-११५ टीका**)। धर्मास्तिकाय आदि अप्रेरकनिमित्त जीव को परतत्र नही करते। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्यकर्मोदय आदि प्रेरकनिमित्त धर्मास्तिकायवत् नही है।

—**जै स** 18-9-58/V/ **बंशीधर**

निमित्त व नैमित्तिक का स्वरूप, दोनों पर्याय हैं

शंका—निमित्त शब्द का क्या तात्पर्य है ? किसी विवक्षितकार्य मे जो द्रव्य कार्यरूप परिणमन करता है, वह द्रव्य नैमित्तिक कहा जाता है या कार्य को ही नैमित्तिक कहा जाता है ? जैसे मिट्टी घटरूप परिणमन करती

है। तो मिट्टी नैमित्तिक है या घटपर्याय नैमित्तिक है ?

समाधान—फलटन से प्रकाशित **समयसार पृ० १२** पर निमित्त का व्युत्पत्ति अर्थ इसप्रकार दिया है—

"उपादानस्य परिणमनक्रियया सहैव तत्परिणमनानुकूल परिणमनं कस्य भवति तस्यैव निमित्तत्वं, निमेदति सह करोतीति निमित्तमिति निमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तेः, भवितृभवनव्यापारानुकूल व्यापारवन्निमित्तमिति।"

निमित्त शब्द की निरुक्ति 'निमेदति सह करोतीति निमित्त' ऐसी है। इस निरुक्ति मे **'करोति'** इस मिडन्त या तिडन्तपद से परिणमनक्रिया का बोध होता है, क्योंकि परिणमन के बिना 'करोति' इस पद की वाच्य-भूत क्रिया नही हो सकती। इस परिणमनक्रिया का आश्रय निमित्तसंज्ञक पदार्थ होता है। इस क्रिया का आश्रय होने से वह निमित्तसंज्ञक पदार्थ कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होता है। यह उसकी संज्ञा अनुपचरित अर्थात् यथार्थ है। उपादान की परिणतिक्रिया के निमित्तकी परिणति अनुकूल होने से निमित्त को दी जानेवाली कर्तृसंज्ञा उपचरित अर्थात् व्यवहारनय को दृष्टि से दी गई है, क्योंकि निमित्त की परिणतिक्रियाकी उत्पत्ति की दृष्टि से आश्रय निमित्तभूत पदार्थ से भिन्न जो उपादानभूत पदार्थ होता है वह नही होता। निरुक्ति मे प्रयुक्त किया गया 'सह' यह शब्द 'यौगपद्य' इस अर्थ का द्योतक अथवा वाचक है। इस शब्द से दो पदार्थों का या उनकी परिणतियो का अस्तित्व ध्वनित होना है, क्योंकि दो पदार्थों के या परिणतियो के बिना यौगपद्य इस शब्द का या साहचर्य इस शब्द का भाव व्यक्त नही होता। इससे जब दो पदार्थों की परिणितियाँ समकालभाविनी होनेपर जिसकी परिणति उपादानभूत अन्यपदार्थों की परिणतिक्रिया मे सहायक होती है तब उस पदार्थ को निमित्त यह संज्ञा प्राप्त होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होनेवाली अन्यद्रव्य की परिणति को सहायकपरिणति कहने का कारण यह है कि वह उपादान की विशिष्ट कार्यरूपसे परिणति होने की शक्ति को अपनी शक्ति के द्वारा उत्तेजित प्रबोधित करना है। **समयसार फलटन पृ. २६।**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पन्न होनेवाली पर्याय तो नैमित्तिक है। उस पर्याय की उत्पत्ति मे अन्य द्रव्य की जो पर्याय सहकारीकारण होती है वह पर्याय निमित्त होती है। मिट्टीद्रव्य की घटरूप पर्याय तो नैमित्तिकपर्याय है तथा कुम्भकार जीवद्रव्य की घटोत्पत्ति के अनुकूल योग-उपयोगरूप पर्याय निमित्त है। मिट्टीरूप पुद्गलद्रव्य नैमित्तिक नहीं है और कुम्भकार जीवद्रव्य निमित्त नही है, क्योंकि द्रव्य तो द्रव्यदृष्टि मे अनादि-अनिधन होने के कारण अकार्य-अकारण होता है, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्य का न उत्पाद है और न व्यय है। पर्यायदृष्टि मे उत्पाद व व्यय होता है अत उपादान की पर्याय नैमित्तिक है और अन्यद्रव्य की सहकारीपर्याय निमित्त है। यदि द्रव्य को ही नैमित्तिक और निमित्त मान लिया जाय तो निमित्त-नैमित्तिकभाव का कभी विनाश नही होने का प्रसग आ जायगा। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥ समयसार

टीका—आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः।

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचिवि, कारणमवि तेण ण सो होइ ॥ ३१० ॥ स. सा

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥ ११ ॥ पं० काय०

जीवद्रव्य, (जो अनादि-अनन्त है) घट को नहीं करता और न पट को करता है तथा अन्य द्रव्यों को भी नहीं करता है। जीवद्रव्य की जो उपयोग-योगरूप विनाशीकपर्याय है, वह घटादि (पुद्गलद्रव्य की पर्यायों) की उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करने में निमित्त है।

आत्मद्रव्य किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है (अनादि है) इसलिये किसी का किया हुआ कार्य नहीं है। वह आत्मद्रव्य किसी अन्यद्रव्य को उत्पन्न नहीं करता (अविनाशी है), इसलिये वह आत्मद्रव्य किसी अन्य-द्रव्य का कारण भी नहीं है।

द्रव्य का उत्पाद व विनाश नहीं है सद्भाव (नित्य) है। उसद्रव्य की पर्यायें विनाश-उत्पाद करती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध दो द्रव्यों की पर्यायों में है।

—जै ग 24-8-72/VII/ **र. ला. जैन; मेरठ**

निमित्त के हट जाने पर नैमित्तिक क्रिया का अनियमत होना

शंका—क्या निमित्त के हट जाने पर भी नैमित्तिकवस्तु में क्रिया होती रहती है ?

समाधान—निमित्त के हट जाने पर नैमित्तिकक्रिया रहती भी है और नहीं भी रहती, एकान्त नियम नहीं है। डंडे के हट जाने पर भी चाक में क्रिया होती रहती है अर्थात् वह घूमता रहता है। घोड़े के हट जाने पर गाडी का चलना रुक जाता है।

—जै ग. 23-9-71/VII/ **टी ला. मित्तल**

मुमुक्षु जीव को दृष्टि निमित्त व उपादान दोनों को सुधारने की होती है

शंका—मुमुक्षुजीव को उपादान को सुधारने की ओर दृष्टि रखनी चाहिये या निमित्त को सुधारने की ओर ? अपने को न सुधारकर निमित्त ही सुधारने से काम चल जायगा ? क्योंकि निमित्त ही के आधीन है।

समाधान—मुमुक्षुजीव को उपादान और निमित्त दोनों को सुधारने की ओर दृष्टि रखनी चाहिये। उत्तम उपज के लिये बीज व पृथ्वी आदि दोनों ही उत्तम होने चाहिये अन्यथा पैदावार उत्तम नहीं हो सकती। एक ही बीज होने पर भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति की विपरीतता होती है। कारण के भेद से कार्य में भेद अवश्यम्भावी है (प्र. सा. गा २५५) जबतक जीव निमित्तभूतद्रव्य का (परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिक भूतभावों का (रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता (**समयसार गाथा २८३-२८५ टीका**)। **ज ध. पुस्तक १ पृष्ठ १०४** पर भी कहा है—'साधुजन, जो त्याग करने के लिये शक्य होता है, उसके त्याग करने का प्रयत्न करते हैं और जो त्याग करने के लिये अशक्य होता है उसमें निर्मम होकर रहते है, इसलिये त्याग करने के लिये शक्य भी हिंसायतन के परिहार करने पर अहिंसा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है।' यदि निमित्त को सुधारने की आवश्यकता न होती तो कुसंगति व अभक्ष्य आदि के त्याग का उपदेश क्यों दिया जाता ? उपादान को न सुधारकर केवल निमित्त को सुधारने से काम नहीं चलेगा। उपादान को सुधारने के लिये ही तो निमित्त को सुधारा जाता है। यदि उपादान के सुधारने की ओर लक्ष्य नहीं तो केवलनिमित्त को सुधारने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ लाभ नहीं।

—जै. स. 25-9-58/V/ **ब्रमीचंद**

उपादानकारण एवं कार्य (पूर्वोत्तरपर्यायें)

शंका—क्या उपादानकारण एवं कार्य में समयभेद होना आवश्यक नहीं ?

समाधान—पूर्वपरिणामसहित द्रव्य कारणरूप है और उत्तर परिणामसहित द्रव्य कार्यरूप है।

'पुव्व परिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तर परिणामजुदं त चिय कज्जं हवेणियमा ॥ २२२ ॥ (स्वा. का)

टीका—"द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वं पर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते । तदेव द्रव्यं जीवादिवस्तु उत्तरपरिणामयुक्तम् उत्तरपर्यायाविष्ट । तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्ट कारणभूतं मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं ।

टीकार्थ—पूर्वपरिणामसहित जीवादिवस्तु उपादानकारण है और वही जीवादि वस्तु उत्तरपर्यायसहित कार्यरूप होता है। कारणभूत पूर्वपर्यायसहित वही द्रव्य, जिसकी सामर्थ्य मणि-मन्त्रादि के द्वारा रोकी नही गई है, अन्य कारणो की सहकारिता मे उत्तरक्षण मे कार्य को उत्पन्न करता है।

पूर्वपरिणाम और उत्तरपरिणाम की दृष्टि से उपादानकारण और कार्य मे समय भेद है।

—जै ग 4-7-66/IX/ **प्रो मनोहरलाल**

शंका— उपादान कमजोर होता है उसमें कर्म का निमित्त है या नहीं ? अथवा यह आत्मा के पुरुषार्थ की नबलाई है। आत्मा मे नबलाई या सबलाई क्यो होती है, कुछ आभ्यन्तर निमित्त है या नहीं ?

समाधान— 'उपादान का कमजोर होना' उपादान की स्वाभाविक अवस्था है या वैभाविक अवस्था है। 'कमजोरी' अर्थात् 'वीर्यगुण की अपूर्णता' स्वाभाविक अवस्था तो हो नही सकती, क्योंकि स्वाभाविक अवस्था मे गुण अपूर्ण नहीं होता, पूर्ण होता है। दो भिन्न द्रव्यो के बन्ध होने पर विभाव (अशुद्धदशा) होता है। केवल एक द्रव्य मे विभाव नही होता जैसे—धर्म, अधर्म, आकाश, कालाणु, सिद्धजीव, पुद्गलपरमाणु मे विभाव नही है। पुद्गल परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बन्ध हो जाने पर विभाव हो जाता है। ससारीजीवमे भी अनादिकाल से कर्मबन्ध होने के कारण विभाव है। **(पं० का गाथा ५ व १६ पर श्री जयसेनाचार्य कृत टीका)**

आत्मा की कमजोरी मे द्रव्यकर्मोदय अवश्य निमित्त है। यदि द्रव्य कर्मोदय को निमित्त न माना जावे तो 'कमजोरी' जीव का स्वभाव हो जायगी और सिद्धो मे भी कमजोरी माननी पड़ेगी। कमजोरी कार्य है और कोई भी कार्य अन्तरग व बाह्यकारणो के बिना नही होता, ऐसा जैनागम का कथन है। जो इस आगम के विरुद्ध बाह्यकारण को कार्य की उत्पत्ति मे अकिंचित्कर (Good for Nothing) कहते है, वे जैनमत मे बाह्य है।

—जै ग 28-12-61

शंका—पेड़ से टूटा हुआ आम पड़ा-पड़ा बड़ा क्यों नहीं होता ?

समाधान—उस आम मे यद्यपि बढने की अन्तरग शक्ति विद्यमान है तथापि वृक्ष से पृथक् हो जाने के बाद उन बाह्य कारणो का अभाव हो गया जो उस आम के बढने मे निमित्त थे। अत टूटा आम बडा नही होता। कार्य की सिद्धि बाह्यसहकारीकारण और अन्तरगउपादानकारण से होती है। **(अष्टसहस्री पृ. १४९ कारिका २१)** जो कार्य दो कारणो से उत्पन्न होता है वह एक कारण से कभी उत्पन्न नही हो सकता। कहा भी है—

कारणद्वयं साध्यं न, कार्यमेकेन जायते ।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते ।। आराधनासार गाथा १३ ।

स्त्री और पुरुष दोनो से उत्पन्न होनेवाली सन्तान केवल स्त्री व केवल पुरुष से उत्पन्न नही होती। अन्तरग और बहिरग निमित्तो से उत्पन्न होनेवाला कार्य केवल अन्तरगनिमित्त से या केवल बहिरगनिमित्त से उत्पन्न नही हो सकता। बहिरगनिमित्त के अभाव मे वृक्ष से टूटा हुआ आम वृद्धि को प्राप्त नही होता।

—**जै. ग.** 28-12-61

(१) निमित्त के अर्थ, प्रकार एवं परिभाषा
(२) प्रेरक निमित्त कार्य का कर्ता होता है। अप्रेरक निमित्त कार्य में सहायक होता है

शंका—अंग्रेजी मे निमित्त कारण के लिये क्या NOMINATIVE–CAUSE **शब्द का प्रयोग हो सकता है ? उपादानकारण को अन्तरंगहेतु या अंतरंगकारण और निमित्तकारण को बहिरंगहेतु या बहिरंगकारण कहना क्या ठीक है ?**

समाधान—प्रत्येक कार्य अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति मात्र एक कारण से नही होती है, किन्तु समस्त अनुकूलसामग्री से और बाधककारणो के अभावमे होती है। कहा भी है—

"सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम् ।" आप्त-परीक्षा

अर्थात्—सामग्री कार्य की उत्पादक है, एक कारण नही। (एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती, किन्तु समस्त कारणो मे कार्य की उत्पत्ति होती है)।

"कारणसामग्गीदो उपज्जमाणस्स कज्जस्स वियलकारणादो समुप्पत्तिविरोहा ।" ध. पु. ६ पृ. १४१ ।

अर्थात्—कार्य कारणसामग्री से उत्पन्न होता है, उसकी विकलकारण मे उत्पत्ति का विरोध है।

"कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धिः ।" राजवार्तिक

अर्थात्—अनेककारणो मे कार्योत्पत्ति होती है, यह बात सिद्ध है।

इन आर्षग्रन्थो मे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मात्र उपादानकारण मे कार्य की उत्पत्ति नही होती। उस उपादानकारण के साथ अन्यसहकारीकारण भी कार्योत्पत्ति मे कारण होते है। उन सहकारी कारणो को ही 'निमित्तकारण' यह सज्ञा है।

यह सहकारीकारण (निमित्तकारण) उपादान कारण के साथ कार्य को करता है। **श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवार्तिक** मे कहा भी है—

"न चैककारणनिष्पाद्ये कार्यकरूपे कारणान्तरे प्रवर्तमानं सफलम् । सहकारित्वात्सफलमिति चेत्, किं पुनरिदं सहकारिकारणमनुपकारकमपेक्षणीयम् ? तदुपादानस्योपकारकं तदिति चेन्न, तत्कारणत्वानुषगात्, साक्षात्कार्ये व्याप्रियमाणमुपादानेन सह तत्कारणशीलं हि सहकारि न पुनः कारणमुपकुर्वाणम् ।"

इसका अभिप्राय यह है कि "कार्य एक कारण से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रवर्तमान अन्य कारणों को सफलपना है। जब सहकारीकारण है तो क्या वे कार्य के प्रति उपकार न करते हुए ही कार्य को अपेक्षित हो रहे हैं। यदि यह कहा जाये कि वे उपादानकारण के सहायक हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह उपादानकारण बन जायगा, कार्य का सहकारी न बन सकेगा। जो उपादानकारण की परम्परा न लेकर सीधा ही कार्य मे उपादान-कारण के साथ व्यापार करता है, अत उपादान के साथ उस कार्य को करने का स्वभाव होने से वह सहकारी कारण है।

कार्य करने मे अकेला उपादान असमर्थ है। निमित्तकारण अर्थात् सहकारीकारण के साथ ही उपादान कार्य करने मे समर्थ होता है। इसप्रकार सहकारीकारण की कार्य मे सहायता होने से उपादान की समर्थता खण्डित हो जाती है। इसी बात को **श्री विद्यानन्दस्वामी अष्टसहस्री** मे निम्नप्रकार करते है—

"तदसामर्थ्यमखण्डदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?"

अर्थात्—जो उपादान की असमर्थता को खण्डित करने मे अकिंचित्कर है, क्या वह सहकारी कारण हो सकता है ? 'अपितु न स्यादेव' वह सहकारी कारण नहीं हो सकता।

इससे सिद्ध है कि निमित्तकारण कार्योत्पत्ति मे सहायक होता है। कोष मे भी निमित्त कारण का अर्थ— 'वह कारण जिसकी सहायता या कर्तृत्व से कोई वस्तु बने' इसप्रकार किया है। अत निमित्त कारण को HELPER, APPARENT CAUSE, DEPENDENCE ON A SPECIAL CAUSE, INSTRUMENTAL OR EFFICIENT CAUSE कह सकते है।

निमित्तकारण दो प्रकार का है, एक प्रेरक दूसरा अप्रेरक अर्थात् उदासीन।

जैसे आत्मा के लिये द्रव्यकर्म प्रेरकनिमित्तकारण है और पवन ध्वजा के लिए प्रेरकनिमित्तकारण है।

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥१।६६॥ (परमात्मप्रकाश)

अर्थात्—आत्मा पगुके समान है, आप न कहीं जाता है न आता है। तीनों लोक मे इस जीव को कर्म ही ले जाता है कर्म ही ले आता है।

"प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्त्ताऽवलोक्यते।" प का.

अर्थात्—पवन अपने चचल स्वभाव से ध्वजाओ की हलन चलनरूप क्रिया का कर्त्ता देखने मे आता है।

इन आर्षवाक्यो से सिद्ध होता है कि प्रेरकनिमित्तकारण कार्य का कर्ता होता है अत प्रेरकनिमित्त-कारण Nominative-Cause है, किन्तु अप्रेरकनिमित्तकारण उपादान के साथ कार्योत्पत्ति मे सहायक होता है। जैसे मछलियोको जल तथा पक्षियो को पवन आदि चलने मे सहकारी होते है, किन्तु जल मछलियो और पवन पक्षियो को चलाता नहीं है। जल के बिना मछलियाँ और पवन के बिना पक्षी गमन नहीं कर सकते, अत गमनरूप कार्य मे इनकी सहायता की आवश्यकता होती है। कहा भी है—

"उदयं जह मच्छाण गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।" पं. का.

अर्थात्—जैसे इस लोकमे जल मछलियो के गमन के उपकार को सहाय होता है।

टीका—"**यथा हि जलं स्वयमगच्छन्मत्स्यानप्रेरयत्तेषां स्वयं गच्छतां गतेः सहकारिकारणं भवति।**"

अर्थात्—जैसे जल न तो स्वय चलता है और न मछलियो को चलने की प्रेरणा करता है (चलाता है), किन्तु जब स्वय मछलियाँ चलती हैं तो जल सहकारीकारण होता है।

"**पतत्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्ति प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं वावाप्तुम्............।**" (**राजवार्तिक**)

अर्थात्—पक्षी आदि गति या स्थिति के सम्मुख होते हुए भी बाह्य अनेककारणो (निमित्त कारणो) के बिना चल और ठहर नही सकते।

इसप्रकार जो अप्रेरकनिमित्तकारण है वह Nominative Cause नही हो सकता। वह तो Dependence on a Special cause या Helper cause होता है।

निमित्तकारण को प्राय बाह्यकारण कहा जाता है जैसा कि उपर्युक्त **राजवार्तिक** की पक्ति से स्पष्ट है। **श्लोकवार्तिक** मे भी निमित्तकारण को बाह्यकारण और उपादान को अन्तरगकारण कहा है जैसे—

"**बहिरन्तरुपाधिः यथासंख्यं सहकार्युपादानकारणैरनवस्थितं रहितं कार्यं यथार्थकृत्।**"

अर्थात्—बाह्यउपाधि सहकारीकारण और अतरगउपाधि उपादानकारण के बिना कार्य नही किया जा सकता।

सम्यक्त्वोत्पत्ति मे दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम आदि निमित्तकारण को अतरगकारण और जिनसूत्र तथा उनके ज्ञातापुरुष आदि निमित्तकारणो को बहिरगकारण कहा है—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥ [नियमसार]

अर्थात्—जिनसूत्र और उनके ज्ञातापुरुष सम्यग्दर्शन के बाह्यनिमित्त कारण है। दर्शनमोहनीय द्रव्यकर्म के क्षय आदि अतरगनिमित्त कारण है।

"**साधनं द्विविधं अभ्यन्तरंबाह्यं च। अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमोवा बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्म श्रवणं केषाञ्चिद्वेदनाभिभवः।**" (**स० सि०**)

अर्थ—सम्यग्दर्शन के साधन दो प्रकार है। १ अभ्यतर २ बाह्य। दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तरसाधन है। नारकियो मे चौथे नरक से पहले किन्ही के जातिस्मरण, किन्ही के धर्मश्रवण और किन्ही के वेदनाभिभव बाह्यसाधन हैं। (यहाँ पर अतरग और बहिरग दो प्रकार का निमित्तकारण का कथन है उपादानकारण आत्मपरिणाम इनसे अतिरिक्त है।)

—जै० ग 17-1-66/XII/ **प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन**

कारण-कार्य व्यवस्था

(१) कथंचित् कुम्भकार घट का कारण है
(२) 'कारण" की परिभाषा

शंका—'कुम्भकार घट का कारण है' क्या ऐसा मानना कारणविपर्यास है ?

समाधान—सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि 'कारण' किसे कहते हैं ? **प्रमेय रत्नमाला** मे लिखा है 'जिसके सद्भाव मे जिसकार्य की उत्पत्ति हो और जिसके अभाव मे कार्य की उत्पत्ति न हो वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है।'

"यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत् तत्कारणमिति।" [११३]

श्री वीरसेनस्वामी ने जो ध. पु. १२ मे कहा है—

"यदस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्।" ध. १२ पृ. २८९।

अर्थ—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके होने पर नही होता है वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है।

आप्त-परीक्षा मे भी कहा है—

"यत्र यदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकत्वं दृष्टम्।"

"तत्कारणकत्वस्यतदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणकस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः। पृ ४०–४१।

अर्थात्—जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक का अभाव है वह उसजन्य नही होता ऐसा देखा जाता है। जैसे जुलाहादि का घटआदि के साथ अन्वय-व्यतिरेक नही है। इसलिये घटआदि जुलाहादि-निमित्तकारणजन्य नही है अर्थात् जुलाहादि घटादि के निमित्तकारण नही है और यह निश्चित है कि जो जिसका कारण होता है उसका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। जैसे कुम्हार से उत्पन्न होने वाले घटादि मे कुम्हार का अन्वयव्यतिरेक स्पष्टत प्रसिद्ध है।

श्री राजवार्तिक मे भी कहा है—

"यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्ति प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्ष घटपर्यायेणाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः।" [५।१९।३१]

अर्थात्—मृतपिण्ड मे घटरूप परिणमने की सामर्थ्य होते हुए भी घटपर्याय के लिये बाह्य कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवरादि की अपेक्षा रखता है। कुलालादि बाह्यसाधन के बिना एक मृतपिंड ही घटरूप परिणमने मे समर्थ नही है।

श्री वीरसेनाचार्य ने ध पु. १३ पृ. ३४९ पर भी कहा है—

"एवं दुसंजोगादिणा अणुभाग परूवणा कायव्वा जहा मट्टिआ-पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीणं घडुप्पायणाणुभागो।"

अर्थात्—जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की शक्ति का कथन किया गया है, उसीप्रकार द्वि आदि सयोगीद्रव्यों की शक्ति का कथन करना चाहिये। जैसे मृत्तिका पिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल, कुम्हारादि की सयोगीशक्ति से घट की उत्पत्ति होती है।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है कि जिसप्रकार मृतिकापिण्ड उपादानकारण के बिना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसीप्रकार कुम्हारादि निमित्तकारणों के बिना भी घटकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

मात्र मृतिकापिंड को घट की उत्पत्ति का कारण मानना और कुम्हारादि को किसी भी अपेक्षा कारण न मानना कारणविपर्यास है। क्योंकि जब तक कार्योत्पादक हेतु का परिज्ञान नहीं हो जाता तबतक कार्य का परिज्ञान यथार्थता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा आर्ष वाक्य है—

"ण च कारणे अणवगए कज्जावगमो सम्मत्तं पडिवज्जदे।" [ध पु ११ पृ. २०५]

— **जै. ग.** 8-7-65/IX/...... ....

उपादान कारण कार्य से कथंचित् भिन्न होता है, कथंचित् अनुरूप (अभिन्न) यानी सर्वथा कारण के समान ही कार्य नहीं होता

शंका—जो गुण कारण में होते हैं वे ही कार्य में आते हैं अर्थात् कारण के अनुसार ही कार्य की निष्पत्ति देखी जाती है। जिसप्रकार ज्ञानावरणकर्म के विशेष क्षयोपशम को लब्धि और उससे जायमान परिणामों को उपयोग। यदि लब्धि को कारण और उपयोग को कार्य माना जाय तो दोनों के गुण एक होने से उपयोग को लब्धिरूप ही माना जायगा।

समाधान—कारण के सदृश ही सर्वथा कार्य हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है। पूर्वपर्यायसहित द्रव्य उत्तरपर्याय का कारण होता है।

पुव्वपरिणाम-जुत्तं कारण भावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥ २२२॥ स्वामिकार्तिकेय

अर्थ—पूर्वपरिणामसहित द्रव्य कारणरूप है और उत्तरपर्यायसहित द्रव्य नियम से कार्यरूप है।

"यथामृद्द्रव्यं मृत्पिण्डः उपादानकारणभूतः घट लक्षणं कार्यं जनयति।"

जैसे मिट्टी की पूर्वपिण्डपर्याय उपादानकारण होती है और वह उत्तररूप घटपर्याय को उत्पन्न करती है, किन्तु मिट्टीपिण्ड और घट सर्वथा समान नहीं है, एकदेश भिन्न है। मिट्टीपिण्ड जलधारण नहीं कर सकता, किन्तु घट जलधारण कर सकता है। कहा भी है—

"कश्चिदाह-केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारण सदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। तत्रोत्तरं दीयते—युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तन वर्णिकोपादानकारणवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादान कारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति। तर्हि पूर्वोक्त सुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते। ततः किं सिद्धं ? एकदेशेन निरा वरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूप विवक्षितैकदेश शुद्धनयेन संवरशब्दवाच्य शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारण भवति।" वृ द्र स. गा ३४ टीका।

कोई शका करता है—केवलज्ञान समस्त आवरण से रहित शुद्ध है, इसलिये केवलज्ञान का कारण भी समस्त आवरणरहित शुद्ध होना चाहिए, क्योकि 'उपादानकारण के समान कार्य होता है' ऐसा आगमवचन है ? इस शका का **उत्तर**—देते हैं—आपने ठीक कहा, किन्तु सोलहवानी के सुवर्णरूप कार्य का अधस्तन वर्णिकायें उपादानकारण होती हैं तथा मिट्टीरूप घटकार्य का मृतिकापिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादानकारण होता है। इन दोनो दृष्टान्तो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपादानकारण भी कार्य से एकदेश भिन्न होता है। (सोलहवानी सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रहवर्णिकायें उपादान कारण है और घट के प्रति मिट्टी-पिण्ड स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण है। सो ये कारण सोलहवानी के सुवर्ण और घटरूप कार्य मे एकदेश भिन्न है, बिलकुल सोलहवानी के सुवर्णरूप और घटरूप नही है। इसीप्रकार **सब उपादानकारण कार्य से एकदेश भिन्न होते हैं।**) यदि उपादानकारण का कार्य के साथ एकान्त से सर्वथा अभेद या भेद हो तो कार्य–कारण-भाव सिद्ध नही होता है, जैसा कि उपर्युक्त सुवर्ण और मिट्टी के दृष्टान्तो द्वारा स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध हुआ कि **क्षायोपशमिकज्ञान क्षायिकज्ञान का उपादानकारण होता है।**

इससे शकाकार को स्पष्ट हो जायगा कि लब्धि और उपयोग मे कारण–कार्य भाव होने पर भी कथचित् भेद है अत उपयोग लब्धिरूप नही हो सकता। लब्धि और उपयोग दोनो क्षायोपशमिकज्ञान की पर्यायें है इस अपेक्षा अभेद है, किन्तु दोनो पर्यायें भिन्न-भिन्न है इस अपेक्षा भेद है।

श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

"यदि मतिपूर्वं श्रुत तदपि मत्यात्मक प्राप्नोति कारणसदृशं हि लोके कार्यंदृष्टम् इति नैतदैकान्तिम्। दण्डादिकारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः।" सर्वार्थसिद्धि

यदि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है, क्योकि लोक मे कारण के समान ही कार्य देखा जाता है ? यह कोई एकान्तनियम नही है कि कार्य के समान कारण होता है। यद्यपि घट की उत्पत्ति दण्डादिक से होती है तो भी घट दण्डादिस्वरूप नही होता।

—**जै ग.** 23-1-69/VII/ **रो. ला मित्तल**

निमित्त व उपादान दोनों कारणों से कार्य होता है

शंका—जब रथ एक चक्र से चल सकता है जैसे सूर्य रथ केवल एक सूर्यरूपी चक्र (चक्का, पहिया) पर चलता है तो कार्य भी केवल एक कारण से हो जावे अंतरंग और बहिरंग दो कारणो की मानने की क्या आवश्यकता ?

समाधान—एक चक्र से रथ नही चलता, कहा भी है—**'नह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।' (राजवार्तिक)।** सूर्य रथ नही है। सूर्य विमान भी चक्र नही है। सूर्य तो अर्ध गोलक के सदृश है। सूर्य बिम्ब के उपरिम तल का

विस्तार एक योजन के इकसठ भाग मे से अड़तालीस भाग प्रमाण है और बाहल्य उससे आधा है। प्रत्येक सूर्य के सोलह हजार प्रमाण आभियोग्य देव होते है जो नित्य ही विक्रिया करके सूर्य नगर तल को ले जाते है (**तिलोयपण्णत्ती अधिकार ७ गाथा ६६, ६८, ८०)**। इसप्रकार सूर्य का दृष्टान्त विषम है।

अनुकूल समस्त सामग्री के होने पर और बाधक कारणो के अभाव मे कार्य होता है। मात्र एक कारण से कार्य नही होता। कहा भी है—**'सामग्री जनिका, नैकं कारणं।' (राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १७ वार्तिक ३१ व ३३)**। **अर्थात्** कार्य की अनेक कारणो से सिद्धि होती है। **श्री स्वामी समन्तभद्र आचार्य** ने भी **बृहद्स्वयंभू स्तोत्र** मे कहा है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ५९ ॥

अर्थात्—अन्तरंग मे विद्यमान मूलकारण के गुण और दोष को प्रकट करने मे जो बाह्यवस्तु कारण होती है वह उस मूलकारण के अगभूत अर्थात् सहकारीकारण है। केवल अभ्यन्तरकारण अपने गुणदोष की उत्पत्ति मे समर्थ नही है। भले ही अध्यात्मवृत्त पुरुष के लिये बाह्यनिमित्त गौण हो जॉय पर उनका अभाव नही हो सकता।

अन्य स्थल पर भी कहा है—**'यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः' अर्थात्**—कार्य बाह्य-अभ्यन्तर दोनो कारणो से होता है। **श्री सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र ८ की टीका** मे भी कहा है—'जो अन्तरंग और बहिरंग दोनोप्रकार के निमित्तो से होता है और चैतन्य का अन्वयी है वह परिणाम उपयोग कहलाता है।' इसीप्रकार **अध्याय ५ सूत्र ३० की टीका** मे भी कहा है—'अन्तरंग और बहिरंगनिमित्त के वशसे प्रतिसमय जो नवीन अवस्था प्राप्त होती है वह उत्पाद है। अत मात्र एक कारण से कार्य की सिद्धि नही होती है।

—**जै. ग.** 21-5-64/IX/ **सुरेशचन्द**

मोक्ष रूपी कार्य में कर्मोदय व पुरुषार्थ की कारणता

शंका—मोक्ष का पुरुषार्थ पहिले कर्मों के उदय से होता रहता है या इस जीव को कैसे कारण बनाने पड़ते हैं ?

समाधान—मोक्ष भी पर्याय है। प्रत्येक पर्याय के लिये अंतरंग और बहिरंग अनेक कारणो की आवश्यकता हुआ करती है। अत मोक्षप्राप्ति के लिये भी अनेककारणो की आवश्यकता होती है। यद्यपि यह जीवात्मा शुद्ध-निश्चयनय से एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञानानन्दमयी है तथापि व्यवहारनय से अनादिकर्मबन्धवशात् निगोदादि पर्यायो मे भ्रमण कर रहा है जहाँ पर मनरहित होने के कारण इतना भी ज्ञान का क्षयोपशम नही होता कि वह अपने हित-अहित के उपदेश को ग्रहण कर सके। इसप्रकार भ्रमण करते हुए कभी ऐसा योग मिलता है कि आयुबन्धकाल के समय चारित्रमोह के मन्दोदय के कारण इसके मनुष्यआयु का बन्ध हो जावे। यहाँ तक पुरुषार्थ की मुख्यता नही है, कर्मों की मुख्यता है। सज्ञी-पंचेन्द्रिय-पर्याप्त हो जाने पर यदि यह जीवात्मा अनेकान्तमयी वस्तु के यथार्थस्वरूप को समझने का प्रयत्न करे और उससमय ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन अनुभागोदय हो तथा परिणामो मे प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता हो तो इसको मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये तत्त्वो के यथार्थस्वरूप के उपदेश की भी आवश्यकता होती है। अत. जहाँ पर यथार्थ उपदेश प्राप्त हो सके ऐसे निमित्तो को मिलाना इसका कर्तव्य है। मात्र उपदेश से

सम्यग्दर्शन नही हो जाता है उस उपदेश के साथ-साथ कषाय का मदोदय तथा तत्त्वविचार करने की शक्तिरूप ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी होना चाहिये । इस जीवात्मा का तत्त्वपरीक्षा तथा तत्त्वअवधारणरूप पुरुषार्थ भी होना चाहिये । अत मोक्षप्राप्ति के लिये अनुकूल बाह्य और अतरगकारणो की अपेक्षा रहती है । कहा भी है— 'यद्यपि सिद्धगति मे उपादानकारण भव्यजीव होता है तथापि तीर्थंकरप्रकृति उत्तमसहननादि विशिष्टपुण्यरूप धर्म सहकारीकारण होते हैं । (**पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका**)[1] ।' 'निश्चय व व्यवहाररूप मोक्षकारणो के होने पर ही मोक्षकार्य होता है । (**पंचास्तिकाय गाथा १०६ टीका**)[2]।' 'मोक्ष भी होय है सो परम पुण्य का उदय और चारित्र का विशेष आचरणरूप पौरुषते होय है (**अष्टसहस्री कारिका ८८ पृ. २५७**)[3] ।' 'सहकारीकारणरूप मनुष्यगति के उदय से रहित अकेली विशुद्धि उन प्रकृतियो के बन्धव्युच्छेद करने मे समर्थ नही है, क्योकि कारण-सामग्री से उत्पन्न होनेवाले कार्य की विकलकारण से उत्पत्ति का विरोध है (**ध. पु ६ पृ. १४१**) इसप्रकार पूर्वकर्मोदय और इस जीवका बुद्धिपूर्वक समीचीनपुरुषार्थ दोनो ही मोक्षकार्य के लिये उपयोगी है ।

—जै. ग 21-3-63/IX/ **जिनेश्वरदास**

आत्मा (कथंचित्) निष्कारण नहीं है, उसका उत्पादक कारण है

शका—संसार मे जितने भी पदार्थ हैं वे सब कारणवान् है अर्थात् सब पदार्थों मे कार्य-कारण-भाव है । **कार्य की निष्पत्ति कारणों द्वारा ही होती है । आत्मा भी एक पदार्थ है परन्तु उसकी उत्पत्ति मे कोई कारण नहीं होने से वह निष्कारण है । इसलिये जबकि कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । रा. वा अ. २ ।**

समाधान—शकाकार ने जो **राजवार्तिक** से उद्धृत किया है वह बौद्धो का पूर्वपक्ष है । जिसमे आत्मा को निष्कारण कहकर आत्मा का अभाव बतलाया गया है । **श्री अकलकदेव** बौद्धो के इस मतका खण्डन करते हुए लिखते है—

"नरक, देवादि पर्यायें आत्मद्रव्य मे भिन्न नही, आत्मद्रव्यस्वरूप ही है । नारकपर्यायादि के उत्पादक मिथ्यादर्शन, अविरत आदि कारण शास्त्रो मे वर्णित है । इसरीति से जब आत्मा का उत्पादककारण सिद्ध है तब अकारणस्वरूप हेतु आत्मारूप पक्ष मे न रहने के कारण स्वरूपसिद्ध है । [**रा. वा. अ. २ पृ ६०३**]

—जै. ग. 23-1-69/VII/ **रो ला मित्तल**

कार्य सिद्धि में दैव व पुरुषार्थ दोनों कारण हैं

शंका—प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपनी-अपनी योग्यता से प्रकट होती है । द्रव्यका उससमय उसपर्यायरूप परिणमन होना यह ही द्रव्य का पुरुषार्थ है । पर्याय अर्थात् कार्य की सिद्धि अपनी योग्यता के अनुसार ही होती है । ऐसा मानने मे क्या हानि है ?

१. यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथा निदानरहितपरिणामोपार्जिततीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपधर्मोपि सहकारिकारणं भवति ।

२. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं संभवतीति ।

३. मोक्षस्यापिपरमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मक पौरुषाभ्यामेवसंभवात् ।

समाधान—'योग्यता' के पर्यायवाची नाम 'पूर्वकर्म' 'दैव' 'अदृष्ट' हैं[1]।

'पुरुषार्थ'—इसभव मे जो पुरुष चेष्टा करि उद्यम करे सो पौरुष है सो यह दृष्ट है (**आप्तमीमांसा पृ. ४०**)। **अन्यत्र भी 'पुरुषार्थ' को इसप्रकार कहा है—**

आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥

अर्थ—जो आलस्यकर सहित हो तथा उद्यम करने मे उत्साहरहित हो वह कुछ भी फल नही भोग सकता। जैसे बिना पुरुषार्थ के स्तनो का दूध पीना कभी नही बन सकता। इसप्रकार 'पुरुषार्थ' का प्रयोजन चेष्टा करना, उद्यम करना है। 'द्रव्यका पर्यायरूप परिणमन करना' पुरुषार्थ है, यह एक नई सूझ है जो आगमानुकूल नही है।

योग्यता अथवा दैव यह तो **अदृष्ट** और पुरुषार्थ **दृष्ट** इन दोनो दृष्ट-अदृष्ट से कार्य की सिद्धि अथवा पर्याय प्रगट होती है। केवल योग्यता अथवा केवल पुरुषार्थ से जीवकी पर्याय प्रकट नही होती। (**अष्टसहस्री**)।

देवागम की कारिका ९१ में श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने दैव व पुरुषार्थ का समन्वय करते हुए कहा भी है—'जो पुरुष की बुद्धिपूर्वक न होय तिस अपेक्षा विषै तो इष्टानिष्ट कार्य है सो अपने दैव ही तें भया कहिये तहाँ पौरुषप्रधान नही, दैव का ही प्रधानपना है। बहुरि जो कार्य पुरुष की बुद्धिपूर्वक होय तिस अपेक्षा विषै पौरुषतै भया इष्टानिष्ट कार्य कहिये। तहाँ दैव को गौण भाव है पौरुष ही प्रधान है।

जबकि कार्य की सिद्धि दैव व पुरुषार्थ इन दोनो से अथवा निमित्त-उपादान, इन दोनो से होती है तो वह कार्य अर्थात् पर्याय एक से नही हो सकता है। कहा भी है—

कारणद्वयसाध्यं कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित् ॥

अर्थात्—जिसप्रकार स्त्री–पुरुष दोनो से होनेवाली सतान केवल स्त्री या केवल पुरुष से उत्पन्न नही हो सकती उसी प्रकार जो कार्य दो कारणो से उत्पन्न होता है वह कार्य अर्थात् पर्याय एक कारण से कभी उत्पन्न नही हो सकती। सन्तानोत्पत्ति मे जिसप्रकार नाना के यहाँ स्त्री की मुख्यता और पुरुष की गौणता होती है तथा बाबा के यहाँ पुरुष की मुख्यता स्त्री की गौणता होती है उसीप्रकार निमित्त व उपादानकारणो की भी मुख्यता व गौणता जाननी चाहिये। किसी भी एकान्त का कदाग्रह नही होना चाहिये।

—**जै. ग. 13-12-62/X/ टी एल आरती**

(१) एक कार्य अनेक कारण साध्य होता है

(२) अनुकूल बाह्य सामग्री की प्राप्ति मे सातोदय, लाभान्तराय का क्षयोपशम आदि अनेक कारण चाहिये

शंका—'लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से सामग्री मिलती है' ऐसा आगम में कथन है। दूसरा कथन यह भी है कि साता के उदय से सामग्री मिलती है। साता का उदय पर है लाभान्तराय का क्षयोपशम आत्मा का स्वभाव है तथा आत्मशक्ति का विकास है। अतः क्षयोपशम से सामग्री मिलती है, यह समझ में नहीं आता ?

---

१ योग्यता (भव्यता), पूर्वकर्मदैवमदृष्टमिति घटकप्रकारपर्यायनामानि। (अष्टसहस्री पृ. २५६)

समाधान—एक कार्य होने मे अनेक कारणो की आवश्यकता होती है। अनुकूल बाह्यसामग्री के मिलने मे लाभान्तरायकर्म का क्षयोपशम, साता का उदय और पुरुषार्थादि सब कारण होने चाहिये। सातावेदनीय के उदय से दुःख उपशमने के कारणभूत सुद्रव्यो का सम्पादन होता है (**ध. पु. ६ पृ. ३६, पु. १३ पृ. ३५७, पु. १५ पृ. ६**) अभिलषित अर्थ की प्राप्ति होना लाभ है (**ध. पु. १३ पृष्ठ ३८९**)। अभिलपित अर्थ की प्राप्ति मे विघ्न करनेवाला लाभान्तराय कर्म है। लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से किंचित् विघ्न का अभाव होने से किंचित् अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। ससार मे अनेक निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध बने हुए है। मदिरापान से ज्ञान का विपरीत-परिणमन हो जाता है। मत्र से विष दूर हो जाता है। इसीप्रकार जीव का पुद्गल कर्मों से निमित्त–नैमित्तिक-सबध है। **पं० बनारसीदासजी** ने कहा भी है—**'शक्ति मरोड़े जीवकी उदय महा बलवान।'** **आप्तपरीक्षा** मे कर्म का लक्षण इसप्रकार कहा है—"जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतत्र किया जाता है उन्हे कर्म कहते हैं।"

—**जै. स** 25-12-58/V/ **कपूरीदेवी, गया**

पूर्वकृत कर्म तथा वर्तमान पुरुषार्थ; दोनों से कार्यसिद्धि सम्भव है

शंका—भाग्य का विधाता कौन है? क्या भाग्य के भरोसे बैठे रहना चाहिये? क्या पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य टाला भी जा सकता है?

समाधान—भाग्य का विधाता स्वय जीव है। मात्र भाग्य के भरोसे नही बैठे रहना चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वोपार्जितकर्मों का सक्रमण व खण्डन हो सकता है। **श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा** मे कहा है—

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथं।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत ॥ ८८ ॥

जो दैव (भाग्य) ही तै एकान्तकरि सर्व प्रयोजनभूत कार्य सिद्धि है ऐसैं मानिए तो तहाँ कहिये है, जो पुण्य–पापकर्म सो पुरुष के शुभ-अशुभ आचरणस्वरूप व्यापार तैं उपजे है। यदि यह कहा जाय कि अन्य दैव जो पूर्व था तिसतैं उपजे है पौरुष ते नही उपजे ताको कहिए ऐसे तो मोक्ष होने का अभाव ठहरे है। यदि पूर्व-पूर्व दैवते उत्तरोत्तर दैव उपजा करे तो मोक्ष कैसे होय, पौरुष करना निष्फल ठहरेगा। तातैं दैव एकान्त श्रेष्ठ नाही इसी कथन करि कोई ऐसा एकान्त करे जो धर्म का अभ्युदय तैं मोक्ष होय है ताका भी निषेध जानना। तातैं ऐसा है योग्यता अथवा पूर्वकर्म सो तो दैव (भाग्य) है। यह तो अदृष्ट है। इस भवमे जो पुरुष चेष्टा करे उद्यम करे सो पौरुष है यह दृष्ट है। तिन दोऊ तैं कार्य की सिद्धि होय है। मोक्ष भी होय है सो परमपुण्य का उदय और चारित्र का विशेष आचरणरूप पौरुषतैं होय है। तातैं दैव (भाग्य) का एकान्त श्रेष्ठ नाही है।

—**जै ग.** 8-1-70/VII/ **रो. ला. मित्तल**

मात्र उपादान से कार्यसिद्धि नहीं होती

शंका—क्या कार्य उपादान से ही होता है? निमित्त–कारण मानना क्या मिथ्यात्व है?

समाधान—कार्य के साथ जिसका अन्वय-व्यतिरेक हो वह कारण होता है। अनुकूल कारणो से और प्रतिबंधकारणो के अभाव मे कार्य की सिद्धि होती है। कहा भी है—

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव तावंतेरण हेतुना प्रतिज्ञामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तु-चितायामनुपयोगिनीति । प्रतिबंधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमतं तावदसति न घटते ।" मूलाराधना पृ. २३ ।

जगत् मे पदार्थ का सम्पूर्ण कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । अन्वय-व्यतिरेक के बिना कोई पदार्थ किसी का कारण मानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है । ऐसी प्रतिज्ञा वस्तु के विचारसमय मे कुछ भी उपयोगी नही है ।

प्रतिबंधककारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती है । जैसे सहकारी (निमित्त) कारण नही होने से कार्य की सिद्धि नही होती, वैसे प्रतिबंधक का सद्भाव होने से भी कार्य होता नही । सहकारिकारण होते हुए प्रतिबंधककारणो के अभाव मे कार्य होता है, अन्यथा नही ।

श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक मे भी कहा है—

"इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्ति प्रति गृहीताभ्यन्तर-सामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुला-लादिबाह्यसाधनसन्निधानेन बिना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः । कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धिः ।"

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि कार्य की सिद्धि अनेक कारणो से होती है । जैसे घटकार्य की प्राप्ति मे मृत्पिण्ड तो अंतरंगकारण है और बाह्य मे कुंभकार आदि बाह्यसाधनो के बिना मात्र अकेला मृत्पिण्ड घटरूप परिणमन करने मे समर्थ नही है । कार्य की अनेक कारणो से सिद्धि होती है, मात्र उपादान से कार्य की सिद्धि नही होती है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने भी **प्रवचनसारादि** ग्रन्थो मे इसीप्रकार कहा है ।

—**जै ग** 26-4-73/VII/...........

घातिया कर्म एवं केवलज्ञान में कौन कारण व कौन कार्य है ?

शंका—जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार दूर हो जाता है वैसे ही केवलज्ञान उत्पन्न होने से तीन घातिया-कर्मों का क्षय हो जाता है, ऐसा क्यों नहीं कहते ?

समाधान—प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार दूर हो जाता है । जिसप्रकार दीपक प्रकाश का कारण है, उसीप्रकार चार घातियाकर्मों का क्षय केवलज्ञानरूप प्रकाश की उत्पत्ति मे कारण है । कहा भी है—

"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १०।१ ॥ तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षणो विभक्तिनिर्देशः कृतः ।" (सर्वार्थसिद्धि ॥ १०।१ ॥)

अर्थ—मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है । इन घातियाकर्मों का क्षय केवलज्ञानोत्पत्ति का हेतु (कारण) है ऐसा जानकर 'हेतुरूप' विभक्ति का निर्देश किया है ।

जिसप्रकार प्रकाश दीपक को कारण नहीं है उसीप्रकार केवलज्ञानोत्पत्ति भी घातियाकर्मों के क्षय को कारण नहीं है ।

—**जै. ग** 30-11-72/VII/ **र. ला. जैन, मेरठ**

(१) उभयविध कारण बिना कार्य नहीं होता
(२) स्वभाव निष्कारण होता है

शंका—जीव और कर्म का संबंध सादि मानने से पहले तो शुद्धात्मा में बंध हो नहीं सकता, क्योंकि बिना कारण के कार्य होता ही नहीं। थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि बिना रागद्वेषरूप कारण के शुद्धात्मा भी बंध करता है तो फिर बिना कारण से होनेवाला वह बंध किसतरह छूट सकता है? यदि रागद्वेषरूप कारणों से बंध माना जाय तब तो उन कारणों के हटाने पर बंधरूप कार्य भी हट जाता है, परन्तु बिना कारण से होनेवाला बंध दूर हो सकता है या नहीं ऐसी अवस्था मे इसका कोई नियम नहीं है। इसलिए मोक्ष होने का भी कोई निश्चय नहीं है। इसतरह यदि बिना कारण के कार्य होता ही नहीं तो सुप्रभातस्तोत्र के अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण में "निष्कारणं च करुणाकरतां बधानः। स श्रीजिनो जनयतान्मम सुप्रभातम्।" ऐसा क्यों कहा है? इसीतरह तीर्थंकरभगवान के समवसरण का बिहार होना और एक जगह ठहरना आदि भी निष्कारण होता रहता है, ऐसा बतलाते हैं। यह कैसे संभव है? क्योंकि कारणसामग्री के अभाव में कार्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है, यह आपका सिद्धान्त है।

समाधान—कोई भी कार्य अन्तरग और बहिरग इन दोनो कारणो के बिना उत्पन्न नही होता है। **सर्वार्थसिद्धि** मे उत्पाद का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

"उभय-निमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद ॥ ५-३० ॥"

अर्थ—उभय (अतरग और बहिरग) निमित्त के वश से जो नवीनअवस्था की प्राप्ति होती है वह उत्पाद है।

'करुणा' जीव का स्वभाव है। स्वभाव कारण के बिना होता है। कहा भी है--

"करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं? ण करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिवत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं? ण एस दोसो, संजमघादिकम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।"

[ध. पु १३ पृ. ३६१-३६२]

अर्थ—करुणा का कारणभूत कर्म करुणाकर्म है, ऐसा क्यो नही कहा? ऐसा नही कहा, क्योंकि करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित मानने मे विरोध आता है। इसपर प्रश्न होता है कि अकरुणा का कारण कहना चाहिए? यह कोई दोष नही है, क्योकि अकरुणा को सयमघाती कर्मों के फलरूप से स्वीकार किया गया है। अर्थात् अकरुणा का कारण चारित्रमोहनीयकर्मोदय है।

—जै. ग 22-3-73/V/ मुनि श्री आदिसागरजी महाराज, शेडवाल

(१) अनेक कार्य कारित्व
(२) रत्नत्रय से बन्ध व मोक्ष दोनों सम्भव

शंका—'अनेककार्यकारित्व' को स्पष्ट कीजिये।

समाधान—एक पदार्थ सहकारीकारणो के वैविध्य से अनेककार्यों का सम्पादन करता है, अतः वह अनेक कार्य-कारित्व कहा जाता है। जैसे एक ही दीपक एक ही समय मे अन्धकार का नाश करता है, प्रकाश फैलाता

है, बत्ती का मुख जलाता है, तैल शोषण करता है, धूम्ररूप कालिमा को उत्पन्न करता है, इसप्रकार एक ही दीपक से एकसमय मे अनेककार्य हो रहे है। प्रकाश तथा धूम्ररूप कालिमा यद्यपि ये दोनो परस्परविरुद्ध कार्य हैं तथापि एक ही समय मे एक दीपक से हो रहे है।

"समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णतो।" समयसार गा. ३ की टीका।

सर्वपदार्थ विरुद्धकार्य तथा अविरुद्धकार्य दोनो की हेतुता से सदा विश्व का उपकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के एक ही भाव से कर्मनिर्जरा होने और शुभ (पुण्य) बन्ध होने मे कोई दोष नही है।

"ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नैष दोषः, एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत्।" सर्वार्थसिद्धि ९।३।

"परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति।" सर्वार्थसिद्धि ९।७।

त. सू. अ. ९ सूत्र ३ मे जो यह कहा गया है कि तप से निर्जरा होती है, उसपर यह **शंका** की गई कि **तप निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है, क्योंकि तप से पुण्य होता है** जिससे देवेन्द्रादि विशेषपदो की प्राप्ति होती है। **आचार्य उत्तर** देते है कि यह कोई दोष नही है, क्योंकि एक से अनेक कार्य होते हुए देखे जाते है। जैसे एक अग्नि से अनेककार्य देखे जाते हैं, उसीप्रकार एक तप से भी देवेन्द्रादि पद की प्राप्ति व निर्जरा मानने मे कोई विरोध नही है। **सूत्र ७** की टीका मे **पूज्यपादाचार्य तथा श्री अकलंकदेव** लिखते है कि परीषह जीतने पर जो निर्जरा होती है। वह कुशलमूला निर्जरा है। वह कुशलमूला निर्जरा शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। अर्थात् १० वें गुणस्थान तक शुभानुबन्धा निर्जरा होती है और ग्यारहवें आदि गुणस्थानो मे निरनुबन्धा निर्जरा होती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है (**दसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति।" समयसार गाथा ४१०**) तथापि जबतक ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्यभाव स परिणमते है तब तक इनसे पुण्यबध भी होता है।

दसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ समयसार

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रय जघन्यभाव से परिणमन करता है, उस रत्नत्रय से ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥ पंचास्तिकाय

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है इसलिये सेवने योग्य है, ऐसा साधुओ ने कहा है। उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

यदि कोई यह आशका करे कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो सवर-निर्जरा व मोक्ष के ही कारण है, बध के कारण तो राग-द्वेष ही हैं तो सर्वथा ऐसा एकान्त भी ठीक नही है। यदि सर्वथा ऐसा मान लिया जाय तो

तीर्थंकरादि प्रकृतियों के बंध के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि मात्र स्थूल या सूक्ष्म राग-द्वेषरूप अशुभभाव से मोक्ष की सहकारीकारणभूत उपादेयरूप तीर्थंकरप्रकृति का बंध नहीं हो सकता है।

रागो दोसो मोहो हस्सादी-णोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा बेंति॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि रागरूप परिणाम, द्वेषरूप परिणाम, मोहरूप परिणाम तथा हास्यादि-रूप परिणाम तीव्र हो या मंद हो ये सब अशुभभाव है ऐसा श्री जिनेन्द्र के द्वारा कहा गया है।

"तीर्थंकरनामकर्म मोक्षहेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेयः।" (भावपाहुड गाथा ११३ टीका)

मोक्ष का हेतु होने से तीर्थंकर नामकर्म के चारो प्रकार का बंध उपादेय है।

षट्खंडागम जिसमे द्वादशांग के मूलसूत्रों का संकलन है उसमे 'तित्थयरं सम्मत्तपच्चयं' सूत्र द्वारा तीर्थंकर-प्रकृति के बंध का कारण सम्यग्दर्शन को बतलाया है। द्वादशांग के इस सूत्र के अनुसार ही श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने मो शा अ ६ सू. २४ में तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार चतुर्थाधिकार श्लोक ४९ मे दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन को तीर्थंकरप्रकृति के आस्रव का मुख्य कारण कहा है।

तीर्थंकरप्रकृति का बंध सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे ही होता है और सम्यग्दर्शन के अभाव मे तीर्थंकरप्रकृति का बंध नहीं होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन को तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण द्वादशांग मे कहा गया है।

'यद्यस्य भावा भावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्।" ध पु. १४ पृ. १३

जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है, वह उसका है, ऐसा कार्य-कारणभाव के ज्ञाता कहते हैं, ऐसा न्याय है।

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव।" मूलाराधना पृ. २३

जगत् मे पदार्थ का संपूर्ण कार्य-कारणभाव अन्वयव्यतिरेक से जाना जाता है।

"अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः।" प्रमेयरत्नमाला ३।५९

सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है।

यद्यपि इसप्रकार तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण सम्यग्दर्शन सिद्ध हो जाता है, तथापि मात्र सम्यग्दर्शन ही तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण नहीं है, उसके साथ उसप्रकार का राग भी होना चाहिये, अन्यथा आठवें आदि गुणस्थानों मे तीर्थंकर प्रकृति की बंध-व्युच्छित्ति हो जाने के पश्चात् भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता रहना चाहिये था।

तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण न मात्र राग है और न मात्र सम्यग्दर्शन है, किन्तु सम्यग्दर्शन व राग दोनों हैं। जैसे पुत्रोत्पत्ति मे माता और पिता दोनों कारण है।

"यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदंति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदंति इति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धो-पादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकांतेन न

जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् ।" ये केचन वदन्त्येकांतेन रागादयो जीवसंबंधिनः पुद्गलसंबंधिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या । कस्मादिति चेत् पूर्वोक्त स्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात् ।

समयसार गाथा ११८ तात्पर्यवृत्ति टीका

पुत्रोत्पत्ति स्त्री व पुरुष दोनो के सयोग से होती है। विवक्षावश माता की अपेक्षा कोई पुत्र को देवदत्ता का कहते है और अन्य कोई पिता की अपेक्षा पुत्र को देवदत्त का कहते हैं। इसमे कोई दोष नही है, विवक्षाभेद से दोनो ही ठीक है वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनो के सयोग से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्व-रागादिरूप भावप्रत्यय अशुद्धनिश्चयनय से चेतन है, क्योकि जीव से सम्बद्ध है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से अचेतन है, क्योकि पौद्गलिक-कर्मोदय से हुए है, किन्तु वस्तुस्थिति मे ये एकान्त से न तो जीवरूप ही है, और न पुद्गल ही है। चूना और हल्दी के सयोग मे उत्पन्न हुई कु कुम के समान ये रागादि भी जीव और पुद्गल के सयोग मे उत्पन्न होनेवाले है। जो एकात से रागादिक को जीव सबधी या पुद्गलसबधी कहते है उन दोनो का कहना ठीक नही है, क्योकि ये जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न हुए है जैसा कि स्त्री-पुरुष के सयोग से पुत्रोत्पत्तिका दृष्टान्त दिया जा चुका है।

इसीप्रकार सम्यक्त्व और राग के सयोग से तीर्थंकरप्रकृति का बध होता है। शुद्धनिश्चयनय से तीर्थंकर-प्रकृति का बध राग से होता है और अशुद्धनिश्चयनय मे सम्यक्त्व के कारण तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है। प्रमाण से तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कारण सम्यक्त्व और राग के सयोग से उत्पन्न हुआ आत्मपरिणाम है। जो एकान्त से तीर्थंकरबन्ध का कारण मात्र सम्यक्त्व को मानते है या मात्र राग को कारण मानते है उन दोनो का वचन ठीक नही है, क्योकि तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कारण तो सम्यक्त्व और राग का सयोगीभाव है। जैसे हल्दी व चूने का सयोगी कु कुमवर्ण है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २१२-२१३-२१४ के आधार पर यदि कोई ऐसा एकान्त-पक्ष लेता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र किसी भी अवस्था मे तथा किसी भी अपेक्षा से बन्ध के कारण नही हैं, क्योकि जितने अशो मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र है उतने अश मे बन्ध नही है, किन्तु जितने अशो मे राग है उतने अशो मे बन्ध है, तो उसका यह एकान्तपक्ष ठीक नही है, क्योकि उक्त श्लोको मे शुद्धनिश्चयनय के आश्रय से कथन किया गया है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं तत्त्वार्थसार** के निम्न श्लोक मे सम्यक्त्व को देवायु के आस्रव का कारण कहा है।

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४।४३ ॥

सरागसयम, सम्यक्त्व और देशसयम ये सब देवायु के आस्रव के कारण है। (नोट—यहाँ पर सम्यक्त्व के साथ सराग विशेषण नही है।)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन करते हुए लिखते हैं—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ २११ ॥

असम्पूर्ण रत्नत्रयभाव न करनेवाले पुरुष के जो पुण्यकर्मबंध होता है वह बंध विपक्षकृत है अर्थात् सम्पूर्ण-रत्नत्रय का विपक्ष जो असम्पूर्णरत्नत्रय तत्कृत है। वह पुण्यबंध अवश्य ही मोक्ष का उपाय अर्थात् संसार का कारण नहीं है।

समयसार १७१ की टीका में भी "स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंध-हेतुरेव स्यात्।" द्वारा यह कहा गया है कि यथाख्यातचारित्रावस्था से पूर्व राग का अवश्य सद्भाव होने से जघन्य ज्ञानगुण बंध का कारण है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २११ में अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कथन है और श्लोक २१२ से २१६ तक शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कथन है। फिर भी कोई शुद्धनिश्चयनय का एकांतपक्ष न ग्रहण करले उसके लिये निम्न-लिखित दो श्लोक दिये हैं—

सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्म्मणो बंन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७ ॥
सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८ ॥

समय अर्थात् द्वादशांग में जो सम्यक्त्व के द्वारा तीर्थंकरप्रकृति का बंध और चारित्र के द्वारा आहारक-शरीर नामकर्म का बंध कहा गया है वह भी नयवेत्ताओं को दोष के लिये नहीं है, क्योंकि एक नय के द्वारा वह कथन भी ठीक है। सम्यक्त्व के होने पर योग और कषाय तीर्थंकरप्रकृति के बंधक होते हैं और चारित्र के होने पर योग और कषाय आहारक के बंधक होते हैं। सम्यक्त्व व चारित्र के अभाव में तीर्थंकर व आहारक का बंध नहीं होता है।

इसप्रकार तीर्थंकर और आहारकप्रकृति के बंध के साथ सम्यक्त्व और चारित्र का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो जाने से, सम्यक्त्व और चारित्र के बंध का कारणपना सिद्ध हो जाता है।

"यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्।" (ध. पु. १४ पृ. १३)

"अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव।" (मूलाराधना पृ. २३)

"अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः।" (प्रमेयरत्नमाला ३।५९)

इन न्यायशास्त्रों के अनुसार यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र के बंध का कारणपना सिद्ध हो जाता है तथापि वे उदासीन कारण हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २२० के पूर्वार्ध में शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन है और उत्तरार्ध में अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कथन है। श्लोक इसप्रकार है—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

इस श्लोक में शुद्धरत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है अन्य का कारण नहीं है। जो पुण्य का आस्रव होता है वह शुभोपयोग अर्थात् असमग्ररत्नत्रय का अपराध है।

शुभोपयोग चतुर्थगुणस्थान से प्रारम्भ होता है उससे पूर्व अशुभोपयोग होता है।

(प्रवचनसार गा० ९ टीका)

किन्तु शुभराग प्रथमादि गुणस्थानो मे भी सभव है। इस बात को दृष्टि मे रखते हुए श्लोक २२० मे शुभराग नही कहा है किन्तु शुभोपयोग कहा है—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोपि रूढिमित ॥२२१॥

यद्यपि शुद्ध घी जलाने मे असमर्थ है, किन्तु जब अग्नि के समवाय ससर्ग से घी का स्पर्शगुण ऊष्ण हो जाता है तो उस घी से जलने का व्यवहार (कार्य) देखा जाता है। इसप्रकार ससर्ग के कारण एक ही घी मे विरुद्ध कार्य होना सम्भव है। उसीप्रकार यद्यपि पूर्णरत्नत्रय कर्मबन्ध कराने मे असमर्थ है तथापि राग के ससर्ग से वह रत्नत्रय असमग्रता को प्राप्त हो जाने के कारण कर्मबन्ध का कार्य करने मे समर्थ हो जाता है।

श्री कुन्दकुन्द तथा श्री पूज्यपाद आचार्य कहते है—

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१॥ (मोक्षपाहुड)
यत्र भाव शिवं दत्ते द्यौ कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्द्धे किं स सीदति ॥ (इष्टोपदेश)

जो मनुष्य किसी भार को स्वेच्छा से दो कोस ले जाता है तो वह क्या उस भार को आधा कोस भी नही ले जा सकता ? अवश्य ले जा सकता है। उसी तरह जिस रत्नत्रय मे मोक्ष प्राप्त कराने की सामर्थ्य है तो क्या उस रत्नत्रय से स्वर्ग सुख की प्राप्ति दूरवर्ती है ? अर्थात् उस रत्नत्रय से देवायु पुण्यप्रकृति का बन्ध होकर स्वर्गसुख का मिलना सहज है।

अन्य आचार्यों ने भी धर्म मे स्वर्ग व मोक्ष दोनो की प्राप्ति कही है। जैसे—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
ससारदुःखत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥ (र. क. श्रा)

संस्कृत टीका—"प्राणिन उद्धृत्य स्थापयति स्वर्गापवर्गादिप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते।" श्री समन्तभद्राचार्य तथा श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने धर्म का फल बतलाते हुए कहा है कि जो प्राणियो का उद्धार करके स्वर्गसुख तथा मोक्षसुख मे रख दे वह धर्म है।

जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ ॥ ७८ ॥ [स्वामि कार्तिकेय]

श्री पं० कैलाशचन्दजी कृत अर्थ—यथार्थ मे जीव का आत्मीयजन उत्तमक्षमादिरूप दशलक्षणधर्म ही है। वह दशलक्षणधर्म सौधर्मादि स्वर्ग मे ले जाता है और वही चारो गतियो के दुखों का नाश करता है।

गाथा ३९३ की टीका में श्री शुभचन्द्राचार्य ने लिखा है—"सौख्येन शर्मणा स्वर्गमुक्त्यादिजेन सारैः श्रेष्ठैः।"

श्री पं० कैलाशचन्दजी ने लिखा है—इन दसधर्मों का सार सुख ही है, क्योंकि इनका पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है।

गाथा ३९५ की टीका—"ततश्च समग्रज्ञानादीनां पात्री भवति। अतः स्वर्गापवर्गफलप्राप्तिः।" श्री पं० कैलाशचन्दजी लिखते हैं—"सम्यग्ज्ञान का पात्र होने से उसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है॥

पूयादिसु णिरवेक्खो जिणसत्थं जो पढेइ भत्तीए।
कम्ममलसोहणट्ठं सुयलाहो सुहयरो तस्स॥ ४६२॥

संस्कृत टीका—"श्रुतलाभ सुखकरः स्वर्गमुक्त्यादिशर्मनिष्पादकः।"

श्री पं० कैलाशचन्दजी कृत अर्थ—"आदर, सत्कार, प्रशंसा और धनप्राप्ति की वाञ्छा न करके ज्ञानावरणादि कर्मरूपी मल को दूर करने के लिये जो जैनशास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ७६ की टीका मे पुण्य का लक्षण इसप्रकार कहा गया है—

"पुण्यं शुभकर्म सम्यक्त्वं व्रतदानादिलक्षणं चिनोति संग्रहीकरोति।" यहाँ पर सम्यक्त्व को पुण्य अथवा शुभकर्म कहा गया है।

श्री पं० कैलाशचन्दजी पृ. २३ पर लिखते है—"इन सम्यक्त्व, व्रत, निन्दा गर्हा आदि भावो से पुण्यकर्म का बंध होता है।"

श्री वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य आचारसार में 'धर्मं स्वर्गमोक्षशर्मप्रदमपि' शब्दो द्वारा लिखते है कि धर्म स्वर्ग व मोक्षसुख का देनेवाला है। **श्री सोमदेव आचार्य यशस्तिलकचम्पू मे 'धर्मः परापरफल परापरफलप्राय धर्मः'** इन शब्दो द्वारा लिखते है कि धर्म पर-अपर अर्थात् स्वर्ग मोक्ष का देनेवाला है। **श्री सकलकीर्तिआचार्य प्रश्नोत्तरश्रावकाचार मे 'दर्शनम् स्वर्गसोपान; दर्शनं स्वर्गमोक्षैकमूलं'** शब्दो द्वारा सम्यक्त्व को स्वर्ग की सोपान अथवा स्वर्ग-मोक्ष का कारण बतलाया है।

इसप्रकार **श्री कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्रादि** प्राय सभी आचार्यों ने सम्यक्त्वादि से पुण्य बध स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है। प्रश्न यह हो सकता है कि जो पुण्यबध का कारण है वह मोक्ष का कैसे कारण हो सकता है?

वदन्ति फलमस्यैव धर्मस्य श्रीजिनेश्वराः।
नित्याभ्युदयस्वर्गादिसुखं साक्षाद्धि मुक्तिजम्॥ ३।१०४॥ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार

अर्थ—श्री जिनेन्द्र ने धर्म का फल सदा ऐश्वर्य-विभूतियो का प्राप्त होना, स्वर्गसुख प्राप्त होना और साक्षात् मोक्षसुख प्राप्त होना बतलाया है।

स्थूलदृष्टि से यह बात ठीक है कि जो भाव बन्ध के कारण हैं, उस भाव से संवर निर्जरा व मोक्ष नहीं हो सकता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के जघन्यरत्नत्रय अर्थात् असमग्ररत्नत्रय से जो पुण्यबन्ध होता है वह पुण्यबन्ध भी मोक्ष का कारण है ससार का कारण नहीं है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने "**स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।**" इन शब्दों द्वारा बतलाया है कि असमग्ररत्नत्रय से होनेवाला बन्ध मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नहीं है। इसी बात को **श्री देवसेनाचार्य** ने निम्न दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया है।

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥ ४०४ ॥
तम्हा सम्माविट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥ (भावसंग्रह)

इन दो गाथाओं द्वारा यह बतलाया गया है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है मोक्ष कारण है। ऐसा जानकर गृहस्थ को पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

"**भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परम्परया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते ।**" (स. सा. गा. १८० टीका पृ. १५५)

भेदज्ञानी अपने गुणस्थान के अनुसार तीर्थंकरआदि पुण्यकर्म को बाधता रहता है, वह पुण्यकर्म परम्परा से मुक्ति का कारण है।

यथा रागादिदोषरहित शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहितपरिणामोपार्जिततीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यकर्मापि सहकारीकारणं भवति ।
(पंचास्तिकाय गाथा ८५ टीका)

यद्यपि राग-द्वेषरहित निश्चयधर्म सिद्धगति के लिये उपादानकारण है तथापि तीर्थंकरप्रकृति उत्तमसहननादि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्धगति के लिये सहकारीकारण है।

आप्तमीमांसा श्लोक ८८ की टीका में श्री अकलंकदेव तथा श्री विद्यानन्द आचार्य "**मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात् ।**" इन शब्दों द्वारा परमपुण्य तथा अतिशयचारित्ररूप विशेष पुरुषार्थ इन दोनों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतलाते है।

इसप्रकार इन आर्षवचनों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व आदि के द्वारा बंधनेवाला तीर्थंकरादि पुण्यकर्म मोक्ष का कारण है बन्ध अर्थात् संसार का कारण नहीं है।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

इसप्रकार मुख्य (पूर्ण समग्र) और उपचार (जघन्य असमग्र) सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त कराता है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

इसप्रकार अशुद्धनिश्चयनय से सम्यक्त्वादि रत्नत्रय से बंध सिद्ध हो जाने पर और शुद्ध निश्चयनय से बंध नहीं होने से किसी का एकांतपक्ष नहीं ग्रहण करना चाहिये। गोपी की मथानी का दृष्टान्त देते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि यदि एकातपक्ष ग्रहण किया जायगा तो मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। इसप्रकार रत्नत्रय से बंध व मोक्ष दोनों कार्य होते है।

—जै. ग. 15 व 29-4-71/ 5-6/7-5/ ....

नय, निक्षेप

व्यवहारनय का अर्थ

शंका—व्यवहारनय का क्या अर्थ है ?

समाधान—व्यवहार का अर्थ है विकल्प, भेद तथा पर्याय। कहा भी है—

"ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो।" गो. जी. ५७२

"व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः।"

समयसार पृ. १४ अजमेर से प्रकाशित।

व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय ये एक अर्थ के वाचक शब्द हैं। व्यवहारनय का विषय विकल्प, भेद तथा पर्याय है। जो भेद से, विकल्प से या पर्याय से कथन करे वह व्यवहारनय है।

—जै. ग 4-3-71/V/ **सुलतानसिंह**

निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप

शंका—**निश्चयनय और व्यवहारनय का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या दोनों नयों का ग्रहण करना उपादेय है ? यदि है तो क्यों और नहीं है तो क्यों ?**

समाधान—नय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। जैसे कहा भी है—

"प्रमाणनयैरधिगमः" ॥ १।६ ॥ त. सू.।

अर्थ—प्रमाण और नयो से पदार्थों का ज्ञान होता है।

"प्रमाणादिव नयवाक्याद्वस्त्ववगममवलोक्य 'प्रमाणनयैरधिगमः।' इति प्रतिपादितत्वात्।"

ज. ध. पु. १ पृ. २०९।

अर्थ— जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नय वाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है, यह देखकर **तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाणनयैरधिगमः**, इसप्रकार प्रतिपादन किया है।

"किमर्थं नय उच्यते ? स एव यथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः।"

अस्यार्थ —श्रेयसो मोक्षस्य अपदेशः कारणम्; भावानां यथात्म्योपलब्धिनिमित्तभावात् ।"

ज. ध. पु. १ पृ. २११ ।

अर्थ—नय का कथन किसलिये किया जाता है ? यह नय पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने मे कारण है, इसलिये नय का कथन किया जाता है। शब्दार्थ यह है कि नय श्रेयस् अर्थात् मोक्ष के उपदेश का कारण है, क्योंकि वह पदार्थों के यथार्थरूप से ग्रहण करने मे निमित्त है।

"स एव नयो द्विविध-द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति ।"

अर्थ—वह नय दो प्रकार का है-द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी **पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका** मे कहा है—

"द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना, किन्तु तदुभयायत्ता ।"

अर्थ—भगवान ने दो ही नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दिव्यध्वनि मे कथन एकनय के आधीन नही होता है, किन्तु दो नयो के आधीन होता है।

"द्रव्यमेवप्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः ।" (आलापपद्धति)

जिस नय का प्रयोजन (विषय) द्रव्य ही है वह द्रव्यार्थिकनय है। जिस नय का प्रयोजन पर्याय ही है, वह पर्यायार्थिकनय है।

णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाण ।
णिच्छय साहणहेओ दव्वपज्जत्थिया मुणह ॥ आलापपद्धति ।

अर्थ—नयो मे मूलभूत निश्चय और व्यवहार ये दो नय माने है। उनमे से निश्चय नय द्रव्याश्रित और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय का ही नामान्तर निश्चयनय है और पर्यायार्थिकनय का ही नामान्तर व्यवहारनय है। इन दोनो ही नयों के द्वारा वस्तु का यथार्थज्ञान होता है। व्यवहारनय असत्य (झूठ) भी नही है, क्योंकि इसका **श्री गौतम गणधर** ने कथन किया है। **ज. ध. पु १ पृ. ८** पर कहा भी है—

"ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मगलं कयं । ण च ववहारणओ चप्पलओ; तत्तो सिस्साण पउत्तिदंसणादो । जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मगलं तत्थ कयं ।"

अर्थ—गौतमगणधर ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारो के आदि मे **'णमो जिणाणं'** इत्यादिरूप से मगल किया है। यदि कहा जाय व्यवहारनय असत्य है, सो भी ठीक नही है, क्योंकि उसमे शिष्यो की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत जो व्यवहारनय बहुत जीवो का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन मे निश्चय करके गौतमस्थविर (गणधर) ने चौबीस अनुयोगद्वारो के आदि मे मगल किया है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी **समयसार गाथा ४६ की टीका** मे कहा है—

"तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव नि शकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तोद्विष्टोविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति तमन्तरेण तु रागद्वेष मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेद दर्शनेन मोक्षोपाय परिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।"

यदि व्यवहारनय को न कहा जावे अर्थात् यदि व्यवहारनय का उपदेश न दिया जाय और परमार्थनय (निश्चयनय) जो जीव को शरीर से भिन्न कहता है, यह एकात किया जाय तो नि शकपने से त्रस-स्थावर जीवो का घात करना सिद्ध हो जायगा। जैसे भस्म के मर्दन करने मे हिंसा का अभाव है, उसी तरह त्रस-स्थावर जीवों के मारने मे भी हिंसा सिद्ध नही होगी, अपितु हिंसा का अभाव ठहरेगा तब जीवो के घात होने से बन्ध का भी अभाव ठहरेगा। परमार्थ (निश्चय) नय से रागद्वेषमोह से जीव को भिन्न दिखाया है, अत रागी-द्वेषी, मोही-जीव कर्म मे बँधता है, उसको छुडाना है ऐसा मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा। निश्चयनय से न बन्ध है और न मोक्ष है इससे जिनेन्द्र द्वारा दिया गया मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जाता है।

पचास्तिकाय में भी कहा है—

"व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य साधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिका।"

अर्थ—अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिकजीव व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधन-भावका अवलम्बन लेकर सुख से (सुगमरूप से) तीर्थ (मोक्षमार्ग) अवतरण करते है।

—जै ग. 11-12-69/VI/ **र. ला. जैन**

(१) निश्चय व्यवहार का स्वरूप-विवेचन
(२) द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष स्वभाव

शंका—**आत्मा का निश्चय तो आत्मा मे है, किन्तु आत्मा का व्यवहार पर मे है? या आत्मा का निश्चय-व्यवहार आत्मा में है और पुद्गल का निश्चय-व्यवहार पुद्गल में है, जैसे आत्मा मे ज्ञान तो निश्चय और जानना उसका व्यवहार है, तथा पुद्गल में वर्ण सो निश्चय और पीत-पद्मपना सो व्यवहार अर्थात् द्रव्य सो निश्चय और परिणमन सो व्यवहार, क्या ऐसा निश्चयव्यवहार का स्वरूप है?**

समाधान—'निश्चय या व्यवहार' द्रव्य, गुण या पर्याय नही है। अत यह प्रश्न ही नही उठता कि आत्मा का निश्चय तो आत्मा मे है और आत्मा का व्यवहार पर मे है, अथवा पुद्गल का निश्चय-व्यवहार पुद्गल मे है।

निश्चय और व्यवहार ये दो नय है। इसलिये सर्व प्रथमनय का लक्षण कहा जाता है—

उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण।
अत्थं णयंति तच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया॥ ध पु. १ पृ १०

अर्थ—उच्चारण किये गये अर्थपद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है, इसलिये वे नय कहलाते हैं।

मोक्षशास्त्र में भी "प्रमाणनयैरधिगम." द्वारा यह कहा गया है कि नय से वस्तु का बोध होता है।

"तेषामर्थानामस्तित्वनास्तित्वनित्यानित्यत्वाद्यनन्तात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः, तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः स नयः।" [ज. ध. पु. १ पृ. २१०]

अर्थ—अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनन्तधर्मात्मक जीवादिपदार्थों का जो विशेष अर्थात् पर्याय है उनका प्रकर्ष से (दोष के सम्बन्ध से रहित होकर) जो प्ररूपण करता है वह नय है।

"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।"

अर्थात्—जो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थ के किसी एक धर्म का कथन करता है वह नय है।

किसी एकधर्म की मुख्यता से जो वस्तु का ज्ञान होता है वह नय है।

लोयाणं ववहारं धम्म विवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुय-णाणस्स वियप्पो सो वि णओ लिंग-संभूदो ॥ २६३ ॥ [का अ.]

अर्थ—जो वस्तु के एकधर्म की विवक्षा से लोकव्यवहार को साधता है वह नय है। नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिंग से उत्पन्न होता है।

अध्यात्म में उस नय के दो भेद कहे हैं निश्चय और व्यवहार। निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार का है। व्यवहारनय भी सद्भूत और असद्भूत के भेद से दो प्रकार का है।

आलापपद्धति में श्री देवसेनाचार्य ने इसप्रकार कहा है—

"तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो। व्यवहारो भेदविषयः। तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तु-विषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।"

अर्थ—मूलनय दो हैं निश्चय और व्यवहार। निश्चयनय अभेद और व्यवहारनय भेद को विषय करनेवाला है। निश्चयनय के दो भेद हैं शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय। व्यवहारनय दो प्रकार का है सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार। एक ही वस्तु को भेदरूप ग्रहण करे तो सद्भूतव्यवहारनय है तथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सम्बन्धरूप ग्रहण करे सो असद्भूतव्यवहारनय है।

"असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्। तत्रसंश्लेषरहितवस्तुसंबंधविषयः उपचरितासद्भूत-व्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति। संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति।"

अर्थ—असद्भूतव्यवहारनय दो प्रकार का है उपचरित अनुपचरितभेदसे। एकक्षेत्रावगाहसम्बन्धरहित वस्तुओं को सम्बन्धरूप से ग्रहण करे सो उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे देवदत्त का धन इत्यादि। एक-क्षेत्रावगाह पदार्थों को सम्बन्धरूप ग्रहण करे सो अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय है। जैसे जीव का शरीर इत्यादि।

शंकाकार का यह लिखना आत्मा में ज्ञान तो निश्चय तथा पुद्गल में वर्ण सो निश्चय। यह उचित नहीं है, क्योंकि ये वाक्य गुण-गुणी में भेद के द्योतक हैं। 'भेद' व्यवहारनय का विषय है जैसा कि उपर्युक्त आगम में कहा गया है अथवा समयसार में भी कहा गया है।

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

अर्थ—जीव के चारित्र, दर्शन, ज्ञान व्यवहार से कहे हैं। ज्ञान भी नहीं है, चारित्र नहीं, दर्शन नहीं। ज्ञायक है इसलिये शुद्ध है।

जानना तथा पीत-पद्मपना ये ज्ञानगुण और वर्णगुण की पर्याय है। ये भी व्यवहारनय का विषय है। इसप्रकार 'जीव मे ज्ञान और जानना तथा पुद्गल मे वर्ण और पीत-पद्मपना यह सब व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय का विषय नही है।

जिनबिम्ब के दर्शन, पूजन आदि करते समय भक्त के उपयोग मे वह जिनबिम्ब पुद्गल है या **जिनेन्द्र भगवान** है। उस जिनबिम्ब मे भक्त को वीतरागता का दर्शन हो रहा है या श्वेतादिवर्ण का दर्शन हो रहा है ?

यदि जिनबिम्ब मे वीतरागता का दर्शन न होता तो जिनबिम्बदर्शन सम्यग्दर्शनोत्पत्ति का कारण नही हो सकता था, किन्तु ऐसा है नही, क्योकि **श्री पूज्यपाद तथा श्री वीरसेनाचार्य** ने जिनबिम्बदर्शन को सम्यग्दर्शनोत्पत्ति का कारण बतलाया है।

स. सि. मे अ. १ सूत्र ७ की टीका मे सम्यग्दर्शन के साधन का कथन करते हुए **'तिरश्चां केषाञ्चित् जातिस्मरणं, केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं, केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम् ।'** इन वाक्यो द्वारा यह कहा है कि तिर्यंचो मे किन्ही के जातिस्मरण, किन्ही के धर्मश्रवण और किन्ही के जिनबिम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

श्री गौतमगणधर ने भी द्वादशाग मे निम्न सूत्र कथन किया है—

"तिरिक्खा मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तं उप्पादेंति ? ॥ २१ ॥

तीहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिंबदट्ठूण ॥ २२ ॥
[ध. ख. पु. ६ पृ. ४२७]

अर्थ—तिर्यंच मिथ्यादृष्टि जीव कितने कारणो से प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं ? तिर्यंच तीनकारणो से प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते है, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन करके।

इस द्वादशांग के सूत्र पर **श्री वीरसेनाचार्य** ने निम्नप्रकार टीका रची है—

"कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादि-कम्मकलावस्स खयदंसणादो ।"

अर्थ—जिनबिम्बदर्शन प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किसप्रकार होता है ? जिनबिम्बदर्शन से निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

'वीतरागता' जीव का गुण है और वीतरागता का दर्शन अचेतन जिनबिम्ब मे होता है।

श्री देवसेनाचार्य ने आलापपद्धति में द्रव्य के २१ स्वभाव कहे है "स्वभावाः कथ्यन्ते। अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभाव., नित्यस्वभाव, नित्यअनित्यस्वभाव, एक स्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभाव, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, परमस्वभाव द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावा, चेतनस्वभाव अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्त स्वभावः, एकप्रदेशस्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभाव, एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावा। जीवपुद्गलयोरेकविंशति।"

अर्थ—स्वभाव का कथन किया जाता है। अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, परमस्वभाव, द्रव्यो के ये ग्यारह सामान्यस्वभाव है। चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एक प्रदेशस्वभाव, अनेक प्रदेशस्वभाव विभाव स्वभाव, शुद्ध स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव, उपचरित स्वभाव ये द्रव्यो के दश विशेषस्वभाव है। जीव और पुद्गल मे ये २१ स्वभाव होते है।

यहाँ पर जीव मे भी अचेतन व मूर्तस्वभाव कहा गया है जब कि अचेतनत्व और मूर्तत्व पुद्गल के गुण हैं। पद्गल मे चेतनस्वभाव और अमूर्तस्वभाव कहा गया है। जबकि चेतनत्व और अमूर्तत्व जीव के गुण है।

श्री प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

"तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्याय। स द्विविध, सामान्यजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मकोद्वयणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि।"

अर्थ—अनेकद्रव्य मिलकर जो एक पर्याय होती है सो द्रव्यपर्याय है। यह द्रव्यपर्याय दो प्रकार है, एक समानजातीय, दूसरा असमानजातीय। समान जातीय जैसे अनेक पुद्गलरूप द्वयणुक, त्रिअणुक आदि। असमान-जातीय जैसे जीव और पुद्गल मिलकर देव, मनुष्य आदि पर्याय।

इससे सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गल की मिलकर एकपर्याय होती है जो असमानजाति द्रव्यपर्याय है।

नय विवक्षा से आर्षग्रन्थो के उपर्युक्त वाक्यो का कथन सिद्ध हो जाता है। अनेकान्तदृष्टि मे यह सब सुघटित हो जाता है और एकान्तदृष्टि से इन सब आर्षवाक्यो मे विरोध दिखाई देता है।

—*जै. ग. 15-11-65/9-10/* **ज्ञानचन्द**

किसी नय को परमार्थभूत तथा किसी को अपरमार्थभूत कहना ठीक नहीं

शंका—तत्त्वमीमांसा में श्री पं० फूलचन्दजी ने महासत्ता को विषय करने वाले परसंग्रहनय को परमार्थभूत कहा और अपरसंग्रहनय को अपरमार्थभूत कहा है। इसकी समीक्षा मे यह कहा गया है—

'परसंग्रहनय के उदाहरण में महासत्ता को स्वीकार कर अपरसंग्रहनय को अपरमार्थभूत ठहराना सर्वथा आगमविरुद्ध है, क्योंकि जिस महासत्ता में अवान्तरसत्ता विद्यमान नहीं है, वह महासत्ता भी कैसी।' इस पर शंका यह है कि-अवान्तर सत्ता कौनसी है ?

समाधान—विश्व मे जितने भी पदार्थ है वे सब सप्रतिपक्ष है। इसीलिये **श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ८ में 'सब्बपयत्था सप्पडिवक्खा'** कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार महासत्ता की प्रतिपक्ष अवान्तरसत्ता है।

महासत्ता की अपेक्षा अवान्तर सत्ता असत् है और अवान्तर सत्ता की अपेक्षा महासत्ता असत् है। इसप्रकार सत्ता की प्रतिपक्ष असत्ता भी है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस गाथा ८ की टीका में कहा भी है—

"द्विविधा हि सत्ता महासत्तावान्तरसत्ता च। तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव। अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। तत्र महासत्ताऽवान्तरसत्तारूपेणऽसत्ताऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणासत्त्येत्यसत्तासत्तायाः।

अर्थ—सत्ता दो प्रकार की है—महासत्ता और अवान्तर सत्ता। उनमें सर्वपदार्थ समूह में व्याप्त होने वाली, सादृश्यास्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता अथवा सामान्यसत्ता अथवा सादृश्यसत्ता है। दूसरी प्रत्येक पदार्थ में अथवा वस्तु में निश्चितरूप से रहनेवाली, स्वरूप अस्तित्व को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता अथवा विशेषसत्ता है। वहाँ महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से असत्ता है। इसलिये सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—'शुद्धसंग्रहनयविवक्षायामेका महासत्ता अशुद्धसंग्रहनयविवक्षायां व्यवहारनयविवक्षाया वा सर्वपदार्थसविश्वरूपाद्यवान्तरसत्ता। अथवैका महासत्ता शुद्धसग्रहनयेन, सर्वपदार्थाद्यवान्तरसत्ता व्यवहारनयेनेति नयद्वयव्याख्यानं कर्तव्यं।"

अर्थ—शुद्धसग्रहनय की अपेक्षा एक महासत्ता है, अशुद्धसग्रहनय की अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा से सर्वपदार्थों में अपने-अपनेरूप से रहनेवाली अर्थात् नानारूप वाली अवान्तर सत्ता है। अथवा महासत्ता शुद्धसग्रहनय का विषय है तथा सर्वपदार्थों में पृथक्-पृथक्रूप से रहनेवाली अवान्तरसत्ता व्यवहारनय का विषय है। ऐसे दोनों नयो से व्याख्यान करना योग्य है।

शुद्धसग्रहनय को परसग्रह नय और अशुद्धसग्रहनय को अपरसग्रहनय भी कहते है। ये दोनो नय यदि परस्पर सापेक्ष है तो सम्यक् है यदि निरपेक्ष है तो मिथ्या है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने श्री विमलजिन का स्तवन करते हुए स्वयम्भूस्तोत्र में कहा भी है—

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया, मिथोऽनपेक्षा स्वपर-प्रणाशिन।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षा स्वपरोपकारिण ॥६०॥

नित्य, क्षणिकादि नय परस्पर में निरपेक्ष होने से स्वपर दोनो का नाश करनेवाले हैं इसलिये दुर्नय अर्थात् मिथ्या है। वे ही नय परस्पर सापेक्ष होने से (एक दूसरे की अपेक्षा रखने से) अपना और पर का भला करने वाले है, इसलिये सम्यग्नय हैं।

"निरपेक्षा नया मिथ्यासापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्।" (स्वा० का० अनु० गा० २६२ की टीका) निरपेक्षनय मिथ्या और सापेक्षनय वस्तुसाधक है।

तम्हा मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण लहंति सम्मत्त सब्भावं ॥१०२॥

ज. ध. पु. १ पृ २४९।

केवल अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्या है, परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हो तो समीचीनपने को प्राप्त होते है (तब सम्यक् हैं)।

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयई सच्चे व अलिए वा ॥ ज. ध. पु. १ पृ. २५७

ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने मे समीचीन हैं और दूसरे नयो के निराकरण में मूढ हैं। अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह झूठा है', इसप्रकार का विभाग नही करते है।

अत किसी नय को परमार्थभूत और किसी नय को अपरमार्थभूत कहना आर्षग्रन्थ विरुद्ध है।

—जै ग 8-8-68/VI/ रोशनलाल

सभी सापेक्ष नय सम्यक् हैं

शंका—व्यवहारनय भूतार्थ है या अभूतार्थ है ? यदि भूतार्थ है तो क्यों ? यदि अभूतार्थ है तो क्यो ? भूतार्थ और अभूतार्थ से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—शका से ऐसा प्रतीत होता है कि शकाकार का अभिप्राय अध्यात्म व्यवहारनय से है। अत अध्यात्मदृष्टि से इस शका का समाधान होगा। सर्व प्रथम नयके लक्षण पर विचार किया जाता है।

प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एकदेश मे वस्तु के निश्चय करने को नय कहते है[१]। अनन्त-पर्यायात्मक वस्तु की किसी एकपर्याय का ज्ञान करते समय निर्दोष युक्ति की अपेक्षा से जो दोषरहित प्रयोग किया जाता है वह नय है।[२] जो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थ के विशेष का कथन करता है वह नय है।[३] यह नय, पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने मे निमित्त होने से मोक्ष का कारण है[४]। जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नय वाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है, यह देखकर **तत्त्वार्थसूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगम'** इसप्रकार प्रतिपादन किया है (ज. ध. पु. १ पृ. २०९) पद के उच्चारण करने पर और उसमे किये गये निक्षेप को देखकर (समझकर) यहाँ पर इस पद का क्या अर्थ है इसप्रकार ठीक रीति से अर्थ तक पहुँचा देते है अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ का ज्ञान कराते है, इसलिये वे नय हैं। (ध. पु. १ पृ. १०)

जितने वचनमार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय है। परसमयो का वचन सर्वथा कहा जाने से मिथ्या है और जैनो का वचन कथंचित् कहा जाने से सम्यक् है। (**प्रवचनसार परिशिष्ट**)

१. "प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः।" (ध पु. १ पृ. ८३; ज ध. पु. १ पृ ६१ व १९९)।

२ "अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्त्यपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः। (ज ध. पु. १ पृ २१०)

३ "प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।" (ज. ध. पु. १ पृ. २१०)।

४. "स एव याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोपदेशः।" (ज. ध. पु. १ पृ. २११)

ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय कराते हैं तो मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा के बिना ये नय जिसप्रकार की वस्तु का निश्चय कराते हैं वस्तु वैसी नहीं है[१]। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय का, अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय का जो जुदा-जुदा विषय है वह द्रव्य का लक्षण नहीं है, इसलिये अलग-अलग दोनों मूलनय मिथ्यादृष्टि है। सर्वथा द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय या सर्वथा पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय के मानने पर संसार, सुख, दुख, बंध, मोक्ष कुछ भी नहीं बन सकता है[२]। केवल अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि ये सभी नय सापेक्ष हो तो समीचीन हैं।[3] घटादि पदार्थ केवल अन्वयरूप नहीं हैं, क्योंकि उनमे भेद भी पाया जाता है तथा केवल भेदरूप भी नहीं है क्योंकि उनमे अन्वय भी पाया जाता है[४]। द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय नियम से अपने विरोधीनयो के विषय स्पर्श से रहित नहीं है और उसीप्रकार पर्यायार्थिकनय (व्यवहारनय) भी नियम से अपने विरोधीनय के विषयस्पर्श से रहित नहीं है। किन्तु विवक्षा से इन दोनों में भेद पाया जाता है।[५]

द्रव्यार्थिक (निश्चय) और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय एकान्त से मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्ष का निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्ष के अस्तित्व का निश्चय करने मे व्यापार करते है उनमे कथचित् समीचीनता पाई जाती है। ये सभी नय अपने-अपने विषयके कथन करने मे समीचीन है और दूसरे नयो के निराकरण करने मे मूढ है। अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है', इसप्रकार का विभाग नहीं करते है[६]। सुनयो की प्रवृत्ति सापेक्ष होती है इसलिये उनमे कुछ भी कठिनाई नहीं है[७]। जो नय प्रतिपक्षनय के निराकरण मे प्रवृत्ति करता है वह नय समीचीन नहीं होता है।[८]

नय का लक्षण तथा सापेक्षनय समीचीन और निरपेक्षनय असमीचीन, इसप्रकार नय का सामान्य कथन हो जाने के पश्चात् व्यवहारनय के विषयो पर विचार होता है। **समयसार आत्मख्याति** मे व्यवहारनय के तीन विषय कहे गये है, १ द्रव्य मे गुणकृत भेद (**गाथा ७**) २ द्रव्य मे पर्यायकृत भेद (**गाथा ४६ व ५६**), ३ पराश्रित कथन (**गाथा २७२ की टीका**)। व्यवहारनय के इन तीन विषयो की अपेक्षा से आत्म (जीव) द्रव्य का विचार करने पर ये तीनों विषय आत्मद्रव्य मे पाये जाते है।

१ आत्मा मे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन गुण पाये जाते है। यदि द्रव्य मे गुणकृतभेद स्वीकार न किया जावे तो, प्रथम क्षायिकसम्यग्दर्शन (चौथे से सातवें गुणस्थान तक), उसके पश्चात् क्षायिकचारित्र (बारहवें गुणस्थान मे) और उसके पश्चात् क्षायिकज्ञान (तेरहवें गुणस्थान मे) होता है, ऐसा तीनों गुणो के क्षायिक होने मे कालकृत भेद सम्भव नहीं हो सकता। आज तक किसी भी जीवके, दर्शन, चारित्र, ज्ञान ये तीनों गुण युगपद् क्षायिक नहीं हुए और न भविष्य मे होगे, क्रमश क्षायिक होते है, हुए थे और होगे। दर्शन, ज्ञान और चारित्र का लक्षण तथा कार्य भी भिन्न-भिन्न है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आत्म-द्रव्य मे ये तीन पृथक्-पृथक् गुण है। अत व्यवहारनय का विषय 'गुणकृत भेद' आत्मद्रव्य मे किसी अपेक्षा से पाया जाता है। **प्रवचनसार गाथा ९३** मे भी कहा है कि द्रव्यगुणात्मक है। अभेद की दृष्टि मे गुणकृत भेद दिखाई नहीं देता है।

१ ज. ध. पु १ पृ २४५। २. ज ध. पु. १ पृ. २४८। 3 ज. ध. पु १ पृ. २४६-५०।
४. ज ध. पु १ पृ. २५५। ५. ज. ध. पु. १ पृ. २५६। ६. ज. ध. पु. १ पृ. २५७।
७. ज. ध. पु. १ पृ. २८०। ८. ज. ध पु 3 पृ. २६२।

२. यद्यपि स्वभाव की अपेक्षा से सभी आत्माएँ समान है तथापि किन्हीं जीवो के वह स्वभाव व्यक्त हो गया है और किन्ही जीवो के वह स्वभाव व्यक्त नही हुआ है। सभी जीवो के वह स्वभाव व्यक्त है, यदि ऐसा मान लिया जावे तो धर्मोपदेश व धर्माचरण की कोई आवश्यकता न रहेगी तथा सभी केवलज्ञानी व सुखी होने चाहिये, किन्तु वर्तमान मे हम सब न तो केवलज्ञानी है और न सुखी है। प्रतिसमय अपने ही अन्तरग मे होने वाले सूक्ष्म-परिणमन हमको ज्ञात नही होते तथा नानाप्रकार की आकुलताओ के कारण हम निरन्तर दुःखी रहते है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वह स्वभाव हममे अभिव्यक्त नही हुआ है स्वभाव की व्यक्तता और अव्यक्तता ये दो अवस्थाएँ आत्मद्रव्य की है। अत व्यवहारनय का विषय 'पर्यायिकृत भेद' आत्मद्रव्य मे किसी अपेक्षा पाया जाता है। **प्रवचनसार गाथा १० वीं** मे स्वय **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा कि पर्याय के बिना पदार्थ नही और पदार्थ के बिना पर्याय नही है। पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्याय मे रहनेवाला और अस्तित्व से बना हुआ है। इसीप्रकार **श्री उमास्वामी आचार्य ने भी मो. शा. अ. ५ सूत्र ३८** मे कहा है कि 'द्रव्य गुण पर्याय वाला है।' अत इन आगम प्रमाणो मे भी द्रव्य मे गुणअपेक्षित व पर्यायापेक्षित भेद सिद्ध हो जाते है।

३ व्यवहारनय के तीसरे विषय 'पराश्रित' पर विचार करने से वह भी जीवआत्मा मे पाया जाता है। ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा मे केवलज्ञान प्रगट होता है। वह केवलज्ञान समस्त लोकालोक को और तीनो कालो के समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है क्योकि बाधक कारणो का अभाव हो गया है। अर्थात् केवलज्ञान हो जाने पर सर्वज्ञ हो जाता है। सम्पूर्ण परपदार्थों को जानने वाला सर्वज्ञ होने मे सर्वज्ञता भी व्यवहारनय का विषय है। **श्री १०८ कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार गाथा ३५६ और ३६१ मे** कहा है कि ज्ञायक निश्चनय से पर का ज्ञायक नही है, किन्तु व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता है। **नियमसार गाथा १५९ में श्री १०८ कुन्दकुन्द भगवान** ने कहा कि 'व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते और देखते है, निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को जानता और देखता है।' इसप्रकार व्यवहारनय के तीनो विषय आत्मा मे विद्यमान है।

व्यवहारनय के द्वारा जीव द्रव्य के गुण और पर्यायो का ज्ञान हो जाने से जीव आत्मा का ही ज्ञान हो जाता है क्योकि गुण और पर्यायो के समूह का नाम तो द्रव्य है[1] अथवा द्रव्य अपनी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्याय का प्रमाण है[2]। जिसको जीव आत्मा का बोध हो गया उसको स्व का निश्चय हो गया और 'स्व का निश्चय' सम्यग्दर्शन है। जीव अजीव आदि तत्त्वो का तथा स्व का बोध कराने मे व्यवहारनय कारण है, अत व्यवहारनय जीव के लिये प्रयोजनवान है। इसी बात को **श्री पद्मनन्दि आचार्य ने पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका श्लोक ६०६** मे इस प्रकार कहा है—

व्यवहारो भूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्ध नय ।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतय पद परमम् ॥

संस्कृत टीका—व्यवहारः भूतार्थ. भूतानां प्राणिनाम् अर्थ. भूतार्थः व्यवहारः देशितः कथित । शुद्धनय सत्यार्थः कथितः । ये यतय मुनयः शुद्धनयम् आश्रिता ते मुनय परमं पदं प्राप्नुवन्ति ।

१. "गुणपर्ययवद् द्रव्य" ॥ ३८ ॥ मोक्षशास्त्र अध्याय ॥ ५ ॥

२. 'एय-दवियम्मि जे अत्थ-पज्जया वयण-पज्जया चावि । तीदाणागय-भूदा तावदियं तं हवइ दव्व ॥"
(गोम्मटसार जीवकांड गाथा ५८२)

अर्थात्—'व्यवहारनय प्राणियो के प्रयोजन का कथन करता है और शुद्धनय सत्यार्थ का कथन करता है'। जो मुनि शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे मुनि परम पद को प्राप्त करते है।' यह ही **समयसार गाथा ११** मे कहा गया है[1]। क्योकि **गाथा १२ के 'व्यवहारदेसिदा पुण जेदु अपरमेट्ठिदाभावे'** इन शब्दो द्वारा यह कहा गया है कि 'जो अनुत्कृष्ट अवस्था मे ठहरे हुए हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

जयधवल पुस्तक १ पृ. ८ पर भी कहा है **''गौतमस्वामी** ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर चौबीस अनुयोग द्वारो के आदि मे **'णमोजिणाणं'** इत्यादि रूप से मगल किया है। यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नही है। जो व्यवहारनय बहुत जीवो का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन मे निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारो के आदि में मगल किया है।' व्यवहारनय का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन मे निश्चय करके **श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार** आदि प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ मे तथा **श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने टीका** के तथा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय आदि ग्रन्थो के प्रारम्भ मे 'मगल' किया है। जिन आचार्यों ने स्वय व्यवहारनय का आश्रय लेकर मगल किया है, वे आचार्य व्यवहारनय असत्य है, ऐसा कैसे कह सकते हैं?

यदि कहा जाय कि **श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के श्लोक ५** मे व्यवहारनय को झूठा कहा है, सो ऐसा कहना भी उचित नही है। श्लोक ५ के शब्द इसप्रकार हैं—**'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्य-भूतार्थम्।' अर्थात्**—इस ससार मे निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते है।' भूत शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे— वे मूलद्रव्य जिनकी सहायता से सारी सृष्टि की रचना हुई है, द्रव्य, महाभूत, सृष्टि का कोई जड या चेतन, अचर या चर पदार्थ या प्राणी, जीव, सत्य, बीता हुआ समय, एकप्रकार पिशाच या देव, मृत-शरीर, शव, मृतप्राणी की आत्मा, प्रेत, जिन, शैतान। (नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित कोष)। यदि यहाँ पर 'भूतार्थ का अर्थ 'सत्यार्थ' किया जाय और अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया जाय तो यह अर्थ होता है कि निश्चयनय सत्यार्थ (सच्चा) और व्यवहारनय असत्यार्थ (झूठा) कहा जाता है किन्तु **श्री अमृतचन्द्राचार्य** का लक्ष्य 'व्यवहारनय को झूठ' कहने का नही रहा है क्योकि **श्लोक ६** मे वे कहते हैं—**'अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्'। अर्थात्**—'आचार्य अज्ञानी जीवो को समझाने के लिये अभूतार्थ को कहते हैं'। और झूठ के द्वारा अज्ञानी नहीं समझाया जा सकता है। अत यहाँ पर 'भूत' का अर्थ 'द्रव्य' होना चाहिये, क्योकि **समयसार गाथा ५६ की टीका** मे स्वयं **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने निश्चयनय को द्रव्याश्रित कहा है और व्यवहारनय को पर्यायाश्रित कहा है। 'अभूत' का अर्थ 'अद्रव्य' अर्थात् पर्याय हो जाता है।

पु. सि. श्लो ८ में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—'व्यवहार और निश्चय को तत्त्व (यथार्थ) रूप से जानकर जो मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य उपदेश के समस्त फल को प्राप्त करता है।' यदि निश्चयनय सच्चा और व्यवहार नय झूठा होता तो **श्री अमृतचन्द्राचार्य श्लो. ८** मे यह कहते कि जो निश्चयनय को सच्चा और व्यवहारनय को झूठा जानकर, व्यवहारनय को छोड देता है और निश्चयनय को ग्रहण करता है वही शिष्य उपदेश के समस्त फल को प्राप्त करता है, किन्तु श्लोक ८ मे ऐसा नही कहा गया है इससे स्पष्ट है कि निश्चयनय सच्चा और व्यवहारनय झूठा, ऐसा अभिप्राय आचार्य महाराज का नही था, किन्तु उनका अभिप्राय निश्चय भूतार्थ (द्रव्यार्थिक) और व्यवहारनय अभूतार्थ (पर्यायार्थिक) है, ऐसा रहा है। **समयसार** मे भी यह ही कहा गया है—

१. ववहारोऽभूयत्थो भूतत्थोदेसिदो दु सुद्धणओ। भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥
(समयसार गाथा ११)

जीवे कम्म बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्ध पुट्ठं हवई कम्म ॥ १४१ ॥
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥
दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णय पक्ख गिण्हदि किंचिवि णयपक्ख परिहीणो ॥१४३॥
सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

अर्थ—जीव मे कर्म बँधा हुआ है और स्पर्शित है, ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव मे कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है, ऐसा शुद्धनय का कथन है ॥ १४१ ॥ जीव मे कर्मबद्ध है अथवा अबद्ध है इसप्रकार तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त है वह **समयसार** कहलाता है ॥ १४२ ॥ नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ दोनो नयो के कथन को मात्र जानता ही है, परन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नही करता ॥ १४३ ॥ जो सर्व नयपक्षो से रहित कहा गया है वह **समयसार** है । यह **समयसार** ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान इस संज्ञा को प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥ **गाथा १४१** से यह स्पष्ट है कि व्यवहारनय पर्याय का कथन करता है, क्योकि पर्याय की अपेक्षा यह जीव ससारी है और कर्मो से बँधा हुआ है, किन्तु निश्चयनय द्रव्य अर्थात् सामान्य का कथन करता है, क्योकि सामान्य की अपेक्षा जीव अवद्ध बँधा हुआ नही है । **गाथा १४२ से १४४** तक यह कहा गया है कि **समयसार** दोनो नयो से अतिक्रान्त है । अर्थात् द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय का जो जुदा-जुदा विषय है वह द्रव्य का लक्षण (स्वरूप) नही है (**ज ध. पु. १ पृ. २४८**) ।

व्यवहारनय को, सर्वथा झूठ मानने पर **मो. शा. अ. सूत्र ६ 'प्रमाणनयैरधिगम'** से विरोध आता है, क्योकि झूठ के द्वारा वस्तु का बोध नही हो सकता । देव के स्वरूप को नही जाननेवाले को यदि देव का झूठा स्वरूप इसप्रकार कहा जावे कि जिसके सप्तधातुमय शरीर है और उसशरीर मे नानाप्रकार के घाव (जख्म) हैं जिनमे से दुर्गंध आती है, एक पैर, दो सीग, दुम है, नाक नही होती वह देव है, तो वह क्या देव का यथार्थ-स्वरूप समझ जावेगा ? यदि व्यवहारनय भी इसप्रकार झूठ कथन करने वाला होता तो उसके द्वारा अज्ञानी समझाए नही जा सकते थे, किन्तु व्यवहारनय के द्वारा अज्ञानी समझाए जाते हैं ।[1] अत व्यवहारनय झूठा नही है । व्यवहारनय को असत्य कहना ठीक नही है[2] । व्यवहारनय बहुत जीवो का उपकार करने वाला है, अत उसका आश्रय करना चाहिये[3] । इतना ही नही, **श्री पद्मनन्दिआचार्य ने तो व्यवहार को पूज्य कहा है ।**

मुख्योपचार विवृतिं, व्यवहारोपायतो यतः सन्तः ।
ज्ञात्वाश्रयन्ति शुद्धतत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥ ६०८ ॥

अर्थ—क्योकि सज्जन मनुष्य व्यवहारनय के आश्रय से मुख्य और उपचार कथन को जानकर शुद्धतत्त्व का आश्रय लेते है अतएव व्यवहार पूज्य है । **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पुरुषार्थसिद्धय पाय** मे कहा है कि यह

१. 'अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम् ।' (पुरुषार्थसिद्धय पाय गाथा ६)
२ तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्क ॥ ८ ॥ (समयसार गाथा ८)
३. जयधवल पु० १ पृ ७ ।

निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन, चारित्र, ज्ञानलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमपद प्राप्त कराता है। अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी मोक्ष के लिये कारण है।

समयसार गाथा ४६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है "निश्चयनय से शरीर और जीव को भिन्न-भिन्न बताया जाने पर त्रस-स्थावर जीवों को निःशंकतया मसलदेने कुचलदेने (घात करने) में हिंसा का अभाव ठहरेगा, जैसे भस्म को मसलदेने से हिंसा का अभाव ठहरता है, और हिंसा के अभाव में बंध का अभाव हो जायगा। दूसरे निश्चयनय के द्वारा जीव को राग-द्वेष, मोह से भिन्न बताया जाने पर रागी-द्वेषी-मोही जीव कर्मसे बँधता है, उसे छुड़ाता है। इसप्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायगा और इससे मोक्ष का ही अभाव हो जायगा। इसप्रकार यदि व्यवहारनय न माना जावे तो बंध-मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।"

इन आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय झूठा नहीं है, वह भी अपने विषय के द्वारा वस्तु का यथार्थज्ञान कराता है। यदि कोई भी नय अपने विषय के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं कराता तो वह नय नहीं है, किन्तु नयाभास है। यदि कोई नय पर निरपेक्ष है तो वह मिथ्या है। कहा भी है—ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय कराते है तो मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा के बिना ये नय जिसप्रकार वस्तु का निश्चय कराते है, वस्तु वैसी नहीं है[1]। इसीलिये **पंचास्तिकाय** के अन्त में **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने केवलनिश्चयावलम्बी जीव और केवल व्यवहारावलम्बी जीव दोनों को मिथ्यादृष्टि कहा है, किन्तु निश्चयावलम्बी को दुर्गति का पात्र और व्यवहारावलम्बी को सुगति का पात्र कहा है।

सभी नय सम्यक् है यदि वे सापेक्ष है और सभी नय मिथ्या है यदि वे निरपेक्ष है। 'अमुक नय सत्य है दूसरा नय मिथ्या है', ऐसा कहना आगमानुकूल नहीं है।

नयों की प्रधानता से वचन बोला जाय वह व्यवहार सत्य है, यह सत्य का सातवाँ भेद है। नय का लक्षण इसप्रकार है—प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। अथवा श्रुतज्ञान के विकल्पों को नय कहते है। अथवा ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है। अथवा जो नाना-स्वभावों से हटाकरके किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, उसको नय कहते है।[2]

द्रव्यों के दश विशेष स्वभाव है—चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव, उपचरितस्वभाव। (**आलापपद्धति**)। इनमें से 'उपचरित स्वभाव' असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है।[3] उपचार पृथक्नय नहीं है, इसलिये उसको पृथक् स्वतन्त्रनय नहीं कहा है। मुख्य के अभाव (गौण) होने पर और प्रयोजन व निमित्त होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है। वह भी अविनाभावसम्बन्ध, संयोगसम्बन्ध, परिणाम-परिणामीसम्बन्ध, श्रद्धा-श्रद्धेयसम्बन्ध, ज्ञान-ज्ञेय-

१. जयधवल पु. १ पृ. २४५।

२. 'प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः, श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः।' (आलापपद्धति)

3. 'असद्भूतव्यवहारेणोपचरितस्वभावः।' (आलापपद्धति)

सम्बन्ध चारित्र-चर्या सम्बन्ध, इत्यादि तथा सत्यार्थरूप, असत्यार्थरूप, सत्यासत्यार्थरूप होता है। इसप्रकार उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय समझना चाहिये।[1]

परिणाम-परिणामीसम्बन्ध की दृष्टि मे 'मिट्टी का घडा' और सयोगसम्बन्ध की दृष्टि मे 'घी का घडा' दोनो ही नय के वचन हैं। अत 'मिट्टी का घडा' और 'घी का घडा' दोनो व्यवहार सत्य है।

उपचरित या अनुपचरित के एकान्त पक्ष मे इसप्रकार दोष आता है—''उपचरितएकातपक्ष मे भी नियमित पक्ष होने से आत्मा के आत्मज्ञता सम्भव नही और अनुपचरितएकातपक्ष मे भी आत्मा के परज्ञता (सर्वज्ञता) आदि का विरोध हो जायगा[2]।''

एक कमरे मे मिट्टी के चार घडे रखे हुए थे उसमे से एक मे तैल, दूसरे मे घी, तीसरे मे पानी और चौथे मे चावल थे। यदि आप किसी से यह कहे कि 'मिट्टी का घडा' ले आओ, तो वह नही समझ सकेगा कि इन चारो घडो मे से कौनसा घडा लेजाया जावे। परन्तु 'घी का घडा' कहने पर वह तुरन्त घी से भरे हुए घडे को ले आयेगा। 'घी का घडा' कहना सत्यार्थ है, तभी तो वह 'घी का घडा' कहने पर घडा ले आया।

जैसे 'बन्ध्या के लडके को लाओ' ऐसा वचन कहने पर वह किसी लडके को नही ला सकता क्योकि 'बन्ध्या का लडका' कहना असत्यार्थ है। इसप्रकार यदि 'घी का का घडा' असत्यार्थ होता तो वह घडा नही ला सकता था।

प्रत्येकवस्तु मे अनेकधर्म होते है, क्योकि वस्तु अनेकांतात्मक है। प्रत्येक नय से वस्तु के किसी न किसी धर्म की मुख्यता से वस्तु का ज्ञान होता है। कहा भी है—द्रव्यो का जिसप्रकार स्वरूप है, लोक मे भी वह द्रव्यो का स्वरूप उसीप्रकार से स्थित है तथा ज्ञान मे उसीप्रकार जाना जाता है तथा नय मे भी नियम करके उसीप्रकार जाना जाता है (**आलापपद्धति गाथा ११**)। निश्चयनय से द्रव्य नित्य है और व्यवहारनय से द्रव्य अनित्य है। क्या इन दोनो नयो के व्याख्यानो को सत्यार्थ न जानें ? वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है, क्या यह भ्रमरूप है। वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है यह निश्चय और व्यवहारनय का यथार्थ ग्रहण है।

जीव के गुण चेतना तथा उपयोग है और जीव की पर्यायें देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंचरूप अनेक है (**पंचास्तिकाय गाथा १६**)। 'पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायें नही होती। द्रव्य और पर्याय इन दोनो का अनन्यभाव है (**पंचास्तिकाय गाथा १२**)। द्रव्यबिना गुण नही होते और गुणो बिना द्रव्य नही होता, इसलिये द्रव्य और गुणो का अव्यतिरिक्त भाव (अभिन्नपना) है (**पंचास्तिकाय गाथा १३**)। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने द्रव्य और पर्याय इन दोनो मे परस्पर अनन्यभाव बतलाया और मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारकआदि जीव की पर्यायें बतलाई, अत मनुष्य जीव है, तिर्यंच जीव है, क्या यह सत्यार्थ नही है ? क्या मनुष्य, तिर्यंच अजीव हैं ? 'मनुष्य,

१. 'उपचारः पृथग् नयो नास्तीति न पृथग् कृतः। मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते। सोपि सम्बन्धोऽविनाभावः संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारित्रचर्यासम्बन्धश्चेत्यादि सत्यार्थः असत्यार्थः सत्यासत्यार्थश्चेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारनयस्यार्थः।

२. 'उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमितपक्षत्वात्। तथाऽत्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात्।' (आलापपद्धति)

तिर्यंच जीव हैं' यदि ऐसा न माना जावेगा तो मनुष्य, तिर्यंच आदि के मर्दन से हिंसा का अभाव हो जायगा और हिंसा के अभाव मे बंध का अभाव होजायगा। बध के अभाव मे मोक्ष का भी अभाव हो जायगा (**समयसार गाथा ४६ टीका**)। यदि मनुष्य, तिर्यंचादि पर्यायें जीव की न मानी जावे तो जीवद्रव्य के अभाव का प्रसग आजायगा क्योकि जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय या व्यजनपर्याय है उतना ही द्रव्य है। (**गो. सा. जी गा. ५८२**)

प्रत्येक द्रव्य भेदाभेदात्मक है। मात्र अभेदात्मक नही है। 'सर्वथा अभेदपक्ष मानने पर सब द्रव्यो के एकत्व का प्रसग आवेगा और एकत्व के होने से अर्थक्रियाकारी पने का अभाव हो जायगा तथा उसके अभाव मे द्रव्य का भी अभाव होजायगा (**आलापपद्धति**)' अत जीव देखने-जाननेवाला है अर्थात् उपयोगमयी है यह भी सत्यार्थ है, क्योकि 'उपयोग' जीव का लक्षणात्मक गुण है। व्यवहारनय का विषय द्रव्य के भेदस्वभाव, अनेकस्वभाव, उपचारस्वभाव इत्यादिक हैं। यदि व्यवहारनय को असत्यार्थ माना जावे तो उसके विषयभूत द्रव्य के भेद स्वभाव, अनेकस्वभाव, उपचरितस्वभाव आदि को भी असत्यार्थ मानना पडेगा। वस्तुस्वभाव असत्यार्थ नही होता। अत व्यवहारनय भी असत्यार्थ नही है।

यद्यपि 'घी का घडा' व 'मिट्टी का घडा' दोनो व्यवहारनय के विषय है तथापि अपनी विवक्षा से दोनो सत्य हैं।

—जै. ग 1,15-8-63/IX/ **प्रेमचन्द**

व्यवहारनय भी भूतार्थ है

शका—समयसार ११ मे जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और गाथा १२ मे व्यवहार को भूतार्थ कहा है सो गाथा ११ का व्यवहार मिथ्यादृष्टि का और गाथा १२ का व्यवहार सम्यग्दृष्टि का है। श्री अमृतचन्द्र और जयसेन दोनो आचार्यों की टीका से ऐसा समझ मे आता है; क्या यह ठीक है ?

समाधान—शकाकार ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह ठीक है। **समयसार गाथा ११ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इसप्रकार लिखा है—'प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवति।'**

अर्थ—'प्रबलकर्मों के मिलने से जिसका एक ज्ञायकस्वभाव तिरोभूत होगया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करनेवाले **पुरुष आत्मा और कर्म का विवेक न करनेवाले व्यवहार मे विमोहित हृदयवाले** तो उस आत्मा को जिसमे भावो की विश्वरूपता प्रगट है ऐसा अनुभव करते है।' 'आत्मा और कर्म का विवेक न करने वाले, व्यवहार मे विमोहित हृदयवाले तो आत्मा को जिसमे भावो की विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा मानते है।' टीका के इन शब्दो से प्रगट है कि यहाँ पर मिथ्याव्यवहारनय अर्थात् निश्चयनय निरपेक्ष मात्र व्यवहारनय को माननेवाले का कथन है और इसीलिये ऐसे व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी टीका मे इसप्रकार लिखा है—**स्वसंवेदनरूपभेद भावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति।**' यहाँ पर भी 'स्वसंवेदनरूप भेदभावनाशून्यजन.' इन शब्दो से स्पष्ट है कि यहाँ पर भी मिथ्यादृष्टिपुरुष की व्यवहारनय को अथवा निश्चयनय निरपेक्ष व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है।

समयसार गाथा १२ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह कहा है—'ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमभावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपर्दाशतप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान् ।'

अर्थ—'जो पुरुष प्रथम, द्वितीयादि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्टमध्यमभाव का अनुभव करते है उन्हे अन्तिमताव से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान उत्कृष्टभाव का अनुभव नही होता, इसलिये अशुद्धद्रव्य को कहने वाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेकभाव दिखाये है ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने मे आता हुआ उस काल का प्रयोजनवान है ।' यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जो ससारावस्था (अशुद्ध-अवस्था) मे स्थित है वह सिद्ध-अवस्था (शुद्धअवस्था) का अनुभव (स्वाद) नही कर सकता, किन्तु जो निश्चयाभासी ससार अवस्था मे भी अपने आपको शुद्ध मान लेता है उसके लिये जीव की नानापर्यायो को बतलानेवाला व्यवहारनय प्रयोजनवान है । अत यहाँ पर **समयसार गाथा १२** मे निश्चयसापेक्ष व्यवहारनय अर्थात् सम्यग्व्यवहारनय का कथन है ।

श्री जयसेनाचार्य ने समयसार गाथा १२ की टीका मे इसप्रकार कहा है—**'अपरमे अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्टयपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः ।'**

अर्थ—'अपरमे अर्थात् अशुद्धे अर्थात् असयतसम्यग्दृष्टि श्रावक-सरागसम्यग्दृष्टि लक्षणवाले शुभोपयोगी प्रमत्त, अप्रमत्तगुणस्थानवाले अथवा भेदरत्नत्रय वाले ।' इससे भी स्पष्ट है कि यहाँ पर सम्यग्व्यवहारनय का कथन है । और उसको प्रयोजनवान कहा है ।

श्री पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका मे कहा है—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थोदेशितस्तु शुद्धनयः ।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतय पद परमम् ॥६०६॥

— **जै. ग.** 5-3-64/IX/ **स कु सेठी**

व्यवहारनय या उसका विषय झूठ नहीं है

शंका—शास्त्रों में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है इसका अभिप्राय क्या है ? क्या व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है इसलिए इसको अभूतार्थ कहा गया है ? अभूतार्थ का अर्थ क्या झूठ है ? गधे के सींग के समान क्या व्यवहारनय का विषय है ?

समाधान—व्यवहारनय का विषय पर्याय है जो त्रैकालिक सत् अर्थात् भूत नही है इसलिये व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है ।

"ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो ।" (गो० जी० ५७२)

"व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेन ।" (स. सा. गाथा १२ टीका)

व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दो का एक ही अर्थ है ।

णिच्छयववहारणया मूलमभेयाणयाण सव्वाणं ।
णिच्छयसाहणहेओ दव्वपज्जत्थिया मुणह ॥ ४ ॥ (आलापपद्धति)

टिप्पणी—निश्चयनया द्रव्यस्थिता व्यवहारनया पर्यायस्थिता ।

"व्यवहारनयाः किल पर्यायाश्रितत्वात्········ ···निश्चयनयः तु द्रव्याश्रितत्वात्····।"

(स सा. गा० ५६ टीका)

व्यवहारनय का विषय पर्याय है और निश्चयनय का विषय द्रव्य है । जिस नय का विषय पर्याय है वह व्यवहारनय है, क्योकि पर्याय व व्यवहार एकार्थवाची हैं । पर्याय सर्वदा सत् नही है, किन्तु कादाचित्क सत् है अत पर्याय अभूतार्थ है । परन्तु खर-विषाणवत् सर्वथा अवस्तु नही है । अत व्यवहारनय या उसका विषय झूठ नही है । व्यवहारनय का विषय पर्याय कादाचित्क होने से द्रव्य का स्वभावभूत भाव नही हो सकता है, अत व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है । यदि व्यवहारनय के या उसके विषय को झूठ माना जाय तो निम्न आर्षग्रन्थो से विरोध आ जायगा ।

गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारो के आदि मे 'णमो जिणाण' इत्यादिरूप से मगल किया है । यदि कहा जाय व्यवहारनय असत्य (झूठ) है, सो भी ठीक नही है, क्योकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यो की प्रवृत्ति देखी जाती है । अत जो व्यवहारनय बहुत जीवो का अनुग्रह करनेवाला है उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन मे निश्चय करके **गौतमस्थविर** ने चौबीसअनुयोगद्वारो के आदि मे मगल किया है । (ज. ध. पु. १ पृ. ८)

"तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तोद्विष्टोविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति तमंतरेण तु रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।" (स. सा. गाथा ४६ टीका)

यहाँ पर **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने बतलाया है कि व्यवहारनय के बिना हिसा का अभाव हो जायगा और हिंसा का अभाव होने से बध का भी अभाव हो जायगा, क्योकि निश्चयनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है और उसका एकात करने से त्रस-स्थावर जीवो का घात नि शकपने से करता सिद्ध हो जायगा । जैसे भस्म के मर्दन करने मे हिंसा का अभाव है उसीतरह से निश्चयनय से त्रस-स्थावरजीवो के मारने मे भी हिंसा नही सिद्ध होगी और हिंसा के अभाव मे बध का भी अभाव ठहरेगा ।

व्यवहारनय के बिना रागी-द्वेषी-मोहीजीव कर्म मे बधता है और उसको छुडाता है अर्थात् मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा और इससे मोक्ष का भी अभाव हो जायगा, क्योकि निश्चयनय राग-द्वेष-मोह से जीव को भिन्न दिखाता है अत. निश्चयनय से न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है । व्यवहारनय से ही बध, मोक्ष और मोक्षमार्ग है ।

यदि व्यवहारनय या उसके विषय को असत् माना जायगा तो उपर्युक्त दोनो दूषण आ जायेंगे अर्थात् मोक्ष और मोक्षमार्ग का अभाव हो जायगा । व्यवहारनय मे मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों सिद्ध होते हैं अत. व्यवहारनय

प्रयोजनवान है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका** मे कहा भी है कि व्यवहारनय के द्वारा प्राथमिक सुख से मोक्षमार्ग के पारगामी होते हैं।

"व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावानवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।"
(पं का गा. १७२ टीका)

चू कि व्यवहारनय के द्वारा प्राथमिक सुख से मोक्षमार्ग के पारगामी होते है, इसीलिये **श्री पद्मनन्दि-आचार्य** ने 'व्यवहारो भूतार्थ' तथा संस्कृत टीकाकार ने '**व्यवहारो भूतार्थः, भूतानां प्राणिनाम् अर्थः भूतार्थः।**' इन शब्दो द्वारा व्यवहारनय को भी भूतार्थ कहा है। (प० प० ११।८)

यदि व्यवहारनय और उसके विषय को झूठ या असत् माना जायगा तो उपर्युक्त दोषो (बंध का अभाव तथा मोक्ष व मोक्षमार्ग का अभाव) के अतिरिक्त सर्वज्ञता का भी अभाव हो जायगा, क्योकि **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने '**जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।**' इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि केवलीभगवान सर्व को व्यवहारनय से (उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से) देखते जानते है।

नयशास्त्र से अनभिज्ञ बहुत से असद्भूत का अर्थ असत् अर्थात् झूठ करते है। उनका ऐसा अर्थ करना ठीक नही है। जिनकी एक सत्ता नही है अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध नही है उनको असद्भूत कहते हैं। गुण और गुणी की एक सत्ता है, क्योकि उनका तादात्म्यसम्बन्ध है अत गुण-गुणी का सम्बन्ध सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। किन्तु ज्ञान और ज्ञेय का तादात्म्यसम्बन्ध न होने से एक सत्ता भी नही है, अत ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

इसीप्रकार वे उपचरित का अर्थ कहने मात्र को करते है सो भी ठीक नही है। 'उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय' मे उपचरित शब्द संश्लेषसम्बन्ध के निषेध का द्योतक है। जिसप्रकार शरीर और आत्मा का संश्लेष-सम्बन्ध है उसप्रकार का संश्लेषसम्बन्ध ज्ञान और ज्ञेय मे नही है अत यह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध कहने मात्र का नही है, किन्तु यथार्थ है। यदि ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध यथार्थ न हो तो दोनो के अभाव का प्रसग आजायगा। ज्ञान और ज्ञेय का अभाव है नही, अत ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध यथार्थ है।

इसप्रकार आर्ष ग्रन्थो के प्रमाणो से यह सिद्ध हो गया कि व्यवहारनय तथा उसका विषय झूठ, असत् या अयथार्थ नही है किन्तु यथार्थ है और इस व्यवहारनय से ही मोक्ष और मोक्षमार्ग की सुव्यवस्था होती है और बहुत जीवो का उपकारी है, अत यह व्यवहारनय प्रयोजनवान है **श्री गौतमगणधर** ने भी इस व्यवहारनय का आश्रय लिया है।

—जै ग 3-12-70/X/ रो. ला मित्तल

व्यवहार सर्वथा अभूतार्थ नहीं और निश्चय सर्वथा भूतार्थ नहीं

शंका—यदि व्यवहारनय का कथन वास्तविक है तो मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार मे प० टोडर-मलजी ने ऐसा क्यो कहा— 'निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना चाहिये और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उसके भावों को तथा कारणकार्यादिक को किसी के किसी में मिला-

कर निरूपण करता है। इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये।' सोनगढ़-साहित्य में इस कथन पर बहुत जोर दिया गया है और कहा गया है कि जैनशास्त्रों के अर्थ करने की यह पद्धति है और सच्ची श्रद्धा करने की रीति है। अतः इसका खुलासा किसप्रकार है ?

समाधान—यदि उपर्युक्त सिद्धांत को सर्वत्र लगाया जावे जो 'सर्वज्ञता तथा संसार व मोक्ष' का सर्वथा अभाव हो जायगा। 'सर्वज्ञता' व्यवहारनय से है, क्योंकि 'स्व' अर्थात् 'ज्ञायक' और 'पर' अर्थात् 'ज्ञेय' के सम्बन्ध को बतलाया है, जैसे 'घी का घड़ा' आधार-आधेयसम्बन्ध को बतलाता है। इसीप्रकार 'संसार' भी व्यवहारनय से है, क्योंकि कर्मजनित रागादिभावों को जीव के कहकर 'जीव' को संसारी कहा है **(स. सा. गा. ४६)** और संसार के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा। मोक्ष के अभाव में मोक्षमार्ग और मोक्षमार्ग के उपदेश का भी अभाव हो जायगा। अतः 'व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर इसको छोड़ना चाहिये' इस सिद्धांत द्वारा 'सर्वज्ञ, संसार व मोक्ष' को असत्यार्थ मान उसका श्रद्धान छोड़ना पड़ेगा। जिस जीव को मोक्ष का श्रद्धान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है **(स. सा. गा. २७४)** जिसप्रकार निश्चयनय द्वारा निरूपण किया हुआ, 'निश्चयनय' की अपेक्षा से सत्यार्थ है, उसीप्रकार व्यवहारनय के द्वारा निरूपण किया हुआ 'व्यवहारनय' की अपेक्षा से सत्यार्थ है। यदि व्यवहारनय के 'निरूपण' को असत्यार्थ श्रद्धान कर छोड़ा जावे तो 'त्रस-स्थावरजीवों को मसल देने में भी' हिंसा का अभाव होगा **(स. सा. गा. ४६ आत्मख्याति टीका)**।

'व्यवहारनय असत्य है' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहारनय का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय बहुतजीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसी का आश्रय करना चाहिये। **(क. पा. ज. ध. पु. १, पृ. ८)**। सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं। व्यवहारनय का विषय व्यवहारनय की दृष्टि से भूतार्थ है, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से अभूतार्थ है, जैसे पदार्थ को नानापर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है तथापि द्रव्यस्वभाव से अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है **(स. सा. गा. १४, आत्मख्याति टीका)**। निश्चय या व्यवहार इन दोनों नयों में से किसी एकनय की दृष्टि से पदार्थ को देखने पर अन्यनय का विषय दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् उस नय की दृष्टि में अन्य नय का विषय अविद्यमान है अथवा असत्यार्थ है। अतः एकनय की दृष्टि से पदार्थ को देखना एकदेश अवलोकन है और दोनों नयों की दृष्टि से पदार्थ को देखना सर्वावलोकन है। सर्वावलोकन (अनेकान्तदृष्टि) से पदार्थ में दोनों विरोधीभाव अर्थात् दोनों नयों का विषय (अन्यत्व और अनन्यत्व) विरोध को प्राप्त नहीं होते **(प्र. सा. गा. ११४ की टीका)**। **अतः व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ नहीं है और निश्चयनय सर्वथा भूतार्थ नहीं है।**

कोई-कोई व्यवहारनय और निश्चयनय के निरूपण में विशेषता न जानकर दोनों निरूपण को एक ही अपेक्षा से मानते हैं, उनको समझाने के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय सात में व्यवहारनय द्वारा निरूपण असत्यार्थ है ऐसा कहा है। जैसे निश्चयनय से 'मिट्टी का घड़ा' कहा जाता है, और व्यवहारनय से 'घी का घड़ा' कहा जाता है। 'मिट्टी का घड़ा' कहने का अभिप्राय यह है कि 'घड़ा मिट्टी का बना हुआ है, मिट्टीमय है और मिट्टी से अभिन्न है।' 'घी का घड़ा' कहने का अभिप्राय यह है 'घड़े में घी रखा है, अर्थात् घड़े और घी के आधारआधेयसम्बन्ध को बतलाया है' यदि कोई 'घी का घड़ा' और 'मिट्टी का घड़ा' इन दोनों वाक्यों में 'का' शब्द का समान प्रयोग देखकर और वक्ता के अभिप्राय को न समझकर यह मान लेते कि 'घी का घड़ा' कहने का भी यह अभिप्राय है कि 'घड़ा घी का बना हुआ है, घीमय है, घी से अभिन्न है' उसको समझाने के लिये मोक्षमार्ग प्रकाशक में यह कहा

कि व्यवहारनय से जो 'घी का घडा' कहा है वह असत्यार्थ है क्योंकि घी का बना हुआ घडा नहीं है, किन्तु निश्चयनय का निरूपण 'मिट्टी का घडा' सत्यार्थ है, क्योंकि मिट्टी का बना हुआ घडा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक का उक्त उपदेश उस जीव के लिये नहीं है जो व्यवहारनय के निरूपण 'घी का घडा' का अभिप्राय यह जानता है कि घडे के अन्दर घी रखा हुआ है अर्थात् आधार-आधेयसम्बन्ध की अपेक्षा से 'घी का घडा' कहा जाता है। यदि मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त कथनानुसार 'घी और घडे के आधार-आधेयसम्बन्ध' को भी असत्यार्थ मान लेवे तो प्रत्यक्ष से विरोध आ जावेगा। अत मोक्षमार्गप्रकाशक का उक्त उपदेश सर्वत्र सर्वजीवो के लिये नहीं दिया गया है, और न सर्वत्र 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के उक्त सिद्धात का प्रयोग करना उचित है। 'रागादिभावो का और जीव का व्याप्यव्यापक व कर्त्ताकर्मसम्बन्ध व्यवहारनय मे है और निश्चयनय से रागादि और पुद्गलकर्म का व्याप्यव्यापक व कर्त्ताकर्मसम्बन्ध है' ऐसा स. सा. गा. ३९-६८ व गाथा ७५ की आत्मख्याति टीका मे कहा है, किन्तु पंचास्तिकाय गाथा ५७ व ५८ मे यह कहा है कि—'निश्चयनय से रागादि का कर्त्ता जीव है और व्यवहारनय से रागादि का कर्त्ता पुद्गलकर्म है।' यदि व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माना जावे तो रागादि का कर्त्ता न जीव है और न पुद्गल है। अत व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने मे बहुत दोष आते है।

— जै स. 28-8-58/V/ मोतिकचर्चा

शुद्ध निश्चयनय भी सर्वथा भूतार्थ नहीं है

शंका—जब निश्चय की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा जाता है तो व्यवहार की प्रधानता से निश्चयनय को भी अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहना चाहिये, क्योंकि स सा. गा. ५३-५४-५५ में बताया है कि उदयस्थान, बंधस्थान, गुणस्थानादि सब पुद्गल के है जीव के नहीं हैं। यदि सर्वथा ऐसा ही मान लिया जावे तो मोक्षपुरुषार्थ की तथा संवर और निर्जरा की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। सिद्ध और ससारी आत्मा सर्वथा समान हो जावेंगी, परन्तु धवला आदि किसी ग्रन्थ में व्यवहारनय की मुख्यता से संसारीजीवो को पर्यायदृष्टि से कथंचित् मूर्तिक माना गया है। इसीकारण व्यवहार की मुख्यता से निश्चयनय क्या अभूतार्थ है ?

समाधान—समयसार गाथा ११ मे 'शुद्धनय' को 'भूतार्थ' 'व्यवहारनय' को 'अभूतार्थ' कहा है, उसका अभिप्राय यह है 'जो शुद्धजीव मे न हो वह अभूतार्थ है' और उसका वर्णन करनेवाला व्यवहारनय है। जैसे रागादि शुद्धजीव मे नही है अत 'रागादि जीव के है' यह व्यवहारनय का कथन है। 'जो शुद्धजीव मे हो वह भूतार्थ है' उसका वर्णन करने वाला शुद्धनिश्चयनय है। शुद्धजीव मे रागादि उदयस्थान, बधस्थान व गुणस्थान नहीं हैं, क्योकि शुद्धजीव गुणस्थान आदि से अतीत है अत शुद्ध (निश्चय) नय की दृष्टि मे ये गुणस्थानादि जीव के नहीं है। शुद्धनय का विषय शुद्धजीव है अशुद्धजीव नही है। व्यवहारनय का विषय कर्मोपाधिसहित जीव है अत व्यवहारनय से जीव के गुणस्थानादि हैं।

समयसार गाथा ११ पर श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका मे निश्चयनय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ दो प्रकार का और व्यवहारनय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ दो प्रकार का बतलाया है। शुद्धनिश्चयनय भूतार्थ है और अशुद्धनिश्चयनय अभूतार्थ है, क्योकि अशुद्धनिश्चयनय का विषय अशुद्धजीव है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को भी व्यवहार कह दिया गया है। अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय भूतार्थ है, क्योकि इसका विषय शुद्धजीव है। उपचरितसद्भूत व्यवहारनय अभूतार्थ है, क्योकि इसका विषय अशुद्ध जीव है।

समयसार गाथा ५ मे यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'एकत्वविभक्तआत्मा' का स्वरूप दिखाया जावेगा। 'एकत्वविभक्तआत्मस्वरूप' मे गुणस्थान आदि नही है अतः **समयसार गाथा ५०-५५** मे इन गुणस्थानादि २९ भावो

को पुद्गल के कहा गया है, किन्तु ये भाव सर्वथा पुद्गल के हों ऐसा नहीं है। व्यवहारनय से ये भाव जीव के हैं जैसा कि गाथा ५६ समयसार मे कहा गया है। व्यवहारनय को यदि स्वीकार न किया जाये और परमार्थनय का ही एकान्त किया जाय तो त्रस-स्थावरजीवों का घात नि शकपने से करना सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन करने मे हिंसा का अभाव है उसीतरह त्रस-स्थावरजीवो के मारने मे भी हिंसा सिद्ध नही होगी, किंतु हिंसा का अभाव ठहरेगा, तब उनके घात होने से बध का भी अभाव ठहरेगा। उसी तरह रागी, द्वेषी, मोहीजीव कर्म से बधता है उसको छुडाना है वह भी परमार्थ से राग, द्वेष, मोह से जीव भिन्न दिखाने पर तो मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा, इसलिये व्यवहारनय कहा गया है (स. सा गा. ४६ की टीका)। अत व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ नही है। व्यवहारनय को भी समयसार गाथा १२ मे प्रयोजनवान कहा है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे जीव ससारी नही है, किन्तु वास्तव मे जीव ससारी भी है जो प्रत्यक्षअनुभव मे आता है। अत शुद्धनिश्चयनय भी सर्वथा भूतार्थ नही है। यदि कथन मे निश्चय-व्यवहार की सापेक्षता रहती है तो सब कथन सम्यक् है। यदि निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार है या व्यवहारनिरपेक्षनिश्चय है तो सब कथन मिथ्या है।

—जै. स. 1-1-59/V/ सिटेमल जैन, सिरोंज

१. किसी भी नय-उपदेश को सर्वथा (सत्य) नहीं समझ लेना चाहिये
२ निश्चय के ही कथन को ग्रहण करने वाला मिथ्यादृष्टि है
३. भगवान् गौतम स्वामी ने भी व्यवहार का आश्रय लिया था
४. व्यवहार सर्वथा झूठ या हेय (छोड़ने योग्य) नहीं है

शंका—मो० मा० प्र० पृ० ३६६ 'व्यवहार अभूतार्थ है सत्यस्वरूप को न निरूपे है किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूपै है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है तैसा निरूपै है।' प्रश्न–यह कथन क्या सर्वथा ठीक है ? क्या निश्चय या और कोई नय वस्तु के सत्य अर्थात् यथार्थ वास्तविकस्वरूप का निरूपण कर सकता है ? यदि हाँ तो नय का विषय द्रव्यांश (एकधर्म) होता है सम्पूर्ण द्रव्य (धर्म) नहीं। फिर उस अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) द्रव्य का नय द्वारा कैसे निरूपण हो सकता है ? प्रमाण वाक्य और नयवाक्य मे क्या अन्तर है ?

शंका—मो० मा० प्र० पृ० ३६६ 'बहुरि निश्चय-व्यवहार दोऊनि को उपादेय माने हैं सो भी भ्रम है।' यह कहां तक ठीक है ? फिर क्या निश्चय उपादेय व व्यवहार हेय समझना चाहिये ? हेय-उपादेय का विकल्प क्या निश्चय है या व्यवहार है ?

शंका मो० मा० प्र० पृ० ३६९ 'तातैं व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ि निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।' यह कथन कहां तक ठीक है ?

शंका—मो० मा० प्र० पृ० ३६९ 'ताका समाधान-जिनमार्ग विषै कहीं तो निश्चय की मुख्यता लिये व्याख्यान है ताकौ तो सत्यार्थ ऐसे ही है ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है ताकौं ऐसा नहीं है निमित्त की अपेक्षा उपचार किया है इसप्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनि के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानि जो ऐसे भी हैं ऐसे भी हैं ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनकरि तो दोऊ नयनि का ग्रहण करना कह्या है नाहीं।' यह कथन भी क्या ठीक है ? यदि है तो फिर अनेकान्त 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' न होकर 'ऐसे ही है, अन्य नहीं'; इसरूप होना चाहिये ?

समाधान—मो० मा० प्र० में ही लिखा है—इसलिये जो उपदेश हो उसको सर्वथा न समझ लेना चाहिए। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना चाहिए कि यह उपदेश किसप्रकार है किस प्रयोजन को लेकर है और किस जीव को कार्यकारी है।'

पृ० २८८ पर कहा है—'जैसे वैद्य रोग मेटया चाहे है। जो शीत का आधिक्य देखै, तो उष्ण औषधि बतावै और आताप का आधिक्य देखै तो शीतल औषधि बतावै। तैसे श्री गुरु रागादिक छुड़ाया चाहे है। जो रागादिक पर का मानि स्वच्छन्द होय निरुद्यमी हो ताको उपादानकारण की मुख्यता करि रागादिक आत्मा का है ऐसा श्रद्धान कराया। बहुरि जो रागादिक आपका स्वभाव मानि तिनिका नाश का उद्यम नाही करे है, ताको निमित्तकारण की मुख्यता करि रागादिक परभाव हैं ऐसा श्रद्धान कराया है।'

मो० मा० प्र० के उपर्युक्त दोनो वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाना जीवो को नानाप्रकार का मिथ्यात्व रोग लग रहा है। क्योंकि मिथ्यात्व रोग नानाप्रकार का है, अत उसका उपचार भी नाना उपदेशरूपी औषधियो द्वारा बतलाया गया है। इसलिये किसी भी उपदेश को सर्वथा न समझ लेना चाहिये। अपने मिथ्यात्व-रूपी रोग के कारण को पहिचान कर, उन नाना उपदेशरूपी औषधियो मे से उस कारण को दूर करनेवाली औषधि का सेवन करेगा तो रोग उपशात हो जायगा। यदि विपरीत औषधि का सेवन करेगा तो मिथ्यात्वरूपी रोग पुष्ट हो जाएगा। **समयसार गाथा ५० से ५५** तक मे निश्चयनय की अपेक्षा रागादि को पुद्गलमय कहे और **गाथा ५६** मे व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के कहे है। यदि कोई निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ मान और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ मान अपने-आपको रागादि से सर्वथा भिन्न अनुभवे है। तिसको व्यवहारनय की उपदेश रूपी औषधि का सेवन करना चाहिये, अर्थात् व्यवहारनय के उपदेश को सत्यार्थ मान अर्थात् रागादि को आत्मा के भाव मानकर उनको दूर करने का उपाय करना चाहिये। अन्यथा उसका मिथ्यात्वरूपी रोग दूर नही होगा। किन्तु निश्चयनय के उपदेशरूपी औषधि सेवन करने से उसका मिथ्यात्वरूपी रोग पुष्ट होता जायगा। इसी बात को मो० मा० प्र० पृ० २९१ पर कहा है।

'यहाँ कोऊ कहे—हमको तो बध मुक्ति का विकल्प करना नाही जातै शास्त्र विषै ऐसा कह्या है—**'जो बधउ मुक्कउ मुणइ, सो बंधइ णिभंतु।'** याका अर्थ—जो जीव बध्या, मुक्त भया माने है, सो नि सदेह बधे है। ताको कहिये है—जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होय बध मुक्तअवस्था को ही माने है, द्रव्यस्वभाव का ग्रहण नाहीं करे है, तिनको ऐसा उपदेश दिया है, जो द्रव्यस्वभाव को न जानता जीव बध्या मुक्त भया मानै, सो बधै है। बहुरि जो सर्वथा ही बध मुक्ति न होय, तो सो जीव बधै है, ऐसा काहे को कहै। और बध के नाश का मुक्त होने का उद्यम काहे को करिये है। काहे को आत्मानुभव करिए है। तातै द्रव्यदृष्टि करि एकदशा है। पर्यायदृष्टि करि अनेक अवस्था हो हैं, ऐसा मानना योग्य है, ऐसे ही अनेकप्रकार करि केवल निश्चय का अभिप्रायतै विरुद्ध श्रद्धानादि करै है। जिनवानी विषै तो नाना अपेक्षा, कही कैसा कही कैसा कही कैसा निरूपण किया है। यह अपने अभिप्रायतै निश्चयनय की मुख्यता करि जो कथन किया होय, ताहि कौ ग्रहिकरि मिथ्यादृष्टि को धारै है।'

पृ० २९२ पर कहा है—'यहु चितवन जो द्रव्यदृष्टि करि करो हौ, तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्वपर्यायनिका समुदाय है। तुम शुद्ध ही अनुभव काहे कौ करो हो। अर पर्यायदृष्टि करि करो हौ तौ तुम्हारे तौ वर्तमान अशुद्ध-पर्याय है। तुम आपकौ शुद्ध कैसे मानौ हो? बहुरि जो शक्ति अपेक्षा शुद्ध मानो हौ तौ मैं ऐसा होने योग्य हूँ, ऐसा मानौ। ऐसे काहे कौ मानौ हो। तातै **आपको शुद्धरूप चितवन करना भ्रम है।** काहे तै—तुम आपको सिद्ध समान मान्या तौ यह ससार-अवस्था कौन के है। अर तुम्हारे केवलज्ञानादिक हैं तो ये मतिज्ञानादिक कौन के हैं। अर

द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हो तो ज्ञानादिक की व्यक्तता क्यों नहीं ? परमानन्दमय हो तो अब कर्तव्य कहाँ रहा ? जन्म-मरण दुख ही नाहीं तो दुखी कैसे होते हो ? तातैं अन्य अवस्थाविषै अन्य अवस्था मानना भ्रम है।

पृ० २९३ पर कहा है—'आपको द्रव्यपर्यायरूप अवलोकना। द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना पर्याय-करि विशेषरूप अवधारना। ऐसे ही चिंतवन किये सम्यग्दृष्टि होय है।'

इन उपर्युक्त कथनों में यह कहा गया है 'निश्चय की मुख्यता करि जो कथन किया होय ताहि को ग्रहण करि मिथ्यादृष्टि होय है।' यदि निश्चयनय भूतार्थ है और वस्तु का जैसा स्वरूप है तैसा निरूपै है (पृ० ३६६), तो निश्चयनय के कथन को ग्रहण करनेवाला मिथ्यादृष्टि क्यों ? 'शुद्धरूप चिंतवन करना भ्रम है' (पृ० २९२) ऐसा क्यों ?

व्यवहारनय करि जीव की मुक्त अवस्था है। निश्चयनय करि तो जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, किन्तु एक अवस्थारूप है। व्यवहारनय का कथन जो मुक्तअवस्था को उपादेय न माने अर्थात् यदि व्यवहारनय को उपादेय न माने तो 'बन्ध के नाश का मुक्त होने का उद्यम काहे को करिये है काहे को आत्मानुभव करिये है।' पृ० २९१ के इस कथन से स्पष्ट है कि व्यवहारनय के कथन को भी उपादेय माना गया है। पृ० २९८ पर भी कहा है—बहुरि जो तू कहैगा, कई सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नाहीं करे है। ताका उत्तर—यहु कारण विशेष तैं तप न होय सकै है। परन्तु श्रद्धानविषै तो तप को भला जाने है। ताके साधन का उद्यम राखे है।' यहाँ पर भी व्यवहारनय के कथन जो तप, सम्यग्दृष्टि उसको श्रद्धानि विषै भला जानै है। (अर्थात् उपादेयरूप श्रद्धान करे है।) और तप के साधन का उद्यम राखे है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि अनशनादि तप का उपादेयरूप से श्रद्धान करे है और उस तप को उपादेय मान उसके साधन का प्रयत्न करे है) यहाँ पर भी व्यवहारनय के कथन अनशनादि तप को उपादेय रूप से श्रद्धान करने को और ग्रहण करने को कहा है।

पृ० २९३ पर 'द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्यायकरि विशेष अवधारना। ऐसें ही चिंतवन किये सम्यग्दृष्टि होय है।' वस्तु सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी है। 'सामान्य' निश्चयनय का विषय है, 'विशेष' व्यवहारनय का विषय है। सामान्य-विशेष दोनों रूप अर्थात् 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' इसरूप चिंतवन करनेवाला सम्यग्दृष्टि है। यह इन कथन का तात्पर्य है। यदि कोई निश्चयनय के कथन 'सामान्य' को सत्यार्थ माने और व्यवहारनय के विषय विशेष (परिणमन) को असत्यार्थ मानेगा तो उसके मत में वस्तु नित्य कूटस्थ हो जाने से अर्थक्रियाकारी नहीं रहेगी, जिससे वस्तु के अभाव का प्रसंग आजायगा और सांख्यमत की तरह एकान्त-मिथ्यादृष्टि हो जायगा। इसीलिये निश्चयनय के कथन 'सामान्य' और व्यवहारनय का कथन 'विशेष', दोनों की श्रद्धा करनेवाले को सम्यग्दृष्टि कहा है।

पृ० २९६ पर भी कहा है—'केवल आत्मज्ञान ही तै तो मोक्षमार्ग होइ नाहीं। सप्त तत्त्वनिका श्रद्धान ज्ञान भए व रागादिक दूर किये मोक्षमार्ग होगा। सो सप्ततत्त्वनिका विशेष जानने कौ जीव-अजीव के विशेष व कर्म के आस्रव-बन्धादिक का विशेष अवश्य जानना योग्य है, जातैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति होय। बहुरि तहाँ पीछै रागादि दूर करने, सो जे रागादिक बधावने के कारण तिनकौ छोडि जे रागादिक घटावने के कारण होय तहाँ उपयोगकौ लगावना' यहाँ पर निश्चयनय का कथनरूप जो आत्मज्ञान उसके तो मोक्षमार्गपने का निषेध किया। और व्यवहारनय का कथन 'सात तत्त्व का श्रद्धान ज्ञान व रागादि औपाधिक भावों का दूर करना' इसको मोक्षमार्ग कहा है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मो० मा० प्र० मे स्वयं दो प्रकार का कथन पाया जाता है। अतः पृ० ३६६ व ३६९ के उपदेश को सर्वथा न समझ लेना चाहिये। मो० मा० प्र० मे स्वयं कहा है—'इसलिये जो उपदेश हो उसको सर्वथा न समझ लेना चाहिये। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना चाहिये कि यह उपदेश किसप्रकार है, किस प्रयोजन को लेकर है और किस जीव को कार्यकारी है।'

जो पृ० ३६६ व ३६९ के कथन को सर्वथा मान बैठे है क्या वे मोक्षमार्गप्रकाशक की स्वाध्याय करनेवाले कहे जा सकते है?

यहाँ तक निश्चयनय व व्यवहारनय के सम्बन्ध मे मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार कथन हुआ। अब आर्ष-ग्रन्थ के अनुसार कथन किया जाता है।

यदि यह कहा जाय कि निश्चयनय की दृष्टि मे व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है, तो इससे यह सिद्ध नही होता कि व्यवहारनय का विषय सर्वथा अभूतार्थ है। दूसरे जिसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि मे व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है उसीप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि मे निश्चयनय का विषय अभूतार्थ है। इन दोनो कथनों के समर्थन मे आर्षवाक्य इसप्रकार हैं—

'ननु सौगतोपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञ, तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति? तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसंग। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्य जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति'। (समयसार गाथा ३६१ टीका)

अर्थ इसप्रकार है—

प्रश्न—जैसे कुन्दकुन्दभगवान ने गाथा ३६१ मे 'परद्रव्य को व्यवहारनय मे जानता है।' उसीप्रकार बौद्ध भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहते हैं। फिर आप बौद्धो का क्यो खण्डन करते हैं।

उत्तर—जैसे निश्चयनय की अपेक्षा बौद्ध व्यवहारनय को झूठ मानते हैं उसीप्रकार व्यवहाररूप से भी व्यवहार को सत्य नही मानते, किन्तु जैनमत मे यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय झूठा है तथापि व्यवहाररूप से सत्य है। यदि व्यवहारनय लोक व्यवहाररूप से भी सत्य न हो तो समस्तलोक व्यवहार मिथ्या हो जायगा और ऐसा होने से अतिप्रसंगदोष आजायगा। यह आत्मा व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता देखता है और निश्चयनय से स्वद्रव्य को जानता देखता है।

श्री समयसार गाथा १४ की टीका मे भी कहा है—**'आत्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेनानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं....।'**

अर्थ—अनादिकाल से बधे हुए आत्मा का पर्याय से (व्यवहारनय से) अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर (निश्चयनय से) बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है।

जिनको उपर्युक्त आर्ष पर श्रद्धा नही है और यह मानते है कि जैसा व्यवहारनय का कथन है वैसा नहीं है, उनके मत मे सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती और न जिनवाणी सिद्ध होती है तथा द्वादशांग की रचना, शास्त्ररचना भी सिद्ध नही होती, क्योकि यह सब व्यवहारनय का विषय सत्य नही है अर्थात् अवस्तु है।

जिसप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय का विषय सत्य नहीं है अर्थात् अवस्तु है, उसीप्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चय का विषय भी अवस्तु है। कहा भी है—

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१०॥ [सं० त०]

अर्थ—जिसप्रकार पर्यायदृष्टिवाले के अर्थात् व्यवहारनयावलम्बी के निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय का कथन नियम से अवस्तु है उसीप्रकार द्रव्यार्थिकदृष्टिवाले के निश्चयनयावलम्बी के पर्यायार्थिक अर्थात् व्यवहारनय का विषयभूत पदार्थ अवस्तु है।

कहीं-कहीं पर आगम में यह कहा गया है कि निश्चयनय भूतार्थ का कथन करता है और व्यवहारनय अभूतार्थ का कथन करता है। जैसे समयसार गाथा ११ में कहा है—

'ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।'

अर्थात्—व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक ५ में कहा है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।

अर्थात्—निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है।

यहाँ पर भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दों का अर्थ विचारा जाता है।

भूतार्थ शब्द 'भूत' और 'अर्थ' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'भूत' शब्द का अर्थ 'द्रव्य' भी है (हिन्दी शब्दसागर पृ० ७६०) और existing (विद्यमान) भी है (Sanskrit-English dictionary P 409)।

'अर्थ' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन, अभिप्राय' भी है और 'पदार्थ' भी है। इसीप्रकार 'भूतार्थ' शब्द का अर्थ 'द्रव्य प्रयोजनवाला' अथवा 'विद्यमान पदार्थ' इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय का प्रयोजन (विषय) द्रव्य है इसलिये निश्चयनय भूतार्थ है। अथवा निश्चयनय का विषय 'सदा विद्यमान पदार्थ' है अर्थात् वस्तु का ध्रुव अंश है इसलिये निश्चयनय भूतार्थ है।

अभूतार्थ शब्द में 'अ' के अर्थ इसप्रकार है—

प्रतिषेधयति समस्तं प्रसक्तमर्थं तु जगति नोशब्द।
स पुनस्तदवयवे वा तस्मादर्थान्तरे व स्यात् ॥ (ध. पु. ५ पृ. ४४)

अर्थ—जगत् में 'न' यह शब्द प्रसक्त समस्त अर्थ का तो प्रतिषेध करता है। किन्तु व प्रसक्त अर्थ के अवयव अर्थात् एकदेश में अथवा उससे भिन्न अर्थ में रहता है।

अतः 'अभूत' का अर्थ 'द्रव्य से भिन्न अर्थ अर्थात् पर्याय'। अथवा 'ईषत् विद्यमान पदार्थ अर्थात् पर्याय'। वस्तु के द्रव्य अंश (ध्रुव अंश) के समान पर्याय सदा विद्यमान नहीं रहती, किन्तु किंचित् काल तक विद्यमान रहती है।

व्यवहारनय का विषय या प्रयोजन पर्याय है अतः व्यवहारनय अभूतार्थ है।

यहाँ पर भूतार्थ का अर्थ झूठ नही है। यदि अभूतार्थ का अर्थ झूठ मान लिया जावे तो व्यवहारनय झूठ हो जायगी। झूठ के द्वारा अज्ञानी जीवो को यथार्थ नही समझाया जा सकता और न झूठ के द्वारा परमार्थ का उपदेश दिया जा सकता है। झूठ किसी को भी प्रयोजनवान नही हो सकता और न पूज्य हो सकता है, किन्तु आर्षग्रन्थो मे कहा है कि व्यवहार के द्वारा अज्ञानी जीव सबोधे जाते हैं, परमार्थ का उपदेश दिया जाता है तथा व्यवहारनय प्रयोजनवान है और पूज्य है।

'अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम् ।' (पु० सि० उ० श्लोक ६)।

आचार्य महाराज अज्ञानी जीवो को सबोधने के लिये व्यवहारनय का उपदेश देते है।

'तह ववहारेण विणापरमत्थुवएसणमसक्कं ॥८॥ (समयसार)

अर्थात्—व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है। (इसका यह अर्थ कभी नही हो सकता कि 'झूठ के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।')

ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥ (समयसार)।

अर्थात्—जो अनुत्कृष्ट अवस्था मे स्थित है उनको व्यवहारनय का उपदेश प्रयोजनवान है।

जइ जिणमय पवज्जइ तो मा ववहार णिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

अर्थात्—यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो को छोडो। क्योकि व्यवहार के बिना मोक्षमार्ग (तीर्थ) का नाश हो जायगा और निश्चय के बिना तत्त्व (तीर्थफल) का नाश हो जायगा। **'तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ।'** तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी व्यवस्था होती है। **(समयसार गाथा १२ टीका)।** इसलिये शुद्धनय का विषय जो शुद्धात्मा, उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहारनय प्रयोजनवान है।

पद्मनन्दि पञ्चविंशति का श्लोक ६०८ में 'व्यवहृति पूज्या ।' इन शब्दों द्वारा 'व्यवहारनय पूज्य है', ऐसा कहा है।

इन आर्षवाक्यो के विरुद्ध 'व्यवहारनय' को झूठ, हेय, छोडने योग्य कैसे कहा जा सकता है। निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा वस्तु को स्याद् नित्य, स्यादनित्य माननेवाले का ज्ञान भ्रमात्मक कैसे हो सकता है।

अनेकान्त और स्याद्वाद के द्वारा ही इस जीव का कल्याण हो सकता है।

—**जै ग.** 31-12-64; 14-1-64/Pages 9-12, 9-10, **ट. ला जैन, मेरठ**

नयों की हेयोपादेयता; व्यवहार को हेय मानने में दोष

शंका—क्या निश्चयनय उपादेय और व्यवहारनय हेय है ?

समाधान—अध्यात्म मे द्रव्यार्थिकनय को निश्चयनय और पर्यायार्थिकनय को व्यवहारनय कहते हैं।

'व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्....निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्' (समयसार टीका)

अर्थात्—व्यवहारनय पर्यायाश्रित है। निश्चयनय द्रव्याश्रित है।

भगवान ने दोनो (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक) नयों का कथन किया है। भगवान का उपदेश भी दोनो नयो के आधीन है, एक नय आधीन नहीं है। इसी बातको **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है—

'द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकश्च तत्र न खल्वेकनयायत्तादेशना किंतु तदुभयायत्ता।'

अर्थात् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो ही नय भगवान ने कहे है। भगवान का उपदेश एक नय के अधीन नही है, किन्तु दोनो नयो के आधीन है।

यदि निश्चय (द्रव्यार्थिक) नय को उपादेय और व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय को हेय मान लिया जाये तो निम्न दोषो का प्रसंग आ जाएगा—

१ 'मोक्ष का अभाव हो जाएगा।' निश्चयनय का विषय द्रव्य अर्थात् सामान्य है पर्यायें नहीं हैं। बन्ध-मोक्ष, ससारी और सिद्ध पर्यायें है जो निश्चयनय का विषय नही, किंतु बन्धमोक्ष के विकल्प से रहित सामान्य-आत्मा अर्थात् अबन्ध आत्मा है। **श्री कुन्दकुन्द भगवान** तथा **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार** मे कहा भी है—

णवि होदि अप्पमत्तो ण, पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो, सो उ सो चेव ॥६॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव (आत्मा) है वह अप्रमत्त (मुक्त) भी नही और प्रमत्त (ससारी) भी नही है। इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञाता (आत्मा) है, वह तो वही है।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

अर्थ—जीव में अर्थात् जीव के प्रदेशो के साथ कर्म बँधा हुआ है और स्पर्शित है ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव मे कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है ऐसा निश्चयनय का कथन है।

'एकस्य बद्धो न तथा परस्य' [**कलश ७०**]

अर्थात्—जीव कर्म से बन्धा है ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है और नही बँधा हुआ है ऐसा निश्चयनय का पक्ष है।

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥

अर्थ—जो नय आत्मा को बधरहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, अचल, विशेषरहित, अन्य के संयोग से रहित ऐसे पाँच भावरूप से देखता है वह निश्चयनय है।

इन आर्षवाक्यो से स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय की दृष्टि मे आत्मा अबद्ध है। जो अबद्ध है उसके मोक्ष का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, क्योकि बंध से छूटने का नाम मोक्ष है, अर्थात् मोक्ष तो बन्धपूर्वक है। कहा भी है—

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बंधो मोचनं कथम् ।
अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थक ॥

अर्थ—यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बन्ध अवश्य होना चाहिए, क्योकि यदि बन्ध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है । इसलिये अबन्ध (न बन्धे हुए) की मुक्ति नही हुआ करती ।

कोई मनुष्य पहले बँधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है । ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बँधा हो उसीको मोक्ष होती है ।

निश्चयनय की अपेक्षा बन्ध है ही नही । इसलिये निश्चयनय से बन्धपूर्वक मोक्ष भी नही है । **'बंधश्च निश्चयनयेन नास्ति, तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि ।'**

इसप्रकार निश्चयनय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मानने मे ससार और मोक्ष के अभाव का प्रसग आजायगा । इसके अतिरिक्त 'मोक्षमार्ग के अभाव' का दूसरा दूषण आ जायगा ।

२. **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [मोक्षशास्त्र]**

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो मोक्षमार्ग हैं । परन्तु निश्चयनय का विषय **अभेद** है अत निश्चयनय की दृष्टि मे न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है । **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥ [समयसार]

अर्थात्—आत्मा के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीनो भाव व्यवहारनय मे है । निश्चयनय से ज्ञान भी नही है, दर्शन भी नही है, चारित्र भी नही है, आत्मा तो ज्ञायकशुद्ध है ।

निश्चयनय की दृष्टि मे जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही नही है तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है । इस सम्बन्ध मे प्राचीन गाथा भी है—

जइ जिणमयं पवज्जइ तो मा ववहार णिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थात्—जो तुम जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयो को मत छोडो, क्योकि एक व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग और दूसरे निश्चयनय के बिना तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वभाव का नाश हो जायगा ।

इन आर्षवाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग व्यवहारनय के आश्रित है । निश्चयनय के आश्रित मोक्षमार्ग नही है । निश्चयनय का विषय जब बन्ध और मोक्ष ही नही है तो मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता है । इसप्रकार व्यवहारनय के हेय मान लेने से मोक्षमार्ग के अभाव का प्रसग आता है । तीसरा दूषण 'सर्वज्ञता' के अभाव का आता है जो निम्न प्रकार है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥ [नियमसार]

अर्थ—व्यवहारनय से **श्री केवली भगवान** सर्वज्ञेयों को देखते और जानते हैं, किन्तु निश्चयनय से केवलज्ञानी मात्र आत्मा अर्थात् अपने आप को देखते जानते है।

सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥ [समयसार]

अर्थ—व्यवहारनय के वचन सक्षेप से कहे जाते है उनको सुनो। जैसे खडिया अपने स्वभाव से भीतआदि पर द्रव्य को सफेद करती है उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य को अपने स्वभाव से जानता है।

श्री जयसेनाचार्य भी टीका मे लिखते है—

'यथैव च श्वेतमृत्तिका कुड्यं श्वेतं करोतीति व्यवह्रियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोऽस्तीति। किंच यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवति। सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाहसौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेण व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्य जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति।'

अर्थ—जिसप्रकार श्वेतमृतिका खडिया भीत आदि को श्वेत करती है ऐसा व्यवहार होता है उसीप्रकार ज्ञान-ज्ञेय वस्तुओ को जानता है ऐसा व्यवहार होता है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता है तो निश्चयनय से सर्वज्ञ का अभाव है। बौद्ध भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहते है। तो फिर आप उनको क्यो दूषण देते हैं ?

उत्तर—बौद्ध जिसप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार को मृषा (झूठ) मानते है उसीप्रकार वे व्यवहारनय को व्यवहारदृष्टि से भी सत्य नही मानते, किन्तु जैनमत मे यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार मृषा है तथापि व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य है। इसप्रकार व्यवहारनय से आत्मा परद्रव्य को जानता-देखता है निश्चयनय से अपने को ही जानता है।

अत व्यवहारनय को हेय मानने मे सर्वज्ञता का लोप हो जाता है, मोक्ष और मोक्षमार्ग के अभाव का प्रसग आ जाता है।

—जै ग 2-1-67/VII-VIII/ **लक्ष्मीच द जैन**

मोक्षमार्ग में व्यवहारनय क्या सर्वथा हेय है ?

शंका—**मोक्षमार्ग में व्यवहारनय क्या सर्वथा हेय है ?**

समाधान—**श्री अर्हंत भगवान** की दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश दिया गया है। वह उपदेश **द्रव्यार्थिक** (निश्चय) नय और पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय के अधीन दिया गया है किसी एक नय के अधीन नही दिया गया है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा ४** की टीका मे लिखते हैं[१]—'भगवान ने दो नय कहे

१. **'द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौद्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्तादेशना, तदुभयायत्ता।'**

हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । वहाँ (दिव्यध्वनि मे) कथन एक नय के अधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयो के अधीन होता है ।' श्री पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्दभगवान ने भी मोक्षमार्ग का उपदेश दोनो नयों के अधीन दिया है—

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥
सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥
धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चेट्ठा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१०८॥

अर्थ—सम्यक्त्व और ज्ञान से सयुक्त ऐसा चारित्र जो कि रागद्वेष से रहित हो वह लब्धबुद्धि भव्यजीवो को मोक्ष का मार्ग होता है । नवपदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उनका अवबोध सम्यग्ज्ञान है, मार्ग मे विरूढवालो का विषयो मे जो समभाव है वह चारित्र है । धर्मादि अस्तिकाय का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, अङ्ग पूर्व सम्बन्धी ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है और तप मे चेष्टा सो चारित्र है ।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उक्त तीन गाथाओ मे व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है । वे ही कुन्दकुन्दाचार्य निश्चयमोक्षमार्ग का उपदेश इसप्रकार देते हैं—

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि, तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण, मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६१॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र इन तीनो द्वारा वास्तव मे समाहित होता हुआ अन्य कुछ भी करता नही या छोडता नही है वह निश्चय से मोक्षमार्ग कहा गया है ।

पंचास्तिकाय पृ० २३० पर श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं[१]—'इसप्रकार वास्तव मे शुद्धद्रव्य के आश्रित, अभिन्न साध्य-साधनभाववाले निश्चयनय के आश्रय से मोक्षमार्ग का प्ररूपण किया गया । और जो पहले दर्शाया गया था वह स्वपरहेतुक पर्याय के आश्रित, भिन्न साध्य-साधनभाववाले व्यवहारनय के आश्रय से प्ररूपित किया गया था । इसमे परस्पर विरोध आता है ऐसा भी नही है, क्योकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चय-व्यवहार का साध्य-साधनपना है । इसीलिये जिन भगवान का मार्ग, उपदेश या शासन निश्चय व व्यवहार, दोनों नयों के आधीन है ।

गाथा १६० की टीका मे भी श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते है—'व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है । जैसे सुवर्णपाषाण अग्नि के द्वारा शुद्ध होता है उसी प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा आत्मा शुद्ध होती है । जिसप्रकार सुवर्ण की शुद्धता स्वयं सुवर्ण की है अन्य द्रव्य में से नहीं आई उसीप्रकार निश्चयनय से वह शुद्धता आत्मा की है अन्य द्रव्य मे से नहीं आती ।'

१ 'एवं हि शुद्धद्रव्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम् । यत्तु पूर्वमुद्दिष्ट तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभाव व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम् । न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् । अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ।' [रायचन्द ग्रंथमाला पंचास्तिकाय पृ. २३०]

गाथा १६१ की टीका के अन्त मे भी **अमृतचन्द्राचार्य** लिखते है कि **निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है ।**

इसीलिये **श्री कुन्दकुन्द भगवान** ने व्यवहारनय को प्रयोजनवान कहा है—

सुद्धोसुद्धादेसो णादव्वोपरमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥ [स. सा.]

अर्थ—जो परमभाव को प्राप्त हो गये अर्थात् पूर्णज्ञान-चारित्रवान होगये उनको तो शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरमभाव अर्थात् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नही पहुँच सके साधकअवस्था मे ही ठहरे हुए हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य है ।

इसकी टीका मे सुवर्ण का दृष्टान्त देकर यह कहा गया है कि जिनको शुद्धसुवर्ण समान शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गई है उनको उत्कृष्ट असाधारणभावो का अनुभव होने से शुद्धनय (निश्चयनय) ही प्रयोजनवान है, किन्तु जो पुरुष प्रथम द्वितीयादि अनेक पाको की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध सुवर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यम भावो मे स्थित हैं, उनको अनुत्कृष्टभावो का अनुभव होने से व्यवहारनय प्रयोजनवान है, क्योकि तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है । टीका मे इसीके प्रमाणस्वरूप यह गाथा भी उद्धृत की गई है—

जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ, तित्थंअण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! जो तुम जिन मतको प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयो को मत छोडो, क्योकि व्यवहारनय के छोडने से तो तीर्थ (मोक्ष-मार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चयनय के छोडने से तत्त्व (मोक्ष) का नाश हो जायगा ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जिनवचनो को सुनना, धारण करना, गुरुभक्ति, जिनबिम्ब-दर्शन आदि व्यवहारमार्ग मे प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है । जिनको सम्यग्दर्शन तो हो गया, किन्तु साक्षात् शुद्धात्मा की प्राप्ति नही हुई, उनको अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति-गुप्ति पालन पचपरमेष्ठी का ध्यान, शास्त्र-अभ्यास आदि व्यवहारमार्ग प्रयोजनवान है ।

मोक्षमार्ग मे प्राथमिक जीवो के लिये व्यवहारनय ही प्रयोजनवान है, इस बातको **श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा १७२** की टीका मे इसप्रकार कहते है—

'व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिका ।'

अर्थ—अनादिकाल मे भेदवासित बुद्धि होने के कारण **प्राथमिक जीव व्यवहारनय से भिन्नसाध्य-साधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से तीर्थ (मोक्षमार्ग) का प्रारम्भ करते हैं ।**

व्यवहारनय से बहुत से जीवो का उपकार होता है अत· व्यवहारनय का अनुसरण करना चाहिये । स्वय **गौतम गणधर** ने व्यवहारनय का आश्रय लिया है । **श्री वीरसेनस्वामी** ने भी ज. ध पु १ मे इसप्रकार कहा है—

'जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं ।'

अर्थ—जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसीका आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि मे मंगल किया है।

जब इन आगम प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय भी मोक्षमार्ग मे प्रयोजनवान है तो व्यवहारनय सर्वथा हेय कैसे हो सकता है ?

शंका—क्या व्यवहारनय सर्वथा असत्य (झूठ) है ?

समाधान—प्रत्येक नय अपने विषय मे सत्य होता है, क्योकि नय द्वारा किसी एक धर्म की मुख्यता से वस्तु का कथन होता है, किन्तु विवक्षितनय का विषय अपने प्रतिपक्षीनय की दृष्टि से असत् है। जैसे व्यवहारनय की दृष्टि से 'जीव कर्मों से बँधा हुआ है' यह सत्य है, किन्तु निश्चय की दृष्टि से अबद्ध है अर्थात् कर्मों से बँधा हुआ नही है। इसी बातको **श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार** की टीका मे कहते हैं—**'आत्मनोऽनादि बद्धस्य बद्धस्पृष्टत्व-पर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्‌गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं।'**

अर्थ—अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा का पुद्‌गलकर्मों से बँधने-स्पर्शित होनेरूप अवस्था का अनुभव करने पर (व्यवहारनय से) बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है सत्यार्थ है, तथापि आत्मा पुद्‌गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित होने योग्य नही है ऐसे आत्मस्वभाव को अनुभव करने पर (निश्चयनय से) बद्ध-स्पृष्टता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय का विषय सत्यार्थ है, किन्तु मात्र निश्चयनय की दृष्टि से असत्यार्थ कहा गया है। जहाँ कही पर व्यवहारनय को अभूतार्थ या असत्यार्थ कहा गया है वहाँ पर मात्र निश्चयनय की दृष्टि से असत्यार्थ कहा गया है। व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नही है। यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो उसका उपदेश क्यो दिया जाता अथवा **गौतम गणधर** उसका आश्रय क्यो लेते ? किन्तु सर्वज्ञदेव ने व्यवहारनय का उपदेश दिया तथा **श्री गौतम गणधर** ने उसका आश्रय लेकर मगल किया है इससे यह सिद्ध होता है कि व्यवहारनय भूतार्थ-सत्यार्थ है। **श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवल** मे कहा भी है—

ववहारणयं पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं ण च ववहारणओ चप्पलओ; तत्तो ववहाराणुसारिसिस्साण पउत्तिदंसणादो। ज. ध. पु. १ पृ. ८

अर्थ—यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है, सो भी ठीक नही है, क्योकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यो की प्रवृत्ति देखी जाती है। **श्री गौतम स्वामी** ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर चौबीस अनुयोगद्वारो की आदि मे मगल किया है।

जैनधर्म के मूलसिद्धान्त 'अनेकान्त' को समझने वाले विद्वान् कभी किसी नय को सर्वथा असत्यार्थ या हेय नही कहते हैं। अपितु अपने-अपने विषय की अपेक्षा उनको सत्यार्थ मानते है। जैसा कि ज० ध० पु० १ पृ० २५७ पर कहा गया है—

णिययवयणिज्ज सच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा॥ [सन्मति तर्क १। २८]

ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने मे समीचीन है और दूसरे नयो के निराकरण करने मे मूढ हैं। अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है', इसप्रकार का विभाग नही करते हैं।

जिसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से व्यवहारनय के विषय असत्य हैं उसी प्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से निश्चयनय का विषय भी असत्य है। निश्चयनय भी सर्वथा सत्य नही है।

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स ।।

अर्थ—पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय की अपेक्षा द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय का विषय अवस्तु (असत्यार्थ) है और द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय का विषय अवस्तु (असत्यार्थ है)।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ तथा हेय मानने का दुष्परिणाम—

जो इन आर्षवाक्यो की श्रद्धा नही करते और व्यवहारनय को सर्वथा अभूतार्थ व हेय मानकर व्यवहारनय को छोड देते है और निश्चयनय को सर्वथा सत्यार्थ व उपादेय मानकर उसका पक्ष ग्रहण करते हैं, उनको मोक्ष की प्राप्ति नही होती, किन्तु नरक और निगोद जैसी कुगतियो मे भ्रमण करना पडता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते है[1]—'यदि व्यवहार का उपदेश न दिया जावे और मात्र **निश्चयनय का एकान्त किया जाय तो त्रस-स्थावर जीवों का घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो जायगा, क्योंकि निश्चयनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है।** जैसे भस्म के मर्दन करने मे हिंसा का अभाव है उसीतरह उनके मारने मे भी हिंसा नही सिद्ध होगी, किंतु हिंसा का अभाव ठहरेगा। तब उनके घात होने से बध का भी अभाव ठहरेगा। रागी-द्वेषी, मोही जीव कर्म से बधता है और उस कर्म बध से छूटना मोक्ष कहा गया है, किन्तु **निश्चयनय की अपेक्षा, राग-द्वेष, मोह से जीव भिन्न होने के कारण, बध और मोक्ष का अभाव है। बध और मोक्ष के अभाव मे मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा।** इसलिये व्यवहारनय को उपादेय कहा है।' **स. सा. गाथा ४६ टीका।**

श्री पंडितवर जयचन्दजी छाबड़ा समयसार की गाथा १२ की टीका का अनुवाद करते हुए लिखते है—**'यदि व्यवहारनय को सब (सर्वथा) असत्यार्थ जानकर छोड़वें तो शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़ें और शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं इसलिये उलटा अशुभोपयोग मे ही आकर भ्रष्ट हुआ यथाकथचित् स्वेच्छारूप प्रवर्तें तब नरकादिगति तथा परम्परा निगोद को प्राप्त होकर संसार मे ही भ्रमण करता है।'**

स० सा० पृ० १७, रायचन्द्र ग्रन्थमाला

श्री अमृतचन्द्राचार्य श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका मे कहते है—'जो जीव केवल निश्चयनय के ही अवलम्बी है, वे व्यवहाररूप स्वसमयमयी क्रिया-कर्मकाण्ड को आडम्बर जान व्रतादिक मे विरागी (उदासीन) हो रहे है और अर्द्ध उन्मीलित लोचन से ऊर्ध्वमुखी होकर स्वच्छदवृत्ति को धारण करते है। कोई-कोई अपनी बुद्धि से ऐसा मानते हैं कि हम स्वरूप को अनुभवते है ऐसी समझ से सुखरूप प्रवर्ते है। भिन्न साध्य-साधनरूप व्यवहार को तो मानते नही, निश्चयनयरूप अभिन्न साध्य-साधन को अपने मे मानते हुए यो ही बहक रहे हैं, वस्तु को पाते नही, न निश्चयपद को प्राप्त होते है, न व्यवहारपद को ग्रहण करते है, किन्तु बीच मे ही प्रमादीरूप मदिरा के प्रभाव से चित्त मे मतवाले हुए मूर्छित से हो रहे है। जैसे कोई बहुत घी, खाण्ड, दुग्ध इत्यादि गरिष्ठवस्तु

१. तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तोद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति तमंतरेण तु रागद्वेष-मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव।'

के पान-भोजन से सुथिर हो ऐसे आलसी हो रहे है, अथवा अपने उत्कृष्टदेह के बल से जड हो रहे हैं अथवा भयानक मनकी भ्रष्टता से मोहित-विक्षिप्त हो गये है या चैतन्यभाव से रहित वनस्पति से हो रहे है। तथा मुनि अवस्था में करने योग्य कर्मचेतना (षडावश्यक) पुण्यबध के भय से, अवलम्बन नही करते और परम नि कर्मदशारूप ज्ञान-चेतना (वीतरागनिर्विकल्पसमाधि अवस्था) को अगीकार करी नाही, इसकारण अतिशय चचलभावो के धारी हैं और प्रगट-अप्रगटरूप प्रमाद के आधीन हो रहे है। **'वे निश्चयावलम्बी महा अशुद्धोपयोग से कर्मफलचेतना से प्रधान होते हुए वनस्पति के समान जड़ हैं और केवल पाप ही के बाँधने वाले हैं**[1]।'

पंचास्तिकाय पृ० २५०–२५१ रायचन्द्र ग्रन्थमाला

मोक्षमार्ग दो नय आधीन है दो नयरूप है—

अनेकान्तात्मक होने से जिसप्रकार वस्तु की सिद्धि निश्चय-व्यवहारनय के अविरोध द्वारा होती है उसी प्रकार मोक्षरूपी इष्ट सिद्धि भी निश्चय-व्यवहार के अविरोध द्वारा होती है।

श्री पचास्तिकायशास्त्र का तात्पर्य लिखते हुए **श्री अमृतचन्द्राचार्य** कहते है—'इस यथार्थ पारमेश्वरशास्त्र का परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है। सो इस वीतरागपने का **व्यवहार-निश्चय के अविरोध** द्वारा ही अनुसरण किया जाय तो इष्टसिद्धि होती है, अन्यथा नही[2]।' **पचास्तिकाय गाथा १९२ टीका**

रायचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित समयसार पृ० २७ पर भी लिखा है—साक्षात् शुद्धनय (निश्चयनय) का विषय जो शुद्ध आत्मा उसकी प्राप्ति **जब तक न हो तब तक व्यवहार प्रयोजनवान है। ऐसा स्याद्वादमत मे श्री गुरु का उपदेश है।'** इसी विषय का निम्न कलश है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वांतमोहा ।
सपदि समयसार ते परं ज्योतिरुच्चै, रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

अर्थ—निश्चय-व्यवहाररूप जो दो नय उनके विषय के भेद से आपस मे विरोध है। उस विरोध को दूर करनेवाला **स्यात्पद कर चिह्नित जो जिनभगवान का वचन** उसमे जो पुरुष रमते है—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते है वे पुरुष ही मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमनकर इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्धआत्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। यह समयसाररूप शुद्धात्मा नवीन नही उत्पन्न हुआ है—पहले कर्म से आच्छादित था वह प्रगट व्यक्तरूप हो गया। सर्वथा एकान्तरूप कुनय की पक्षकर खडित नही होता—निर्बाध है।

मोक्षमार्ग निश्चय व व्यवहार से दो स्वरूप है। **तत्त्वानुशासन** मे भी कहा है—

१. 'येऽत्र केवल निश्चयावलम्बिनः सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयोऽर्धमीलितविलोचनपुटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोक्यावलोक्य यथासुखमासते; ते खल्ववधीरितभिन्नसाध्यसाधनभावा अभिन्नसाध्यसाधनाभावमलभमाना अन्तराल एव प्रमादकादम्बरीमदभरालसचेतसो मत्ता इव, मूर्छिता इव सुषुप्ता इव, प्रभूतघृतसितोपलपायसासादित सौहित्या इव, समुल्बणबलसञ्जनितजाड्या इव, दारुणमनोभ्रंशविहितमोहा इव मुद्रितविशिष्टचैतन्या वनस्पतय इव, मौनीन्द्रीं कर्मचेतनां पुण्यबन्धभयेनानवलम्बमाना अनासादितपरमनैष्कर्म्यरूपज्ञानचेतनाविश्रान्तयो व्यक्ताव्यक्तप्रमादतन्त्रा परमागतकर्मफल चेतनाप्रधानप्रवृत्तयो वनस्पतय इव केवल पापमेव बध्नान्ति।'

२ 'परमार्थतो वीतरागत्वमेव तात्पर्यमिति। तदिदं वीतरागत्वं व्यवहार निश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमान भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।'

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः ।
तत्राद्य साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनः ॥२८॥

अर्थ—मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार से दो प्रकार का है। पहला साध्यरूप और दूसरा साधनरूप है। निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकाररूप मोक्षमार्ग से रहित मोक्ष की सिद्धि नहीं है। इसी बातको **श्री जयसेनाचार्य पंचास्तिकाय गाथा १०६ की टीका** मे कहते हैं—**'निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं सम्भवति, तत्कारणाभावे मोक्षकार्यं न संभवति।'**

अर्थात्—निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के होने पर ही मोक्षकार्य होना सम्भव है और निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग के अभाव मे मोक्षकार्य सभव नही है।

इसी बातको **श्री अमृतचन्द्राचार्य** भी कहते हैं—

सम्यक्त्वचारित्रबोध-लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येवः ।
मुख्योपचाररूप. प्रापयतिपरमपदं पुरुषम् ॥२२२॥ पु० सि० उ०

अर्थ—निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमपद प्राप्त कराता है।

'निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्ति सिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकं।' पंचास्तिकाय गाथा १७२, श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अर्थ—परस्पर सापेक्ष साध्यसाधकरूप निश्चय-व्यवहार के द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है, निरपेक्ष निश्चय-व्यवहार के द्वारा मोक्ष की सिद्धि नही होती, यह वार्तिक है।

जिसप्रकार मनुष्य के शरीर मे ऑपरेशन होने पर जख्म (घाव) को धोना तथा पट्टी बाँधना आवश्यक है उसीप्रकार सेप्टिक के निराकरण के लिये दवाई लेना भी उतना ही आवश्यक है। इन अतरग और बहिरग दोनो प्रकार की दवाई मे मे यदि किसी भी एकप्रकार की दवाई का प्रयोग न किया जावे तो जख्म को आराम नही होगा, क्योकि ये दोनो प्रकार की दवाई एक दूसरे की अपेक्षा रखती है। मोक्षमार्ग मे भी निश्चय और व्यवहार दोनो रत्नत्रय की आवश्यकता है। निश्चय और व्यवहार इन दोनो रत्नत्रय मे से किसी भी एक रत्नत्रय के अभाव मे मोक्ष की सिद्धि नही हो सकती। यह बात उपर्युक्त आर्षवाक्यो मे कही गई है। इसी बातको **पंडितवर दौलतरामजी छहढाला** मे इन शब्दो द्वारा कहते है—

मुख्योपचार दु भेद यों, बड़भागि रत्नत्रय धरें ।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं, तिन सुजस जल जगमल हरें ॥

अर्थात्—जो भाग्यशाली पुरुष निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते है या धारण करेंगे उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है। उनका सुयशरूपी जल संसाररूपी मल को हरता है।

इसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग मे प्रयोजनवान तथा उपयोगी है। जो मनुष्य व्यवहार को सर्वथा हेय जान ग्रहण नही करते है, वे नरक-निगोद आदि दुर्गति मे भ्रमण करते है।

—जै. ग. 19, 26-3-64/IX, IX/चे. प्र. पा.

व्यवहारनिश्चय नय की उपयोगिता

शंका—शुद्ध निश्चयनय किस अवस्था में प्रयोजनवान है और व्यवहारनय किस अवस्था में प्रयोजनवान है ?

समाधान—इस सम्बन्ध मे **श्री समयसारजी मे गाथा सं० १२** इसप्रकार है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥

अर्थ—जो (अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान) उत्कृष्ट भाव का अनुभव करने वाले हैं उनको तो शुद्धनय—जो शुद्ध का उपदेश करनेवाला है, जानने योग्य है। जो पुरुष (प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाको की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान) अनुत्कृष्टभाव मे स्थित है, वे व्यवहार का उपदेश करने योग्य हैं।

जिनके तीन मकार (मद्य, मास, मधु) पाँच उदम्बरफल इन आठ का त्याग नही है अर्थात् जो मधु आदि का तथा सखे हुए पाँच उदम्बर फलो का औषधि आदि मे प्रयोग करते है वे जिनधर्म के उपदेश देने वाले तो क्या, उपदेश सुनने के भी पात्र नही है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** मे इसप्रकार कहा है—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधिय ॥७४॥

अर्थ—अनिष्ट, दुस्तर और पापों के स्थान इन आठो का त्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते है।

—**जै. स** 22-11-56/VI/ **दे. व**

१. भेद निश्चय का विषय नहीं है
२. कोई भी नय अथवा नय का विषय असमीचीन नहीं होता

शंका—'शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में भेद नहीं है।' क्या इसका यह अभिप्राय है कि पदार्थ में ही भेद नहीं है ? आगम में जो भेद का कथन है क्या वह अवास्तविक, झूठ, काल्पनिक है ? यदि वस्तु सर्वथा अभेद अखंड-रूप है तो क्या ऐसी वस्तु सत्‌रूप हो सकती है ?

समाधान—'शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि मे भेद नही है' इसका यह अभिप्राय है कि 'भेद' शुद्ध निश्चयनय का विषय नही है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि वस्तु मे भेद ही नही है, क्योकि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है।

अनेकान्त मे अनेक का अर्थ एक से अधिक और 'अन्त' का अर्थ 'धर्म' है, अत प्रत्येक वस्तु मे अनेक अर्थात् एक से अधिक धर्म होते हैं। अथवा एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी दो धर्मों को अनेकान्त कहते हैं। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार टीका के स्याद्वादाधिकार** मे कहा भी है—

'एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्त ।'

अर्थ—एक वस्तु मे वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है।

अर्थात्—यदि एकवस्तु मे परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को न माना जावे तो वस्तु का ही लोप हो जायगा। जैनेतर समाज एकवस्तु मे दो विरुद्धधर्मों को स्वीकार नही करती, क्योकि परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने से वस्तु नित्य भी है अनित्य भी है (ऐसा भी है, ऐसा भी है) ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान होने से प्रमाण ज्ञान न रहकर सशय ज्ञान हो जायगा। अनेकान्त का यथार्थ समझे बिना जैनेतर और कुछ जैन विद्वानो को भी अनेकान्त के विषय मे ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान हो गया है, इसलिये वे अनेकान्त का स्वरूप 'नित्य है अनित्य नही है, नियति (पर्यायो का क्रमनियत) है, अनियत नही है, काल है (सर्वकार्य अपने नियतकाल पर होते हैं), अकाल नही है' कहकर एक ही धर्म को सिद्ध करते है, क्योकि 'नित्य है' इसमे 'नित्य' धर्म को स्वीकार किया गया है, 'अनित्य नहीं है' इसमे 'अनित्य' धर्म को स्वीकार नही किया, किन्तु उसका निषेध कर नित्यधर्म के ही अस्तित्व का कथन किया गया है। अनेकान्त का ऐसा स्वरूप मानने वाले 'अनेकान्त' के मानने वाले नही हैं, किन्तु एकान्त मिथ्यात्व को मानने वाले है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है, इसका अर्थ यह है कि वस्तु भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, नियति-अनियति-आत्मक इत्यादिरूप है। परस्पर विरुद्ध दो धर्मो मे से एकधर्म द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय का विषय है और दूसरा पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय का विषय है, क्योकि नय का लक्षण 'विकलादेश' है अर्थात् नय एकधर्म को ग्रहण करती है।

भेद-अभेद इन परस्पर विरोधी दो धर्मो मे से यद्यपि 'भेद' निश्चयनय का विषय नही है, तथापि इसका यह अर्थ नही कि 'भेद' सर्वथा नही है, झूठ है, काल्पनिक है, अवास्तविक है इत्यादि। भेद के अभाव मे अभेद के अभाव का प्रसग आ जायगा, क्योकि 'सर्व सप्रतिपक्ष' है। ऐसा जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

कहा भी है—

'सव्वस्स सप्पडिवक्खस्सुवलंभादो।' [ज. ध पु. १ पृ. ५३]

अर्थ—समस्त (पदार्थ) अपने प्रतिपक्ष सहित ही उपलब्ध होते हैं।

'पडिवक्खाभावे अप्पिदस्स वि अभावप्पसगा।' [ध. पु ६ पृ. ६३]

अर्थ—प्रतिपक्षी के अभाव मे विवक्षित के अभाव का प्रसग प्राप्त होता है।

'सव्वस्स सप्पडिवक्खस्स उवलभण्णहाणुववत्तीदो।' [ध पु. १४ पृ. २३४]

अर्थ—सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा बन नहीं सकती। इन सब आर्षवाक्यो से सिद्ध हो जाता है कि यदि 'अभेद' है तो उसका प्रतिपक्षी भेद अवश्य है।

'भेद' व्यवहारनय का विषय है, क्योकि व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दो का एक ही अर्थ है। **गो. सा. जी. गाथा ५०२** मे कहा भी है—

'ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो।'

वस्तु मे परस्पर विरोधी दो धर्म हैं। उनमे से एकधर्म निश्चयनय का विषय है और दूसरा धर्म व्यवहार-नय का विषय है। दोनो धर्म सत्यार्थ है, इसलिये दोनो नयो का विषय भी सत्यार्थ है। जब दोनो नयो का विषय भी सत्यार्थ है तो दोनो नय भी सत्यार्थ है।

दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ मानने को जो भ्रम बतलाते हैं वे स्वयं भ्रम में पड़े हुए हैं, क्योंकि उन्होंने नय के यथार्थस्वरूप को नहीं समझा है अथवा वे एकांत मिथ्यादृष्टि हैं। कहा भी है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ ज. ध. पु. १ पृ. २५७

अर्थ—ये सभी नय अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण में मूढ़ हैं। **अनेकांतरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नहीं करते।**

श्री अमृतचन्द्रआचार्य ने भी **समयसार गाथा १४** की टीका में कहा है—

'आत्मनोनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलस्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं......।'

अर्थ—अनादिकाल से बंध को प्राप्त हुए आत्मा का, पुद्गल से स्पर्शितरूप पर्याय की अपेक्षा (व्यवहारनय की दृष्टि से) अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव की अपेक्षा (निश्चयनय से) अनुभव करने पर बद्ध-स्पृष्टता अभूतार्थ है।

यहाँ पर अभूतार्थ का अर्थ सर्वथा झूठ है ऐसा नहीं है, किन्तु निश्चयनय का विषय नहीं है। यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

'भेद' वस्तु का धर्म है जो वास्तविक है झूठ नहीं है और व्यवहारनय का विषय है।

—**जै. ग. 8-10-64/IX/ जयप्रकाश**

सापेक्षनय मोक्ष का कारण है निश्चय निरपेक्ष व्यवहार व्यवहाराभास है, अरहंत का स्वरूप जानकर उनकी पूजा करना व्यवहाराभास नहीं है

शंका—व्यवहार और निश्चयनय का परस्पर स्वरूप क्या विपरीत है या एक दूसरे का पूरक है? कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि यदि दृष्टि में निश्चयनय का लक्ष्य नहीं है तो वह 'व्यवहार' व्यवहाराभास है। हमारे बहुत से पूर्वज निश्चयनय को नहीं जानते तो क्या उनकी पूजनादि सब क्रियायें व्यवहाराभासकोटि की हैं? आप उक्तमत से कहाँ तक सहमत हैं? विस्तारपूर्वक समझाइये।

समाधान—नय का लक्षण इसप्रकार है—'उच्चारण किये गये अर्थपद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर (समझकर) पदार्थ को ठीक निर्णयतक पहुँचा देते हैं, इसलिये वे 'नय' कहलाते हैं ॥३॥ अनेक गुण और अनेकपर्यायोंसहित, अथवा उनके द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एकक्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एककाल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभावरूप से रहनेवाले द्रव्य को ले जाता है अर्थात् द्रव्य का ज्ञान करा देता है उसे नय कहते हैं ॥४॥' **ध० खं० पु० १ पृ० १०-११।**

नयका कथन इसलिये किया जाता है कि—'यह नय पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने में निमित्त होने से मोक्ष का कारण है ॥८५॥ नय श्रेयस् अर्थात् मोक्ष का अपदेश अर्थात् कारण है, क्योंकि वह पदार्थों के यथार्थरूप से ग्रहण करने में निमित्त है।' (**ज. ध. पु १ पृ. २११) मो. शा. अ. १ सूत्र ६** में भी

कहा है—**'प्रमाणनयैरधिगमः ।'** अर्थात् 'प्रमाण और नय से वस्तु का ज्ञान होता है ।' प्रमाण और नय से उत्पन्न वाक्य भी उपचार से प्रमाण और नय है, उन दोनों से उत्पन्न उभयबोध विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु को विषय करने के कारण प्रमाणता को धारण करते हुए भी कार्य में कारण का उपचार करने से प्रमाण व नय है, इसप्रकार सूत्र में ग्रहण किये गये है। नयवाक्य से उत्पन्नबोध प्रमाण ही है, नय नहीं है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'उन दोनों से वस्तु का ज्ञान होता है' ऐसा कहा जाता है। **(ध० ख० पु० ९ पृ० १६४)** ।

उक्त आगमप्रमाणों से यह स्पष्ट है कि नय के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है इसलिए **'नय' मोक्ष का कारण है। यहाँ पर यह नहीं कहा गया कि निश्चयनय तो मोक्ष का कारण है और व्यवहारनय मोक्ष का कारण नहीं है। निश्चय या व्यवहार कोई भी नय हो यदि अन्यनय सापेक्ष है तो सुनय है, मोक्ष का कारण है यदि अन्यनय निरपेक्ष है तो मिथ्यात्व व संसार का कारण है।**

व्यवहारनय और निश्चयनय का स्वरूप अनेक प्रकार से कथन किया गया है उन सबका यहाँ पर लिखना असम्भव है फिर भी कुछ लक्षण इसप्रकार है—

बंधक और मोचक अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति आत्मद्रव्य 'व्यवहारनय' से बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है। अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्व-रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है। **(प्र. सा परिशिष्टनय नं० ४४ व ४५)** ।

यहाँ पर यह कथन किया गया है कि आत्मा द्रव्यकर्मों से बंधता और मुक्त होता है यह तो व्यवहारनय का विषय है। इस कथन में यह गौण है कि आत्मा अपने रागादिभावों से द्रव्यकर्म से बंधता और वीतरागभाव के कारण द्रव्यकर्म से मुक्त होता है, क्योंकि रागादि व वीतरागभावों के बिना आत्मा कर्मों से बद्ध व मुक्त नहीं हो सकता जैसा कि **समयसार गाथा १५०** में कहा है—**'रत्तोबंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसपत्तो ।'**

निश्चयनय के इस कथन में 'कि आत्मा अपने रागादिभावों से बंधता है और वीतरागभावों से मुक्त होता है' यह बात गौण है कि आत्मा अपने भावों के कारण कर्मों से बंधता व मुक्त होता है, क्योंकि दूसरे द्रव्य के संयोग के बिना अकेला द्रव्यबंध को प्राप्त नहीं हो सकता है। 'मोक्ष' बंधपूर्वक होता है। जब अकेले द्रव्य में बंध ही नहीं तो मोक्ष का कथन ही नहीं हो सकता है। इसप्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय के द्वारा एक ही पदार्थ का कथन है। व्यवहारनय में 'द्रव्यबंध' मुख्य व 'भावबंध' गौण है। निश्चयनय के कथन में 'भावबंध' मुख्य है 'द्रव्यबंध' गौण है। कहा भी है—**'अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥'** **(मो. शा. अ. ५)** मुख्य व गौण से वस्तु की सिद्धि होती है।

सामान्य (द्रव्य) विशेष (पर्याय) रूप वस्तु है। विशेषों (पर्यायों) में अनुवृत्त (अन्वय) रूप से स्थित रहनेवाला 'सामान्य' (द्रव्य) है। कहा भी है—**'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्द्धता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥'**

अर्थात् —पूर्वकालभावी और उत्तरकालभावी विशेष-पर्याय तिनविषै व्यापने वाला जो द्रव्य सो ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे स्थास, कोश, कुसूल आदि मृतिका की अवस्थानिविषै मृतिका व्यापी है। उस सामान्य (द्रव्य) का क्रम से होनेवाला परिणमन सो विशेष (पर्याय) है। कहा भी है—**'एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ (परीक्षा मुख अध्याय ४)**

अर्थात् एकद्रव्य विषै क्रमभावी परिणाम हैं ते पर्याय है जैसे आत्मा विषै हर्ष-विषाद अनुक्रमतैं होय हैं ते पर्याय हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि सामान्य के बिना 'विशेष' और विशेष के बिना 'सामान्य' नहीं होता। एकका कथन करने पर दूसरे का कथन हो ही जाता है।

पर्याय (विशेष) का कथन करने वाला 'व्यवहारनय' है और द्रव्य (सामान्य) का कथन करनेवाला 'निश्चयनय' है। कहा भी है—**'व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्।'**

(स. सा. गाथा ५६ आत्मख्याति टीका)

'पर्याय' का मुख्यरूप से कथन करने पर 'द्रव्य' का गौणरूप से कथन हो जाता है और 'द्रव्य' का मुख्यरूप से कथन करने पर 'पर्याय' का गौणरूप से कथन हो जाता है अतः **व्यवहारनय से भी वस्तु का ज्ञान होता है और निश्चयनय से भी वस्तु का ज्ञान होता है क्योंकि दोनों नय सापेक्ष है।**

निश्चयनय व व्यवहारनय इन दोनों नयों से वस्तु का ज्ञान होता है तो समयसार में 'निश्चयनय' को भूतार्थ और 'व्यवहारनय' को अभूतार्थ क्यों कहा गया ? 'भूतार्थ' का अर्थ है जो 'एक' में हो और 'अभूतार्थ' का अर्थ जो 'एक' में न हो किन्तु अपने होने में दूसरे (अन्य) की भी अपेक्षा रखता हो। निश्चयनय का विषय 'सामान्य' है। 'सामान्य' अनादि-अनन्त होने से अकार्य-अकारण है और उत्पाद-व्ययरहित है। अतः निश्चयनय का विषय 'सामान्य' मात्र एक द्रव्य में होने से और अन्य की अपेक्षा न रखने से भूतार्थ है। किन्तु व्यवहारनय का विषय 'पर्याय' है। 'पर्याय' की उत्पत्ति प्रतिसमय होती है। वह उत्पत्ति अंतरंग (स्व) और बहिरंग (पर) के निमित्तवश होती है। कहा भी है—**'उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः। मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।'** **(स. सि. अ. ५ सू. ३०।)**

अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वशसे प्रतिसमय जो नवीनअवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिंड की घटपर्याय। इसप्रकार व्यवहारनय के विषय 'पर्याय' की उत्पत्ति मात्र एक 'स्व' से न होकर स्व और पर इन दो के निमित्त से होने के कारण 'अभूतार्थ' है।

निश्चयनयनिरपेक्ष 'व्यवहार' व्यवहाराभास है, किन्तु निश्चयनयसापेक्ष व्यवहारनय सुनय है। अरहत-भगवान की पूजन होती है। अरहत का स्वरूप बिना जाने अरहतपूजन होती नहीं है। जो अरहत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को अवश्य प्राप्त होता है। **(प्र. सा. गा. ८०)**। जो अरहत का स्वरूप जानकर पूजन करता है उसकी क्रियायें व्यवहाराभास कैसे हो सकती हैं ? **समयसार** तो सर्वनयपक्ष से रहित है। कहा भी है—**'सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो'** और इस **समयसार** को सम्यग्दर्शन कहते हैं। **(समयसार गाथा १४४)**।

—*जै. ग.* 13-3-58/VI/ *गुलाबचन्द शाह, लश्कर*

१. 'प्रथम निश्चय, फिर व्यवहार'; यह मान्यता जिनवाणी के विरुद्ध है
२. कार्य को नहीं उत्पन्न करने पर भी कारणपने का अस्तित्व

शंका—**व्यवहार पूर्वक निश्चय अथवा निश्चय पूर्वक व्यवहार ? क्या प्रथम व्यवहार होता है ? फिर निश्चय होता है या प्रथम निश्चय फिर व्यवहार होता है ?**

समाधान—प्रथम व्यवहार फिर निश्चय होता है, क्योंकि व्यवहार कारण और निश्चय कार्य है। अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण परिभ्रमण करते हुए इस जीव को सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

क्षयोपशम या क्षायिकसम्यक्त्व नही होता। कारण यह है कि क्षायिकसम्यक्त्व तो क्षयोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् होता है और क्षयोपशमसम्यक्त्व उसी जीव के होता है, जिसके सम्यक्त्व प्राप्ति के द्वारा मिथ्यात्व के तीन टुकडे (सम्यक्त्व, मिश्र प्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृतिरूप) हो गये हो, प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती है। उनमे तीसरी 'देशनालब्धि' है। देशनालब्धि का अर्थ है तत्त्वोपदेश की प्राप्ति। ये पाँच लब्धियाँ मिथ्यात्वगुणस्थान मे होती हैं, अनिवृत्तिकरण के अनन्तर समय मे मिथ्यात्वकर्म के उदयाभाव से और मिथ्यात्व व चार अनन्तानुबन्धीकषाय के उपशम से प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। देशनालब्धि की प्राप्ति व्यवहार है, क्योकि कारण है और प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति निश्चय है। देशनालब्धि से पूर्व अनादिमिथ्यादृष्टि को यह भी ज्ञान नही होता कि जीव (आत्मा) भी कोई पदार्थ है। आत्मा का नाम तक सुने बिना उसको जानने की रुचि कैसे हो सकती है। आत्मासम्बन्धी उपदेश बिना 'आत्मा कोई वस्तु है' ऐसा ज्ञान नही हो सकता। अत प्रथम देशनालब्धि (व्यवहार) पश्चात् उपशमसम्यक्त्व (निश्चय) होता है। देखो—**ष. ख पु ६, पृ २०४।**

प्रतिशंका—यह तो सिद्धान्त ग्रन्थो की अपेक्षा से कहा है, परन्तु आध्यात्मिकग्रन्थों में तो ऐसा नहीं है।

समाधान—आध्यात्मिकग्रन्थो मे भी यही कहा गया है कि प्रथम व्यवहार पश्चात् निश्चय होता है। **श्री समयसार गाथा ३८ की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि** ने इसप्रकार लिखा है—**'यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यन्तमप्रतिबुद्ध सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं चिन्मात्रज्योतिः'... ....।**

अर्थ—जो अनादि-मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्तगुरु से निरंतर समझाये जाने पर जो किसीप्रकार से समझकर जैसे कोई मुट्ठी मे रखे हुए सोने को भूल गया हो और सोने को देखे, इस न्याय से आत्मा को जानकर उसका श्रद्धान और आचरण करके जो सम्यक्प्रकार से एक आत्माराम हुआ वह 'मैं' ऐसा अनुभव करता हूँ कि 'मै अनुभव-प्रत्यक्ष चेतनमात्र ज्योति हूँ'। यहाँ पर प्रथम गुरुउपदेश आदि अर्थात् व्यवहार पश्चात् आत्मश्रद्धान अर्थात् निश्चय कहा है। इसीप्रकार **गाथा नं० ३५ की टीका** मे कहा है जैसे कोई पुरुष धोबी के घर मे भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर उसे अपना समझ ओढकर सोते हुए स्वय अज्ञानी हो रहा है, किन्तु जब दूसरा व्यक्ति कहता है—**'मंक्षु प्रतिबुध्य स्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात्'** तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले मे आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे। तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह सर्वचिह्नो से भली-भाँति परीक्षा करके अवश्य ही यह वस्त्र दूसरे का ही है, ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसीप्रकार आत्मा भी भ्रमवश परद्रव्य के भावो को ग्रहण करके उन्हे अपना जानकर अपने मे ही एक रूपकर सो रहा है और स्वय अज्ञानी हो रहा है। जब **श्रीगुरु** कहते हैं—**'मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वाज्ञानी सन् मुंचति सर्वापरभावानचिरात्'** तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव मे एक ही है। तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह ज्ञानी समस्त चिह्नो से भली-भाँति परीक्षा करके अवश्य ही ये परभाव है, यह जानकर ज्ञानी होता हुआ सर्व परभावो को तत्काल छोड देता है। यहाँ पर भी प्रथम गुरु का उपदेश आदि अर्थात् व्यवहार, पश्चात् ज्ञानी हुआ अर्थात् निश्चय हुआ। **श्री समयसार की गाथा नं० १२** मे तो इस विषय को स्पष्ट ही कर दिया है—

सुद्धो सुद्धादेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहि ।
ववहारदेसिदा पुण, जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान हो गये उन्हे तो शुद्धात्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो जीव अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा तथा चारित्र के पूर्णभाव को नही पहुँच सके है, साधक अवस्था मे ही स्थित है वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। व्यवहार को तीर्थ और निश्चय को तीर्थफल कहा है **'तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्'। [समयसार गाथा नं० १२ पर आत्मख्याति टीका]** उक्त हिन्दीअनुवाद मे इसका भावार्थ कोष्ठक मे इसप्रकार दिया है 'जिससे तिरा जाय वह तीर्थ है ऐसा व्यवहारधर्म है और पार होना व्यवहार धर्म का फल है।' जो मनुष्य पार हो गया उसको तिरने की क्या आवश्यकता है। अत निश्चय के पश्चात् व्यवहार होता है, ऐसा कहना निरर्थक है।

प्रतिशंका—जिस मनुष्य को शुद्ध आत्मस्वरूप का ही निश्चय नहीं हुआ वह उसकी प्राप्ति का उपाय कैसे करेगा। जिसप्रकार बम्बई का निश्चय हो जाने पर ही बम्बई जाने का प्रयत्न होता है। अत प्रथम निश्चय पश्चात् व्यवहार होता है।

समाधान—यह दृष्टान्त विषम है। इस दृष्टान्तद्वारा निश्चयसम्यक्त्व के पश्चात् व्यवहारचारित्र सिद्ध किया गया है, परन्तु इस दृष्टान्त से यह सिद्ध नही होता कि निश्चयसम्यक्त्व के पश्चात् व्यवहारसम्यक्त्व या निश्चयचारित्र के पश्चात् व्यवहारचारित्र होता है। जिस हेतु द्वारा बम्बई का निश्चय किया गया वह हेतु ही तो व्यवहार है। इसीप्रकार जो तत्त्वोपदेशादि आत्मस्वरूप के निश्चय मे कारण है वह व्यवहार है, क्योकि, **पंडितवर दौलतरामजी ने छहढाला** की तीसरीढाल मे व्यवहार को **'हेतु नियत को होई'** ऐसा कहा है। इसीप्रकार **आराधनासार गाथा १२** मे कहा है कि व्यवहार-आराधना निश्चय-आराधना का कारण है। अत प्रथम तत्त्वोपदेशादि की प्राप्ति (व्यवहार) पश्चात् आत्मस्वरूप का निश्चय होता है।

प्रतिशंका— निश्चय हो जाने पर ही पर मे कारणपने का उपचार किया जाता है। जब तक निश्चय की प्राप्ति न हो जावे तब तक किसी मे कारणपने का आरोप करना कैसे सम्भव है? अत प्रथम निश्चय पश्चात् व्यवहार होता है।

समाधान—जिस पदार्थ मे 'कारणपने' का उपचार किया जाता है, उस पदार्थ मे कारणपने की शक्ति पहले से ही थी या कार्य होने के पश्चात् आई है? यदि कारणपने की शक्ति पहले से ही थी तो कार्य पश्चात् कारणपने का आरोप किया जाता है, यह कहना नही बनता। यदि कार्य के पश्चात् कारणशक्ति उत्पन्न हुई तो वह कारणशक्ति कार्य की उत्पत्ति मे अकिंचित्कर रही, क्योकि कार्य तो पहले ही हो चुका था। यदि यह कहा जावे कि कारणपने की कोई शक्ति नही है, कारणपने की केवल कल्पना करली जाती है। तो उस पर यह प्रश्न उठता है कि प्रतिविशिष्ट पदार्थ मे ही कारणपने की कल्पना क्यो की जाती है। घट की उत्पत्ति मे कुम्भकार को ही क्यो कारण कहा जाता है? उसके छोटे-छोटे बालको को जो घट की उत्पत्ति के समय वहाँ खेल रहे थे, घट की उत्पत्ति मे कारण क्यो नही कहा जाता। अत यह सिद्ध हो जाता कि कारणपना काल्पनिक नही है। जिसमे कारणपने की शक्ति होती है उसी को कारण कहा जाता है। धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थितिहेतुत्व और आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्व कहा है—

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाण च ।
अवगहण आयासं, जीवादी सव्वदव्वाणं ॥३०॥ नियमसार

यदि जिससमय जीव और पुद्गल गमन करते है, केवल उसी समय धर्मद्रव्य मे गतिहेतुत्व का उपचार किया जाता है, तो धर्मद्रव्य का लक्षण 'गतिहेतुत्व' नही कहा जा सकता है, क्योकि त्रैकालिक असाधारणगुण को लक्षण कहते हैं। अन्यथा अतिव्याप्ति-अव्याप्तिदोष आ जायगा। इसीप्रकार जीवादि को अवगाहन देने के समय ही आकाश मे अवगाहनहेतुत्व कहा जाय तो अलोकाकाश के अभाव का प्रसग आ जायगा, क्योकि अलोकाकाश तो जीवादि को अवगाहन नही देता और अवगाहन न देने के कारण अलोकाकाश मे अवगाहनहेतुत्व भी नही कहा जा सकेगा और अवगाहनहेतुत्व लक्षण के अभाव मे अलोकाकाश लक्ष्य के अभाव का भी प्रसग आ जायगा। अत. विशिष्टपदार्थ का हेतुत्व विद्यमान है। कार्य होने पर ही कारण का उपचार होता है, ऐसी बात नही है। अत: प्रथम निश्चय फिर व्यवहार, यह सिद्ध नही होता है।

प्रतिशंका—जहाँ कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता वहाँ कारणपने ने क्या किया? जैसे किसी को तत्त्वोपदेश सुनने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

समाधान—कार्य को उत्पन्न न करने पर भी कारणत्वशक्ति का अभाव सिद्ध नही होता है। **श्री वीरसेन स्वामी** ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है—

'मगल काऊण पारद्धकज्जाण कहिं पि विग्घुवलभादो तमकाउण पारद्धकज्जाणं पि कत्थ वि विग्घाभाव-दंसणादो जिणिदणमोक्कारो ण विग्घविणासओत्ति? ण एस दोसो कयाकयभेसयाण वाहीणमविणासविणासदंसणे-णावगयवियहिचारस्स वि मारिचादि-गुणस्स भेसयत्तुवलंभादो। ओसहाणमोसहत्त ण विणस्सदि, असज्झवाहिवदिरित्त-सज्झवाहिविसए चेव तेसिं वावारब्भुवगमादोत्ति चे जदि एव तो जिणिदणमोक्कारो वि विग्घविणासओ, असज्झविग्घ-फलकम्ममुज्झिदूण सज्झविविग्घफलकम्मविणासे वावारदंसणादो। ण च ओसहेण समाणो जिणिदणमोक्कारो, णाण-झाणसहायस्स सत्तस्स णिव्विग्घग्गिस्स अदज्झिधणाण व असज्झविग्घफलकम्माणमभावादो।'

शंका—मंगल करके भी प्रारम्भ किये गये कार्यों में कहीं पर विघ्न पाये जाने से, और उसे न करके भी प्रारम्भ किये गये कार्यों के कहीं पर विघ्नों का अभाव देखे जाने से जिनेन्द्र नमस्कार विघ्नविनाशक नहीं है?

समाधान—यह कोई दोष नही है, क्योकि, जिन व्याधियो की औषधि की गई है उनका अविनाश और जिनकी औषधि नही की गई है उनका विनाश देखे जाने से व्यभिचार ज्ञात होने पर भी मरीच अर्थात् कालीमिर्च आदि औषधि-द्रव्यो मे औषधित्वगुण पाया जाता है। यदि कहा जाय कि औषधियो का औषधित्व [उनके सर्वत्र अचूक न होने पर भी] इसकारण नष्ट नही होता, क्योकि, असाध्यव्याधियो को छोडकरके केवल साध्यव्याधियो के विषय मे ही उनका व्यापार माना गया है, तो जिनेन्द्र-नमस्कार भी उसीप्रकार विघ्नविनाशक माना जा सकता है, क्योकि, उसका भी व्यापार असाध्यविघ्नो के कारणभूत कर्मो को छोडकर साध्यविघ्नो के कारणभूत कर्मो के विनाश मे देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि सर्वथा औषधि के समान जिनेन्द्रनमस्कार नही है, क्योकि जिस-प्रकार निर्विघ्न अग्नि के होते हुए न जल सकने वाले ईन्धनो का अभाव रहता है उसीप्रकार उक्त नमस्कार के ज्ञान व ध्यान की सहायता युक्त होने पर असाध्यविघ्नोत्पादक कर्मो का भी अभाव होता है। **ध. ख. पु. ९ पृ. ५**

एक कार्य के लिये अनेक कारण होते है जैसे रोटी बनाने मे आटा, जल, अग्नि आदि अनेक कारण होते हैं। यदि उनमे से किसी एक कारण अर्थात् आटा, जल या अग्नि का अभाव हो तो कार्य अर्थात् रोटी नही बन सकती। इसीप्रकार सम्यक्त्वोत्पत्ति में तत्त्वोपदेश के अतिरिक्त ज्ञानावरणकर्म का विशेष क्षयोपशम, मिथ्यात्व का मंदोदय परिणामों मे विशुद्धता, तथा तत्त्वाभ्यासरूप पुरुषार्थ की भी आवश्यकता होती है। इन कारणो मे से किसी भी एक कारण के अभाव मे मात्र तत्त्वोपदेश सुनने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नही हो सकती।

प्रतिशंका—एक कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वेश्या के मृतकशरीर के देखने से साधु, कामीपुरुष व कुत्ते के भिन्न-भिन्न भाव पाये जाते हैं। कार्य के हो जाने पर ही कारण का केवल आरोप किया जाता है। अत. कार्य अर्थात् निश्चय प्रथम होता है और कारण का उपचार अर्थात् व्यवहार, निश्चय के पश्चात् होता है।

समाधान—एकद्रव्य मे अनन्त गुण पाये जाते है। अत भिन्न-भिन्न गुणो की अपेक्षा एक कारण से अनेककार्यों की उत्पत्ति मे कोई विरोध नही है। जैसे एकअग्नि के निमित्त से भात का पकना, कपडे का जलना और प्रकाश आदि अनेक कार्य होते हुए पाये जाते है। अथवा अन्यद्रव्य के संयोग से एक ही कारण से अनेककार्य होने मे कोई विरोध नही है। एक ही औषधि को यदि उष्णजल के साथ सेवन किया जावे तो उसका परिणाम अन्य प्रकार का होगा, यदि उसी औषधि को शीतलजल के साथ सेवन किया जावे तो उसका परिणाम अन्यप्रकार का होगा। वेश्या के मृतकशरीर के दृष्टान्त मे साधु को असमान जाति मनुष्यपर्याय कारण पडी कि यह अमूल्य मनुष्य भव वृथा विषय भोगो मे खो दिया। कामी पुरुष को वेश्या का रूप कारण पडा जिससे उसके विषय सेवन की इच्छा हुई और कुत्ते को रस गुण कारण पडा जिससे उसके मास-भक्षण के भाव हुए। अथवा साधु, कामी पुरुष और कुत्ते के भिन्न-भिन्न प्रकार की कषाय थी जिनके संयोग से एक ही कारण से अनेक कार्यो की उत्पत्ति हुई।[१] श्री वीरसेन स्वामी ने भी कहा है—**'कध पुण एसो जिणिदणमोक्कारो एक्को चेव सतो अणेयकज्जकारओ? ण, अणेयविहणाणचरण सहेज्जस्स अणेयकज्जुप्पायणेविरोहाभावादो।'**

अर्थ—तो फिर यह जिनेन्द्र नमस्कार एक ही होकर अनेककार्यों का करनेवाला कैसे होगा ? नही, क्योकि अनेक प्रकार के ज्ञान व चारित्र की सहायता युक्त होते हुए उसके अनेककार्यों के उत्पादन मे कोई विरोध नही है **(ष.खं. पु. ९ पृ ४)**। अत कार्य (निश्चय) के पश्चात् कारण (व्यवहार) कहना किसी भी आगम या युक्ति से सिद्ध नही होता। यदि कही पर किसी आगम मे 'प्रथम निश्चय फिर व्यवहार', ऐसा कहा हो तो शकाकार उस आगम को प्रमाणस्वरूप मे उपस्थित करे, जिससे उस पर विचार हो सके।

— **जै.** ग 14. 21-2-63/IX/ **हरीचन्द**

व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है

शंका—लोग मोक्ष के असली स्वरूप को नहीं समझते अत वास्तविकस्वरूप का ज्ञान कराने के लिये निश्चयपूर्वक ही व्यवहार के द्वारा शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराने वास्ते उन्होने (श्री कानजीस्वामी ने) ग्रन्थो की रचना की। फिर भी पण्डित उनसे बिना कारण द्वेषबुद्धि कर मनोज्ञवक्ता की निन्दा कर कर्म का खोटा बन्ध कर रहे हैं।

समाधान—शकाकार के कहने का आशय यह है कि निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है। जैसा कि **श्री कानजीस्वामी ने वीर २४८० के विशेषाङ्क आत्मधर्म पृ० ४२३** पर इसप्रकार लिखा है—'पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा माननेवालो के अभिप्राय मे और अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि के अभिप्राय मे कोई अन्तर नही है, दोनो व्यवहारमूढ हैं।' फिर पण्डित लोग **श्री कानजीस्वामी** के इस मतका खण्डन क्यो करते है ?

१. नोट—निमित्त-दृष्टि से देखने पर इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक वेश्या के मृतशरीररूप निमित्त में कितनी शक्ति है कि उसने तीन जनों में तीन भिन्न-२ परिणाम करा दिये।

इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम यह कहना है कि **श्री कानजीस्वामी** के इस मतका खण्डन सोनगढ़ से प्रकाशित **मोक्षशास्त्र पृष्ठ १३७** के इन शब्दो द्वारा हो रहा है। वे शब्द इसप्रकार हैं—'व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नही हो सकता किन्तु उसका व्यय (अभाव) होकर निश्चय सम्यग्दर्शन का उत्पाद सुपात्र जीवो को अपने पुरुषार्थ से होता है।' सोनगढ **मोक्षशास्त्र** के उक्त वाक्यो से स्पष्ट है कि प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है उसके बाद निश्चयसम्यग्दर्शन होता है जबकि उक्त आत्म धर्म मे निश्चय को पूर्व मे कहा है और व्यवहार को उसके (निश्चयके) पश्चात् कहा है।

स्वय **श्रीकानजीस्वामी ने आत्मधर्म नं० १३४, पृष्ठ ३९, कालम** २ मे इसप्रकार कहा है—'निश्चयरत्नत्रय वह मोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बन्धमार्ग है।' यहाँ पर व्यवहाररत्नत्रय को बन्धमार्ग अर्थात् ससारमार्ग अथवा ससार-कारण कहा है और निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। ससारपूर्वक मोक्ष होता है ऐसा सिद्धात है, क्योकि जीव अनादिकाल से निगोद मे पडा हुआ था। जब ससार पहले है और फिर मोक्ष है तो ससार कारण अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय भी पहले होगा और मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चयरत्नत्रय उसके बाद मे होगा। यदि निश्चयरत्नत्रय को पहले और निश्चय के पश्चात् व्यवहार को माना जावे तो मोक्षपूर्वक ससार होने का प्रसग आ जावेगा अर्थात् मुक्त जीव भी कर्मबन्ध से सहित होकर ससार मे भ्रमण करने लगेंगे। इसप्रकार **श्री कानजीस्वामी** का उक्तमत स्ववचनबाधित है।

इस विषय मे महान् आचार्यों का कहना है कि व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है, क्योकि साधन के होने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है अत साधन व साध्य का अविनाभावी सम्बन्ध है। साधन पूर्व मे होता है अर्थात् व्यवहारनय पूर्व मे होता है। आगमप्रमाण इसप्रकार है—**तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च—**

जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥ स सा. १२ आत्मख्याति टीका॥

अर्थ—तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्था है। (जिससे तिरा जाए वह तीर्थ है, ऐसा व्यवहार धर्म है और पार होना व्यवहार धर्म का फल है।) अन्यत्र भी कहा है—आचार्य कहते है कि हे भव्यजीवो! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो को मत छोडो, क्योकि व्यवहार के बिना तीर्थ का नाश हो जायगा और निश्चय के बिना तत्त्व का नाश हो जायगा।

[**नोट**—यह किसी पण्डित की निजी बात नही है, किन्तु **समयसार** की बात है। अब निश्चय को पहले कहने वाले विचार करें कि तीर्थफल पहले होता है या तीर्थ।]

श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १२ की टीका मे कहा है—**भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गो साधको भवति, अभेद रत्नत्रयात्मक पुनर्निश्चयमोक्षमार्ग साध्यो भवति, एवं निश्चयव्यवहार मोक्षमार्गयो साध्य-साधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् इति।**

अर्थ—भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्गसाधक होता है और अभेदरत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग साध्य होता है। इसप्रकार निश्चय व व्यवहारमोक्षमार्ग के साध्य-साधकभाव जानना चाहिये जिसप्रकार सुवर्णपाषाण साधक है और सुवर्ण साध्य है।

श्री परमात्मप्रकाश अ० २ गाथा १४ (अथवा गाथा १४०) की टीका मे इसप्रकार कहा है— **साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, साध्यो निश्चयमोक्षमार्ग । अत्राह शिष्य । निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्प तत्काले सविकल्प-मोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह—भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति ।**

अर्थ – व्यवहारमोक्षमार्ग साधक है और निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है। यहा पर शिष्य प्रश्न करता है कि निश्चयमोक्षमार्ग निर्विकल्प है उस समय (काल) सविकल्पमोक्षमार्ग नही होता फिर सविकल्प (व्यवहार) मोक्ष-मार्ग कैसे साधक हो सकता है ? **आचार्य महाराज** उत्तर देते है—भूतनैगमनय की अपेक्षा से (व्यवहाररत्न-त्रयात्मकमोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्ग का) परम्परया साधक है।

[**नोट**—यहा पर भी व्यवहारमोक्षमार्ग को निश्चयमोक्षमार्ग का साधक कहा है। इसके आधार पर इससे **विरुद्ध** कथन करना उचित नही है जैसा **सोनगढ़ मोक्षशास्त्र पृ० १२३** पर किया है।]

इसी गाथा की भाषा टीका मे इसप्रकार लिखा है—'जो अनादिकाल का यह जीव विषय कषायो से मलिन हो रहा है, सो व्यवहार साधन के बिना उज्ज्वल नही हो सकता, जब मिथ्यात्व अव्रत कषायादिक की क्षीणता से देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करे, तत्त्वो का जानपना होवे, अशुभक्रिया मिट जावे, तब वह अध्यात्म का अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपडा धोने से रगने योग्य होता है, बिना धोये रग नही लगता इसलिये परम्परया मोक्ष का कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है।

[**नोट**—यदि व्यवहाररत्नत्रय का अभाव निश्चयरत्नत्रय का साधक है तो व्यवहाररत्नत्रय का अभाव तो निगोदिया जीव के भी है, क्या वहाँ भी निश्चयरत्नत्रय हो जाएगा। फिर मोक्षशास्त्र (**सोनगढ़ से प्रकाशित**) **के पत्र १३७** पर 'व्यवहाररत्नत्रय निश्चय का साधन नही है, किन्तु व्यवहार का अभाव निश्चय का साधन है' ऐसा लिखना कहाँ तक उचित है। साधन किसे कहते है, यह कथन आगे किया जावेगा।]

मोक्षमार्ग साधन है और मोक्ष साध्य है। मोक्षमार्ग तीर्थ है और मोक्ष तीर्थफल है। मोक्षअवस्था मे मोक्षमार्ग का सद्भाव नही अपितु अभाव है। यदि इससे यह निष्कर्ष निकाला जावे कि मोक्ष का साधन मोक्षमार्ग का अभाव है, मोक्षमार्ग साधन नही है तो मिथ्यात्व को भी मोक्ष के साधनपने का प्रसग आ जायेगा। अत मोक्ष-मार्ग का अभाव मोक्ष का साधन नही है, किन्तु मोक्षमार्ग मोक्ष का साधन है। इसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रय निश्चय-रत्नत्रय का साधन है। **श्री अमृतचन्द्रसूरिजी** ने भी **समयसार-आत्मख्याति टीका** के अन्त मे 'उपाय-उपेय' भाव का कथन करते हुए इसप्रकार लिखा है—'अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा स्वरूप से च्युत होने के कारण ससार मे भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के पाक प्रकर्ष की परम्परा से क्रमश स्वरूप मे आरोहण कराये जाते आत्मा के अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद है तद्रूपता के द्वारा स्वय साधकरूप से परिणमित होता हुआ तथा परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय उससे प्रज्वलित हुए जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वय सिद्धरूप से परिणमता ऐसा एक ही ज्ञान मात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है। अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय की वृद्धि की परम्परा से जब स्वरूप अनुभव होता है तब निश्चयरत्नत्रय होता है। निश्चयरत्नत्रय वृद्धि को प्राप्त होता हुआ पूर्ण होने पर मोक्ष होता है।

श्री पंचास्तिकाय की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति में १५९ गाथा की टीका के पश्चात् इसप्रकार लिखा है— **निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्** अर्थात् निश्चय और व्यवहार के साध्य-साधनभाव है जैसे सुवर्ण और सुवर्णपाषाण के साध्य-साधनभाव होता है, (व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है।)

श्री बृहद्‌द्रव्यसंग्रह गाथा १४१ की टीका मे इसप्रकार लिखा है—**अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमितिचेद ? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्व साध्यते इति साध्यसाधनभावज्ञापनार्थमिति ।**

अर्थ—प्रश्न : यहाँ इस व्यवहारसम्यक्त्व के व्याख्यान मे निश्चयसम्यक्त्व का वर्णन क्यो किया ? **उत्तर**—व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व साधा जाता है। इस साध्यसाधनभाव को बतलाने के लिये व्यवहार-सम्यक्त्व के व्याख्यान मे निश्चयसम्यक्त्व का वर्णन किया है।

श्री बृहद्‌द्रव्यसग्रह गाथा १३ की टीका मे भी इसप्रकार लिखा है—**अर्हत्सर्वज्ञप्रणीत निश्चयव्यवहारनय साध्यसाधकभावेन मन्यते इत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् ।**

अर्थ—अविरतसम्यक्त्वी यह मानता है कि अर्हन्त सर्वज्ञ के कहे हुए निश्चयनय साध्य हैं, व्यवहारनय साधक है।

साधन का अर्थ इसप्रकार है—**क्रियोत्पादक हेतुभेदे । क्रियाया परिनिष्पत्तिर्यद् व्यापारादनन्तरम्, विवक्ष्यते यदा यत्रकरण तत्तदास्मृतम् ।** अर्थात् क्रिया की उत्पत्ति मे जो हेतु (कारण) होता है वह 'साधन' अथवा जिस व्यापार के अनन्तर (पश्चात्) क्रिया की निष्पत्ति होती है वह व्यापार साधन कहलाता है। अथवा जिस भाव प्रवर्ते बिना जो अगला भाव न प्रवर्ते वह भावसाधन कहलाता है।

उपर्युक्त आगमप्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि व्यवहार साधन है जो पहले होता है और निश्चय साध्य है जो व्यवहार के होने पर होता है। अर्थात् व्यवहार के अनन्तर होता है। अत सोनगढ के निम्न मतो का स्वत: खण्डन हो जाता है—

(१) पहले व्यवहार फिर निश्चय ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। **(आत्मधर्म विशेषांक, वर्ष ९)**

(२) निश्चयरत्नत्रय मोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बन्धमार्ग है।
(आत्मधर्म न० १३४ पृष्ठ ३९)

(३) व्यवहार करते-करते उसके आश्रय से निश्चयरत्नत्रय हो जाएगा, ऐसा जो मानता है, उसकी श्रद्धा विपरीत है। **(आत्मधर्म नं० १३४ पृ० ३९)**

(४) व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नही है **(सोनगढ मोक्षशास्त्र पृ० १३७)**

[पण्डित लोग किसी द्वेषबुद्धि से **श्री कानजीस्वामी** के मत का खण्डन नही करते। वे तो प्रामाणिक प्राचीन आचार्य रचित दि० जैनशास्त्र के अनुकूल व्याख्यान करते हैं। यदि आगम अनुकूल व्याख्यान से दिगम्बर जैन आगमविरुद्ध मान्यताओ का खण्डन होता हो तो इसमे पण्डितो का क्या दोष। इसमे तो आगमविरुद्ध कथन करने वालो का दोष है।]

— **जै. स.** 14-11-57/.. ...

व्यवहाररत्नत्रय पहले होता है, तत्पश्चात् निश्चयरत्नत्रय

शंका—व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है या नहीं ? व्यवहाररत्नत्रय पहले होता है या निश्चयरत्नत्रय पहले होता है ?

समाधान—सुवर्ण और सुवर्णपाषाण मे जिसप्रकार साध्य-साधनभाव है, उसीप्रकार निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय मे साध्य-साधनपना है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय** मे कहा भी है—

'न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत्। अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ॥ (गा. १५९ टीका)

निश्चयमोक्षमार्ग साधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमार्ग निर्देशोऽयम् ॥ (गाथा १६० की उत्थानिका)

अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति। (गा. १६१ टीका)।

अर्थ—निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय मे परस्पर विरोध आता है, ऐसा भी नही है, क्योकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भांति निश्चय और व्यवहार का साध्य-साधनपना है, इसीलिये पारमेश्वरी अर्थात् जिन-भगवान की तीर्थप्रवर्तना दोनो नयो के आधीन है। **(गा. १५९ टीका)**

निश्चयमोक्षमार्ग के साधनरूप से पूर्वोद्दिष्ट व्यवहारमोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय का यह निर्देश है।
(गा १६० की उत्थानिका)

निश्चयमोक्षमार्ग अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और व्यवहारमोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहार सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र का साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है।

जिसप्रकार सुवर्णपाषाण साधन है और सुवर्ण साध्य है उसीप्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय साधन है और निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् निश्चयरत्नत्रय साध्य है। जिसप्रकार सुवर्णपाषाण पहले होता है, पश्चात् उसके द्वारा सुवर्ण प्राप्त किया जाता है, इसीप्रकार व्यवहार पहले होता है, पश्चात् उसके द्वारा निश्चय प्राप्त किया जाता है।

—**जै.** ग. 4-3-71/V/ **सुलतानसिंह**

निश्चय व व्यवहार में साध्यसाधक भाव मानने से ही मुक्ति की सिद्धि होती है

शंका—'व्यवहाररत्नत्रय करते-करते निश्चयरत्नत्रय हो जायेगा' ऐसा जो मानता है क्या वह मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—व्यवहाररत्नत्रय पूर्वक ही निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होती है। व्यवहाररत्नत्रय के बिना निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति नही हो सकती अत व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का कारण है। 'व्यवहाररत्नत्रय का अभाव होने पर निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति होती है अत व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का कारण नही है किन्तु व्यवहाररत्नत्रय का अभाव निश्चयरत्नत्रय के लिये कारण है।' ऐसी मान्यता भी ठीक नही है, क्योकि मिथ्यादृष्टि के व्यवहाररत्नत्रय का अभाव होने पर निश्चयरत्नत्रय का प्रसग आ जावेगा, किन्तु मिथ्यादृष्टि के निश्चयरत्नत्रय होता ही नही। यथार्थश्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप सामान्यरत्नत्रय उभय (व्यवहार व निश्चय) रत्नत्रय मे समानरूप से पाया जाता है अत 'व्यवहाररत्नत्रय का सर्वथा अभाव निश्चय का कारण है' ऐसा कहना उचित नही है। यद्यपि कारणसमयसार के विनाश होने पर कार्यसमयसार का उत्पाद होता है, किन्तु उन दोनो का आधारभूत परमात्मद्रव्य ध्रौव्यरूप से रहता है। **(वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा २२ टीका)**

'व्यवहाररत्नत्रय कारण है और निश्चयरत्नत्रय उस (व्यवहाररत्नत्रय) का कार्य है।' इस विषय में आगम प्रमाण इसप्रकार है—

(१) संवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध-ज्ञान दर्शन स्वभाव निज आत्मा है, उसके स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय है, तथा उस निश्चयरत्नत्रय का साधक व्यवहाररत्नत्रय है। **(बृ० द्रव्यसंग्रह दूसरे अधिकार के प्रारम्भ में छहद्रव्यों की चूलिकारूप विस्तार व्याख्यान)**

(२) व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व साधा जाता है। इसप्रकार निश्चय व व्यवहार मे साध्य-साधकभाव है। **(बृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ टीका)**

(३) निश्चयचारित्र को साधनेवाला व्यवहारचारित्र का व्याख्यान **(बृ द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ की टीका)।**

(४) व्यवहारचारित्र से साध्य जो निश्चयचारित्र है उसका निरूपण करते है।

(बृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४६ की उत्थानिका)

(५) निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षकारण निश्चयमोक्षमार्ग और इसीतरह व्यवहाररत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षहेतु व्यवहारमोक्षमार्ग, इन दोनो के पहले साध्य-साधकभाव से (निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है, व्यवहार-मोक्षमार्ग साधक है) पहले कहा है। **(बृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ की टीका)**

(६) निश्चय व व्यवहार का स्वर्ण और स्वर्णपाषाण के समान साध्य-साधनभाव है। **(पंचास्तिकाय गाथा १०६ की उत्थानिका)।**

(७) निजशुद्धात्मा की रुचि, ज्ञान और निश्चल अनुभवरूप निश्चयमोक्षमार्ग है। इसका साधक व्यवहार-मोक्षमार्ग है जो किसी अपेक्षा अनुभव मे आनेवाले अज्ञान की वासना के विलय होने से भेदरत्नत्रय स्वरूप है। इस व्यवहार मोक्षमार्ग का साधन करता हुआ गुणस्थानो के चढने के क्रम से जब यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मिक-द्रव्य की भावना से उत्पन्न नित्य आनन्द सुखामृतरस के स्वाद से तृप्तिरूप परमकला के अनुभव करने के द्वारा अपने ही शुद्ध आत्मा के आश्रित निश्चयनय से भिन्नसाध्य भिन्नसाधकभाव के अभाव से यह आत्मा ही मोक्षमार्ग-रूप हो जाता है। **(पंचास्तिकाय गाथा १६१ श्री जयसेन टीका अथवा गाथा १७२ पर श्री अमृतचन्द्र स्वामी की टीका)।**

(८) अनादिकाल से मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्र द्वारा स्वरूपच्युत होने के कारण संसार मे भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलता ग्रहण किये गये व्यवहार-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमश स्वरूप मे आरोहण कराये जाते आत्मा को अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप भेद है तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता है, तथा परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित जो सकलकर्म के क्षय उससे प्रज्वलित हुए जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है। **(समयसार, उपाय-उपेयभाव)।**

(९) **समयसार गाथा १२ तथा पंचास्तिकाय गाथा १६०** इन दोनो की टीका मे **श्री जयसेनाचार्य ने 'अप्रमत्तगुणस्थान तक व्यवहाररत्नत्रय होता है'** ऐसा कहा है। इससे भी सिद्ध होता है व्यवहाररत्नत्रय साधक और निश्चयरत्नत्रय साध्य है

आचार्य कहते हैं कि 'निश्चय व व्यवहार को साध्यसाधकरूप से मानने से ही मुक्ति की सिद्धि तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है' जो ऐसा नही मानता उसको मुक्ति की सिद्धि नहीं होती।

(अ) 'वीतरागता' निश्चय तथा व्यवहारनय के साध्य-साधकरूप से परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से ही होती है। बिना अपेक्षा के एकान्त से मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। जो निश्चय-व्यवहार को परस्पर साध्य-साधक समझकर व्यवहार करते हैं वे ही मुक्ति के पात्र होते हैं। (**पंचास्तिकाय गाथा १७२ श्री जयसेन स्वामी की टीका**)।

(ब) सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय-व्यवहारनय को साध्य-साधकभाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से आत्मनिन्दासहित होकर इन्द्रियसुख का अनुभव करता है वह 'अविरतसम्यग्दृष्टि' चौथे गुणस्थानवर्ती है। (**वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीका**)।

यदि यहाँ पर तर्क की जावे कि व्यवहाररत्नत्रय तो स्वपर-प्रत्यय आश्रित, भिन्न साध्य-साधनभावी भेदमयी और रागसहित है, किन्तु निश्चयरत्नत्रय तो निजशुद्धात्माश्रित, अभिन्न साध्य-साधनभावी, अभेदमयी है और रागरहित है अतः 'व्यवहाररत्नत्रय' निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं हो सकती। कारण के समान कार्य होता है ऐसा न्याय है।

इसका समाधान यह है कि—कारण के समान कार्य होता है, किन्तु कारण-कार्य सर्वथा समान नहीं होते, एकदेश समान होते हैं। यदि कारण-कार्य सर्वथा समान हो जावें तो कारण-कार्य में भेद का अभाव हो जाने से दोनों एक हो जावेंगे। इसप्रकार कारण-कार्य का ही अभाव हो जावेगा। अतः कारण-कार्य कथंचित् समान कथंचित् असमान होते हैं ऐसा अनेकान्त है एकान्त नहीं है।

जैसे मृतिका (मिट्टी का) पिंड तथा मिट्टी के घड़े में मिट्टी की अपेक्षा से समानता है किन्तु पिंड व घट पर्याय की अपेक्षा से असमानता है। यदि इस अपेक्षा से भी असमानता न हो तो मिट्टी के पिंड में ही जलधारण क्रिया होने लगेगी।

जैसे १५ वानी का स्वर्ण १६ वानी के स्वर्ण के लिये कारण है। स्वर्ण की अपेक्षा से १५ वानी स्वर्ण व १६ वानी (शुद्ध) स्वर्ण में समानता है, किन्तु शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा दोनों में असमानता है। यदि इस अपेक्षा से भी दोनों समान हों तो स्वर्ण को सोलहवां ताप देने की आवश्यकता नहीं थी।

इसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रय व निश्चयरत्नत्रय में कथंचित् असमानता है, किन्तु रत्नत्रय की अपेक्षा समानता है। व्यवहाररत्नत्रय के पाक की प्रकर्षता ही तो निश्चयरत्नत्रय है। (**इस विषय के सम्बन्ध में वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ३४ की टीका देखनी चाहिये**)।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि निश्चयरत्नत्रय (कार्य) साध्य है और व्यवहाररत्नत्रय साधक (कारण) है। ऐसा श्रद्धान करने से ही सम्यग्दर्शन तथा मुक्ति की प्राप्ति होगी। अन्यप्रकार श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन तथा मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।

— जै. ग. 26-12-57/ **पवनकुमार जैन**

यावत् छद्मस्थ जीवों के अशुद्धनिश्चयनय होता है

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय अथवा व्यवहारनय होता है यह कथन किसप्रकार ठीक है ?

समाधान—जीव का स्वभाव चेतना है। चेतना के दो भेद है ज्ञान और दर्शन। बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म का उदय रहता है जिसके कारण जीव के स्वभाव का घात रहता है। स्वभावघात की अपेक्षा से ही जीव बारहवें गुणस्थानतक परसमय कहा गया है, इसीलिये अशुद्धनिश्चयनय अथवा व्यवहारनय होता है ऐसा कथन किया गया है।

बहिरंतरप्पभेयं परसमय भण्णये जिणिंदेहिं।
परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४८॥
मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा।
संतोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा ॥१४०॥ (रयणसार)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इन दो गाथाओं मे यह बतलाया है प्रथम तीनगुणस्थानोतक जीव तरतमता से बहिरात्मा है। चौथे गुणस्थान मे जघन्य अन्तरात्मा है। उपशांतमोह गुणस्थानतक मध्यम-अन्तरात्मा है, क्षीणकषाय गुणस्थान मे उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। श्री अरहत व सिद्ध भगवान परमात्मा है। जिनेन्द्र भगवान ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय कहा है, परमात्मा को स्वसमय कहा है। इसप्रकार बारहवेंगुणस्थान तक जीव परसमय है, ऐसा व्याख्यान स्पष्टरूप से पाया जाता है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥ (समयसार)

जो पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये है उनको तो एक शुद्धनिश्चयनय प्रयोजनवान है और जो अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के पूर्ण भाव को नही पहुँच सके अर्थात् परमात्मपद को नही पहुँच सके उनके लिये व्यवहारनय ही प्रयोजनवान है।

बारहवेंगुणस्थान तक ज्ञान पूर्ण नही होता है इसीलिए परमात्म पद को प्राप्त नही हुए है, क्योंकि छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ अवस्था मे अनेकभेद होने के कारण व्यवहारनय प्रयोजनवान है।

—जै ग. 15-6-72/VII/ रो ला मित्तल

सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग हैं; इस वाक्य का ग्राहक व्यवहारनय है

शंका—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र व्यवहारनय की अपेक्षा है या निश्चयनय की अपेक्षा है ?

समाधान—यह सूत्र व्यवहारनय की अपेक्षा से है। कहा भी है—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥ (समयसार)

ज्ञानी (जीव) के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीनभाव व्यवहारनय से कहे जाते है। निश्चयनय कर ज्ञान भी नही है चारित्र भी नहीं है दर्शन भी नही है, एक ज्ञायक है, इसलिए शुद्ध कहा गया है।

'पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारोभेदविषयः।' (आलापपद्धति)

अध्यात्मभाषा की अपेक्षा नय का कथन करने पर निश्चयनय और व्यवहारनय इसप्रकार दो मूलनय हैं। निश्चयनय अभेद विषय को ग्रहण करता है और व्यवहारनय भेद विषय को ग्रहण करता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसा भेद करना व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय की दृष्टि मे दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसा भेद नही है, किन्तु उसका विषय एक अखण्ड आत्मा है।

—जै ग. 13-5-71/VII/ र. ला. जैन

व्यवहार-निरपेक्ष निश्चय मिथ्या है तथा निश्चय निरपेक्ष व्यवहार मिथ्या है

शंका—'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥' इसका क्या अर्थ है और निश्चयनय व व्यवहारनय पर कैसे घटित होता है ?

समाधान—यह वाक्य **देवागम कारिका १०८** का उत्तरार्ध है। **श्री पं० जयचन्दजी** ने इसका अर्थ इसप्रकार किया है—'जे परस्पर अपेक्षारहित नय है ते तो मिथ्या है। बहुरि जे परस्पर अपेक्षासहित नय हैं, ते वस्तु स्वरूप हैं। ते अर्थ-क्रिया को करें ऐसा वस्तुकू साधै है। निरपेक्षपणा है सो तो प्रतिपक्षीधर्म का सर्वथा निराकरण स्वरूप है। बहुरि प्रतिपक्षी धर्म तैं उपेक्षा कहिए उदासीनता सो सापेक्षपणा है। प्रतिपक्षी धर्म तैं उपेक्षा सो सुनय बहुरि प्रतिपक्षी धर्म का सर्वथा त्याग सो दुर्नय है ऐसैं सर्व का उपसहार सक्षेप समेटना जानना।

व्यवहारनय से निरपेक्ष निश्चयनय मिथ्या है इसीप्रकार निश्चयनय से निरपेक्ष व्यवहारनय भी मिथ्या है। व्यवहारनयसापेक्ष निश्चयनय सुनय है। निश्चयनयसापेक्ष व्यवहारनय सुनय है। निश्चयनय यदि व्यवहारनय का निराकरण करे तो दुर्नय है। यदि गौण करे तो सुनय है। इसीप्रकार व्यवहारनय यदि निश्चयनय का निराकरण करे तो दुर्नय है, यदि गौण करे तो सुनय है। कहा भी है—

'अर्पितानर्पितसिद्धे ॥३२॥' तत्त्वार्थसूत्र

मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तुमे परस्पर दो विरोधी-धर्मों की सिद्धि होती है।

—जै. ग 13-8-70/IX/......

व्यवहारनय भी कथंचित् सत्यार्थ है

शंका—'दिगम्बर जैन ग्रन्थो में जो व्यवहारनय का कथन है, वह वास्तविक नहीं है किन्तु अभूतार्थ है।' क्या इसप्रकार की चाबी (Master Key) के द्वारा दिगम्बर जैन आगमग्रन्थो का अर्थ खोलने से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है ?

समाधान—निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता है। (**समयसार गाथा ५६ आत्मख्याति टीका**) 'निश्चयनय करके यह जीव न कर्ता है, न भोक्ता है तथा क्रोधादि भावो से भिन्न है' तब दूसरे पक्ष मे व्यवहारनय की अपेक्षा इस जीव के कर्त्तापन, भोक्तापना तथा क्रोधादिक से अभिन्नपना है, क्योंकि निश्चय और व्यवहारनय एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले हैं। परन्तु जो कोई निश्चयव्यवहार के परस्पर अपेक्षारूप नय-विभागो को नही मानते, उनके मत मे जैसे निश्चयनय से जीव कर्ता नही है और क्रोधादि से भिन्न है तैसे व्यवहार से भी अकर्त्ता व क्रोधादि से भिन्न है। ऐसा मानने पर जैसे सिद्धो के कर्मबन्ध नही होता वैसे अन्य जीवों के

क्रोधादि परिणमन न होने से कर्मबन्ध नहीं होगा। जब जीवो के कर्मबन्ध नहीं तब संसार का अभाव हो जायगा। ससार का अभाव होने पर इसी जीव के सदा मुक्तपना प्राप्त हो जाएगा। यह बात प्रत्यक्ष से विरोधरूप है। इससे निश्चयएकान्त मानना मिथ्या है।' (**समयसार गाथा ११३-११५ तात्पर्यवृत्ति टीका**)

मोक्षमार्गप्रकाशक-अध्याय सात मे भी इसप्रकार कहा है—'द्रव्यदृष्टि करि एक दशा है। पर्यायदृष्टि कर अनेक अवस्था हो है। ऐसा मानना योग्य है। ऐसे ही अनेक प्रकार करि केवल निश्चयनय का अभिप्रायतें विरुद्ध श्रद्धानादिक करे है। **जिनवाणी विषे नाना नय अपेक्षा कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है। यह अपने अभिप्रायतें निश्चयनय की मुख्यता करि जो कथन किया होय, ताही को ग्रहि करि मिथ्यादृष्टि को धारे है।** द्रव्यकरि सामान्य-स्वरूप अवलोकना, पर्याय करि विशेष अवधारना। ऐसे ही चितवन किये सम्यग्दृष्टि हो है। जातें साचा अवलोके बिना सम्यग्दृष्टि कैसे नाम पावे।'

समयसार गाथा ६ भावार्थ मे भी इसप्रकार कहा है—'जीव मे जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद है वे परद्रव्य के सयोगजनितपर्याय है। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि मे गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, निश्चय है, भूतार्थ है, परमार्थ है, सत्यार्थ है। इसलिये आत्मा ज्ञायक है, उसमे भेद नही है इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नही है। यहाँ यह भी जानना चाहिये कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जावे, क्योकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता दोनो वस्तु के धर्म है और वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है, अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के सयोग से होती है।

समयसार गाथा ४६ की आत्मख्याति टीका मे व्यवहारनय के कथन को वास्तविक स्वीकार किये बिना क्या दोष आ जायेंगे, उनको बताते है—'व्यवहारनय के बिना, परमार्थ से शरीर को भिन्न बताया जाने पर, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवो को नि शकतया मसल देने (घात करने) मे भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। दूसरे परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी रागी-द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है, उसे छुडाना है—ऐसे मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाएगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा।' इस कथन के अनुसार व्यवहारनय को वास्तविक स्वीकार किये बिना बन्ध (ससार) व मोक्ष दोनो के अभाव का प्रसग आ जाएगा जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

किसी ने प्रश्न किया कि इस जीव मे प्राण भिन्न है कि अभिन्न, यदि अभिन्न कहे तो जैसे जीव का नाश नही है वैसे प्राणो का भी विनाश नही होगा तो फिर हिंसा क्या होगी ? यदि जीव मे प्राणो को भिन्न मानें तो फिर जीव के प्राणो का घात करने पर जीव का क्या बिगाड ? कुछ नही, इससे इस तरह भी हिंसा न हुई। इसका आचार्य समाधान करते है कि कायादि प्राणो के साथ किसी अपेक्षा भेद है और कथचित् अभेद है। किस कारण से है कि जैसे गरम लोहे के पिण्ड मे से उस वर्तमानकाल मे अग्नि अलग नही की जा सकती इसीतरह शरीर मे जब आत्मा तिष्ठा है तब उस वर्तमानकाल मे उसे अलग नही कर सकते। इसकारण व्यवहारनय से प्राणो के साथ जीव का अभेद है। निश्चय से भेद है, क्योकि मरण के समय काय, प्राण आदि जीव के साथ नही जाते। यदि एकान्त से जीव और प्राणो का सर्वथा भेद माना जाय तो जैसे दूसरो के शरीर को छेदते-भेदते हुए भी अपने को दु ख नही होता तैसे अपनी काय को भी छिदते हुए दु ख नही होना चाहिये सो बात नही है, क्योकि प्रत्यक्ष से विरोधरूप है। फिर प्रश्नकर्ता कहता है कि व्यवहार से ही तो हिंसा हुई निश्चय से नही हुई। इस पर आचार्य कहते है कि यह बात तुमने सत्य कही। जैसे व्यवहार से हिंसा है वैसे पाप भी व्यवहार से है तथा नरक आदि के दु ख भी व्यवहार से है, यह बात हमको सम्मत है। यदि नरकआदि के दु खो मे तुमको प्रीति है तो हिंसा

करो, यदि भय है तो हिंसा को छोडो' (समयसार गाथा ३४४ तात्पर्यवृत्ति टीका) इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो व्यवहारनय को वास्तविक नही मानते उनको नरक के दुःखो से भय नही, किन्तु प्रीति है इसलिये वे हिंसादिपापो का त्याग नही करते।

नियमसार गाथा १५९ मे कहा है कि केवलीभगवान सर्वपदार्थों को जानते-देखते है यह कथन व्यवहारनय से है, परन्तु नियम करके अर्थात् निश्चयकरके केवलज्ञानी अपने आत्मस्वरूप को ही जानते-देखते है—

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवलीभगव।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाण ।। नि. सा. १५९ ।।

यदि शंकाकार कथित चाबी (Master Key) के द्वारा इस गाथा का अर्थ खोला जावे तो व्यवहारनय का यह कथन 'कि केवली भगवान सर्वपदार्थों को देखते जानते है' असत्यार्थ है, अवास्तविक है जिससे सर्वज्ञता का अभाव हो जाता है। सौगत-बौद्ध भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ को स्वीकार करते हैं और व्यवहारनय को असत्यार्थ मानते हैं, फिर सौगत और जैनधर्म मे कोई अन्तर नही रहेगा। इस विषय मे समयसार गाथा ३६५ की टीका मे श्री जयसेनाचार्य ने इसप्रकार कहा है—'यहाँ पर शिष्य ने कहा कि सौगत भी कहता है कि व्यवहार से सर्वज्ञ है, उसको दूषण क्यो दिया जाता है? इसका समाधान आचार्य करते है कि बौद्धादिको के मत मे जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार मिथ्या है वैसे व्यवहाररूप से भी व्यवहार सत्य नही है परन्तु, जैनमत मे व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्या है तो भी व्यवहाररूप से सत्य है। यदि लोकव्यवहार व्यवहाररूप से भी सत्य न होय तो सर्व ही लोकव्यवहार मिथ्या हो जावे, ऐसा होने पर अतिप्रसग हो जाय अर्थात् प्रसग से बाहर हो जाय इससे यह कहना ठीक है कि यह आत्मा व्यवहारनय से परद्रव्य को देखता जानता है, परन्तु निश्चय मे तो अपने ही आत्मद्रव्य को देखता-जानता है।'

जब व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ कहने वाला यह विचारकर कि 'प्राण प्राण है। अन्न अन्न है। अन्न प्राण नही, प्राण अन्न नही। अन्न को प्राण कहना सर्वथा असत्यार्थ है।' अन्न त्याग देता है और अपने प्राणो का नाश करने लगता है अर्थात् मरण को प्राप्त होने लगता है तब अनेकान्तवादी कार्यकारण की यथार्थता के द्वारा व्यवहारनय को सत्यार्थ दिखाकर उसके प्राणो की रक्षा करता है अर्थात् नाश नही होने देता।

जब व्यवहारनय को असत्यार्थ कहनेवाला यह विचारकर कि 'घी का घडा कहना उपचार है, सर्वथा असत्यार्थ है। घी तो घी है और घडा घडा है। घी घडा नही है और घडा घी नही है। घडे के नाश से घी का नाश नही और घी के नाश से घडे का नाश नही है।' घी से भरे हुए मिट्टी के घडे को ग्रीष्मकाल की दोपहर की धूप में रेत पर रखकर और घडे को फोडकर घी को रेत मे मिलाने को तैयार होता है तब अनेकान्तवादी आधार-आधेय की यथार्थता के द्वारा व्यवहारनय को सत्यार्थ दिखाकर घी की रक्षा करता है।

जब व्यवहारनय को असत्यार्थ कहनेवाला यह कहकर 'अर्हन्त की दिव्यध्वनि कहना असत्यार्थ है, दिव्यध्वनि तो शब्दमयी पुद्गल जड है और अर्हन्त चेतनमयी आत्मा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नही होता अतः दिव्यध्वनि का कर्त्ता पुद्गल है और अर्हन्त नही है, दिव्यध्वनि (जिनवाणी) की प्रमाणता का नाश (अभाव) करता है तब अनेकान्तवादी निमित्त-नैमित्तिक की यथार्थता के द्वारा व्यवहारनय को सत्यार्थ दिखाकर जिनवाणी की प्रमाणता की रक्षा करता है।

समयसार कलश ७० से ७९ तक व्यवहार व निश्चयनय के विषय 'बद्ध-अबद्ध, मूढ-अमूढ, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, भाव-अभाव' बताकर दोनो नयो का पक्षपात बताया है और दोनो नयो के पक्षपात छोड़ने का उपदेश दिया है।

व्यवहारनय के कथन को अवास्तविक मानने से न तो बन्ध (ससार) सिद्ध होता है न मोक्ष सिद्ध होता है, न हिंसा सिद्ध होती है, सर्वज्ञता का अभाव होता है, जिनवाणी की प्रमाणता का अभाव होता है। इसप्रकार अनेक दूषण आते हैं।

व्यवहारनय के कथन को अवास्तविक माननेरूप चाबी (Master Key) के द्वारा यदि दिगम्बरजैनागम का अर्थ खोला जावेगा तो मोक्षमार्ग की प्राप्ति न होकर नरक-निगोदमार्ग की प्राप्ति अवश्य हो जावेगी।

व्यवहार व निश्चय दोनो अपने-अपने विषय का यथार्थ प्रतिपादन करते है। दोनो की सापेक्षता से ही वस्तुस्वरूप की सिद्धि होती है। जैसे निश्चयनय की अपेक्षा से वस्तु नित्य है, व्यवहारनय से वस्तु अनित्य है, विशेष है। वस्तुस्वरूप न केवल नित्य ही है और न केवल अनित्य है, न केवल सामान्य ही है और न केवल विशेष ही है। किन्तु कथञ्चित् नित्य है, कथञ्चित् अनित्य है, कथञ्चित् सामान्य है, कथञ्चित् विशेष है अथवा वस्तुस्वरूप नित्यानित्यात्मक है। सामान्यविशेषात्मक है।

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट मे श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है—'जितने वचनपन्थ है, उतने वास्तव मे नयवाद है और जितने नयवाद है, उतने ही परसमय है। परसमयो (मिथ्यामतियो) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षारहित) कहा जाने से वास्तव मे मिथ्या है और जैनो का वचन कथञ्चित् अपेक्षासहित कहा जाने मे वास्तव मे सम्यक् है।'

दिगम्बर जैनागम मे जो व्यवहारनय मे कथन है वह अवास्तविक नही है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वह कथन वास्तविक है। इसप्रकार दि० जैनागम का अर्थ करने से मोक्षमार्ग की सिद्धि होगी।[1]

—जै स 12-12-57/VI/ब प्र. स पटना

उपचरित स्वभाव का ग्राहक व्यवहार नय भी समीचीन है

शंका—क्या व्यवहार-उपचार का वर्णन करने वाला मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—आलापपद्धति स्वभावअधिकार मे द्रव्य के स्वभाव का कथन **श्री देवसेनाचार्य** ने निम्नप्रकार किया है—

१ (अ) व्यवहार अपने अर्थ मे उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय। श्रीयुत् प. फूलचन्द्रजी सि. शास्त्री [काशी] [वर्णी अभिनंदन ग्रंथ पृ. ३५४-५५]

(ब) 'श्रीमद् राजचन्द्र' मे लिखा है—नयनिश्चय एकांत थी, आमां नथी कहेल। एकांते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥ आत्मसिद्धि पृ ६२१

अर्थ—शास्त्रों मे एकांत से निश्चयनय को नहीं कहा, अथवा एकांत से व्यवहार नय को भी नहीं कहा। दोनों ही जहाँ-जहाँ जिस जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं।

'स्वभावा कथ्यन्ते–अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभाव , नित्यस्वभाव , अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः भेदस्वभावः, अभेदस्वभाव , भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभाव', परमस्वभाव', एते द्रव्याणामेकादश सामान्यस्वभावाः, चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभाव', अमूर्तस्वभावः, एकप्रदेशस्वभाव', अनेकप्रदेशस्वभाव. विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावः, अशुद्धस्वभाव , उपचरितस्वभाव एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावा ॥२८॥ जीव पुद्गलयोरेकविंशति ॥२९॥'

अर्थ—स्वभाव का कथन किया जाता है—अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, परमस्वभाव ये द्रव्यों के ११ सामान्य स्वभाव है। चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव, उपचरितस्वभाव, ये द्रव्यो के दस विशेषस्वभाव है। जीव और पुद्गल मे उपर्युक्त २१-२१ (११ सामान्य और १० विशेष स्वभाव पाये जाते है।

इन सूत्रो से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'उपचार' भी द्रव्य का स्वभाव है। द्रव्य के स्वभाव का कथन करनेवाला नय मिथ्या नही हो सकता है।

श्री देवसेनाचार्य उपचरितस्वभाव की व्युत्पत्ति तथा भेद कहते है—

'स्वभावस्याप्यन्यत्रोपचारादुपचरितस्वभाव ॥१२३॥ स द्वेधा कर्मज-स्वाभाविकभेदात् । यथा जीवस्य मूर्तत्वमचेतनत्वं । यथा सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥१२४॥

अर्थ—स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना **उपचरितस्वभाव है** ॥१२३॥ वह उपचरितस्वभाव कर्मज **और स्वाभाविक के भेद मे दो प्रकार का है।** जैसे जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मजउपचरितस्वभाव है। तथा **जैसे**— सिद्ध आत्माओ के पर का जानपना तथा पर का दर्शकत्व स्वाभाविक उपचरितस्वभाव है ॥१२४॥

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि परपदार्थों को जानना व देखना उपचरित स्वभाव है। समस्त परपदार्थों को जाने विना सर्वज्ञ हो नही सकता, अत सर्वज्ञता उपचरितस्वभाव है।

इसीप्रकार अर्थात् उपचरितस्वभाव के कारण संसारीजीव मूर्तिक है, कहा भी है—

'संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥' गो. जी. गा ५६३

कर्म-बध के कारण ससारीजीव मूर्तिक है। कर्मबध से मुक्त सिद्धजीव अमूर्तिक है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने भी कहा है—

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
नह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥ [तत्त्वार्थसार, बंध अधिकार]

आत्मा (जीव) मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाती है, किन्तु अमूर्तिक आकाश में मदकारिणी नही होती है।

यदि उपचरित स्वभाव और अनुपचरितस्वभाव इन दोनो मे से किसी एक का एकात पक्ष लिया जावे अर्थात् प्रतिपक्षी को स्वीकार न किया जाय तो ऐसा एकान्तपक्ष ग्रहण करने से क्या दोष आता है इसका कथन **श्री देवसेनाचार्य** करते हैं—

'उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमितपक्षत्वात् ॥१४८॥

तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात् ॥१४९॥' [आलापपद्धति]

उपचरितस्वभाव के एकान्तपक्ष मे आत्मज्ञता सम्भव नही है क्योकि उपचरितस्वभाव का परज्ञान नियत-पक्ष है। आत्मज्ञता तो अनुपचरितस्वभाव है, किन्तु उपचरितएकान्तपक्ष मे अनुपचरित का निषेध है। उसीप्रकार अनुपचरित एकान्तपक्ष में आत्मा के परज्ञता अर्थात् सर्वज्ञता का अभाव हो जायगा। सर्वज्ञता का अभाव इष्ट नही है अत. उपचरित स्वभाव को स्वीकार करना होगा और अनुपचरित एकान्तपक्ष का निषेध करना होगा।

उपचरितस्वभाव किस नय का विषय है इसके लिये **श्री देवसेनाचार्य** निम्नसूत्र कहते है—

'असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः ॥१७६॥' [आलापपद्धति]

उपचरितस्वभाव असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। जो नय द्रव्यगतस्वभाव को विषय करता है वह नय मिथ्या नही हो सकता है। सम्यक्नय से तो वस्तु का यथार्थज्ञान होता है। कहा भी है—

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम्।
तथा ज्ञानेन संज्ञाते नयोऽपि हि तथाविध ॥११॥ [आलापपद्धति]

द्रव्यो का जिसप्रकार का स्वरूप है, वह लोक मे व्यवस्थित है। ज्ञान से द्रव्यो का स्वरूप उसीप्रकार जाना जाता है, नय भी उसीप्रकार जानता है।

सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, कोई भी नय हो यदि वह सापेक्ष है तो सम्यक् है, यदि निरपेक्ष है तो मिथ्या है।

दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिकाहिताः।
स्वार्थिकास्तद्विपर्यस्ता नि कलंकास्तथा यतः॥ [नयचक्र पृ० ६३]

दुर्नय एकांत को लिये हुए भाव सम्यगर्थवाले नही होते अर्थात् मिथ्यार्थवाले होते है। जो नय एकान्त से रहित भाववाले हैं अर्थात् सापेक्ष है वे समीचीन (सम्यक्) अर्थ को बतलाने वाले हैं।

व्यवहार-निरपेक्ष निश्चयनय सम्यगर्थवाला नही है अर्थात मिथ्यार्थवाला है। निश्चय-सापेक्ष व्यवहारनय सम्यगर्थवाला है मिथ्याअर्थवाला नही है।

—**जै. ग.** 26-4-73/VII/.......

अनेकान्तरूपी चाबी के द्वारा जैन शास्त्रों का अर्थ खोलना चाहिए

शंका—क्या व्यवहारनय के कथन द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं करना चाहिए ?

समाधान—सर्वप्रथम 'नय' के स्वरूप व फल पर विचार किया जाता है। **नय का स्वरूप** इसप्रकार है—'उच्चारण किये गये अर्थपद और उसमे किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं इसलिए वे नय कहलाते हैं।' **ध. खं. पु. १ पृ. १०**

नय का फल—'यह नय, पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने मे निमित्त होने से मोक्ष का कारण है। इसलिए नय का कथन किया जाता है।' **ज. ध. पु. १ पृ. २११। 'प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥'**

मो. शा. सू. ६ अ. १ अर्थात् सम्यग्दर्शनआदि रत्नत्रय **और** जीवादितत्त्वों का ज्ञान प्रमाण **और नय से होता है।** इस सूत्र की व्याख्या करते हुए **ज. ध. पु. ९ पृ. १६४** पर लिखा है—'नयवाक्यों' से उत्पन्न बोध प्रमाण ही है, नय नहीं है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'उन दोनों प्रमाण-नय से वस्तु का ज्ञान होता है' ऐसा कहा जाता है।' **श्री ज. ध. पु. १ पृ २०९** पर भी कहा है 'जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नयवाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है, यह देखकर तत्त्वार्थ सूत्र में **'प्रमाणनयैरधिगमः'** इसप्रकार प्रतिपादन किया है।'

उक्त आगमप्रमाणों का साराश यह है कि 'प्रत्यक्ष-परोक्षआदि प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण के द्वारा तथा निश्चय, व्यवहार आदि नयों में से प्रत्येक सुनय के द्वारा वस्तु का यथार्थज्ञान होकर अज्ञान की निवृत्ति होती है।' इन आगमप्रमाणों में यह नहीं कहा गया कि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा या निश्चयनय के द्वारा ही वस्तु का बोध (अधिगम-ज्ञान) होगा, परोक्षआदि प्रमाणों के द्वारा या व्यवहारआदि नयों के द्वारा वस्तु का अधिगम (निर्णय) नहीं होगा। अतः प्रत्येक प्रमाण के द्वारा अथवा प्रत्येकनय के द्वारा वस्तु का निर्णय हो सकता है।

वस्तु नित्यानित्यात्मक है। जिसप्रकार निश्चयनय नित्यअंश के कथन के द्वारा नित्यात्मक वस्तु का निर्णय कराता है उसीप्रकार व्यवहारनय अनित्य-अंश के कथन के द्वारा नित्यानित्यात्मक वस्तु का निर्णय कराता है। यदि व्यवहारनय द्वारा कथित अनित्य-अंश के द्वारा वस्तु का यथार्थनिर्णय न होता तो 'अनित्यभावना' द्वारा संवर नहीं हो सकता था। **मो शा. अ ९ सू. १, २ व ७** के द्वारा अनित्यभावना से संवर कहा है। वस्तुस्वरूप का अनिर्णय तो मिथ्यात्व है उसके द्वारा संवर असम्भव है।

जो मात्र एक (निश्चयनय) नय के पक्षपाती हैं उनके लिये **समयसार कलश ७०-८९** के द्वारा उपदेश दिया गया है इसमें **कलश नं० ८३** इसप्रकार है—

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात स्तस्यास्तिनित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

अर्थ—जीव नित्य है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव नित्य नहीं है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है, इस-प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरंतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

अतः किसी एक नय के पक्षपात् को छोड़कर 'स्यात्' (कथंचित्) पद के द्वारा निश्चय व व्यवहारनय के विरोध को दूर कर जैनागम का अर्थ खोलना चाहिये।

दुर्निवारनयानीक विरोध-ध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनीसिद्धांतपद्धतिः ॥२॥ (पंचास्तिकाय तत्त्व प्रदीपिका)

अर्थ—जिनेन्द्र से आई हुई सिद्धांतपद्धति जयवन्त हो। कैसी है सिद्धांतपद्धति ? जो नयसमूह के दुर्निवार विरोध को दूर करने के लिये औषधि है और 'स्यात्' पद जिसका प्राण है।

अतः अनेकान्तरूपी चाबी (Master Key) के द्वारा जैन शास्त्रों का अर्थ खोलना चाहिये, मात्र निश्चयनयरूपी चाबी के द्वारा जैनशास्त्रों का अर्थ खोलने से अथवा वस्तु निर्णय करने से एकान्तमिथ्यात्व की उत्पत्ति होगी जिससे अनन्तसंसार में भ्रमण करना पड़ेगा।

अत 'स्यात्' पद सापेक्ष व्यवहारनय से भी वस्तु का निर्णय हो सकता है। किन्तु व्यवहारनय का एकान्त-पक्ष भी ग्रहण नही करना चाहिये।

—जै. सं 19-12-57/V-VI/ रतनकुमार जैन

१. दुनिया के मिथ्या एकान्त मिलकर अनेकान्त को जन्म नहीं देते
२ निरपेक्ष नयों का समूह सम्यगनेकान्त नहीं है

शंका—जैनसन्देश १-१-७० के सम्पादकीय में पं० दरबारीलालजी कोठिया का मत है कि दुनिया के मिथ्याएकान्त मिलकर अनेकान्त को जन्म देते है। इसपर आचार्यों का मत क्या है ?

समाधान—इस सम्बन्ध मे **श्री समन्तभद्राचार्य** विरचित **आप्तमीमासा** का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया जाता है, जिससे यह विषय स्पष्ट हो जायगा—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

श्री प० जयचन्दजी छाबड़ा कृत अर्थ— इहा अन्यवादी तर्क करै जो तुमने वस्तु का स्वरूप नय और उपनय का एकान्त का समूहकू द्रव्यकरि कह्या, सो नयन का एकान्तकू तौ तुम मिथ्या कहते आवो हो, सो मिथ्या नयनका समूह भी मिथ्या ही होय ? ताकू आचार्य कहे हैं—**जो मिथ्या नयनका समूह है सो तौ मिथ्या ही है। बहुरि हमारे जैनीनि के नयन के समूह हैं सो मिथ्या नाहीं।** जातै ऐसा कह्या है—जे परस्पर अपेक्षा रहित नय है, ते तो मिथ्या है, बहुरि जे परस्पर अपेक्षासहित नय हैं, ते वस्तुस्वरूप हैं, ते अर्थ-क्रिया कू करै ऐसा वस्तुकू साधै हैं। निरपेक्षपणा है, यो तो प्रतिपक्षीधर्म का सर्वथा निराकरण स्वरूप है। बहुरि प्रतिपक्षीधर्म तै उपेक्षा कहिये उदासीनता सो सापेक्षपणा है। उपेक्षा न होय अर प्रतिपक्षी धर्मकूं मुख्य करें तो प्रमाण-नय मे विशेष न ठहरे है। प्रमाण-नय और दुर्नय का ऐसा ही लक्षण बणै है। दोउ धर्म का समान ग्रहण सो तो प्रमाण, बहुरि प्रतिपक्षी धर्म ते उपेक्षा सो सुनय, बहुरि प्रतिपक्षी धर्म का सर्वथा त्याग सो दुर्नय ऐसैं सर्वका उपसहार सक्षेप से जानना ॥१०८॥

श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकृत व्याख्या—यहाँ अनेकान्त के प्रतिपक्षी द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तो को मिथ्या बतलाया जाता है तब नयों और उपनयोरूप एकान्तो का समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तुतत्त्व है वह भी मिथ्या ठहरता है, क्योकि मिथ्याओ का समूह मिथ्या ही होता है। इस पर ग्रन्थकार महोदय कहते है कि यह आपत्ति ठीक नही है, क्योंकि हमारे यहा कोई वस्तु मिथ्या एकान्त के रूप मे नही है। जब वस्तु का एकधर्म दूसरे धर्म की अपेक्षा नही रखता, उसका तिरस्कार कर देता है—तो वह मिथ्या कहा जाता है और जब वह उसकी अपेक्षा रखता है, उसका तिरस्कार नही करता, तो वह सम्यक् माना जाता है। **वास्तव में वस्तु निरपेक्ष एकान्त नहीं है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं, किन्तु सापेक्षएकान्त है और सापेक्षएकान्तों के समूह का नाम ही अनेकान्त है, तब उसे और तदात्मकवस्तु को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता।**

श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया इससे पूर्ण सहमत होगे कि मिथ्यानयो का समूह सम्यगनेकान्त नही है, किन्तु सुनयो का समूह ही सम्यगनेकान्त है, क्योकि **कोठियाजी स्वयं श्री जुगलकिशोरजी कृत** व्याख्या के प्रकाशक है।

श्री पूज्यपादाचार्य ने भी कहा है—

'त एते गुणप्रधानतया परस्परतंत्राः सम्यग्दर्शनहेतव पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यास्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमाना पटादिसंज्ञा स्वतन्त्राश्चासमर्थाः ।'

अर्थ—ये सब नय गौण-मुख्यरूप से एक दूसरे की अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शन के हेतु है। जिसप्रकार पुरुष की अर्थ क्रिया और साधनो की सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदि पटादिक सज्ञा को प्राप्त होते है और स्वतन्त्र रहने पर (पटरूप) कार्यकारी नही होते है, उसीप्रकार ये नय समझने चाहिए।

तन्तु और पट के दृष्टान्त द्वारा **श्री पूज्यपादाचार्य** ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिसप्रकार निरपेक्ष तन्तुओ का समूह पटरूप कार्य को करने मे असमर्थ है। उसीप्रकार निरपेक्षनयो का समूह अर्थात् मिथ्यानयो का समूह भी अनेकान्तरूप वस्तुस्वरूप को सिद्ध करने मे असमर्थ होने से सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नही कर सकता है। तन्तुओ का समूह परस्पर एक दूसरे का सापेक्ष ही कर ही पटरूप कार्य को करने मे समर्थ होता है। उसीप्रकार सापेक्षनयो का समूह ही अनेकान्तरूप वस्तुस्वरूप को सिद्ध करने मे समर्थ होने से सम्यग्दर्शन का हेतु है।

एकान्तवादियो के निरपेक्ष (मिथ्या) नयो का समूह सम्यगनेकान्त नही होता है, किन्तु सापेक्ष (सम्यक्) नयो का समूह ही सम्यगनेकान्त होता है।

—जै. ग 19-3-70/IX-X/. . ....

यदि द्रव्यदृष्टि में मरण नहीं तो 'जीओ और जीने दो' का उपदेश क्यो ?

शंका—द्रव्यदृष्टि से एक व्यक्ति न तो दूसरे को मार सकता है और न बचा सकता है, तब 'जीओ और जीने दो' का उपदेश क्यो दिया गया ?

समाधान—पदार्थ मामान्य-विशेषात्मक है। **श्री माणिक्यनन्दि आचार्य** ने कहा भी है—

'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय ॥१॥'

सूत्र मे 'सामान्य-विशेषात्मा' ऐसा विशेषण पदार्थ के लिए दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ न केवल सामान्यरूप है, न केवल विशेषरूप है, और न स्वतन्त्र उदयरूप है, अपितु उभयात्मक है।

'अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकार परिहारवाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च' ॥२॥

वस्तु सामान्य-विशेष धर्मवाली है, क्योकि वह अनुवृत्तप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्यय की विषय है, तथा पूर्वाकार का परिहार उत्तराकार की प्राप्ति और स्थितिलक्षण परिणाम के साथ उसमे अर्थक्रिया पाई जाती है।

सामान्यदृष्टि की मुख्यता मे वस्तु अनुवृत्तप्रत्यय की विषय होती है तथा स्थिति लक्षणवाली होती है, उसमे सदा एकरूपता रहती है, व्यावृत्तप्रत्यय पूर्वाकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति तथा अनेकरूपता गौण रहती हैं। इस सामान्यदृष्टि को द्रव्यदृष्टि भी कहते है और विशेषदृष्टि को पर्यायदृष्टि कहते है। चूंकि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इसीलिये भगवान ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय कहे है। वस्तु का कथन दोनो नयो के आधीन होता है, किसी एक नय के आधीन नही होता है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय** मे कहा भी है—

'द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता।'

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दिव्यध्वनि में उपदेश एकनय के आधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है।

'द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौद्रव्यार्थिक। द्रव्यम् सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकाः।'
[स. सि. १/६ व ३३]

द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है, इनको विषय कराने वाला द्रव्यार्थिकनय है।

'पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक। पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिक [स. सि. १/६ व ३३]

पर्याय जिस नय का प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिकनय है। पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्त है। इसको विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय है।

इन उपर्युक्त आर्षप्रमाणों से यह सिद्ध है कि द्रव्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यार्थिकनय का विषय सामान्य है, पर्याय नहीं है, क्योंकि पर्यायें पर्यायार्थिकनय का विषय है। अत द्रव्यदृष्टि मे न बध है, न मोक्ष है, न मोक्षमार्ग है, न मनुष्य है, न तिर्यंच है, न देव है, न नारकी है, न जन्म है, न मरण है, न जीव है, न प्राणी है, क्योंकि ये सब विशेष है, पर्याय है, व्यावृत्तिरूप है।

जब जीवन, मरण द्रव्यदृष्टि का विषय नहीं है तब द्रव्यदृष्टि मे जीओ और जीने दो यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है। जैसे रसनाइंद्रिय का विषय खट्टा, मीठा आदि रस की पर्यायें है, किन्तु काला, नीला आदि वर्णगुण की पर्यायें रसनाइन्द्रिय का विषय नहीं हैं, चक्षुइंद्रिय का विषय है। नेत्रइंद्रिय से रहित रसनाइन्द्रिय से यह प्रश्न करना कि अमुक पदार्थ किस वर्ण का है, एक मूर्खता है।

पर्यायदृष्टिनिरपेक्ष मात्र द्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। **प्रवचनसार** मे कहा भी है—

'नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति।'

'मैं सर्वथा नारकआदि पर्यायरूप नहीं हूँ' ऐसा मानने वाले परसमय मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥ [प्रवचनसार]

लोक मे परिणाम (पर्याय) के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं है। द्रव्य, गुण व पर्याय मे रहनेवाला पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप अस्तितत्त्व से बना हुआ है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—**'न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालंबते वस्तुनो द्रव्यादिभि· परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्नि परिणामस्य खरश्रृङ्गकल्पत्वात्।'** निश्चय से पर्याय के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती। पर्याय से भिन्न वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि पर्यायरहित वस्तु गधे के सींग के समान है।

श्री देवसेनाचार्य ने भी कहा है—**'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।'** विशेषरहित सामान्य निश्चय से गधे के सीग के समान है। इसीलिये **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा है कि द्रव्य और पर्याय इन दोनो का अनन्यपना है।

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ।। पंचास्तिकाय गाथा १२

पर्याय (विशेष) से रहित द्रव्य (सामान्य) और द्रव्य (सामान्य) से रहित पर्याय (विशेष) नही होती, क्योकि दोनो का अनन्यपना है।

— *जै. ग.* 12-12-74/VI/ *ग. म. सोनी*

अशुद्धतर नय का अभिप्राय

शंका—धवल पुस्तक १ पर सम्यक्त्व के तीन लक्षण दिये हैं, उनमें अशुद्धनय से क्या तात्पर्य है ?

समाधान—ध. पु. १ पृ १५१ पर (१) शुद्धनय के आश्रय से सम्यक्त्व का लक्षण प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रकटता है, (२) तत्त्वार्थ अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह लक्षण अशुद्धनय की अपेक्षा से है, (३) अशुद्धतरनय की अपेक्षा तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते है।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये जीव के परिणाम हैं। सम्यग्दर्शन भी जीव के श्रद्धागुण की पर्याय है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यलक्षण और सम्यग्दर्शनलक्षण एकद्रव्य के आश्रय होने से सद्भूतव्यवहार-नय का विषय है, क्योकि **'तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहार'** ऐसा सूत्रवाक्य है। **ध. पु. १ पृ १५१** पर असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा से सद्भूतव्यवहारनय को शुद्धनय कहा गया है। निश्चयनय की अपेक्षा लक्ष्य-लक्षण ऐसा ही सम्भव नही है, क्योकि 'निश्चयनयोऽभेद विषय' ऐसा सूत्र है। यहाँ पर शुद्धनय से प्रयोजन निश्चयनय से नही हो सकता है।

आप्त, आगम, पदार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, यह लक्षण असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है, क्योकि आप्त, आगम, पदार्थ श्रद्धेय और जीव की पर्याय श्रद्धान, ये दोनो भिन्नवस्तु हैं। **'भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः'** ऐसा आर्षवाक्य है। सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से असद्भूतव्यवहारनय को अशुद्ध कहा गया है।

यद्यपि तत्त्वरुचि लक्षण भी असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है, किन्तु श्रद्धा और रुचि शब्दो के अर्थ-भेद के कारण 'तत्त्वरुचि' लक्षण को अशुद्धतरनय कहा गया है। श्रद्धान का अर्थ है विपरीता-भिनिवेश से रहित होना। इच्छा प्रकट करना रुचि है। कहा भी है—

'सद्दहदि य श्रद्दधाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। रोचेदि य रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिकरोति।'

रुचि की अपेक्षा श्रद्धा शब्द सम्यग्दर्शन के अतिनिकट है, अत तत्त्वश्रद्धानलक्षण की अपेक्षा तत्त्वरुचिलक्षण को अशुद्धतरनय से कहा गया है।

नयशास्त्र के ज्ञान बिना आगम का यथार्थबोध नही हो सकता है।

—*जै. ग.* 10-12-70/VI/ *ट. ला. जैन*

'सफेद पत्थर', यह सद्भूत व्यवहार का उदाहरण है

शंका—सफेद पत्थर में वर्णगुण की सफेद पर्याय को 'बृहद्-द्रव्य-स्वभाव-प्रकाशक नयचक्र' में सद्भूत-व्यवहार का विषय कैसे कहा ? स्पष्ट करें ?

समाधान—अशुद्धद्रव्यों में गुण-गुणी या पर्याय-पर्यायी को भेदरूप में ग्रहण करना उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय का विषय है। शुद्धद्रव्यों में गुण-गुणी या पर्याय-पर्यायी को भेदरूप में ग्रहण करना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। बन्धरूप से प्राप्त एकक्षेत्रावगाही दो द्रव्यों के सम्बन्ध को ग्रहण करना अनुप-चरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। पृथग्भूत दो द्रव्यों के सम्बन्ध को ग्रहण करना उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। सफेद पत्थर में पत्थर के वर्णगुण की सफेद पर्याय से प्रयोजन होने के कारण यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। वर्णगुण की सफेद पर्याय और पत्थर के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं है। यदि भिन्न प्रदेश होते तो असद्भूतव्यवहार का विषय होता।

—**पत्र** 16-11-79/**ज. ला. जैन, भीण्डर**

संश्लेष सम्बन्ध किस नय का विषय है ?

शंका—आलापपद्धति **सूत्र** २१३ में **संश्लेषसम्बन्ध को उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय कहा गया है, किन्तु सूत्र २२८ में सश्लेषसम्बन्ध को अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा गया है, सो कैसे ?**

समाधान—**आलापपद्धति** में नयों का कथन सिद्धांत की अपेक्षा और अध्यात्म की अपेक्षा दो प्रकार से किया गया है। **सूत्र** २१३ में सिद्धांत की अपेक्षा से कथन है। सिद्धान्त में अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय नहीं है।

सूत्र २२८ में अध्यात्म की अपेक्षा से कथन है। अध्यात्म में असद्भूतव्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित ऐसे दो भेद हैं। इसप्रकार विवक्षाभेद से दोनों सूत्रों के कथन में अन्तर हो गया है। दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा से यथार्थ है।

—**जैं**. ग. 22-4-76/VIII/ **जे. एल., जैन**

आगमनय व अध्यात्मनय की तरह प्रमाण के दो भेद नहीं हैं

शंका—जैसे अध्यात्मभाषा से नय कहे जाते हैं तथा आगम भाषा (आगम-पद्धति) से भी; वैसे ही क्या प्रमाण के भी दो भेद किये जा सकते हैं या नहीं ? शंका का अभिप्राय यह है कि आगमप्रमाण तथा अध्यात्मप्रमाण; ऐसे दो भेद भी किये जा सकते हैं या नहीं ? कृपया स्पष्ट करें कि धवल कौनसा ग्रन्थ है ?

समाधान—आगमप्रमाण तथा अध्यात्मप्रमाण ऐसे प्रमाण के दो भेद मेरे देखने में नहीं आये। धवल भी अध्यात्मग्रन्थ है, ऐसा धवल, **पुस्तक संख्या** १३ में कहा है।

— **पत्र** 28-12-78/**ज. ला. जैन, भीण्डर**

नय–निक्षेप में अन्तर

शंका—निक्षेप और नय में क्या अन्तर है ?

समाधान—नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं (**धवल पु. १ पृ १७**)। अर्थात् निक्षेप विषय है और नय विषयी है, इसप्रकार इन दोनों में भेद है।

—**जैं**. ग. 28-11-63/IX/ **र. ला. जैन, मेरठ**

नाम निक्षेप की परिभाषा [मतद्वय]

शंका—नाम निक्षेप की सही परिभाषा क्या समझें ?

समाधान—नाम-निक्षेप की परिभाषा के विषय मे आचार्यों मे मतभेद है। **श्री वीरसेनाचार्य** ने नामनिक्षेप की परिभाषा इसप्रकार की है—'अन्य निमित्तो की अपेक्षारहित किसी की 'मगल' ऐसी सज्ञा करने को नाममंगल कहते है। नामनिक्षेप मे सज्ञा के चार निमित्त होते है, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया (पृ० १७)। वाच्यार्थ की अपेक्षारहित 'मगल' यह शब्द नाम मगल है (पृ० १९)। (धवल पु० १) **श्री पूज्यपादाचार्य** ने नामनिक्षेप की परिभाषा इसप्रकार की है—'सज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु मे व्यवहार के लिये अपनी इच्छा से की गई सज्ञा को नाम कहते है।' (**स. सि. अ. १ सूत्र ५**)। इन दोनो आचार्यों को गुरु परम्परा से भिन्न-भिन्न उपदेश प्राप्त हुए थे अत उन उपदेशो के अनुसार नाम-निक्षेप की भिन्न-भिन्न परिभाषा हो गई। केवली व श्रुतकेवली का वर्तमान में अभाव होने के कारण यह नही कहा जा सकता कि कौनसा उपदेश यथार्थ है। (**ध. पु. १. पृ** २२२)।

शंका—यदि किसी मनुष्य का नाम 'शेरसिंह' रखा जावे तो क्या यह नामनिक्षेप नहीं है ? यदि नहीं, तो क्या है ?

समाधान—**श्री पूज्यपादाचार्य** के मतानुसार मनुष्य का नाम 'शेरसिह' यह नाम निक्षेप है, क्योकि व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई सज्ञा है। **श्री वीरसेनाचार्य** के मतानुसार यदि उस मनुष्य मे 'सिह' जैसी क्रिया पाई जाती है तो उस मनुष्य की 'शेरसिंह' सज्ञा, क्रिया निमित्तक होने से, नामनिक्षेप हो सकती है। यदि उस मनुष्य मे सिह जैसे गुण या क्रिया नही हैं तो वह नामनिक्षेप की परिभाषा मे नही आता, मात्र लोक व्यवहार है।

—**जै. ग.** 18-6-64/IX/**र. ला. जैन, मेरठ**

स्थापनानिक्षेप किस नय का विषय है ?

शंका—स्थापनानिक्षेप कौनसे नय का विषय है ? और उस नय का स्वरूप क्या है ?

समाधान—स्थापनानिक्षेप नैगमसग्रह और व्यवहार इन तीनो नयो का विषय है, क्योकि इन तीनो द्रव्यार्थिकनयो के छहो निक्षेप विषय है। इस बात को स्वीकार करने मे कोई विरोध नही आता। कहा भी है—**'दव्वट्ठियाणं तिण्णमेदेसिं णयाणं विसए छण्णं णिक्खेवणमत्थित्तं पडि विरोहाभावादो।' ध. खं. पु. १४ पृ. ५२ ॥** इन तीनो नयो का लक्षण स सि. अ १, सू. ३३ की टीका अनुसार इसप्रकार है—**'अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रह। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहार।'**

अर्थ—अनिष्पन्नअर्थ मे सकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाला नय नैगम है। भेदसहित सब पर्यायो को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करनेवाला नय सग्रहनय है। संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहारनय है।

—**जै. सं.** 6-6-57/... / **जैन स्वाध्याय मण्डल, कुचामन**

स्थापना निक्षेप

शंका—चेतन की चेतन में स्थापना होती है या नहीं ? नाटक में जो पार्ट करते हैं वह कौनसा निक्षेप है?

समाधान—चेतन तो गुण है। चेतनगुण की चेतनगुण मे स्थापना से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? अर्थात् कुछ भी नही। नाटक मे जो राजा का भेष धारण किया जाता है वह एक अवस्था की स्थापना है। इसका स्थापना निक्षेप मे ही अन्तर्भाव होता है।

—जै. ग 16-5-63/IX/ प्रो **मनोहरलाल जैन**

अन्य प्रतिमा के सामने अन्य भगवान की स्थापना किस निक्षेप से ?

शंका—साक्षात् प्रतिमा को भगवान माना जाता है सो स्थापना निक्षेपसे और पार्श्वनाथ की प्रतिमा के सामने शांतिनाथ की स्थापना, आह्वानन किया जाता है सो कौन से निक्षेप से, आज ये भगवान मोक्ष गये या जन्मे सो कौन से निक्षेप से ?

समाधान—**पार्श्वनाथ** की प्रतिमा के सामने **शांतिनाथभगवान** का आह्वानन आदि किया जाता है सो भी स्थापनानिक्षेप है। पंडितवर **सदासुखदासजी** ने **श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका** मे लिखा है 'एक तीर्थंकर मे एक का भी संकल्प और चौबीस का भी संकल्प संभव है। अर प्रतिमा के चिह्न है सो प्रतिमा के चरणचौकी मे नामादिक व्यवहार के अर्थि है अर एक अरहन्त परमात्मा स्वरूपकरि एक रूप है अर नामादिक करि अनेक स्वरूप है। सत्यार्थ ज्ञानस्वभाव तथा रत्नत्रयरूपकरि वीतरागभावकरि पंचपरमेष्ठीरूप एक ही प्रतिमा जाननी।' विशेष के लिये **पं० सदासुखदासजी** की टीका सहित **रत्नकरण्ड श्रावकाचार पृष्ठ ३१६-३२१ 'सस्ती ग्रन्थमाला'** देखना चाहिए।

'आज ये भगवान मोक्ष गये या जन्मे' ऐसा कथन नैगमनय की अपेक्षा से है अथवा स्थापनानिक्षेप की अपेक्षा से है, क्योंकि भूतकाल की स्थापना वर्तमानकाल मे की जाती है।

—जै. स 15-8-57/.. /**श्रीमती कपूरीदेवी**

भावी नो आगमद्रव्य निक्षेप विषयक स्वरूप-स्पष्टीकरण

शंका—धवल पु० ९ पृ० ७ पर भावी नोआगमद्रव्यनिक्षेप का लक्षण इसप्रकार किया गया है—'भविष्य-काल में जिनपर्याय से परिणमन करनेवाला भावीद्रव्यजिन है।' इसके साथ-साथ भविष्यकाल मे जिनप्राभृत को जाननेवाले जीव के नोआगमभावीजिनत्व का निषेध इसलिये किया है कि आगम संस्कार पर्याय का आधार होने से अतीत-अनागत व वर्तमान आगमद्रव्य के नो आगमद्रव्यत्व का विरोध है, किन्तु ध. पु. ३ पृ. १५ पर लिखा है—'जो जीव भविष्यकाल में अनन्तविषयक शास्त्र को जानेगा उसे भावी नोआगमद्रव्यानन्त कहते हैं।' एक ही आचार्य के वचनो में भावी नोआगम-द्रव्य-निक्षेप के लक्षण में परस्पर विरोध क्यो है ?

समाधान—परस्पर विरोध नहीं है, विवक्षा भेद से दोनो लक्षणो मे भेद हो गया है। **धवल पु० ९ पृ० ७** पर 'जिन' की अपेक्षा से भावी नो आगमद्रव्य निक्षेप का लक्षण किया गया है। 'जिन' जीव द्रव्य की पर्याय विशेष है। अतः जीव जिनपर्याय से परिणमन कर सकता है, किन्तु संख्या न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। जिनो की संख्या हीनअधिक हो सकती है, इसीलिए जघन्य, उत्कृष्ट व मध्यम तीनप्रकार की संख्या का कथन किया गया है। संख्या परसापेक्ष धर्म है। अनन्त भी संख्या है। अतः अनन्तसंख्या जीवद्रव्य नही है, न जीवद्रव्य की पर्याय है और

न गुण है। सख्या श्रुतज्ञान का विषय होने से अनन्तभावीनोआगमद्रव्यनिक्षेप का लक्षण श्रुतज्ञान की अपेक्षा से किया गया है। 'जिन' जीवद्रव्य की पर्याय है अत जिनभावी नो आगमद्रव्यनिक्षेप का लक्षण श्रुतज्ञान की अपेक्षा से न करके जीव की पर्याय की अपेक्षा से किया गया है।

—जै ग 6-5-76/VIII/ **ब. ला. जैन, भीण्डर**

अर्थ एवं परिभाषा

आगम में 'अन्तर' शब्द का अर्थ

शंका— **प्रकारान्तर, भवान्तर, अर्थान्तर, समयान्तर, आत्मान्तर, पदार्थान्तर इसप्रकार के अनेक शब्द आगम में पाये जाते हैं। यहां पर 'अन्तर' शब्द किस अर्थ का सूचक है ?**

समाधान—यहाँ पर 'अन्तर' शब्द का अभिप्राय 'भिन्न, दूसरा या अन्य' से है। जैसे 'प्रकारान्तर' अर्थात् विवक्षित प्रकार से भिन्न अन्यप्रकार से। 'भवान्तर' विवक्षित भवके अतिरिक्त अन्यभव या दूसराभव। 'अर्थान्तर' विवक्षितअर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ। 'समयान्तर' विवक्षितसमय से दूसरा समय। इसप्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिए।

—जै. ग. 16-7-70/**रो ला मि**

'अक्षर' से अभिप्राय

शंका—**सूक्ष्मनिगोदिया के अक्षर के अनन्तवेंभाग ज्ञान होना बतलाया है। यह अक्षर कौनसा है ? क्या प्राचीन अक्षर या कोई दूसरा अक्षर या अक्षर का अर्थ केवलज्ञान भी हो सकता है ?**

समाधान—ध० पु० १३ पृ० २६२ पर इस सम्बन्ध मे निम्नप्रकार कथन है—

'**सूक्ष्मनिगोद** लब्ध्यपर्याप्तक के जो जघन्यज्ञान होता है उसका नाम 'लब्ध्यक्षर' है। इसका प्रमाण केवलज्ञान का अनन्तवाभाग है। यह ज्ञान निरावरण है, क्योकि अक्षर के अनन्तवेंभाग नित्य उद्घाटित रहता है, ऐसा आगमवचन है, अथवा इसके आवृत्त होने पर जीव के अभाव का प्रसग आता है।'

इसप्रकार **श्री वीरसेनाचार्य** ने 'अक्षर' शब्द से केवलज्ञान को ग्रहण किया है, क्योकि केवलज्ञान मे वृद्धि और हानि नही होती, इसलिए केवलज्ञान को अक्षर कहा है।

—जै ग. 8-2-68/IX/ **ब ला. सेठी**

अणु-परमाणु; प्रमेय-प्रमाण में अन्तर

शंका—**प्रमेय और प्रमाण में क्या अन्तर है ? ऐसे ही अणु और परमाणु में क्या अन्तर है ?**

समाधान—प्रमाण का जो विषय है वह प्रमेय है। पदार्थ प्रमेय है। पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। प्रमेय और प्रमाण मे विषय और विषयी का अन्तर है। अणु और परमाणु दोनो शब्दो का एक अर्थ है। जिसका भाग न हो सके ऐसे अविभागी पुद्गल को अणु या परमाणु कहते हैं। कालद्रव्य भी अप्रदेशी अथवा एकप्रदेशी है उसकी अवगाहना भी पुद्गलपरमाणु के बराबर है, अत कालद्रव्य को भी कालाणु कहते है।

—जै. ग. 6-13-5-65/XIV/ **मगनमाला**

'अनिर्वर्तिता' का अर्थ

शंका—सर्वार्थसिद्धि १।२३ में 'कस्मादनिर्वर्तिता' शब्द आया है। इसमें अनिर्वर्तिता का क्या अर्थ है?

समाधान—संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ में निर्वृत्ति का अर्थ निष्पत्ति, समाप्ति दिया है। यहाँ पर अचिन्तित-अर्थ व अर्धचिन्तितअर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि परपदार्थ के चिन्तनकार्य की समाप्ति नहीं हुई है, अथवा निष्पत्ति नहीं हुई है। विपुलमतिमन पर्यय ज्ञान का विषय चिन्तित पदार्थ तो है ही, किन्तु जिन पदार्थों का अभी चिन्तन नहीं हुआ, ऐसे अचिन्तित अर्थ को और जो पदार्थ अभी अर्द्ध चिन्तित है अर्थात् जिन पदार्थों के चिन्तन की अभी तक निष्पत्ति या समाप्ति नहीं हुई, उनको भी विपुलमतिमन पर्ययज्ञानी जानता है।

—**पत्राचार** 77-78/**ज. ला. जैन, भीण्डर**

'अनुभूति'

शंका—पुरुषार्थसिद्धय् पाय भव्य प्रबोधिनी टीका में अनुभूति लब्धिरूप भी और उपयोगरूप भी दी है। क्या अनुभूति लब्धिरूप भी मानी जाएगी?

समाधान—अनुभूति के अनेक अर्थ है—

(१) अनुभूति का अर्थ प्रतीति (श्रद्धा) है। कहा भी है—**'संविस्युपलब्धि प्रतीत्यानुभूति रूपं।'**

—**पंचास्तिकाय पृ. २९-३० रायचन्द्र ग्रन्थमाला**

(२) अनुभूति का अर्थ चेतना व वेदना भी है। कहा भी है—**'चेतनानुभूत्युपलब्धि वेदना नामेकार्थत्वात्।'**

—**पं० का० पृ० ७९**

(३) अपने आपका जानना, अनुभवन (अनुभूति) है। कहा भी है—**'स्वस्यानुभवनमर्थवत्।' परीक्षामुख।** **अर्थ**—आपका अनुभव आपके है जैसे अन्यअर्थ का अनुभवन है तैसे ही आपका है। अर्थात् अनुभव (अनुभूति) का अर्थज्ञान है।

(४) अनुभवन (अनुभूति) का अर्थ दर्शनोपयोग भी है, कहा भी है—

(अ) 'आलोकनवृत्तिर्वादर्शनम्। अस्य गमनिका, आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्ति आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्ति स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति।' ध. १ पृ० १४८-१४९।

अर्थ—आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। जो अवलोकन करता है, उसे आलोकन या आत्मा कहते है। वर्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते है। आलोकन की वृत्ति को स्वसवेदना कहते हैं और वही दर्शन है।

(आ) 'यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शनव्यपदेशात्।' ध. १ पृ० ३८१

अर्थ—जिस ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला स्वरूपसंवेदन (अनुभूति) है वही दर्शन कहा जाता है।

(इ) 'तत स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम्।' ध. १ पृ. ३८३

अर्थ—इसलिये स्वरूपसवेदन दर्शन है, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए।

जहाँ पर अनुभूति को लब्धिउपयोग रूप कहा हो वहाँ पर अनुभूति का अर्थ 'ज्ञान' जानना चाहिए। क्योंकि प्रतीति अर्थात् श्रद्धा लब्धिउपयोग रूप नहीं होती।

—जै. ग. 14-10-65/X/ब्र. पन्नालाल

अवस्थान काल व प्रवेशान्तर काल की सोदाहरण परिभाषाएँ

शंका—ध० पु० ७ पृ० ४६९ के 'जिस मार्गणा व जिस गुणस्थान का अवस्थान काल से प्रवेशान्तर काल दीर्घ होता है।' इस वाक्य का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य मार्गणा में एकजीव का अवस्थानकाल क्षुद्रभव है और प्रवेशान्तरकाल पल्योपम का असख्यातवाँभाग है जो अवस्थानकाल से अधिक है। यदि कोई भी जीव लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्यों में उत्पन्न न हो (प्रवेश न करे) तो उत्कृष्ट से पल्योपम के असख्यातवेंभागकालतक उत्पन्न न हो अतः प्रवेशातरकाल पल्योपम का असख्यातवाँभाग बतलाया है। **ध. पु. ७ पृ. ४८१ सूत्र १०।**

इसीप्रकार वैक्रियिकमिश्रकाययोगी का एक जीव का अवस्थान काल अन्तर्मुहूर्त है और प्रवेशातर काल उत्कृष्ट रूप से १२ मुहूर्त है—**धवल पु ७ पृ. ४८५ सूत्र २६।** इसीप्रकार आहारककाययोगी आहारकमिश्रकाययोगी के विषय में **पृ० ४८ सूत्र २९** में जान लेना चाहिये।

दूसरे गुणस्थान मे एक जीव का अवस्थानकाल छहआवली है और तीसरेगुणस्थान मे अवस्थानकाल अन्तर्मुहूर्त है, किंतु प्रवेशातरकाल दोनो का पल्य का असख्यातवाँ भाग है। **ध. पु ७ पृ. ४९३ सूत्र ६२।**

इसीप्रकार बारहवेंगुणस्थान व चौदहवेंगुणस्थान मे एक जीवका अवस्थानकाल अन्तर्मुहूर्त है और प्रवेशातरकाल छहमाह है। **ध. पु. ५ पृ. २१ सूत्र १७।**

विवक्षितमार्गणा या गुणस्थान मे एकजीव का उत्कृष्टकाल अवस्थानकाल है और नानाजीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तरकाल 'प्रवेशातरकाल' है।

—जै. ग. 20-4-72/IX/यशपाल

अवहारकाल एव प्रतिभाग

शंका – अवहारकाल, प्रतिभाग का क्या अर्थ है ?

समाधान—'अवहारकाल' जिससे भाग दिया जाय। जिस सख्या से गुणा या भाग दिया जाय उस सख्या का जो भाग होता है उसको प्रतिभाग कहते है। जैसे—ध पु ३ पृ. २९८ पर लिखा है—'आवली के असख्यातवें-भाग का सख्यातवा भाग गुणाकार है।' यहा पर 'सख्यातवाभाग' प्रतिभाग है।

—जै ग. 7-12-67/VII/र. ला जैन

'इयर्ति पर्यायान्' का अर्थ

शंका—स० सि० अ० १ सूत्र १७ की टीका के नवीनसंस्करण में लिखा है 'पर्यायों से प्राप्त होता है', किन्तु पूर्वसंस्करण में 'पर्यायों को प्राप्त होता है' ऐसा लिखा है। इन दोनों में कौनसा अर्थ ठीक है ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि मे मूलपाठ इसप्रकार है—

'इयर्ति पर्यायांस्तैर्वाऽर्यते इत्यर्थो द्रव्यम्।'

इसका अर्थ 'जो पर्यायो को प्राप्त करता है' ऐसा होता है, क्योंकि 'पर्यायान्' द्वितीया का बहुवचन है। 'ऋ' धातु से 'इर्यति' बना है जो लट्लकार मे प्रथमपुरुष का एकवचन है। 'ऋ' धातु का अर्थ 'प्राप्त करना' है। अत. 'इर्यति पर्यायान्' का अर्थ 'पर्यायो को प्राप्त करता है' ऐसा होता है।

—जै. ग. 25-3-76/VII/ र. ला जैन

'जिणुद्दिट्ठ' का अर्थ

शका—हाल के किसी एक लेख में रयणसार गाथा १२५ के 'जिणुद्दिट्ठ' का अर्थ 'जिनेन्द्र के द्वारा देखा गया है' ऐसा किया गया है। क्या यह अर्थ ठीक है ?

समाधान—'दिट्ठ' शब्द का अर्थ 'दर्शन' व 'कथन' दोनो होते है किन्तु **'जिणुद्दिट्ठ'** मे **'उद्दिट्ठ'** शब्द का अर्थ 'कथितम्' होता है।[1] **जिनेन्द्र भगवान** ने किसप्रकार देखा है यह तो छद्मस्थ के द्वारा जाना या कहा नही जा सकता है उसको तो केवलज्ञानी ही जानते हैं। जैसे केवली ने काल के सबसे छोटे अश 'समय' को निरश देखा है या एकसमय मे १४ राजू गमन की अपेक्षा साश देखा है अथवा परमाणु को सावयव देखा है या निरवयव देखा है। 'नय' श्रुतज्ञान का भेद है। [**स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६३।**] जिनेन्द्र ने वस्तु को भिन्न-भिन्ननयो के द्वारा देखा है या प्रमाण के द्वारा देखा है या प्रमाण व नय दोनो के द्वारा देखा है। छद्मस्थ अपने ज्ञान के द्वारा जिनेन्द्र के ज्ञान को नही देख सकता। इसीलिये **किसी भी आचार्य ने यह नहीं कहा कि 'मै वह कहूगा जो जिनेन्द्र ने देखा है'; किन्तु आचार्यों ने तो यह लिखा है कि 'मै वह कहूगा जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।' श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं समयसार** की प्रथम गाथा मे कहते है—**'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।'** अर्थात् 'अहो ! केवली श्रुतकेवली के द्वारा कथित वह समयसारप्राभृत कहूँगा।'

'एकद्रव्य दूसरेद्रव्य का कर्त्ता नही है।' जिनका ऐसा एकान्त सिद्धान्त है उनको तो यह इष्ट है कि केवली या श्रुतकेवली ने शब्दरूप कुछ भी नही कहा। क्योकि केवली या श्रुतकेवली चेतनरूप होने से परद्रव्यरूप पुद्गलमयी शब्दो के कर्त्ता नही हो सकते। इसलिये जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है इसको प्रमाण न मानकर 'जिनेन्द्र ने ऐसा देखा है' इसीको प्रमाण मानते है और इस आधार पर जिनेन्द्र कथित 'अनेकान्त', 'स्याद्वाद' तथा 'सब सप्रतिपक्ष है' इन सिद्धान्तो का खण्डनकर 'एकान्त नियतिवादरूप मिथ्यात्व' का 'क्रमबद्धपर्याय' के नाम से प्रचार कर रहे है।

प्र० सा० गाथा २३ मे भी **'उद्दिट्ठं'** शब्द का प्रयोग हुआ है और **श्री जयसेनाचार्य** ने **'उद्दिट्ठं'** शब्द का अर्थ 'कथित' किया है। अत **रयणसार गाथा १२५ में उद्दिट्ठ का अर्थ 'देखना' न होकर कथित होना चाहिए, छद्मस्थ तो वही जान सकता है और उसी की श्रद्धा कर सकता है जो श्री जिनेन्द्र ने कहा है। श्री जिनेन्द्र ने जितना देखा है उस सबको श्री गणधर भी नहीं जान सकते है।**

व्याप्य-व्यापकरूप से एकद्रव्य की पर्याय दूसरेद्रव्य की पर्याय की कर्त्ता नही हो सकती, किन्तु निमित्त-नैमित्तिकरूप लें तो एकद्रव्य की पर्याय दूसरेद्रव्य की पर्याय की कर्त्ता होती है। यदि ऐसा न माना जावे तो दिव्यध्वनि या द्वादशाङ्ग या समयसारादि ग्रन्थो को अप्रमाणता का प्रसङ्ग आ जायगा। जैसे व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से उपादानकर्त्ता होता है वैसे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से निमित्तकर्त्ता भी होता है। निमित्तकर्त्ता

१. ऐसा ही अर्थ, अर्थात् जिणुद्दिट्ठ=जिनकथितम्; डॉ देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री; नीमच ने भी रयणसार के अनुवाद मे गाथा १०६ पृष्ठ १५१ में किया है। —सम्पादक

की मुख्यता से **समयसार गाथा ५०-५५** मे रागादिक को निश्चय से पुद्गलद्रव्य की पर्याय कहा है। इसीप्रकार **समयसार गाथा २७८ व २७९** मे स्फटिकमणि का दृष्टान्त देकर यह कहा गया है कि जीव स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु अन्य (पुद्गल कर्मों) के द्वारा रागी किया जाता है।

आर्षग्रन्थो मे कही पर उपादानकर्त्ता की मुख्यता से कथन है, कही पर निमित्तकर्त्ता की मुख्यता से कथन है। इनमे से किसी एक का एकान्ताग्रह करना मिथ्यात्व है।

—**जै.** ग. 13-12-65/VIII/ **र. ला. जैन**

'उपकार'

शंका—'शरीर वाङ्मनः प्राणापाना पुद्गलानां' इस सूत्रानुसार शरीर, वचन, मन आदि पुद्गलों का उपकार है, किन्तु यह ही तो संसार-दुःख की जड़ है फिर इन्हें उपकार किस अपेक्षा कहा ?

समाधान—अध्याय पाँच मे 'उपकार' से प्रयोजन निमित्त या सहकारीकारण से है। उपकार का अर्थ यहाँ इष्टकारक नही ग्रहण करना।

—**जै. ग.** 31-10-63 /IX/ **र. ला. जैन, मेरठ**

उपक्रमण काल की परिभाषा

शंका—उपक्रमणकाल किसे कहते हैं ?

समाधान—निरन्तर उत्पन्न होने के काल को अथवा निरन्तर प्रवेश होने के काल को अथवा निरन्तर आयके काल को उपक्रमणकाल कहते है। जैसे देवगति मे जीवो के निरन्तर उत्पन्न होने के काल को उपक्रमणकाल कहते हैं। अन्य गुणस्थान मे आकर तीसरेगुणस्थान मे जीवो के निरन्तर प्रवेशकाल को उपक्रमणकाल कहते हैं।

—**जै. ग.** 20-4-72 /IX/ **ब्रजपाल**

'कांजी' का अर्थ

शंका—रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १४० की टीका में 'कांजी' शब्द आया है। इसका क्या अर्थ है ?

समाधान—खटास से युक्त पेय को 'कांजी' कहते है, जैसे इमली आदि का पानी या तक्र आदि।

—**जै. ग** 27-7-72 /IX/ **र. ला जैन**

काल क्षय

शंका—ध० पु० ८ पृ० १७ हिन्दी पंक्ति १२ पर और पृ० ४४ हिन्दी पंक्ति १० पर 'कालक्षय' शब्द आया है। इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—जो सप्रतिपक्ष बधप्रकृतियाँ हैं, उनका बध अपने नियतकालतक होता है। नियतकाल के समाप्त होने पर विवक्षितप्रकृति का बध रुक जाता है और प्रतिपक्षप्रकृतियो का बध प्रारम्भ हो जाता है। जैसे असातावेदनीयकर्मप्रकृति की प्रतिपक्ष सातावेदनीय कर्मप्रकृति है। साता व असातावेदनीय कर्मप्रकृतियो में से प्रत्येक का जघन्यबधकाल एकसमय है और उत्कृष्टबधकाल अन्तर्मुहूर्त है (**महाबंध पु० १ पृ० ४७**)। सातवेंगुणस्थान से मात्र साता का ही बध होता है। छठेगुणस्थानतक असातावेदनीयकर्म का बंधकाल क्षय (समाप्त) हो जाने पर

सातावेदनीय का बंध प्रारम्भ हो जावेगा। सातावेदनीयकर्म का बंधकाल क्षय हो जाने पर असाता का बंध होने लगेगा। छठेगुणस्थानतक साता या असाता कर्मप्रकृति का एक अन्तर्मुहूर्तकाल से अधिक कालतक बंध नहीं हो सकता है।

—जै. ग 20-4-72 /IX/ यशपाल

'कुशील' का अभिप्राय

शंका—तत्त्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थमुनि के पुलाक आदि पाँच भेद बतलाये हैं। उनमें से एक भेद कुशील भी है। यहां पर 'शील' शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—शील का अर्थ आत्मा का वीतरागस्वभाव है (**अष्टपाहुड पृ० ६०८**)। दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्मराग रहता है वहाँ तक निर्ग्रन्थमुनि की कुशील संज्ञा है। दसवेंगुणस्थान के आगे चारित्रमोहनीय कर्मोदय के अभाव के कारण जीव पूर्ण वीतराग हो जाता है अर्थात् अन्तरंग व बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो जाता है, अतः उसकी निर्ग्रन्थ (वीतरागछद्मस्थ) संज्ञा हो जाती है।

—जै ग. 16-7-70/ रो ला मि.

क्षपणा व विसंयोजना में अन्तर

शंका—विसंयोजना और क्षपणा क्या पर्यायवाची शब्द हैं ? यदि है तो किस ग्रन्थ में कहाँ पर लिखा है ?

समाधान—विसंयोजना और क्षपणा पर्यायवाची शब्द नहीं है। जिस कर्म की क्षपणा हो जाती है उसकी पुनः सत्ता या बंध नहीं हो सकता, किन्तु जिसकी विसंयोजना होती है उसकी पुनः सत्ता व बंध सम्भव है। विसंयोजना मात्र अनन्तानुबंधीकषाय की होती है अन्यप्रकृतियों की विसंयोजना नहीं होती। **ज ध पु पृ. २१९** पर कहा भी है—'अनन्तानुबंधी चतुष्क के स्कन्धों को परप्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते है। विसंयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर निजकर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है, उनके साथ व्यभिचार आ जायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबंधी को छोड़कर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती। अतः विसंयोजना का लक्षण अन्यकर्मों की क्षपणा में घटित न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

—जै स 25-12-58/V/ ब्र. राजमल

१. क्षय, विसंयोजना एवं उदयाभावी का स्वरूप
२. 'क्षय' को प्राप्त कर्म का पुनः आस्रव नहीं होता।

शंका—कर्मों का क्षय या प्रकृतियों का क्षय कहा जाता है। उसका यही तात्पर्य है कि उन कर्म या प्रकृतियों का उदय, बंध व सत्त्व से अभाव होता है ? या उदय के अभाव अर्थात् अनुदय को क्षय कहा जाता है ? यदि उदय के अभाव को क्षय कहते हैं तब उदयाभावी क्षय का क्या अर्थ है ? क्षय का लक्षण स. सि. पृ. १४९ पर २।१ की टीका में दिया है—'क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः', अर्थात् कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है। क्षय हो जाने पर क्या किसी कर्म का दुबारा आस्रव हो सकता है।

समाधान—जिनकर्मों का क्षय होता है उन कर्मोंका अर्थात् कर्म प्रकृतियों का कम से कम एक आवली पूर्व बंध-व्युच्छित्ति अर्थात् संवर हो जाता है, क्योंकि कर्मबंध के पश्चात् एकआवली कालतक उस कर्म का

उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, उदीरणा, उपशम या क्षय आदि कुछ नही हो सकता अत इस आवलीकाल को बधावली या अचलावली कहा गया है।

सत्ता, व्युच्छित्ति का नाम 'क्षय' है। जिसकर्म की सत्ता (सत्त्व) नही है उसकर्म का उदय भी नही हो सकता। अत कर्मप्रकृति का क्षय हो जाने पर उसप्रकृति का उदय क्षय हो ही जाता है। किन्ही कर्मप्रकृतियो की उदय-व्युच्छित्ति और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है और किन्ही कर्मप्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति पूर्व मे हो जाती है और उसके पश्चात् सत्त्वव्युच्छित्ति होती है।

कर्मप्रकृतियो का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना 'क्षय' है। इसका अभिप्राय यह है कि जिन कर्मप्रकृतियो का सत्त्व नष्ट हो जाने पर पुन उत्पत्ति नही होती उस सत्त्व के नाश का नाम 'क्षय' है। अनन्तानुबन्धीकषाय का सत्त्व नष्ट हो जाने पर पुन उत्पत्ति पाई जाती है। इसीलिये अनन्तानुबन्धीकषाय के सत्त्व नाम का नाम 'क्षय' न देकर 'विसयोजना' कहा है। कहा भी है—

'का विसंयोजणा ? अणंताणुबंधिचउक्कक्खंधाण परसरुवेण परिणमणं विसंयोजणा; ण पदोदयकम्मक्खवणाए वियहिचारो, तेसिं परसरुवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो।' ज. ध. पु २ पृ. २१९

अर्थ—विसयोजन किसे कहते हैं ? अनन्तानुबन्धीचतुष्क के स्कन्धो के परप्रकृतिरूप मे परिणमा देने को विसयोजना कहते है। विसयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर जिन कर्मो की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है उनके साथ व्यभिचार आजायगा सो भी बात नही है, क्योकि अनन्तानुबन्धी को छोडकर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुन उत्पत्ति नही पाई जाती।

'खविदाणमणंताणुबंधीणं व पुणरुप्पत्ती एदासिं' पयडीणमणुभागस्स किण्ण जायदे ? ण, अणंताणुबंधीण व संजलणादीणं विसंजयोणाभावेण पुणरुप्पत्तीए विरोहादो। ण खविदाण पुणरुप्पत्ती, णिव्वुआणं पि पुणो संसारित्तप्पसंगादो। ण च एवं णिरासवाणं संसारुप्पत्तिविरोहादो।' (ज. ध. पु. ५ पृ. २०७)

अर्थ—जैसे अनन्तानुबन्धी की क्षपणा हो जाने पर उसकी पुन उत्पत्ति हो जाती है वैसे ही अन्यप्रकृतियो के अनुभाग की पुन उत्पत्ति क्यो नही होती ? अन्यप्रकृतियो की क्षपणा के पश्चात् पुन उत्पत्ति नही होती। क्योकि अनन्तानुबन्धीकषायो की तरह सज्वलन आदि की विसयोजना का अभाव होकर उनकी पुन उत्पत्ति होने मे विरोध है। यदि यह कहा जावे कि नष्ट होने पर भी उनकी पुन उत्पत्ति हो जाय तो क्या हानि है ? किन्तु ऐसा कहना योग्य नही है, क्योकि क्षय को प्राप्त हुई प्रकृतियो की पुन उत्पत्ति नही होती, यदि होने लगे तो मुक्त हुए जीवो का पुन ससारी होने का प्रसग उपस्थित होगा, किन्तु मुक्त जीव पुन. ससारी नहीं होते, क्योकि जिनके कर्मों का आस्रव नही होता उनके ससार की उत्पत्ति मानने मे विरोध आता है। अर्थात् जिन कर्मों का क्षय हो चुका है उनका पुन. आस्रव नही होता।

जब सर्वघातीस्पर्धको का अनुभाग अनन्तगुणा क्षीणहोकर देशघातीरूप से उदय मे आता है और सर्वघातीरूप उदय का अभाव है। इसप्रकार उन सर्वघाती स्पर्धको की उदयभावी क्षय सज्ञा है। कहा भी है—

'सव्वघादि फद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादिफद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमावं गच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम।' [धवल पु. ७ पृ. ९२]

अर्थ—सर्वघातिस्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघातिस्पर्धको मे परिणत होकर उदय मे आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धको का अनन्तगुणहीनत्व ही क्षय कहलाता है। (यही उदयाभावी क्षयका स्वरूप है)।

—जै. ग. 27-12-65/VIII/र. ला. जैन

'चतुर्यम' का अभिप्राय

शंका—तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सूत्र ७ वा० १४ में 'चतुर्यम' शब्द आया है। इसका क्या अभिप्राय है?

समाधान—सामायिकसयम और छेदोपस्थापनासयम आदि के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है किन्तु सामायिकसयम और छेदोपस्थापनासयम—ये दोनो संयम एक है क्योकि इनमे अनुष्ठानकृत भेद नही है। उसी सयम का द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सामायिकसयम नाम है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से छेदोपस्थापनासंयम नाम है। धवल पु० १ सूत्र १२३ की टीका मे कहा भी है—**'सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोऽपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः। तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाद्य धारणात् पर्यायार्थिकनय छेदोपस्थापनशुद्धिसंयम। निशितबुद्धि जनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयदेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयदेशना। ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति। द्वितय देशनानुगृहीत एक एव सयम इति चेन्नैव दोष इष्टत्वात्।'**

सम्पूर्णव्रतो को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एकयम को ग्रहण करनेवाला होने से सामायिकशुद्धिसयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। उसी एक व्रत को पाँच अथवा अनेकप्रकार के भेद करके धारण करनेवाला होने से छेदोपस्थापनाशुद्धिसयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यहाँ पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्यो के अनुग्रह के लिए द्रव्यार्थिकनय का उपदेश दिया गया है। मन्दबुद्धि प्राणियो का अनुग्रह करने के लिये पर्यायार्थिकनय का उपदेश दिया गया है। इसलिए इन दोनो सयमो मे अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नही है। उपदेश की अपेक्षा सामायिक व छेदोपस्थापना के भेद से सयम दो प्रकार का है, वास्तव मे तो वह एक ही है।

इसप्रकार सामायिकसयम, परिहारविशुद्धिसयम, सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसयम, यथाख्यातशुद्धिसयम, यम चार प्रकार का हो जाता है। अथवा

सामायिकसयम प्रमत्त आदि गुणस्थानो मे भिन्न-भिन्न होता है अत इन चारो गुणस्थानो की अपेक्षा यम चारप्रकार का है।

—पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

जन्मसंतति तथा कर्मनिबर्हण का अर्थ

शंका—जन्मसंतति व कर्मनिबर्हणं में क्या अन्तर है?

समाधान—'जन्मसतति' का अर्थ है जन्म का प्रवाह अर्थात् ससार। 'कर्मनिबर्हण' का अर्थ है पौद्गलिक कर्मों का नाश। कहा भी है—

'कर्मनिबर्हणं—संसारदुःखसम्पादककर्मणां निबर्हणो विनाशक।'

ससार के दु खो को देने वाले जो कर्म उनका नाश करने वाला 'कर्मनिबर्हण' है। अर्थात् कर्म जन्मसतति के कारण हैं। उन कर्मों का विनाशक कर्मनिबर्हण है।

—जै. ग 23-7-70/VII/रो. ला. मित्तल

जीव और अन्तरात्मा में अन्तर

शंका—जीव और अन्तरात्मा मे क्या अन्तर है ?

समाधान—'इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चारप्राणों से अथवा चैतन्यरूप प्राण से जो जीता है, जीता था और जीवेगा' उसको जीव कहते है—**द्रव्यसंग्रह गाथा ३** चित्त के रागद्वेषादिक दोषो के और आत्मा के विषय मे जिसकी भ्रान्ति दूर हो गई है वह अन्तरात्मा है—**समाधितन्त्र श्लोक ५** । इसप्रकार जीव व अन्तरात्मा के लक्षणों से दोनों का अन्तर जाना जाता है। 'जीव' शब्द मे बहिरात्मा (पहिले से तीसरे गुणस्थान तक के जीव) अन्तरात्मा (चौथे से बारहवेंगुणस्थान तक के जीव) व परमात्मा (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवाले जीव व सिद्धजीव) तीनोंप्रकार के जीव गर्भित हो जाते है किन्तु 'अन्तरात्मा' शब्द से बहिरात्मा और परमात्मा जीवों से रहित, केवल सम्यग्दृष्टिजीव (चौथे से बारहवें तक) ही ग्रहण होते है। इसप्रकार 'जीव' व 'अन्तरात्मा' मे अन्तर जानना चाहिये।

—**जै स** 4-9-58/V/ **भागचन्द जैन, बनारस**

ज्ञान सामान्य का अर्थ

शंका—'ज्ञानसामान्य को देखते हुए केवलज्ञान के मति आदि अवयव मानने मे कोई विरोध नहीं आता; ज्ञान विशेष की अपेक्षा से ये अवयव नहीं है।' यह धवल १३ पृ० २१५ का वाक्य है ? यहाँ ज्ञान सामान्य का क्या मतलब है ?

समाधान—धवल पु० १३ पृ० २१५ पर ज्ञान सामान्य मे अभिप्राय ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद मे है।

—**पत्र** 28-6-80/**ज ला जैन, भीण्डर**

'त्रिशुद्धा भिक्षा' एवं उद्दिष्ट आहार का अर्थ

शंका—उपासकाध्ययन श्लोक ८९० मे क्षुल्लक के लिये त्रिशुद्धा भिक्षा बतलाई है। यहाँ पर 'त्रिशुद्धा' से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—कृत, कारित, अनुमोदना से रहित भिक्षा, त्रिशुद्धा भिक्षा है। यह तो दसवी प्रतिमा मे हो जाती है। ग्यारहवी प्रतिमा (क्षुल्लक) के तो उद्दिष्टाहार का त्याग है, वह तो भिक्षुक है।

जो णव कोडि विसुद्धं, भिक्खायरेण भुंजदे भोज्जं ।
जायण-रहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहार-विरदो सो ॥३९०॥ [स्वामि कार्तिकेय अनुप्रेक्षा]

जो श्रावक भिक्षाचरण के द्वारा बिना याचना किये, नवकोटि से शुद्ध योग्यआहार को ग्रहण करता है वह उद्दिष्टआहार का त्यागी है। अपने उद्देश्य से बनाये हुए आहार को ग्रहण न करना उद्दिष्टआहार का त्याग है।

—**जै. ग** 5-9-74/VI/**ब्र फूलचन्द**

'नारकानित्याशुभतरलेश्या'.... में नित्य का अर्थ

शंका—'नारकानित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया', इस सूत्र मे 'नित्य' शब्द का क्या अर्थ है ? 'नित्य' का अर्थ कूटस्थ होता है तो क्या नारकियों की लेश्या व वेदना आदि में हीन अधिकता नहीं होती ?

समाधान—इस सूत्र मे 'नित्य' शब्द 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ मे प्रयोग हुआ है। इस सूत्र मे नित्य शब्द का अर्थ कूटस्थ या अविचल नही ग्रहण करना चाहिये। कहा भी है—

'आभीक्ष्ण्यवचनान्नित्य प्रहसितवत्। यथा नित्यप्रहसितो देवदत्त इत्युच्यते योऽभीक्ष्णं प्रहसति, न च तस्य प्रहसनानिवृत्तिः, कारणे सति भावात्। तथा अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्य वचनो नित्यशब्द प्रयुक्त।' रा. वा. ३-३-४

अर्थात्—'आभीक्ष्ण्य' अर्थ मे नित्य शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे नित्य हँसनेवाला (सदा हँसने वाला) पुरुष। हास्य के कारणो के उपस्थित रहने पर बार-बार हँसने के कारण देवदत्त जिसप्रकार नित्य प्रहसित अर्थात् सदा हँसनेवाला कहा जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि देवदत्त का हँसना कभी बद न होता हो या हँसने मे हीन अधिकता न होती हो। कारण की उपस्थिति मे सदा हँसने के कारण नित्य हँसनेवाला कहा जाता है, किन्तु कारणो के अभाव मे उसका हँसना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार जब तक अशुभ-लेश्या आदि के कारण अशुभ कर्मोदय आदि विद्यमान रहते है तब तक सदा अशुभ लेश्या आदि उत्पन्न होते रहते है, किन्तु कारणो के अभाव हो जाने पर उनकी भी निवृत्ति हो जाती है तथा उनकी निवृत्ति होने पर नरक निवास छोड देना पडता है। इसलिये इस सूत्र मे नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थ का द्योतक है।

—जै. ग. 7-11-68/XIV/**टो ला. जैन**

प्रकृतिबन्ध का लक्षण

शंका—**प्रकृतिबंध का लक्षण क्या है।**

समाधान—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। कहा भी है—

'प्रकृति स्वभाव निम्बस्य का प्रकृति ? तिक्तता। गुडस्य का प्रकृतिः ? मधुरता। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृति ? अर्थानवगमः। दर्शनावरणस्य का प्रकृति। अर्थानालोकनम्। वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदु ख-संवेदनम्। दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। चारित्रमोहस्यासंयमः। आयुषो भवधारणम्। नाम्नो नारकादिनाम-करणम्। गोत्रस्योच्चैर्नीचैःस्थानसंशब्दनम्। अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम्। तदेवंलक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृति।' सर्वार्थसिद्धि ८।३

अर्थ—'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव है। जिसप्रकार नीम की क्या प्रकृति है ? कडुवापन। गुडकी क्या प्रकृति है ? मीठापन। उसीप्रकार ज्ञानावरणकर्म की क्या प्रकृति है ? अर्थ का ज्ञान न होना। दर्शनावरणकर्म की क्या प्रकृति है ? अर्थ का अवलोकन नही होना। सुख-दु.ख का सवेदन कराना साता और असातावेदनीय की प्रकृति है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना दर्शनमोह की प्रकृति है। असयमभाव चारित्रमोह की प्रकृति है। भवधारण आयु-कर्म की प्रकृति है। नारकादि नामकरण नामकर्म की प्रकृति है। उच्च और नीच स्थान का सशब्दन गोत्रकर्म की प्रकृति है तथा दानादि मे विघ्न करना अतरायकर्म की प्रकृति है। इसप्रकार का कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है।

जिससमय तक बध नही होता है उससमय तक उन कार्मणवर्गणाओ मे उपर्युक्त कार्य करने का स्वभाव उत्पन्न नहीं होता है। कार्मणवर्गणाओं मे उपर्युक्त कार्य करने का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबध है।

—जै ग. 14-1-71/VII/ **टो. ला. मित्तल**

पाप और कषाय में अन्तर

शंका—पाप और कषाय मे क्या अन्तर है ?

समाधान—'पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम् ।' जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह 'पाप' (**सर्वार्थसिद्धि**)।

'सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेर तेण कसाओ त्ति णं बेंति ॥२८२॥ (गो० जी०)

अर्थ—सुख दु ख आदि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी ससाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती है उन्हे कषाय कहते हैं।

इसप्रकार पाप और कषाय के लक्षण भेद से दोनो का अन्तर सहज ज्ञात हो जाता है। **कषाय पाप है किन्तु 'पाप' मात्र कषाय नहीं है। कषाय के अतिरिक्त मिथ्यादर्शन आदि भी पाप हैं।**

—जै. स. 28-8-58/V/ **भागचद जैन, बनारस**

पुण्य-पाप के भेद व परिभाषाएँ

शंका—पापानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पाप, पुण्यानुबन्धी पुण्य व पाप किसे कहते हैं ?

समाधान—पुण्य के उदय मे अशुभ भावो द्वारा पाप का बन्ध करना पापानुबन्धीपुण्य है। पाप के उदय मे अशुभ भावो के द्वारा पाप का बन्ध करना पापानुबन्धीपाप है। पुण्य के उदय मे शुभभावो द्वारा पुण्यबन्ध करना पुण्यानुबन्धी पुण्य है। पाप के उदय मे शुभ भावो द्वारा पुण्यबन्ध करना पुण्यानुबन्धी पाप है। पुण्य तथा पाप के उदय मे समताभाव द्वारा बन्ध का अभाव करते हुए निर्जरा करनी कार्यकारी है।

— जै. स 17-5-56/VI/ **मू. च मुजफ्फरनगर**

पृथक्त्व=९५, ४७, २३, १५ आदि भी होते हैं

शंका—तिर्यंचगति मे पचेन्द्रिय तिर्यंचपर्याप्तकों के सम्यक्त्व प्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के सत्त्व का उत्कृष्टकाल पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक तीनपल्य ही क्यों कहा है? ४७ पूर्वकोटि अधिक तीनपल्य क्यो नहीं कहा? जब कि पंचेन्द्रियतिर्यंचपर्याप्तकों में एक जीव का उत्कृष्ट अवस्थान इतना पाया जाता है।

समाधान—'पूर्वकोटि प्रथक्त्व' से यहाँ ४७ पूर्वकोटि ग्रहण करना चाहिये। 'पृथक्त्व' शब्द 'विपुल' अर्थात् 'बहुत' का वाची है अत 'पृथक्त्व' शब्द से यथासभव ९५, ४७, २३, १५ आदि संख्या ग्रहण की जा सकती हैं। 'पृथक्त्व' शब्द से ४७ सख्या ग्रहण कर लेने पर शकाकार का प्रश्न समाप्त हो जाता है।

(ध० खं० पु० ७, पृ० १२२-१२३ सूत्र १५ व टीका, क० पा० पु० २ पृ० २६२)

—जै. स 24-7-58/V/ **जि कु. जैन, पानीपत**

प्रतिगणधर देव

शंका—प्रतिगणधरदेव कौन हैं ? क्या आरातीय आचार्य ही प्रतिगणधरदेव हैं ?

समाधान—'प्रति' शब्द के अनेक अर्थ है। यहा प्रति शब्द का प्रयोग 'समान' अर्थ मे हुआ है। जो मुख्य गणधर के समान हो वह प्रति गणधरदेव अर्थात् मुख्य गणधर के अतिरिक्त जो अन्य गणधर है वे प्रतिगणधरदेव कहलाते है। उनके वचनो के अनुसार आरातीय आचार्यों ने ग्रन्थो की रचना की है।

— पत्राचार/ज. ला. जैन, भीण्डर

प्रतीति (श्रद्धा) के पर्यायवाची शब्द

शंका—मिथ्यादृष्टिजीव भी समाधि लगाता है तथा दूसरे भी। तब क्या ध्यानावस्था में उस मिथ्यादृष्टि को आत्मा का भान है ? चौथे गुणस्थान में क्या आत्मानुभव होता है ?

समाधान—चौथे गुणस्थान मे आत्मा की प्रतीति, रुचि अथवा श्रद्धा होती है। प्रतीति के ही पर्यायवाची नाम 'संवित्ति, उपलब्धि, प्रतीति, अनुभूति, स्वसवेदन' है (**पंचास्तिकाय पृ० २९-३० रायचन्द्र ग्रन्थमाला**)। **परीक्षामुख** मे भी कहा है—**'स्वस्यानुभवनमर्थवत्'** अर्थात्—जैसे अर्थ का निश्चयज्ञान होय है वैसे ही स्व का अनुभवन (निश्चयज्ञान) होता है। निश्चयज्ञान (श्रद्धान) को अनुभवन कहते है।

—जै. ग. 31-10-63/IX/ क्षु आदिसागर

पातनिका

शंका—वृहद्द्रव्यसंग्रह मे पृ० ३ पर 'समुदाय पातनिका' शब्द आया है। पातनिका शब्द का क्या अर्थ है?

समाधान—'पातन' शब्द से पातनिका बना है। 'पातन' का अर्थ डालना है। आगे कहा जानेवाला श्लोक, गाथा, सूत्र किस विषय मे डाला जावे उसकी सूचना देने वाला 'पातनिका' शब्द है। अत यहा पर 'पातनिका' का अर्थ भूमिका है। इसे अग्रेजी मे Head Note कहते है।

—जै. ग 13-5-76/VI/ र ला जैन

'प्रदेश' का लक्षण

शंका—(१) खंध सयल समत्थं, तस्स य अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो, अविभागी होदि परमाणू॥ (ति.प., गो.सा जी., पं का., भा.सं., वसु. श्रा)
(२) जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणु वट्ठद्धं।
तं खु पदेस जाणे, सव्वाणुट्ठाण दाणरिहं॥ (द्र० स०)

उपर्युक्त दोनों गाथाओ में वर्णित प्रदेश के लक्षण मे आकाश-पाताल का अन्तर है, एक के अनुसार स्कन्ध का चौथाई 'प्रदेश' होता है और दूसरी के अनुसार पुद्गल के अविभागी टुकड़े द्वारा रोका हुआ क्षेत्र 'प्रदेश' होता है, दोनो में इतना फर्क क्यों ? पहली में अविभागी परमाणु और प्रदेश को एक न बताकर अलग-अलग बताया है जबकि दूसरी में परमाणु और प्रदेश को एक (अविनाभावी) बताया है, ऐसा क्यो ?

समाधान—उपर्युक्त पहली गाथा मे जो 'पदेसो' शब्द आया है उसका अर्थ स्कन्ध का चौथाई भाग है और दूसरी गाथा मे जो 'पदेस' शब्द आया है उसका अर्थ है पुद्गल परमाणु के द्वारा रोका हुआ आकाश का क्षेत्र। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, इसमे कोई बाधा नही है। जिसप्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'देखना' भी है, 'श्रद्धान' भी है और 'मत' भी है। शब्द सख्यात है और पदार्थ अनन्त हैं अत एक शब्द के अनेक अर्थ होते है।

—जै. स. 21-6-56/VI/र. ला. जै. केकड़ी

'प्रस्तार' का अर्थ

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २० में प्रस्तार शब्द आया है। इस शब्द का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अध्याय ४ सूत्र २० में प्रस्तार का अर्थ पटल है। पूर्व पटल से उत्तर पटल मे सुख, आयु आदि की वृद्धि होती जाती है। विशेष के लिये **तिलोयपण्णत्ती अ. ८ गा ४६३-५०९ देखना चाहिए।**

—पताचार अगस्त 77/ **ब. ला जैन, भीण्डर**

भक्ति और श्रद्धा में अन्तर

शंका—भक्ति और श्रद्धा मे क्या अन्तर है ? शास्त्रोक्त विधि से स्पष्ट कीजिये।

समाधान—'गुणो मे अनुराग' भक्ति है। 'प्रतीति, रुचि' श्रद्धा है। सम्यग्दृष्टि श्रावक के तत्त्वश्रद्धान हर समय रहता है, किन्तु भक्ति हरसमय नही होती।

—**जै सं** 4-9-58/V/ भागचद जैन, **बनारस**

भावपरमाणु का अर्थ

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५६ पक्ति १६ मे 'भावपरमाणु' का क्या अर्थ है ?

समाधान—भावपरमाणु का अर्थ 'पर्याय की सूक्ष्मता' है। कहा भी है—

भावपरमाणु पर्यायस्य सूक्ष्मत्वं' [तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१२]

—**जै. ग.** 10-6-65/IX/ **र. ला जैन, मेरठ**

मरणावली का अर्थ

शंका—पंचसग्रह पेज ५३ पर लिखा है कि—'मिश्रगुणस्थान को छोड़कर आगे से लेकर प्रमत्तसंयत तक के जीवों के मरणावली के शेष रहने पर आयुकर्म की उदीरणा नहीं होती।' यहां मरणावली का क्या मतलब है ?

समाधान—उदयावली से उपरितन निषेको के द्रव्य का उदयावली मे दिया जाना उदीरणा है। जिसकर्म की स्थिति एकआवली मात्र रह गई है उसकी उदीरणा सभव नही है। आयु की जब एक आवली मात्र शेष स्थिति रह जाती है अर्थात् मरण होने से एक आवली पूर्व (मरणावली) आयुकर्म की उदीरणा रुक जाती है, यानी उस अन्तिम आवली या मरणावली मे आयु की उदीरणा नही होती। आयु की जब अन्तिम आवली शेष रह जाती है उस अन्तिमआवली को मरणावली कहते है।

—**जै. ग** 20-8-64/IX/ **ध. ला. सेठी**

'यवमध्यसिद्ध' का अर्थ

शंका—त० रा० वा० (ज्ञानपीठ) के पृ० ६४८ पर अवगाहनानुयोग में जो 'यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः' ऐसा लिखा है इसका स्पष्टार्थ क्या है ?

समाधान—त० रा० वा० अध्याय १० सूत्र ९ वार्तिक १४ की टीका मे सिद्धो की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष और जघन्य अवगाहना ३½ हाथ बतलाई है।

'तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि । जघन्यम् अर्द्धचतुर्थारत्नयः देशोनाः ।

५२५ धनुष के २१०० हाथ होते है, क्योंकि ४ हाथ का एक धनुष होता है। २१०० हाथ मे से ३½ हाथ कम करने पर २०९६½ हाथ होते है जिनका मध्य १०४८¼ हाथ होते हैं अथवा २६२ धनुष से कुछ अधिक होता है। १०४८¼ की अवगाहना वाले सिद्ध यवमध्य सिद्ध है।

—जै. ग 27-3-69/IX/ क्षु श्रीतलसागर

योग-संक्रान्ति

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५५ पंक्ति २७ पर योगसंक्रान्ति का लक्षण बतलाते हुए कहा है - 'काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर काययोग को स्वीकार करता है।' इससे क्या यह भी फलित होता है कि मन, वचन, काय तीनों का पलटन हो सकता है ? अर्थात् मन हो फिर वचन हो फिर काय हो फिर मन या वचन हो, आदि आदि ?

समाधान—संक्रान्ति का अर्थ पलटन है। मन, वचन, काय इन तीनो योगो मे से कोई एकयोग छूटकर अन्य कोई ऐसा योग हो जावे वह भी पलटकर अन्य योग हो जावे। इसप्रकार पलटन को योगसंक्रान्ति कहते है। शंकाकार ने योग-संक्रान्ति का अर्थ ठीक समझा है।

—जै. ग 3-6-65/XV/ र ला जैन, मेरठ

मोह और राग में अन्तर

शंका—'मोह' और 'राग' इन शब्दो को कैसे समझा जा सकता है ? इन दोनो मे क्या अन्तर है ?

समाधान—सम्यग्दर्शन व चारित्र का घात करे वह मोहनीयकर्म है कहा भी है—

'मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्।' स० सि० ८।४

जो मोहित करता है वह मोहनीयकर्म है अथवा जिसके द्वारा जीव मोहित हो वह मोहनीयकर्म है।

'जं तं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं, दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेव ॥२०॥' ध. पु ६ पृ. ६०

वह मोहनीयकर्म दोप्रकार का है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

राग तथा द्वेष ये दोनो चारित्रमोहनीयरूप है, क्योंकि क्रोध व मान द्वेषरूप है माया व लोभ रागरूप है।

'इसप्रकार यद्यपि मोह शब्द से राग-द्वेष का भी ग्रहण हो जाता है तथापि **समयसार** आदि ग्रन्थो मे जहाँ पर मोह राग-द्वेष शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ पर मोहशब्द से दर्शन-मोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये।

'मोहशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं।'

इसलिये **समयसार गाथा ३६** की टीका मे कहा है—

'एवमेव मोह पदपरिवर्तनेन रागद्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-कर्मनोकर्म-मनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन-स्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि।'

इसप्रकार **गाथा ३६** मे जो मोहपद है उसे पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह जुदे-जुदे सोलह गाथा सूत्रो कर व्याख्यान करने।

इन १६ मे मिथ्यात्व नही लिया गया है, क्योंकि मोह शब्द से मिथ्यात्व का ग्रहण हो जाता है। रागादि को पृथक् लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि मोह शब्द से रागादि का ग्रहण नही होता है।

— **जै**. ग. 20-8-70/VII/ **र. ला. जैन मेरठ**

राजू का अर्थ

शंका—एक राजू में कितने योजन होते हैं ? अर्द्ध रज्जू में कितने योजन बनेंगे ?

समाधान—एक राजू मे असख्यात योजन होते हैं। अर्द्ध राजू मे भी असख्यात योजन होते है।

—**पत्र** 28-1-79/**ज. ला. जैन, भीण्डर**

'लब्धि' के विभिन्न अर्थ

शंका—लब्धि का क्या मतलब है ?

समाधान—लाभ को लब्धि कहते है (**रा. वा. अ. २ सूत्र १८**) विशेष तप से जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह लब्धि है (**रा वा** अ. २ **सूत्र ४७**) दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ है (**रा. वा. अ.** २ **सूत्र ५**)। ज्ञानावर्णकर्म के क्षयोपशमविशेष को लब्धि कहते हैं (**रा. वा.** अ. २ **सूत्र १८**)। क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करण ये पाँच लब्धियाँ है। (**लब्धिसार**) इसप्रकार अनेक ग्रन्थ स्थलो पर 'लब्धि' शब्द का भिन्न-भिन्न अभिप्रायो को लेकर प्रयोग किया गया है। जहाँ जैसा अभिप्राय हो वहाँ वैसा जान लेना चाहिये।

—**जै**. ग. 2-4-64/IX/ **मगनमाला**

लोक की परिभाषा

शंका—पुण्य-पाप के सुख-दुःखरूप फल जिसके द्वारा देखे जायें उसका नाम लोक है अथवा जो पदार्थों को देखे-जाने उसका नाम लोक है। इन दोनों प्रकार के अर्थों से तो आत्मा के ही लोकपना सिद्ध होता है। इस पर शंका होती है कि आगम में जो छह द्रव्यो के समूह को लोक कहा है वह किसप्रकार है ?

समाधान—लोक का व्युत्पत्ति-अर्थ इसप्रकार भी है—

'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक तस्माद्बहिर्भूतमनन्तशुद्धाकाशमलोकः'

—**पञ्चास्तिकाय गाथा ३ टीका**

जहाँ जीवादि पदार्थ (छह द्रव्य) दिखलाई पडें वह लोक है, इसके बाहर अनन्त शुद्धआकाश है सो अलोक है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने लोक का लक्षण इसप्रकार कहा है—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥ (प्रवचनसार)

टीका—'स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् ।'

गाथार्थ—आकाश मे जो भाग पुद्गल और जीव से सयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल से समृद्ध है वह क्षेत्र सर्वकाल मे लोक है ।

टीकार्थ—लोक का स्वलक्षण षड्द्रव्य-समवायात्मकत्व है अर्थात् छहद्रव्यो का समुदायरूप है और अलोक केवल आकाशात्मक है ।

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य सन्ति जावदिये ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति ॥२०॥ (वृहद् द्रव्यसंग्रह)

टीका—'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति ।'

गाथार्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पाचो द्रव्य जितने आकाश मे है वह 'लोकाकाश' है और उस लोकाकाश के बाहर 'अलोकाकाश' है ।

टीकार्थ—जहा जीवादि पदार्थ लोक्यन्ते अर्थात् देखने मे आते है वह लोक है ।

अथवा 'लोक' का रूढिबल से अर्थ करने पर छहद्रव्यो के समुदाय को लोक कहा है ऐसा अर्थ हो जाता है । कहा भी है—

'षड्द्रव्यसमूहो लोक इत्यार्षस्य विरोध इति, तन्न किं कारणम् ? रूढौ क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।' (रा० वा० ५।१२)

—जै. ग 2-11-72/VII/रो ला मित्तल

लोकपाल का अर्थ परमेष्ठी

शंका—सन्मतिसदेश नवम्बर १९६६ में 'घडिद पंच लोगपाल' यह वाक्य उद्धृत किया गया है । इसमें 'पंच लोगपाल' का क्या अर्थ है ? क्या क्षेत्रपाल अर्थ करना ठीक है ?

समाधान—यह वाक्य ध० पु० १३ पृ० २०२ का है । पक्ति ४ मे यह लिखा है—

'सिलासु पुधभूदासु उक्कच्छिण्णासु वा क
चंदसालादिसु अभेदेण घडिदपडिमाओ गिहकम्माणि णाम । कुड्डेसु अभेदेण घडिदपंचलोगपालपडिमाओ भित्तिकम्माणिणाम ।'

अर्थ—अलग रखी हुई शिलाओ मे या उखाडकर अलग की गई शिलाओ मे जो अरहन्त आदि पाँच लोकपालो (पच परमेष्ठियो) की प्रतिमायें बनाई जाती है वे शैलकर्म है । जिनमन्दिर आदि की चन्द्रशाला आदिको मे अभिन्नरूप से घडी गई प्रतिमायें गृहकर्म हैं । भीतो मे उनसे अभिन्न बनाई गई पाच लोकपालो (पंच परमेष्ठियो) की प्रतिमायें भित्ति कर्म है ।

यहाँ पर 'पचलोगपाल' का प्रयोजन पंचपरमेष्ठी से है ।

—जै. ग. 5-10-67 /VII/ र. ला जैन, मेरठ

'विडम्बना' का अर्थ

शंका—समयसार गाथा ९१ जं कुणइ भावमादा··· की आत्मख्याति टीका में 'विडम्ब्यते योषितो' शब्द आया है यहां विडम्बना से क्या अर्थ लेना चाहिए ?

उत्तर—विडम्बना का अर्थ विकारी चेष्टा है।

—पत्राचार 8-7-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

विसंयोजना का अर्थ

शंका—सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना होती है। विसयोजना का क्या अर्थ है ?

समाधान—ज० ध० में श्री वीरसेनाचार्य ने विसयोजना का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

'का विसंजोयणा ? अणंताणुबन्धि चउक्कक्खंधाणं परसरूवेण परिणमणं विसंजोयणा। ण परोदयकम्मक्खवणाए वियहिचारो, तेसिं, परसरूवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो।' (ज. ध. पु २ पृ २१९)

अर्थ—विसयोजना किसे कहते है ? अनन्तानुबन्धीचतुष्क के स्कन्धो के परप्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते है ?

विसयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर जिनकर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है उनके साथ व्यभिचार (अतिव्याप्ति) आजायगा सो भी बात नही है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी को छोडकर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुन उत्पत्ति नही पाई जाती है। अत विसयोजना का लक्षण अन्य कर्मो की क्षपणा मे घटित न होने से अतिव्याप्ति दोष नही आता है।

—जै ग 9-4-70/VI/रो ला मित्तल

संकर दोष

शंका—सङ्करदोष क्या है ?

समाधान—श्री पं० हीरालालजी द्वारा संपादित प्रमेयरत्नमाला पृ० २७७ पर सङ्करदोष का लक्षण निम्न प्रकार लिखा है—

'सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः सङ्करः। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्रसमावेश सङ्करः।'

सबके एकसाथ प्राप्त होने के प्रसग का नाम सकर है। जैसे शरीर को आत्मा मानने पर उसमे एकसाथ ज्ञायक-स्वभावता व जडस्वभावता दोनो का प्रसग प्राप्त होता है, यह संकरदोष है।

—जै ग 19-12-68/VIII/ मगनमाला जैन

व्रतादि शब्दों की व्युत्पत्ति

शंका—व्रत, संयम और चारित्र में क्या अन्तर है ? क्या ये पर्यायवाची शब्द हैं ?

समाधान—हिंसादिक पापो से विरत होना **'व्रत'** कहलाता है; प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। यह करने योग्य है और यह नही करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना व्रत है। (स. सि. ७/१)।

'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थ का वाची है इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यता.' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत हैं, उन्हें 'संयत' कहते हैं। (ध० खं० १।३६९) प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः— प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभप्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते है। (स. सि. ६।१२)। जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाए या आचरण करना मात्र 'चारित्र' है। (स० सि० १।१)। स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः अपने स्वरूप में आचरण चारित्र है, वही आत्मप्रवृत्ति है। प्रवचनसार गाथा ७। इसप्रकार व्रत, संयम व चारित्र का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। स्थूलदृष्टि से ये तीनों शब्द पर्यायवाची है।

—जै. स 10-5-56/VI/ क. दे ग.या

'संक्लेश' से अभिप्राय

शंका—सातवें गुणस्थानवाला जब छठे गुणस्थान के सन्मुख होता है तो उसके संक्लेशपरिणामों की अधिकता से आहारकद्वय प्रकृति का उत्कृष्टस्थितिबंध होता है। यहाँ पर संक्लेशपरिणाम का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—तीन शुभआयु के अतिरिक्त अन्यप्रकृतियों का उत्कृष्टस्थितिबंध तत्प्रायोग्य संक्लेशपरिणामों से होता है। आहारकद्वय प्रकृतियों का बंध सातवें-आठवें गुणस्थान में होता है। आहारकद्वय प्रकृतियों के बंध करने वाले जीव के उत्कृष्टस्थितिबंध के प्रायोग्य संक्लेश परिणाम अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से गिरते समय ही सम्भव है। कहा भी है—

'आहार० आहार० अंगो० उक्क० ट्ठिदि० कस्स० ? अण्णदरस्स अप्पमत्तसंजदस्स सागार० जाग० तप्पाओग्गसंकिलिट्ठ० पमत्ताभिमुहस्स।' [महाबंध पु० २ पृ० २५७]

अर्थ—आहारकशरीर और आहारकशरीरअङ्गोपाङ्ग के उत्कृष्टस्थितिबंध का स्वामी कौन है ? जो साकार, जागृत है तत्प्रायोग्य संक्लेशपरिणामवाला है और प्रमत्तसंयतगुणस्थान के अभिमुख है, ऐसा अन्यत्र अप्रमत्तसंयतजीव उक्त दो प्रकृतियों के उत्कृष्टस्थितिबंध का स्वामी है।

यहाँ पर संक्लेशसे अभिप्राय विशुद्धि की हीनता से है।

—जै ग 10-7-67/VII/ र. ला जैन

समवाय सम्बन्ध का स्वरूप

शंका—समवायसम्बन्ध किसे कहते हैं ?

समाधान—ध. पु १५ पृ. २४ पर श्री वीरसेनाचार्य ने समवाय का स्वरूप निम्नप्रकार बतलाया है—

'को समवाओ ? एगत्तेण अजुदसिद्धाणं मेलणं।'

अयुतसिद्ध पदार्थों का एकरूप से मिलने का नाम समवाय है।

'कर्मस्कन्धैः सह सर्वजीवावयवेषु क्षमस्तु तत्समवेतशरीरस्यापि तद्वद्भ्रमो भवेदिति चेन्न, तद्भ्रमणावस्थायां तत्समवायाभावात्। शरीरेण समवायाभावे मरणमढौकत इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्। पुन कथं संघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात्।' (ध. पु. १ पृ. २३४)

यहाँ पर जीवप्रदेशों का और पौद्गलिकशरीर का समवायसम्बन्ध बतलाया है।

'शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्ध सम्बन्धतो मूर्तिभूतमात्मान समवेतत्वेन समाश्रयन्ति ।' (ध. पु. १ पृ २५४)

यहाँ पर आहारवर्गणा सम्बन्धी पुद्गलस्कन्ध का और आत्मा का समवायसम्बन्ध बतलाया है, किन्तु **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने गुण-गुणी के तादात्म्यसम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहा है।

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो, य अजुदसिद्धो य ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा, सिद्धित्ति णिद्दिट्ठा ॥५०॥ (पंचास्तिकाय)

टीका—द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तित्वादनादिरनिधना सहवर्तित्वं हि समवर्तित्वम् । स एव समवायो जैनानाम्, तदेव संज्ञादिभ्यो भेदेऽपि वस्तुत्वेनाभेदादपृथग्भूतत्वम्, तदेव युतसिद्धि निबंधनस्यास्तित्वान्तरस्याभावाद-युतसिद्धत्वम् । ततो द्रव्यगुणानां समवर्तित्वलक्षणसमवायभाजामयुतसिद्धिरेव, न पृथग्भूतत्वमिति ॥

समवर्तीपना वह समवाय है, वही अपृथक्पना है और अयुतसिद्धपना है। इसलिये द्रव्य और गुणो की अयुतसिद्धि कही गई है। द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं, इसलिए उनकी जो अनादि-अनन्त सहवृत्ति है वही वास्तव मे समवर्तीपना है, वही जैनो के मत मे समवाय है, संज्ञा आदि भेद होने पर भी वस्तुरूप से अभेद होने से वही अपृथक्पना है, युतसिद्धि के कारणभूत अस्तित्वांतर का अभाव होने से वही अयुतसिद्धिपना है। इसलिये समवर्तित्वस्वरूप समयवाले द्रव्य और गुणो को अयुतसिद्धि ही है, पृथक्पना नही है। इसप्रकार **श्री वीरसेनाचार्य** ने अनादिनिधन दो द्रव्यो के बंध-सम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहा है और **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने द्रव्य और गुण के तादात्म्यसम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहा है।

—जैं ग 4-12-75/. ..

'सम्यग्दर्शन' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

शंका—'सम्यग्दर्शन' मे 'सम्यक्' शब्द का क्या अर्थ है और 'दर्शन' शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—'सम्यक्' शब्द का अर्थ प्रशसा (समीचीन) है। **सम्यगित्यव्युत्पन्न शब्दो व्युत्पन्नो वा । अञ्चतेः क्वौ समञ्चतीति सम्यग् । अस्यार्थ प्रशंसा (स सि. १।१)**

अर्थ—'सम्यक' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढ़िक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणसिद्ध है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्चधातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सम्यक्' शब्द बनता है। संस्कृत मे इसकी व्युत्पत्ति 'समञ्चति इति सम्यक्' इसप्रकार होती है। प्रकृत मे इसका अर्थ प्रशसा है।

'दर्शन' शब्द का अर्थ श्रद्धान है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ मे कहा भी है—

'दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते ? धातूनामनेकार्थत्वाददोषः । प्रसिद्धार्थत्याग. कुत इति चेन्मोक्षमार्गप्रकरणात् ।'

'दृशि' धातु से बने हुए दर्शन शब्द का यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ आलोक (देखना) है तथापि मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से 'दृशि' धातु का अर्थ 'श्रद्धान' करने मे कोई दोष नही है।

'भावानां याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यग्विशेषणम् ।'

अर्थ—पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिये दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने पर जो पदार्थों का श्रद्धान होता है वह सम्यक्दर्शन है।

—**जै.** ग 25-2-71/IX/ **सुमतप्रसाद जैन**

सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्त्व में कथंचित् अन्तर

शंका—चारित्रपाहुड गाथा १८ मे 'सम्मद्दंसण पस्सदि' अर्थात् सम्यग्दर्शन को देखनेवाला बतलाया है, सो कैसे ? यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व का अलग-अलग अभिप्राय लिया गया है जबकि ये दोनो पर्यायवाची हैं ?

समाधान—चारित्रपाहुड की गाथा १८ निम्नप्रकार है—

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥१८॥

इस गाथा मे सम्यग्दृष्टि के दर्शनोपयोग अर्थात् सामान्यावलोकन को सम्यग्दर्शन कहा है इसीलिये उसका कार्य पस्सदि बतलाया है। **'सम्मेण य सद्दहदि'** अर्थात् मिथ्यात्व के अभाव मे होनेवाला सम्यक्त्वगुण उसका कार्य श्रद्धान बतलाया है। इस गाथा मे सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व पर्यायवाची नही है।

—**जै ग** 26-10-67/VII/ **र ला जैन**

'सर्वगत चैत्र' का अभिप्राय

शंका—स सि अ. ७ सूत्र २१ पृ. २७२ (सम्पा. प फू च. सि. शा.) में लिखा है कि 'जैसे राजकुल में चैत्र को उपचार से सर्वगत कहा जाता है'; इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—स. सि. अ. ७ सूत्र २१ पृ० २७२ मे 'चैत्र' से अभिप्राय बौद्धसाधु का है। उनके लिये राज-महल मे कोई रोक टोक नही। तथापि सडाम आदि ऐसे स्थान है जहा बौद्धसाधु नही जाते तथापि उपचार से उनको सर्वगत कहा गया है।[1]

—**पत्राचार अगस्त, 77/ज. ला जैन, भीण्डर**

सल्लेखना/समाधिमरण

शंका—सल्लेखना तथा समाधिमरण मे केवल पर्याय भेद ही है या अर्थ भेद भी है।

समाधान—सत् और लेखना इन दो शब्दो से सल्लेखना शब्द बना है। अर्थात् काय और कषाय को भले प्रकार कृश करना। समाधि का अर्थ त्याग है अर्थात् काय से ममत्वभाव व कषाय का त्याग करना समाधि है। समाधि का अर्थ कठिन समय मे धैर्य धारण करना भी है, अर्थात् मरण समय में धैर्य धारण करके आर्तरौद्ररूप परिणाम न होने देना। इसप्रकार सल्लेखना और समाधिमरण का प्रायः एक ही भाव है।

—**जै. ग** 20-3-67/VII/ **जगन्नाथ**

१. विशेष के लिए श्लोक वार्तिक भाग ६ पृ. ६१०, प्रथम अनुच्छेद पढ़ना चाहिए। —सम्पादक

सहवर्ती पर्याय अर्थात् गुण

शंका—गुण को सहवर्ती पर्याय कहा है सो कैसे ?

समाधान— पर्याय का अर्थ गुण भी है, धर्म भी है। **(संस्कृत-हिन्दी कोश पृ ५९५)**। यहाँ पर पर्याय का अर्थ 'धर्म' लेना। सहवर्ती पर्याय (धर्म) को गुण कहते हैं। इसमे कोई बाधा नही आती।

—जै. ग 26-10-67/VII/ र. ला. जैन

सूच्यंगुल अर्थात् पौण इन्च

शंका—'सूच्यंगुल' का इन्च या सेन्टीमीटर में क्या प्रमाण है ?

समाधान—२४ सूच्यगुल का एक हाथ अर्थात् आधा गज या १८ इच होते है।

> **छहि अगुलेहिवादो बेवादेहिं, विहत्थिणामाय।**
> **दोण्णि विहत्थी हत्थो, बेहत्थेहि हवे रिक्कू ॥११४॥ (ति. प. प्र. अ.)**

छह अगुलो का पाद, दो पादो का वितस्ति (बालिस्त) दो वितस्ति का हाथ इस माप के द्वारा एक सूच्यंगुल पौन-इन्च के बराबर होती है। पौन-इन्च १⅞ सेंटीमीटर के बराबर होता है। इसप्रकार सूच्यगुल का प्रचलित माप मे ज्ञान हो जाता है।

—जै ग 22-4-76/ ज ला. जैन, भीण्डर

स्याद्वाकूतम् का अर्थ

शंका—स्याद्वाकूतम् का क्या अर्थ है ?

समाधान—'स्यात्' का अर्थ 'आकूतम्' किया है। 'स्यात्' का अर्थ कथचित् अर्थात् वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा 'आकूतम्' का अर्थ भी वक्ता का अभिप्राय है। वक्ता के अभिप्राय को नय भी कहते है अथवा अपेक्षा भी कहते हैं। इसप्रकार स्यात् शब्द का जो प्रयोजन है वही आकूतम शब्द का प्रयोजन है।

—पत्राचार / ज ला जैन, भीण्डर

विविध

नमस्कार स्वरूप महामंत्र अनाद्यनन्त है परन्तु प्रकृत णमोकारमंत्र के कर्ता पुष्पदन्ताचार्य हैं

शंका—ध पु. सं. ३ की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि णमोकारमंत्र का वर्तमानरूप अनादि नहीं है। क्या यह ठीक है ? क्या इस मंत्र के रचयिता भी पुष्पदन्त आचार्य थे ?

समाधान—पच नमस्कार मन्त्र अनादि है। कहा भी है—

> **एसो पंचणमोकारो सव्वपावप्पणासणो।**
> **मंगलेसु च सव्वेसु पढमं होदि मंगलं ॥७१३॥ [मूलाराधना]**

अर्थ—यह पचनमस्कारमत्र सर्वपापो का नाश करनेवाला है और सब मगलो मे प्रथममगल है। 'सब मगलो मे प्रथममगल है' इससे ज्ञात होता है कि पचनमस्कार मत्र अनादि है। मत्र व अनिबद्ध मगल श्लोकरूप नही होते। जैसे **'णमो जिणाणं'** अनिबद्ध मगल है, किन्तु श्लोकरूप नही है। षट्खडागम के जीवस्थान का मगलरूप जो णमोकार है वह श्लोकरूप है। इसलिये **श्री वीरसेनाचार्य ने ध० पु० १ पृष्ठ ४१** पर लिखा है—

'तच्च मगलं दुविह णिबद्धमणिबद्धमिदि। तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो त णिबद्धमगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमगल। इद पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं। यत्तो 'इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो अरिहंताणं' इच्चादि देवदाणमोक्कार-दंसणादो।'

अर्थ—यह मगल दो प्रकार का है, निबद्ध-मगल और अनिबद्ध-मगल। जो ग्रन्थ के आदि मे ग्रन्थकार के द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकादिरूप से रचा जाता है, उसे निबद्ध-मगल कहते हैं। और जो ग्रन्थकार के द्वारा देवता को नमस्कार किया जाता है (किन्तु श्लोकादि के द्वारा सग्रह नही किया जाता है) उसे अनिबद्ध-मगल कहते है। उसमे से यह पचनमस्कार मत्र 'जीवस्थान' नामका प्रथमखडागम निबद्ध-मगल है, क्योकि **'इमेसिं चोद्दसण्हं जीव समासाणं'** इत्यादि जीवस्थान के प्रथमसूत्र के पहले **'णमो अरिहंताण'** इत्यादिरूप से देवता-नमस्कार निबद्धरूप से देखने मे आता है। **ध० पु० ९ पृ० १०३** पर भी कहा है—

'णिबद्धाणिबद्धभेएण दुविह मगल। तत्थेद कि णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि ? ण ताव णिबद्धमंगलमिद, महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परुविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो। ण च वेयणाखंड महाकम्मपयडिपाहुडं, अवयवस्स अवयवित्त-विरोहादो। ण च भूदबली गोदमो, विगलसुदधारयस्स धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयल-सुदधारयवड्ढमाणतेवासिगोदमत्तविरोहादो। ण चाण्णो पयारो णिबद्धमगलत्तस्स हेदुभूदोअत्थि। तम्हा अणिबद्ध-मगलमिद।'

अर्थ—निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मगल दो प्रकार है। उनमे म **'णमो जिणाणं'** यह मगल निबद्ध है अथवा अनिबद्ध ? यह **'णमो जिणाण'** निबद्धमगल तो हो नही सकता, क्योकि, कृति आदि चौबीसअनुयोगद्वारोरूप अवयवो वाले महा कर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि मे **श्री गौतमस्वामी** ने इसकी प्ररूपणा की है और **श्री भूतबलि भट्टारक** ने वेदनाखड के आदि मे मगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है, अत इसे निबद्ध मानने मे विरोध है। और वेदनाखड महाकर्म प्रकृतिप्राभृत है नही, क्योकि अवयव के अवयवी होने का विरोध है। और न **श्री भूतबलि श्री गौतम** ही है, क्योकि **विकलश्रुतधारक** और **श्री धरसेनाचार्य** के शिष्य **श्री भूतबलि** को **सकलश्रुतधारक** और **श्री वर्धमानस्वामी** के शिष्य **श्री गौतम** होने का विरोध है। इसके अतिरिक्त निबद्धमगलत्व का हेतुभूत और कोई प्रकार है नही। अत **'णमो जिणाणं'** यह अनिबद्धमगल है।

यद्यपि पचनमस्कार मत्र अनादि है तथापि उसी की श्लोकरूप रचना **श्री पुष्पदंत आचार्यकृत** है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि **श्री वीरसेनाचार्य** ने इस पचनमस्कारमत्र के श्लोक को जीवस्थान का निबद्धमगल कहा है।

यह प्रश्न बहुत गंभीर है, पूर्व मे इस पर चर्चा भी हो चुकी है। आशा है विद्वत्मडल इस विषयपर गभीरता से विचारकर निष्पक्षदृष्टि से शांतिपूर्वक प्रकाश डालने की कृपा करेगा। इस समाधान मे **श्री वीरसेनाचार्य का आशय प्रकट किया गया है।**

—**जै ग** 4-7-66/IX/**र. ला जैन एम. कॉम**

अरिहंत या अरहंत; दोनों ठीक हैं

शंका—'णमो अरिहंताणं' पद के विषय में 'भूवलय' ग्रन्थ मे बताया गया है कि—मंगल की आदि में शत्रुवाची (अरि) अमंगल शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं अतः 'अरहंताण' पाठ ज्यादा उचित है। प्राचीन ग्रन्थों में भी 'अरहंताण' पाठ ही पाया जाता है, किन्तु धवला मे 'अरिहंताण' पाठ दिया गया है ऐसी हालत मे 'भूवलय' की युक्ति कहाँ तक ठीक है ?

समाधान—'भूवलय' ग्रन्थ मेरे पास नही है और न वह मेरे देखने मे आया है। 'अरिहत' व 'अरहत' के अर्थ मे अन्तर नही है। स्वय **धवलटीका** मे 'अरिहत' के तीन अर्थ किये गये हैं। 'अरि' (मोहनीयकर्म) अथवा 'रज' (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व मोहनीयकर्मों) अथवा 'रहस्य' (अतरायकर्म) के नाश से तथा (सातिशयपूजा के योग्य होने से) 'अर्हन्' होने से 'अरिहत' हैं (**ष० खं० पु० १ पृ० ४२-४४**)।

मूलाचार मे भी 'अर्हंत' पद का इसीप्रकार निरुक्ति द्वारा अर्थ किया है—

'अरिहंति णमोकारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति स अरहंतो तेण उच्चंदे ॥४॥

अर्थ—अर्हंतपरमेष्ठी नमस्कार के योग्य होने से उनको अर्हत् कहते हैं। वे पूजा के योग्य हैं अत अर्हत् हैं। 'रजस्' का (ज्ञानावरण **और** दर्शनावरण का) उन्होने नाश किया है अत वे अर्हंत है। 'अरि' (मोह का और अन्तराय का) हन्ता-नाश करनेवाले होने से वे अर्हंत हैं। ऐसे कारणो से वे ऐसी अवस्था को—अर्हत्पदवी को प्राप्त हुए हैं अत वे अर्हंत-सर्वज्ञ हैं, सर्वलोको के—त्रैलोक्य के नाथ हैं ऐसे उनका स्वरूप कहा जाता है।

'अरिहत' व 'अरहत' दोनो शब्दो के अर्थ मे अन्तर न होने से दोनो मे से किसी एक शब्द के लिखने मे कोई बाधा प्रतीत नही होती।

—**जै ग 6-3-58/VI/र ला कटारिया, केकड़ी**

णमोकार मंत्र का उच्चारण काल ३ उच्छ्वास

शंका—णमोकार मंत्र का उच्चारण क्या तीन श्वास जितने काल में करना चाहिये ?

समाधान—णमोकारमत्र यद्यपि गाथारूप है तथापि इसका उच्चारण तीनउच्छ्वासकाल मे होना चाहिए। णमोकारमत्र की गाथा निम्नप्रकार है—

णमो अरिहताणं णमोसिद्धाणं णमोआइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥१॥ ध. पु १ पृ. ८

अर्थ—लोक मे सर्वअरिहतो को नमस्कार हो, लोक मे सर्वसिद्धो को नमस्कार हो, लोक मे सर्वआचार्यों को नमस्कार हो, लोक मे सर्वउपाध्यायो को नमस्कार हो, लोक मे सर्वसाधुओ को नमस्कार हो।

'सर्व नमस्कारेष्वत्रतन सर्वलोक शब्दावन्तदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादिदेवता प्रणमनार्थम्।' ध. पु. १ पृ० ४२

पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने में, इस णमोकारमंत्र में जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अत. सम्पूर्णक्षेत्र में रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओं को नमस्कार करने के लिये उन्हे प्रत्येक नमस्कारात्मकपद के साथ जोड़ लेना चाहिए।

'छत्तीसगाहुच्चारण कालेण (३६) अट्ठसदुस्सासकालेण वा कालसुद्धी समप्पदि ॥१०८॥

—ध० पु० ९ पृ० २५४

'छत्तीस (३६) गाथाओ के उच्चारण काल से अथवा एक सौ आठ (१०८) उच्छ्वासकाल से कालशुद्धि समाप्त होती है।

यहाँ पर णमोकारमत्र की गाथा के ३६ बार उच्चारणकाल को १०८ उच्छ्वासकाल के बराबर कहा है। अत णमोकार मत्र की गाथा का एक बार उच्चारणकाल तीन उच्छ्वास के बराबर होता है।

—*जै ग. 25-11-71/VIII/ र ला जैन*

पंच परमेष्ठी में पाँचों देवत्व को प्राप्त होते हुए भी सभी चरमशरीरी नहीं हैं

शंका—नमस्कारमंत्र पाँचों परमेष्ठियों को नमस्काररूप महामंत्र कहा है। इसमें पाँचों ही चरमशरीरी होते हैं या श्री अर्हंत व सिद्धभगवान के अतिरिक्त अन्य तीन चरमशरीरी नहीं होते? खुलासा लिखने की कृपा करें। जो चरमशरीरी नहीं, उसको नमस्कार क्यों की जावे?

समाधान—नमस्कारमत्र मे चरमशरीरी या अचरमशरीरी की अपेक्षा से नमस्कार नही किया गया है। वीतरागता व विज्ञानता अथवा सम्यक्रत्नत्रयगुण की अपेक्षा नमस्कार किया गया है। **श्री धवल ग्रन्थ** प्रथम पुस्तक मे इसका विशेष विवेचन है। उसका कुछ भाग यहाँ पर दिया जाता है—'पाच परमेष्ठियो को नमस्कार करने मे, इस णमोकार मत्र मे जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक है। अत सम्पूर्ण क्षेत्र मे रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहत आदि देवताओ को नमस्कार करने के लिए उन्हे प्रत्येक नमस्कारात्मकपद के साथ जोड लेना चाहिए।

शंका—जिन्होने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है, किन्तु आचार्यादिक तीनपरमेष्ठियों ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है। अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं? इसका उत्तर इसप्रकार दिया गया है—

समाधान—ऐमा नही है, क्योकि, अपने भेदों मे अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव है, अन्यथा सम्पूर्ण जीवो को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायगी। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव हैं, क्योंकि अरिहतादिक से आचार्यादिक मे रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नही है।

आचार्यादिक परमेष्ठियो मे स्थित तीन रत्नो का सिद्धपरमेष्ठी मे स्थित रत्नो से भेद भी नही है। यदि दोनो के रत्नत्रय मे सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिक में स्थित रत्नो के अभाव का प्रसग आवेगा।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठी के सम्यग्दर्शनादि रत्नों मे कारण-कार्य के भेद से भेद नही माना जा सकता है, क्योंकि आचार्यादिक में स्थित रत्नों के अवयवो के रहने पर ही तिरोहित दूसरे रत्नावयवो का अपने आवरणकर्मों के अभाव हो जाने के कारण आविर्भाव पाया जाता है।

आचार्यादिक और सिद्धों के रत्नो मे परोक्ष और प्रत्यक्ष जन्य भेद भी नही माना जा सकता है, क्योंकि, वस्तु के ज्ञानसामन्य की अपेक्षा दोनों एक है। केवल एक ज्ञान के अवस्था भेद से भेद नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञान मे उपाधिकृत अवस्थाभेद से भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिनदशा को प्राप्त दर्पण मे भी भेद मानना पड़ेगा। आचार्यादिक और सिद्धो के रत्नो मे अवयव और अवयवीजन्य भी भेद नही है, क्योंकि, अवयव अवयवी से सर्वथा अलग नही रहते है।

शंका—सम्पूर्णरत्नत्रय को ही देव माना जा सकता है, रत्नों के एकदेश को देव नहीं माना जा सकता ?

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नही है, क्योंकि, "रत्नो के एक देश मे देवपने का अभाव मान लेने पर रत्नो की समग्रता मे देवपना नही बन सकता है।" ध पु. १ पृ. ५२-५३।

—जै. ग 2-4-64/IX/ मगनमाला

केवलज्ञान होने पर मुनि के कमण्डलु पिच्छिका का क्या होता है ?

शंका—आजतक अनन्त केवली हुए। केवलज्ञान के बाद उनके पिच्छी-कमण्डलु कहाँ जाते हैं क्योंकि समवसरण में केवली के पास कमण्डलु-पिच्छी नजर नहीं आते हैं ?

समाधान—क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् ही कमण्डलु-पिच्छिका की आवश्यकता नही रहती। केवलज्ञान होने के पश्चात् क्या होता है, यह कथन आगम मे देखने में नही आया।

—ज. ला. जैन, भीण्डर/पत्र-8-7-80

आप्त के अभाव-प्राप्त १८ दोषों के नाम

शंका—१८ दोष कौन से है ? इस विषय में कुछ भिन्न मत भी पाये जाते हैं क्या ? क्योंकि कहीं रति-अरति भी दोष में बताया गया है और कहीं नहीं।

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने आप्तसम्बन्धी १८ दोषो का कथन इसप्रकार किया है।

छुहतण्ह भीदरोसो रागोमोहोचिंताजराउजामिच्चू।
स्वेदं खेदं मदो रइ विम्हियणिद्दा जाणुब्वेगो ॥६॥ नियमसार

क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म, उद्वेग, ये १८ दोष आप्त मे नही होते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य ने १८ दोष निम्न प्रकार कहे हैं—

क्षुत्पिपासाजरातङ्क जन्मान्तकभयस्मया।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते ॥६॥ र. क श्रा.

जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और च शब्द से चिन्ता, रति, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, विस्मय ये १८ दोष नही हैं वह आप्त है।

संस्कृत टीका—'च शब्दाच्चिन्तारतिनिद्राविस्मयविषादस्वेदखेदा गृह्यन्ते ।'

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'रोष' कहा है उसके स्थान पर श्री समन्तभद्राचार्य ने 'द्वेष' कहा है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'उद्वेग' कहा है, उसके स्थान पर श्री समन्तभद्राचार्य ने 'अरति' कहा है। मात्र नाम भेद है, अभिप्राय एक है। रोष का अर्थ क्रोध है। क्रोध द्वेषरूप है। इष्टवियोग में विकलभाव (घबराहट) उद्वेग है। अनिष्ट का संयोग अरति है। इनमें भी विशेष अन्तर नही है।

'दव्व-खेत्त-काल-भावेसु जेसिमुदएण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि त्ति सण्णा।' ध. पु ६ पृ ४७

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे जीव के अरुचि उत्पन्न होना अरति है।

—जै. ग. 27-7-72/IX/ र. ला. जैन, एम. कॉम.

(१) सामान्य केवलियों के दो कल्याणक होते हैं
(२) विदेह में ८ आर्य खण्डों में एक तीर्थंकर नियम से सदा रहते हैं

शंका—विदेहक्षेत्र में जो बीस भगवान हमेशा उसी नाम के रहते हैं तो एक भगवान के मुक्त होने के बाद उसी नाम के दूसरे भगवान के जन्म में कितना अन्तराल पड़ता है, क्योंकि कम से कम गर्भ के नौ माह का अन्तराल तो अवश्य पड़ना चाहिये ? उनके कितने कल्याणक होते हैं ? सामान्यकेवलियों के कितने कल्याणक होते हैं ?

समाधान—विदेहक्षेत्र मे १६० आर्यखण्ड है और २० शाश्वत तीर्थंकर हैं। अतः आठ आर्यखण्डो मे एक तीर्थंकर होता है। आठ आर्यखण्डो मे से किसी एक आर्यखण्ड में केवलज्ञानसहित एक तीर्थंकर विद्यमान हैं तो अन्य शेष सात आर्यखण्डो मे से किसी एक आर्यखण्ड मे तीर्थंकर का गर्भ जन्म तथा तपकल्याणक हो जाता है। विद्यमान तीर्थंकर के मोक्ष होने पर तुरन्त दूसरे तीर्थंकर की केवलज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। इसप्रकार आठ आर्यखण्डो मे से किसी एक आर्यखण्ड मे तीर्थंकर अवश्य विद्यमान रहता है। इनके पाँचो ही कल्याणक होते हैं। सामान्यकेवलियो के केवलज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते है। तीर्थंकरकेवली या सामान्यकेवली के अनन्तचतुष्टय मे कुछ अन्तर नही होता।

—जै. ग. 6-5-65/XIV/ मगनमाला

सामान्य केवलियों के दो कल्याणक होते हैं

शंका—सामान्यकेवलियों के कल्याणक होते हैं या नहीं ?

समाधान—सामान्यकेवलियो के गर्भ व जन्म व तपकल्याणक तो नही होते, किन्तु प्रथमानुयोग ग्रन्थो मे केवलज्ञान व मोक्ष के समय देवों का जाना बताया है। उनकी गंधकुटी भी होती है। जिससे ज्ञात होता है कि सामान्यकेवलियों के केवलज्ञान व मोक्षकल्याणक होते हैं, किन्तु ये कल्याणक तीर्थंकरो के कल्याणक के समान नही होते, क्योंकि उनके तीर्थंकरप्रकृति का उदय नही होता है।

—जै. सं. 30-1-58/VI/ रामदास कैराना

क्या तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता ?

शंका—क्या तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता ?

समाधान—कार्य-कारण सिद्धान्त की भूल के कारण सोनगढ़ के नेता 'तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नही होता', ऐसा मानते हैं। उनकी यह मान्यता आर्षग्रन्थ विरुद्ध है। इसीलिये मई १९६५ मे शास्त्रिपरिषद् के अधिवेशन मे २१ बातो को लेकर सोनगढसाहित्य के विरोध में प्रस्ताव पास हुआ था।

जिनवाणी से भव्यजीवो को लाभ होता है। इस सम्बन्ध मे यहाँ पर कुछ आर्षप्रमाण दिये जाते हैं।

पंचास्तिकाय प्रथम गाथा मे **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने **'तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं'** इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि जिनेन्द्रदेव की वाणी तीन लोक का हित करनेवाली है तथा मधुर एव विशद है।

इसकी टीका मे **श्री अमृतचन्द्राचार्य** लिखते हैं—

'त्रिभुवनमूर्ध्वाधोमध्यलोकवर्तीसमस्तएव जीवलोकस्तस्मै निर्व्याबाधविशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भोपायाभिधायित्वाद्धितकरम्।

अर्थ—जिनेन्द्रवाणी अर्थात् दिव्यध्वनि लोकवर्ती समस्त जीवसमूह को निर्बाध विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली है, इसलिये हितकर है।

इसी गाथा की टीका मे **श्री जयसेनाचार्य** ने निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

अभिमतफलसिद्धे रभ्युपाय सुबोध ।
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥

अर्थात्—इष्ट फल (मोक्ष) की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। उस आगम की उत्पत्ति आप्त (जिनवाणी) से होती है।

जिनवाणी से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा असख्यातगुणश्रेणीरूप कर्मों की निर्जरा होती है।

जिय-मोहिंधण जलणो अण्णाणतमंधयार-दिणयरओ ।
कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिणवयणमिवोवही सुहयो ॥५०॥ [ध. १ पृ. ५९]

अर्थ—जिनागम जीवके मोहरूपी ईंधन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है, अज्ञानरूपी गाढ अन्धकार को नष्ट करने के लिये सूर्य के समान है, कर्ममल (द्रव्यकर्म) और कर्मकलुष (भावकर्म) को मार्जन करनेवाला समुद्र के समान है और परम सुभग है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा मे जिनवाणी मे निर्वाण बतलाते हैं।

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं स णिव्वाणं।'

अर्थात्—जिनवाणी पदार्थों का कथन करनेवाली है, चारगति का निवारण करनेवाली है और निर्वाण को देने वाली है।

श्री नरेन्द्रसेनाचार्य सिद्धांतसार में कहते हैं—

> अज्ञानान्धतमस्तोमविध्वस्ताशेषदर्शनाः ।
> भव्याः पश्यन्ति सूक्ष्मार्थान्गुरुभानुवचोंऽशुभिः ॥१-२७॥
> मिथ्यादर्शनविज्ञानसन्निपातनिपीडनात् ।
> गुरुवाक्यप्रयोगेण सर्वे मुञ्चन्ति मानवाः ॥१।२८॥

अर्थ—अज्ञानरूप अंधकार समूह से वस्तुओं को अवलोकन करने की जिनकी शक्ति नष्ट हो गई है ऐसे भव्यजीवों को गुरुवचन ही सूक्ष्मपदार्थ को दिखाते हैं।

गुरुपदेश के प्रयोग से सब मनुष्य मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानरूपी ज्वर की पीडा से मुक्त होते हैं। अर्थात् जिनवाणी से मिथ्यात्व का नाश होकर अज्ञानीजीव ज्ञानी बन जाता है।

इन आचार्यवाक्यों के विरुद्ध सोनगढवाले यह कहते हैं कि जिनवाणी से किसी को लाभ नहीं होता।

> विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः ।
> प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभते मानवः ॥१५।१२॥

अर्थ—हे जिनवाणी माता ! महामुनि जब पहिले तेरा अवलम्बन लेते हैं तब वही मोक्ष को पाते हैं। ठीक भी है कि मनुष्य अन्धकार से व्याप्त घर में दीपक का अवलम्बन लेकर ही इच्छित वस्तु प्राप्त करता है।

> अगोचरे वासरकृन्निशाकृतोर्जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।
> विभिद्यते वाग्धिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रणीयसे ॥१५।२०॥

अर्थ—हे जिनवाणी ! मनुष्यों के चित्त में जो अज्ञान स्थित है उसे न तो सूर्य नष्ट कर सकता है और न चन्द्रमा ही। परन्तु हे देवी ! उसको तू नष्ट करती है, इसलिये जिनवाणी को उत्तमज्योति कहा जाता है।

सोनगढ़वालों का मूल आधार इष्टोपदेश श्लोक ३५ है, जिसमें **'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति** अर्थात् मूर्ख ज्ञानी नहीं हो सकता' ऐसा कहा है। यहाँ पर 'अज्ञ' अर्थात् मूर्ख से अभिप्राय अभव्यजीव से है। संस्कृत टीका में कहा भी है—**'अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादि ।'** अर्थात् 'अज्ञ' से अभिप्राय अभव्य का है, जो तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के अयोग्य है।

यदि **इष्टोपदेश श्लोक ३५** का यह अर्थ कर दिया जाय कि कोई भी अज्ञानी ज्ञानी नहीं हो सकता तो मोक्षमार्ग का ही अभाव हो जायगा, क्योंकि प्रत्येक जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि है। जितने भी सिद्ध हुए वे भी अनादि से अज्ञानी थे और उपदेशादि के द्वारा उनको सम्यग्दर्शन का लाभ हुआ अर्थात् ज्ञानी बने हैं।

यदि उपदेश को सम्यग्दर्शन में हेतु न माना जाय तो अधिगमज सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आ जायगा। **मोक्षशास्त्र अध्याय १ सूत्र ३ 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा'** में यह बतलाया है कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और परोपदेश से होता है। इसकी टीका में **श्री पूज्यपादआचार्य** ने लिखा है कि निसर्गज और अधिगमज दोनों सम्यग्दर्शन में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप अन्तरंगकारण समान है, किन्तु जो बाह्यउपदेश के बिना होता है वह नैसर्गिक है और जो परोपदेशपूर्वक जीवादिपदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। यही इन दोनों में भेद है।

'यत्परोपदेशपूर्वकंजीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम् । इत्यनयोरयंभेदः ।'

अपने इन वचनो का विरोध श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश **गाथा ३५** मे नहीं कर सकते थे, इसलिये उन्होंने **गाथा ३५** मे अन्य पदार्थों को **कार्य** की उत्पत्ति में **निमित्तकारण** स्वीकार **किया है।**

उपदेश से भव्य जीवो को लाभ होता है ऐसा स्पष्ट कथन **श्री पूज्यपाद आचार्य ने स. सि. अ. ५ सूत्र २१ की टीका** मे किया है, जो निम्नप्रकार है—

"आचार्य उभयलोक-फल-प्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते ।"

अर्थ—आचार्य दोनो लोक मे सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया मे लगाकर शिष्यो का उपकार करता है।

'जिनवाणी से किसी को लाभ नही होता।' इस धारणा से सोनगढवालो का दूसरा आधार **योगसार गाथा ५३** है। किन्तु मूलगाथा उदधृत नही की गई है। इस गाथा मे **"सत्थपढतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।"** इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि अभव्यप्राणी शास्त्र को तो पढ लेते है, किन्तु आत्मा को नही जानते, क्योकि **वे अभव्य हैं।** इसी बात को **श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार** मे कहा है—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२९४॥

अर्थ—अभव्यजीव को मोक्ष की श्रद्धा नही होती वह अभव्य शास्त्र को पढता है, परन्तु ज्ञान की श्रद्धा न होने से उसको शास्त्र पठन का फल नही होता।

जो अभव्यजीव होते है उनको अभव्यसम्बन्धी गाथायें इष्ट होती हैं। किन्तु **श्री योगीन्द्रदेव तथा श्री कुन्दकुन्द आचार्य** भव्य थे इसलिये उन्होने उपदेश से लाभ होना स्वीकार किया है।

संसारहं भय-भीयहं मोक्खहं लालसयाहं ।
अप्पा-संबोहण-कयइ कय दोहा एक्कमणाहं ॥३॥ [योगसार]

अर्थ—जो ससार से भयभीत हैं और मोक्ष के लिये जिनकी लालसा है अर्थात् भव्यजीवो को सबोधन के लिये एकाग्र चित्त से मैंने इन दोहो की रचना की है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी मोक्षमार्ग मे आगम की प्रधानता बतलाते हैं।

णिच्छित्ति आगमदो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा ॥३॥३२॥

अर्थात्—सर्वज्ञ-वीतराग प्रणीत आगम से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, इसकारण आगमाभ्यास की प्रवृत्ति प्रधान है।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ॥३॥३६॥

अर्थात्—आगमाभ्यास से रहित मुनि भी स्व और पर को नहीं जानता।

"आगमचक्खू साहू" ॥३॥३४॥

अर्थात्—मुनि के मोक्षमार्ग की सिद्धि के लिये आगमरूपी नेत्र होते हैं। मुनि मोक्षमार्ग की सिद्धि आगम के द्वारा करते हैं।

यदि उपदेश से भव्यजीवो का भला न होता तो श्री कुन्दकुन्दादि आचार्य ग्रन्थो की रचना क्यो करते और उपदेश क्यों देते ?

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्व ज्ञानात्परं श्रेय ॥२॥ (धवल पु० १)

अर्थ—शब्द से पद की सिद्धि होती है पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है। अर्थ-निर्णय से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान से परम-कल्याण होता है।

ज. ध. पु १ पृ. ६ पर श्री वीरसेनाचार्य ने कहा कि परमागम के उपयोग से कर्मों का नाश होता है।

"तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि। ण चेदमसिद्धं; सुह-सुद्धपरिणामे हि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।"

अर्थ—यदि कोई कहे कि परमागम के अभ्यास से कर्मों का नाश होता है यह बात असिद्ध है सो भी ठीक नही है, क्योंकि यदि शुभ या शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नही सकता।

इन आर्षवाक्यो से सिद्ध है कि जिनवाणी से भव्यजीवो का भला होता है, इनका खडन अनार्षवाक्यो से नही हो सकता।

—जै. ग. 12-6-66/IX/... ....

क्या उपदेश देना जड़ की क्रिया है ?

शंका—मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें (सोनगढ़ से प्रकाशित) के पृ. १७८ पर लिखा है—"उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़ की क्रिया है आत्मा उसे कर नहीं सकता।" क्या यह मत ठीक है ?

समाधान—सोनगढ़ का यह मत "उपदेश तो जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे कर नही सकता" आर्षग्रन्थ विरुद्ध है। मूल उपदेश के कर्ता श्री तीर्थंकर अरिहंत भगवान है, क्योकि उनके उपदेश के आधार से श्री गणधर देव द्वादशांग की रचना करते है। तीर्थंकर भगवान का उपदेश गुरुपरम्परा से श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों को प्राप्त हुआ था, जिसके आधार पर उन्होने समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, धवल, जयधवल आदि ग्रन्थों की रचना की। आज जो हमको ज्ञान प्राप्त है वह इन आर्ष ग्रन्थों के स्वाध्याय से ही उत्पन्न हुआ है।

जिनवाणीरूप उपदेश को यदि मात्र जड़ की क्रिया मान लिया जाय और श्री तीर्थंकर भगवान को उसका कर्त्ता न माना जावे तो मेघगर्जना के समान जिनवाणी के भी प्रामाणिकता के अभाव का प्रसग आ जायगा। जिनवाणी की प्रामाणिकता के अभाव में द्वादशाङ्ग तथा समयसार आदि अन्य सब आर्षग्रन्थ भी प्रामाणिक नही रहेगे। श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है—

त्रयो वक्तारः सर्वज्ञस्तीर्थंकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्य केवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उद्दिष्ट । तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वं लक्षणम् । तत्प्रमाणम् तत्प्रमाण्यात् आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव ।" स. सि. १।२०

अर्थ—वक्ता तीन प्रकार के हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय। इनमे से परमऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्यकेवलज्ञानरूप विभूतिविशेष से युक्त हैं, इस कारण उन्होंने अर्थरूप से आगम का उपदेश दिया है। ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त है, इसलिये प्रमाण है। इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धि की अतिशयरूप ऋद्धि से युक्त गणधर–श्रुतकेवलियो ने अर्थरूप आगम का स्मरण कर अग और पूर्व-ग्रन्थो की रचना की। सर्वज्ञदेव की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण हैं। आरातीय आचार्यों ने कालदोष से जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्यो का उपकार करने के लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिसप्रकार क्षीरसागर का जल घट मे भर लिया जाता है। उसीप्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूप से वे ही है, इसलिये प्रमाण है।

पंचास्तिकाय को प्रथम गाथा मे जिनेन्द्रभगवान को नमस्कार करते हुए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते है—**"तिहुअणहिदमधुरविसद वक्काणं।"** अर्थात् जिनेन्द्रभगवान की वाणी तीनलोक को हितकर मधुर एव विशद **है। इसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य** लिखते है **"समस्तवस्तुयाथात्म्योपदेशित्वात् प्रेक्षावत्प्रतीक्ष्यत्वमाख्यातम्।"** अर्थात्—जिनदेव समस्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप के उपदेशक होने से विचारवत बुद्धिमान पुरुषो के बहुमान के योग्य हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की प्रथम गाथा में "वोच्छामि समयपाहुड, मिणमो सुयकेवली भणियं।" इन शब्दो द्वारा यह कहा है कि 'केवलीश्रुतकेवली के द्वारा उपदिष्ट यह समयसार प्राभृत कहूँगा।"

समयसार गाथा ५ की टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने बतलाया कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के वैभव का जन्म, सर्वज्ञदेव गणधर आदि तथा पूर्वाचार्य के उपदेश से हुआ था।

ध. पु. १ पृ० ३६८ पर श्री वीरसेनाचार्य ने "तस्यज्ञानकार्यत्वात्" इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि दिव्यध्वनि (जिन-उपदेश) ज्ञान का कार्य है।

इन सब महानाचार्यों ने उपदेश को जड की क्रिया नही बतलाया है, किन्तु सर्वज्ञदेव को उपदेशदाता बतलाया है अथवा केवलज्ञान का कार्य बतलाया है।

शास्त्रिपरिषद् के प्रस्ताव का उत्तर देते हुए जनवरी १९६६ के **हिन्दी आत्मधर्म पृ० ५६५ उत्तर पृ० २९** पर सोनगढ़ के नेताओ ने लिखा है—"श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सर्वज्ञभगवान की साक्षी देकर कहते हैं।" यहाँ सोनगढ वालो ने उपदेश देना श्री **कुन्दकुन्दाचार्य** की क्रिया स्वीकार की है। फिर उनका यह लिखना "उपदेश तो जड़ की क्रिया है। आत्मा उसे कर नही सकता।" स्व वचन-बाधित है।

सोनगढ़वालो ने उत्तर मे **शास्त्राधार नं० १** मे मात्र **समयसार गाथा नं० ८६, ८७, ३२१, ३२२, ३२३ का उल्लेख किया है,** किन्तु मूल गाथा या उनका **अर्थ** उनकी टीका उद्धृत नही की है। गाथा ८७ मे तो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि जीव, अजीव के भेद से दो प्रकार के बतलाये हैं जिसका इस प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं

है। और गाथा ३२१ से ३२३ मे यह बतलाया है कि नर-नारकादि जीव की पर्यायो का आत्मा कर्त्ता नही है, किन्तु प्रवचनसार गाथा ११७-११८ में 'णरणारतिरियसुरा जीवा खलु णाम कम्मणिव्वत्ता।' जीव की नर, नारक, तिर्यंच, देवपर्यायो का कर्त्ता नामकर्मरूप पुद्‌गल को बतलाया है। इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जीवद्रव्य की नर, नारकादि पर्यायो का कर्त्ता आत्मा को न मानकर पौद्‌गलिक नामकर्मको स्वीकार किया है और समयसार व पंचास्तिकाय की प्रथम गाथाओ मे अरहतभगवान को पौद्‌गलिक वचनो (उपदेश) का कर्त्ता बतलाया है। समयसार गाथा ८६ मे जो द्विक्रियावादी को मिथ्यादृष्टि कहा है वहाँ पर उपादान की अपेक्षा से कथन है। इस गाथा मे 'उपदेश' के विषय मे कुछ वर्णन नही है। अत यह गाथा भी प्रकरण से बाहर है।

सभी आचार्यों ने श्री अरहंतभगवान को श्री गणधरदेव तथा अन्य आचार्यों को उपदेशदाता बतलाया है, किसी भी आचार्य ने उपदेश को मात्र जड की क्रिया नही बतलाया। आर्षवाक्यो का खण्डन अनार्षवाक्यो द्वारा नही हो सकता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रमाण सोनगढवालो ने दिया है, किन्तु मोक्षमार्गप्रकाशक मे तो 'उपदेश को अरहत भगवान की क्रिया' बतलाया है जो निम्नप्रकार है—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २ पर 'अरहत' का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—बहुरि जिनके वचननितैं लोकविषै धर्मतीर्थ प्रवर्ते है, ताकरि जीवनि का कल्याण हो है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ५ पर आचार्य का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—'धर्मोपदेश देते हैं।'

मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० १५ पर लिखा है—'तीर्थंकर केवलीनिका, जाकरि अन्य जीवनिकै पदनिका अर्थनिका ज्ञान होय ऐसा, दिव्यध्वनिकरि उपदेश हो है।' 'सो केवलज्ञानी विराजमान होइ जीवनिको दिव्यध्वनिकरि उपदेश देना भया।'

मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृ० १८ पर लिखा है—'प्रथम मूल उपदेशदाता तौ तीर्थंकर केवली भये सो तौ सर्वथा मोह के नाशते सर्व कषायनि करि रहित है।'

मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० १९ पर लिखा है—'मूल ग्रन्थ कर्त्ता तो गणधर है ते आप चार ज्ञान के धारक हैं अर साक्षात् केवली का दिव्यध्वनि उपदेश सुने है ताका अतिशयकरि सत्यार्थ ही भासै है अर ताही के अनुसार ग्रन्थ बनावै है।'

सोनगढवालो ने स्वय अपने उत्तर पृ० २९ तथा आत्मधर्म पृ० ५६५ पर 'श्री कुन्दकुन्दाचार्य सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर कहते है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता हो सकता है, ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है।' यह लिखकर स्वीकार कर लिया कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य तो जीवद्रव्य हैं और उन्होने पुद्‌गलरूप वचनो को कहा अर्थात् उपदेश श्री कुन्दकुन्दभगवान की क्रिया थी, जड की क्रिया नही थी।

इसप्रकार सोनगढवालो के उत्तर मे सोनगढ की मान्यता का खडन होता है। आज तो दिगम्बरेतर समाज के ग्रन्थो के आधार पर जैनधर्म का उपहास होता है, कल को सोनगढ के साहित्य पर से जैनधर्म का उपहास होगा, क्योकि सोनगढसाहित्य मे कार्य-कारणभाव के विषय मे महान् भूल है। उस भूल के कारण ही सोनगढ के नेता उपदेश को जड की क्रिया' कहते है। जैनेतर समाज मे क्या यह उपहास का कारण नही बनेगा ?

—जै. ग. 6-6-66/IX/........

मोक्ष का कारण कौनसा रत्नत्रय ?

शंका—साक्षात् मोक्ष का कारण क्या तेरहवें गुणस्थान का रत्नत्रय है या चौदहवें गुणस्थान का रत्नत्रय है अथवा १४वें गुणस्थान के अन्तिमसमय का रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है ?

समाधान—इस सम्बन्धी कोई एकांत नहीं है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** और उनके टीकाकार **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने वीतरागता को साक्षात् मोक्ष का कारण कहा है, उनका कहना है कि रागी कर्म से बंधता है और विरागी (वीतरागी) कर्म से छूटता है। **'रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदि जीवो विरागसपत्तो।'**

'य खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः।'

अर्थात्—रागी कर्म बांधता है और वीतरागी कर्मों से मुक्त होता है, यह आगम है।

श्री उमास्वामी ने **मोक्षशास्त्र** में भी कहा है कि 'बन्ध के कारणों के अभाव होने और निर्जरा से सबकर्मों का आत्यंतिकक्षय होना ही मोक्ष है तथा कषाय के अभाव में मात्र ईर्यापथआस्रव होता है, जो कि १२वें १३वें गुणस्थान में होता है। **मोक्षशास्त्र** में १२वें गुणस्थानवाले को वीतराग छद्मस्थ कहा है।

श्री पूज्यपादस्वामी तथा **श्री अकलंकदेव** ने १४वें गुणस्थान में साक्षात् मोक्ष का कारण माना है, क्योंकि १४वें गुणस्थान में आस्रव का भी निरोध हो जाता है। कहा भी है **'समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति'** ध्यान में सर्वप्रकार के कर्मबन्ध के कारणरूप आस्रव का भी निरोध हो जाने से तथा बाकी के बचे सब कर्मों को नाश करने की शक्ति के उत्पन्न हो जाने से अयोगकेवली के संसार के सर्वप्रकार के दुःखजाल के सम्बन्ध का उच्छेद करनेवाला सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र-ज्ञानदर्शनरूप साक्षात् मोक्ष का कारण उत्पन्न होता है।

श्री विद्यानन्दआचार्य ने निश्चयनय से अयोगकेवली के अन्तिमसमय के रत्नत्रय को मोक्ष का कारण माना है, किन्तु व्यवहारनय से उससे पूर्व का अर्थात् १३वें आदि गुणस्थान के रत्नत्रय को भी मोक्ष का कारण माना है और साथ में यह भी सूचना दी है कि तत्त्ववेदियों को इसमें कोई विवाद नहीं है।

रत्नत्रितयरूपेणायोग केवलिनोऽन्तिमे।
क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चितान्नयात्।।
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम्।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं तत्त्ववेदिनाम्।।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न कथन है। स्याद्वादियों को इसमें कोई विवाद नहीं है, किन्तु जो एकांतमिथ्यादृष्टि हैं वे दुराग्रह के कारण अपने एकांतपक्ष को पुष्ट करते जाते हैं, स्याद्वाद को वे पढ़ना या सुनना भी नहीं चाहते। इस एकांत पक्ष के दुराग्रह के कारण संसार में नाना मिथ्यामतों की उत्पत्ति हुई है, हो रही है और होवेगी।

—जै. ग. 20-2-67 /VI/........

क्या आर्षग्रन्थ कुशास्त्र हैं ?

शंका—क्या दि० जैन आर्षग्रन्थ कुशास्त्र हैं ?

समाधान—छहढाला की दूसरी ढाल के तेरहवें पद्य मे कुशास्त्र के लक्षण का कथन है । यथा—

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त ।
कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास सो है कुबोध बहु देन त्रास ॥

इस पद्य मे कपिलादि द्वारा रचित शास्त्रो को कुशास्त्र बतलाया गया है, क्योकि उनमे एकान्त अर्थात् निरपेक्षदृष्टि से एकान्त का कथन है तथा उनमे पाँचइन्द्रियों के विषयों के पोषण का उपदेश है ।

इस छहढाला की टीका सोनगढ से प्रकाशित हुई है। जिसमे उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए निम्न-प्रकार लिखा है—

'दया, दान, महाव्रतादि के शुभभाव जो कि पुण्यास्रव है उससे तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से समारपरित (अल्पमर्यादित) होना बतलाये, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है आदि जिनमे विपरीत कथन हो वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र है, क्योकि उनमे प्रयोजनभूत साततत्त्वो की यथार्थता नही है ।'

दि० जैन आर्षग्रन्थो मे दया दान महाव्रत को धर्म तथा ससार के अभाव का अर्थात् मोक्ष का कारण कहा गया है और सोनगढ की व्याख्या के अनुसार वे भी कुशास्त्र है इसलिए श्री महावीरजी मे पचकल्याणक-प्रतिष्ठा के शुभ अवसर पर मई १९६४ मे शास्त्रिपरिषद् के अधिवेशन मे सोनगढ की उपर्युक्त व्याख्या के विरोध मे प्रस्ताव पास हुआ था ।

सोनगढ मे प्रकाशित जनवरी १९६६ के हिन्दी आत्मधर्म मे इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए पृ० ५५१ पर लिखा है—'श्वेताम्बरशास्त्रो मे व्रत, दान, दयादि के शुभभावो से ससार परित होना लिखा है, दिगम्बरशास्त्र तो दयादि के शुभभावो मे पुण्य होना मानते है, संसार का अभाव होना नही मानते अतः उपरोक्त दृष्टि से कथन आया है ।'

दया, दान, व्रत को धर्म तथा इनसे ससार का अभाव व मोक्ष की प्राप्ति प्राय सभी दिगम्बर जैन आर्ष-ग्रन्थो मे बतलाई गई है । उनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ पर भी किया जाता है । **श्री कुन्दकुन्दाचार्य मूलाचार पर्याप्तिअधिकार** मे कहते है—

दइदूण सव्वजीवे दमिदूण य इंदियाणि तह पंच ।
अट्ठविहकम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जाय ॥२३८॥

अर्थ—सर्व जीवों पर दया तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियो के दमन द्वारा आठकर्मों से रहित होकर सबसे उत्कृष्ट मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां ।
मूलं, धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनि श्रेणिका ॥ पद्मनन्दि. पच. १।८

अर्थ—यहाँ धर्मात्मा सज्जनो को सबसे पहिले प्राणियो के विषय में नित्य ही दया करनी चाहिये, क्योकि वह दया समीचीन व्रतसमूह सुख एव उत्कृष्ट सम्पदाओ की मुख्य जननी है, तथा दयाधर्मरूपी वृक्ष की जड है और मोक्षमहल पर चढ़ने के लिये अपूर्व नसैनी है ।

दयामूलस्तु यो धर्मो महाकल्याणकारणम् ।
दग्ध-धर्मेषु सोऽन्येषु विद्यते नैव जातुचित् ।।२३।।
जिनेन्द्रविहिते सोऽयं मार्गे परमदुर्लभे ।
सदा सन्निहिता येन त्रैलोक्याग्रमवाप्यते ।।२४।। पद्मपुराण पर्व=५

अर्थ— जो धर्म दयामूलक है वही महाकल्याण (मोक्ष) का कारण है। ससार के अन्य अधमधर्मों में वह दयामूलक धर्म नही पाया जाता। वह दया मूलक धर्म, जिनेन्द्रभगवान के द्वारा प्रणीत परम दुर्लभ मार्ग मे सदा विद्यमान रहता है और दयाधर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ।।१४।। रयणसार

अर्थ—पूजा के फल स देवताओ के इन्द्र द्वारा पूजित त्रिलोक का अधीश अर्थात् अरहंत होता है और दान के फल से त्रिलोक मे सारभूत उत्तमसुख अर्थात् मोक्षसुख को भोगता है।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसदो होइ भोग-सग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ।।१६।।

अर्थ—सुपात्र को दान प्रदान करने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सुखको प्राप्त होकर अनुक्रम से मोक्षसुख पाता है जिनेन्द्र ने ऐसा दान का फल कहा है।

पात्रभूतान्नदानाच्च शक्त्याद्यास्तर्पयन्ति ते ।
ते भोगभूमिमासाद्य प्राप्नुवन्ति परं पदम् ।।१०६।।

दानतो सातप्राप्तिश्च स्वर्गमोक्षैककारणम् ।।१०८।। पद्मपुराण पर्व १२३

अर्थ—जो शक्तिसम्पन्न मनुष्य, पात्रो के लिये अन्न देकर सन्तुष्ट करते है वे भोगभूमि पाकर परम पद मोक्षपद को प्राप्त होते है। दान से सुखकी प्राप्ति होती है और दान स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रधानकारण है।

अणुधर्मोऽग्रधर्मश्च श्रेयसः महाविस्तार-सङ्गत ।
परो निर्ग्रन्थशूराणां कीर्तितोऽत्यन्तदुःसहः ।।८५।१८।। पद्मपुराण

अर्थात्—अणुव्रत और महाव्रत ये दोनो मोक्ष के मार्ग है। अणुव्रत परम्परा से मोक्ष का कारण है और महाव्रत साक्षात् मोक्ष का कारण है।

'भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभि साध्योऽत्र मोक्षः परं'। पद्मनन्दि ७।२६

अर्थात्—भव्यजीवो को अणुव्रत अथवा महाव्रतो के द्वारा केवल मोक्ष ही सिद्ध करने योग्य है।

तद्विपर्ययतो मोक्षहेतवः पंच सूत्रिताः ।
सामर्थ्यादत्र नातोस्ति विरोधः सर्वथा गिराम् ।।८।१।३।। श्लोकवार्तिक

इस श्लोक मे **श्री महानाचार्य विद्यानन्दजी** ने यह बतलाया कि बंध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग सूत्र मे बतलाये गये हैं। इस सूत्र की सामर्थ्य से यह भी सिद्ध होता है कि इनके उलटे सम्यग्दर्शन, व्रत, अप्रमत्त, अकषाय और अयोग ये पाँच मोक्ष के कारण हैं। इसप्रकार इस श्लोक मे व्रत को मोक्ष का कारण बतलाया गया है।

इनके अतिरिक्त अनेक दिगम्बर जैन आर्षग्रन्थ है जिनमे **श्री कुन्दकुन्दादि** दिगम्बर जैन आचार्यों ने दया, दान, महाव्रतरूप भावो को मोक्ष का कारण बतलाया है। सोनगढसिद्धान्त अनुसार ये सब कुशास्त्र हैं।

अनार्षग्रन्थो के आधार पर आर्षग्रन्थो का खण्डन नही हो सकता है। सोनगढ के नेताओ ने अपने कथन के समर्थन मे एक भी आर्षग्रन्थ का प्रमाण नही दिया है।

जिस साहित्य मे दिगम्बर जैनाचार्यों के कथन का विरोध हो वह दिगम्बरजैनसाहित्य नही हो सकता है।

सोनगढ के नेताओ से निवेदन कि यदि वे स्व-पर का कल्याण चाहते है तो उनको अपने साहित्यमें परिवर्तन करना होगा। आर्षग्रन्थ विरुद्ध बातो को निकालना होगा।

शास्त्रिपरिषद् के प्रस्ताव का सुन्दर उत्तर भूल को स्वीकार करना था, न कि उस भूल की पुनरुक्ति करना।

—जै. ग. 2-5-66/VII/..... ..

अहिंसा और सोनगढ़ सिद्धान्त

शका—दि० जैनधर्म में 'अहिंसा परमो धर्म' एक मूल सिद्धात माना जाता है, किन्तु यह जैनधर्म का निज का सिद्धात नहीं है, क्योंकि जैनियो के भगवान महावीर ने अहिंसा या जीवदया का उपदेश नहीं दिया है, ऐसा जैन साहित्य से स्पष्ट है। जैन साहित्य के वे वाक्य निम्न प्रकार हैं—

'भगवान ने पर-जीवो की दया पालने को कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मों का वर्णन किया है—इसप्रकार मानना न तो भगवान को पहिचानने का वास्तविक लक्षण है और न भगवान के द्वारा कहे गये शास्त्रो को ही पहिचानने का। यह बात मिथ्या है कि भगवान ने दूसरे जीवों की दया स्थापित की है।' [सोनगढ़-मोक्षशास्त्र]

इससे ज्ञात होता है कि जैनधर्म में अहिंसा व जीवदया का सिद्धांत वैदिकधर्म से लिया गया है, क्योंकि उसमें कहा है—

दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोडिये, जब लग घट में प्राण ॥

नोट—यह एक अजैन का प्रश्न है जिस पर गम्भीर विचार होना चाहिये।

शकाकार का बहुत आभार है कि दि० जैनधर्म के नाम पर प्रकाशित होने वाले ऐसे साहित्य को वह दि० जैनो की दृष्टि मे लाया है।

समाधान—मोक्षशास्त्र, मूल जो सस्कृत मे है वह तो **श्री उमास्वामी** विरचित है जिसमे अहिंसा और जीवदया का उपदेश है। इस पर जो भाषा टीका सोनगढ से प्रकाशित हुई है, जिसके वाक्य शकाकार ने उद्धृत किये हैं, यह दि० जैन सिद्धान्तानुकूल नही है। क्योंकि **श्री कुन्दकुन्दादि** आचार्यों ने भगवान के उपदेश अनुसार अहिंसा व जीवदया को धर्म बतलाया है।

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥ बोधपाहुड़

अर्थ—दयाकरि विशुद्ध तो धर्म है, प्रव्रज्या सर्वपरिग्रहते रहित है, जिसका मोह नष्ट हो गया वह देव है। ये भव्यजीवो के मनोरथ पूर्ण करनेवाले अर्थात् मुक्ति देनेवाले है ।

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं ।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥१३१॥ भावपाहुड़

इस गाथा मे भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने छहकाय (पाच स्थावर और एक त्रस) अर्थात् सब जीवों पर मन, वचन, काय से दया करने का आदेश दिया है ।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेर-संतोसे ।
सम्मद्दंसण णाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥ शीलपाहुड़

अर्थ—जीवदया, इद्रियो का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य सतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप ये सर्वशील (जीवस्वभाव) के परिवार है ।

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदा,
मूलं धर्मतरोरनश्वर-पदारोहैक निःश्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिश ॥१-८॥ प. नं. प वि.

अर्थ—यहा धर्मात्मा सज्जनो को सबसे पहिले प्राणियो के विषय मे नित्य ही दया करनी चाहिये, क्योकि वह दया समीचीन व्रतसमूह सुख एव उत्कृष्ट सम्पदाओं की मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है। दया धर्मरूपी वृक्ष की जड है, तथा अविनश्वरपद अर्थात् मोक्षमहल पर चढ़ने के लिये नसैनी का काम करती है। निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशायें शून्य जैसी है ।

जन्तुकृपार्दितमनस. समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य ।
प्राणेन्द्रिय-परिहारं संयममाहुर्महामुनयः ॥१९६॥ पद्म० पं०

अर्थ—जिसका मन जीव-अनुकम्पा से भीग रहा है तथा जो ईर्या, भाषा आदि (देखकर चलना, देखकर वस्तु को रखना उठाना जिसमे जीवो को बाधा न हो तथा हित-मित-वचन बोलना, कठोरवचन नही कहना) पाँचसमितियों मे प्रवर्तमान है ऐसे साधु के द्वारा षट्काय (सर्व) जीवो की रक्षा और अपनी इन्द्रियो का दमन किया जाता है उसे गणधरदेवादि महामुनि सयम कहते हैं ।

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते ।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत् ॥६।३७॥
मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम् ।
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥६।३८॥
सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे ।
सूत्रधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव ॥३९॥ पद्म० पं०

अर्थ—जिनभगवान के दयालुतारूप अमृत से परिपूर्ण उपदेश से जिन श्रावकों के हृदय में प्राणिदया प्रगट नहीं होती है उनके धर्म कहाँ से हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता? इसका अभिप्राय यह है कि जिनगृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा है। जिनका चित्त दया से आर्द्र नहीं हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकते, कारण कि धर्म का मूल तो दया है ॥ ६।३७ ॥

प्राणिदया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, सम्पत्तियों का स्थान है और गुणों का भण्डार है। इसलिये विवेकी जीवों को प्राणिदया अवश्य करनी चाहिये ॥६।३८॥

मनुष्यों में सब ही गुण जीव दया के आश्रय से इसप्रकार रहते हैं जिसप्रकार पुष्पों की लड़ियाँ सूत के आश्रय से रहती है। अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि गुणों के अभिलाषी श्रावक को प्राणियों के विषय में दयालु अवश्य होना चाहिए।

णिज्जिय-दोसं देवं सव्व-जिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जिय-गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥३१७॥ स्वा का. अ.

अर्थ—जो दोषरहित को देव और सब जीवों पर दया को उत्कृष्टधर्म तथा परिग्रहरहित को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जो जीवदया को धर्म नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

हिंसा पावं त्ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो ॥४०६॥ स्वा का.

अर्थ—हिंसा पाप है और धर्म दयाप्रधान है।

दया भावो वि य धम्मो हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदी ॥४१५॥ स्वा. का.

अर्थ—दयाभाव धर्म है हिंसाभाव धर्म नहीं है जिसको इसमें सन्देह नहीं है उसीका निर्मल निःशंकित सम्यग्दर्शन होता है।

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७८॥ स्वा का.

अर्थ—वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमादि दसभाव धर्म हैं, रत्नत्रयधर्म है, और जीवों की रक्षा धर्म है।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभाव संजुत्ता।
ते सव्व दुरियखम्भ हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥ भावपाहुड़

अर्थ—जो मुनि मोह, मद, गौरव इनिकरि रहित है और करुणा भावकरि सहित है चारित्ररूपी खड्गकरि पापरूपी स्तंभ है ताहि हणे है।

सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दस अट्ठदोस रहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ॥ नियमसार गाथा ६ की टीका

अर्थ—वह धर्म है जहाँ दया है, इसमें संदेह नहीं है।

यस्मात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् ।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥३१८॥
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।
परं फलं तु सर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥३६१॥ उपासकाध्ययन

अर्थ—प्रमाद के योग से प्राणियो के प्राणो का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥३१८॥

अर्थ—अकेली जीव दया एक ओर है और बाकी की सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। अर्थात् अन्य सब क्रियाओं से जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य सब क्रियाओ का फल खेती की तरह है और जीवदया का फल चिंतामणि के समान है ॥३६१॥

'धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं' ॥७॥ आत्मानुशासन

अर्थात्—दयामयी धर्म सुख करने वाला है।

दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्। नयत्यवश्यं वचसामगोचरं, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥ आत्मानु०

अर्थ—हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरलभाव से दया, इंद्रियदमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग मे प्रवृत्त हो। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे मोक्ष को प्राप्त कराता है जो वचनातीत है और समस्त विकल्पो से रहित है।

धर्मोनाम कृपामूलं सा तु जीवानुकम्पना।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिक-लक्षणम् ॥५।३५॥ क्षत्रचूडामणि

अर्थ—धर्म का मूल दया है और वह दया जीवो की अनुकम्पारूप है। अरक्षितप्राणियो की रक्षा करना ही धर्मात्मा का लक्षण है।

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वण्णिओ गुणो जम्हा।
पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥९४॥ वसु० श्रावकाचार

अर्थ—सम्यग्दर्शन का प्रधानगुण अनुकम्पा अर्थात् दया है, अतः शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है।

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥१॥ (ज्ञानार्णव/धर्मभावना)

अर्थ—जिसधर्म से जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है और जो धर्म दयारूपी रससे आर्द्रित (गीला) और हरा है उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है।

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥५७॥ ज्ञानार्णव सर्ग ८

अर्थ—इस जगत मे जीवरक्षा के अनुराग से मनुष्य कल्याणरूप पद को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि ऐसा कोई भी कल्याणपद नही है जो दयावान नही पाते।

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ।।९।५।। (ज्ञानार्णव)

अर्थ—जो वचन सत्य हो, करुणा से व्याप्त हो वे ही वचन प्रशसनीय है ।

ध्याने ह्युपरते धीमान् मनः कुर्यात्समाहितम् ।
निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ।।१९।। ज्ञानार्णव सर्ग ३१

अर्थ—ध्यान को पूर्ण होने पर धीमान् पुरुष मन को सावधानरूप वैराग्यपद को प्राप्त करें अथवा करुणारूपी समुद्र मे मग्न करें ।

गुत्ती जोग-निरोहो समिदी यं पमाद-वज्जणं चेव ।
धम्मो दयापहाणो सुतत्तचिंता अणुप्पेहा ।।९७।। स्वामि. का. सवरानुप्रेक्षा

अर्थात्—दयाप्रधानधर्म सवर का कारण है ।

श्री वीरसेनाचार्य धवल अध्यात्मग्रन्थ मे करुणा को जीवस्वभाव कहते हैं ।

"करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं ? ण, करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो । अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, संजमघादिकम्माणं फल भावेण तिस्से अब्भुवगमादो ।"

(ध. पु. १३ पृ. ३६१–३६२)

अर्थ—करुणा का कारणभूत कर्म करुणाकर्म है, यह क्यो नही कहा ? नही, क्योकि करुणा जीव-स्वभाव है, उस करुणा को कर्मजनित मानने मे विरोध आता है । तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिये ?

यह कोई दोष नही, क्योकि अकरुणा सयमघाती (चारित्रमोहनीय) कर्म का फल है ।

धवल के उपर्युक्त कथन से तथा पद्मनन्दिपचविंशति श्लोक ११९६ से स्पष्ट है कि जीवदया सयम है और सयम आत्मस्वभाव तथा सवर-निर्जरारूप है । मनुष्यपर्याय की सफलता सयम से है ।

दशलक्षण पूजन मे भी जीवदया को सयम कहा है—

काय छहों प्रतिपाल, पचेन्द्रिय मन वश करो ।
संजम रतन सभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं ।।

तत्त्वचर्चा मे जब आर्षग्रन्थो के प्रमाण दिये गये तो सोनगढ वालो ने इसका निम्नप्रकार उत्तर दिया है जो विशेष विचारणीय है ।

"शास्त्रो के उपर्युक्त प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व नही है । इसमे सन्देह नही कि उनमे कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमे सवर के कारणो मे दया का अन्तर्भाव हुआ है । ऐसे ही यहाँ जो अनेक प्रमाण सग्रह किये गये है उनके विविध प्रयोजन बतलाकर उनके द्वारा पर्यायातर मे दया को पुण्य और धर्म उभयरूप सिद्ध किया है । ये सब प्रमाण तो लगभग बीस ही हैं । यदि पूरे जिनागम मे से ऐसे प्रमाणो का सग्रह किया जाय तो एक स्वतन्त्र विशालग्रन्थ हो जाय । पर इन प्रमाणो के आधार से क्या पुण्यभावरूप दया को इतने मात्र से मोक्ष का कारण माना जा सकता है ।"

इसप्रकार सोनगढ वाले आर्षग्रन्थो के प्रमाणो की अवहेलना करके जिन-सिद्धात विरुद्ध नये सिद्धान्त का प्रचार कर रहे है। आचार्यरचित ग्रन्थों की टीका मे उन सिद्धातो को लिख दिया है जो दि० जैनसिद्धात के अनुकूल नही हैं और यह साहित्य दि० जैन धर्म पर एकप्रकार का कलक है। इसी साहित्य के कारण अजैनो को जैनधर्म के विषय मे नाना शकायें उत्पन्न होने लगी हैं। उपर्युक्त शका इसका एक उदाहरण है।

जैनधर्म मे दया का सर्वत्र उपदेश है और दया को मोक्ष का कारण माना गया है। दया पुण्यभाव भी है, क्योकि यह आत्मा को पवित्र करती है।

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्" (स सिद्धि ६।३)

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है।

'दयाधर्म है', इसलिये कहा गया है कि दया जीव को ससार दु खो से निकालकर मोक्षसुख मे धरती है। **श्री समन्तभद्राचार्य** ने धर्म का लक्षण इसप्रकार कहा है—

"ससारदु खत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।"

अर्थात्—जो जीवो को ससार के दु खो से निकालकर उत्तमसुख मे पहुँचाता है वह धर्म है।

जिन भाइयो ने सोनगढ़साहित्य को पढकर 'दयाधर्म है', ऐसा मानना छोड दिया हो उनसे प्रार्थना है कि वे उपर्युक्त आर्षवाक्यो के अनुकूल अपनी यथार्थ श्रद्धा बनाने की कृपा करें।

जिसप्रकार **मोक्षशास्त्र अध्याय ६** मे सम्यक्त्व को बध का कारण कहा गया है उसीप्रकार यदि करुणा को भी बध का कारण कह दिया गया हो तो उसका यह अभिप्राय है कि करुणा तो जीव स्वभाव होने मे बध का कारण नही है, किन्तु निचलीअवस्था मे उसके साथ जो रागाश है वह पुण्यबध का कारण है।

करुणा अर्थात् जीवरक्षा सयम है और सयम बध का कारण नही है वह सवर-निर्जरा का कारण है। दिगम्बरेतर-समाज मे जीवदया को धर्म नही माना गया, उसीके सस्कारवश **सोनगढ़-मोक्षशास्त्र** मे उपर्युक्त वाक्य लिखे गये हैं जिससे एक अजैन को यह लिखना पडा कि जिनभगवान ने दया का उपदेश नही दिया। इसप्रकार के साहित्य के लिये ही महासभा ने बहिष्कार का निर्णय लिया है।

—**जै. ग** 21-1-65/VIII/ **वी. पी शर्मा**

वानर / वनमानुष

शंका—वानर, वनमानुष आदि तिर्यञ्च हैं या मनुष्य ? इनके नाम से और आकार आदि से तो इनमें मनुष्यत्व सिद्ध होता है। सप्रमाण बताइये।

समाधान—**म० पु० ८/२३०-२३३** मे वानर को तिर्यञ्च कहा है। वानर और मनुष्य के आकार मे भी अन्तर है। वानर को किसी भी प्रकार से मनुष्य कहना उचित नही है। वनमानुष मनुष्य होते हैं, किन्तु वन मे रहने के कारण नागरिक मनुष्यो जैसे नही होते हैं। उनकी बोलचाल, रहनसहन के ढग आदि मे विशेष अन्तर होता है जैसे किसी मनुष्य के बच्चे को भेडिया उठाकर ले जावे और उसको पाल ले तो उस बच्चे की बोलचाल, रहन-सहन आदि सब भेडिया जैसी होती है।

—**जै. स.** 28-6-56/VI/**र. ला जैन, केकड़ी**

एक कुत्ते के शरीर में दो कुत्तों के जीव नहीं रह सकते

शंका—एक कुत्ते की गरदन काटकर दूसरे कुत्ते की गरदन पर जोड़ दी गई। वह कुत्ता दोनों मुंह से खाता पीता भौंकता है, ऐसा रूसी समाचार है। एक वृक्ष की डाली काटकर दूसरे वृक्ष पर लगा दी जाती है फल भी आते हैं। गर्दन कटे कुत्ते की आत्मा क्या दूसरे कुत्ते में प्रवेश कर गई। या दोनों कुत्तो की आत्मायें एक शरीर में जुड़ गई? यदि सम्पूर्ण कुत्ते की आत्मा गर्दन में ही रह गई तो किस कर्म के उदय से क्या हुआ?

समाधान—जिस कुत्ते की गर्दन काटी गई, उस कुत्ते की आत्मा तो मृत्यु को प्राप्त हो गई और कर्मोदय अनुसार अन्य पर्याय मे उत्पन्न हो गई। जिस कुत्ते के यह गर्दन जोडी गई उस कुत्ते के आत्मप्रदेश इस गर्दन मे प्रवेश कर गए। दोनो मुंह मे एक ही कुत्ते की आत्मा है। संसारी जीव के प्रदेशो मे संकोच-विस्तार करने की शक्ति है अतः उस कुत्ते की आत्मा के प्रदेशो का दूसरी गर्दन मे प्रवेश करने मे कोई बाधा नही है। जिस वृक्ष की डाली काटी गई है उस वृक्षके आत्मप्रदेश उस डाली मे से निकलकर और संकुचित होकर उस वृक्ष मे ही समा गये। जिस वृक्ष पर वह डाली लगाई गई है उस वृक्ष के आत्मप्रदेश विस्तार करके उस डाली में प्रवेश कर गए अथवा एक वृक्ष में नाना एकेन्द्रिय जीव भी रह सकते है, किन्तु एक कुत्ते के शरीर में दो कुत्तो के जीव नही रह सकते।

—जै. स. 1-1-59/V/ सिरेमल जैन, सिरोंज

१. कानजी स्वामी के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान नहीं हुआ, न ही जन्मोत्सव हुआ
२. पंचमकाल मे सम्यग्दृष्टि जन्म नहीं लेता

शंका—गुजराती आत्मधर्म ज्येष्ठ। वी नि. सं. २४७४ में यह लिखा है कि जिससमय गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का जन्म हुआ उससमय स्वर्गलोक मे इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और देवों ने जन्मोत्सव मनाया। इसप्रकार का ड्रामा भी सोनगढ़ मे खेला गया। क्या वर्तमान में जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, आर्यखंड मे ऐसा कोई विशिष्टपुरुष जन्म ले सकता है कि जिसका जन्मोत्सव देव स्वर्गलोक मे मनावें? क्या पंचमकाल में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म ले सकता है?

समाधान—वर्तमानकाल हुंडा अवसर्पणी का पंचम दु:खमाकाल है। भरतक्षेत्र मे इसकाल मे सम्यग्दृष्टि या विशेष पुण्यशालीजीवों का जन्म नही होय है। मिथ्यादृष्टिजीवों का ही जन्म होय है। अतः ऐसे जीवो के जन्म के समय स्वर्ग मे देवो ने जन्मोत्सव मनाया हो या इंद्र का आसन कम्पायमान हुआ हो असम्भव व आगमविरुद्ध है। **श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में पंडितवर सदासुखदासजी** ने लिखा भी है—'इस दु:खमकाल मे जे मनुष्य उपजे हैं' ते पूर्वजन्म मे मिथ्यादृष्टि, व्रत-संयमरहित होय ते भरत क्षेत्र मे पंचमकाल के मनुष्य होय है अर कोऊ मिथ्याधर्मी कुतप, कुदान, मन्दकषाय प्रभाव सू आवें सो राज्य ऐश्वर्य धनभोग सम्पदा नीरोगता पाय अल्पआयु इत्यादिक भोग पाप-उपार्जन करनेवाले अन्याय-अभक्ष्य मिथ्यामार्ग मे प्रवर्तनकरि संसारपरिभ्रमण करें है।' सम्यग्दर्शन के विषय मे **श्री समन्तभद्रस्वामि** ने इसप्रकार कहा है—'जो व्रती नही है और सम्यक्‌दर्शन करके शुद्ध है वे नरकगति को, तिर्यंचगति को, नपुंसकपने को, स्त्रीपने को, दुष्कुल को, रोग को, अल्पायु को और दरिद्रता को नही प्राप्त होते है। सम्यग्दर्शन से सहित प्राणी मरकर मनुष्यों मे तिलक के समान श्रेष्ठ (राजा) होते हैं।' अतः **श्री कानजीस्वामी** का जन्म मिथ्यात्वसहित मिथ्यात्वकुल मे हुआ, अतः उनके जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होना या स्वर्ग मे जन्मोत्सव होना असम्भव है।

—जै. सं. 6-11-58/V/ सरदारमल जैन, सिरोंज

विभिन्न अनुयोगों की अपेक्षा परिग्रह की व्याख्या

शंका—भरत महाराज के पास में तीन खण्ड की सामग्री तथा छियानवे हजार स्त्रियाँ होते संते उनको वैरागी कौनसा अनुयोग कहता है ? और एक भिखारी के पास में परिग्रह नहीं है तो भी उनको महापरिग्रहधारी कौनसा अनुयोग कहता है ?

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य और सुवर्ण आदि दस प्रकार का परिग्रह कौनसे अनुयोग की अपेक्षा से किया गया है और मूर्च्छा परिग्रह कौन से अनुयोग की अपेक्षा से किया है ?

समाधान—भरतजी महाराज चक्रवर्ती थे अतः वे तीनखण्ड के नही, किन्तु भरतक्षेत्र के छहो खण्डों के राजा थे। भरतजी महाराज सम्यग्दृष्टि थे, वे बाह्य परिग्रह मे लीन नही थे। इस अपेक्षा से प्रथमानुयोग मे उनको वैरागी (वीतरागी) कहा है। **मो० मा० प्र० अ० ८** मे इसप्रकार कहा है—"बहुरि कहीं जो शब्द का अर्थ होता होई सो तो न ग्रहण करना। अर तहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ होय सो ग्रहण करना जैसे कही किसी का अभाव कह्या होय अर तहाँ किंचित् सद्भाव पाइए, तौ तहाँ सर्वथा अभाव ग्रहण न करना। किंचित् सद्भाव कौ न गिण अभाव कह्या है, ऐसा अर्थ जानना। सम्यक्दृष्टि के रागादिक का अभाव कह्या तहाँ ऐसा अर्थ जानना।" भिखारी के पास परिग्रह न होते हुए भी परिग्रह की इच्छा अधिक है अत उसको प्रथमानुयोग, चरणानुयोग आदि ग्रन्थो मे परिग्रही कहा है।

क्षेत्र, वास्तु आदि को और मूर्च्छा को परिग्रह, चरणानुयोग कहता है। **सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सू० १७** मे कहा है **मूर्च्छा परिग्रह ॥१७॥ का मूर्च्छा ? बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपाधिनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यावृत्तिर्मूर्च्छा। अर्थ—मूर्च्छा परिग्रह है ॥१७॥** मूर्च्छा क्या है ? गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपाधि का तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि व्यापार ही मूर्च्छा है। क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्यपदार्थ मूर्च्छा के आश्रयभूत है अत इनको भी परिग्रह कहा है और इनका निषेध किया है। कहा भी है—**तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः। अध्यवसान प्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूत। न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मन लभते। अर्थ**—बाह्यवस्तु का निषेध किसलिये किया जाता है ? अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है, बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नही होता (उत्पन्न नही होता)।

—जै. स. 23-5-57 / /जैन. स्वा मण्डल, कुचामन

धर्म से वास्तविक शान्ति तथा भोग-सामग्री दोनों मिलते हैं

शंका—धर्म से क्या वास्तविक शांति ही मिलती है, भोग सामग्री क्या नहीं मिलती ?

समाधान—धर्म से वास्तविक शांति तो मिलती ही है, किन्तु भोग सामग्री भी मिलती है। जिन भावो से मोक्षसुख मिलता है उन भावो से स्वर्गसुख मिलना तो कोई कठिन बात नही है। जिसमे दो कोस ले चलने की शक्ति है वह आधा कोस तो सुखपूर्वक ले चल सकता है। कहा भी है—

'यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ? ॥४॥' (इष्टोपदेश)

इसीप्रकार तत्त्वानुशासन मे भी कहा है—

'ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९४॥'

अर्थात्—अरहन्त और सिद्ध के रूप मे ध्याया गया यह आत्मा, चरमशरीर धारण करनेवाले को मुक्ति देने मे समर्थ होता है और जो चरमशरीरी नही है, किन्तु उसध्यान से जिसने पुण्य पैदा किया है उसे भुक्ति (भोगो को) देनेवाला होता है । इसीप्रकार **मूलाचार अधिकार ५ गाथा ३८** मे कहा है ।

—**जै. सं** 4-12-58/V/ **रामदास कैराना**

आगम व प्रत्यक्ष प्रमाण से पुनर्जन्म सिद्ध है

शंका—पुनर्जन्म है यह ठीक कैसे मानें ? कोई प्रमाण हो तो बताओ ।

समाधान—किसी भी असत्द्रव्य का उत्पाद व सत्द्रव्य का व्यय नही होता, किन्तु द्रव्यसत् रहते हुए भी अपनी अवस्था मे परिणमन करता रहता है । **श्री पंचास्तिकाय** मे कहा भी है—

उप्पत्तीव विणासो दव्वस य णत्थि अत्थि सब्भावो ।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥११॥
भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥१५॥
मणुसत्तणेण णट्ठो देही हवेदि इदरो वा ।
उभयस्स जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ॥१७॥

अर्थ—द्रव्य का उपजना अथवा विनाश नही है सत्तामात्र स्वरूप है । तिसही द्रव्य के परिणाम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को करते है । सत्रूप पदार्थ का नाश नही है और अवस्तु का उपजना नही है । जो पदार्थ है वह गुणपर्यायो मे ही उत्पाद और व्यय को करते है । मनुष्यपर्याय का विनाश होकर जीव देवपर्यायरूप परिणमता (उत्पन्न होता या जन्मता) है । दोनो पर्यायों मे जीव ही है । अन्य कुछ न नाश है और न जन्म है ।

वर्तमान विज्ञान ने भी यही स्वीकार किया है कि सत् का व्यय नही और असत् का उत्पाद नही है । समाचारपत्रो मे ऐसे अनेक समाचार प्रकाशित होते है कि अमुक बालक ने अपने पहले भव की बातें बतलाई जो सत्य हुई । १९४९ के समाचार पत्रो मे परमानन्द के विषय मे प्रकाशित हुआ था जिसकी सहारनपुर व मुरादाबाद मे सोडा फैक्ट्री थी, मरकर बरेली मे एक प्रोफेसर के पुत्र उत्पन्न हुआ । वह मुरादाबाद व सहारनपुर आया और अपने मकान, भाई, स्त्री, पुत्र, मित्र, मिस्त्री आदि को पहचान लिया । यह सब प्रत्यक्ष देखा गया है ।

अत. आगम प्रमाण व प्रत्यक्ष प्रमाण से पुनर्जन्म सिद्ध है ।

—**जै. स.** 30-1-58/VI/**मनोहर रामाराम घोड़के, परलीबैजनाथ**

देशभूषण व कुलभूषण की मूर्ति बन सकती है ? वह पूजनीय है

शंका—तीर्थंकरों के सिवा क्या किसी मोक्षगामी की मूर्ति नहीं बनाई जा सकती ? यदि नहीं तो सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरि क्षेत्र पर श्री १००८ देशभूषण और कुलभूषण की मूर्ति कैसे बनाई गई ?

समाधान—श्री अरहंत भगवान की प्रतिमा स्थापित हो सकती है और होती है। **श्री देशभूषण व कुलभूषण** भी अरहंत हुए हैं अतः उनकी भी प्रतिमा हो सकती है। **श्री सिद्धभगवान** की प्रतिमा भी होती है। **श्री देशभूषण व कुलभूषण** इससमय सिद्धअवस्था को प्राप्त हैं अतः उनकी प्रतिमा बन सकती है और वह पूजनीक है।

—**जै. स. 30-1-58/VI/मनोहर राजाराम घोड़के परली बैजनाथ (बीड़)**

मूर्ति-निर्माण

शंका—धातु की ५ इन्च पद्मासन मूर्ति गृहस्थ के चैत्यालय में प्रतिष्ठा कराके विराजमान की जाती है या नहीं ? क्योंकि आजकल इंचों के प्रमाण से ही मूर्तियाँ बनाई जाती हैं।

समाधान—प्रतिमा अंगुल के प्रमाण से बननी चाहिए। गृह चैत्यालय में १, ३, ५, ७, ९ व ११ अंगुल की प्रतिमा विराजमान हो सकती है। एक अंगुल ३/४ इंच का होता है, अतः प्रतिमा ७ अंगुल अर्थात् ५¼ इंच की होनी चाहिए, पाँच इंच की नहीं।

—**जै. स 24-5-56/VI/ अ ना ऋषभदेव**

ईश्वर / मूर्तिपूजा

शंका—ईश्वर निराकार है तो फिर उन्हें आकार देकर अर्थात् उनकी मूर्ति बनाकर क्यों पूजा जाता है ?

समाधान—आकार का अर्थ मूर्तिक है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसहित को मूर्तिक कहते हैं। ईश्वर अर्थात् सिद्ध भगवान के कर्मों का सम्बन्ध नहीं रहा है अतः वे सर्वप्रकार से अमूर्तिक हो गये हैं। अमूर्तिक हो जाने के कारण सिद्धभगवान को अमूर्तिक कहा है। अथवा सिद्धभगवान अनन्त हैं और उनका आकार भिन्न-भिन्न है। कोई एक प्रतिनियत आकार नहीं है। इसप्रकार ईश्वर का कोई एक नियत आकार नहीं कहा जा सकता। इस अपेक्षा से भी ईश्वर को अनिर्दिष्ट संस्थान अर्थात् निराकार कहा है, किन्तु हर एक तीर्थङ्कर भगवान का आकार है, क्योंकि बिना आकार के किसी भी द्रव्य की सत्ता नहीं होती है। उन तीर्थङ्कर भगवान की मूर्ति में स्थापना करके मूर्ति की पूजा की जाती है। जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति की यथार्थपूजा से परिणामों में विशुद्धता आती है, परिणाम निर्मल होते हैं। उन आत्म परिणामों के निमित्त से कर्मों की निर्जरा होती है।

—**जै. स 2-8-56/VI/नि. कु. झूमरीतलैया**

प्रतिमा पर चिह्न-निर्णय का आधार

शंका—भगवान की प्रतिमा पर चिह्न किस आधार पर बनाये गये ?

समाधान—अभिधान चिन्तामणि (हेमकोश) में इन चिह्नों को तीर्थंकरों की ध्वजाओं के चिह्न बताये हैं तथा भाष्य में यह और विशेष बताया है कि ये चिह्न तीर्थंकरों के दक्षिण अंग में होते हैं। **(पृ० १७, काण्ड १,**

श्लोक ४७-४८)। पूजासार समुच्चय ग्रन्थ मे भी इन चिह्नो को ध्वजा के चिह्न ही प्रतिपादन किया है। जो मूर्तियाँ बिना चिह्नों की होती हैं, वे तीर्थंकरों से भिन्न सामान्य केवलियो की होती है। **अनेकान्त वर्ष १, किरण २** मे पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी लिखा है कि "यह मानना ज्यादा अच्छा होगा कि ये चिह्न तीर्थंकरो की ध्वजाओं के चिह्न हैं और शायद इसी से मूर्ति के किसी अंग पर न दिए जाकर आसन पर दिये जाते है।" **चर्चा समाधान** मे प० भूधरदासजी ने लिखा है कि "तीर्थङ्कर के दाहिने पाँव मे जो चिह्न जन्म मो होई सोई प्रतिमा के आसन विषै जानना"

> **जम्मणकाले जस्स दु दाहिण पायम्मि होई जो चिह्नं ।**
> **तं लक्खण पाउत्तं, आगमसुत्तेसु जिणदेहं ॥**

—**जै. स** 21-11-57/ **प ला., अम्बाला**

महापुराण, हरिवंशपुराण आदि प्रामाणिक हैं

शंका—**महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थ प्रामाणिक हैं या नहीं। बहुत से व्यक्ति इनको प्रामाणिक नहीं मानते। क्या यह ठीक है ?**

समाधान—महापुराण, पद्मपुराण, हरिवशपुराण प्राचीन प्रामाणिक वीतराग आचार्यों द्वारा विरचित हैं, अत प्रामाणिक हैं। अन्य ग्रन्थ भी जो प्राचीन प्रामाणिक वीतराग आचार्य द्वारा रचे गये है वे सब प्रामाणिक है। आगमविरुद्ध युक्ति होती नही है, क्योकि वह युक्त्याभासरूप होगी। (**ण च सुत्तविरुद्धाजुत्ती होदि तिस्से जुत्तिया-भासत्तादो। षट्खण्डागम पु० ९ पृ० ३२**)। जो व्यक्ति इन ग्रन्थो को प्रामाणिक नही मानते वे स्वय विचार करें कि उनकी यह मान्यता कहाँ तक ठीक है ?

—**जै. स.** 9-1-58/VI/ **ला. च. नाहटा, केकड़ी**

आगम/प्रामाणिक और अप्रामाणिक

शंका—**आगम की प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता का निर्णय कैसे होता है ?**

समाधान—प्रमाण के अनेक भेदो मे से आगम भी प्रमाण का एक भेद है। (**परीक्षामुख अ. ३ सू. २**) मोक्षमार्ग मे आगम की सर्वोत्कृष्ट आवश्यकता है। क्योकि मुक्ति का कारणीभूत जो तत्त्वज्ञान है वह आगमज्ञान से प्राप्त होता है। कहा भी है—सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुखको प्राप्त करने की इच्छा करते है। सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर होती है, कर्मों का क्षय व्रतो से होता है। वे सम्यक् व्रत सम्यग्ज्ञान के अधीन है। सम्यग्ज्ञान आगम से प्राप्त होता है। (**आत्मानुशासन श्लोक ९**)

श्रमण रत्नत्रय की एकाग्रता को प्राप्त होते है। किन्तु वह एकाग्रता स्व-पर पदार्थ के निश्चयवान के होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है। इसलिये आगम अभ्यास मुख्य है। (**प्र सा. गा. २३२**) आगम हीन श्रमण निज पर को नही जानता। पदार्थों को नही जानता हुआ भिक्षु कर्मों का किस प्रकार क्षय कर सकता है। (**प्र. सा. गाथा २३३**) इसीलिए साधुओ को आगम चक्षु वाले कहा है। क्योकि केवलज्ञान की सिद्धि के लिए भगवन्त श्रमण आगम-चक्षु होते हैं। (**प्र. सा. गाथा २३४**)

आगम का लक्षण :

जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्राय. अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्ति के विषय से परे है, उसका नाम आगम है (**धवल पु० ६ पृ० १५१**)

कौनसा आगम प्रमाण है :

जिस आगम का दोष और आवरण से रहित अरहंत परमेष्ठी ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधरदेव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न गुरुपरम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्यवाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है, ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। कालसम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान से सहित होने के कारण प्रमाणता को प्राप्त आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है। इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है। (**धवल पु० १ पृ० १९६-९७**) गणधरदेव ने जिनकी ग्रन्थरचना की, ऐसे अग आचार्य परम्परा से नित्य चले आ रहे है। परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं। अतएव जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषो का अभाव देखा, जो स्वय अत्यन्त पापभीरु थे, और जिन्होने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया है या तीर्थ-विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अग सम्बन्धी अर्थ को पोथियो मे लिपिबद्ध किया है, अतएव उनमे असूत्रपना नही आ सकता है। अत: आगम की प्रमाणता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका कर्त्ता आचार्य हो और उसको गुरु-परम्परा से श्रुतार्थ प्राप्त हुआ हो। यदि इन दोनो मे से एक की भी कमी है तो वह ग्रन्थ आगम या प्रमाणता की कोटि को प्राप्त नही हो सकता।

जो ग्रन्थ आचार्यों द्वारा नही रचे गए है अथवा उन आचार्यों द्वारा रचे गये है, जिनको गुरु परम्परा से श्रुतार्थ प्राप्त नही हुआ है, अथवा आर्ष-परम्परा के विच्छेद हो जाने के पश्चात् रचे गए है, वे ग्रन्थ प्रमाणता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? वीतरागता और विज्ञानता से पुरुष मे प्रमाणता आती है। इसीलिए उन आचार्यों को प्रामाणिक माना है जिन्होने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया है।

श्रीमान् प० राजमलजी, श्रीमान् प० टोडरमलजी, श्रीमान् प० आशाधरजी आदि सम्भव है अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् हो, किन्तु न तो वे आचार्य थे और न आर्ष परम्परा से उन्होने श्रुतार्थ ग्रहण किया था। इसलिए वे प्रमाण पुरुष नहीं थे। अतएव उनके द्वारा रचे गए स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रमाण कोटि को प्राप्त नही हो सकते है। यदि स्वार्थवश या पक्षपातवश उनके ग्रथो को प्रमाण मान लिया जावेगा, तो आजकल मुनियो, क्षुल्लको, ब्रह्मचारी तथा पण्डितों द्वारा रचे गए ग्रथो को क्यो न प्रमाणता प्राप्त होगी, इतना ही नही शखनादी, **श्री स्वामी दयानंद** आदि द्वारा रचित ग्रन्थो को भी प्रमाणता का प्रसग आ जावेगा, क्योकि उन्होने भी जैन आगम को पढा था। कहा भी है—वक्ता की प्रमाणता से वचन मे प्रमाणता आती है। इस न्याय के अनुसार अप्रमाणभूत पुरुष के द्वारा व्याख्यात किया गया आगम अप्रमाणता को कैसे नही प्राप्त होगा। अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा (**धवला पु० १ पृ० १९६**)। आर्षपरम्परा के विच्छेद को या अप्रमाण वचन रचना को आर्षपना प्राप्त नही हो सकता।

पचाध्यायादि ग्रथ आचार्यों द्वारा नही रचे गए और न उनके कर्ताओ को गुरुपरम्परा से उपदेश प्राप्त हुआ था, इसी कारण यह ग्रन्थ प्रामाणिक नही है। दूसरे इन ग्रन्थो में एक स्थल पर ही नही, किन्तु अनेक स्थलो पर आगम अनुसार कथन नही पाया जाता। अपितु धवल आदि व नयचक्र आदि आगम ग्रन्थो के विरुद्ध कथन

पाया जाता है। यदि उनका उल्लेख किया जावे तो एक पुस्तक बन जावेगी। अत: जिनमे अनेक स्थलो पर आगम अनुसार कथन नही है, वे ग्रन्थ प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं ? प्रमाणता आगम की है। आशा है कि विद्वत्परिषद् इन ग्रथो का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन कर और आचार्य-रचित आगम से मिलान करने के पश्चात् इनके सम्बन्ध मे निष्पक्ष और नि:स्वार्थ भाव से अपने विचार प्रकट करने की कृपा करेगी।

आचार्यरचित ग्रन्थ प्रामाणिक हैं

शंका—जिसप्रकार आजकल अनेक मुनि व आचार्य शिथिलाचारी हैं, क्या यह नहीं हो सकता कि ८००-१००० वर्ष पूर्व भी कोई आचार्य द्रव्यलिंगी रहे हों, ऐसे आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ आगम की कोटि मे कैसे ? क्यों न केवल तीर्थंकर और श्रुतकेवली की रचना ही प्रामाणिक मानी जाय ?

समाधान—तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रामाणिक है क्योंकि वह केवलज्ञान का कार्य है। **'तस्य ज्ञानकार्यत्वात्' धवल १ पृ० ३६८।** इस दिव्यध्वनि के आधार से **श्री गणधरदेव** ने द्वादशाङ्ग की रचना की। इस द्वादशाङ्ग का उपदेश गुरुपरम्परा से आचार्यों को प्राप्त हुआ और उस उपदेश के अनुसार ग्रथों की रचना हुई। **श्री समयसार गाथा ५ की टीका** मे भी **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'निर्मल विज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासन जन्मा'** इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि सर्वज्ञदेव और गणधरदेव से लेकर अपने गुरु पर्यंत जो उपदेश तथा पूर्व आचार्यों के अनुसार जो उपदेश है, उससे मेरे ज्ञानका जन्म हुआ है उस ज्ञान से ग्रथ की रचना **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने की है। पूर्व आचार्यों के परम्परा मे प्राप्त उपदेश अनुसार ग्रथो की रचना की है अत वे प्रामाणिक हैं।

श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है।

'नाप्यार्षसन्ततेर्विच्छेदो विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्षस्य चतुरमलबुद्ध्यतिशयोपेतनिर्दोषगणभृद्धारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुपर्वक्रमेणायातस्याविनष्टप्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणनिष्प्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन, श्रद्धाप्यमानस्योपलंभात्। अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः आरातीय पुरुषव्याख्यातार्थत्वादिति चेन्न, ऐदयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्रमाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थत्वात्। कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातॄणां तद्विरोधात्। धवल १ पृ० १९६-१९७

अर्थ—आर्षपरम्परा का विच्छेद भी नही है, क्योंकि, जिसका दोष और आवरण से रहित अरहत परमेष्ठी ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधरदेव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न गुरुपरम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्यस्वभाववाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। यदि कहा जाय कि आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योकि अर्वाचीन पुरुषो ने इसके अर्थ का व्याख्यान किया है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि इस कालसम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान से सहित होने के कारण प्रमाणता को प्राप्त आचार्यों के द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है। यदि यह शका की जाय कि छद्मस्थो के सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है ? तो यह शका भी ठीक नही है, क्योकि श्रुत के अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्यों के प्रमाणता मानने मे कोई विरोध नही है।

आचार्यों के सत्यमहाव्रत होता है अत: उनके असत्यभाषण का अभाव होता है, इसलिये असत्यभाषण का अभाव भी आगम की प्रमाणता का ज्ञापक है—**'तब्भावो वि आगमस्स पमाणं जाणावेदि।' धवल पु. ९ पृ. १०९।**

जिनके इतनी भी कषाय कम नहीं हुई कि असत्यभाषण का सर्वथा त्यागकर महाव्रत ग्रहण कर सकें ऐसे गृहस्थो के वचन कैसे प्रमाणकोटि को प्राप्त हो सकते हैं ? कहा भी है—

'ण च राग-दोस मोहोवहओ जहुत्तत्थपरूवओ, तत्थ सच्चवयणणियमाभावादो ।'

अर्थात्-राग-द्वेष व मोह से युक्त जीव यथोक्त अर्थों का प्ररूपक नही हो सकता, क्योंकि उसमे सत्यवचन के नियम का अभाव है। (धवल पु० ९ पृ० १२७)।

रागादिदोषाकुलमानसैर्ये ग्रन्थः क्रियंते विषयेषु लोलैः ।
कार्यं प्रमाणं न विचक्षणैस्ते जिघृक्षुभिर्धर्ममगर्हणीयम् ॥३१॥

अर्थ—रागादि दोषनिकरि व्याकुल और विषयनिविषै चचल जो पुरुष (गृहस्थ) तिनकरि जे ग्रन्थ कहिये है ते ग्रन्थ अनिंद्य धर्म कू ग्रहण करने के वाछक प्रवीण पुरुषनिकरि प्रमाण करना योग्य नाही।

—अमितगति श्रावकाचार १।३९

द्रव्यआगम राग-द्वेष, भय से रहित आचार्यपरपरा से आया हुआ है, इसलिये उसे अप्रमाण मानने मे विरोध आता है (ज ध. १ पृ. ८३)। वक्ता की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता होती है। ऐसा न्याय होने से आचार्यों के व्याख्यान और उनके द्वारा उपसहार किया गया ग्रन्थ प्रमाण है, अन्यथा अतिप्रसग दोष आजायगा। (ज० ध० पु० १ पृ० ८५)।

—जै. ग. 6-12-65/VIII/ र ला. जैन, मेरठ

पंचाध्यायी के प्रणेता पं० राजमलजी हैं

शंका—पंचाध्यायी कौन से आचार्यकृत है ?

समाधान—पचाध्यायी किसी आचार्य की कृति नहीं है, किन्तु इसके कर्त्ता कवि राजमल्लजी है। इसमे सन्देह का कोई स्थान नहीं है।

श्री प० राजमल्लजीकृत लाटीसहिता का पचाध्यायी से निकट का सम्बन्ध है। सम्यक्त्व के प्रकरण के सैकडो श्लोक लाटीसहिता और पचाध्यायी दोनो मे एकसे है। कुछ दूसरे श्लोक भी मिलते-जुलते हैं। यह सादृश्य पचाध्यायी के दूसरे अध्याय के ३७२ वें श्लोक और लाटीसहिता के तीसरे सर्ग के २७ वें श्लोक से चालू होकर पचाध्यायी के ३९९ वें श्लोक पर और लाटीसहिता के ५४ वें श्लोक पर समाप्त होता है। इसके पश्चात् पचाध्यायी के ४१० वें श्लोक से और लाटीसहिता के ५५ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पचाध्यायी के ४३४ वें श्लोक पर और लाटीसहिता के ७९ वें श्लोक पर पूरा होता है। पचाध्यायी के श्लोक ४३५-४३६ तथा लाटीसहिता के श्लोक ८० व ८१ ये दो श्लोक एकसे हैं। पचाध्यायी के ४३९ वें श्लोकसे और लाटीसहिता के ८२ वें श्लोकसे पुन: सादृश्य चालू होकर पचाध्यायी के ४७६ वें श्लोक पर और लाटीसहिता के ११९ वें श्लोक पर समाप्त होता है। आगे पंचाध्यायी के ४७७ वें श्लोकसे और लाटीसंहिता के चौथे अध्याय के प्रथमश्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पचाध्यायी के ७२० वें श्लोक पर और लाटीसहिता के २४२ वें श्लोक पर समाप्त होता है। पचाध्यायी मे ७४३ वें श्लोक से और लाटीसहिता के २४३ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ७७१ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के २७२ वें श्लोक पर समाप्त होता है। आगे पचाध्यायी मे ७७२ वें श्लोक से और लाटी-संहिता मे २७६ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी मे ८१७ वें श्लोक पर और लाटीसहिता मे ३२२ वें श्लोक पर समाप्त होता है।

विशेष के लिये 'वीर' नामक पत्र के वर्ष ३ अंक ११-१२ मे श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार का लेख देखना चाहिए। इस लेख के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् पंचाध्यायी के कर्ता विषयक भ्रम दूर हो गया है और यह निर्विवाद मान लिया गया है कि पंचाध्यायी के कर्ता श्री पं० राजमलजी ही हैं।

—जै. ग. 13-7-72/VII/ ला. व. म. कु.

उपसर्ग आदि के समय देवों द्वारा रक्षा का हेतु

शंका—किसी को दुःख सुख हो रहा है, क्या देव उसको अवधिज्ञान द्वारा जान जाते हैं ? तब जो रक्षार्थ आते हैं तो क्या पहले जन्म के सम्बन्ध से आते हैं या कोई और कारण है ?

समाधान—दूसरे जीवों को जो सुख-दुःख हो रहा है, देव उसको अवधिज्ञान द्वारा जान सकते हैं। पूर्वभव के सम्बन्ध से भी देव उस जीव की रक्षार्थ आ सकता है। और अन्य कारणों से भी आ सकता है। कोई एकान्त नियम नहीं है। जैसे देव का करुणाभाव, उस जीव का पुण्य उदय आदि अनेक कारण हो सकते हैं।

— जै. ग 17-7-67/VI/ अ. प्र. म. कु.

तीर्थंकर व सामान्य केवली की प्रतिमा मे अन्तर

शंका—चौबीस तीर्थंकरो की प्रतिमा में और केवली की प्रतिमा में कुछ अन्तर है या नहीं ?

समाधान—चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर उनके चिह्न होते हैं, किन्तु सामान्यकेवली की प्रतिमा पर कोई चिह्न नहीं होता है। तीर्थंकरकेवली व सामान्यकेवली दोनों अर्हन्त होते है अत दोनों की अर्हन्त प्रतिमा का आकार होता है।

— जै. सं 17-1-57/VI/ ब. बा. हजारीबाग

धवला के द्रव्यप्रमाणानुगम में निर्दिष्ट संख्या उत्कृष्टत. हैं

शंका—धवला पु० ३ द्रव्यप्रमाणानुगम मे जो संख्याएँ दी गई हैं वे नियत हैं या उत्कृष्ट हैं या तद्व्यतिरिक्त ?

समाधान—धवल पु० ३ मे जो संख्याएँ दी गई है वे उत्कृष्टत हैं। अभिप्राय यह है कि उससे अधिक नहीं हो सकते, किंचिदून हो सकते है।

—पत्राचार / ध. ला जैन, भीण्डर

'भक्तामर स्तोत्र' के १७वें १८वें श्लोक में 'राहु' शब्द उचित है

शंका—भक्तामर स्तोत्र के १७वें व १८वें श्लोक में श्री जिनेन्द्रदेव की उपमा क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा से दी गई है किन्तु जिनेन्द्र को राहु के ग्रहण से रहित बतलाया गया है। दोनों संस्कृत श्लोकों मे 'राहु' शब्द का ही प्रयोग किया गया है जो इस प्रकार है—१७वें श्लोक में 'न राहुगम्यः।' तथा १८वें श्लोक में 'गम्यं न राहुवदनस्य।' किन्तु चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण के हेतु क्रमशः राहु और केतु हैं। 'केतु' के स्थान पर 'राहु' का प्रयोग क्यों किया गया ?

समाधान—संस्कृत-हिन्दी कोश मे राहु को सूर्य व चन्द्रमा दोनो को ग्रस्त करने वाला लिखा है। **हरिवंशपुराण पर्व ६** में भी सूर्य व चन्द्रमा दोनो के नीचे राहु का विमान बतलाया है।

अरिष्ठमणिमूर्तीनि समान्यञ्जनपुञ्जकैः।
भान्ति राहु विमानानि चन्द्रार्काधः स्थितानि तु ॥१०॥

अर्थ—राहु के विमान अरिष्ट मणिमय हैं, अञ्जन की राशि के समान श्याम है तथा चन्द्रमा और सूर्य के विमानो के नीचे स्थित है।

उपर्युक्त दृष्टि से ही **भक्तामर स्तोत्र के १७वें १८वें** दोनो श्लोको मे 'राहु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

—जै ग 3-9-70/VI/**अनिलकुमार गुप्ता**

१ अपने योग्य सर्व गुणस्थानों के क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र व केवलज्ञान में समानता
२ रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष को साक्षात् हेतु है

शंका—**'अयोगिकेवलिन सम्पूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसार-दुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणमुपजायते।'** ऐसा **श्री पूज्यपादस्वामी व श्री अकलंकदेव** का वाक्य है। इसमें **'सम्पूर्ण'** विशेषण मात्र **'यथाख्यातचारित्र'** के लिये है या **'यथाख्यातचारित्र-ज्ञान-दर्शन'** इन तीनों के लिये है ?

समाधान—इस वाक्य मे मोक्ष के कारण अर्थात् मोक्षमार्ग का प्रकरण है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र इन तीनो की एकता मोक्षमार्ग है क्योंकि **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः,'** ऐसा सूत्र है। इसलिए 'सम्पूर्ण' चारित्र-ज्ञान-दर्शन इन तीनो का अर्थात् रत्नत्रय का विशेषण है, मात्र चारित्र का विशेषण नही है।

श्री भास्करनन्दिआचार्य ने भी इस सूत्र की व्याख्या मे 'सम्पूर्ण' को दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो के विशेषण रूप से लिखा है।

'तत समुच्छिन्नसर्वात्मप्रदेश परिस्पन्दो निवृत्ताऽशेषयोग समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानस्वभावो भवति। ततः सम्पूर्णक्षायिकदर्शनज्ञानचारित्रः कृतकृत्यो विराजते।'

इसलिये 'सम्पूर्ण' सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र तीनो का विशेषण है, क्योकि ये तीनो ही मोक्ष के कारण (मोक्षमार्ग) है। 'सम्पूर्ण' को मात्र यथाख्यातचारित्र का विशेषण कहना भूल है।

शंका—**समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान १४ वें गुणस्थान में होता है। ८ जुलाई १९६५ के जैनसंदेश में भी चौदहवेंगुणस्थान मे रत्नत्रय की पूर्णता बतलाई है। क्या चौदहवें गुणस्थान से पूर्व का सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र अपूर्ण है ? क्या तेरहवें गुणस्थान के क्षायिकसम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और क्षायिकचारित्र मे कोई कमी रह जाती है ? क्या तेरहवें गुणस्थान के रत्नत्रय के अविभागप्रतिच्छेद की संख्या से चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय के अविभागप्रतिच्छेदो की संख्या अधिक है ?**

समाधान—एक ही बीज यदि जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट भूमि मे बो दिया जाय तो उस बीज के फल में विभिन्नता हो जाती है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** आदि महान् ग्रन्थकारो ने भी इसी बात को कहा है।

'णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव ।'

संस्कृत टीका—'यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति ।'

यद्यपि मिथ्यात्वआदि सातप्रकृतियो के क्षय होने पर क्षायिकसम्यग्दर्शन पूर्ण हो जाता है फिर भी वह अवगाढ व परमावगाढ सज्ञा को प्राप्त नही होता। पूर्णश्रुतज्ञान होने पर उसी क्षायिकसम्यग्दर्शन की अवगाढ सज्ञा हो जाती है और केवलज्ञान होने पर परमावगाढ सज्ञा हो जाती है।

दृष्टि साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा ।
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेतिरूढा ॥

अर्थात्—अग और अगबाह्यसहित जैनशास्त्र ताको अवगाहि करि जो निपजी दृष्टि सो अवगाढदृष्टि है। यह अवगाढ सम्यक्त्व जानना। बहुरि केवलज्ञान करि जो अवलोक्या पदार्थ विषै श्रद्धान सो इहा परमावगाढदृष्टि प्रसिद्ध है। यह परमावगाढ सम्यक्त्व जानना।

क्या क्षायिक व अवगाढसम्यग्दर्शन अपूर्ण है और परमावगाढ सम्यग्दर्शन पूर्ण है? क्या क्षायिकसम्यग्दर्शन, अवगाढ सम्यग्दर्शन और परमावगाढ सम्यग्दर्शन के अविभाग प्रतिच्छेदों में तरतमता है? सम्यग्दर्शन मे तरतमता उत्पन्न करनेवाले दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर क्षायिकसम्यग्दर्शन के अविभागप्रतिच्छेदो मे तरतमता का अभाव हो जाता है।

इसीप्रकार चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय हो जाने पर क्षायिकचारित्र के अविभागप्रतिच्छेदो की तरतमता का अभाव हो जाता है। जिसप्रकार क्षायिकसम्यग्दर्शन, ज्ञान की अपेक्षा, अवगाढ व परमावगाढ सज्ञा को प्राप्त होते हैं, क्षायिकचारित्र भी अयोगी की अपेक्षा परमयथाख्यातचारित्र सज्ञा को प्राप्त हो जाता है। क्षायिकचारित्र और परमयथाख्यातचारित्र के अविभागप्रतिच्छेदो मे हीनाधिकता नही है।

तेरहवेंगुणस्थान के क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) और चौदहवेंगुणस्थान के केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदो मे भी कोई अन्तर नही है।

इसप्रकार तेरहवें और चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय मे कोई अन्तर नही है। जिसप्रकार वही का वही बीज किन्तु भूमि की विभिन्नता के वश से फल मे विभिन्नता हो जाती है, उसीप्रकार वही का वही क्षायिकरत्नत्रयरूपी बीज सयोगकेवली और अयोगकेवलीरूप भूमि की विभिन्नता से फल की निष्पत्ति मे विभिन्नता हो जाती है। उस फल की विभिन्नता के कारण ही उस क्षायिकरत्नत्रय की 'पूर्ण' आदि विभिन्न सज्ञा है।

जो विद्वान अपेक्षाओ को न समझकर चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय को पूर्ण मानकर क्षायिकरत्नत्रय मे तरतमता मानते है उनको, 'क्षायिकभावानां न हानिर्नापि वृद्धिरिति ।' अर्थात् 'क्षायिकभावो की हानि नही होती और वृद्धि भी नही होती', इन आर्षवाक्यो का भी श्रद्धान करना चाहिये।

यद्यपि क्षायिकरत्नत्रय क्षायिकरूप से सम्पूर्ण है तथापि वह मुक्ति को उत्पादन करने के लिये आयुकर्म की शेष स्थिति (काल) की अपेक्षा रखता है।

कार्य की उत्पत्ति की अपेक्षा से चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय को सम्पूर्ण कहने मे स्याद्वादियो को कोई बाधा नहीं है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

'द्रव्यादिबाह्यनिमित्तसन्निधाने सत्याभ्यन्तरसम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रकर्षावाप्तौ कृत्स्नकर्मसंक्षयात् मोक्षो विवक्षितस्ततो न दोष. ।'

क्षायिकरत्नत्रय होनेपर आत्मा घातियाकर्मों से अत्यन्त निवृत्त हो जाता है और आत्मा मे आत्यन्तिक-विशुद्धि आ जाती है इसलिये क्षायिक की अपेक्षा क्षायिकरत्नत्रय अपूर्ण नही हो सकता। **श्री अकलंकदेव** ने भी कहा है। **'आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तविनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते ।'** **श्री विद्यानन्दस्वामी** ने भी कहा है—**'सयोगकेवलिरत्नत्रयमयोगिकेवलिचरमसमयपर्यन्तमेकमेव ।'** तेरहवेंगुणस्थान का रत्नत्रय और चौदहवें-गुणस्थान के अन्तिमसमयतक का रत्नत्रय एक ही है।

—**जै. ग.** 30-1-67/IX/........

सिद्धो के १४ गुरण

शंका—अनन्तव्रत कथा मे सिद्धों के १४ गुणों का वर्णन आया है। वे १४ गुण कौन से हैं ? इस कथा में १४ अवधिज्ञानी मुनियों का भी वर्णन है। उन १४ अवधिज्ञानी मुनियों के नाम क्या हैं ?

समाधान—सिद्धो के अनन्तगुरण हैं उनमे से कोई से १४ गुणो के नाम उच्चाररण किये जा सकते है। सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध, गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता १४ गुणो का अथवा अन्य १४ गुणो का वर्णन हो सकता है। (**वृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४, टीका**)। अवधिज्ञानीमुनि भी अनन्त हो चुके हैं। गत चतुर्थकाल मे भी असख्यात अवधि-ज्ञानीमुनि हुए है। इनमे से किन्ही १४ का नाम लिया जा सकता ..।

—**जै. सं** 8-1-59/V/ **टीकमचंद जैन, पचेवर**

निर्वाण के समय भगवान् नीचे (पृथ्वी पर) आ जाते हैं

शंका—केवलज्ञान होने पर केवली भगवान भूभाग से ५ हजार धनुष ऊँचे उठ जाते हैं। योग निरोध होने पर समवसरण गंधकुटी आदि विघट जाते हैं, तो क्या वे अधर ही रहते हैं अथवा निर्वाण के समय नीचे पृथ्वी पर आ जाते हैं अर्थात् मुक्ति किस स्थान से होती है ?

समाधान—निर्वाण के समय केवली भगवान नीचे आ जाते है अन्यथा 'स्थलगत' सिद्धो का कथन नही बन सकेगा। स्थलगत, जलगत व आकाशगत सिद्ध होते हैं।

—**जै. स** 4-12-58/V/....

कर्मभूमि की आदि में धान्यादि की स्वयं उत्पत्ति

शंका—अमृतादि की सात-सात दिन वर्षा होने के बाद भूमि में लता, गुल्म आदि स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तो बीजरुह शब्द की कोई जरूरत नहीं रही। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज ऐसा अनादिकाल से चला आता है।

समाधान—लता, गुल्म आदि सम्मूर्च्छन हैं। अत इनकी उत्पत्ति बीज से ही हो, ऐसा एकातनियम नही है। बाह्यद्रव्यो के सयोग से यदि इनके योग्य योनिस्थान बन जावे तो इनकी उत्पत्ति मे कोई बाधा नही है। द्वीन्द्रियआदि जीवो की भी इसप्रकार उत्पत्ति देखी जाती है। कर्मभूमि की आदि मे भी धान्य आदि की स्वय उत्पत्ति देखी जाती है।

—**जै. स.** 5-2-59/V/ **ला. सु. रांवका, ब्यावर**

कब कौनसा परिवर्तन प्रारम्भ होता है, यह नहीं कहा जा सकता

शंका—यह अज्ञानीजीव अनादि से इस पंचपरिवर्तनरूप संसार में भ्रमण कर रहा है। इनमें कब किस-परिवर्तन का प्रारम्भ और अन्त होता है इसका भी उल्लेख किसी ग्रन्थ में है क्या ?

समाधान—पंच परिवर्तन मे से किसी भी परिवर्तन का काल नियत नही है, किन्तु इतना नियत है कि वह काल अनन्त है और हीनाधिकता के कारण वह अनन्तकाल भी अनेक प्रकार का है। अत यह नही कहा जा सकता कि किस जीव का परिवर्तन काल कब प्रारम्भ होगा और कब समाप्त होगा ?

—**जै. ग** 31-7-69/V/ ..

मस्तिष्क एवं मन में अन्तर

शंका—मस्तिष्क मनका ही एक अंग समझना चाहिए या स्वतन्त्र अंग है ?

समाधान—मस्तिष्क और मन इन दोनो के स्थान भिन्न-भिन्न है। अत मस्तिष्क स्वतन्त्र अग है।

'हृदय मे आठ पाखुरीवाले कमल समान बन रहा द्रव्यमन भी मनोवर्गणा नामक पुद्गलो से निर्मित है।' (**श्लोकवार्तिक खंड ६ पृ० १४९**) किन्तु मस्तिष्क ललाट मे होता है।

मस्तिष्क का कार्य हिताहित का विचार तथा स्मृति आदि है। मन का कार्य शिक्षा व आलाप को ग्रहण करना है।

सिक्खा-किरियुवेदसालावग्गाही मणोवलंबेण ।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीदो असण्णी दु ॥६६१॥ (गो० जी०)

जो जीव मन के द्वारा शिक्षा उपदेश आलाप को ग्रहण करता है वह सज्ञी अर्थात् मनसहित जीव है। जो शिक्षा उपदेश आलाप को ग्रहण नही कर सकता मनरहित अर्थात् असज्ञीजीव है।

'**संज्ञिन समनस्काः** ।' इस सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि जिन जावो के मन है वे सज्ञी है।

—**जै ग.** 10-12-70/VI/**र. ला जैन**

शास्त्रों का मूल से [संस्कृत या प्राकृत से] स्वाध्याय ही उत्तम है

शंका—शास्त्रो की रचना अधिकतर प्राकृत व संस्कृत भाषा में हुई है। पंडितों द्वारा जिनका हिन्दी अनुवाद हुआ है। क्या हिन्दी अनुवाद मात्र पढ़ने से शास्त्र का यथार्थ व पूर्ण ज्ञान हो सकता है ?

समाधान—आर्षग्रन्थो का यथार्थ व पूर्ण ज्ञान करने के लिये सस्कृत व प्राकृत का बोध होना आवश्यक है। विद्वानो ने ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करके बहुत उपकार किया, क्योकि जिनको सस्कृत व प्राकृत का ज्ञान नही है, वे भी हिन्दी अनुवाद से ग्रन्थो की स्वाध्याय कर सकते हैं। फिर भी अनुवाद तो अनुवाद ही है। किसी ने कहा भी है—'Translation is after all translation. It looses its half charm.'

—**जै. ग.** 2-12-71/VIII/**रो. ला मित्तल**

दूसरों के परिणामों को कभी मलिन नहीं करना चाहिए

शंका—स्वर्गों के देव राम, लक्ष्मण के प्रेम की परीक्षा करने के लिये मध्य लोक में आये। लक्ष्मण को कहा 'राम मर गया।' इतने में लक्ष्मण ने प्राण त्याग कर दिया। देवो को पापबंध हुआ या नहीं ?

समाधान— शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीनप्रकार का जीवपरिणाम होता है। उपर्युक्त परिणाम शुद्ध और शुभ, इन दो प्रकार का तो नही हो सकता, क्योकि, शुभ परिणाम तो मंदकषाय के सद्भाव मे होता है और शुद्धपरिणाम कषाय के अभाव मे होता है। अत पारिशेषन्याय से देवो के उक्त परिणाम अशुभ ही हो सकते हैं और अशुभोपयोग मे पापबध होता है। **'शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य'** शुभ से पुण्य बध होता है और अशुभ से पाप बध होता है। **(मो. शा अ. ६ सूत्र ३)**। अत हमको कौतूहल या परीक्षारूप से भी ऐसे वचन उच्चारण नही करने चाहिये जिससे दूसरो के परिणाम को कष्ट होवे।

—जै ग 18-10-56/VI/ जैनवीरदल; भिवाड़

किसी की कृति में किसी अन्य को परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है

शका— श्री प० मुन्नालाल रांधेलिया सागर ने छहढाला में निम्न परिवर्तन किया है। क्या उनका ऐसा करना ठीक है ? मूल पाठ (१) जो सत्यारथरूप सुनिश्चय कारण सो व्यवहारो (२) हेतु नियत को होई। परिवर्तित पाठ (१) जो सत्यारथरूप सु निश्चय कारण से व्यवहारो। (२) हेतु नियत के होई।

समाधान—राधेलियाजी हो या अन्य कोई सज्जन हो, किसी को भी दूसरे की कृति मे एक अक्षर का भी हेर-फेर करने का अधिकार नही है। छहढाला **श्री पं० दौलतरामजी कृत है** जिसमे प्राय आचार्य कृत सस्कृत श्लोको का पद्यरूप मे अनुवाद है। अत छहढाला के अक्षरो मे हेर-फेर करना महान् अनुचित व अन्याय है। यदि **छहढाला** की कथनी से कोई विद्वान् सहमत नही है तो भी उसको छहढाला मे परिवर्तन करने का अधिकार नही है।

—जै ग 13-8-70/IX/ ...

१. प्रवचनसार के अनुवाद विषयक किसी स्थल पर आक्षेप का परिहार
२. "अर्थ आगम से अबाधित होने चाहिए"

शका—महावीरजी से प्रकाशित प्रवचनसार के सम्बन्ध मे जैनसन्देश मे यह लिखा जा रहा है कि कुछ स्थलो पर शब्द के अनुसार अनुवाद नहीं किया गया है। आपने ऐसा क्यों किया ?

समाधान —**श्री महावीरजी** से जो **प्रवचनसार** प्रकाशित हुआ है उसका अनुवाद **स्वर्गीय पं० अजितकुमारजी** ने किया था। मैंने तो मात्र विषय सूची, विशेष-शब्द-सूची, शुद्धिपत्र तैयार किया है। तथा प्रकाशन के लिये भिन्न सस्थाओ से प्रकाशित **प्रवचनसार व ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी का भाषानुवाद** यह सामग्री **श्री पं० अजितकुमारजी** के पास भेज दी थी जिसमे उनके मूल पाठ को **शुद्ध** करने तथा भाषानुवाद मे कठिनाई न हो। मूलपाठ भेदो की सूची भी साथ मे प्रकाशन से पूर्व भेज दी गई थी। **श्री ब्र० लाडमलजी** ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इस बातका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया है—

'श्री बद्रीप्रसादजी सरावगी पटना ने द्रव्य सहायता दी है तथा **श्री रतनचन्दजी मुख्तार** सहारनपुर ने विषय-सूचि, विशेष-शब्द-सूची आदि बनाई है। **श्री पं० सरनारामजी** ने हिन्दी अनुवाद मे अनेक सुझाव दिये है **और स्वर्गीय पं० अजितकुमारजी** ने इसके सम्पादन का कार्य अपने हाथ मे लिया था। अत मैं इन सबका आभारी हूँ।'

जैनसन्देश मे प्रवचनसार सम्बन्धी जो लेख प्रकाशित हुए हैं वे मात्र ईर्ष्या भाव को लेकर लिखे गये हैं, इसीलिये उन लेखो के प्रतिवाद की कोई आवश्यकता नही समझी गई। यदि ईर्ष्याभाव से न लिखे जाते तो जहाँ कहीं अशुद्धि थी तो उसके स्थान पर शुद्ध पाठ क्या होना चाहिए, ऐसा भी उल्लेख उन लेखो मे होना चाहिए था। **धवल, जयधवल, महाबंध, सर्वार्थसिद्धि** आदि ग्रन्थो मे जहाँ-जहाँ पर अनुवाद आदि मे अशुद्धपाठ मिला उसके स्थान पर शुद्धपाठ क्या होना चाहिए उसका सुझाव भी दिया जाता जिससे स्वाध्याय प्रेमी व सम्पादक उस पर विचार कर सकते।

कही कहीं पर माना कि शब्दो का अनुवाद कर देने से सिद्धात से विरोध आ जाता है, इसलिए इसप्रकार अनुवाद लिखा जाता है जिससे सिद्धात से विरोध न आये। जैसे **तत्त्वार्थसूत्र** दूसरे अध्याय मे सूत्र ५१ है 'न देवा।' इसका शब्दानुवाद होता है 'देव नही होते है।' किन्तु ऐसा अर्थ करने से सिद्धात से विरोध आता है अत. शब्दानुवाद न करके इसका अर्थ किया जाता है। 'देवो मे नपुंसक वेद नही होता है।' यह अर्थ सिद्धात के अविरुद्ध है।

इतना ही नहीं, कही-कही पर शब्द का अन्यथा भी अर्थ करना पड़ता है, क्योकि शब्दकोष के अनुसार अर्थ करने पर सिद्धात से विरोध आता है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** की **बारस अणुवेक्खा** मे निम्न गाथा आई है—

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असइं अणंतखुत्तो पोग्गलपरियट्टससारे ॥

श्री पं० उग्रसेन जैन एम० ए० एल० एल० बी० द्वारा इस गाथा का अर्थ निम्नप्रकार किया गया है—

'पुद्गलपरावर्तनरूप ससार मे इस एक जीव ने सम्पूर्ण पुद्गलवर्गणाओ को निश्चय से बार बार (अनतबार) ग्रहण कर और भोगकर छोडा है।

श्री प० फूलचन्दजी ने इस गाथा का अर्थ इसप्रकार किया है—'इस जीव ने सभी पुद्गलो को क्रम से भोगकर छोड दिया और इसप्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गलपरिवर्तनरूप ससार मे घूमता रहता है।'

अन्य विद्वानो द्वारा भी इसका अर्थ यह किया गया है—'इस पुद्गलपरिवर्तनरूप ससार मे समस्त पुद्गल इस जीव ने एक एक करके पुन: पुन अनन्तबार भोग कर छोडे है।'

प्राय. सभी विद्वानो ने 'सव्व' शब्द का अर्थ कोष के अनुसार 'समस्त' 'सम्पूर्ण' 'सभी' आदि किया है जो सिद्धांत सम्मत नही है, क्योकि आज तक समस्त जीवो द्वारा भी सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य नही भोगा गया है। समस्त जीवो द्वारा भूतकाल मे जो पुद्गलद्रव्य भोगा गया है उसका प्रमाण समस्त जीवराशि गुणित भूतकाल के समय गुणित एकसमयप्रबद्ध अर्थात् अनन्त से भाजित समस्त जीवराशि का वर्ग। इसको गणित मे इसप्रकार लिख सकते हैं—समस्त जीव^2 ÷ अनन्त। सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य का प्रमाण है—समस्तजीवराशि गुणित समस्तजीवराशि गुणित अनन्त अर्थात् अनन्त से गुणित समस्तजीवराशि का वर्ग अथवा अनन्त × (समस्त जीव^2) इससे ज्ञात होता है कि समस्त जीवो द्वारा भी भूतकाल मे आज तक पुद्गलद्रव्य का मात्र अनन्तवाँभाग भोगा गया है। अत. उपर्युक्त गाथा मे पुद्गलद्रव्य के एकदेश के लिए 'सव्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। **[धवल ४।३२६]**

श्री गुणधराचार्य विरचित **कषायपाहुड़** मे निम्न गाथा आयी है—

सम्मत्तपढमलंभस्सऽणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं ।
लंभस्स अपढमस्सदु भजियव्वो पच्छदो होदि ॥१०५॥

शब्दकोष के अनुसार विद्वानो ने इस गाथा का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

'सम्यक्त्व की प्रथमबार प्राप्ति के अनन्तर पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है। किन्तु अप्रथमबार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भजितव्य है।'

यद्यपि शब्दकोष अनुसार यह अर्थ ठीक है, किन्तु सिद्धात से यह अर्थ बाधित होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी प्रथमबार सम्यक्त्व को प्राप्तकर मिथ्यात्व को न भी प्राप्त हो, किन्तु क्षयोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होकर द्वितीयोपशम को प्राप्त कर लेवे।

उपर्युक्त गाथा मे 'पढम' का अर्थ 'प्रथमोपशम' और 'अपढम' का अर्थ 'क्षयोपशम' तथा 'अणंतर पच्छदो' का अर्थ 'अनतर पूर्व' करना होगा जो किसी भी शब्द-कोष मे नही मिलेगा। इन शब्दो का ऐसा अर्थ करने से गाथा का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—'प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति से अनतर पूर्व मिथ्यात्व नियम से होता है, किंतु क्षयोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व मिथ्यात्व भजितव्य है अर्थात् मिथ्यात्व हो भी और न भी हो।

'सामण्ण' अर्थात् सामान्य शब्द का अर्थ कोष मे 'समान या साधारण' दिया है। किसी भी कोष मे 'सामान्य' का अर्थ 'आत्मपदार्थ' नही दिया गया है किन्तु **'जं सामण्णग्गहणं'** मे 'सामान्य' शब्द का प्रयोग 'आत्म-पदार्थ' के लिये किया गया है।

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दो का अर्थ इसप्रकार होना चाहिए जिसमे सिद्धान्त खण्डित न होता हो, अपितु सिद्धान्त के अनुकूल हो।

सम्यग्दर्शन का अन्तरग साधन दर्शनमोहनीयरूप द्रव्यकर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है। दर्शन-मोहनीयद्रव्यकर्म तीन प्रकार का है—सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति। दर्शनमोहनीय द्रव्यकर्म की इन तीनो प्रकृतियो के उपशम होने पर आत्मा मे उपशम-सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और इन तीनो प्रकृतियो के क्षय होने पर आत्मा में क्षायिकसम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तथा इनके क्षयोपशम अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृतिरूप द्रव्यमोह और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह इनके स्वमुख अनुदय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय होने पर आत्मा मे क्षयोपशमसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। यदि मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह या सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह का स्वमुख उदय हो तो आत्मा मे सम्यग्दर्शनगुण प्रकट नही हो सकता। यह दिगम्बर जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

श्री जयसेनाचार्य ने **प्रवचनसारादि** ग्रन्थो की टीका मे मोह, राग-द्वेष इन तीन शब्दो का प्रयोग किया है। इनमे से मोहशब्द का प्रयोग मिथ्यात्वभाव के लिये और राग-द्वेष शब्द का प्रयोग कषाय व नोकषायरूप भावो के लिये हुआ है।

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका के 'द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति।' इन शब्दों के अर्थ पर विचार करना है।

द्रव्यमोह तीनप्रकार का है मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व । 'द्रव्यमोहोदय' का अर्थ 'मिथ्यात्व-प्रकृतिरूप द्रव्यमोह' तो किया नही जा सकता, क्योकि इसके उदय मे जीव मिथ्यादृष्टि होता है तथा सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने मे निरुत्सुक, हिताहित के विचार करने मे असमर्थ होता है । अथवा आप्त आगम और पदार्थों मे अश्रद्धा को उत्पन्न करनेवाला कर्म मिथ्यात्वकर्म कहलाता है । अत मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह का तो उदय हो और जीव भावमोह अर्थात् मिथ्यात्वभावरूप न परिणमे ऐसा मानने से सिद्धांत से विरोध आता है ।

'द्रव्य-मोहोदय' का अर्थ 'सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिरूप द्रव्य मोह' भी नही किया जा सकता, इसके उदय मे जीव के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनो के सयोगरूप भाव होते है । कहा भी है—

'सम्मत्त-मिच्छत्तभावाणं सजोगसमुब्भवभावस्स उप्पाययं कम्मं सम्मत्तमिच्छत्तंणाम ।'

अत सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय होने पर जीव भावमोह (मिथ्यात्वभाव) रूप न परिणमे ऐसा मानने पर भी सिद्धात से विरोध आता है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्व के उदय मे सम्यक्त्व के साथ मिथ्यात्वभाव भी होते है ।

अत पारिशेषन्याय से 'द्रव्यमोहोदये' का अर्थ 'सम्यक्त्व प्रकृतिरूप द्रव्यमोह' होता है । जिसके उदय होने पर मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्वरूप द्रव्यमोह स्वमुख से स्वरसरूप उदय मे नही आते है इसलिए आत्मा भावमोह अर्थात् मिथ्यात्वरूप नही परिणमता है । यह सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यकर्म सम्यक्त्व का सहकारी है इसीलिए इसका नाम सम्यक्त्वप्रकृति कर्म रखा गया है ।

बध की अपेक्षा से दर्शनमोहनीयकर्म मिथ्यात्वरूप एक ही प्रकार का है, किन्तु सम्यक्त्व परिणाम के द्वारा अथवा करणलब्धि के द्वारा उस मिथ्यात्वरूप द्रव्यकर्म के तीन टुकडे हो जाते है । उनमे सम्यक्त्वप्रकृति द्रव्यमोह तत्त्वार्थश्रद्धानरूप वेदकसम्यक्त्वरूप आत्मपरिणामो को नष्ट करने मे समर्थ नही है, जैसे मन्त्रो द्वारा निर्विष किया हुआ विष मारनेवाला नही होता है । कहा भी है—**'सम्यक्त्व प्रकृतिस्तु कर्मविशेषोभवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विष मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः यत् क्षायोपशमिकादिलब्धिपंचकजनितप्रथमौपशमिकसम्यक्त्वानंतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीव-परिणामं न हंति तेनकारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते ।' अजमेर का समयसार पृ. ३०१**

यदि 'द्रव्यमोहोदय' का अर्थ 'चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय करके यह कहा जाय कि चारित्रमोहनीय कर्मोदय होते हुए भी जीव भावमोह अर्थात् रागद्वेषरूप न परिणमे तो भी सिद्धांत से विरोध आता है, क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्म का उदय दसवेंगुणस्थानतक रहता है और दसवेंगुणस्थान मे भी जीव के सूक्ष्मसांपराय अर्थात् सूक्ष्मलोभ या सरागरूप परिणाम अबुद्धिपूर्वक होते हैं ।

यदि कोई भी सज्जन **प्रवचनसार गाथा ४५ टीका** के उक्त वाक्यो का अन्यप्रकार से ऐसा अर्थ करे जिससे सिद्धांत बाधित नही हो तो उस अर्थ का सहर्ष स्वागत किया जायगा और यथासम्भव इस अर्थ में सुधार भी कर दिया जायगा ।

प्रवचनसार मे प्रेस की अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनका शुद्धि-पत्र बनाकर **श्री पं० अजितकुमारजी** अनुवादक व सम्पादक महोदय के पास भेजा भी गया था, किन्तु पंडितजी का अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण

वह नहीं मिला इसलिए इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित नहीं हो सका। यदि कोई सज्जन शुद्धिपत्र बनाकर **श्री ब्र० लाड़मलजी** के पास भेजने का कष्ट करें तो वह शुद्धिपत्र प्रकाशित हो सकता है।

—जैं ग. 15-3-73 /VI/ **र. ला. जैन, मेरठ**

शान्तिनाथपूजा के प्रथम छन्द का अर्थ

शंका—श्री पं० वृन्दावनकृत भगवान शांतिनाथपूजा के इस प्रथमछंद का क्या अर्थ है—

या भव कानन में चतुरानन, पाप पनानन घेरि हमेरी।
आतम जानन मानन ठानन, बानन होन दई सठ मेरी॥
तामद भानन आप ही हो यह, छानन आन न आनन टेरी।
आन गही शरनागत को, अब श्रीपतिजी पत राखहु मेरी॥

समाधान—इस छन्द का भाव इसप्रकार हो सकता है—इस संसाररूप वन में चारों ओर पापरूपी सिंह ने मुझे घेर रखा है। इस शठ (पापी) ने आत्मा का जानना, मानना और आचरण (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) नहीं होने दिया। उस शठ के मद को चूर करने में आपही समर्थ हो अन्य कोई समर्थ नहीं है। ऊहापोह कर मैंने यह निश्चय कर लिया है। अतः आपके सन्मुख पुकार कर रहा हूँ और अब आपकी शरण ग्रहण करली है। हे श्रीपतिजी आप मेरी टेव (बात) को राखो।

—जै. ग. 17-11-77/VIII/ **प. नदनलाल**

'चउ कर्म की त्रेसठ प्रकृति नाशि' का अर्थ

शंका—चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ होती हैं। किन्तु पूजन में 'चउकर्म की त्रेसठ प्रकृति नाश' क्यों कहा है ?

समाधान—कर्म की कुल १४८ प्रकृतियाँ फलदान की अपेक्षा निम्नलिखित चारप्रकारों में विभक्त की गई हैं। १. जीव विपाकी, २. पुद्गल विपाकी, ३. भवविपाकी, ४ क्षेत्र विपाकी।

जीवविपाकी ७८ प्रकृतियाँ – ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, ५ अंतरायकर्म, २८ मोहनीयकर्म, नामकर्म की २७ तीर्थंकर प्रकृति, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, सुभग, दुर्भग, गति ४, जाति ५, २ गोत्रकर्म, २ वेदनीय कर्म।

पुद्गलविपाकी ६२ प्रकृतियाँ—५ शरीर, ३ अंगोपांग, १ निर्माण, ५ बन्धन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श, २ गंध, १ अगुरुलघु, १ उपघात, १ परघात, १ आतप, १ उद्योत, १ प्रत्येक, १ साधारण, १ स्थिर, १ अस्थिर, १ शुभ, १ अशुभ।

भवविपाकी ४ प्रकृतियाँ—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु।

ी ४ प्रकृतियाँ—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी।

विपाक की अपेक्षा इन चारप्रकार के कर्मों में से, **जीवविपाकी ५५** प्रकृतियाँ (५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, ५ अंतराय, २८ मोहनीयकर्म, २ गति, ४ जाति, १ स्थावर, १ सूक्ष्म), **पुद्गलविपाकी** ३ प्रकृतियाँ (१ उद्योत, १ आतप, १ साधारण), **भवविपाकी** की ३ प्रकृतियाँ (नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु) और **क्षेत्रविपाकी** २ प्रकृतियाँ (नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी) इन (५५+३+३+२) ६३ प्रकृतियों के नाश होने पर तेरहवेंगुणस्थान मे अरहतावस्था प्रगट होती है। जीव विपाकी, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी इन चारकर्मों की ये ६३ प्रकृतियाँ हैं अत पूजन मे 'चउकर्म की त्रेसठ प्रकृति नाश।' यह पाठ ठीक प्रतीत होता है। विद्वान् इस पर विशेष विचारने की कृपा करें।

—जै. ग 17-6-71/IX/रो ला. मित्तल

ध० पु० १ पृ० २०८ पर उद्धृत सूत्र

शंका—ध० पु० १ पृ० २०८ पर **'पंचिदिय-तिरिक्खअपज्जत्त-मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, असंखेज्जा इदि।' सूत्र कहाँ से उद्धृत किया गया ?**

समाधान—यह सूत्र **धवल पु० ३ पृ० २३९ पर सूत्र ३७** है, किन्तु वहाँ 'मिच्छाइट्ठी' शब्द नही है। और वहाँ अन्य गुणस्थानो की सख्या को बताने वाले सूत्र भी नही हैं, इससे सिद्ध होता है कि यह सूत्र मिथ्यादृष्टि के सम्बन्ध मे है, क्योकि प्रत्येक गतिमार्गणा मे मिथ्यात्वगुणस्थान अवश्य होता है।

—जै. ग. 19-10-67/VIII/ र. ला. जैन, मेरठ

अष्टमी व चतुर्दशी का महत्त्व

शंका—अष्टमी और चतुर्दशी का महत्त्व क्या है और क्यों है ? शास्त्रोक्तविधि से स्पष्ट कीजिये। यदि पक्ष में उक्त दोनों दिवसों को छोड़कर कोई भी दो दिन धर्मोत्सव के लिये निश्चित कर लिये जावें तो आगम में क्या बाधा आती है ? स्पष्ट कीजिये।

समाधान—मोक्षमार्ग मे चारित्र का बहुत महत्त्व है। कहा भी है **'चारित्तं खलु धम्मो'** अर्थात् चारित्र ही धर्म है। चारित्र की सर्व जघन्यअवस्था श्रावक के निरतिचार अष्टमूलगुण हैं और सर्वोत्कृष्ट अवस्था चौदहवें गुणस्थान मे परमयथाख्यातचारित्र है। अत. अष्टमूलगुण की सूचक अष्टमी और चौदहवें गुणस्थान की सूचक चौदस पर्व दिवस हमेशा से मनाये जा रहे है।[1] अन्य दिवस की अपेक्षा पर्व के दिन चारित्र मे विशेष प्रवृत्ति होती है। अष्टमी, चतुर्दशी को पर्व मानने मे अन्य भी कारण हो सकते हैं। हमेशा से अष्टमी, चतुर्दशी पर्व माने जा रहे हैं इनको छोडकर अन्य दिन को पर्व मानना स्वेच्छाचारी बनना है। जिससे पूर्वाचार्यों की आज्ञा की अवहेलना अथवा आचार्यों की अविनय का दोष आता है। फिर जो भी पर्व दिवस माना जावेगा उसमे भी 'क्यों' का प्रश्न खड़ा रहेगा। अत अष्टमी चतुर्दशी को परम्परा अनुसार पर्व दिवस मानना उचित है।

—जै. सं. 4-9-58/V/ भागचंद जैन, बनारस

---

१. अन्यत्र भी एक शंका-समाधान मे आया था कि अष्ट कर्मों का नाश करने का सन्देश अष्टमी द्वारा तथा चतुर्दश गुणस्थानों से पार होने का संदेश चतुर्दशी द्वारा (यथासंख्या) प्राप्त होता है; अतः अष्टमी तथा चतुर्दशी का महत्त्व है।

दशलक्षणपर्व भाद्रपद, माघ व चैत्र मास में ही क्यों मनाये जाते हैं ?

शंका—श्री अष्टाह्निकापर्व क्रम से चार-चार मास बाद होता है, परन्तु दसलक्षण पर्व भादों मास के बाद माघमास में आता है, जो कि पाँच मास बाद आता है। इसके बाद चैत्रमास में आता है, जो केवल दो मास बाद ही आ जाता है। इसका क्या कारण है ?

समाधान—अवसर्पिणी के दुःखमा-दुःखमा छठाकाल के अन्त विषं ४९ दिन तक पवन अत्यन्तशीत, क्षार-रस, विष, कठोर अग्नि, धूलि, धुआँ की वर्षा होई है—जिससे अवशेष रहे मनुष्यादिक ते भी नष्ट हो है। बहुरि विष और अग्नि की वर्षानि करि दग्ध भई पृथ्वी सो एक योजन मात्र नीची ताई काल के वशते चूर्ण होई है। तत्पश्चात् उत्सर्पिणी का अतिदुषमा नामा प्रथमकाल कौ आदि मे ४९ दिन तक क्रमतें जल, दुग्ध, घी, अमृत आदि रसनि की वर्षा होई है। जिससे पृथ्वी उष्णता को छोड शीतल सुगन्ध हो जाय है और विजयार्ध की गुफा से जीव तो निकल पृथ्वी पर आजावें हैं। **त्रिलोकसार गाथा ८६६-८७०**

जिस दिन ये जीव गुफा से पृथ्वी पर आये वह दिन भाद्रपद शुक्ला पचमी था, क्योकि युग अथवा उत्स-पिणी की आदि श्रावणकृष्णा प्रतिपदा को होती है। श्रावण के तीस दिन और भाद्रपद शुक्ला चौथ तक १९ दिन, इसप्रकार भाद्रपद शुक्ला चौथ तक जल, दूध, घी आदि की वर्षा समाप्त हो जाती है। इस उपलक्ष मे भाद्रपद शुक्ला पचमी से दसलक्षण प्रारम्भ होता है। दसो धर्मद्वारा व रत्नत्रय के द्वारा परिणामो मे इतनी विशुद्धता आ जाती है कि असोजकृष्णा प्रतिपदा को वह जीव अन्य सब जीवो से द्वेषभाव त्यागकर क्षमा धारण करता है। अन्य जीवो से भी और विशेषकर उन जीवो से, जिनसे किसी कारण कुछ मनमुटाव हो गया हो, बैरभाव त्याग अपने प्रति क्षमाभाव धारण करने की प्रार्थना करता है, जिससे कषायभावो के सस्कार आगे न चलने पावे। इस-प्रकार इस पर्व मे क्षमावाणी का बहुत महत्व है, जो प्राय दशलक्षणपर्व के पश्चात् हर स्थान मे मनाई जाती है।

प्रत्येक कषाय चारप्रकार की होती है—१ अनन्तानुबन्धी, २ अप्रत्याख्यान, ३ प्रत्याख्यान, ४ सज्वलन। इनमे से अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यक्त्व और चारित्र की घातनेवाली है, अप्रत्याख्यानावरणीकषाय देशसयम को, प्रत्याख्यानावरणीकषाय सकलसयम को और संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र का घात करती है। (**षट्खण्डागम पुस्तक ६, पृष्ठ ४२ से ४४ तक व जीवकाण्ड गोम्मटसार गाथा २८२**)

यदि किसी भी कषाय के सस्कार ६ मास से अधिक रहते हैं तो वह कषाय सम्यक्त्व का घात करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषाय होती है। (**गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४६**)

किसी भी कषाय के सस्कार ६ मास से अधिक न होने पावे, किन्तु ६ माह से पूर्व ही वे सस्कार दसलक्षण व क्षमावणी पर्व द्वारा नष्ट हो जावे। अत. भादोंमास से ५ माह पूर्व चैत्र मास मे और भादोमास से ५ माह पश्चात् माघमास मे दसलक्षण व क्षमावणी पर्व मनाये जाते हैं।

दसलक्षण पर्व भादो, माघ व चैत्रमाह मे चिरकाल से मनाये जा रहे है। अत इसमे 'क्यो' का प्रश्न ही नहीं होता। जिननगरो में माघ व चैत्रमास में दसलक्षण पर्व न मनाया जाता हो वहाँ के भाइयो को माघ व चैत्र में भी दसलक्षणपर्व मनाना चाहिए।

—जै. सं 19-6-58/V/**हरीचन्द जैन, छटा**

भावों से पुण्य-पाप / निचली दशा में व्यवहारनय का उपदेश करने योग्य है

शंका—एक भूखे जीव को दुःखी देखकर खाने के लिये रोटी दे दी जावे। उस भूखे ने वह रोटी न खाकर उस रोटी से जानवरों को मारने का कार्य किया तो वह हिंसारूपी पाप किसको लगेगा ?

समाधान—भूखे को रोटी देनेवाले ने तो रोटी देकर त्याग किया। त्याग आत्मा का स्वभाव है। दसधर्म में त्याग भी एक धर्म है। त्यागधर्म पापबन्ध का कारण नहीं हो सकता है। जिस भूखे ने रोटी स्वयं न खाकर उस रोटी द्वारा जीवघात का कार्य किया, उस भूखे को पाप लगेगा। यद्यपि निश्चयनय से जीव न मरता है और न दूसरो के द्वारा मारा जा सकता है, किन्तु व्यवहारनय से जीव मरता भी है और दूसरो के द्वारा मारा भी जाता है। यदि व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माना जावे तो जैसे भस्म को मसल देने में हिंसा का अभाव है उसीप्रकार त्रस-स्थावर जीवो को निःशंकतया मसल देने में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जावेगा। (**स० सा० गा० ४६ की आत्मख्याति टीका**)। निचलीअवस्था अर्थात् अपरमभाव में स्थित जीवो के लिए व्यवहारनय का उपदेश करने योग्य है (**स.सा.गा. १२**)।

—**जै. ग** 24-1-63/VII/ **मो. ला.**

सम्यग्दर्शन का लक्षण

शंका—सम्यग्दर्शन का लक्षण भिन्न-भिन्न कहा गया है जैसे—

(क) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान

(ख) तत्त्वों का श्रद्धान

(ग) भेदविज्ञान

(घ) स्वानुभव

इन चारो मे से सम्यग्दर्शन का यथार्थ लक्षण क्या है ?

समाधान—भेद-विज्ञान और स्वानुभव ये दोनो तो ज्ञान की पर्याय है अतः ये दोनो सम्यग्दर्शन के लक्षण नहीं हो सकते। कहा भी है—

'ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतया प्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेय ज्ञातृस्व तथानुभूति-लक्षणेन ज्ञानपर्यायेण।' (**प्रवचनसार गाथा २४२ की टीका**)

ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है, ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की यथार्थ अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है।

इसप्रकार **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने** अनुभूति अर्थात् अनुभव को ज्ञानकी पर्याय कहा है और प्रतीति को दर्शन की पर्याय कहा है।

भेदविज्ञान मे तो 'विज्ञान' शब्द स्वयं ज्ञान का द्योतक है।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु, श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।' (**ध० पु० १ पृ० १५१**)

तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है, इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम, पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते है। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है।

इसप्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धान कहो या सच्चेदेव, गुरु, शास्त्र का श्रद्धान कहो दोनो एक ही हैं। शब्द भेद है, अभिप्राय भेद नही है।

—जै. ग. 10-4-69/V/इन्दौरीलाल

द्रव्य में भूतभाविपर्याय विद्यमान नहीं हैं

शंका—असत् पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि असत् का उत्पाद नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक द्रव्य में उसकी सर्व पर्यायें विद्यमान रहती हैं और उनमे से एक-एक कम से प्रगट होती हैं और शेष पर्यायें तिरोहित रहती हैं। जैसे सिनेमा की सर्व तसवीरें रील पर विद्यमान रहती हैं, किन्तु उनमें से क्रमानुसार एक-एक तसवीर प्रगट होती रहती है और शेष तसवीरें तिरोहित रहती हं। जिसप्रकार समस्त तसवीरों के समूह का नाम एक सिनेमा है उसीप्रकार सर्व पर्यायों के समूह का नाम द्रव्य है।

समाधान—असत्द्रव्य का उत्पाद नही हो सकता। जितने भी जीवो की सख्या हमेशा से है, उतनी ही सख्या आज भी है। उसप्रमाण मे एक जीवद्रव्य की वृद्धि न आज तक हुई और न होगी। क्योकि असत् द्रव्य का उत्पाद नही होता। प्रत्येक द्रव्य की एक समय मे वर्तमान पर्याय विद्यमान रहती है शेष पर्यायो का उस समय प्रध्वसाभाव या प्रागभाव है अर्थात् अभाव है।

द्रव्य का लक्षण सत् है और 'सत्' उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है—

'दव्वं सल्लक्खणं उप्पादव्वय-धुवत्तसंजुत्तं।' पंचास्तिकाय, गाथा १० यदि सर्वपर्यायो को सर्वथा सत् माना जाय तो उत्पाद और व्यय घटित नही होगे। उत्पाद-व्यय के न होने पर सत् भी सिद्ध नही हो सकेगा। सत् के अभाव मे द्रव्य के अभाव का प्रसग आ जायगा। **श्री वीरसेनाचार्य** ने कहा भी है —

'सव्वहा संतस्स संभवविरोहादो, सव्वहा संते, कज्जकारणभावाणुववत्तीदो। किं चविप्पडिसेहादो ण संतस्स उप्पत्ती। जदि अत्थि, कधं तस्सुप्पत्ती? अह उप्पज्जइ; कधं तस्स अत्थित्तमिदि।' [धवल पु १५ पृ. १८]

अर्थ—सर्वथा सत् की उत्पत्ति का विरोध है। सर्वथा सत् होने पर कार्य-कारणभाव ही घटित नही होता। इसके अतिरिक्त असगत होने से सत् की उत्पत्ति सम्भव नही है, क्योकि यदि पर्याय कारण-व्यापार के पूर्व मे भी विद्यमान है तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और यदि वह पर्याय कारण-व्यापार से उत्पन्न होती है तो फिर उसका पूर्व मे विद्यमान रहना कैसे सगत कहा जावेगा?

इस आर्षवाक्य से सिद्ध है कि एक वर्तमानपर्याय विद्यमान है भावीपर्याय वर्तमान मे विद्यमान नही है, किन्तु द्रव्य मे उनरूप परिणमन करने की शक्ति है। जैसा कारण मिलेगा वैसी पर्याय उत्पन्न हो जावेगी। कहा भी है—

'तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥३।५९॥'

अर्थ—उस कारण के सद्भाव मे उस पर्याय का होना कारण के व्यापार के आधीन है।

—जै. ग. 26-12-66/VII/देवकुमार

अन्योन्याभाव सब द्रव्यों में होता है

शंका—श्री पं० गोपालदासजी वरैया ने दो पुद्गलों की दो पर्यायों में अन्योन्याभाव बताया है, पुद्गल के अलावा अन्य जीवादि द्रव्यों में अन्योन्याभाव होता ही नहीं है ऐसा लिखा है। जबकि कषायपाहुड़-जयधवल प्रथम-भाग पृ० २५० व २५१ पर यह अन्योन्याभाव प्रत्येक द्रव्य में बतलाया है और न मानने पर सर्वात्मकता का दोष बतलाया है। कृपया स्पष्ट करें दोनों में क्या ठीक है ?

समाधान—जयधवल पु० १ पृ० २५१ पर 'अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्।' का अर्थ **श्री पं० फूलचन्दजी** तथा **श्री पं० कैलाशचन्दजी** ने इसप्रकार किया है—'एकद्रव्य की एकपर्याय का उसकी दूसरीपर्याय में जो अभाव है उसे अन्यापोह या इतरेतराभाव कहते है। इस इतरेतराभाव के अपलाप करने पर प्रतिनियतद्रव्य की सभी पर्यायें सर्वात्मिक हो जाती है।' विशेषार्थ मे भी लिखा है—'आशय यह है कि इतरेतराभाव को नही मानने पर एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायो मे कोई भेद नही रहता—सब पर्याय सबरूप हो जाती है।' **धवल पु १५ पृ. ३०** पर इसी कारिका के विशेषार्थ मे **श्री पं० बालचंदजी** ने लिखा है—'अतएव एकद्रव्य की विभिन्न पर्यायो मे परस्पर भेद को प्रकट करनेवाले अन्योन्याभाव को स्वीकार करना ही चाहिये।' **श्री अष्टसहस्री** मे भी कहा है—**'स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः। यथा वर्तमाने घट स्वभाववत्पटस्वभावस्य व्यावृत्तिः।'** इससे सिद्ध होता है कि अन्योन्याभाव सब द्रव्यो मे होता है।

—**जै. ग** 7-8-67/VII/**र. ला.**

मन्दिरस्थ प्रतिमापंचपरमेष्ठी की होती है

शंका—जिनमन्दिर मे जो प्रतिमाजी विराजमान है वह प्रतिमाजी जैनसिद्धांत के अनुसार किस अवस्था की समझनी चाहिये ?

समाधान—जिनमन्दिर मे जो प्रतिमा है वे मुख्यरूप से अरिहंत व सिद्ध अवस्था की है, किन्तु गौणरूप से पाँचो परमेष्ठियो की है, क्योकि पांचो परमेष्ठी पूजनीक है। नमस्कारमन्त्र मे पाँचो परमेष्ठियो को नमस्कार किया गया है। यदि यह कहा जावे कि आचार्यादिक तीन परमेष्ठियो ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नही किया है, इसलिये उनमे देवपना नही आ सकता है, अतएव उनको नमस्कार करना योग्य नही है ?

इसका उत्तर **श्री वीरसेन आचार्य** ने निम्न प्रकार दिया है—

'देवोहि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्त-भेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देव', अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्ते· तत आचार्यादयोऽपि देवा रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात्।'

अर्थ—अपने-अपने भेदो से अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव है, यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जावे तो सम्पूर्ण जीवो को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जाएगी। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी देव हैं, क्योकि अरिहतादिक से आचार्यादिक मे रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नही है। अर्थात् जिसप्रकार अरिहत और सिद्धो के रत्नत्रय पाया जाता है, उसी प्रकार आचार्यादिक के भी रत्नत्रय का सद्भाव पाया जाता है। इसलिये आंशिक रत्नत्रय की अपेक्षा इनमे देवपना बन जाता है।

—**जै. ग.** 1-11-65/VII/ **गुलाबचंद टेकमचंद**

द्रव्य पूजा-विधान आगमोक्त है

शंका—क्या शास्त्रों में द्रव्यपूजा का कथन नहीं है ?

समाधान—द्रव्यपूजा का सविस्तार कथन आर्षग्रंथो मे पाया जाता है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने भी द्रव्यपूजा का कथन किया है।

उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्तिं गुणाणुकित्तिं च ।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धि पणमो थवो णेओ ।।१-२६।। मूलाचार

श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यकृत सस्कृतटीका—

'अच्चिदूण य अर्चयित्वा च गन्धपुष्पधूपादिभिः प्रासुकैरानीतैर्दिव्यरूपैश्च दिव्यैर्निराकृतमलपटलसुगन्धैश्चतुर्विंशतितीर्थंकरपदयुगलानामर्चनं कृत्वा ।'

अर्थात् —लाये हुए प्रासुक गंध पुष्प धूपादिको से जिनेश्वरों के चरणो को पूजना चाहिए।

अब्भुट्ठाणं अंजलि आसणदाणं च अतिहिपूजा य ।
लोगाणुवित्ति विणओ देवदपूयासविहवेण ।।७-९३।।

आचार्य वसुनन्दि कृत टीका—**'स्वविभवेन स्ववित्तानुसारेणदेवपूजा ।'**

अर्थात्—अपने वित्त के अनुसार देव पूजा करना।

इमके पश्चात् **श्री सोमदेव** आदि आचार्यों ने द्रव्यपूजा का विशद विवेचन किया।

—**जै. ग** 26-10-67/VII/ **पूर्णचन्द्र एडवोकेट**

शूद्रमुक्ति / स्त्रीमुक्ति

शंका—आगम में मनुष्य के सम्पूर्ण कुल और योनियों में चौदहो गुणस्थानों की योग्यता प्रतिपादित की है तो क्या शूद्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति सम्भव है ? स्पष्ट करें।

समाधान—शूद्र व स्त्रियो की कुलसख्या तथा योनि पृथक् नही है। जो मनुष्यों के कुल व योनि है वह शूद्रो व स्त्रियो की भी हैं। अत सम्पूर्ण मनुष्य कुलो व योनियो के मोक्ष कहने से शूद्र अर्थात् नीच गोत्री व स्त्री अर्थात् महिला (द्रव्यस्त्री) को मुक्ति सिद्ध नही होती। नीच गोत्र वाले के पाँचवां गुणस्थान तक हो सकता है, क्योंकि उससे ऊपर के छठे आदि गुणस्थानो मे नीचगोत्र का उदय नही है। द्रव्यस्त्री (महिला) के भी सवस्त्र होने के कारण पचम गुणस्थान से अधिक नही हो सकता।

—**जै. स.** 28-6-56/VI/**र ला. जैन, केकड़ी**

चरणानुयोग / अनगार चरित्र / निश्चल चित्त बनाने का उपाय

शंका—**चित्त की निश्चल अवस्था कैसे प्राप्त हो ?**

समाधान—निश्चल रहना तो चित्त का स्वभाव है। उस निश्चलता का घातक जो कर्म है उस कर्म का क्षय करने से चित्त की निश्चल अवस्था स्वयमेव हो जावेगी। **प्रवचनसार गाथा ७** की टीका मे कहा भी है—

'निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते ।'

निर्विकार निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्र का विनाशक चारित्रमोह के नाम से कहा जानेवाला क्षोभ है। यह क्षोभ चारित्रमोहनीयकर्म से उत्पन्न होता है। चारित्रमोहनीयकर्म के अभाव मे निश्चल चित्तवृत्ति के विनाशक क्षोभ का भी अभाव हो जायगा।

'दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।'

—प्रवचनसार गाथा ७ टीका

दर्शनमोहनीयकर्मोदय से मोह उत्पन्न होता है और चारित्रमोहनीयकर्मोदय से क्षोभ उत्पन्न होता है। दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्मोदय के अभाव मे मोह और क्षोभ (चचल चित्तवृत्ति) का अभाव हो जाता है। इनके अभाव मे जीव का अत्यन्त निर्विकार (निश्चल) परिणाम होता है।

—जै. ग 2-11-72/VII/रो. ला. जैन

अशोकवृक्ष जीव के शोक को दूर करता है

शंका—अशोकवृक्ष में दूसरे जीवों के शोक को दूर करने की विशेषता होती है क्या ?

समाधान—अशोकवृक्ष मे दूसरे जीवो के शोक को दूर करने की शक्ति होती है, इसी कारण उसको अशोकवृक्ष की सज्ञा दी गई है।

रेजेऽशोकतरुरसौ रुन्धन्मार्गं व्योमचरमहेशानाम् ।
तन्वन्योजनविस्तृता शाखा धुन्वन शोकमयमवो ध्वानाम् ॥ २३/३९ ॥ (महापुराण)

अर्थ—आकाश मे चलने वाले देव और विद्याधरो के स्वामियो का मार्ग रोकता हुआ अपनी एक योजन विस्तारवाली शाखाओ को फैलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकार को नष्ट करता हुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था।

सर्वर्तुकुसुमेनान्यसर्वशोकापहारिताम् ।
अशोकेनाभिपूज्यत्व सुमनोवृष्टि पूजया ॥५७/१६४॥ (हरिवंशपुराण)

अर्थ—सब ऋतुओ के फूलो से युक्त अशोकवृक्ष के द्वारा अन्य समस्त जीवो के शोक दूर करने की सामर्थ्य को, पुष्पवृष्टिरूप पूजा के द्वारा पूज्यता को प्रकट कर रहे थे।

—जै ग. 23-7-70/VII/ रतनलाल जैन

सत्य अर्थ सर्वथा अज्ञात नहीं हो सकता

शंका—सत्य अज्ञात है, उस सत्य को उन विचारों से कैसे जाना जा सकता है जो विचार ज्ञात हैं ?

समाधान—कोई भी सत् रूप अर्थ (विद्यमान अर्थ, सद्भावात्मक अर्थ) ऐसा नही है जो कि किसी न किसी ज्ञान का विषय न हो, क्योकि अर्थ उसको ही कहते है जो जाना जाय। कहा भी है—

'वर्तमानपर्यायाणामेवकिमित्यर्थत्वमिष्यत इति चेत् ? न 'अर्यते परिच्छिद्यते' इति न्यायतस्तत्रार्थत्वो-पलम्भात् ।' जयधवल पु० १ पृ० २२-२३

अर्थ—केवल वर्तमानपर्याय को ही अर्थ क्यो कहा जाता है ? ऐसी शका ठीक नही है, क्योंकि जो जाना जाता है उसको अर्थ कहते है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्यायो मे ही अर्थपना पाया जाता है ।

जितने भी सत्रूप अर्थ हैं उनका कोई न कोई ज्ञाता अवश्य है अन्यथा उसकी अर्थ सज्ञा नहीं बन सकती, क्योकि जो जाना जाता है वह अर्थ है । इसलिये यह कहना कि 'सत्यार्थ' अज्ञात है उचित नही है ।

यदि सत्यार्थ किसी व्यक्ति विशेष को अज्ञात है तो ज्ञाता पुरुषो के उपदेश द्वारा उस अज्ञात को भी वह सत्यार्थ ज्ञात हो सकता है । इसलिये सत्यार्थ सर्वथा अज्ञात नही हो सकता ।

—जै. ग. 7-11-68/XIV-XV/ रोशनलाल

मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच के अवधिज्ञान की संज्ञा विभंगावधि या कुअवधि है

शंका—देशावधिज्ञान क्या सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यंचों के ही होता है या मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है ?

समाधान—देशावधिज्ञान मनुष्य, तिर्यंच, देव व नारकी चारो गतियो मे मिथ्यादृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के हो सकता है, किन्तु उसकी सज्ञा देशावधि न होकर विभंगावधि या कु-अवधि होती है । कहा भी है—

'विभंगणाणं सण्णि मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा ॥११७॥ पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताण णत्थि ॥११८॥' (धवल पु. १ पृ. ३६२)

अर्थ—विभगावधिज्ञान सज्ञीमिथ्यादृष्टिजीवो के तथा सासादनसम्यग्दृष्टिजीवो के होता है, किन्तु वह पर्याप्तकों के ही होता है अपर्याप्तको के नही होता है ।

—जै. ग 26-11-70/VII/ गम्भीरमल सोनी

आजकल शुद्धोपयोग नहीं है

शंका—कलिकाल में वीतरागचारित्र की असम्भवता किस अनुयोग की अपेक्षा से है । बिना शुद्धोपयोग के भी सम्यग्दर्शन हो सकता है या नहीं ? यदि होता है तो किस प्रकार—

समाधान—आजकल पचमकाल मे भरतक्षेत्र मे शुक्लध्यान का निषेध है, किन्तु धर्मध्यान का निषेध नही है । धर्मध्यान शुभभाव है । श्री कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सोवि अण्णाणी ॥७६॥ मो पा.

अर्थ—इस भरतक्षेत्र विषै दु.षमकाल जो पंचमकाल ता विषै साधु-मुनि के धर्मध्यान होय है, सो यह धर्मध्यान आत्मस्वभाव के विषै स्थित हैं । तिस मुनि के होय है । यह न माने सो अज्ञानी है जाकू धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नाहीं है ।

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहु श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥८३॥ तत्त्वानुशासन

अर्थ—यहाँ भरतक्षेत्र मे इस पचमकाल मे जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते है परन्तु दोनों श्रेणियो से पूर्ववर्ती होने वाले धर्मध्यान का निषेध नहीं है ।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥ भावपाहुड

अर्थ— शुभ, अशुभ व शुद्ध ऐसे तीनप्रकार के भाव जानने चाहिए। आर्त और रौद्रध्यान अशुभ है और धर्मध्यान शुभभाव है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

'सर्वपरित्याग परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः' प्रवचनसार पृ० ३१५

अर्थ—सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग ये एकार्थवाची हैं। आजकल परमोपेक्षा संयम नहीं है, इसलिए शुद्धोपयोग भी नहीं है।

शुद्धोपयोग के बिना सम्यग्दर्शन होता है, क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है। यदि शुद्धोपयोग पूर्वक ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानी जावेगी तो मिथ्यात्वगुणस्थान में भी शुद्धोपयोग का प्रसंग आ जावेगा, जिससे आगम में विरोध आ जायगा।

—जै. ग. 24-10-66/VI/ पं. शांतिकुमार

वैयावृत्ति एवं साधु-समाधि भावना

शंका—वैयावृत्य एवं साधु-समाधि में क्या अन्तर है।

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति के बंध के लिये सोलह भावनाओं का कथन **मोक्षशास्त्र अध्याय ६ सूत्र २४** में है तथा **धवल पुस्तक ८ सूत्र ४१ पृ ७९** पर है। इन सोलह भावनाओं में साधु-समाधि और वैयावृत्यकरण ये दो भावनाएँ भी हैं।

सर्वार्थसिद्धि टीका में साधु-समाधि का अर्थ इसप्रकार कहा है—'जैसे भण्डार में आग लग जाने पर बहुत उपकारी होने से आग को शांत किया जाता है उसीप्रकार अनेक प्रकार के व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने पर संधारण करना शान्त करना साधु-समाधि है।' **धवल पुस्तक ८** में इस भावना का नाम 'साधु-समाधि संधारणता' दिया है। इसका स्वरूप **पृ० ८८** पर इसप्रकार कहा गया है—'दर्शन, ज्ञान व चारित्र में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है। सम्यक् प्रकार से धारण या साधन का नाम संधारण है। समाधि का संधारण समाधि-संधारण है और उसके भाव का नाम समाधि संधारणता है। किसी भी कारण से गिरती हुई समाधि को देखकर सम्यग्दृष्टि प्रवचनवत्सल प्रवचनप्रभावक विनयसम्पन्न शीलव्रतानतिचारवर्जित- और अरहंतादिकों में भक्तिमान होकर चूंकि उसे धारण करता है इसलिए वह समाधि संधारण है।'

वैयावृत्य का लक्षण सर्वार्थसिद्धि में इसप्रकार है—'गुणी पुरुष के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष उस दुःख का दूर करना वैयावृत्य है।' **धवल पुस्तक ८** में इस भावना का नाम 'साधुओं की वैयावृत्ययोग युक्तता' दिया है और **पृ० ८८** पर इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—'व्यावृत्य अर्थात्—रोगादि से व्याकुल साधु के विषय में जो किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है। जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहतभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, एवं प्रवचनवत्सल-त्वादि से जीव वैयावृत्य में लगता है वह वैयावृत्ययोग अर्थात् दर्शनविशुद्धतादि गुण है। उनसे संयुक्त होने का नाम वैयावृत्ययोगयुक्तता है।'

इसप्रकार धवलाकार के मत से गिरती हुई समाधि को देखकर स्वयं उसको धारण करता है' वह साधु समाधि है। 'रोगादि से व्याकुल साधु का दुख दूर करना' वैयावृत्य है। अत स्व और पर का भेद है।

—जै. ग 16-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

संयोजना सत्य का स्वरूप

शंका—'संयोजना सत्य' का क्या स्वरूप है ?

समाधान—१४ पूर्वों में से छठा सत्यप्रवादपूर्व है उसमें दसप्रकार के सत्य का कथन है। उस दसप्रकार के सत्य में से छठा सत्य संयोजनासत्य है। इस संयोजना सत्य का स्वरूप **धवलसिद्धांतग्रन्थ** में निम्न प्रकार दिया है—

'धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्मकरहंससर्वतोभद्रक्रौञ्चव्यूहादिषु इतरेतरद्रव्याणां यथाविभागसन्निवेशा-विर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् ।'

अर्थ—धूप के सुगन्धी-चूर्ण के अनुलेपन और प्रघर्षण के समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौंचआदिरूप व्यूह रचना के समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्य के विभागानुसार विधिपूर्वक रचना विशेष के प्रकाशक जो वचन वह संयोजनासत्य है।

हरिवंशपुराण में संयोजनासत्य का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

चेतनाचेतनद्रव्यसन्निवेशा विभागकृत् ।
वच. संयोजना-सत्यं क्रौञ्चव्यूहादिगोचरम् ।।१०/१०३।।

श्री पं० पन्नालाल साहित्याचार्य **कृत अर्थ**—

'जो चेतन-अचेतन द्रव्यो के विभाग को करनेवाला न हो उसे सयोजनासत्य कहते है। जैसे क्रौञ्चव्यूह आदि। भावार्थ—क्रौञ्चव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनाओ की रचना के प्रकार है और सेनाएँ चेतनाचेतन पदार्थों के समूह से बनती हैं, पर जहाँ अचेतन पदार्थों की विवक्षा न कर केवल क्रौञ्चाकार रची हुई सेना को क्रौञ्चव्यूह और चेतन पदार्थों की विवक्षा न कर केवल चक्र के आकार रची हुई सेना को चक्रव्यूह कह देते हैं, वहा सयोजना सत्य होता है।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर 'चेतन-अचेतन द्रव्यो के विभाग को करनेवाला न हो' इसका अभिप्राय है—'चेतन अचेतन द्रव्यो की विवक्षा करनेवाला न हो।' चेतन-अचेतन द्रव्यों का सकर करने वाला हो' ऐसा अभिप्राय न ग्रहण करना चाहिए।

—जै. ग. 16-7-70/ रो. ला. जैन

शुद्धोपयोग के गुणस्थान

शंका—चौथे गुणस्थानवाले को जब शुद्धोपयोग होता है तो उसके उससमय किसी प्रकार का विचार होता है या नहीं ? यदि होता है तो क्या आत्मा को छोड़कर परद्रव्य का द्रव्यदृष्टि से विचार करते हुए भी उसके शुद्धोपयोग हो सकता है या नहीं ? जितनी देर यह आत्मा का या परद्रव्य का द्रव्यदृष्टि से विचार करता है उतनी देर क्या नियम से शुद्धोपयोग होता ही है ?

समाधान—चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग नही होता है। यथार्थ शुद्धोपयोग तो अकषाय अवस्था मे होता है जो ग्यारहवें आदि गुणस्थानों मे होता है। उपशम व क्षपकश्रेणी मे भी शुद्धोपयोग की मुख्यता है। उपचार से अप्रमत्त-सातवें गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग कह दिया जाता है, क्योंकि वहाँ पर भी कषाय (संज्वलन) की

मन्दता है। मो० मा० प्र० अ० ७ मे कहा है—'ताका अभाव माने ज्ञान का अभाव होय तब जडपना भया सो आत्मा के होता नही। तातै विचार तो रहे है, बहुरि जो कहिए, एक सामान्य (द्रव्यदृष्टि) का ही विचार रहता है, विशेष (पर्याय) का नाही तो सामान्य का विचार तो बहुत काल रहता नाही वा विशेष की अपेक्षा सामान्य का स्वरूप भासता नाही। बहुरि कहिए—आपही का विचार रहता है, पर का नाही, तो पर विषै पर बुद्धि भये बिना आप विषै निजबुद्धि कैसे आवे।' इसी अधिकार मे यह भी कहा है—'चौथा गुणस्थान विषै कोई अपना स्वरूप चिन्तवन करे है ताके भी आस्रव बन्ध अधिक है, वा गुणश्रेणी निर्जरा नाही है। पचम षष्ठम गुणस्थान विषै आहार-विहारादि क्रिया होते परद्रव्य चितवन तै भी आस्रवबंध थोरा ही है वा गुणश्रेणी निर्जरा हुआ करे है। तातै स्वद्रव्य-परद्रव्य के चितवनतै निर्जराबन्ध नाही। रागादि घटे निर्जरा है, रागादिक भये बंध है।'

—जै. स 19-7-56/VI/. .

चाण्डाल को देव कहना नैगमनय एवं द्रव्य निक्षेप का विषय

शंका—श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यग्दर्शनसहित चाण्डाल का देह भी पूजनीय है ऐसा लिखा है, इस पर आप पूर्णरूप से प्रकाश डालें।

समाधान—यह शका पर्यायदृष्टि मे की गई है, क्योकि चाण्डाल, देह, सम्यग्दर्शन, शास्त्र, पूजनीय ये सब पर्यायें है। शकाकार ने १५ मई के पत्र मे लिखा था कि द्रव्यदृष्टि ही मोक्षमार्ग है।

श्री र. क. श्रा. के जिस श्लोक मे शकाकार का अभिप्राय है, वह श्लोक इसप्रकार है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥२८॥

'मातङ्ग-देहजम्' का अभिप्राय चाण्डाल शरीर नही है, किन्तु चाण्डाल पुत्र मे है, क्योकि शरीर जो जड है वह सम्यग्दर्शन से सम्पन्न नही हो सकता है। 'सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल का देह भी पूजनीय है' ऐसा **श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार** मे नही कहा गया है। अत श्री मुकुटलाल की शका मे कोई सार नही है। फिर भी इस **श्लोक नं० २८** के अभिप्राय पर आर्षग्रन्थानुसार विचार किया जाता है—

अर्थ इस प्रकार है—अन्तरग मे ओजवाले भस्म से ढके हुए अगारे के समान, सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल पुत्र को भी देव (गणधरदेव) ने देव कहा है।

'चाण्डाल पुत्र को देव कहा है' इसमे जो 'देव' शब्द है उसके अर्थ पर तथा नयविभाग पर विचार होना चाहिए।

पचनमस्कारमत्र मे अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु को नमस्कार किया गया है, किन्तु अविरतसम्यग्दृष्टि या देशविरतसम्यग्दृष्टि को नमस्कार नही किया गया है। यदि अविरतसम्यग्दृष्टि या देशविरत-सम्यग्दृष्टि पंचपरमेष्ठियो के समान देव होते तो उनको भी नमस्कार किया जाता, किन्तु उनको नमस्कार नही किया गया अतः वे देव नही हैं, क्योकि वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय से युक्त नही है। **श्री वीरसेनाचार्य** ने कहा भी है—

'देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देव अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः।'

अर्थ—अपने-अपने भेदो से अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय मे (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से) युक्त जीव देव है। यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जावे तो सम्पूर्ण भव्यजीवो को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायगी।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी प्रवचनसार मे कहते हैं—

'सद्दहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वादि।'

पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि यदि असयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नही होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

'असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् ? ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव।'

असयत को, यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नही करेगा अथवा कुछ कार्यकारी नही है। इसलिये सयमशून्य (चारित्ररहित) श्रद्धान-ज्ञानसे सिद्धि नही होती। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, सयतत्व के अयुगपत्त्व के मोक्षमार्गत्व घटित नही होता। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत्ता ही मोक्षमार्ग है, मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान मोक्षमार्ग नही है। जहा मोक्षमार्ग नही है वहां देवत्व भी नही है।

चाण्डालपुत्र के चारित्र नही हो सकता, क्योकि ऊच वर्णवाला ही मुनिदीक्षा के योग्य है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा भी है—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनवर्णों में से कोई एक वर्णधारी हो, जिसका शरीर रोग रहित हो, तपस्या को सहन करनेवाला हो, सुन्दर मुखवाला हो तथा लोकापवाद से रहित हो वह पुरुष जिनदीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है।'

यदि कहा जाय कि चाण्डाल के द्रव्यचारित्र न हो, भावचारित्र तो हो सकता है, क्योकि द्रव्यचारित्र शरीराश्रित है और भावचारित्र जीवाश्रित है। सो ऐसा कहना भी ठीक नही है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्रप्राभृत** में कहा भी है—

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

'तीर्थंकर परमदेव ने नग्नमुद्रा के धारी निर्ग्रन्थमुनि को ही पाणिपात्र में आहार लेने का उपदेश दिया है। यह एक निर्ग्रन्थमुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके अतिरिक्त शेष सब अमार्ग हैं मोक्षमार्ग नही है।'

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

'जिनशासन मे कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नही होता, भले ही वह तीर्थंकर भी क्यों न हो ? नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग (मिथ्यामार्ग) हैं ।'

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिंगुत्तिहि जो स संजदो होई ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥

'जो पांचमहाव्रत और तीनगुप्तियो से सहित है वही सयत अर्थात् सयमी-मुनि होता है । निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग है । निर्ग्रन्थ साधु ही वन्दना अर्थात् नमस्कार के योग्य है ।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो निर्ग्रन्थसाधु नही हैं वे वन्दने योग्य नही है । चाण्डाल पुत्र निर्ग्रन्थसाधु नही हो सकता, इसलिये वह वन्दने योग्य नही है ।

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥ (दर्शनपाहुड़)

'एक जिनमुद्रा अर्थात् नग्नरूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावको का अर्थात् क्षुल्लक या ऐलक और तीसरा आर्यिकाओ का, इसप्रकार जिनशासन मे तीन लिङ्ग कहे गये है । चौथा लिंग जिनशासन मे नही है ।' चाण्डालपुत्र के ये तीनो लिंग नही हैं अत. वह इच्छाकार के योग्य भी नही है ।

'न तासां भावसंयमोऽस्तिभावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः ।'

'उनके (वस्त्रधारियो के) भावसयम नही है, क्योकि भावसयम के मानने पर उनके भाव-असयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नही बन सकता है ।'

द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः ।
विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥
द्रव्यलिंगमिदं ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणं । (अष्टपाहुड पृ० २०७)

'मुनि द्रव्यलिंग धारणकर भावलिंगी होता है । नानाव्रतो का धारक होने पर भी द्रव्यलिंग के बिना वन्दनीय नही है, नमस्कार के योग्य नही है । इस द्रव्यलिंग को भावलिंग का कारण जानना चाहिए ।' चाण्डाल पुत्र द्रव्यलिंग को धारण नही कर सकता, अतः वह वन्दनीय नही है ।

'देव' शब्द का दूसरा अर्थ इसप्रकार है—

'अणिमाद्यष्टगुणाष्टकर्मबलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः ।' (ध. पु. १ पृ. २०३)

जो अणिमादि आठऋद्धियो की प्राप्ति के बल से क्रीडा करते हैं उन्हे देव कहते है । चाण्डालपुत्र के अणिमादि आठऋद्धियो की प्राप्ति नही है अत. चाण्डालपुत्र देव नही है । चाण्डालपुत्र के देवगति नाम कर्म का उदय नही है, इसलिए भी वह देव नही है ।

प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दर्शनयुक्त चाण्डालपुत्र को **श्री समंतभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में** देव क्यों कहा है ? जैनागम में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार निक्षेपों तथा नैगम आदि सातनयों के द्वारा कथन किया गया है ।

चाण्डालपुत्र यद्यपि वर्तमानपर्याय मे देव नही है तथापि सम्यग्दर्शनसहित होने के कारण अगली पर्याय मे देव होगा, क्योकि सम्यग्दर्शन देवायु के बन्ध का कारण है, ऐसा **'सम्यक्त्वं च'** सूत्र द्वारा कहा गया है। अत: द्रव्यनिक्षेप से सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र को देव कहने मे कोई आपत्ति नही है। कहा भी है—

'अणागय पज्जाय विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतब्भावं वा।'

आगे होनेवाली पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए द्रव्य को, उस आगामीपर्याय की अपेक्षा द्रव्यनिक्षेप कहते है अथवा वर्तमानपर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को ही द्रव्यनिक्षेप कहते है।

सम्यक्त्वसहित चाण्डालपुत्र नैगमनय से देव है। जैसे किसी मनुष्य को पापीलोगो का समागम करते हुए देखकर, नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है, वैसे ही सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र को सत्समागम करते हुए देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष देव है। कहा भी है—

क पि णर दट्ठूण य पावजणसमागमं करेमाण।
णेगमणएण भण्णइ णेरइओ एस पुरिसो त्ति॥

श्री समंतभद्राचार्य ने द्रव्यनिक्षेप तथा नैगमनय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र को देव कहा है। अथवा शक्ति की अपेक्षा देव कहा है। कहा भी है—

'बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्। अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति।' (द्रव्यसंग्रह पृ. ४७)

बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) की दशा मे अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनो शक्तिरूप से रहते है और भावीनैगमनय से व्यक्तिरूप से भी रहते है ऐसा समझना चाहिए। अन्तरात्मा की अवस्था मे बहिरात्मा घृत-घट के समान भूतपूर्वनय से रहता है और परमात्मा का स्वरूप शक्तिरूप मे रहता है तथा भावीनैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप मे भी जानना चाहिये। परमात्मअवस्था मे अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्वनय की अपेक्षा जानने चाहिये।

सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र अन्तरात्मा है, अत उसमे परमात्मापन अर्थात् देवत्वशक्तिरूप से है।

भावनिक्षेप तथा एवभूतनय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टिचाडालपुत्र मे देवत्व नही है। कहा भी है—

'वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव.।' [ध. पु. १ पृ २९]

वर्तमानपर्याय से युक्त द्रव्य को भावनिक्षेप कहते है। सम्यग्दृष्टिचाडालपुत्र के वर्तमान मे मनुष्यपर्याय है, देवपर्याय नही है, अत वह देव नही है।

जैसे मनुष्य जब नरकगति मे पहुचकर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है तभी वह नारकी है ऐसा एवभूतनय कहता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टिचाडालपुत्र जब देवगति मे पहुचकर देव के सुख का अनुभव करने लगता है तभी वह देव है ऐसा एवभूतनय कहता है। कहा भी है—

णिरयगइं संपत्तो जइया अणुहवइ णारय दुक्खं।
तइया सो णेरइओ एवंभूदो णओ भणदि॥

चाण्डाल यदि मात्र सम्यग्दर्शनसहित होने के कारण पूजनीय हो जाता है तो जिन्होंने तीर्थंकर आदि के उपसर्ग को दूर किया तथा समवशरण में साक्षात् तीर्थंकरभगवान के दर्शन करते हैं और दिव्यध्वनि सुनते हैं ऐसे उच्चगोत्री व्यंतरदेव व देवांगनाएँ, भवनवासी देव व देवांगनाएँ, सूर्य चन्द्रमा आदि देव व देवांगनाएँ सम्यग्दर्शन के कारण भी पूजनीय हो जायेंगे।

श्री महावीरस्वामी के जीव को शेर की पर्याय में तथा **श्री पार्श्वनाथ** के जीव को हाथी की पर्याय में सम्यग्दर्शन हो गया था, किन्तु किसी भी मनुष्य या देव ने शेर व हाथी की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं की और न नमस्कार किया।

राजा श्रेणिक का जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि तीर्थंकरप्रकृति का निरन्तर बन्ध करनेवाला प्रथम नरक में है, किन्तु कोई भी देव उस नारकी की पूजा या नमस्कार करने नहीं गया। स्वर्ग से **श्री बलदेव** का जीव **श्रीकृष्ण** के जीव को मिलने के लिये अधोलोक में गया था। यद्यपि **श्रीकृष्ण** का जीव सम्यग्दृष्टि है और निरन्तर तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध कर रहा है तथापि **श्री बलदेव** के जीव ने न तो अष्टद्रव्य से पूजा की और न नमस्कार किया।

ये कुछ दृष्टान्त बालजनों को समझाने के लिए दिए गये हैं। कोई भी मनुष्य या तिर्यंच मात्र सम्यग्दर्शन के कारण देव नहीं हो जाता है, मरकर देवगति व देवायु के उदय होने से देवपर्याय में उत्पन्न होने पर देव होगा। नैगमनय में उस मनुष्य या तिर्यंच को देव कह सकते है, जैसे रसोई के लिए जल लानेवाला कहता है कि रसोई बना रहा हूं, मात्र जल लाने से रसोई नहीं बन जाती।

वर्तमान में जो भोजन है वह नैगमनय से विष्टा है और खेत में पड़ा हुवा विष्टारूपी खाद नैगमनय से अन्न है। यदि मात्र नैगमनय को ध्यान में रखा जावे तो भोजन करना सम्भव नहीं है। भोजन तो भावनिक्षेप तथा एवंभूतनय की दृष्टि से ही सम्भव है।

अतः नय और निक्षेप को ध्यान में रखकर आर्षग्रन्थों का अर्थ समझना चाहिए।

—जै. ग. 29-7-71/VII/ **मुकुटलाल, बुलन्दशहर**

१. सत्यासत्य वचन एवं उनके भेद-प्रभेद
२. दस सत्यों में व्यवहारनय के विषय निहित हैं, अतः व्यवहार सत्य है

शंका—सत्य-असत्य का क्या लक्षण है ? जैन आगमानुसार वास्तविक वचन ही क्या सत्य वचन हैं ?

समाधान—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ सूत्र १४ में असत्यवचन का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

'असदभिधानमनृतम् ।'

अर्थ—अप्रशस्त वचन कहना असत्य है।

श्री सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है—'जिससे प्राणियों को पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं, भले ही वह विद्यमान पदार्थ को विषय करता हो या अविद्यमान पदार्थ को विषय करता हो। जिससे हिंसा हो वह वचन असत्य है, ऐसा निश्चय करना चाहिये।'

श्री तत्त्वार्थवृत्ति टीका मे लिखा है—'प्रमाद के योग से अप्रशस्त वचन कहना असत्य है। प्राणियो को पीडाकारक वचन असत्य है। हिंसाकारक वचन असत्य है। कर्णकर्कश, हृदयनिष्ठुर, मनमे पीडा करनेवाला, विप्रलापयुक्त, विरोधयुक्त, प्राणियो के वध-बधन आदि को करनेवाले, वैर उत्पन्न करनेवाले, कलह आदि करनेवाले, त्रास करनेवाले, गुरु आदि की अवज्ञा करनेवाले आदि वचन भी असत्य है। 'यह कर्तव्य है, यह हेय है, त्याज्य है।' प्रमत्तयोग के अभाव मे यथार्थ स्वरूप के कहने से इसप्रकार के अप्रशस्त वचन भी सत्य है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक ९१ से १०० तक असत्य वचन का कथन किया है, जो इस प्रकार है—

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥

अर्थ—जो कुछ भी प्रमत्तयोग मे यह असत् वचन कहा जाता है उसे अनृत (असत्य) जानना चाहिये। उसके चार भेद है।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

अर्थ—जिसवचन मे अपने क्षेत्र, काल, भाव करके विद्यमान वस्तु निषेधी जाती है, वह प्रथम असत्य होता है, जैसे यहा देवदत्त नही है।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र, परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं, तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः ॥९३॥

अर्थ—निश्चय करि जिस वचन मे पर क्षेत्र, काल, भावो करके अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व प्रगट किया जाता है वह दूसरा असत्य है। जैसे यहा पर घट है।

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥९४॥

अर्थ— अपने स्वरूप से सत् वस्तु भी पररूप से कही जाती है, यह तीसरा असत्यवचन जानना चाहिए। जैसे गाय को घोडा कहना इसप्रकार।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

अर्थ—यह चौथा असत्य सामान्यपने से गर्हित, सावद्य (पाप सहित) और अप्रियवचनरूप से तीन प्रकार का माना गया है।

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

अर्थ—चुगली, हास्ययुक्त, कठोर, मिथ्यात्व, प्रलाप (गप्प-शप्प) और शास्त्रविरुद्धवचन ये सब गर्हित (निंद्य) वचन कहे गये हैं।

छेदन-भेदन-मारणकर्षणवाणिज्य-चौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

अर्थ—जो छेदन, भेदन, मारण, कर्षण (खेती) व्यापार चोरी आदि के वचन वे सब सावद्य वचन है, क्योंकि प्राणिहिंसा की प्रवृत्ति करते हैं ।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य, तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

अर्थ—जो वचन दूसरों को अरति का करने वाला हो, भय करने वाला हो, खेद करने वाला हो, वैर-शोक-कलह का करने वाला हो तथा और भी आताप का करने वाला होवे वह सब अप्रिय वचन जानना ।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

अर्थ—समस्त ही असत्य वचनों का कारण प्रमत्तयोग कहा गया है, किन्तु हेय व कर्तव्य आदि के वचन असत्य नही है ।

इसप्रकार असत्यवचन का कथन है । सत्यवचन दस प्रकार का है—

जणवदसम्मदिठवणा, णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
संभावणे य भावे, उवमाए दसविहं सच्चं ॥२२२॥
भत्तं देवी चंदप्पह पडिमा त हय होदि जिणदत्तो ।
सेदो दिग्घो रज्झदि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥२२३॥
सक्को जंबूदीवं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च ।
पल्लोवमं च कमसो जणवदसच्चादिदिट्ठंता ॥२२४॥ गो० जी०

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, सभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य इसप्रकार सत्य के दसभेद है । उक्त दसप्रकार के सत्यवचन के ये दस दृष्टान्त हैं । भक्त, देवी, चन्द्रप्रभप्रतिमा, जिनदत्त, श्वेत, दीर्घ, भात पकाया जाता है, शक्र (इन्द्र) जम्बूद्वीप को पलट सकता है, 'यह प्रासुक है' ऐसा वचन, और पल्योपम ।

भावार्थ—तत् तत् देशवासी मनुष्यों के व्यवहार मे जो शब्द रूढ हो रहा है उसको **जनपदसत्य** कहते है । जैसे भक्त, भाट्ट, वटक आदि भिन्न-भिन्न शब्दों से एक ही चीज को कहा जाता है । २ बहुत मनुष्यों की सम्मति से जो सर्व-साधारण मे रूढ हो उसको **सम्मतिसत्य** कहते है । जैसे पट्टराणी के अतिरिक्त किसी साधारण स्त्री को भी देवी कह देना । ३ किसी वस्तु मे उससे भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को **स्थापनासत्य** कहते है । जैसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिमा को चन्द्रप्रभ कहना । ३ दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिये जो किसी का सज्ञाकर्म करना इसको **नामसत्य** कहते हैं । जैसे जिनदत्त । यद्यपि उसको जिनेन्द्र ने नहीं दिया तथापि व्यवहार के लिये उसे जिनदत्त कहते हैं । ५. पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणों मे से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय उसको **रूपसत्य** कहते है । जैसे किसी मनुष्य को श्वेत कहना । यद्यपि उसके शरीर में अन्य वर्ण भी पाये जाते हैं । अथवा उसके शरीर मे रसादिक के रहने पर भी ऊपर से रूपगुण की अपेक्षा उसको श्वेत

कहना । ६. किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना इसको **प्रतीत्यसत्य** कहते हैं । जैसे किसी छोटे या पतले पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ को दीर्घ (बडा लम्बा स्थूल) कहना । ७ नैगमादि नयो की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसको **व्यवहारसत्य** कहते है । जैसे नैगमनय की प्रधानता से–भात पकता है । ८ असभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करने मे प्रवृत्त वचन को **संभावनासत्य** कहते है । जैसे शक्र (इन्द्र) जम्बूद्वीप को उलट सकता है । ९. आगमोक्त विधि-निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों मे सकल्पित परिणामो को भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हो उसको **भावसत्य** कहते हैं। जैसे शुष्क, पक्व, तप्त और नमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है । यहा पर यद्यपि सूक्ष्म जीवो को इन्द्रियो से देख नही सकते तथापि आगम-प्रमाण से उसकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता है । १०. प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते है । इसके आश्रय से जो वचन बोला जाय उसको **उपमासत्य** कहते हैं । जैसे पल्य । यहा पर रोमखण्डो का आधारभूत खड्डा 'पल्य' होता है । इसलिये उसको पल्य कहते है । इस सख्या को उपमासत्य कहते है । ये दस प्रकार के सत्य के दृष्टान्त है । अन्य भी इसी तरह जानना चाहिए ।

व्यवहारनय के विषय भी इन दसप्रकार के सत्य मे आजाते हैं। व्यवहारनय को असत्य कहना उचित नही है ।

—**जै. ग.** 24-12-64/VIII-XI/ **र. ला जैन**, मेरठ

सापेक्ष पर्याय दृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है

शंका—क्या पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है ?

समाधान—जो वस्तु जिसरूप से है उस वस्तु का उसीरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । **आलापपद्धति सूत्र ९५** मे कहा है कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है ।

'सामान्यविशेषात्मक वस्तु ॥९५॥'

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु मे से 'सामान्य' को द्रव्य कहते है और 'विशेष' को पर्याय कहते है । **श्री पूज्यपादाचार्य** ने कहा भी है—

'द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयो द्रव्यार्थिक. । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्विषय. पर्यायार्थिकः ।' सर्वार्थसिद्धि १।३३

द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है । इस सामान्य को विषय करनेवाला नय अथवा दृष्टि द्रव्यार्थिकनय अथवा द्रव्यदृष्टि है । पर्याय का अर्थ विशेष अपवाद और व्यावृत्ति है । इस विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय अथवा पर्यायदृष्टि है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—

अनुप्रवृत्ति सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचका. ।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः ॥३९॥
व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचका ।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिक मतः ॥४०॥ तत्त्वार्थसार प्रथमाधिकार

अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची है। जो नय द्रव्य को विषय करता है वह द्रव्यार्थिकनय अर्थात् द्रव्यदृष्टि है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय अर्थात् पर्यायदृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि में पर्यायें गौण होने से जीव न संसारी है और न मुक्त है, क्योंकि संसारी और मुक्त ये दोनों पर्यायें हैं। अतः द्रव्यदृष्टि में मोक्ष और मोक्षमार्ग ये दोनों पर्याय होना सम्भव नहीं है। इसीप्रकार श्रद्धागुण की मिथ्यादर्शन व सम्यग्दर्शन ये दोनों पर्यायें है। समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा भी है—

'शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्त प्रमत्तश्च। प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादि प्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यांतान्यष्ट गुणस्थानानि गृह्य ते।'

—समयसार पृ० ७ अजमेर से प्रकाशित

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव में शुभ या अशुभरूप परिणमन करने का अभाव है, इसलिये जीव न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर प्रमत्तविरतगुणस्थान तक इन छह गुणस्थानों में जीव की जो अवस्था है वह प्रमत्त अवस्था है। अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थानतक इन आठ गुणस्थानों में जीव की जो पर्यायें है वे अप्रमत्तावस्था है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि में न बंधमार्ग है और न मोक्षमार्ग है। यह पर्यायदृष्टि में ही सम्भव है, जैसा कहा भी है—

पादुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स त पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं (प्र. सा. २।११)

'प्रादुर्भवति च जायते अन्य कश्चिद्दर्शनन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिक परमात्मावाप्तिरूप स्वभावद्रव्यपर्यायः। पर्यायो व्येति विनश्यति अन्य पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूत तदपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन परमात्मद्रव्य नैव नष्ट न चोत्पन्नम्।'

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि पर्यायदृष्टि में जीव की अनन्तज्ञान-सुख आदि गुणवाली शाश्वतिक मुक्तअवस्थारूप स्वभावद्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है और उस मुक्तअवस्था (पर्याय) से भिन्न निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप तथा मोक्षपर्याय की उपादानकारण ऐसी मोक्षमार्गपर्याय का व्यय (नाश) होता है, किन्तु द्रव्यार्थिकदृष्टि से जीव द्रव्य न उत्पन्न होता और न नष्ट होता है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि में न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है तथा न सम्यग्दृष्टि है और न मिथ्यादृष्टि है क्योंकि ये सब पर्यायें है।

यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभय पर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति।' प्रवचनसार गा० १८ टीका

शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यक् श्रद्धान, उसी का सम्यग्ज्ञान तथा उसी की अनुभूति में निश्चलतारूप चारित्र इस रत्नत्रयमय लक्षण को रखनेवाले संसार के अन्त में होनेवाले कारणसमयसाररूप मोक्षमार्ग पर्याय का यद्यपि नाश होता है और उसीप्रकार केवलज्ञान आदि की प्रगटतारूप कार्यसमयसाररूप मोक्षपर्याय का उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायों में रहने वाले आत्मद्रव्य का ध्रौव्यपना रहता है।

यहाँ पर भी यही बतलाया गया कि पर्यायदृष्टि में ही मोक्षमार्गपर्याय का व्यय और मोक्षपर्याय का उत्पाद सम्भव है। द्रव्यदृष्टि में उत्पाद व व्यय न होने के कारण न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है।

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥११॥ पं० का०

टीका—द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यम्। तदेव पर्यायार्थार्पणायां सोत्पादं सोच्छेदं चावबोद्धव्यम्।'

द्रव्यदृष्टि से द्रव्य को उत्पादरहित, विनाशरहित सत्स्वभाववाला जानना चाहिए, किन्तु पर्यायदृष्टि से उत्पादवाला, विनाशवाला जानना चाहिए।

'ज्ञानावरणादिभावद्रव्यकर्मपर्यायाः सुष्ठु संश्लेषरूपेणानादिसंतानेन बद्धास्तिष्ठन्ति तावत्, यदा कालादिलब्धिवशाद् भेदाभेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते तदा तेषां ज्ञानावरणादि भावानां द्रव्य-भावकर्मरूप-पर्यायाणामभावं विनाशं कृत्वा पर्यायार्थिकनयेनाभूतपूर्वसिद्धो भवति, द्रव्यार्थिकनयेन पूर्वमेव सिद्धरूप इति वार्तिकम्।' पं० का० गा० २०

इस संसारीजीव का अनादिप्रवाहरूप से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के साथ सश्लेषरूप बध चला आ रहा है। जब कोई भव्यजीव कालादिलब्धि के वश से भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहारमोक्षमार्ग को और अभेदरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त करता है तब वह भव्यजीव उन ज्ञानावरणादिकर्मों की द्रव्य और भावरूप अवस्थाओं का नाश करके पर्यायदृष्टि से सिद्धभगवान हो जाता है। वह सिद्धपर्याय पूर्व मे कभी प्राप्त नही हुई थी, उस सिद्धपर्याय को प्राप्त कर लेता है। द्रव्यदृष्टि से तो पहिले से ही यह जीव स्वरूप से ही सिद्धरूप है अर्थात् द्रव्यदृष्टि मे मोक्ष मार्ग सम्भव नही है।

एकान्तपर्यायदृष्टि से बौद्धमतरूप दूषण आता है और एकान्त द्रव्यदृष्टि से साख्यमतरूप दूषण आता है क्योंकि **'क्षणिकैकान्तरूपं बौद्धमतं नित्यैकान्तरूप सांख्यमतं।'** ऐसा आर्षवचन है। **'जैनमते पुनः परस्परसापेक्षद्रव्य-पर्यायत्वान्नास्ति दूषणं।'** किन्तु जैनमत मे परस्पर सापेक्ष द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि मानने से कोई दूषण नही आता। **'यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधि-परिणामं गृह्णाति स्फटिकवत्। यदि पुनरेकांतेनापरिणामी भवति तदोपाधि परिणामो न घटते।'**

—अजमेर से प्रकाशित समयसार पृ० ३०१।

यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध है फिर भी पर्यायदृष्टि से कथचित् परिणामीपना होने पर अनादिकाल से धारा प्रवाहरूप से चले आये कर्मोदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है। यदि द्रव्यदृष्टि के एकान्त से यह जीव अपरिणामी ही हो तो इस जीव के रागादि उपाधिरूप परिणाम कभी घटित नही हो सकता है। जब एकान्त द्रव्यदृष्टि मे इस जीव के रागादिपरिणाम घटित नही हो सकते तो मोक्ष भी घटित नहीं हो सकता।

'पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीव। न नश्यति केश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः। यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावो जीवरूपं।'

यह जीव पर्यायदृष्टि से देव, मनुष्यादि पर्यायों के द्वारा विनाश को प्राप्त होता है। द्रव्यदृष्टि से जीव नाश को प्राप्त नही होता है। इसप्रकार जीव नित्य, अनित्य स्वभाववाला है। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य अपरिणामी है और पर्यायदृष्टि से अनित्य परिणामी है। जो एकान्त से जीव को नित्य अपरिणामी मानते हैं वे साख्यमतवालो के समान मिथ्यादृष्टि है।

'स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्यम् । कथं मिथ्यादृष्टिः ? इति चेत् यदेकांतेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत् ।'

जो एकात द्रव्यदृष्टि से जीव को नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टंकोत्कीर्ण मानता है तो वह साख्यमत-वालो के समान मिथ्यादृष्टि है, अर्हंतमत का माननेवाला नही है ।

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से सर्व जीव एक समान हैं उनमे कोई भेद नही है तथापि पर्यायदृष्टि से जीव तीन प्रकार के हैं । श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षप्राभृत मे कहते है—

तिपयारो सो अप्पा परमतर बाहिरो दु देहीण ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥ मोक्षप्राभृत
बहिरन्त. परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥ समाधि तन्त्र

सर्व प्राणियो मे बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीनप्रकार का आत्मा है । आत्मा के उन तीन भेदो (पर्यायो) मे से बहिरात्मा को छोडकर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा अवस्था का ध्यान करो । उस परमात्मारूप पर्याय के ध्यान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

तं सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहि ।
ये सद्दहंति जीवा, तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥१९-१॥ प्रवचनसार

'एवं निर्दोष परमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ।'

स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिक के इन्द्रो से पूजनीय और सर्व पदार्थों मे श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा का जो भव्य जीव श्रद्धान करते हैं उनके सब दु ख नाश को प्राप्त हो जाते है । इसतरह निर्दोष परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होती है, ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल मे गाथा पूर्ण हुई ।

परमात्मअवस्था जीव की पर्याय है, उस परमात्मपर्याय के श्रद्धान व ध्यान को मोक्षमार्ग बतलाया गया है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य का निम्न कलश भी द्रष्टव्य है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा ।
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ॥
मम परमविशुद्धिः शुद्ध चिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—यद्यपि शुद्धद्रव्यदृष्टि कर तो मैं शुद्ध हूँ चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, परन्तु मेरी परिणति (पर्याय) मोहकर्म के उदय के कारण मैली रागादिरूप हो रही है । शुद्धात्मा की कथनीरूप जो यह समयसार ग्रन्थ है, उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति (पर्याय) रागादि से रहित होकर शुद्ध हो अर्थात् मेरे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो ।

इस कलश में **श्री अमृतचन्द्राचार्य** की वर्तमान अशुद्धपर्याय पर दृष्टि रही है, जिसकी **शुद्धि** के लिये टीका रची गई है। यही मोक्षमार्ग है।

शंका—क्या पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र में **श्रीमदुमास्वामी आचार्य** ने सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥' जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

यहाँ पर 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' के सिद्धांत को माननेवाला कहता है कि 'जीव और अजीव इन दो द्रव्यों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' इसप्रकार सूत्र की रचना होनी चाहिये थी, क्योंकि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तो पर्यायें हैं। इसपर **श्री अकलंकदेव** निम्न उत्तर देते हैं—

'अनेकान्ताच्च। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्गुणप्रधानभावेन अर्पणानर्पणभेदात् जीवाजीवयोरास्रवादीनां स्यादन्तर्भावः स्यादनन्तर्भावः। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादि द्रव्यार्थार्पणात् आस्रवादीनां स्याज्जीवेऽजीवे वान्तर्भावः। तथा द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थार्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थाऽनर्पणात् आस्रवादीनां जीवाजीवयोः स्यादनन्तर्भावः। तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान्।' त० रा० वा०

वस्तुतः जीव, अजीव और आस्रव आदि में परस्पर भेद भी है और अभेद भी है ऐसा अनेकान्त है, अतः अनेकान्तदृष्टि से विचार करना चाहिये। पर्यायदृष्टि गौण होने पर और द्रव्यार्थिकदृष्टि की प्रधानता रहने पर अनादि पारिणामिक जीव और अजीवद्रव्य की मुख्यता होने से आस्रवादि पर्यायों की विवक्षा न होने पर उन आस्रवादि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः जीव और अजीव इन दो पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। किन्तु जिससमय उन आस्रवादि पर्यायों को पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेवाली पर्यायार्थिकदृष्टि की मुख्यता होती है तथा द्रव्यदृष्टि गौण होती है तब आस्रव आदि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता। अतः पर्यायदृष्टि में इन आस्रव आदि पर्याय का उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं है। अर्थात् आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन पर्यायों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, यह उपदेश पर्यायदृष्टि में यथार्थ है।

एकान्त मिथ्यामतों का समूह अनेकान्त नहीं है, क्योंकि उनके मतों में नयों में परस्पर सापेक्षता नहीं है। कहा भी है—

ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयल-ववहार-सिद्धी सुणयादो होदि णियमेण ॥२६६॥ स्वा का अ.

संस्कृत टीका—'सापेक्षा स्वविपक्षापेक्षासहिता।

ये नय सापेक्ष हों अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा करते हैं तो सुनय होते हैं। यदि नय निरपेक्ष हों अर्थात् विपक्ष की अपेक्षा से रहित हों तो दुर्नय होते हैं। द्रव्यदृष्टि यदि पर्यायदृष्टि से सापेक्ष है तो **सुदृष्टि है। यदि** द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि से निरपेक्ष है तो कुदृष्टि है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

> एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः ।
> निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः ॥५१॥ त. सा. प्रथमाधिकार

ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते है अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा रखते है तो सम्यग्ज्ञान के हेतु होते हैं और यदि निरपेक्ष रहते है अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा नही रखते हैं तो मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं। यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि सापेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि सापेक्ष है तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की कारण है। यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि निरपेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि निरपेक्ष है तो मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान के कारण हैं।

जिसप्रकार 'न देवा' इस सूत्र के आधार पर यदि कोई देव पर्याय का निषेध करने लगे तो वह विद्वान् नही कहा जा सकता, क्योंकि उसने पूर्वापर प्रकरण अनुसार सूत्र का अर्थ नही समझा। इसी प्रकार 'मै सुखी दुखी मैं रक राव' छहढाला के इस वाक्य के आधार पर जैनसन्देश के सम्पादक ने 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' ऐसा सिद्धांत बतलाने का प्रयत्न किया है सो यह उसकी भूल है, क्योंकि उन्होंने पूर्वापर प्रकरण पर दृष्टि नही दी।

प्रकरण इसप्रकार है—

> चेतन को है उपयोग रूप, विनमूरति चिनमूरति अनूप।
> पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतै न्यारी है जीव चाल॥
> ताको न जान विपरीत मान, करि करैं देह मे निज पिछान।
> मैं सुखी दु खी मैं रक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव॥
> मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।
> तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान॥

जो कोई जीव के लक्षण उपयोग को स्वीकार नही करता, किन्तु शरीर को ही आपा मानता है, शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश से अपना नाश मानता है। शरीर के सुख मे अपने आप को सुखी और शरीर के दुःख मे अपने आपको दु खी मानता है, उसको यहाँ पर मिथ्यादृष्टि कहा है, जिसको अपने ज्ञान निधि की खबर नही है, बाह्य निधि के कारण अपने आपको रक व राव मानता है उसको यहाँ पर मिथ्यादृष्टि कहा है।

छहढाला मे पर्यायदृष्टि को मिथ्यादृष्टि नही कहा है बल्कि पर्यायदृष्टि का उपदेश दिया गया है और पर्यायदृष्टि से मुक्ति बतलाई गई है। वह कथन इसप्रकार है—

> 'यह मानुष परजाय सुकुल सुनिवो जिनवानी।
> इह विधि गये न मिलै सुमणि ज्यो उदधि समानी॥'
> 'बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।
> परमातम को ध्याय निरतर जो नित आनन्द पूजै॥'

वज्रनाभि चक्रवर्ती पर्यायदृष्टि से विचार करते है—

> 'मै चक्री पद पाय निरन्तर भोगे भोग घनेरे।
> तो भी तनिक भये नही पूरण भोग मनोरथ मेरे॥'

इस पर्यायदृष्टि को रखते हुए भी बज्रनाभिचक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि नहीं हुए।

'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाय तो अनित्य, अशरण, संसार, अशुचि आदि भावनाओं का श्रद्धान करनेवालों के मिथ्यात्व का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि ये भावना पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से सम्भव है, द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से अनित्य आदि भावना सम्भव नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि में नित्यता स्वीकार की गई है।

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥
दल बल देई देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरियाँ जीव को, कोई न राखन हार॥
दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहू न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

इसप्रकार पर्यायदृष्टि से श्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं है अपितु सम्यग्दृष्टि है।

सामायिकपाठ में अपने दोषों की पर्यायदृष्टि से निम्नप्रकार आलोचना करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता, वह तो सम्यग्दृष्टि है।

हा हा! मैं दुठ अपराधी, त्रस जीवन राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी, उर में करुणा नहीं लीनी॥

२७ मई १९७१ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख में निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमः स्वभावः।
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वता कर्मभवा स्वकीया॥

सामायिकपाठ के इस श्लोक में यह नहीं कहा गया कि द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि और पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि। यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मेरी आत्मा एक है और सदा शाश्वत है। यह द्रव्यदृष्टि से कथन है। मेरी आत्मा निर्मल और साधिगम है, यह स्वभावदृष्टि से कथन है। कर्मजनित औपाधिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं और नाशवान हैं यह विभावपर्यायदृष्टि से कथन है।

यहाँ पर द्रव्यदृष्टि से आत्मा को सदा शाश्वत अर्थात् अनादि अनन्त बतलाया गया है। आत्मा-अनादिकाल से कर्मों से बँधी हुई है अतः शुद्ध नहीं है। अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय शुद्ध या अशुद्धात्मा नहीं है, किन्तु शुद्ध व अशुद्ध विशेषणों रहित सामान्य आत्मा है। श्रीदेवसेन आचार्य ने आलापपद्धति में कहा भी है—

'निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम्।' जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी-अपनी स्वभाव-विभावपर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा और हो चुका है वह द्रव्य है।

यदि द्रव्यदृष्टि का विषय शुद्धद्रव्य माना जाय तो वह विभावपर्यायों को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः द्रव्यदृष्टि का विषय, शुद्धाशुद्ध विशेषणों से रहित सामान्य आत्मा है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा १० की टीका में 'ऊर्ध्वता सामान्यलक्षणे द्रव्ये' शब्दो द्वारा द्रव्य का लक्षण ऊर्ध्वतासामान्य बतलाया है।

'परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।' परीक्षामुख

पूर्व और उत्तर पर्यायो मे रहनेवाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते है। जैसे स्थास, कोश, कुशूल घटादि पर्यायों मे मिट्टी रहती है।

यदि द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मद्रव्य के साथ **शुद्ध** विशेषण लगा दिया जाये तो वह अशुद्धपर्यायो मे नहीं रह सकेगा, किन्तु ससारी अशुद्धपर्याय मे आत्मद्रव्य रहता है। अत **शुद्धाशुद्ध** विशेषणो से रहित सामान्य आत्मा द्रव्यदृष्टि का विषय है।

'सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि।' ॥१६॥ प्रवचनसार परिशिष्ट

सामान्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आत्मा सर्वपर्यायो मे व्याप्त होकर रहता है जैसे मोती की माला का डोरा माला के काले, पीले, शुक्ल वर्णवाले सब दानो मे व्याप्त होकर रहता है।

यह सामान्य आत्मा जब शुद्ध पर्याय को व्याप्त करके रहता है तब शुद्ध पर्याय से तन्मय होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य कहलाता है। जब अशुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है तब अशुद्धपर्याय से तन्मय होने के कारण अशुद्धआत्मद्रव्य कहलाता है। **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने **प्रवचनसार** मे कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तम्मयं ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

द्रव्य जिसकाल मे जिसपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् जिसपर्याय को व्याप्त करता है उसकाल मे वह द्रव्य उसरूप है ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है। इसलिये धर्मपर्याय को प्राप्त आत्मा को धर्मात्मा जानना चाहिये। जीव जब शुभपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् शुभपर्याय को प्राप्त करता है तब वह जीव स्वय शुभ हो जाता है। वही जीव जब अशुभपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् अशुभपर्याय को प्राप्त करता है तब वह जीव स्वय अशुभ हो जाता है। जब वही जीव शुद्धभाव से परिणमन करता है अर्थात् शुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है तब वह जीव स्वयं शुद्ध हो जाता है, क्योकि जीव परिणमन स्वभाववाला है। इन तीनो अवस्थाओ मे रहनेवाला जो सामान्य आत्मद्रव्य है वह द्रव्यदृष्टि का विषय है।' तातै द्रव्यदृष्टि करि एक दशा है, पर्यायदृष्टि करि अनेक अवस्था हो है, ऐसा मानना योग्य है। सो शुद्ध, अशुद्ध अवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा (ससारी व सिद्ध मे) समानता मानिये सो यह मिथ्यादृष्टि है। तातै आपको द्रव्यपर्यायरूप अवलोकना। द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्याय करि विशेष अवधारना। ऐसे ही चितवन किये सम्यग्दृष्टि हो है। जातै सांचा अवलोके बिना सम्यग्दृष्टि कैसे नाम पावे।'

श्री वीरसेनाचार्य प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाले जीव की योग्यता का कथन निम्नप्रकार करते हैं—

उवसामेंतो कम्हि उवसामेदि ? चदुसु वि गदीसु उवसामेदि । चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पंचिंदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय विगलिंदियेसु । पंचिंदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु । गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि । धवल पु० ६ पृ० २३८

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म को उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है ? चारों ही गतियों में उपशमाता है । चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में नहीं उपशमाता है । पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है, असंज्ञियों में नहीं उपशमाता । संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में (गर्भजजीवों में) उपशमाता है, सम्मूर्च्छिमों में नहीं । गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है, अपर्याप्तकों में नहीं । पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों में भी उपशमाता है और असंख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों में भी उपशमाता है । अर्थात् उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न करता है ।

गणधर ने सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन पर्यायदृष्टि से किया है । 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' यदि सिद्धांत होता तो गणधर महाराज पर्यायदृष्टि से क्यों कथन करते ?

श्री गुणधराचार्य कषायपाहुड में कहते हैं—

> **सव्वणिरय भवणेसु दीवसमुद्दे गुह जोदिस विमाणे ।**
> **अभिजोग्ग-अणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो ॥**
> **सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो ।**
> **जोगे अण्णदरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए ॥ (क.पा. ४३० व ४३२)**

सर्व नरकों में, सर्वप्रकार के भवनवासी देवों में, सर्वद्वीप और समुद्रों में, सर्वव्यन्तरदेवों में, समस्त ज्योतिष्कदेवों में, विमानवासीदेवों में, अभियोग्यजाति के तथा अनभियोग्यजाति के देवों में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम होता है । साकारोपयोग में वर्तमानजीव ही दर्शनमोहनीयकर्म के उपशमन का प्रस्थापक होता है, किन्तु निष्ठापक और मध्यमअवस्थावर्ती जीव भजितव्य है । तीनों योगों में से किसी एकयोग में वर्तमान और तेजोलेश्या के जघन्य अंग को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है । अर्थात् उपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है । सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन भी पर्यायदृष्टि से किया गया है । इससे स्पष्ट है कि सापेक्ष पर्यायदृष्टि से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ।

द्रव्यदृष्टि सो सामान्यदृष्टि, क्योंकि **'सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः ।' तत्त्वार्थसार**

किन्तु सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान होता है । कहा भी है—

'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् ।'

सामान्य शास्त्र तैं विशेष बलवान है, क्योंकि विशेष ही तैं नीकै निर्णय हो है । इसीलिए **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने **पंचास्तिकाय** के मोक्षमार्गप्ररूपक दूसरे अधिकार में जीवतत्त्व का पर्यायों की अपेक्षा **विशेष** कथन **किया है । गाथा १०९** में संसारी व मोक्षपर्याय की अपेक्षा से जीवतत्त्व का कथन है । **गाथा ११० से १२२** तक इन्द्रिय, गति, भव्य, अभव्य कर्ता, भोक्ता आदि पर्यायों की अपेक्षा संसारीजीव का विशेष कथन है । जीवपदार्थ के कथन का उपसंहार करते हुए **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** लिखते हैं—

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं ।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहि लिंगेहिं ।।१२३।। पंचास्तिकाय

इसप्रकार अन्य भी बहुत सी पर्यायों द्वारा जीव को जानकर, ज्ञान से अन्य ऐसे जड लिंग द्वारा अजीव-पदार्थ को जानो।

यदि द्रव्यदृष्टि सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि ऐसा सिद्धात होता तो **श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षमार्गप्ररूपक** अधिकार मे जीवपदार्थ का पर्यायो की अपेक्षा क्यो कथन करते ? **श्री अमृतचन्द्राचार्य 'बहुभि: पर्यायै. जीवमधिगच्छेत् ।'** अर्थात् बहुपर्यायो द्वारा जीव को जानो ऐसी आज्ञा क्यो देते ?

यथार्थदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि । पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। जिसकी मात्र सामान्य पर दृष्टि है विशेष (पर्याय) पर दृष्टि नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

२७ मई १९७१ के 'जैनसन्देश' के सम्पादकीय लेख मे जो **प्रवचनसार** का उल्लेख है अब उस पर विचार किया जाता है।

उक्त सम्पादकीय लेख मे **प्रवचनसार गाथा १८९** की टीका का कुछ भाग उद्धृत किया गया है, किन्तु इस टीका का द्रव्यदृष्टि या पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है और न इस टीका का मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि से कोई सम्बन्ध है। वह टीका इसप्रकार है—

'रागादिपरिणाम एवात्मन: कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम् । रागपरिणामस्यैवात्मा कर्त्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनय· यस्तु पुद्गल परिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्त्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनय । उभावप्येतौ स्त:, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनय साधकतमत्वादुपात्त, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनय ।।१८९।।' प्रवचनसार

यहाँ पर रागादि परिणामो को आत्मा के कर्म और आत्मा उन रागादि का कर्त्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय कहा है। पौद्गलिककर्म आत्मा के कर्म और आत्मा उन पौद्गलिककर्मों का कर्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को अशुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहारनय कहा है।

यहाँ पर 'शुद्धद्रव्य व निश्चयनय तथा अशुद्धद्रव्य व व्यवहारनय' ये शब्द किस अभिप्राय से प्रयोग किए गए हैं, इसको समझने के लिए अध्यात्मनयो के स्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्मनयो का कथन इसप्रकार है—

'पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते ।। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च ।। तत्र निश्चयो व्यवहारो भेदविषय ।। तत्र निश्चयो द्विविध शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ।। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक: शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति ।। सोपाधिक विषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ।। व्यवहारो द्विविध: सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च ।। तत्रैकवस्तुविषय: सद्भूतव्यवहार ।। भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार: ।।'

अर्थ—फिर भी अध्यात्मभाषा से नयो का कथन करते है। नयो के दो मूल भेद है, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है। निश्चयनय दो प्रकार का है। १. शुद्धनिश्चयनय, २ अशुद्धनिश्चयनय। उनमे से जो नय कर्मजनित रागादि विकार से रहित गुण-गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह शुद्धनिश्चयनय है। जैसे केवलज्ञानादि स्वरूप जीव है। जो नय कर्मजनित रागादि-विकारसहित गुण और गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्धनिश्चयनय है। जैसे मतिज्ञानादि स्वरूप जीव। व्यवहारनय दो प्रकार का है, १ सद्भूतव्यवहारनय, २. असद्भूतव्यवहारनय। एक-एक वस्तु को विषय करनेवाला सद्भूतव्यवहारनय है। भिन्न वस्तुओ को विषय करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका मे जो आत्मा को रागादि परिणामो का कर्ता और रागादि परिणामो को कर्म कहा गया है, वह एक ही वस्तु मे कर्त्ता-कर्म के भेदरूप से कथन है अत वह सद्भूतव्यवहारनय का कथन है। पौद्गलिककर्म आत्मा के कर्म और आत्मा पौद्गलिककर्मों का कर्त्ता है, यह कथन असद्भूतव्यवहारनय का है, क्योंकि पुद्गल और आत्मा ये दो भिन्न वस्तु हैं। शुद्धनिश्चयनय का विषय तो रागादिविकारीभावों से रहित शुद्धआत्मा है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा उनके टीकाकार **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने निश्चय और व्यवहार इन दो ही शब्दो का प्रयोग किया है। भेद-प्रतिभेदो का निर्देश नही किया है। जहाँ पर शुद्धनिश्चयनय को निश्चय कहा गया है, वहाँ पर शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कह दिया गया है। जहाँ पर असद्भूतव्यवहार-नय को व्यवहार कहा गया है, वहाँ पर असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा सद्भूतव्यवहारनय को निश्चय कहा गया है।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका मे 'शुद्धद्रव्य' का प्रयोजन निरुपाधि आत्मद्रव्य से नही है, क्योकि निरुपाधि आत्मद्रव्य रागादिविकारीपरिणामो का कर्त्ता नही हो सकता है, किन्तु 'एकद्रव्य' से प्रयोजन है, क्योकि रागादिपरिणाम का कर्त्ता व कर्म दोनो एकद्रव्य की पर्यायें हैं। 'निश्चयनय' का प्रयोजन सद्भूतव्यवहारनय है, क्योंकि एक द्रव्य मे कर्त्ता कर्म का भेद सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। 'व्यवहारनय' का प्रयोजन असद्भूत-व्यवहारनय से है, क्योकि सोपाधि आत्मा और पौद्गलिककर्मों मे अर्थात् दो भिन्न वस्तुओ में कर्त्ता-कर्म का सम्बन्ध बतलाना असद्भूतव्यवहार का विषय है। अशुद्धद्रव्य का प्रयोजन आत्मा और पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध से है।

इसप्रकार **प्रवचनसार गाथा १८९** की टीका का द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नही है अत द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि की चर्चा मे **प्रवचनसार गाथा १८९** की टीका का उल्लेख करना अप्रासंगिक है।

२७ मई १९७१ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख मे **प्रवचनसार गाथा ९४** का उल्लेख है। इस गाथा मे **'जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगा त्ति णिद्दिट्ठा।'** [**गा० ९४ पूर्वार्द्ध**] जो यह कहा गया है, वह एकान्त पर्यायदृष्टिवालो की अपेक्षा से कथन है। जैसा कि **श्री अमृतचन्द्राचार्य** की टीका के **'निरर्गलैकान्तदृष्टयो'** शब्दो से स्पष्ट है। सापेक्ष पर्यायदृष्टि वाला भी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नही कहा गया है।

यदि द्रव्यदृष्टि भी पर्यायदृष्टि निरपेक्ष है तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। **श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार गाथा ९३** की टीका मे कहा है—

'पज्जयमूढा हि परसमया—अस्मादिस्थंभूत द्रव्य-गुण-पर्याय परिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति।'

'पज्जयमूढा हि परसमया' अर्थात् जो इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय के यथार्थज्ञान से मूढ है अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप सर्वथा नहीं हूँ। इसप्रकार भेदविज्ञान मे मूढ है, वह वास्तव मे मिथ्यादृष्टि है।

अत. सापेक्ष द्रव्यदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष द्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि। सापेक्ष पर्यायदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि।

प्रवचनसार गाथा १० मे कहा भी है—

'णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।'

इसलोक मे पर्याय के बिना पदार्थ नही है और पदार्थ के बिना पर्याय नही है। प्रदेश की अपेक्षा पदार्थ और पर्याय अपृथक् है।

अतः सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है।

—जै. ग. 8-15-22/7-71/ **मुकटलाल बुलन्दशहर**

पुण्य का विवेचन

(१) पुण्य की व्याख्या

श्री पूज्यपाद महान् आचार्य हुए हैं जिन्होने **'समाधिशतक', 'इष्टोपदेश'** जैसे ग्रन्थो की रचना की है जिनमे एकत्व अविभक्त आत्मा का कथन है। इन्ही **श्री पूज्यपाद आचार्य** ने **'सर्वार्थसिद्धि'** ग्रन्थ मे पुण्य की व्याख्या इसप्रकार की है—

'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादि।' [स. सि. ६।३]

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है। **जैसे** साता वेदनीय आदि।

'पुण्य' और 'मगल' एकार्थवाची है। इसलिये जो मगल के पर्यायवाची शब्द है वे ही पुण्य के भी पर्यायवाची शब्द हैं।

श्री वीरसेन स्वामी महान् आचार्य हुए है जिन्होने **'धवल'** व **'जयधवल'** अध्यात्म ग्रन्थो की रचना की है। जिनको समझने वाले विरले ही पुरुष है। उन **वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १ पृ० ३१-३२** पर निम्नप्रकार मे लिखा है—

'मंगलस्यैकार्थ उच्यते, मंगलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगल-पर्यायवचनानि। एकार्थप्ररूपणं किमिति चेत्, यतो मंगलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेषु नेकाभिधानैः मंगलार्थ. प्रयुक्तश्चिरन्तनाचार्यैः। सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थ उच्यते। 'यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः' इति वचनाद्वा।' मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते, मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम्। तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात्। द्रव्यमलं द्विविधं, बाह्यमभ्यंतरं च। तत्र स्वेद-रजोमलादि बाह्यम्। घन-कठिन-जीव-प्रदेशनिबद्ध-प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश विभक्त-ज्ञाना-वरणाद्यष्टविध-कर्माभ्यन्तर द्रव्यमलम्। अज्ञानादर्शनादिपरिणामो भावमलम्।'

अर्थात्—मङ्गल, पुण्य, पूत, पवित्र, शिव, शुभ, कल्याण भद्र और सौख्य इत्यादि मङ्गल के पर्यायवाची नाम हैं।

शंका—मङ्गल के एकार्थवाचक अनेक शब्दो का प्रनिपादन किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—अनेक पर्यायवाची नामो के द्वारा मङ्गलरूप अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिये प्राचीन आचार्यों ने अनेक शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न शब्दो के द्वारा मङ्गल रूप अर्थ का प्रयोग किया है।

जो मल का गालन करे, विनाश करे, दहन करे, घात करे, शोधन करे, विध्वस करे, उसे मगल कहते है। यह मल दो प्रकार का है। द्रव्यमल, भावमल। ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म द्रव्यमल है। अज्ञान और अदर्शन आदि (राग, द्वेष, मोह आदि) परिणामो को भावमल कहते हैं।

श्री यतिवृषभ आचार्य ने भी **तिलोयपण्णत्ति** (१-८, ९, १४) मे पुण्य अपरनाम मङ्गल के पर्यायवाची नाम बतलाकर यह कहा है कि पुण्य, द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के मलो को गलाकर आत्मा को पवित्र करता है। गाथा इस प्रकार है—

पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥
गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥९॥
अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादिदव्वभावमलभेदा।
ताइं गालेइ पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥१४॥

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मगल के ही समानार्थक शब्द कहे गये है। (पुण्य और मगल इन दोनो शब्दो के अर्थ मे कोई अन्तर नही है। जो मगल का अर्थ है, वही पुण्य का अर्थ है।) ॥८॥ क्योकि यह मलो को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध (पवित्र) करता है और विध्वस करता है, इसलिये इसे मगल अर्थात् पुण्य कहते है ॥९॥ अनेक भेद—युक्त ज्ञानावरणादि कर्मरूप द्रव्य मलो और अज्ञान अदर्शन आदि भावमलो को यह गलाता है इसलिये यह मंगल अथवा पुण्य कहा गया है।

इन आर्ष वाक्यो से स्पष्ट हो जाता है कि 'मगल' और 'पुण्य' ये दोनो एकार्थवाची है। जो आत्मा के द्रव्यकर्म और भावकर्म रूपी मल का नाश करके आत्मा को पवित्र करता है, उसे 'पुण्य' कहा गया है। आर्ष ग्रन्थो मे 'पुण्य' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

पुण्य की उपर्युक्त परिभाषा ध्यान मे रहने से पुण्य-सम्बन्धी चर्चा ठीक-ठीक सरलता से समझ मे आ सकती है। अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे ऐसा पुण्य क्या सर्वथा त्याज्य अथवा हेय है या आत्मा के पवित्र हो जाने पर यह पुण्य स्वय छूट जाता है। 'मैं हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापो का त्याग करता हूँ।' इसप्रकार प्रतिज्ञा-पूर्वक पाप का त्याग किया जाता है क्या इसी प्रकार प्रतिज्ञा-पूर्वक पुण्य का भी त्याग किया जाता है ? क्या किसी ने ऐसी प्रतिज्ञा की है ? क्या इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने का किसी आर्ष ग्रन्थ मे उपदेश है ? पाठकों के लिये यह सब विचारणीय है।

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १३२ में तो शुभ परिणाम को पुण्य और अशुभ परिणाम को पाप कहा है और इन दोनों को बन्ध का कारण कहा है। इस प्रकार शुभ परिणाम पुण्य का लक्षण है ?

समाधान—जीव का शुभ परिणाम पुण्य है, क्योंकि पुण्य का पर्यायवाची शुभ है, ऐसा **श्री यतिवृषभाचार्य व श्री वीरसेन आचार्य** ने **तिलोयपण्णत्ति** व **धवल** मे कहा है। जीव के शुभपरिणाम का लक्षण **गाथा १३२ पंचास्तिकाय** मे नही दिया गया है। शुभ भाव का लक्षण **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने **गाथा ६४ व ६५** मे इस प्रकार कहा है—

दव्वत्थकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु ।
बंधणमुक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥६४॥
रयणत्तयस्स रूवे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे ।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५॥

अर्थ—छह द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्व, नव पदार्थ, बध, मोक्ष, बध के कारण, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्य कर्म, दया आदि धर्म, इत्यादिक भावो मे जो वर्तन करता है, वह शुभ भाव है।

शुभ भाव से दसवें गुणस्थान तक यद्यपि कर्म-बन्ध होता है तथापि उस बन्ध से कर्म-निर्जरा अति-अधिक होती है। इसलिये शुभ भावरूप जीव पुण्य आत्मा की पवित्रता का कारण है।

(२) जीव पुण्य

उपरि उक्त पुण्य दो प्रकार का है। एक जीव पुण्य, व दूसरा अजीव पुण्य। जो जीव पुण्य-भाव अर्थात् शुभ-भाव से युक्त हो वह जीव-पुण्य है। जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव-पुण्य है। पुण्य का पर्यायवाची शुभ भी है। इसलिये पुण्यभाव को शुभ भाव भी कह सकते हैं।

जीव तीन प्रकार के हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा है। इनमे से बहिरात्मा पाप-जीव है। अन्तरात्मा पुण्य-जीव हैं। परमात्मा पुण्य पाप से रहित है।

'जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्ण तु ।' [गो० जी० गा० ६४३]

श्री प० टोडरमलजी ने इसकी भाषा टीका मे लिखा है—

'जीव पदार्थ—सम्बन्धी प्रतिपादन विषै सामान्यपनै गुणस्थान विषै मिथ्यादृष्टि और सासादन एतौ पाप जीव है। बहुरि मिश्र है (तीसरे मिश्र गुणस्थान-वर्ती जीव) ते पुण्य-पापरूप मिश्र जीव हैं। जातै युगपत् सम्यक्त्व अर मिथ्यात्वरूप परिणए है। बहुरि असयत तो सम्यक्त्व करि सयुक्त हैं, देशसयत सम्यक्त्व अर देशव्रत करि संयुक्त हैं, अर प्रमत्तादिक सम्यक्त्व अर सकल व्रत करि संयुक्त है, तातै ये पुण्य जीव है।'

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १९० की संस्कृत टीका में लिखा है—

'अपिशब्दात् पुण्यपापरहितो जीवो भवति ।
कोऽसौ ? अर्हन् सिद्धपरमेष्ठी जीवः ।'

इस गाथा की भाषा टीका मे **श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्रजी** ने लिखा है—

'अपि शब्द से यह जीव जब अर्हन्त अथवा सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है तो यह पुण्य और पाप दोनो से रहित हो जाता है। जीव पदार्थ का वर्णन करते हुए सामान्य से गुणस्थानो मे से मिथ्यादृष्टि और सासादन गुण-स्थानवर्ती जीव तो पापी हैं। मिश्रगुणस्थान वाले जीव पुण्य-पापरूप है; क्योंकि उनके एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए परिणाम होते है तथा असयत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व सहित होने से, देशसयत सम्यक्त्व और व्रत से सहित होने से और प्रमत्त सयत आदि गुणस्थान-वर्ती जीव सम्यक्त्व और महाव्रत से सहित होने से पुण्यात्मा जीव हैं।'

जीवाजीवो पुरा प्रोक्तौ, सम्यक्त्वव्रतज्ञानवान्।
जीव पुण्य तु पाप, स्यान्मिथ्यात्वादिकलकवान्॥ आचारसार ३।२७

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धारण करने वाला अन्तरात्मा पुण्यरूप है और जो मिथ्यात्व आदि से कलकित हैं वे पापरूप है।

यदि यह शका की जाय कि अन्तरात्मा पुण्य-पाप दोनो ही प्रकार के कर्मों का बन्ध करता है फिर भी उपर्युक्त आर्ष ग्रथो मे उसको पुण्य जीव क्यो कहा गया है? तो यह शका ठीक नही है, क्योकि अन्तरात्मा के कर्म-बन्ध होने पर भी सवर-पूर्वक कर्म-निर्जरा अधिक होती है। इसलिए अन्तरात्मा के द्वारा जीव पवित्र होकर परमात्मा बन जाता है। अत उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थो मे अन्तरात्मा को पुण्य कहा जाना उचित है। क्योकि पुण्य वह है जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'समाधितन्त्र' मे कहा भी है—

बहिरन्त परश्चेपि त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परम मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्॥४॥

सस्कृत टीका—'उपेयादिति। तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् परमं परमात्मानं। कस्मात्? मध्योपायात् मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् तथा बहि बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत्॥४॥

अर्थात्—सर्व ससारी जीव तीन प्रकार के हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। आत्मा की इन तीन प्रकार की अवस्थाओ मे अतरात्मा के द्वारा परमात्मअवस्था को प्राप्त करना चाहिये और बहिरात्म-अवस्था को छोडना चाहिये।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'समाधितत्र' मे 'अन्तरात्मा' द्वारा परमात्म-अवस्था को प्राप्त करना चाहिए।' इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि 'अन्तरात्मा द्वारा आत्मा पवित्र होती है। और 'सर्वार्थसिद्धि' मे 'पुण्य' के द्वारा आत्मा पवित्र होती है' यह कहा है। इन दोनो कथनो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तरात्मा पुण्य है। उपर्युक्त श्लोक मे बहिरात्मा अर्थात् पाप को तो त्याज्य बतलाया है। इसका कारण यह है कि पुण्य के द्वारा आत्मा पवित्र होती है अर्थात् परमात्म—पद प्राप्त होता है, उसको त्याज्य कैसे कहा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति पुण्य को हेय जान ग्रहण न करे तो उसकी आत्मा पवित्र नही हो सकती अर्थात् वह परमात्म—पद प्राप्त नही कर सकता।

श्री प० दौलतरामजी ने भी उपर्युक्त श्लोक के अनुसार बहिरात्मा को हेय बतलाया है और अन्तरात्मा को उपादेय बतलाया है—

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजे।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजे॥ छहढाला ३।६

अन्तरात्मा अथवा पुण्य को उपादेय बताने का कारण यह है कि इसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है और परमात्म-पद प्राप्त होता है। किन्तु परमात्म-पद प्राप्त हो जाने पर अन्तरात्मा अर्थात् पुण्य का स्वयमेव अभाव हो जाता है, क्योकि परमात्मा पुण्य-पाप (अन्तरात्मा, बहिरात्मा) से रहित है।

ऐसा एक भी जीव नही जिसने पुण्य अर्थात् अन्तरात्मा के बिना परमात्म-पद प्राप्त किया हो, क्योकि कारण के बिना कार्य की सिद्धि नही होती। आर्ष ग्रन्थो मे बहिरात्मा को पाप जीव कहा गया है। निरतिशय बहिरात्मा यद्यपि पाप जीव है तथापि भ्रम से उसको पुण्य जीव मानकर पुण्य का सर्वथा निषेध करना उचित नही है।

पुण्यभाव अर्थात् शुभभाव मोक्ष का भी कारण है।

श्री वीरसेन आचार्य तथा **श्री यतिवृषभाचार्य** ने मगल के पर्यायवाची नामो का उल्लेख करते हुए पुण्य और शुभ को पर्यायवाची कहा है। **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने शुभ भाव का लक्षण **'रयणसार'** मे इसप्रकार कहा है—

दव्वत्थिकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु।
बधणमोक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेक्खे ॥६४॥
रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५॥

अर्थ—छह द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, बध, मोक्ष, बध के कारण, मोक्ष के कारण, बारहभावना, रत्नत्रय, आर्य (शुभ, श्रेष्ठ) कर्म, दया आदि धर्म, इत्यादिक भावो मे जो वर्तन करता है वह शुभ भाव होता है।

श्री प्रवचनसार गाथा २३० की टीका मे शुभभाव के कुछ पर्यायवाची नाम दिये है जो इस प्रकार है—

अपहृतसंयम सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थ।

अर्थ—अपहृत-सयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये एकार्थवाची शब्द है।

उपर्युक्त लक्षणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुभ भाव सम्यग्दृष्टि के सभव है, मिथ्यादृष्टि के शुभ भाव सभव नही है।

पुण्य भाव से अर्थात् शुभभाव से जहाँ पुण्य कर्म का बध होता है वहाँ सवर और निर्जरा भी होती है। यही कारण है कि अन्तरात्मा अर्थात् जीव पुण्य को परमात्मा का कारण बतलाया गया है जिसका उल्लेख सप्रमाण पीछे किया जा चुका है। **श्री वीरसेन आचार्य** ने स्पष्ट शब्दो मे शुभ भाव से सवर और निर्जरा का उल्लेख किया है।

'सुह-सुद्ध-परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।' (जयधवल पु० १ पृ० ६)

अर्थ—यदि शुभ व शुद्ध परिणामो से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी इसी बात को **'प्रवचनसार'** मे कहा है—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥४५॥

अर्थ—यह प्रशस्तभूत चर्या अर्थात् पुण्य, शुभ भाव मुनियों के होते है और गृहस्थो के तो मुख्य रूप से होते हैं और उसी से परम सौख्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते है, ऐसा **जिनेन्द्र भगवान** ने कहा है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी इस गाथा की टीका मे यही कहा है—

'गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म-प्रकाशनस्याभावात्कषाय-सद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिक-सम्पर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।'

अर्थात्—शुभोपयोग गृहस्थ के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से, कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी शुभभाव मुख्य है। क्योंकि गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, जिस प्रकार ईन्धन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है। इसलिये वह शुभोपयोग क्रमश. परम-निर्वाण के सौख्य का कारण होता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुन: **'प्रवचनसार' गाथा २५६** की टीका मे शुभोपयोग अर्थात् पुण्य-भाव को मोक्ष का कारण बतलाते है।

'शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः।'

अर्थ—सर्वज्ञ-कथित वस्तुओ मे उपर्युक्त शुभोपयोग का फल पुण्य-सचय-पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है।

'समयसार' गाथा १४५ की टीका मे भी **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** ने इसी प्रकार कहा है—

'शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।'

यहाँ पर जीव के शुभ भाव को मोक्षमार्ग कहा गया है।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥ (भावपाहुड)

इस गाथा मे **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने कहा है कि जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलो को नमस्कार करते हैं, वे उस भक्ति-मयी उत्तम शुभभावरूप हथियार के द्वारा संसाररूपी बेल को जड से खोद देते हैं अर्थात् संसार का जड मूल से नाश कर देते है।

तं देवाधिदेवदेवं जविवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥६॥
(श्रीकुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार पृ० ९०)

अर्थात्—जो मनुष्य देवाधिदेव, यतिवरवृषभ, तीन लोक के गुरु **श्री जिनेन्द्र भगवान** की आराधना करता है वह आराधनारूप शुभ-भाव से अक्षय अनन्त सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥७-५॥ [मू. चा.]

इस गाथा मे **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने बतलाया है कि जो भक्त भावपूर्वक अरहत को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही नमस्कार रूप शुभ भाव से सम्पूर्ण दुखो से मुक्त होता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं,
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥७-८१॥ [मू. चा.]

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा के पूर्वार्ध मे बतलाया है कि जिनेश्वर की भक्ति रूप शुभ भाव से संचित कर्म का नाश होता है।

जम्हा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरगमोक्खो य।
तम्हा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणससारा ॥७-९०॥ [मू. चा.]

इस गाथा मे **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** कहते है—'विनय रूप शुभ भाव से आठ प्रकार के कर्मों का नाश होकर चतुर्गति ससार से आत्मा मुक्त होता है।

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफल सव्वकल्लाण ॥७-१०५॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा मे बतलाया है कि विनय रूप शुभभाव का फल सर्व कल्याण अर्थात् मोक्ष है।

विणओ मोक्खद्दारो विणयादो सजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य ॥७-१०६॥ [मू. चा.]

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने विनय रूप शुभभाव को मोक्ष का द्वार बतलाया है।

तम्हा सव्वपयत्तो विणयत्त मा कदाइ छंडेज्जो।
अप्पसुदोवि य पुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ॥७-१८॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते है—कभी विनय का त्याग नही करो, पूर्ण प्रयत्न से विनय का पालन करो, क्योकि अल्प ज्ञानी भी विनय रूप शुभ भाव से कर्मों का क्षय करता है।

इसप्रकार **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने तथा **श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने 'प्रवचनसार', 'अष्टपाहुड' व 'मूलाचार'** आदि ग्रथो मे शुभोपयोग से तथा भक्तिरूप शुभोपयोग से व विनयरूप शुभोपयोग से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है। जिससे परमात्म-पद प्राप्त होता हो ऐसा शुभोपयोग रूप पुण्य सर्वथा हेय नही हो सकता, वह कथचित् उपादेय भी है, इसीलिये **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने इसको पालन करने का उपदेश दिया है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥ [भाव पाहुड]

भाव तीन प्रकार का जानना चाहिये, शुभ, अशुभ और शुद्ध। आर्तध्यान, रौद्रध्यान अशुभ भाव हैं, धर्मध्यान शुभ भाव है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

जिस **धर्मध्यान को श्री उमास्वामी आचार्य** ने तत्वार्थसूत्र मे 'परे मोक्षहेतू' सूत्र द्वारा, मोक्ष का कारण कहा है, उस धर्मध्यान को **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने उपर्युक्त गाथा मे शुभोपयोग कहा है। अर्थात् शुभोपयोग मोक्ष का कारण है ऐसा **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** का कहना है।

भाव पाहुड गाथा ७६ मे जिस धर्मध्यान को शुभोपयोग कहा है उसी धर्मध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय होता है। **श्री वीरसेन आचार्य** ने कहा भी है—

'मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।'

[धवल पु० १३ पृ० ८१]

अर्थ—मोहनीय कर्म का विनाश करना धर्मध्यान (शुभ भाव, पुण्य भाव) का फल है, क्योंकि सूक्ष्म-साम्पराय दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे मोहनीय कर्म का विनाश देखा जाता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने जिनपूजा आदि शुभ भावो से कर्म —निर्जरा का कथन किया है और कर्मों की निर्जरा मोक्ष का कारण है।

'जिणपूजा-वंदण-णामंसणेहि य बहुकम्मपदेसणिज्जरुवलभादो।' (**धवल पु १० पृ. २८९**)

अर्थ—जिनपूजा, वंदना और नमस्कार आदि शुभभावो से भी बहुत कर्मप्रदेशो की निर्जरा पाई जाती है।

निर्जरा मोक्ष का साधन है। इसलिये जिनपूजा आदि शुभ भाव मोक्ष के कारण है। ऐसा **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने भी **'रयणसार'** मे कहा है—

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥

अर्थात्—यदि कोई शुद्ध मन अर्थात् इद्रिय सुख की अभिलाषा से रहित जिनपूजा करता है तो उस पूजा रूप शुभभाव का फल तीन लोक मे देवो से पूजित अरहत पद है और दान रूप शुभ भाव का फल तीनलोक का सार-सुख अर्थात् मोक्ष का सुख मिलता है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने भी स्तुतिविद्या मे, जिनभक्ति रूप शुभ भाव मे ससार का नाश होता है ऐसा कहा है—

जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौ पदे।
भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ॥११५॥

अर्थ—**जिनेन्द्र भगवान** का स्तवन रूप शुभभाव ससार रूपी अटवी को नष्ट करने के लिये अग्नि के समान है।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि अटवी को नष्ट करती है उसी प्रकार जिनेन्द्र का स्तवन रूप शुभ भाव भी संसार के भ्रमण को नष्ट कर देता है और मोक्ष को प्राप्त करा देता है। जिनेन्द्र का स्मरण दुखरूप समुद्र से पार होने के लिये नौका के समान है।

अर्थात् जिनेन्द्र के स्मरण मात्र से यह जीव संसार के दुखों से छूट जाता है। जिनेन्द्र के चरणकमल भक्त-पुरुषों के लिये उत्कृष्ट खजाने के समान है। जिनेन्द्र की श्रेष्ठ प्रतिमा सब कार्यों की सिद्धि करनेवाली है।

> गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना, तं ये च्युतं स्वगते।
> यन्नत्यैति सुशर्मपूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ॥
> यद्भक्त्या शमिताकृशाघयमरुज तिष्ठेज्जनः स्वालये।
> ये सद्भोग कदायतीव यजते, ते मे जिना सुश्रिये ॥११६॥

इस श्लोक मे **श्री समन्तभद्र आचार्य** ने यह बतलाया है कि जिनेन्द्र को नमस्कार करने मात्र से पूर्ण-अनंत सुख प्राप्त हो जाता है और भक्ति से यह जीव अधिक शांति को पाकर रत्नत्रय रूप मार्ग के द्वारा स्वालय अर्थात् मोक्ष मे जाकर निवास करता है।

इन दोनो श्लोको मे **श्री समन्तभद्र आचार्य** ने भक्ति रूप शुभोपयोग का फल मोक्षप्राप्ति बतलाया है।

> भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवत तादृशः।
> वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥ [समाधितन्त्र]

श्री पूज्यपाद आचार्य ने इस श्लोक मे कहा है—अपने से भिन्न अरहंत परमात्मा की उपासना-आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाता है। जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती भी दीपक की आराधना करके (उसका सामीप्य प्राप्त करके) दीपक-स्वरूप हो जाती है।

> सिद्धज्योतिरतीव निर्मलतरज्ञानैकमूर्ति-स्फुरद्-
> वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम् ॥८।१२॥ [पद्म-नन्दि पंचविंशति]

अर्थ—जिस प्रकार बत्ती दीपक की उपासना करके उसके पद को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् दीपकस्वरूप परिणम जाती है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञान-स्वरूप सिद्ध-ज्योति की आराधना करके योगी भी स्वयं सिद्ध-पद को प्राप्त कर लेता है।

> पवित्रं प्रनिरातंक सिद्धानां पदमव्ययम्।
> दुष्प्राप्यं विबुधामर्थ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चके ॥१२।३९॥ [अमितगति श्रावकाचार]

अर्थात्—जिनदेव के पूजक पुरुष सिद्ध पद को प्राप्त होते है।

> एकाऽपि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
> पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिजनम् ॥१५५॥ [उपासकाध्ययन]

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी इसी '**उपासकाध्ययन**' ग्रन्थ मे इसका अर्थ लिखते हैं—

'अकेली एक जिनभक्ति ही ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने मे, पुण्य का संचय करने मे और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

> एकाऽपि शक्ता जिनदेवभक्तिर्या दुर्गतेर्वारयितुं हि जीवान्।
> आसीद्धितत्सौख्यपरं परार्थपुण्यं नवं पूरयितुं समर्था ॥२२।३८॥ (वरांगचरित)

इस श्लोक मे भी यह कहा गया है कि जिनदेव की भक्ति से उत्कृष्ट सुख अर्थात् मोक्षसुख प्राप्त होता है।

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो,
मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं न ।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव
देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥२१६॥ (प. पं.)

अर्थ—हे देव ! मुक्ति का कारणभूत जो तत्त्वज्ञान है वह ज्ञान निश्चयतः समस्त आगम के जान लेने पर प्राप्त होता है। सो जडबुद्धि होने से वह हमारे लिए दुर्लभ है। इसी प्रकार उस मोक्षका कारणभूत जो चरित्र है वह भी शरीर की दुर्बलता से इस समय हमे नही प्राप्त हो सकता है। इस कारण आप मे जो मेरी भक्ति रूप शुभ परिणाम है, वही क्रमशः मुझको मुक्ति का कारण है।

चारित्रं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये,
पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः,
संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ॥९।३०॥ (प० पं०)

अर्थ—हे जिनदेव ! आपने जो मुक्ति के लिए चारित्र बतलाया है, उसे निश्चय से मुझ जैसा पुरुष इस विषम पंचम काल मे धारण नही कर सकता है। इसलिए पूर्वोपार्जित महान् पुण्य से जो मेरी आपमे दृढ भक्ति हुई है, वही मुझे इस ससार रूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है। जिस प्रकार जहाज से समुद्र पार किया जाता है, उसी प्रकार यह जीव जिनेन्द्र-भक्ति रूप शुभ भाव से ससार से पार होकर मोक्ष पहुँच जाता है।

संवेगजणिदकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिक्कंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥७४५॥ (मूलाराधना)

अर्थ—संसारभय से उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व-माया-निदान से रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिन-भक्ति जिसके अतःकरण मे है उस पुरुष को ससार मे भव धारण नही करने पडते अर्थात् उसका ससार नष्ट होकर उसे मुक्ति-लाभ होता है।

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ।
भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिव्वा ॥७४७॥
विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण णिव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७४८॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमे की हुई तीव्र भक्ति ससार का नाश करने मे समर्थ होती है, जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थ अर्थात् मोक्ष मिलता है और जो सिद्धादि की भक्ति नही करता उसको मुक्ति बीज अर्थात् रत्नत्रय प्राप्त नही होता।

'चेदियभत्ता य चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः। यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद् द्वेषो रागश्च जायते। यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुस्मरणे निमित्ततास्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणा अनन्तज्ञानदर्शन-सम्यक्त्व-वीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न संति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति, सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति। ते च संवरनिर्जरे महत्यौ संपादयतः। तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनीं कुरुत।' (मूलाराधना गाथा ३०० टीका)

अर्थ—हे मुनिगण ! आप अरहन्त और सिद्ध की अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओ की भक्ति करो। जैसे शत्रुओं की अथवा मित्रों की फोटो दीख पडने पर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है, यद्यपि उस फोटो ने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नही किया है तथापि वह शत्रुकृत—अपकार और मित्रकृत—उपकार का स्मरण होने मे कारण है। वैसे ही जिनेश्वर और सिद्धो के अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अरहंत प्रतिमा मे और सिद्ध प्रतिमा मे नही है तथापि उन गुणो का स्मरण होने मे वे प्रतिमा कारण होती है, क्योकि अरहत और सिद्धो का उन प्रतिमाओ में सादृश्य है। यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इससे नवीन कर्मों का अपरिमित संवर और पूर्व—बँधे हुए कर्मों की महानिर्जरा होती है। इसलिये शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति होने मे सहायक ऐसी चैत्यभक्ति हमेशा करो।

कर्म भक्त्या जिनेन्द्राणां, क्षयं भरत गच्छति।
क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम् ॥३२।१८३॥ पद्मपुराण

अर्थ—हे भरत ! जिनेन्द्रदेव की भक्तिरूप शुभभाव से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और जिसके कर्म क्षीण हो जाते हैं, वह अनुपम (अतीन्द्रिय) सुख से सम्पन्न परम-पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

'जिनबिम्बानि भव्यजनभक्त्यनुसारेण गीर्वाणनिर्वाणपद-प्रदायीनि गरुडमुद्रया यथा गरलापहरणं तथा चैत्य-लोकनमात्रेणैव दुरितापहरणं भवत्यतश्चैत्यस्यापि वन्दना कार्या' ॥ (चारित्रसार पृ० १५०)

अर्थ—जिनबिंब भव्य लोगों की भक्ति के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष पद देते हैं। जिस प्रकार गरुडमुद्रा मे विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार जिनबिंब के दर्शन मात्र से पापो का नाश हो जाता है। इसलिये जिनबिंब की वन्दना करनी चाहिये और जिनबिंब के आश्रय होने से चैत्यालय की भी वन्दना करनी चाहिये।

प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाश्यते।
काष्ठं काष्ठांतकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥८।५॥ अमितगति श्रावकाचार

अर्थ—जैसे जाज्वल्यमान आग से काठ का नाश होता है वैसे ही शुभ परिणाम अर्थात् पुण्य रूप जीव परिणाम से संचित कर्म नाश को प्राप्त होता है।

'आप्त-मीमासा' कारिका ९५ की टीका मे 'अष्टशती' और 'अष्टसहस्री' के आधार पर इस प्रकार लिखा है 'विशुद्ध तो मद कषाय रूप परिणाम कूं कहिये है। बहुरि सक्लेश तीव्र कषाय रूप परिणाम कू कहिए है। तहाँ विशुद्धि का कारण, विशुद्धि का कार्य, विशुद्धि का स्वभाव ये तो विशुद्धि के अग है, बहुरि आर्त्त-रौद्र ध्यान का अभाव सो विशुद्धि का कारण है। बहुरि सम्यग्दर्शनादिक विशुद्धि के कार्य्य हैं। बहुरि धर्म्म, शुक्ल ध्यान के परिणाम हैं, ते विशुद्धि के स्वभाव हैं। तिस विशुद्धि के होते ही आत्मा आप विषै तिष्ठे है।'

इन तीस आर्षग्रन्थो के प्रमाणो से यह सिद्ध है कि शुभोपयोग, शुभ भाव, विशुद्ध भाव या पुण्यभाव इनसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनसे अधिक प्रमाण भी दिये जा सकते थे किन्तु कलेवर बढ जाने के भय से नही दिये गये। जिनको आर्षग्रन्थो पर श्रद्धा है उनके लिए उपर्युक्त तीस प्रमाण भी पर्याप्त हैं।

(३) अजीव पुण्य (पौद्गलिक पुण्यकर्म) मोक्षमार्ग में सहकारीकारण है

पुण्य की परिभाषा—

'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादि।'

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है, जैसे साता-वेदनीय आदि।

'तत्त्वार्थसूत्र' के छटे अध्याय के सूत्र तीन मे पाप व पुण्यकर्म के आस्रव का कथन है। इस सूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' टीका मे **श्री पूज्यपाद महानाचार्य** ने सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के द्वारा आत्मा पवित्र होता है, ऐसा उपर्युक्त वाक्य मे स्पष्ट रूपसे कथन किया है। इस पर शका स्वाभाविक है कि पुद्गल कर्म तो बध-रूप है। वह आत्मा की पवित्रता का कैसे कारण हो सकता है ? किन्तु यह शका ठीक नही है। क्योकि पुण्योदय के बिना मोक्षमार्ग के योग्य (उत्तम सहनन, उच्चगोत्र आदि) सामग्री नही मिल सकती। इसलिये आर्षग्रन्थो मे पुण्यकर्म को मोक्षप्राप्ति मे सहकारी कारण बतलाया है।

'मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय-चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सभवात्।' (अष्टसहस्री पृ० २५७)

अर्थ—परम पुण्य के अतिशय से तथा चारित्र रूप पुरुषार्थ से (इन दोनो से) मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर **श्री विद्यानन्द** महान् तार्किक आचार्य ने यह बतलाया है कि मोक्ष मात्र रत्नत्रय से ही नही प्राप्त होता किन्तु रत्नत्रय रूपी पुरुषार्थ को परम पुण्यकर्मोदय की सहकारिता की भी आवश्यकता है। इस प्रकार पुण्यकर्म भी मोक्ष-प्राप्ति मे अत्यन्त उपयोगी है। यही बात **श्री कुन्दकुन्द आचार्य कृत 'पचास्तिकाय' गाथा ८५** की टीका मे भी कही गयी है—

'यथा रागादि-दोष-रहित शुद्धात्मानुभूति-सहितो निश्चय-धर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदान-रहित-परिणामोपार्जित-तीर्थंकर-प्रकृत्युत्तमसंहननादि-विशिष्टपुण्यरूपकर्मापि सहकारी कारणं भवति, तथा यद्यपि जीवपुद्गलानां गतिपरिणते स्वकीयोपादानकारणमस्ति तथापि धर्मास्तिकायोऽपि सहकारी कारणं भवति।'

अर्थ—जिस प्रकार रागादि दोष-रहित शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चयधर्म भव्यो को सिद्धगति के लिये यद्यपि उपादान कारण है तथापि निदान-रहित परिणामो से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम सहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्धगति के लिये सहकारी कारण हैं, (यदि विशिष्ट पुण्यकर्म की सहकारिता न हो तो भव्य जीव सिद्धगति को प्राप्त नही हो सकते) उसी प्रकार गतिपरिणत जीव पुद्गल, अपनी-अपनी गति के लिये, यद्यपि स्वय उपादान कारण है तथापि उस गति मे धर्मद्रव्य सहकारी कारण होता है अर्थात् धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गलो की गति नही हो सकती, जैसे ऊर्ध्वगमन-स्वभावी सिद्ध जीव भी लोक के अन्त तक ही गमन करते हैं, क्योकि उसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव है।

उत्तम सहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्मोदय के बिना आज तक कोई भी जीव मोक्ष नही गया और न जा सकता है। इसलिये मोक्ष के लिये पुण्यकर्म सहकारी कारण है।

'मूलाचार प्रदीप' पृ० २०० पर भी कहा है—

'पुण्य-प्रकृतयस्तीर्थपदादि-सुख-खानयः।'

अर्थात्—ये पुण्यकर्मप्रकृतियाँ तीर्थंकर आदि पदो के सुख देने वाली है।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसारा
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो गी.।

साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ-
मार्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यं ॥१६-२७२॥ [महापुराण]

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नाग इनके इन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसको पाकर पुन: संसार मे जन्म नही लेना पड़े—ऐसा अरहंत पद और अनन्त समस्त सुख देनेवाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सबकी प्राप्ति पुण्यकर्म से ही होती है।

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दि-
पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते ।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं,
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥३०।१२९॥ (म० पु०)

अर्थ—पुण्यकर्म से सबको विजय करनेवाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्राप्त होती है, इद्र की दिव्य-लक्ष्मी भी पुण्यकर्म से मिलती है, पुण्यकर्म से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष-लक्ष्मी भी पुण्यकर्म से ही मिलती है। इस प्रकार यह जीव पुण्यकर्म से ही चारो प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है। इसलिये हे सुधी! तुम भी जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र आगम के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी **'प्रवचनसार'** गाथा ४५ मे 'पुण्यफला अरहंता' शब्दों द्वारा यह कहा है कि अरहत पद पुण्य कर्म का फल है।

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञव्रजैर्जातु या,
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः ।
भव्यैः संज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिः कैश्चित्कदाचित्क्वचित्,
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥१०।४३॥ (आचारसार)

अर्थात्—रत्नत्रय की प्राप्ति को बोधि कहते है। यह बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति एकेन्द्रिय, विकल-त्रय और असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवो को कभी प्राप्त नही होती है। पर्याप्त सज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव को लब्धि की विधि प्राप्त हो जाने पर भी यह बोधि किसी को कभी किसी क्षेत्र मे महान् पुण्य कर्म के वश मे प्राप्त होती है। स्वर्ग व मोक्ष को देनेवाली वह बोधि (रत्नत्रय) प्राप्त होने पर मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे।

'उक्तैरेकादशोपासकैर्वक्ष्यमाण-दशधर्माधारैश्च मनुष्यगतौ केवलज्ञानोपलक्षितजीवद्रव्यसहकारिकारणसंबंध-प्रारंभस्यानानतानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविशेषविभूतिकारणस्य त्रैलोक्यविजयकरस्य तीर्थंकरनामगोत्रकर्मणः कारणानि षोडशभावना भावयितव्या इति।' (चारित्रसार पृ० ५०)

अर्थ—इस ससार मे तीर्थंकर नामकर्म और गोत्रकर्म मनुष्यगति मे उत्पन्न हुए जीवो को केवलज्ञान से उपलक्षित करने मे सहकारी कारण है। तीर्थंकर कर्म के उदय का प्रभाव अनन्त और उपमा रहित है। वह स्वय जिसका चितवन भी नही किया जा सकता, ऐसी विशेष विभूति का कारण है और तीनो लोकोका विजय करने वाला है। इसलिये जिन ग्यारह प्रकार के श्रावको का वर्णन किया गया है उनको आगे कहे जाने वाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को धारण कर उस तीर्थंकर नामकर्म की कारण-भूत सोलह भावनाओ का चितवन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य अनेक आर्ष ग्रंथों के प्रमाण हैं जिनको विद्वन्मण्डल भले प्रकार जानता है। उन सबमें यह विषय विशद रूप से स्पष्ट किया गया है कि पुण्यकर्म की सहकारिता के बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता। नीच गोत्र रूप पाप कर्मोदय में संयम धारण नहीं हो सकता है। उच्च गोत्रवाले के ही संयम होता है और संयम के बिना मोक्ष नहीं होता।

(४) क्या पुण्य भी पाप के समान सर्वथा हेय है ?

समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्म-प्रकाश, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों के आधार पर यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पुण्य व पाप समान हैं, हेय हैं, त्याज्य हैं, तथापि यह विचारणीय है कि जीवपुण्य व जीवपाप तथा अजीवपुण्य व अजीवपाप क्या सर्वथा समान हैं, या किसी अपेक्षा से उनमें विशेषता भी है अथवा पुण्य सर्वथा हेय ही है या किसी अपेक्षा से उपादेय भी है ?

प्रथम चार प्रकरणों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव-पुण्य और अजीव-पुण्य मोक्षमार्ग में उपयोगी होने के कारण उपादेय भी हैं फिर भी इस प्रकरण में इस पर विशेष विचार किया जाता है, क्योंकि वर्तमान में यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

बहिरात्मा [जीव पाप] और अन्तरात्मा (जीवपुण्य) दोनों संसारी है, क्योंकि—

'आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ॥रा. वा. २।१०।१॥'

अपने किये हुए कर्मों से स्वयं पर्यायान्तर को प्राप्त होना संसार है। इसलिये संसारी जीव की अपेक्षा से बहिरात्मा [जीवपाप] और अन्तरात्मा [जीवपुण्य] दोनों समान हैं अथवा बहिरात्मा [जीव पाप] और अन्तरात्मा [जीव-पुण्य] दोनों पर-समय हैं, इसलिये भी समान हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णये जिणिदेहिं ।
परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४८॥ (रयणसार)

अर्थात्—बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है और परमात्मा स्वसमय है, ऐसा **जिनेन्द्र भगवान्** ने कहा है।

इसलिये अन्तरात्मा (जीवपुण्य) को हेय कहा गया है।

श्री 'परमात्मप्रकाश' गाथा १४ की टीका में कहा भी है—

'वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति। इति अन्तरात्मा हेय-रूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥१४॥

अर्थात्—वीतराग निर्विकल्प सहजानन्द एक शुद्ध आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका, ऐसी निर्विकल्प समाधि में जो मुनि स्थित है, वही पण्डित है, अन्तरात्मा है अथवा विवेकी है। इस प्रकार अन्तरात्मा हेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है।

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि मे स्थित अन्तरात्मा (पुण्यजीव) को हेय बतलाया गया है। यदि कोई इस उपदेश को एकान्त मे ग्रहण करले और पुण्यजीव अर्थात् अन्तरात्मा को हेय जान त्याग करदे तो उसका परिणाम यह होगा कि वह स्वय तो बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा पापात्मा हो जायगा और पुण्य को हेय बतलाकर दूसरो को भी मिथ्यादृष्टि बना देगा।

स्याद्वादी इस उपदेश को अनेकान्त दृष्टि से ग्रहण करके अन्तरात्मा अर्थात् पुण्यजीव को परमात्मा की अपेक्षा हेय मानते हुए भी बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यात्व अथवा पाप की अपेक्षा परमोपादेय मानता है। उसको प्राप्त करने अथवा उसमे स्थित रहने का निरन्तर वह प्रयत्न करता है। क्योकि अन्तरात्मा (पुण्य) परमात्मा होने का साधन है।

जितना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मे अन्तर है उतना ही पाप और पुण्य मे अन्तर है। पुण्य और पाप के लक्षण मे भेद है इसलिये भी पुण्य और पाप मे अन्तर है। जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है। (**सर्वार्थसिद्धि ६।३**)

शका – सम्यक्दृष्टि नारकी पापी है और मिथ्यादृष्टि देव पुण्यात्मा है। अत सम्यग्दृष्टि को पुण्यजीव और मिथ्यादृष्टि को पाप-जीव कहना उचित नहीं है।

समाधान– सम्यग्दृष्टि नरक के दुख भोगता हुआ भी पुण्यात्मा है, क्योकि उसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि स्वर्ग के सुख भोगता हुआ भी पापात्मा है, क्योकि उसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नही है।

इसी बात को **'परमात्मप्रकाश' गाथा** २।५८ की टीका मे कहा है—

'सम्यक्त्वरहिता जीवा पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते। सम्यक्त्वसहिता. पुन पूर्वभवान्तरोपार्जित पापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते।'

अजीवपुण्य और अजीवपाप दोनो पुद्गल द्रव्यमय है और जीव के परिणामो से इनका बध होता है, इसलिये अजीव-पुण्य और अजीव-पाप दोनो समान है। किन्तु अजीव पुण्य मोक्षमार्ग मे सहकारी कारण है, क्योकि उच्चगोत्र के उदय के बिना सकलचारित्र धारण नही हो सकता और वज्रवृषभनाराच सहनन के बिना मोक्ष नही प्राप्त हो सकता, जबकि अजीवपाप मोक्षमार्ग मे बाधक है, क्योकि नीचगोत्र के उदय मे सकलचारित्र नही हो सकता और हीन-सहननवाला कर्मों का क्षय नही कर सकता। मोक्षमार्ग मे सहकारिता और बाधकता के कारण 'पुण्य' और 'पाप' कर्मप्रकृतियो मे अन्तर है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि देव भी यह वाछा करता है कि कब उत्तम सहननवाला मनुष्य बनूँ और सकलचारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त करूँ।

मणुवगईए वि तओ, मणुवगईए महव्वदं सयल।
मणुवगईए झाणं, मणुवगईए वि णिव्वाणं ॥२९०॥ (स्वा० का०)

अर्थ—मनुष्यगति मे ही तप होता है। मनुष्यगति मे ही समस्त महाव्रत होते हैं। मनुष्यगति मे ही ध्यान होता है। मनुष्यगति से ही मोक्ष होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि भी मोक्ष के साधनरूप मनुष्यगति आदि अजीवपुण्य की इच्छा करता है। वह इच्छा सांसारिक सुख की वाछा न होने से निदान नहीं है, किन्तु मोक्ष की कारण है। कहा भी है—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात् ।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ॥१२२॥

ननु ज्ञानाराधनापरिणतस्य तपः श्रुत-विषयरागेन रागित्वात्कथं मुक्तत्वं स्यात् इत्याशंक्याह—

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः ।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥ (आत्मानुशासन)

श्लोकार्थ—यह भव्य आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ से शुभ को प्राप्त होता हुआ समस्त कर्म-मल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है। जैसे सूर्य जब तक प्रभात काल की लालिमा को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अन्धकार को नष्ट नहीं करता।

यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञान-आराधना-परिणत जीव के तप और श्रुत सम्बन्धी राग होने से, उसको मुक्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि वह रागी है? इस शंका का आचार्य उत्तर देते हैं—

श्लोकार्थ—मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर देनेवाले प्राणी के अर्थात् सम्यग्दृष्टि के जो तप और शास्त्र-विषयक अनुराग होता है, वह राग उस सम्यग्दृष्टि के स्वर्ग व मोक्ष के लिये होता है अर्थात् स्वर्गमोक्ष का कारण है। जिस प्रकार सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा उस सूर्य की अभिवृद्धि का कारण होती है ॥१२३॥

श्री वीरसेन आचार्य ने भी 'जयधवल' ग्रन्थ में यही बात कही है—

'लोहो सिया पेज्जं, तिरयण-साहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्ति-दंसणादो अवसेसवत्थु-विसयलोहो णो पेज्जं, तत्तो पावुप्पत्तिदंसणादो ॥ (ज० ध० १ पृ० ३६९)

श्री प० कैलाशचन्द्रजी तथा **श्री पं० फूलचन्द्रजी कृत अर्थ**—लोभ कथंचित् पेज्ज (राग) है, क्योंकि रत्नत्रय के साधक-विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है तथा शेष पदार्थ-विषयक लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पाप की उत्पत्ति देखी जाती है।

इन आर्ष प्रमाणों से सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि भी मोक्ष के साधनभूत पुण्य की इच्छा करता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य स्वयं पुण्य-पाप का अन्तर बतलाते हुए कहते हैं—

वरं वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं ।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥ (मोक्ष-पाहुड)

अर्थ—व्रत और तप रूप शुभ भावों से [पुण्य भावों से] स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप [अशुभ भाव, पाप भाव] से नरक में दुख प्राप्त होना ठीक नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठने वालों में महान् अन्तर है, वैसे ही व्रत [शुभ] और अव्रत [अशुभ] पालने वालों में महान् अन्तर है।

यद्यपि जीवत्व मात्र की अपेक्षा से संसारी और मुक्त जीव समान हैं तथापि कर्म-बंध और अबन्ध की अपेक्षा से संसारी जीव और मुक्त जीव में महान् अन्तर है। उसी प्रकार यद्यपि परमनय की अपेक्षा बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा पापी जीव और अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि अथवा पुण्यात्मा समान हैं तथापि मिथ्या-स्वभाव-अयथार्थश्रद्धान और सम्यक्त्व-भाव यथार्थ-श्रद्धान की अपेक्षा बहिरात्मा और अन्तरात्मा में महान् अंतर है।

इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म पौद्गलिक होने की अपेक्षा यद्यपि समान हैं तथापि मोक्षमार्ग में साधकता और बाधकता की अपेक्षा तथा सुख और दुःख की अपेक्षा इन (पुण्य कर्म और पाप कर्म) मे महान् अन्तर है अतः अन्तरात्मा, पुण्यजीव और पुण्यकर्म कथंचित् उपादेय हैं, सर्वथा हेय नही हैं।

यदि यह कहा जाय कि व्यवहारनय से पुण्य कथंचित् उपादेय हो सकता है किन्तु निश्चयनय से तो पुण्य सर्वथा हेय ही है। सो ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि निश्चय नय मे हेय-उपादेय का विकल्प नही होता।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'बारस अणुवेक्खा' गाथा ८६ में 'हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि' इन शब्दों द्वारा बतलाया है कि निश्चयनय से न कोई हेय है और न कोई उपादेय है।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर पुण्य और पाप का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए। यदि कोई एकान्त की हठ ग्रहण करेगा तो उसको संसार मे भ्रमण करना पड़ेगा।

(५) एक ही परिणाम से दो विभिन्न कार्य

यहाँ प्रश्न होता है कि शुभोपयोग (पुण्य भाव) से बध होता है और जो बध का कारण है वह मोक्ष का कारण नही हो सकता है, क्योंकि बध और मोक्ष दोनो का एक कारण नही हो सकता है ?

इस प्रश्न मे दो बातें विचारणीय है (१) जो मोक्ष का कारण है क्या उससे बध नही हो सकता ? (२) शुभोपयोग अर्थात् पुण्य-भाव वाले जीव के अथवा पुण्य-जीव के जो बध होता है वह किस प्रकार का होता है ? इनमे से प्रथम वार्ता पर विचार किया जाता है—

श्री कुन्दकुन्द, श्री पूज्यपाद आदि आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि एक ही कारण से मोक्ष भी हो सकता है और पुण्यबंध होकर सांसारिक सुख भी मिल सकते है।

जिणवरमयेण जोई झाणे झाएह सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥
जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेइ गुरुभारं।
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१॥ (मोक्ष पाहुड)

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि जिन भगवान् के मत से योगी शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है जिससे वह मोक्ष पाता है; उसी आत्मध्यान से क्या स्वर्गलोक प्राप्त नही करता ? अर्थात् अवश्य प्राप्त कर सकता है ॥२०॥ जैसे जो पुरुष भारी बोझ लेकर एक दिन मे सौ योजन जाता है, वही पुरुष क्या भूमि पर आधा कोस भी नहीं चल सकता अर्थात् सरलता से चल सकता है ॥२१॥ (यहा पर यह बतलाया गया है कि जिस आत्मध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है उसी आत्मध्यान से पुण्यबध होकर उसके फलस्वरूप स्वर्ग मे देव होना है।)

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्द्धे किं स सीदति ? ॥४॥ (इष्टोपदेश)

अर्थ—जो परिणाम भव्य प्राणियो को मोक्ष प्रदान करते हैं, मोक्ष देने में समर्थ है, ऐसे आत्मपरिणामो के लिये स्वर्ग कितनी दूर है ? कुछ दूर नही है, वह तो उसके निकट ही समझो अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से

पैदा किये हुए पुण्य का एक फल मात्र है। जैसे जो भार ढोनेवाला अपने भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं होगा ॥४॥ यहाँ पर भी यही कहा गया है—आत्मा के जो परिणाम मोक्ष के कारण है उन्ही आत्मपरिणामों से पुण्यबंध होकर स्वर्गलोक मिलता है।

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमान समाहितैः ।
अनन्तशक्तिरात्मायं भुक्ति मुक्ति च यच्छति ॥ (त. अ गा १९६)

अर्थ—गुरु का उपदेश मिलने पर एकाग्र-ध्यानियो के द्वारा यह अनन्त शक्ति-युक्त अर्हन् आत्मा का ध्यान किया जाता है जो मुक्ति तथा भुक्ति (पुण्य के फल रूप भोगो) को प्रदान करता है।

ओंकारं बिन्दु-सयुक्तं नित्य ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षद चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

अर्थात्—मुनिजन बिन्दुसहित ओंकार का नित्य ध्यान करते हैं। वह ओंकार पुण्य के फलस्वरूप भोगो तथा मोक्ष को देने वाला है। इसलिये ओंकार को नमस्कार हो।

श्री वीरसेन आचार्य भी कहते है कि रत्नत्रय स्वर्ग का भी मार्ग है और मोक्ष का भी मार्ग है—

'स्वर्गापवर्गमार्गत्वाद्रत्नत्रयं प्रवर । स उद्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवाद ॥' (ध० १३।२८७)

अर्थ—स्वर्ग का मार्ग और मोक्ष का मार्ग होने से रत्नत्रय का नाम प्रवर है। उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिये इस आगम का नाम प्रवरवाद है। (यहाँ पर भी यही कहा गया है कि रत्नत्रय मोक्ष का भी कारण है और पुण्यबंध का भी कारण है, जिससे स्वर्ग मिलता है।)

एक ही आत्मपरिणाम से मोक्ष और पुण्यबन्ध कैसे हो सकता है ? इसका विशद विवेचन **श्री पूज्यपाद आचार्य** ने सर्वार्थसिद्धि मे इस प्रकार किया है—

'ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नैष दोष', एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत् । यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदय-कर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोध ।'

अर्थ—तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योकि वह देवेन्द्र आदि स्थान-विशेष की प्राप्ति के हेतु रूप से स्वीकार किया गया है अर्थात् तप को पुण्यबंध का कारण माना गया है। इसलिये वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? यह कोई दोष नही है, क्योकि अग्नि के समान तप एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते है। जैसे अग्नि एक है तथापि उसके विक्लेदन, भस्म और अगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते है वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय [मोक्ष] इन दोनो का कारण है। ऐसा मानने मे क्या विरोध है ?

यहाँ पर अग्नि का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैसे एक अग्नि से अनेक कार्य देखे जाते हैं उसी प्रकार एक ही तप से पुण्यबंध और कर्मनिर्जरा दोनो कार्य देखे जाते है।

इसी बात को **श्री वीरसेन आचार्य** भी कहते है—

'अरहंतणमोकारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उक्तं च—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥ (जयधवल पु. १ पृ. ९)

अर्थ—अरहंत-नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, उसमे भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। कहा भी है—जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुखो से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। यही बात श्री पं० कैलाशचन्द्रजी व पं० फूलचन्द्रजी ने 'जयधवला' मे लिखी है।

यद्यपि अरहत नमस्कार से कुछ बध भी होता है तथापि उस बध की अपेक्षा कर्म-निर्जरा असख्यातगुणी है, इसीलिये अरहंत-नमस्कार करनेवाला अति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक ही परिणाम के बन्ध और निर्जरा दोनो कार्य होते हैं तथा मोक्ष भी होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'दर्शनपाहुड़' मे कहा है—

सेयासेयविदण्हू उद्धदुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं ॥१६॥

अर्थ—श्रेय और अश्रेय को जाननेवाला मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप अभ्युदयसुख पाकर फिर मोक्षसुख पाता है।

यद्यपि सम्यक्त्व मोक्षमहल की प्रथम सीढी है तथापि वह भी बन्ध का कारण है। श्री उमास्वामि आचार्य 'तत्त्वार्थसूत्र' अध्याय ६ मे लिखते हैं—

"सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥"

अर्थात्—सम्यग्दर्शन देवायु के बन्ध का कारण है।

इस 'तत्त्वार्थसूत्र' पर श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित सर्वार्थसिद्धि टीका है। उसमे लिखा है।

'किम् ? देवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते,'

अर्थ इस प्रकार है—

शंका—सम्यक्त्व क्या है ?

समाधान—देवायु का आस्रव है। इस पद की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है।

यही बात श्री अकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' टीका मे कही है।

श्री श्रुतसागर आचार्य 'तत्त्वार्थवृत्ति' में कहते हैं—

'सम्यक्त्वं तत्त्व-श्रद्धानलक्षणं देवायुरास्रवकारणं भवति।'

अर्थ—तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण रूप सम्यग्दर्शन देवायु के आस्रव का कारण है।

इसी सूत्र की टीका मे श्री विद्यानन्द आचार्य 'श्लोकवार्तिक' में लिखते हैं—

सम्यग्दृष्टेरनंतानुबंधि-क्रोधाद्यभावत ।
जीवेष्वजीवताश्रद्धापायान्मिथ्यात्वहानित ॥६॥
हिंसायास्तत्स्वभावाया निवृत्ते शुद्धिवृत्तित ।
प्रकृष्टस्यायुषो दैवस्यास्रवो न विरुध्यते ॥७॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो का अभाव हो जाने से, जीव मे अजीव की श्रद्धा का नाश हो जाने से, मिथ्यात्व चले जाने से, हिंसा और उसके स्वभाव का त्याग कर देने से और शुद्ध प्रवृत्ति से सम्यग्दृष्टि के उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होने मे कोई बाधा नही है ।

श्री पूज्यपाद आदि सभी महानाचार्यों ने 'सम्यक्त्व से ही उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होता है', ऐसा कहा है । इनमे से किसी भी आचार्य ने यह नही कहा कि मात्र राग से उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होता है । यदि मात्र राग से उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होने लगे तो 'सम्यक्त्व च' यह सूत्र निरर्थक हो जायेगा ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य (समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय के टीकाकार) ने भी **'तत्त्वार्थसार'** मे सम्यक्त्व आदि से देवायु के आस्रव का कथन किया है ।

सरागसंयतश्चैव, सम्यक्त्वं देशसंयम ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३४॥

अर्थ—सरागसयम, सम्यक्त्व और देशसयम ये देवायु के आस्रव (बन्ध) के कारण हैं ।

इन्ही सम्यग्दर्शन, देशसयम और सयम को निर्जरा का कारण बतलाया गया है । **श्री अमृतचन्द्र सूरि** ने कहा भी है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्तत ।
सयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धि-प्रवियोजक ॥५५॥
दृग्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्तत ।
उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मत ॥५६॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः ।
दशैते क्रमत. सन्त्यसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥५७॥

यहाँ पर असख्यातगुणी निर्जरा के दस स्थान बतलाये गये है । इनमे से असख्यातगुणी निर्जरा के प्रथम तीन स्थान सम्यक्त्व, देश सयम और सयत के हैं ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि निर्जरा के कारण भी हैं और बध के कारण भी है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने **'रयणसार'** मे और **'दर्शन-पाहुड'** मे कहा है कि सम्यग्दर्शन से सुगति प्राप्त होती है—

सम्मत्तगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।
इदि जाण किमिह बहुणा ज ते रुचेइ तं कुणहो ॥६६॥

अर्थात्—सम्यक्त्व गुण से इन्द्र, चक्रवर्ती आदि सुगति नियम से मिलती है और मिथ्यात्व से नरकादि दुर्गति मिलती है । ऐसा जानकर जो तुमको रुचे सो करो ।

सम्यग्दर्शन से निर्जरा भी होती है और वह सुगति के बन्ध का कारण भी है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन का फल वर्णन करते हुए '**रत्नकरण्डश्रावकाचार**' मे कहा है कि **सम्यग्दर्शन के** प्रभाव से जीव नरक, तिर्यंच गति को, नपुंसक और स्त्री पर्याय को तथा निद्यकुल को, अङ्गों की विकलता को, अल्पायु तथा दरिद्रता को प्राप्त नही होता किन्तु देवेन्द्र, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है।

नव-निधि-सप्तद्वय-रत्नाधीशा सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृश क्षत्रमौलिशेखरचरणा ॥३८॥
अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाऽम्भोजा ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोक-शरण्या ॥३९॥

अर्थ—जो निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक है वे नवनिधियो तथा चौदह रत्नो के स्वामी और षट्खड के अधिपति होते है, चक्ररत्न को प्रवर्तित करने मे समर्थ होते हैं और उनके चरणो मे राजाओ के मुकुट-शेखर झुकते हैं अर्थात् मुकुटबद्ध राजा उन्हें सदा प्रणाम किया करते है। वे धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर होते हैं जिनकी देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा गणधर स्तुति करते है और जो लौकिक जनो के लिये शरणभूत होते है।

श्री समन्तभद्र आचार्य के उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्यग्दर्शन से वह पुण्य-बध होता है जिसके फलस्वरूप चक्रवर्ती, देवेन्द्र, तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते है, क्योकि मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार का पुण्यकर्मबध नही कर सकता जिसका फल चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि पद हो।

'**धवल**' पु० ८ तथा '**तत्त्वार्थसूत्र**' आदि सभी आर्ष ग्रन्थो मे दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओ को तीर्थंकरप्रकृति के बध का कारण बतलाया है। **श्री भास्करनन्दि आचार्य** ने दर्शनविशुद्धि की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'दर्शनं तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणं प्रागुक्तम् । तस्य विशुद्धिः सर्वातिचारविनिर्मुक्तिरुच्यते । दर्शनस्य विशुद्धि-दर्शनविशुद्धिः ।'

अर्थ—दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है। जो सम्यग्दर्शन सर्व अतिचारो से रहित है वह विशुद्ध सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि दर्शनविशुद्धि है।

यह दर्शनविशुद्धि यद्यपि मोक्ष का कारण है, क्योकि इसके बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नही होता तथापि तीर्थंकरप्रकृति के बध का मुख्य कारण है। '**सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति**' मे कहा भी है—

'दर्शनविशुद्धिसहितानि तीर्थंकरत्वस्य नाम्नस्त्रिजगदाधिपत्यफलस्यास्रव-कारणानि भवन्ति । तत एव दर्शन-विशुद्धि प्रथममुपात्ता प्राधान्यख्यापनार्थं तदभावे तदनुपपत्ते ।'

अर्थ—ये सोलह भावनाएँ पृथक्-पृथक् भी दर्शनविशुद्धि से सहित, तीन जगत् के अधिपतिरूप फलवाली **तीर्थंकरप्रकृति के आस्रव** का कारण होती हैं। **दर्शनविशुद्धि** तीर्थंकर **प्रकृति के बन्ध का प्रधान कारण है। क्योकि दर्शनविशुद्धि के अभाव में तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नही होता। इसलिये सोलह कारण भावनाओ मे दर्शन विशुद्धि को प्रथम कहा गया है।**

(६) रत्नत्रय से बन्ध

शंका—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तो संवर, निर्जरा व मोक्षके कारण हैं और राग-द्वेष आस्रव तथा बन्ध के कारण हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र राग-द्वेष रूप नहीं हैं, अतः ये बन्ध के कारण नहीं हो सकते।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा भी है—

योगात्प्रदेशबन्ध , स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं, न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥ (पु० सि० उ०)

अर्थात्—योग से प्रदेश-बन्ध तथा कषाय से स्थिति-बन्ध होता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र न योगरूप हैं और न कषाय रूप हैं इसलिये ये बन्ध के कारण नही हैं।

समाधान—इन्ही **अमृतचन्द्र आचार्य** ने **'तत्त्वार्थसार'** के **आस्रव अधिकार श्लोक नं० ४३** मे सम्यग्दर्शन व संयम से देवायु का बन्ध और **श्लोक सख्या ४९ से ५२** मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा तप आदि से तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कथन किया है। वे श्लोक इस प्रकार है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्व देशसंयम ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतव ॥४३॥
विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः ।
मार्गप्रभावना चैव सपत्तिर्विनयस्य च ॥४९॥
शीलव्रतानतीचारो, नित्यं संवेगशीलता ।
ज्ञानोपयुक्तताभीक्ष्णं, समाधिश्च तपस्विनः ॥५०॥
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधाऽवश्यकस्य च ।
भक्तिः प्रवचनाचार्य-जिनप्रवचनेषु च ॥५१॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः ।
नाम्नस्तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतव ॥५२॥

एक ही आचार्य **'पुरुषार्थसिद्धयुपाय'** मे तो यह कथन करें कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से बन्ध नही होता है और **'तत्त्वार्थसार'** मे यह कथन करें कि सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र से तीर्थंकरप्रकृति आदि का बन्ध होता है। एक ही आचार्य द्वारा इसप्रकार परस्परविरुद्ध कथन होने मे क्या कारण है यह बात विशेष विचारणीय है।

इसके लिये सर्व प्रथम 'कारण' की व्याख्या जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जिसका कार्य के साथ अन्वय व व्यतिरेक हो, वह कारण होता है। कहा भी है—

'यद्भावाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत् तत्कारणमिति लोकेऽपि सुप्रसिद्धत्वात् ।'
(प्रमेय-रत्नमाला १।१३)

अर्थ—जिसके सद्भाव मे जिस कार्य की उत्पत्ति हो और जिसके अभाव मे कार्य की उत्पत्ति न हो, वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है, यह बात लोक मे भी सुप्रसिद्ध है।

'यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति न भवति तत्तस्य कारणमिति न्यायात् ।' (धवल पु १२।२८९)

अर्थ—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नही होता है, वह उसका कारण होता है।

'यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात् ।' (धवल पु. १४ पृ. १३)

अर्थ—जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है। यह कार्यकारण भाव के ज्ञाता कहते है, ऐसा न्याय है।

कार्य-कारण भाव की इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि तीर्थंकर आदि प्रकृतियो का बध सम्यग्दर्शन आदि के सद्भाव मे होता है और सम्यग्दर्शन आदि के अभाव मे मिथ्यादृष्टि के तीर्थंकर आदि प्रकृतियो का बन्ध नही होता है इसीलिये **श्री अमृतचन्द्र** आदि आचार्यों ने तीर्थंकर आदि प्रकृतियो के बन्ध का कारण सम्यग्दर्शन आदि को बतलाया है।

तीर्थंकर आदि प्रकृतियो का कारण मात्र सम्यग्दर्शन नही है किन्तु राग का सद्भाव भी कारण है, क्योकि राग के सद्भाव मे ही तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध होता है, राग के अभाव मे वीतराग सम्यग्दृष्टि के तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध नही होता।

यदि कहा जाय कि एक कार्य का एक ही कारण होता है, सो भी ठीक नही है, क्योकि कार्य मात्र एक कारण से उत्पन्न नही होता किन्तु अनेक कारणो रूप अखिल अनुकूल सामग्री से और प्रतिकूल कारणो के अभाव मे उत्पन्न होता है। कहा भी है—

'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम् ।' (आप्त-परीक्षा कारिका ९)

अर्थात्—सामग्री (जितने कार्य के जनक होते है उन सबको सामग्री कहा जाता है) कार्य की उत्पादक है, एक ही कारण कार्य का उत्पादक नही है।

'कारण-सामग्गीदो उप्पज्जमाणस्स कज्जस्स वियलकारणादो समुप्पत्तिविरोहा ।'

अर्थ—कारणसामग्री से उत्पन्न होनेवाले कार्य की विकल कारणो से उत्पत्ति का विरोध है।

'कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् ।' (रा वा ५।१७।३१)

अर्थ—कार्य की उत्पत्ति अनेक कारणो से होती है। अनेक कारणो मे कार्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति आदि के बन्ध मे राग भी कारण है और सम्यग्दर्शन आदि भी कारण है। जैसे मछली की गति मे जल भी कारण है और धर्म-द्रव्य भी कारण है, रागादि की उत्पत्ति मे अशुद्ध जीव भी कारण है और कर्मोदय भी कारण है।

अनेक कारणो मे से कही पर किसी एक कारण की मुख्यता से कथन होता है और कही पर अन्य कारण की मुख्यता से कथन होता है, किन्तु इस मुख्यता का यह अभिप्राय है कि अन्य कारण गौण हैं अथवा उनकी विवक्षा नहीं है, उन अन्य कारणो का अभाव इष्ट नही होता है। **'अर्पितानर्पितसिद्धे. ॥५।३२॥'** (त. सू.)

जैसे माता-पिता दोनो के सयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है। किन्तु विवक्षा-वश कोई उस पुत्र को पिता का कहता है और कोई उसको माता का कहता है। श्री 'समयसार' की टीका में कहा भी है।

'एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्यया शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटं। कस्मात्? पुद्गलकर्मोदय-संभवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्न पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति, इति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्, ये केचन वदन्त्येकांतेन रागादयो जीवसम्बन्धिन पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या। कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात्॥'

(समयसार गा. १११ की टीका)

यहाँ पर पुत्र का दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि 'जिस प्रकार से स्त्री तथा पुरुष दोनो के संयोग से उत्पन्न हुए एक ही पुत्र को विवक्षा के वश से कोई तो उस पुत्र को देवदत्ता-माता का कहता है और कोई देवदत्त पिता का कह देता है। इसमे कोई दोष नही है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व-रागादि भाव अशुद्ध निश्चय नय से चेतन रूप हैं, जीव के है और शुद्ध निश्चय नय से अचेतन है, पौद्गलिक है। एकान्त से न जीवरूप हैं और न पुद्गल रूप है, जैसे चूना और हल्दी के सयोग से रक्त वर्ण उत्पन्न हो जाता है। जो इन मिथ्यात्व-रागादि को जीवरूप ही है या पुद्गल ही है, ऐसा एकान्त से कहते है, उनके वचन मिथ्या (झूठे) हैं, क्योकि स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त के समान इन रागादि की उत्पत्ति जीव और पुद्गल दोनो के सयोग से हुई है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व आदि और रागादि के सयोग से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध होता है। विवक्षा-वश कही पर सम्यक्त्व आदि से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध कहा गया है और कही पर रागादि से तीर्थंकर आदि का बन्ध कहा गया है, नय-ज्ञाताओ के लिए इसमे कोई दोष नही है। एकान्त से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध न मात्र सम्यक्त्व आदि से होता है और न मात्र रागादि से होता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने स्वय 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' मे कहा भी है—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय॥२१७॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र से तीर्थंकर और आहार शरीर का बन्ध होता है, ऐसा जो आगम मे उपदेश दिया गया है, वह नय के जानने वालो को दोष के लिए नही है अर्थात् नय के जाननेवालो को उसमे कोई शंका उत्पन्न नही होती है।

सति सम्यक्त्वचारित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्॥ १२८॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र के होने पर ही योग और कषाय तीर्थंकर व आहारक का बन्ध करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व व चारित्र न होते पर योग और कषाय तीर्थंकर व आहार का बन्ध नही कर सकते। इसलिए सम्यक्त्व व चारित्र इसमें उदासीन हैं प्रेरक नही हैं।

जीव और पुद्गल धर्मद्रव्य के सद्भाव मे ही गमन करते है, उसके अभाव मे वे गमन नही कर सकते इसलिये गतिहेतुत्व लक्षण वाला धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति मे उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नही है। उसी प्रकार सम्यक्त्व व चारित्र के सद्भाव मे ही योग और कषाय तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध कर सकते है और सम्यक्त्व व चारित्र के अभाव मे योग व कषाय उसका बन्ध नही कर सकते, इसीलिये धर्मद्रव्य के समान सम्यक्त्व व चारित्र को उदासीन कारण कहा है, प्रेरक कारण नही कहा है।

इस प्रकार **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** के **'तत्त्वार्थसार'** व **'पुरुषार्थसिद्धयुपाय'** इन दोनो ग्रन्थो के कथनो मे कोई विरोध नही है। जिनको नय-विवक्षा का ज्ञान नही है अथवा जिनकी एकान्तदृष्टि है, उनको ही **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** के दोनो कथनो मे विरोध प्रतिभासित होता है।

शंकाकार ने जो **'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' का श्लोक २१५** अपनी शका मे उद्धृत किया है उससे भी **'तत्त्वार्थसार'** के इस कथन मे कि दर्शन व चारित्र से तीर्थंकर आदि का बन्ध होता है, कोई बाधा नही आती, क्योकि **श्लोक २१५** में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कथन है। **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** अर्थात् शुद्ध निश्चय नयसे सब जीव शुद्ध हैं अथवा **'सुद्धणया सुद्धभावाणं'** शुद्ध नय मे जीव शुद्ध भावो का कर्ता है अर्थात् बन्ध का कर्ता नही है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है कि रत्नत्रय से बध भी होता है और मोक्ष भी होता है—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बधो व मोक्खो वा ॥१६४॥ (पंचास्तिकाय)

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं, इसलिये वे सेवने योग्य हैं ऐसा साधुओ ने कहा है परन्तु उनसे बध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

इसकी टीका मे **अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है—

'यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी पर-समय प्रवृत्ति के साथ मिलित हो (यदि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर-समय अर्थात् ये तीनो अन्तरात्मा के आश्रय हो) तो, अग्नि के साथ मिलित घृतकी भाँति, कथचित् विरुद्ध कार्य के कारणपने की व्याप्ति के कारण, बन्ध के कारण भी हैं। जब वे दर्शन-ज्ञान-चारित्र समस्त परसमय (अन्तरात्मा) की प्रवृत्ति से निवृत्त होकर स्वसमय (परमात्मा) की प्रवृत्ति के साथ सयुक्त होते है तब, अग्नि के मिलाप से निवृत्त घी के समान, विरुद्ध कार्य-कारण भाव का अभाव होने से, साक्षात् मोक्ष का कारण होते है।

इस प्रकार अन्तरात्मा के आश्रित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वे बंध के भी कारण है और सवर-निर्जरा के भी कारण हैं तथा परम्परया मोक्ष के भी कारण हैं।

शंकाकार का यह कहना कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के ही कारण है, बंध के कारण नही है, ठीक नही है, क्योकि ऐसा एकान्त नही है।

(७) शुभ परिणामों से अतिशय पुण्यबंध

शंका—शुभ परिणामों से पुण्यबन्ध होता है। पुण्य से भोगोपभोग की सामग्री मिलती है। भोगोपभोग में आसक्त होकर जीव संसार में भ्रमण करता है, अतः पुण्य हेय है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि के तो अशुभ परिणाम होता है। कहा भी है—

'मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग.।' (प्रवचनसार गा० ९ टीका)

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान, सासादन गुणस्थान और सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान इन तीनों गुणस्थानों मे तरतमता से अशुभोपयोग है।

इससे सिद्ध है कि शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के होता है। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग से जो अतिशय पुण्यबंध होता है वह मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नही है। कहा भी है—

सम्मादिट्ठिपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४॥
अकयणियाणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥४०५॥ (भावसंग्रह)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नही होता, यह नियम है। यदि निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। जिस सम्यग्दृष्टि के शुभ परिणाम हैं और शुभ लेश्याएँ हैं तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करनेवाला है, ऐसा सम्यग्दृष्टि यदि निदान नही करता है तो वह मरकर स्वर्गलोक मे ही जाता है।

किं दाणं मे दिण्णो केरिसपत्ताण काय सु भत्तीए।
जेणाहं कयपुण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥४१७॥
इय चिंततोपसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण।
जाणइ सो आइभव विहिय धम्मप्पहावं च ॥४१८॥
पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो।
वंदेइ जिणवराणं णंदीसर पहुइ सव्वाइं ॥४१९॥
इय बहुकाल सग्गे भोग भुजंतु विविहरमणीयं।
चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥४२०॥
उत्तमकुले महंतो बहुजणणमणीय संपयाउरे।
होऊण अहियरूवो बलजोव्वण रिद्धिसपुण्णो ॥४२१॥
तत्थ वि विविहे भोए णरखेत्तभवे अणोवमे परमे।
भुंजित्ता णिव्विण्णो संजमयं चेव गिण्हेई ॥४२२॥
लद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवलणाणं जहखाइयं संजमं सुद्धं ॥४२३॥
तम्हा सम्मादिट्ठीपुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥४२४॥

अर्थ—देव विचारता है कि मैंने पूर्व भव मे किस पात्रको और कैसी भक्ति के साथ दान दिया था, जिसके पुण्य-उपार्जन से देवलोक मे उत्पन्न हुआ हूँ। इस प्रकार चिन्तवन करके वह देव भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व भव

को और की गई धर्म प्रभावना को जान लेता है। वह सम्यग्दृष्टि देव पुन अपने मनमे उसी धर्म का श्रद्धान करता है जिस धर्म के प्रभाव से वह देव हुआ था और नन्दीश्वर द्वीप आदि मे जिन प्रतिमाओ की वदना करता है। इस प्रकार वह स्वर्ग मे बहुत काल तक अनेक प्रकार के सुन्दर भोगो को भोगता है और आयु पूर्ण होने पर च्युत होकर इस मनुष्य लोक मे उत्पन्न होता है। बहु-जन-माननीय, महत्वशाली, धनवान् कुल मे उत्पन्न होता है और बहुत सुन्दर शरीर तथा बल, ऋद्धि, यौवन आदि से परिपूर्ण होता है। मनुष्यलोक मे भी सर्वोत्कृष्ट अनुपम तथा नाना प्रकार के भोगों का भोग करके विरक्त हो सयम धारण कर लेता है। यदि चिरकाल के सचित किये हुए पुण्य-कर्मोदय से चरमशरीरी हुआ तो शुद्ध यथाख्यात चारित्र को धारण करके केवलज्ञान को प्राप्त कर नियम से सिद्ध होता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यह जानकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य उपार्जन करते रहना चाहिए ॥४३४॥

'निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति।' (समयसार पृ० १८६)

अर्थ—निश्चयसम्यग्दर्शन के अभाव मे जब सराग सम्यक्त्व को धारण करता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परपरया मोक्ष के कारणभूत तीर्थंकर आदि पुण्यकर्मों को बाँधता है।

अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिः, सर्वदा हृदये धृताः।
कुर्वते तत्पर पुण्य हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥६।५८॥ (प. प. वि.)

अर्थ—सज्जनो के द्वारा सदा हृदय मे धारण की गई ये बारह भावनाएँ उस उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करती हैं जो स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं।
ज जणइ पुरो केवलदसणणाणाइं णयणाइं ॥१४।१६॥ (प. प. वि.)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है, जो भविष्य मे केवल दर्शन और केवलज्ञान को उत्पन्न करता है।

'पुण्ण-कम्म-बंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं, ण मुणीणं कम्मक्खयकंखुवाणमिदि ण व त्तुं जुत्तं, पुण्णबंध-हेउत्तं पडि विसेसाभावादो, मंगलस्सेव सरागसंजमस्स वि परिच्चागप्पसंगादो। ण च एवं, तेण संजम-परिच्चागप्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभावप्पसंगादो ॥' (जयधवल पु० १, पृ० ८)

अर्थ—यदि कहा जाय कि पुण्यकर्म बाँधने के इच्छुक देशव्रतियो को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियो को मगल करना युक्त नही है ? सो ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि पुण्यबंध के कारणों के प्रति देशव्रती और मुनि मे कोई विशेषता नही है। अर्थात् पुण्य के बन्ध के कारणभूत कार्यों को जैसे देशव्रती करता है वैसे ही मुनि भी करता है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियो को मगल के परित्याग के लिये कहा जा रहा है, उसी प्रकार उनके सरागसयम के भी परित्याग का प्रसग प्राप्त होता है, क्योकि देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबन्ध का कारण है। यदि कहा जाय कि मुनियो के सरागसयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होने दो ? सो भी बात नही है, क्योकि मुनियों के सरागसयम के परित्याग का प्रसग प्राप्त होने से उनके मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यहाँ पर **श्री वीरसेन आचार्य** ने यह स्पष्ट कर दिया है कि **सरागसंयम के बिना विशिष्ट पुण्यबन्ध नहीं हो सकता है।** और विशिष्ट पुण्योदय के अभाव मे मोक्ष भी नही हो सकती है। इसीलिये यह कहा गया है कि 'सरागसंयम के परित्याग का प्रसग प्राप्त होने से मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसग प्राप्त होता है।'

इसी बातको **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** ने **'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय'** मे कहा है —

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपाय ॥२११॥

अर्थ—सम्पूर्ण रत्नत्रय के भावने वाले (धारण करने वाले) के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध विपक्ष (असम्पूर्णता जघन्यता) कृत है। वह कर्म-बन्धन अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नही है।

असमग्र रत्नत्रयवालो के तीर्थंकर आदि कर्मप्रकृतियो का बन्ध होता है। वे तीर्थंकर आदि कर्म-प्रकृतियाँ मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नही है, जैसा कि **'पचास्तिकाय गाथा' ८५** की टीका मे कहा भी है—

'रागादिदोष-रहित शुद्धात्मानुभूति-सहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहित-परिणामोपार्जित-तीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्ट-पुण्यरूप-धर्मोपि सहकारिकारणं भवति।'

अर्थ—*यद्यपि भव्य को रागादि दोष रहित शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चय धर्म सिद्ध गति के लिये उपादान कारण है तथापि निदानरहित, परिणामो से उपार्जित, तीर्थंकर कर्म प्रकृति, उत्तम सहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्ध गति के लिए सहकारी कारण होता है।*

इस आगम प्रमाणसे भी सिद्ध है कि असमग्र रत्नत्रयवालो के जो विशिष्ट पुण्य कर्म, बन्ध होता है— वह मोक्ष का उपाय (कारण) है, बन्ध का उपाय (कारण) नही है। इसका विशेष कथन प्रकरण सख्या मे है।

(८) 'समयसार' ग्रन्थकी अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—१. श्री 'समयसार' के पुण्य-पाप अधिकार में तथा गाथा १३ की टीका मे पुण्य-पाप दोनो को समान कहा है, फिर पुण्य-पाप मे भेद क्यों दिखाया जा रहा है ?

समाधान—१. आचार्य प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ मे यह बतला देते है कि इस ग्रन्थ मे किसका कथन किया जायगा। यदि उसे दृष्टि मे रखकर ग्रन्थ का अध्ययन किया जाय तो ग्रन्थ का यथार्थ अर्थ समझने मे कठिनाई नही होती। जैसे 'षट्खडागम' के प्रारम्भ मे यह स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थ मे भाव-मार्गणा की अपेक्षा कथन है। यदि इसे भूलकर 'षट्खडागम' के कथन को द्रव्य मार्गणाओ मे लगाने लगें तो वह 'षट्खडागम' का यथार्थ अर्थ नही समझ सकता।

इसी प्रकार **'समयसार' की गाथा ५ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने यह प्रतिज्ञा की है कि इस ग्रन्थ मे एकत्वविभक्त आत्मा का कथन होगा, क्योकि काम-भोग और बन्ध का कथन सुलभ है किन्तु एकत्वविभक्त आत्मा की कथा सुलभ नही है। एकत्वविभक्त आत्मा के कथन के साथ बन्ध का कथन करना उचित नही है (**'समयसार' गाथा ३ व ४**)। यदि गाथा ३-४-५ को ध्यान मे रखकर **'समयसार'** का अध्ययन किया जाय तो **'समयसार'** का यथार्थ भाव समझ मे आ सकता है, अन्यथा नही।

'समयसार' गाथा ६ मे कहा है कि 'जीव न प्रमत्त है **और न अप्रमत्त है अर्थात् न** ससारी **और न मुक्त है।'** यह कथन एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा तो सत्य है, भूतार्थ है, किन्तु सर्वथा सत्य नही है, **क्योकि** ससारी जीव प्रत्यक्ष देखने मे आ रहे हैं। **श्री उमास्वामी आचार्य** ने भी **'तत्त्वार्थसूत्र'** के दूसरे अध्याय मे **'संसारिणो मुक्ताश्च।'** सूत्र द्वारा जीव ससारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार के बतलाये हैं तथा **'रयणसार'** मे **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने जीव को बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीन प्रकार का बतलाया है। यदि **'समयसार' गाथा ६** के कथन को एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा न लगाकर सर्वथा सत्य मान लिया जाय तो मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जायगा।

'समयसार' गाथा ७ मे कहा है कि 'जीव के न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। व्यवहारनय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र कहे गये हैं।' **गाथा ११** मे व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, यह कथन एकत्वविभक्त-आत्मा की अपेक्षा सत्यार्थ है। यदि इस कथन को सर्वथा सत्यार्थ मान लिया जाय तो **श्री उमास्वामी आचार्य का 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग'** यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा।

'समयसार' गाथा १३ की टीका में जहाँ पर पुण्य-पाप को जीव के विकार कहा है, वहाँ पर मोक्ष को भी जीव का विकार कहा है। वह वाक्य इस प्रकार है—

'केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणा।'

अर्थ—पुण्य-पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष जिसका लक्षण है ऐसा केवल (अकेले) जीव का विकार है।

यदि कोई इस वाक्य से यह फलितार्थ करे कि पुण्य-पाप सर्वदा समान है तो उसको यह भी स्वीकार करना होगा कि आस्रव-बध-सवर-निर्जरा-मोक्ष ये सब भी सर्वथा समान है। किन्तु जिस प्रकार जीव विकार की अपेक्षा आस्रव-बन्ध-सवर-निर्जरा-मोक्ष ये सब समान है, उसी प्रकार जीवविकार की अपेक्षा पुण्य-पाप भी समान हैं। जिस प्रकार आस्रव-बन्ध-सवर-निर्जरा-मोक्ष मे अन्तर है, सर्वथा समान नही हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप मे भी अन्तर है, सर्वथा समान नही हैं।

'समयसार' पुण्य-पाप अधिकार मे दृष्टान्त दिया है कि एक ही माता के उदर से दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमे से एक ब्राह्मण के यहाँ पला और दूसरा शूद्र के यहाँ पला। जो ब्राह्मण के यहाँ पला वह तो मद्य आदि का त्याग कर देता है अर्थात् श्रावक के अष्ट मूलगुण पालन कर धर्म-मार्ग पर लग जाता है और जो शूद्र के यहाँ पला था वह नित्य मदिरा आदि का सेवन करता है अर्थात् जैनधर्म से विमुख रहता है तथा धर्मोपदेश का पात्र भी नहीं होता। एक ही माता के उदर से उत्पन्न होने के कारण समान होते हुए भी, दोनो मे बहुत अन्तर है, क्योकि एक धर्ममार्गी है और एक धर्म से विमुख है। इस प्रकार पुण्य और पाप दोनो का उपादान कारण एक होने पर भी उनमे बहुत अन्तर है, क्योकि पुण्योदय [उत्तम सहनन, उच्चगोत्र, तीर्थंकर प्रकृति आदि] मोक्षमार्ग मे सहकारी है और पापोदय [हीन सहनन, नीच गोत्र आदि] मोक्षमार्ग मे बाधक है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'समयसार' गाथा १४५** की टीका में कहा भी है—

"शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ"

अर्थात्—**शुभ** (पुण्य) मोक्षमार्ग है और अशुभ (पाप) बन्धमार्ग है।

इस प्रकार 'समयसार' ग्रन्थ मे पुण्य व पाप को किन्ही अपेक्षाओ से समान बतलाते हुए भी उनमें मोक्ष-मार्ग व ससारमार्ग की अपेक्षा अन्तर बतलाया है।

(६) पंचास्तिकाय' ग्रन्थ की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'पञ्चास्तिकाय' गाथा १३२ मे शुभ से पुण्य आस्रव का कथन करके गाथा १३५ में शुभ के तीन भेद किये हैं—(१) प्रशस्त राग, (२) अनुकम्पा, (३) अकलुषता। इन तीनो का स्वरूप गाथा १३६, १३७ व १३८ मे कहा गया है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥
अरहंत-सिद्ध-साहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥
तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१३७॥
कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ॥१३८॥

अर्थ—जिस जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पायुक्त परिणाम और अकलुषता है उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है ॥१३५॥ अर्हंतसिद्ध-साधु की भक्ति, सरागचारित्र रूप प्रवृत्ति, गुरुओ के अनुकूल चलना यह प्रशस्तराग है, ऐसा आचार्य कहते हैं ॥१३६॥ जो कोई प्यासे-भूखे तथा दुखी को देखकर दुखी होता हुआ दयाभाव से उसका दुख दूर करता है उसके यह अनुकम्पा होती है ॥१३७॥ जिस समय क्रोध, मान, माया, लोभ चित्तमे उत्पन्न हो करके आत्मा के भीतर आकुलता पैदा कर देते हैं, वह आकुलता कलुषता है, इस कलुषता का अभाव अकलुषता है ॥१३८॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'पञ्चास्तिकाय' की उपर्युक्त गाथाओ में पुण्य आस्रव के तीन कारण बतलाये हैं—(१) प्रशस्तराग, (२) अनुकम्पा, (३) अकलुषता। तीनो ही सम्यग्दर्शन के गुण हैं। 'प्रशस्त राग' सवेग और भक्ति का नामान्तर है। 'अकलुषता' उपशम या प्रशम का पर्यायवाची है। सम्यग्दर्शन के आठ गुण इसप्रकार है—

संवेगो णिव्वेओ णिंदा गरहा उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकम्पा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥४९॥ (वसु श्राव.)

अर्थ—सम्यग्दर्शन के होने पर सवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥४९॥

इनका लक्षण इस प्रकार है—

धर्मे धर्मफले च परमा प्रीतिः संवेगः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु तद्वत्सु च भक्तिः। रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः। जीवेषु दयालुताऽनुकम्पा।

अर्थात्—धर्म और धर्म के फल मे उत्कृष्ट प्रीति अर्थात् अनुराग सवेग गुण है। सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रमें और इनके धारण करने वालों मे भक्ति का होना सो भक्ति गुण है। रागादि अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय

का अनुद्रेक अर्थात् कलुषता का न होना वह प्रशम अथवा उपशम गुण है। जीवो को दुखी देखकर उन-उन के दुःख दूर करने के लिये जो दयारूप परिणाम है, वह अनुकम्पा गुण है।

सम्यग्दर्शन के जो सवेग-भक्ति, प्रशम-उपशम तथा अनुकम्पा गुणो के जो लक्षण ऊपर कहे गये है, **श्री कुन्दकुन्दआचार्य** ने वे ही लक्षण पुण्य आस्रव के कारणभूत प्रशस्त राग, अनुकम्पा और अकलुषता के **'पंचास्तिकाय' गाथा १३६, १३७, १३८** मे कहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि पुण्य-आस्रव के कारणभूत प्रशस्तराग, अनुकम्पा और अकलुषता ये सम्यग्दर्शन के गुण होने से मोक्ष-मार्ग मे सहकारी कारण है।

अर्थात्— पुण्य मोक्ष-मार्ग मे सहकारी कारण है। यही बात **'समयसार'** मे **'शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ'** इन शब्दो द्वारा कही गई है।

(१०) प्रवचनसार की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

'पञ्चास्तिकाय' गाथा १३२ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'सुहपरिणामो पुण्णं' इन शब्दो द्वारा जीव के शुभ परिणामो को पुण्य कहा है। उस शुभोपयोग का लक्षण **'प्रवचनसार'** मे इस प्रकार कहा है—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

अर्थ—अरहत आदि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवो के प्रति वात्सल्य यह शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है।

अब **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** कहते हैं कि शुभोपयोगी श्रमण जीवो को ससार से तार देते है।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥ (प्रवचनसार)

अर्थ—अशुभोपयोग से रहित, शुद्धोपयोगी अथवा शुभोपयोगी श्रमण लोगो को [ससार से] तार देते है।

इसी बात को **'प्रवचनसार' (रायचन्द्रग्रन्थमाला)**, पृष्ठ ९० पर निम्नलिखित गाथा मे कहा है—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥

अर्थ—जो मनुष्य अरहन्तदेव को नमस्कार करता है वह मनुष्य अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त करता है। अरहन्त देव इन्द्रों द्वारा आराध्य हैं, यतिवरवृषभ है, और तीन लोक के गुरु हैं। अर्थात् शुभोपयोग मोक्ष के लिये कारण है।

शंका—'प्रवचनसार' गाथा ७७ में तो यह कहा है कि 'पुण्य-पाप में भेद नहीं है, जो ऐसा नहीं मानता वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयानक अपार संसार में भ्रमण करता है।' फिर पुण्य मोक्ष के लिये किस प्रकार कारण हो सकता है? गाथा ७७ इस प्रकार है—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

समाधान—प्रवचनसार गाथा ७७ में कथन शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से है। शुद्ध निश्चयनय का विषय पुण्य-पाप से रहित परमात्म जीव द्रव्य है। किन्तु अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा भेद है। इस गाथा की टीका में कहा भी है—

'द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः। शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनो भिन्नत्वाद्भेदो नास्ति।'

अर्थ— व्यवहारनय से द्रव्य पुण्य-पाप में भेद है। अशुद्ध निश्चयनय से भाव पुण्य-पाप में भेद है और उनके फल सुख-दुःख में भी भेद है। पुण्य और पाप दोनों ही शुद्ध-आत्मा से भिन्न हैं इसलिये शुद्ध-निश्चय नय से पुण्य और पाप इन दोनों में भेद नहीं है।

इस कथन से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि पुण्य और पाप में भेद भी है और अभेद भी है, सर्वथा समान नहीं हैं। यद्यपि पुण्य शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है, तथापि शुद्धात्म-प्राप्ति में सहकारी अवश्य है। क्योंकि जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है।

(११) 'अष्टपाहुड' की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—'भावप्राभृत' गाथा ८१ व ८२ में बतलाया गया है कि जिससे सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है, वह पुण्य है और जिससे कर्मक्षय होकर मोक्ष मिलता है, वह धर्म है। इससे यह स्पष्ट है कि पुण्य या शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं है। (देखो जैन संदेश २४-११-६६)

समाधान—'भावप्राभृत' गाथा ८१ इस प्रकार है—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८१॥

इस गाथा में आत्मा के मोह व क्षोभ से रहित परिणामों को धर्म की संज्ञा दी है। **'प्रवचनसार' गाथा ७वीं** में भी यही कहा है कि चरित्र वास्तव में धर्म है, जो दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अत्यन्त निर्विकार परिणाम है। आत्मा के यह मोह-क्षोभ से रहित अत्यन्त निर्विकार परिणाम क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में होता है, क्योंकि समस्त मोहनीय कर्म का क्षय (नाश) बारहवें गुणस्थान में होता है अर्थात् बारहवें गुणस्थान में क्षायिक चारित्ररूप धर्म होता है। बारहवें गुणस्थान से अधस्तन गुणस्थानों में रत्नत्रय है उसको **'भावपाहुड'** की गाथा ८ में पुण्य की संज्ञा दी है। क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थान तक रत्नत्रय से पुण्यबन्ध होता है। यद्यपि दसवें गुणस्थान तक रत्नत्रय से पुण्य बंध होता है तथापि वह रत्नत्रय इस जीव को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में धरता है, इस अपेक्षा से वह भी धर्म है। इसीलिए **श्री पद्मनन्दि आचार्य** ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है—

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रयं।
रत्नानि परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः ॥
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसंगोज्झिता।
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥१।७॥ (पद्मनन्दि पंचविंशति)

अर्थ—प्राणियों पर दया भाव रखना, यह धर्म का स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ (श्रावक) और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का है। वही धर्म उत्तम क्षमादि के भेद से दस प्रकार का है। मोहनीय कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले मानसिक विकल्पसमूह (मोह-क्षोभ) से रहित तथा वचन एवं शरीर के संसर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनन्द रूप आत्मा की परिणति होती है, वह धर्म नाम से कही जाती है।

'भावपाहुड़' गाथा ८१ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने दसवें गुणस्थान तक के रत्नत्रय रूपी धर्म को पुण्य की संज्ञा दी है, क्योंकि इससे सातिशय पुण्य का बन्ध होता है और वह तीर्थंकर प्रकृति आदिरूप पुण्य-बन्ध मोक्ष के लिये सहकारी होता है। गाथा ८१ की टीका मे श्री श्रुतसागर आचार्य ने कहा है—

'सर्वज्ञवीतराग-पूजालक्षणं तीर्थंकरनामगोत्र-बंधकारणं विशिष्टं निर्निदान-पुण्यं पारम्पर्येण मोक्ष-कारणं गृहस्थानां श्रीमद्भिर्भणितं।'

अर्थ—आचार्यों ने गृहस्थियो के ऐसा विशिष्ट पुण्य बतलाया है जो तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। उस विशिष्ट पुण्य का लक्षण सर्वज्ञ वीतराग की पूजा है।

इस प्रकार 'भावपाहुड़' गाथा ८१ से यह सिद्ध होता है कि पुण्य मोक्ष का कारण है। 'भावपाहुड' की गाथा ८२ इस प्रकार है—

> सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
> पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८२॥

इसकी संस्कृत टीका यो है—

'श्रद्दधाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति। प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्तत्प्रतिपद्यते। रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिं करोति। मोक्षार्थित्वात्तत्साधनतया स्पृशति अवगाहयति। एतत्पूजादिलक्षणं पुण्यं मोक्षार्थितया क्रियमाणं साक्षात् भोगकारणं स्वर्गस्त्रीणामालिंगनादिकारणं तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिंगेन। न भवति स्फुटं निश्चयेन साक्षात्तद्भवे गृहस्थलिंगेन कर्मक्षयनिमित्तं-तद्भवे केवलज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्तं पुण्यं न भवतीति ज्ञातव्यं।'

अर्थात्—गृहस्थ श्रद्धान करता है, रुचि करता है, प्रतीति करता है, स्पर्श करता है, कि पुण्य मोक्ष का हेतु है, कारण है, साधन है। मोक्षार्थी द्वारा किया गया पूजा आदि रूप पुण्य साक्षात् स्वर्गादि के भोगका कारण है। तीसरे भव मे निर्ग्रन्थ लिंग द्वारा मोक्ष का कारण है। यह निश्चित है कि गृहस्थ के उसी भवसे वह पुण्य कर्मक्षयका निमित्त नही होता है। अर्थात् उसी गृहस्थ भवसे केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिये। मोक्ष का साक्षात् कारण मुनिलिंग-निर्ग्रन्थ लिंग है, गृहस्थलिंग साक्षात् कारण नहीं है।

इस गाथा में तो यह बतलाया है कि गृहस्थ का जिनपूजादिरूप पुण्य परम्परासे मोक्ष का कारण है, क्योंकि गृहस्थलिंग से मोक्ष नहीं हो सकता, इसलिये वह पुण्य साक्षात् मोक्षका कारण नहीं है। इसी 'भावपाहुड़' की गाथा १५१ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि जिनेन्द्र की भक्ति रूपी पुण्य से संसार के मूल का नाश होता है। वह गाथा इस प्रकार है—

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनभगवान के चरणकमलो को नमस्कार करते हैं, वे उत्तम भावरूप हथियार से संसार रूप बेल को जड़ से उखाड देते हैं।

पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥१४॥ (रयणसार)

अर्थ—जो शुद्ध मन से पूजा करता है तथा दान देता है वह जिनपूजा रूपी पुण्य के फल से तीनलोक से तथा देवो से पूजा जाता है अर्थात् अरहत देव होता है और दानरूप पुण्य से तीन लोक का सार सुख अर्थात् मोक्ष-सुख भोगता है।

ऐसा **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने इस गाथा मे कहा है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य का इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी **'भावपाहुड'** गाथा ८२ की संस्कृत टीका के अनुसार **अर्थ** न करके जिनपूजा, दान आदि पुण्य (धर्म) कार्यों से श्रावको को विमुख करना उचित नही है।

(१२) 'परमात्मप्रकाश' की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—'परमात्मप्रकाश' दूसरा अधिकार गाथा ५३-५५, ५७-५८ और ६० में यह बतलाया गया है कि जो पुण्य-पाप को समान न जानकर पुण्य से मोक्ष मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। क्या यह कथन ठीक नहीं है ?

समाधान—**'परमात्मप्रकाश'** दूसरे अधिकार मे **गाथा ५३** से **गाथा ६३** तक निश्चयनय की अपेक्षा पुण्य-पाप का कथन है और **गाथा ६४-६६** मे व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण का कथन है, कहा भी है—

'अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते।'

अर्थ—आगे निश्चयनय की अपेक्षा से पुण्य-पाप दोनो समान है, इत्यादि कथन करते है।

बंधहं मोक्खहं हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।
सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ॥२।५३॥

अर्थ—निज भाव, बध व मोक्ष के कारण हैं जो कोई यह नही जानता, वह मिथ्यादृष्टि जीव मोह से पुण्य और पाप को करता रहता है।

इस गाथा मे मात्र यह बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव बध व मोक्ष के कारणो को न जानता हुआ, पुण्य-पाप से रहित मोक्ष को न प्राप्त करके पुण्य-पाप का बन्ध करता रहता है।

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥२।५५॥

अर्थ—जो जीव निश्चयनय से पुण्य और पाप दोनो को समान नही मानता वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुःख सहता हुआ ससार मे भटकता है।

'पुण्य और पाप दोनों समान हैं' यह कथन वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थित मुनि की अपेक्षा से है। इसका विचार श्री ब्रह्मदेव सूरि ने टीका मे इस प्रकार किया है—

'अत्राह प्रभाकरभट्ट —तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह-यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतराग-निर्विकल्पसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्ता गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा सन्त तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥५५॥

अर्थ—'पुण्य और पाप समान हैं' यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोला—यदि ऐसा ही है, तो जो कितने लोग पुण्य-पाप को समान मानते हैं, उनको तुम दोष क्यो देते हो ? तब **श्री योगीन्द्र देव** ने कहा यदि गुप्ति से गुप्त शुद्धात्मानुभूति-स्वरूप वीतराग निर्विकल्पसमाधि मे ठहरकर पुण्य पाप को समान जानते हैं तो योग्य है। परन्तु जो इस निर्विकल्पसमाधि को न पाकर भी पुण्य-पाप को समान जानकर गृहस्थ-अवस्था मे दान-पूजा आदि शुभ क्रियाओ को छोड देते हैं और मुनिपद मे छह आवश्यक कर्मों को छोड देते हैं, वे दोनो बातों से भ्रष्ट है। वे निन्दा योग्य हैं। उनको दोष ही है, ऐसा जानना।

गाथा ५७ मे बतलाते है कि निदान बन्ध मे उपार्जित पुण्य जीव को राज्यादि विभूति देकर नरकादि दु ख उत्पन्न कराते हैं, इसलिये ऐसे पुण्य अच्छे नही हैं।

मं पुण्णु पुण्णइं भल्लाइं णाणिय ताइं भणंति ।
जीवह रज्जइं देवि लहु दुक्खइं जाइं जणंति ॥२।५७॥

संस्कृत टीका—निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते । रावणादिवत् । तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति । ये पुनर्निदानरहितपुण्यसहिता पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादिवदिति भावार्थः ।' ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निनिदाना भवान्तरे' इत्यादि वचनात् ॥५७॥

अर्थ—निदान बन्ध से उपार्जन किये गये पुण्य जीव को दूसरे भवमे राज्यसम्पदा देते हैं। उस राज्यविभूति को पाकर अज्ञानी जीव विषय-भोगो को छोड नही सकता, उससे नरकादि के दु:ख पाता है, रावण आदि की तरह, इसलिये अज्ञानियो का पुण्य हेय है। जो निदानरहित और पुण्यरहित पुरुष हैं वे दूसरे भव मे राज्यादि भोगो को पाते हैं तो भी भोगो को छोडकर जिन-दीक्षा धारण करके ऊर्ध्व-गति को जाते हैं, बलदेव आदि की तरह। निदान बन्ध नही करते हुए महामुनि महान् तप करके भवान्तर मे स्वर्गलोक जाते हैं, वहाँ से चलकर बलभद्र होते हैं। वे देवो से भी अधिक सुख भोग कर राज्यका त्याग करके मुनिव्रत धारण करके या तो मोक्ष जाते हैं या बड़ी ऋद्धिके देव होकर फिर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानियो का पुण्य हेय नहीं है।

गाथा ५८ मे कहा है कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीव को मरण भी सुखकारी है और सम्यक्त्व के बिना पुण्य अच्छा नहीं है।

वर णियदंसणअहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।
मा णियदंसणविम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥२-५८॥

संस्कृत टीका—सम्यक्त्वरहिता जीवा पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते। सम्यक्त्वसहिता पुनः पूर्वभवान्तरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन, तेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम्। सम्यक्त्व-रहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति। कस्मात् ? तेन निदानबद्धपुण्येन भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा पश्चान्नरकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः ॥५८॥

अर्थ—सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-सहित है तो भी पापी जीव हैं। जो सम्यक्त्वसहित है किन्तु पूर्व भव मे उपार्जित पाप-कर्म को भोग रहे है, वे पुण्य जीव है। इसलिए जो सम्यक्त्वसहित है उनका मरना भी अच्छा है। क्योकि मरकर उर्ध्व गति मे जावेंगे। सम्यक्त्व-रहित का पुण्य भी अच्छा नही है। क्योकि वे निदान-बन्ध सहित पुण्य से भवान्तर मे भोगो को भोगकर नरकादि मे जाते हैं।

गाथा ६० मे मिथ्यादृष्टियो के पुण्य का निषेध करते हैं—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥६०॥

संस्कृत टीका—इवं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेद-रत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगकाक्षारूपनिदानबन्ध-परिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहं कारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुन सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरत-सगरपाण्डवादिपुण्य बन्धवत्। यदि पुन सर्वेषां मद जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादि-विकल्पम् त्यक्त्वा मोक्ष गता इति भावार्थः ॥६०॥

अर्थ—भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव ने देखे-सुने-अनुभव किये गये भोगो की वांछारूप निदानबन्ध के परिणामो से पूर्व भव मे जो पुण्य उपार्जित किया था, उसके वह पुण्य मद-अहकार उत्पन्न करता है और बुद्धि का विनाश करता है। जो सम्यक्त्व आदि गुणसहित भरत, सगर, राम पाडव आदि हुए है उनको पुण्य अभिमान उत्पन्न नही कर सका, यदि पुण्य सबको मद उत्पन्न करता होता तो पुण्य के भाजन पुरुष अर्थात् पुण्यवान् पुरुष मद अहकार को छोडकर मोक्ष कैसे जाते। अर्थात् पुण्य सबको मद-अहकार उत्पन्न नही करता क्योकि बहुत से पुण्यवान् जीव मद-अहकार को त्याग कर मोक्ष जाते है।

इन सब गाथाओ का अभिप्राय इस प्रकार है कि किसी अज्ञानी के हाथ मे शत्रुघातक शस्त्र आ गया किन्तु वह उसका ठीक प्रयोग करना नही जानता, इसलिए शत्रु का घात न कर अपना घात कर लेता है। यदि वही शस्त्र ज्ञानीके हाथ मे आ जाय तो वह उसका उचित प्रयोग कर शत्रु का घात कर सुख से रहता है। इसी प्रकार यदि कर्मक्षय करनेवाला ऐसा उच्चगोत्र, उत्तम सहनन आदि पुण्यरूपी शस्त्र अज्ञानी के पास होता है तो वह अज्ञानी कर्मशत्रु का नाश न कर अपनी आत्मा के गुणो का घात कर लेता है। यदि वही पुण्यरूपी शस्त्र ज्ञानी के पास हो तो वह कर्मों का नाश कर मोक्षसुख को भोगता है।

गाथा ६२ की टीका मे कहा है—'**देवशास्त्रमुनीनां साक्षात् पुण्यबन्ध-हेतुभूतानां परपरया मुक्तिकारणभूतानां वा**' अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु ये साक्षात् पुण्य-बन्ध के कारण हैं और परम्परा से मोक्ष के कारण है।

शंका—'योगसार' गाथा ३२ मे कहा है कि 'जो पुण्य और पाप को छोड़कर आत्मा को जानता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।' इससे स्पष्ट है कि पाप के समान पुण्य भी त्याज्य है। इसी बात को गाथा ७१ में भी कहा है कि पुण्य को पाप कहने वाले ज्ञानी विरले हैं। गाथा ७२ में कहा है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का त्याग कर देते हैं निश्चय से वे ही ज्ञानी होते हैं।

समाधान—पाप बहिरात्मा, पुण्य अन्तरात्मा इन दोनो का त्याग करके अरहत परमात्मा बनता है। वही अर्थात् अरहत परमात्मा ही प्रत्यक्ष रूप से साक्षात् आत्मा को जानता है। यह **गाथा ३२ का अभिप्राय है।** बहिरात्मा को परसमय सब कहते है किन्तु पुण्य अर्थात् अन्तरात्मा को परसमय कहने वाले विरले है, यह **गाथा ७१** का अभिप्राय है। जो शुभ और अशुभ भावो को त्यागकर क्षीणमोह हो जाते हैं वे ही निश्चय से ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं। यह **गाथा** ७२ का अभिप्राय है।

क्या कोई भी व्यक्ति अशुभ भावो (आर्तरौद्रध्यान) का त्याग कर शुभभाव (धर्मध्यान) के द्वारा मोहनीय कर्म का नाश किये बिना अरहत परमात्मा बन सकता है ? धर्मध्यान शुभ भाव है ऐसा **श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'भावपाहुड़' गाथा** ७६ मे कहा है और इस शुभ भाव रूप धर्मध्यान को **श्री उमास्वामी** ने 'परे मोक्षहेतू' सूत्र द्वारा मोक्ष का कारण बतलाया है। **श्री वीरसेन आचार्य** ने **'धवल' पु० १३ पृ० ८१** पर इस शुभभाव रूप धर्मध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय होना कहा है। प्रकरण सख्या ३ मे इसका विशेष विवेचन है।

कार्य-समयसार का उत्पादन होने पर कारण-समयसार का व्यय होता है अर्थात् शुद्धभावरूप अरहत पद (कार्यसमयसार) के उत्पाद होने पर शुभ रूप अन्तरात्मा (कारण-समयसार) का व्यय हो जाता है।

यदि पुण्य और पाप सर्वथा समान होते तो **श्री उमास्वामी आचार्य** ने **'तत्त्वार्थसूत्र' अध्याय ७** के निम्न-लिखित सूत्रो मे जिस प्रकार पाप को दुःख रूप तथा जीव का नाश करने वाला कहा है, उसी प्रकार पुण्य को भी दुःख रूप और नाश करने वाला कहते, इससे सिद्ध है कि पुण्य और पाप मे महान् अन्तर भी है।

'हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ [तत्त्वार्थसूत्र अ० ७]

अर्थ—हिंसादिक पाँच पापो से इस लोक और परलोक मे अपाय (स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओ का विनाश करनेवाली प्रवृत्ति) और अवद्य (गर्हा, निन्दा) देखी जाती है, अथवा हिंसा आदि पाँच पाप दुःख रूप ही हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुण्य स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओ का विनाश करने वाला नही है, अपितु साधन है।

यही बात **श्री कुन्दकुन्द आचार्य** ने **'प्रवचनसार'** मे कही है—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥

अर्थ—जो मुनि अशुभोपयोग (पाप) रहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त (पुण्य-पाप से रहित) अथवा शुभोपयुक्त (पुण्यरहित) होते है, वे भव्यो को ससार से पार कर देते है और उनके प्रति भक्तिमान जीव प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है।

(१३) संक्लेश व विशुद्ध परिणाम

मिथ्यादृष्टि जीवो के कभी कषाय का उदय तीव्र होता है और कभी मद। कषाय के तीव्र उदय मे सक्लेश परिणाम होते हैं जिनसे असातादि अप्रशस्त अघाति कर्मो का बन्ध होता है। कषाय के मद उदय मे असक्लेश अर्थात् विशुद्ध परिणाम होते हैं जिनसे साता आदि प्रशस्त अघातिया कर्मों का बन्ध होता है। कहा भी है—

'क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभ कालुष्यम् । तेषामेव मंदोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम् । तत् कदाचित् विशिष्ट-कषाय-क्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति ।' पञ्चास्तिकाय गा० १३८ टीका

अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ सो कलुषता है। उन्ही क्रोध आदि के मंदोदय से चित्त की प्रसन्नता सो अकलुषता (विशुद्धि) है। यह अकलुषता कदाचित् कषाय का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर अज्ञानी के होती है।

यह कथन तो **श्री अमृतचन्द्राचार्य** की टीकानुसार किया गया है। अब **श्री जयसेन आचार्य** की टीका के अनुसार कथन किया जाता है—

'तस्य कालुष्यस्य विपरीतमकालुष्यं भण्यते। तच्चाकालुष्यं पुण्यास्रवकारणभूतं कदाचिदनंतानुबंधिकषाय-मंदोदये सत्यज्ञानिनो भवति ।' (पञ्चास्तिकाय गा. १३८ श्री जयसेन की टीका)

अर्थ—कालुष्यता की प्रतिपक्षी अकालुष्यता है। वह अकालुष्यता पुण्य (सातावेदनीय आदि) कर्म का कारण है। कदाचित् अनन्तानुबन्धी कषाय के मन्दोदय मे यह अकालुष्यता अज्ञानी के भी होती है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि कालुष्यता असाता आदि पाप कर्म के आस्रव का कारण है।

इसी बात को **श्री वीरसेन आचार्य** कहते हैं—

'को संकिलेसो णाम ? असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम। का विसोही ? सादबंधजोग्गपरिणामो ।'
[धवल पु० ६, पृ० १८०]

अर्थ—सक्लेश नाम किसका है ? असाता के बन्धयोग्य परिणाम को सक्लेश कहते है। विशुद्धि नाम किसका है ? साता के बन्धयोग्य परिणामो को विशुद्धि कहते हैं।

'परियत्तमाणियाणं साद-थिर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्जादीणं सुभपयडीणं बंधकारणभूदकसायट्ठाणाणि विसोहिट्ठाणाणि, असाद-अथिर-असुह-दुभग-दुस्सर अणादेज्जादीणं परियत्तमाणियाणमसुहपयडीणं बंधकारणकसाय-उदयट्ठाणाणि संकिलेसट्ठाणाणि त्ति एसो तेसिं भेदो ।' (धवल पु. ११, पृ. २०८)

अर्थ—साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियो के बन्ध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्धि स्थान कहते हैं। असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर और अनादेय आदि के परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियो के बन्ध के कारणभूत कषाय के उदयस्थानो को संक्लेशस्थान कहते है। यह सक्लेश और विशुद्धि मे अन्तर है।

यद्यपि संक्लेश और विशुद्ध परिणामो को अशुभ और शुभ कहा जा सकता है तथापि ऐसा कथन प्रायः नहीं पाया जाता है। मिथ्यादृष्टि के सक्लेश तथा विशुद्ध परिणामो को अशुभ और सम्यग्दृष्टि के संक्लेश व विशुद्ध परिणामो को शुभ कहा जाता है। बहुधा ऐसा कथन पाया जाता है। (**देखो प्रवचनसार गाथा ९ की श्री जयसेन आचार्य कृत टीका**)

मिथ्यादृष्टि जीव को भी विशुद्ध परिणाम हितकारी हैं क्योंकि विशुद्ध परिणामों के कारण मिथ्यादृष्टि दुर्गति के दुःखों से बच जाता है और उसे यथार्थ देव गुरु शास्त्र की रुचि होती है जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भजविसुद्धसागारो ।
पढमुवसमं स गिण्हदि पञ्चमवरलद्धिचरिमम्हि ।।२।। (लब्धिसार)

अर्थ—चारो गतिवाला मिथ्यादृष्टि, सञ्ज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य या तिर्यञ्च गर्भज, क्रोधादि मद कषायरूप विशुद्ध परिणाम का धारक ज्ञानोपयोगी जीव पचम लब्धि के अन्तिम समय मे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार भव्य मिथ्यादृष्टि के लिये भी विशुद्धपरिणाम उपादेय हैं, क्योकि विशुद्ध परिणामो के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नही हो सकता और सक्लेश परिणाम हेय है, क्योकि सक्लेश परिणाम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे बाधक हैं ।

यद्यपि अभव्य जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नही हो सकती है तथापि उसके लिये भी मद कषाय रूप विशुद्ध परिणाम उपादेय है, क्योकि उनसे देव गति आदि के सुख प्राप्त होते हैं । सक्लेश परिणाम हेय है, क्योकि उनसे नरक गति आदि के दु.ख प्राप्त होते है ।

जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते है—विशुद्ध, शुद्ध । तीव्र कषाय रूप परिणाम सक्लेश परिणाम हैं, मद कषायरूप परिणाम विशुद्ध परिणाम है और कषाय-रहित परिणाम शुद्ध परिणाम है । वीतराग-विज्ञान-रूप जीव-स्वभाव के घातक ज्ञानावरणादि अप्रशस्त कर्मों का तीव्रबन्ध संक्लेश परिणामो से होता है, विशुद्धपरिणामो से मद बन्ध होता है । यदि विशुद्ध परिणाम प्रबल होते है तो पूर्व मे जो तीव्र बन्ध हुआ था उसके भी स्थिति, अनुभाग कटकर मन्द हो जाते है तथा अनेक कर्मों का बन्ध रुक जाता है । कषायरहित शुद्ध परिणामो से मात्र निर्जरा होती है, बन्ध नही होता । श्री अरहंतादि का स्तवनादि रूप परिणाम मन्द कषाय रूप विशुद्ध भाव हैं । ये विशुद्ध परिणाम समस्त कषाय भाव मिटाने के साधन है, अत: ये विशुद्ध परिणाम के कारण है । सो ऐसे विशुद्ध परिणामो के द्वारा जीवस्वभावघातक-घातिकर्मों का हीनपना होने से सहज ही वीतराग-विज्ञान स्वरूप प्रगट होता है ।

उपर्युक्त कथन का साराश यह है कि जब तक साधक वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थित नही होता तब तक विशुद्धपरिणाम-शुभभाव उपादेय हैं । वीतराग निर्विकल्प समाधि मे स्थित होने पर बुद्धिपूर्वक शुभ भाव स्वयमेव छूट जाते हैं । सक्लेश परिणाम हेय हैं । वर्तमान पंचमकाल भरतक्षेत्र मे वीतराग निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है । मात्र धर्मध्यान आदि शुभ भाव हो सकते है । इसलिये वर्तमान अवस्था मे हमारे लिये शुभ भाव, विशुद्ध परिणाम ही उपादेय है ।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसारा ,
श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो गीः ।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ-
मार्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यम् ।।२७२।। महापुराण सर्ग १६ ।।

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तमवाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसे पाकर फिर ससार मे जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहत पद और अन्तरहित समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सबकी प्राप्ति पुण्य से होती है ।

पुण्यार्जने कुरुत, यत्नमतो बुधेन्द्राः ॥२७०॥

अर्थ—इसलिये हे पण्डित जनो ! पुण्य उपार्जन करने मे प्रयत्न करो ।

श्री वीरसेन आचार्य के शिष्य श्री जिनसेन आचार्य ने तो 'महापुराण' मे पुण्य-उपार्जन का उपदेश दिया है । आज जब कि पाप-प्रवृत्ति की बहुलता है, विद्वानों की सन्तान भी धर्म से विमुख है और नवयुवक विषय-कषायों में लिप्त हैं, तब इस उपदेश से 'कि पुण्य विष्ठा है, त्याज्य है, अज्ञानी इस पुण्यरूपी विष्ठा को चाटता है' जीवो का अहित ही होगा । जैसा पात्र होता है, वैसा ही उपदेश दिया जाता है । भील को मांसत्याग का, चाण्डाल को हिंसात्याग का उपदेश दिया गया, शुद्ध निश्चयनय का उपदेश नही दिया गया । आज अभक्ष्य के भक्षण करने वाले तथा सप्त व्यसन के सेवन करनेवाले को मात्र शुद्ध निश्चयनय का उपदेश दिया जाता है, जिससे वह पाप को पाप नहीं समझता । जिनको अपना हित करना है उनको उपर्युक्त आचार्य-वाक्यो पर श्रद्धा करके पुण्योपार्जन करना चाहिए किन्तु उस पुण्य से मोक्ष की साधन-भूत सामग्री की इच्छा रखनी चाहिये । इन्द्रिय-सुखो के लिये उस पुण्य का उपार्जन नही करना चाहिए, वह तो उस पुण्य से स्वयमेव ही मिलेगा । वृक्ष के नीचे बैठने वाले को छाया स्वयमेव मिलती है, उसकी याचना करना वृथा है । निदानसहित पुण्य मोक्षमार्ग मे कार्यकारी नही, बाधक ही है ।

(१४) सम्यग्दृष्टि को भी पुण्य इष्ट है ।

सम्यग्दृष्टि भी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये बुद्धिपूर्वक पुण्योपार्जन करता है । इसको दृष्टांत सहित सिद्ध **किया जाता है । दृष्टांत इस प्रकार है**—

मनुष्य मुनिदीक्षा के समय सर्व-उपधि के त्याग की प्रतिज्ञा करता है, किन्तु संयम के साधन-भूत शरीर रूपी उपधि का वह त्याग नही कर सकता इसलिए सयम के साधनभूत शरीर की स्थिति के लिये मुनि को आहार आदि ग्रहण करने का निषेध नही है तथापि शरीर और विषय कषायको पुष्ट करने के लिये आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है । इस सम्बन्ध मे आर्ष वाक्य इस प्रकार है—

'मोक्षसुखाभिलाषिणां निश्चयेन देहादिसर्वसंगपरित्याग एवोचितः ।' प्रवचनसार गा० २२४ टीका

अर्थात्—मोक्ष के इच्छुक मुनियो को शरीर आदि सर्व परिग्रह का त्याग करना उचित है ।

'यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः । तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः । (प्रवचनसार गाथा २२५ टीका)

अर्थात्—जो अनिषिद्ध (जिनका निषेध नहीं है ऐसी) उपधि (परिग्रह) है, वह अपवाद है, वास्तव मे वह सभी उपधि मुनिअवस्था की सहकारीकारण-भूत उपकार करने वाली होने से उपकरण रूप है, वह उपधि पौद्गलिक शरीर है, क्योकि वह शरीर यथाजातरूप बहिरग लिंग का कारण है ।

एतद्रत्नत्रयीपात्रं नांगस्यन्नं विनाऽशनम् ।
पुष्णस्तेन सिद्धयर्थं स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥५१९६॥ (आचारसार)

अर्थ—यह शरीर रत्नत्रय धारण करने का पात्र है और वह बिना भोजन के ठहर **नही सकता अतएव रत्नत्रय को सिद्ध करने के लिये इस शरीर का पालन करना भी आवश्यक है । क्योंकि अपने स्वार्थ से भ्रष्ट होना भी तो मूर्खता है । अर्थात् इस शरीर के द्वारा सयम व तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करना आवश्यक है, इसलिये इस** शरीर की रक्षा करना भी आवश्यक है ।

'मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात् ।' (प० न० पं० २१०)

अर्थात्—लोकमे मोक्षके कारणभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है वह मुनियो के द्वारा शरीर की शक्ति से धारण किया जाता है। वह शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है।

इस सब का तात्पर्य यह है कि मुनि बुद्धिपूर्वक जो आहार के लिये चर्या करते है, वह चर्या यदि संयम और तप की वृद्धि की दृष्टि से (शरीर को आहार देने के लिये) की जाती है तो अल्प लेप (अल्पकर्म) बन्ध होते हुए भी निषिद्ध नही है, और यदि वह चर्या शरीर को तथा इन्द्रियो को पोषने के लिए की जाती है तो वह निषिद्ध है। सयम और तप के लिए शरीर-पालन करने का निषेध नही है, किन्तु विषयभोगो के लिए शरीर-पालन करने का निषेध है। शरीर पालन का सर्वथा निषेध नही है। यदि कोई एकान्तमिथ्यादृष्टि अल्प लेप के भय से अथवा शरीर को कारागृह जानकर शरीर का पालन छोड दे तो वह संयम से भ्रष्ट होकर ससार मे भ्रमण करेगा। कहा भी है—

'देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहार-विहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति, तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः। [प्रवचनसार २३१ टीका]

देश व काल का जानने वाला मुनि भी यदि अल्प कर्मबन्ध के भय मे आहार-विहार न करे तो कर्कश आचरण के द्वारा अकालमरण करके देवगति मे उत्पन्न होगा, जिससे उसका सयम असमय मे छूट जायगा। देवगति मे सयम व तप के अभाव मे महान् कर्मबन्ध होगा जिसका प्रतिकार होना अशक्य है।

जिस प्रकार शरीर का पालन तप, सयम के लिये भी हो सकता है और विषय-भोगो के लिये भी हो सकता है। उसी प्रकार पुण्योपार्जन व सचय, तप व सयम के लिए भी हो सकता है और सासारिक सुख व विषय-भोगो के लिए भी हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि मुनि जिस प्रकार सयम व तप के लिए शरीर का पालन करता है, सयम व तप के लिए पुण्य का उपार्जन व संचय करता है, क्योकि उस पुण्योदय मे रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। सिद्धान्त चक्रवर्ती **श्री वीरनंदि आचार्य** ने कहा भी है—

नैकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञाजैर्जातु या,
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः ।
भव्यैः संज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिः कैश्चित्कदाचित्क्वचित्
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥१०।४३॥ (आचारसार)

रत्नत्रय की प्राप्ति को बोधि कहते हैं। यह बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति एकेन्द्रिय, विकलत्रय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो के नहीं होती है। जिन जीवो के महापुण्य का उदय होता है, पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, भव्य होते हैं, जिन्हें लब्धियाँ प्राप्त हो जाती है, ऐसे कितने ही जीवो को, किसी काल और किसी क्षेत्र में उस रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। वह रत्नत्रय स्वर्ग व मोक्ष को देनेवाला है। अर्थात् महान् पुण्य के बिना रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है।

चूँकि महान् पुण्य से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, इसलिए सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि यह पुण्य मेरे किस प्रकार हो सकता है। **श्री जिनसेन आचार्य** ने कहा भी है—

उपायविचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया ।
उपाय स कथं मे स्यादिति सङ्कल्पसन्तति ॥५३।४१॥ (हरिवंश पुराण)

अर्थ—पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियो को अपने अधीन करना उपाय है। वह उपाय अर्थात् पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियाँ मेरे किस प्रकार हो सकती हैं, इस प्रकार के सकल्पो की जो सन्तति है, वह उपाय-विचय दूसरा धर्म ध्यान है।

जिस प्रकार मनुष्य-शरीर के बिना सयम व तप नही हो सकता उसी प्रकार महान् (सातिशय) पुण्योदय के बिना सयम व तप नही हो सकता। सम्यग्दृष्टि मुनि जिस प्रकार रत्नत्रय के लिए शरीर का पालन करता है, उसी प्रकार रत्नत्रय के लिए पुण्य-उपार्जन करता है।

आर्ष ग्रन्थो मे विषय-भोगो के लिए शरीर-पालन का निषेध है उसी प्रकार विषय-भोगो की इच्छा से पुण्य-उपार्जन का निषेध है किन्तु रत्नत्रय के लिए शरीर-पालन व पुण्यउपार्जन का निषेध नही है अपितु उपर्युक्त आर्ष-ग्रन्थो मे उसका विधान है। अल्प-लेप के भय से यदि पुण्योपार्जन नही किया जायगा तो पुण्याभाव मे रत्नत्रय की प्राप्ति न होने से ससार मे भ्रमण करना पड़ेगा।

मनुष्यजातौ भगवत्प्रणीत-धर्माभिलाषो मनसश्च शांति. ।
निर्वाण-भक्तिश्च दया च दानं प्रकृष्टपुण्यस्य भवन्ति पुंसः ॥८।५६॥ (वरांगचरित)

मनुष्य पर्याय मे जन्म धारण करके जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित धर्म की अभिलाषा, मनकी शाति, निर्वाण की इच्छा, दान तथा दया के परिणाम महान् पुण्यशाली पुरुष के होते है।

चूँकि पुण्योदय से जैन-धर्म मे प्रवृत्ति होती है इसीलिए आचार्योंने पुण्योपार्जन की प्रेरणा की है।

परिणाममेव कारणमाहु खलु पुण्यपापयो प्राज्ञा. ।
तस्मात् पापापचय पुण्योपचयश्च सुविधेय ॥२६॥ (आत्मानुशासन)

श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है—जीव के परिणाम ही पुण्य और पाप के कारण है। इसलिए पाप का नाश करते हुए भलेप्रकार पुण्य का सचय करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि को जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा होती है, अत वह उपर्युक्त उपदेशानुसार पुण्य-सचय करता है। सम्यग्दृष्टि पुण्य को सर्वदा हेय नही समझता।

(१५) पुण्य—पाप सम्बन्धी विशेष प्रश्नोत्तर

शंका—पुण्य किसे कहते हैं ?

समाधान—'**पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्** ।' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह 'पुण्य' है।

शंका—'पुण्य' 'धर्म' है या 'अधर्म' ?

समाधान—पुण्य धर्म है। **'स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यं श्रेयसी सुकृतं वृषः।'** अर्थात् 'धर्म' 'पुण्य' 'श्रेयस्', 'सुकृत' और 'वृष' ये पाँचो एकार्थवाची शब्द हैं। **श्री कुन्दकुन्द भगवान** ने भी 'पुण्य' को 'धर्म' कहा है। (**प्र सा. गाथा ११**) लोक व्यवहार मे भी 'पुण्य' को 'धर्म' सब ही कहते हैं। 'पुण्य करो' 'धर्म करो', ऐसा कहा जाता है। 'पुण्य' को 'अधर्म' कही पर नही कहा गया और न ऐसा कहना उचित है।

शंका—पाप किसे कहते हैं ?

समाधान—**'पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्।'** अर्थात् जो आत्मा को हित से वंचित रखता है वह 'पाप' है।

शंका—पाप क्या धर्म है या अधर्म ?

समाधान—पुण्य से विपरीत होने के कारण 'पाप' अधर्म है, धर्म नही है।

शंका—वास्तविक पुण्य और पाप क्या है ?

समाधान—सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन वास्तविक पुण्य है और मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादर्शन वास्तविक पाप है।

न सम्यक्त्व समंकिञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

अर्थात्—तीनलोक तीनकाल मे सम्यक्त्व के समान कोई पुण्य (श्रेय) नही है। और मिथ्यात्व के समान कोई पाप नही है।

शंका—मिथ्यात्व पाप क्यो है ?

समाधान—जिससमय मनुष्य मदिरापान करके नशे मे भरपूर हो जाता है उस समय मनुष्य को अपने हिताहित का विवेक न रहने से मनुष्य अपने हितसे वंचित रहता है। उससमय वह अपने आपको भी भूल जाता है। अर्थात् 'मैं कौन हूँ' इस बात का भी उसको ज्ञान नही रहता। उसीप्रकार मिथ्यात्वकर्मोदय से जब यह आत्मा मोहित हो जाती है तब इसको अपने हिताहित का विवेक नही रहता और अपने आपको भूल जाने से उसको यह भी ज्ञान नही रहता कि 'मैं कौन हूँ।' जो आपे को भुला दे ऐसा जो मिथ्यात्व अर्थात् मोह उससे अधिक कोई पाप नही है। अत मोह ही वास्तविक पाप है।

शंका—सम्यक्त्व पुण्य क्यों है ?

समाधान—जब नशा कुछ कम होता है तब वह औषधि आदि को ग्रहण करता है जिससे मदिरा का प्रभाव दूर होने पर वह मनुष्य होश मे आता है। होश मे आने पर अपने व पराये की पहिचान होती है और हिताहित का ज्ञान होता है। होश आने पर ही वह अहित से बचकर हित मे प्रवृत्ति कर सकता है। इसी प्रकार जब मोह का मंद उदय होता है तब यह आत्मा तत्त्वोपदेशरूपी औषधि को ग्रहण करता है जिससे मोहोदय दूर होता है अर्थात् अभाव होता और मोहरूपी नशा दूर होता है। तब सम्यक्त्व हो जाने से उस आत्मा को स्व और पर की पहिचान होती है और हिताहित का विवेक जाग्रुत होता है, जिससे रागादि और उनके कारणो से बचकर वीतरागता की ओर बढ़ सकता है। अत. सम्यक्त्व वास्तविक पुण्य है जिससे स्व और पर का यथार्थ निश्चय अर्थात् श्रद्धान होता है।

शंका—यदि सम्यक्त्व पुण्य है तो त. सू. अ. ८ सू. २५ में 'सातावेदनीय', 'शुभआयु' 'शुभनाम' और 'शुभगोत्र' को पुण्य क्यों कहा ?

समाधान—आत्मा की पवित्रता का नाम 'पुण्य' है। 'वीतरागता' आत्मा की पवित्रता है जो मोहनीयकर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होती है। शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र भी मोहनीयकर्म के क्षय, उपशम व क्षयोपशम में सहकारी कारण हैं, क्योंकि, मनुष्यायु, मनुष्यगति आदि व उच्चगोत्र के उदय के बिना जीव संयम धारण नहीं कर सकता और जो संयमी होता है उसके शुभआयु, शुभनाम व शुभगोत्र का उदय अवश्य होता है। अतः शुभायु आदिक आत्मा की पवित्रता में निमित्तकारण होने से 'पुण्य' कहे गये हैं।

शंका—इस विषय में क्या कोई आगम प्रमाण भी है ?

समाधान—हाँ, आगमप्रमाण है। जो इसप्रकार है—

'द्रव्यार्थिकनयापेक्षयामङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां च मङ्गलत्वाभ्युपगमात्। केन मङ्गलम्? औदयिकादिभावैः।'

अर्थात्—द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा मंगलपर्याय से परिणत जीव को और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायों को मंगल माना है। किसकारण मंगल उत्पन्न होता है? औदयिकआदि भावों से मंगल होता है। यहाँ पर औदयिकभाव से प्रयोजन शुभआयु आदि पुण्य-प्रकृतियों के उदय से होनेवाले औदयिकभावों से है।

—जै. ग. 28 फरवरी 1963, पृ. 7

शंका—'साता वेदनीय' को पुण्य क्यों कहा है ?

समाधान—सयोगकेवली के ईर्यापथआस्रव के द्वारा अधिक सुख का उत्पादक 'अत्यधिक साता' का एक-समय स्थितिवाला उदयस्वरूप बंध होता है। वह साता ऐसे सुख को उत्पन्न करती है जो सुख देव और मनुष्य से अधिक है और सबप्रकार की बाधाओं से दूर है। अतः सातावेदनीय पुण्य है।

शंका—इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—षट्खंडागम पुस्तक १३ पत्र ५१ इसमें प्रमाण है।

शंका—सकषायी जीवों के 'सातावेदनीय' को पुण्य क्यों कहा है।

समाधान—जीव का स्वभाव सुख है। उस सुख स्वभाववाले जीवको दुःख उत्पन्न करनेवाला कर्म असातावेदनीय है। अर्थात्—असातावेदनीयकर्म जीव के सुखस्वभाव का घातकर दुःख उत्पन्न करने से पापप्रकृति है। दुःख के प्रतिकार करने में कारणभूत सामग्री को मिलानेवाला और दुःख के उत्पादक कर्म (असातावेदनीय) की शक्ति का विनाश करने वाला सातावेदनीय कर्म है। जीव के सुख स्वभाव का घात करने वाले कर्म (असातावेदनीय) की शक्ति का नाश करने वाला (साता वेदनीय) पुण्य के अतिरिक्त क्या हो सकता है? अथवा जो सुख का वेदन कराती है वह साता वेदनीय है, अतः साता वेदनीय भी पुण्य है।

शंका—इसमें प्रमाण क्या है।

समाधान—षट्खंडागम पुस्तक १३ पत्र ३५७ व पुस्तक ६ पत्र ३५-३६ इसके प्रमाण हैं।

शंका—समयसार 'पुण्य 'पाप' अधिकार में पुण्य' को कुशील सुवर्ण की बेड़ी आदि कहा है। फिर 'पुण्य' को धर्म कैसे कहते हो ?

समाधान—यह सत्य है कि **समयसार** मे 'पुण्य' को कुशील आदि नामो से पुकारा है, किंतु यह विचार करो कि कौनसे पुण्य को और क्यो कुशील कहा है ?

प्रति शंका—सब ही पुण्य को कुशील कहा, क्योंकि, वह संसार का कारण है।

समाधान—पुण्य ससार का कारण नही है। यदि पुण्य ससार का कारण होता तो अकषायी जीवों के एक समय की स्थिति वाला पुण्य क्यो बंधता और क्षपक श्रेणी वाले सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में सबसे अधिक अनुभाग वाला पुण्य क्यो बधता। शुद्धोपयोग मे, जैसे पाप के अनुभाग का घात होता है, वैसे ही पुण्य के अनुभाग का घात होना चाहिये था, किन्तु पुण्य के अनुभाग का घात होता नही है। अत पुण्य ससार का कारण नही है।

शंका—संसार का क्या कारण है ?

समाधान—ससार का कारण मिथ्यात्व है, जो महान् पाप है।

शंका—फिर पुण्य को कुशील व बेड़ी क्यों कहा है ?

समाधान—जो पुण्य मिथ्यात्व की सगति कर लेता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि के पुण्य को कुशील व बेडी कहा है। जिसप्रकार भद्र पुरुष भी चोरो की सगति के कारण चोर माना जाता है।

शंका—समयसार में तो सामान्य पुण्य को कुशील कहा है।

समाधान—समयसार, पुण्य-पाप अधिकार गाथा १५२-१५४ व १५६ से स्पष्ट है कि वहाँ पर मिथ्या-दृष्टि के पुण्य से प्रयोजन है। पुण्य उदय से मिलनेवाली सामग्री का भोग सम्यग्दृष्टि के निर्जरा का कारण है **(समयसार गाथा १९३)** फिर सम्यग्दृष्टि का पुण्य कैसे कुशील व बेडी हो सकता है।

शंका—क्या मिथ्यादृष्टि का पुण्य सर्वथा संसार का ही कारण है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि का पुण्य सर्वथा ससार का ही कारण है, किसी अपेक्षा मोक्षमार्ग मे लगने मे सहायक भी है। जैसे **"पुण्य उदय तैं सुगति विषै जाय है, वहाँ धर्म के निमित्त पाईए हैं। देवगति मे उपजे। नन्दीश्वरद्वीप में अकृत्रिम जिनबिम्ब की पूजा का अवसर पाय है, जिनके अवलोकन से सम्यक्त्व होय जाय है। साक्षात् केवली की दिव्यध्वनि सुने है। पाप तैं छूट पुण्य विषै लागे है। कषाय मंद होय है कषाय की मंदता से कर्म शक्तिहीन हो जाय तो मोक्षमार्ग को भी प्राप्त होय जाय। किन्तु ऐसा नियम नहीं है।" ऐसा पं० टोडर-मलजी का अभिप्राय है।**

शंका—यदि सम्यग्दृष्टि का 'पुण्य' 'धर्म' है तो वह पुण्य की वांछा क्यो नहीं करता ?

समाधान—पुण्य की बात तो दूर रही, सम्यग्दृष्टि मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता, क्योकि 'इच्छा' **'परिग्रह' है अज्ञानमयभाव है। सम्यग्दृष्टि के तो ज्ञानभाव है। इसलिये अज्ञानमय भाव इच्छा का सम्यग्दृष्टि के अभाव है। (समयसार गाथा २१०)**

नोट—'पुण्य-पाप' पर यह भी एक दृष्टि है, किन्तु एकान्तपक्ष ग्रहण करना उचित नहीं।' जिस ग्रन्थ में जिस अपेक्षा से कथन हो उस ग्रन्थ मे उस अपेक्षा से 'पुण्य-पाप' का अर्थ करना, सर्वथा एक ही पक्ष को पकड़कर अर्थ करना उचित नहीं है।

—जै. ग. ७ मार्च १९६३ पृ. ७

(१६) क्या पुण्य विष्ठा है ?

शंका—क्या पुण्य विष्ठा है ? समयसार प्रवचन पुस्तक १ पृ० १२५ पर पुण्य के सम्बन्ध मे निम्न-प्रकार कहा है—

'मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्ठा भूंड नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को–जगत की धूलको विष्ठा समझकर त्याग दिया है, उधर अज्ञानी जन पुण्य को उमंग से अच्छा मानकर आदर करता है। इसप्रकार ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्यरूप विष्ठा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं।' क्या यह सही है ?

समाधान—यदि वास्तव मे पुण्य विष्ठा होता तो आचार्य सम्यग्दृष्टिजीव को पुण्य न कहते। **श्री स्वामि-कार्तिकेय आचार्य** ने पापजीव और पुण्यजीव का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

जीवो वि हवे पावं अइ-तिव्वकसाय-परिणदो-णिच्चं।
जीवो वि हवइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ॥१९०॥

अर्थ—जब यह जीव अतितीव्र कषायरूप परिणमन करता है तब यह जीव पापरूप होता है और जब उपशमभावरूप परिणमन करता है तब पुण्यरूप होता है।

जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्णं तु।
सुहपयडीणं दव्वं, पावं असुहाण दव्वं तु ॥६४३॥ गो. जी.

इस गाथा मे **श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती** ने बतलाया है कि मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवाले जीव पाप हैं, मिश्रगुणस्थानवाले जीव पुण्य और पाप के मिश्ररूप है। तथा असयत से लेकर सभी ससारी जीव पुण्यरूप हैं।

इस गाथा मे क्षपकश्रेणीवाले जीवो को भी पुण्य कहा है तो क्या वे विष्ठा हैं। अर्थात् क्षपकश्रेणीवाले जीव पुण्यरूप होते हुए भी विष्ठा नहीं हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने **प्रवचनसार गाथा ४५** मे **'पुण्णफला अरहंता'** अर्थात् पुण्य का फल अरहतपद है। तो क्या विष्ठा का फल अरहतपद है। अर्थात् अरहतपद विष्ठा का फल नही है।

असुहस्स कारणेहिं य कम्मच्छक्केहि णिच्च वट्टंतो।
पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भयेण णिच्छंतो ॥३९७॥
ण मुणइ इय जो पुरिसो जिणकहियपयत्थणवसरूवं तु।
अप्पाणं सुयणमज्झे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥३९८॥ भावसंग्रह

अर्थात्—गृहस्थ अशुभकर्मों के आने के कारण ऐसे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि छहो कर्मों मे लगा रहता है तथापि कर्मबन्ध के भय से पुण्य के कारणों को करने की इच्छा नही करता, तो वह पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरूप को भी नहीं मानता तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुषो के मध्य मे हँसी का स्थान बनाता है।

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ ससार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४॥ भावसंग्रह

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य ससार का कारण कभी नही होता ऐसा नियम है। यदि सम्यग्दृष्टिपुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य मे निदान न किया जाय तो पुण्य नियम से मोक्ष का कारण होता है।

अकइयणियणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥४०५॥ भावसंग्रह

अर्थ—जिस सम्यग्दृष्टि के शुभपरिणाम हैं, शुभलेश्या है तथा जो सम्यग्ज्ञान और चारित्र को धारण करता है ऐसा सम्यग्दृष्टिपुरुष यदि निदान नही करता तो वह पुरुष मरकर स्वर्ग लोक मे उत्पन्न होता है।

स्वर्गलोक मे देवो का उत्तम, दिव्य, सुन्दर शरीर मिलता है। वहाँ पर उत्तम भोगोपभोग की सामग्री मिलती है। तब वह देव अपने अवधिज्ञान के द्वारा जान लेता है कि यह सब सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र का फल है [४०६–४१८]।

पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो।
वंदेइ जिणवराणं णंदिसर पहुइ सव्वाइं ॥४१९॥

अर्थ—तदनन्तर वह सम्यग्दृष्टिदेव फिर भी अपने मन मे उसी धर्म का श्रद्धान करता है। पचमेरु नदीश्वरद्वीप आदि के अकृत्रिमचैत्यालयो की वदना करता है और विदेहक्षेत्र में साक्षात् जिनेन्द्रदेव की वदना करता है।

इय बहुकालं सग्गे भोगं भुंजंतु विविहरमणीयं।
चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥४२०॥

अर्थ—इसप्रकार बहुत कालतक स्वर्ग के अनेकप्रकार के सुन्दर भोगो का अनुभव करता है, तदनन्तर आयु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर इस मनुष्यलोक मे उत्पन्न होता है।

मनुष्यलोक मे भी वह बहुत महत्वशाली उत्तमकुल मे उत्पन्न होता है तथा नानाप्रकार के अनुपमभोगो का अनुभव करता है और ससार, शरीर, भोगो से विरक्त होकर संयम धारण करता है। [४२१-४२२]

लद्धं जइ चरमतणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवलणाणं जहखाइयसजमं सुद्धं ॥ ४२३ ॥
तम्हा सम्माविट्ठि पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥ भावसंग्रह

अर्थ—यदि वह जीव अपने चिरकाल के संचित किये हुए पुण्यकर्म के उदय से चरमशरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यातनामा शुद्धचारित्र को धारण कर तथा केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। ऊपर लिखे इस कथन से यह सिद्ध होता है कि **सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है। यही समझकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।**

इसप्रकार आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि को पुण्य उपार्जन का उपदेश दिया है, क्योंकि-पुण्य मोक्ष का कारण है।

जो अभव्य हैं उनको भी पुण्य उपार्जन करना चाहिये, क्योंकि उनको नरकगति के दुःख नहीं होंगे। जैसे आतप में खड़ा हुआ मनुष्य दुःख पावे है वैसे ही हिंसा आदि पाप करनेवाला जीव नरक के दुःख पाता है। जैसे छाया में खड़ा हुआ मनुष्य सुख पाता है वैसे ही पुण्य करनेवाला जीव स्वर्गादि के सुख पाता है। इसलिये भी पाप से पुण्य श्रेष्ठ ही है। **मोक्षपाहुड गाथा २५।**

इसप्रकार पुण्य भव्य के लिये मोक्ष का कारण है और अभव्य के लिये संसारसुख का कारण है। किसी भी आचार्य ने पुण्य को विष्ठा नहीं कहा है।

प्रस्ताव के उत्तर में जो आधार दिये गये हैं उनमें कोई भी आधार ऐसा नहीं है जिसमें पुण्य को विष्ठा कहा गया हो।

शुभभाव मात्र आस्रव है ऐसा भी किसी आचार्य ने नहीं कहा है। **भावपाहुड़ गाथा ७६** में धर्मध्यान को शुभभाव कहा है। **श्री उमास्वामी आचार्य ने मो. शा. अ. ९ सूत्र २९** में धर्मध्यान को मोक्ष का कारण कहा है।

श्री वीरसेनाचार्य ने ध. पु. १३ पृ. ८१ पर 'मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं' शब्दों द्वारा 'मोहनीय' का विनाश करना धर्मध्यान का फल है। ज. ध. पु. १ पृ. ६ पर शुभभाव से संवर, निर्जरा कही है। इन आर्षग्रन्थों के विपरीत सोनगढवाले शुभभाव को मात्र आस्रव मानते हैं।

उत्तर के आधार **नं० ३ में समयसार गा. १ श्री जयसेनाचार्य की टीका, अध्यात्मतरंगिणी चतुर्विंशतिस्तव** के आधार पर द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म को मल सिद्ध किया गया है यहाँ पर मल का अर्थ विष्ठा नहीं है। दूसरे पुण्यभाव न द्रव्यकर्म है, न नोकर्म है और न भावकर्म है। चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से होनेवाले भावों की भावकर्म संज्ञा है चारित्रमोहनीय के उदय से होने वाले भाव सब पापरूप हैं, क्योंकि वे मिथ्यात्व, कषायरूप होते हैं। घातियाकर्म भी सब पापरूप हैं।

समयसार गाथा ७२ में आस्रव से अभिप्राय क्रोधादि कषायों से है, जैसा कि **श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका के "क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो"** इन शब्दों से स्पष्ट है। क्रोधादिकषाय तो पापरूप है उन्हीं को गाथा ७२ में अशुचि कहा है। पुण्य को अशुचि नहीं कहा है। पुण्यास्रव तो तेरहवेंगुणस्थान में भी **श्री अरहंत भगवान के** होता है।

समयसार गाथा ३०६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने "प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषाकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुंभोऽपि।" अर्थात् "प्रतिक्रमणादि सब अपराधरूपपने से विषदोष के क्रम को मेटने में समर्थ होने

से अमृतकुम्भ भी है'' इन शब्दो द्वारा प्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ भी कहा है, किन्तु निर्विकल्पसमाधि मे (श्रेणी मे) प्रतिक्रमणादि के विकल्प को विषकुम्भ कहा है। किन्तु श्रेणी में शुभ भाव तो रहते हैं, क्योकि श्री वीरसेनादि आचार्यों ने धर्मध्यान दसवेंगुणस्थानतक बतलाया है। दसवेंगुणस्थानतक वीतराग व रागरूप मिश्रितभाव रहते है और इस मिश्रितभाव का नाम शुभोपयोग है। यहाँ पर प्रकरणवश सक्षेप मे यह बतलाया गया है कि शुभभाव सवर, निर्जरा तथा मोक्ष का भी कारण है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पुण्यका फल अरहतपद है' ऐसा प्रवचनसार गाथा ४५ मे कहा है। किन्तु सोनगढ के नेता उस पुण्य को विष्ठा बतलाते है। विष्ठा महान् अपवित्र मल है।

—जै. ग. ८ मई १९६६ पृ. ५

(१७) (१) क्या पुण्यपाप भाव अकेले नहीं होते ?
(२) हिंसा करते समय कसाई के पुण्यबन्ध कहना अनुचित है।

शंका—क्या पुण्य-पाप भाव अकेले नहीं होते ?

समाधान—श्री कानजी स्वामी की पुण्य-पाप-भाव के विषय मे विचित्र मान्यता है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक की किरण' तीसरा अध्याय पृ. १२२ प्रकरण ७२ का शीर्षक इसप्रकार है—''पुण्य-पाप अकेले नही होते, धर्म अकेला होता है।'' इसको सिद्ध करने के लिये यह लिखा गया है—''यदि मन्दकषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्य नही कर सकता। और वर्तमान मे चैतन्य का जितना विकास है वह बध का कारण नही होता। हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्यबन्ध होता है। हिंसाभाव पुण्यबन्ध का कारण नही है, किन्तु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है—ज्ञान का अश उस समय भी रहता है, इससे सर्वथा पाप मे युक्तता नही होती।''

सोनगढवालो के इस विवेचन मे यह सिद्ध होता है कि सोनगढ की मान्यता के अनुसार हिंसा करते समय भी कसाई सर्वथा पाप से युक्त नही होता, किन्तु मन्दकषायरूप पुण्य भी होता। यदि मन्दकषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त से पाप ही हो) तो चैतन्य नही रह सकता। इसीलिये यह कहा गया है कि हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्यबन्ध होता है।

सोनगढ के नेताओ की उपर्युक्त मान्यता आर्षग्रन्थ विरुद्ध है, क्योकि हिंसा करते समय कसाई के मद-कषायरूप पुण्य नही हो सकता है। यदि कसाई के मदकषाय हो तो वह हिंसा नही कर सकता।

यज्जन्तु वधसंजात-कर्मपाकाच्छरीरिभिः ।
श्वभ्राद्रौ सह्यते दुःख तद्वक्तुं केन पार्यते ॥८॥१२॥ ज्ञानार्णव

अर्थ—शरीरधारी अर्थात् जीवो के घात करने से पापकर्म उपार्जन होता है, उस पापकर्म से जीव नरक में जाता है और वहाँ पर जो दुःख भोगने पडते हैं वे वचन अगोचर है।

नरकआयु का बन्ध तीव्रकषाय के उदय मे होता है, मंदकषाय के उदय मे नरकायु का बंध नहीं होता, उससमय देव, मनुष्यायु का बन्ध होता है।

आउस्स बंध समए सिलो व्व सिलो व्व वेणु मूले य ।
किमिरायकसायाणं उदयम्मि बंधेदि णिरयाऊ ॥२॥२९३॥ [ति. प.]

अर्थात्—पत्थर की रेखा के समान क्रोध, पत्थर के समान मान, बाँस की जड के समान माया और कृमिरंग के समान लोभ अर्थात् अतितीव्र कषायोदय होने पर नरकायु का बंध होता है।

इन दोनो गाथाओ से यह सिद्ध हो जाता है कि 'कसाई के हिंसा करते समय तीव्रकषाय होती है जिससे उसके नरकायु का बध होता है। मदकषायरूप पुण्य नही होता, क्योकि मदकषायरूप पुण्यभाव के समय नरकआयु का बध नही होता और न जीवघातरूप हिंसा होती है।

यद्यपि हिंसा के समय कसाई के शरीर अगुरुलघु, निर्माण आदि ध्रुव बधनेवाले (निरंतर बंधनेवाली) नामकर्म की कुछ पुण्यप्रकृतियो का भी बध होता है, जैसा कि **गोम्मटसार** आदि ग्रथो मे कहा गया है, किन्तु यह पुण्यप्रकृतियों का बन्ध मंदकषाय के कारण नही होता है। ध्रुवबन्धप्रकृतियो के कारण उनका बन्ध होता है। तीव्रकषाय होने के कारण उन पुण्यप्रकृतियो का उत्कृष्टस्थितिबन्ध होता है और अनुभागबन्ध अल्प होता है।

सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससंकिलेसेण ।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणं तु ॥१३४॥ गो. क.

अर्थ—तिर्यंच मनुष्य और देव इन तीन आयुओ के सिवाय अन्य सब ११७ प्रकृतियो का उत्कृष्टस्थिति-बन्ध उत्कृष्टसक्लेश (कषायसहित) परिणामो से होता है और जघन्यबन्ध विपरीत परिणामो से (उत्कृष्ट-विशुद्ध अर्थात् मदकषाय से) होता है।

सोनगढ के नेता हिंसा के समय भी मदकषायरूप शुभभाव मानते है इसीलिये उन्होंने शास्त्रिपरिषद् के प्रस्ताव का उत्तर देते हुए जनवरी १९६६ के हिन्दी आत्मधर्म के पृ ५६२ पर प्रश्नोत्तररूप मे लिखा है कि हिंसा के समय अल्प-अल्प स्थिति-अनुभागसहित पुण्य अघातिकर्म बँधते हैं। उनकी ऐसी मान्यता **गाथा १३४ गोम्मट-सारकर्मकाण्ड** के विरुद्ध है।

जनवरी ६६ के हिन्दी आत्मधर्म पृ. ५६१ उत्तर पृ २५ पर जो यह लिखा है "यदि कषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकात पाप ही हो) तो चैतन्य नही रह सकता।" यह भी गलत है, क्योकि चैतन्य जीव का लक्षण है, पारिणामिकभाव है उसका कभी भी अभाव नही हो सकता। तीव्रकषायरूप पाप होने पर भी चैतन्यगुण का नाश नहीं होता है। ज्ञान और दर्शन मे हानि-वृद्धि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोदय से होती है। जिसने कषाय का नाश कर दिया है ऐसे जीव के मति और श्रुत दो ज्ञान संभव है और कृष्णलेश्यावाले नारकी के मति श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान होते है।

किसी भी दिगम्बर जैनाचार्य ने यह नही लिखा है कि "हिंसा करते समय कसाई के मदकषायरूप पुण्य भी होता है, अथवा अकेला पुण्य या अकेला पाप (मदकषाय या तीव्रकषाय) किसी जीव को नहीं हो सकता, पुण्य, पाप दोनो ही होते हैं, यदि मात्र पुण्य ही हो जाय तो संसार ही नही हो सकता। और मात्र पाप ही हो जाय तो चैतन्य का ही सर्वथा लोप हो जाय अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाय।" इसके लिये जो आधार दिये गये है उनमे भी यह नही कहा गया कि अकेला पुण्यभाव या अकेला पापभाव नहीं हो सकता, किन्तु इसके

विपरीत ही कहा गया है। इसलिये सोनगढ वालों की यह मान्यता, कि हिंसा करते समय कसाई के अल्प पुण्य होता है, ठीक नहीं है।

—जै. ग. २३ मई १९६६ पृ ७

(१८) १ पुण्य व पाप में कथंचित् समानता, कथंचित् असमानता
२. पुण्य की कथंचित् उपादेयता
३. पुण्य मोक्ष का सहकारी कारण है
४. निरतिशय पुण्य भी कथंचित् कदाचित् उत्थान का हेतु है

शंका—समयसार गाथा १४५ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुण्य और पाप में हेतु आदि की अपेक्षा कोई भेद नहीं बतलाया है किन्तु 'पुण्य का विवेचन' नामक पुस्तक में पुण्य और पाप में भेद बतलाया गया है सो कैसे ?

समाधान—समयसार ग्रन्थ मे आत्मा की शुद्धअवस्था की अपेक्षा कथन है।

'शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं' समयसार पृ ५

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि इस **समयसारग्रन्थ** मे एकत्वविभक्त आत्मा का कथन करूंगा।

'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।'

अर्थ—मैं कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के निजविभव के द्वारा एकत्वविभक्तआत्मा को दिखलाता हूँ।

जो आत्मा एक अभेदरत्नत्रय रूप से परिणत होकर तिष्ठता है तथा मिथ्यात्व, रागादि से रहित है और परमात्मस्वरूप है वह एकत्वविभक्त आत्मा है अर्थात् परमात्मस्वरूप का कथन इस **समयसार ग्रन्थ** मे किया गया है। **'एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिविरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः।' समयसार पृ. १३**

शुद्धात्मा या परमात्मा पुण्य-पाप दोनोंप्रकार के कर्मों से रहित है, अतः **समयसार** मे शुद्धात्मा अथवा परमात्मा की अपेक्षा पुण्य-पाप को समान कहा गया है, किन्तु **श्री अमृतचन्द्र आचार्य** ने ही **तत्त्वार्थसार** मे पुण्य और पाप में हेतु आदि की अपेक्षा भेद बतलाया है—

हेतुकार्य विशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयो.।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे॥

हेतु और कार्य की विशेषता से पुण्य और पाप कर्म मे अन्तर है। पुण्य का हेतु शुभभाव है और पाप का हेतु अशुभभाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दु.ख है।

इसप्रकार विवक्षा भेद से एक ही आचार्य ने पुण्य-पाप को समान भी कहा है और असमान भी कहा है। जो जीव शुक्लध्यान अर्थात् क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकते उनके लिए तो पुण्य और पाप असमान है।

'अत्राह प्रभाकरभट्ट. तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह-यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतरागनिर्विकल्पसमाधि लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थवस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा सन्त तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥२।५५॥ परमात्मप्रकाश

अर्थ—'पुण्य-पाप समान है' यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट बोला—यदि ऐसा ही है तो जो लोग पुण्य-पाप को समान मानते है उनको दोष क्यो देते हो ? तब **श्री योगीन्द्रदेव** ने कहा यदि गुप्ति से गुप्त शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निर्विकल्पसमाधि मे ठहरकर जो पुण्य-पाप को समान जानते हैं तो योग्य है, किन्तु इससे विपरीत जो निर्विकल्पसमाधि को न पाकर भी पुण्य-पाप को समान जानकर गृहस्थअवस्था मे दान-पूजादि शुभकार्यों को और तपोधन अवस्था मे छहआवश्यक कर्मों को छोड देते हैं, वे दोनो बातो से भ्रष्ट हैं, अर्थात् निर्विकल्पसमाधि को भी प्राप्त नही कर सके और पुण्य को पाप के समान जानकर छोड दिया वे निन्दा के योग्य है । ऐसा जानना चाहिये ।

वर्तमान पचमकाल मे निर्विकल्पसमाधि अर्थात् शुक्लध्यान अथवा श्रेणीआरोहण तो असम्भव है, क्योकि हीनसंहनन है तथा प्राणी दुष्ट चित्तवाले हैं । वर्तमान मे मनुष्य धर्मकार्यो से विमुख होते जा रहे हैं, पाप-प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है । जिनका नाम सुनने मात्र से भोजन मे अन्तराय हो जाती थी, आज उन्ही मद्य, मास आदि का सेवन उच्च कुलो मे होने लगा है । सात व्यसन का सेवन दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है । परिणामो मे से दयाभाव उठता जा रहा है । जैन लोग शिकार खेलने लगे हैं । कुछ अध्यात्म-एकान्ती ऐसे भी जैन विद्वान है जो प्रतिदिन देवदर्शन नही करते, रात के भोजन का त्याग नही है, अभक्ष्य-भक्षण का विचार नही, होटल मे चाय आदि लेते हैं । जब जैनसमाज इस तेजी से पतन की ओर जा रहा है तब कुछ विद्वानाभास पुण्य और पाप को समान कहकर और उसका प्रचार करके जैनसमाज का और अपना दोनो का अहित कर रहे हैं ।

शंका—पुण्य और पाप दोनो के अभाव में मोक्ष होता है । अतः पुण्य सर्वथा उपादेय कैसे हो सकता है ?

समाधान—जीव की सिद्ध पर्याय ही नित्य है ।

'सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धजीवपर्यायो नित्यः ।'[1]

पर्यायार्थिकनय का दूसरा भेद सादि-नित्यपर्यायार्थिक है जैसे जीव की सिद्धपर्याय नित्य है । इसी सूत्र से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जीव की सिद्धपर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्यायें अनित्य है नाशवान हैं, अत· जीव की सिद्धपर्याय ही उपादेय है और अन्य पर्यायें नाशवान होने के कारण हेय है । इसीलिए **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** ने **समयसार** के आदि मे सर्वसिद्धो को नमस्कार किया है ।

'वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवममलमणोवमं गइं पत्ते ।'

यहाँ सिद्धो को ध्रुव अर्थात् अविनश्वर कहा है ।[2] और 'अमल' विशेषण के द्वारा यह बतलाया गया है कि सिद्धभगवान भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्ममल से रहित होने के कारण अमल हैं ।[3]

१. आलापपद्धति ।
२. 'ध्रुवामविनश्वरां ।'
३. 'भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन निर्मला....।'

जिस प्रकार सिद्धो मे पुण्य का अभाव है उसी प्रकार उनमे ध्यानका तथा भव्यत्व भावका भी अभाव है।

'बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ॥२॥ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥'[१]

पुण्य नाशवान है, इस अपेक्षा से यदि पुण्य को हेय कहा जाता है तो औपशमिकसम्यक्त्व आदि तथा कारणसमयसार को भी हेय कहना पडेगा क्योकि ये भी विनश्वर है। यदि मोक्ष के कारण की अपेक्षा से औपशमिक सम्यक्त्व आदि भावो को तथा कारण समयसार को उपादेय माना जाता है तो पुण्य को भी मोक्ष मार्ग में सहकारी कारण की अपेक्षा से उपादेय मानना पडेगा।

मोक्षमार्ग मे पाप बाधक है, अत वह उपादेय नही हो सकता है। पाप के समान पुण्य को भी सर्वथा अनुपादेय मानना उचित नही है। जिसप्रकार कारणसमयसार किसी अपेक्षा से उपादेय और किसी अपेक्षा से हेय है, उसीप्रकार सातिशयपुण्य भी मोक्षमार्ग मे सहकारीकारण की अपेक्षा से उपादेय है। मोक्ष प्राप्त हो जाने पर कारणसमयसार का अभाव हो जाता है उसीप्रकार मोक्ष प्राप्त होने पर पुण्य का भी अभाव हो जाता है। अत. नाशवान की अपेक्षा से जिसप्रकार कारणसमयसार हेय है उसीप्रकार पुण्य भी हेय है।

अभी पञ्चमकाल मे पुण्य-पाप दोनो से रहित मोक्ष अवस्था तो प्राप्त हो नही सकती, क्योकि शुक्ल-ध्यान का अभाव है।

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुन प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम् ॥[२]

इससमय पञ्चमकाल मे जिनेन्द्रदेव शुक्ल ध्यान का निषेध करते है किंतु श्रेणी से पूर्व मे होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है।[३]

धर्मध्यान शुभोपयोग है और पुण्यरूप है। इसप्रकार जिनेन्द्रदेव ने पञ्चमकाल मे पुण्य-पाप से रहितावस्था का निषेध करके पुण्य का अस्तित्व बतलाया है।

अशुभकर्म दु ख उत्पन्न करता है और शुभकर्म सुख उत्पन्न करता है। जो इस अशुभ (पाप) को नाश करने के भाव से तप करते हैं संयम धारण करते हैं ऐसे योगी भी दुर्लभ है। जो पुण्य और पाप दोनो ही प्रकार के कर्मों का नाशकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ऐसे योगियो की तो बात ही क्या करनी ? अर्थात् वे वर्तमानकाल व क्षेत्र मे असम्भव है।[४] किन्तु अशुभ मे (पाप मे) प्रवृत्ति करने वाले सुलभ है।

प्राचीन दिगम्बर जैनाचार्यों का इतना स्पष्ट कथन होने पर भी जो सातिशयपुण्य को सर्वथा अनुपादेय बतलाकर जनता को धर्म से विमुख कर रहे है उनकी क्या गति होगी, इसको वे ही जानें ?

निरतिशयपुण्य मुख्यता से संसार का कारण होने मे यद्यपि हेय है तथापि दुर्गति से बचाता है, शुभगति में उत्पन्न कराता है जहाँ पर जैनधर्म के समागम का अवसर मिलता रहता है जिससे सम्यक्त्वोत्पत्ति सम्भव है, अत इस अपेक्षा कथंचित् उपादेय भी है।

शंका—पुण्य सोने की बेड़ी है और पाप लोहे की बेड़ी है, किन्तु पुण्य और पाप दोनों ही बेड़ी होने से संसार के ही कारण हैं। फिर पुण्य मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

---

१ मोक्षशास्त्र अध्याय १०।
२. तत्त्वानुशासन गा० ॥ ८२ ॥
३. सुह धम्म जिणवरिंदेहि ॥ (भावपाहुड़ गा० ७६)।
४. अमितगति सामायिक-पाठ श्लोक ॥ ९० ॥

समाधान—**श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार ग्रन्थ** मे कहा है कि पुण्य और पाप दोनो ही संसार के कारण हैं,[1] किन्तु उन्ही **श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रवचनसार गाथा ४५** की टीका में यह कहा है कि अरहत पद पुण्य रूप कल्प वृक्ष का फल है।[2] यद्यपि एक ही आचार्य के इन दोनो कथनो मे परस्पर विरोध दिखलाई देता है तथापि विवक्षा भेद से इन दोनो कथनो मे भेद हो सकता है, क्योंकि वीतराग आचार्य के कथनो मे परस्पर विरोध नही होता है।

पुण्य दो प्रकार का है—एक सातिशयपुण्य और दूसरा निरतिशयपुण्य।[3] इनमें से सातिशयपुण्य तो मोक्ष का कारण और निरतिशयपुण्य मुख्यता से ससार का कारण है। **श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में** पुण्य को ससार का कारण कहा है, वह निरतिशयपुण्य की अपेक्षा कथन है। और **प्रवचनसार** मे पुण्य का फल अरहतपद बतलाया है वह सातिशयपुण्य की अपेक्षा कथन है। इसप्रकार निरतिशयपुण्य और सातिशयपुण्य की विवक्षा भेद होने से उनके फल के कथन मे भेद हो गया है। जो निरतिशयपुण्य और सातिशयपुण्य की विवक्षा को नही जानते वे ही पुण्य को सर्वथा ससार का कारण कहते है।

सातिशयपुण्य मोक्ष का कारण है इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित आर्षग्रन्थो के कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं—

"पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्वेद्यादि।" सर्वार्थसिद्धि

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीयादि अर्थात् पुण्यकर्मप्रकृतियाँ आत्मा की पवित्रता मे कारण है।

"पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादिसुखखानयः।" मूलाचार प्रदीप

अर्थ—पुण्यकर्मप्रकृतियाँ तीर्थंकर आदि पदो के सुख को देनेवाली है। **श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी अष्टसहस्री** मे कहा है—

"मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।" [कारिका ८८ की टीका]

अर्थ—परमपुण्य के अतिशय से तथा चारित्ररूप पुरुषार्थ मे इन दोनो से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर **महान् तार्किकाचार्य श्री विद्यानन्द** ने यह बतलाया है कि मोक्ष मात्र रत्नत्रय से ही नही प्राप्त होता है, किन्तु रत्नत्रयरूपी पुरुषार्थ को परम पुण्यकर्मोदय की सहकारता की भी आवश्यकता है। इसप्रकार पुण्यकर्म भी मोक्ष प्राप्ति मे अत्यन्त उपयोगी है।

इसी बात को **पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका** मे भी कहा गया है—

"रागादिदोषरहित शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहितपरिणामोपार्जित तीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपकर्मापि सहकारीकारणं भवति।"

अर्थ—रागादिदोषरहित शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयधर्म भव्यो को सिद्धगति के लिये यद्यपि उपादान कारण है तथापि निदानरहित परिणामो द्वारा उपार्जित तीर्थंकरप्रकृति उतमसहनन आदि विशिष्ट पुण्य सिद्धगति के लिये सहकारी कारण है।

---

१. **"संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः। न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥१०४॥**

२. **"अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति।" (प्रवचनसार)**

३. **"पुण्णं पुव्वायरिया दुविहं अक्खंति सुत्तउत्तीए। मिच्छ पउत्तेण कयं विवरीयं सम्मजुत्तेण ॥३९९॥" (भावसंग्रह)**

उत्तमसहनन, उच्चगोत्र आदि विशिष्ट पुण्यकर्मोदय के बिना आज तक कोई भी जीव मोक्ष नहीं गया और न जा सकता है।

अतः मोक्ष के लिये पुण्यकर्म की सहकारिता की परम आवश्यकता है।

जयधवल जैसे महान् ग्रन्थ के कर्ता श्री जिनसेनाचार्य ने महापुराण मे यह कहा है कि अरहतपद और निर्वाणपद की प्राप्ति पुण्यकर्म से होती है।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धी.।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्, आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यम् ॥१६/२७२॥

[महापुराण]

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं,
पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं।
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥३०/१२९॥ महापुराण

इन दोनो श्लोको मे यह बतलाया गया है कि पुण्यकर्म से चक्रवर्ती, इन्द्र आदि की लक्ष्मी तो मिलती ही है, किन्तु अरहतपद तीर्थंकर की लक्ष्मी तथा निर्वाणपद अर्थात् मोक्षसुख भी पुण्य से मिलता है।

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ ससारकारण णियमा।
मोक्खस्स होई हेउं जइ वि णियाण ण सो कुणई ॥ ४०४ ॥
लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवलणाण जहखाइय संजम सुद्धं ॥ ४२३ ॥
तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्ण मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं, चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥ भावसंग्रह

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य नियम मे ससार का कारण नही होता है। यदि निदान न किया जाय तो वह पुण्य मोक्ष का ही कारण होता है। चिरकाल के संचित किये हुए पुण्य मे यदि जीव चरम-शरीरी हुआ तो यथाख्यात-शुद्ध-सयम व केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है, क्योकि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, अतः गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए।

असुहस्स कारणेहिं य कम्मछक्केहिं णिच्च वट्टंतो।
पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भएण णेच्छंतो ॥ ३९७ ॥
ण मुणइ इय जो पुरिसो जिण कहिय-पयत्थ-णवसरूव तु।
अप्पाणं सुयणमज्झे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥ ३९८ ॥ भावसंग्रह

अर्थ—यह गृहस्थ अशुभकर्म के कारणभूत असि, मसि आदि षट्कर्मों को नित्य करता है। यदि कर्मबन्ध के भय से पुण्य के कारणों की इच्छा नही करता तो वह पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरूप की श्रद्धा नही करता तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुष के मध्य मे हँसी का स्थान बनाता है।

यदि यह कहा जाय कि कर्मबन्धन के इच्छुक देशव्रतियो को मगल (पुण्य) करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियो को मगल करना युक्त नही है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योकि पुण्यबन्ध के कारणों के प्रति उन दोनो मे कोई विशेषता नही है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिसप्रकार मुनियो को मगल

(पुण्य) के परित्याग के लिए यहाँ कहा जा रहा है उसीप्रकार उनके सरागसंयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि देशव्रत के समान सरागसयम भी पुण्यबन्ध का कारण है। यदि कहा जाय कि मुनियों के सराग-सयम के परित्याग का प्रसग प्राप्त होता है तो होओ, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सरागसयम के परित्याग का प्रसग प्राप्त होने से उनके मुक्ति गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

इसप्रकार इन आर्षग्रन्थो से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ सातिशयपुण्य मोक्ष का ही कारण है ससार का कारण नही है, किन्तु जो अल्प लेप के भय से सरागसयम को धारण नहीं करते उनको जिनागम की श्रद्धा नही है वे मिथ्यादृष्टि हैं और उनको मोक्ष प्राप्त नही होता।

मदकषाय के द्वारा किया गया मिथ्यादृष्टि का निरतिशयपुण्य देवगति का साक्षात् कारण होते हुए भी मुख्यतया ससारपरिभ्रमण का कारण है। आर्षग्रन्थों मे निरतिशयपुण्य को ही सोने की बेडी, ससार का कारण तथा हेय बतलाया गया है, किन्तु कभी-कभी यह निरतिशयपुण्य भी सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण बन जाता है।

निरतिशयपुण्य के कारण नीचदेवो मे उत्पन्न होकर जब सौधर्म-इन्द्रआदि की महाऋद्धियो को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से सयुक्त सयम के फल से प्राप्त हुई हैं, किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्यसंयम के फल से वाहनादिक नीचदेवो में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यग्दर्शन का ग्रहण देवर्धिदर्शन निमित्तक होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥ (मोक्षपाहुड)

जैसे छाया का कारण तो वृक्षादिक हैं, तिनिकरि छाया कोई बैठे सो सुख पावे। बहुरि आताप का कारण सूर्यआदिक हैं तिनिके निमित्त से आताप होय ता विषै बैठे सो दुःख पावे। इनमे बडा भेद है। तैसे जो व्रत तपादिक द्रव्यसयम को आचरे सो पुण्यकरि स्वर्ग का सुख पावे। द्रव्यसयम को न आचरे, विषय-कषायादि को सेवै सो पापकरि नरक के दुःख पावे, ऐसे इनमे बडा भेद है। निरतिशयपुण्य का फल स्वर्ग मे देव होने से भगवान के समवसरण आदिक मे जाने का तथा नदीश्वर द्वीप मे पूजन का अवसर मिलता है, जिससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर अनन्तससार का छेदकर अर्धपुद्गलपरावर्तन मात्र ससार की स्थिति कर देता है। इसप्रकार निरतिशयपुण्य भी कभी-कभी परम्परामोक्ष का कारण बन जाता है, किन्तु सातिशयपुण्य तो ससार का कारण नही है मोक्ष का कारण है। ऐसा **श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री अकलकदेव, श्री विद्यानन्दआचार्य, श्री वीरसेन, श्री जिनसेन, श्री देवसेनादि आचार्यों** ने स्पष्टरूप से कथन किया है।

जो अस्याद्वादी जैनाभासी विद्वान हैं, उनकी दृष्टि मे उपर्युक्त महानाचार्यों का कथन मिथ्या है, वे तो समस्त पुण्य को ससार का ही कारण मानते हैं। यहाँ तक कि तेरहवेंगुणस्थान मे अरहंतो के भी जो पुण्यास्रव होता है उसको भी वे अस्याद्वादी संसार का कारण मानते हैं। उनको यह विचार नहीं है कि तत्त्वार्थसार मे जो पुण्यास्रव को संसार का कारण कहा है वह कौन से पुण्यास्रव को संसार का कारण कहा है। उनको यह ज्ञान नही है कि मनुष्यपर्याय, उत्तमकुल, दीर्घायु, इन्द्रियो की पूर्णता, जिनवाणी का श्रवणतत्त्वरुचि, मुनिदीक्षा आदि उत्तरोत्तर महान् दुर्लभ परमपुण्य से मिलते हैं। आज पञ्चमकाल में पापप्रवृत्तिवाले जीव तो बहुत हैं, किन्तु पुण्यप्रवृत्तिवाले जीव विरले ही हैं।

—जै. ग. 6 फरवरी 1969, पृ. 9-11

परिशिष्ट—१

सन्दर्भग्रन्थ सूची

अनगारधर्मामृत
अमितगति श्रावकाचार
अर्थप्रकाशिका
अष्ट पाहुड
अष्टशती
अष्ट सहस्री
आचार सार
आत्मानुशासन
आदिपुराण
आप्तपरीक्षा
आप्तमीमांसा
आलापपद्धति
इण्डियन फिलोसोफी
इष्टोपदेश
उत्तरपुराण
उपासकाध्ययन
एकीभाव स्तोत्र
कर्मप्रकृतिग्रन्थ (श्वे०)
कल्पसूत्र (श्वे०)
कसायपाहुडसुत्त
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
क्रियाकोश (दौलतराम)
क्षत्रचूड़ामणि
क्षपणासार
गणितसार संग्रह
गुणभद्रश्रावकाचार
गोम्मटसार जीवकाण्ड
गोम्मटसार कर्मकाण्ड
चर्चाशतक
चारित्रसार
छहढाला (दौलतराम)
जम्बूदीवपण्णत्तिसंगहो
जयधवला टीका
जिनसहस्रनामस्तोत्र
जीवन्धरचम्पू
ज्ञानार्णव
तत्त्वानुशासन
तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर)
तत्त्वार्थवृत्तिपदम् (प्रभाचन्द्र)
तत्त्वार्थसार
तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वार्थभाष्य
तिलोयपण्णत्ती
त्रिलोकसार
द्रव्यसंग्रह
धवला टीका
ध्यानशतक
नन्दि आम्नाय पट्टावली
नयचक्र
न्यायबिन्दु
न्यायविनिश्चय
नियमसार
पंचसंग्रह (प्राकृत)
पंचसंग्रह (संस्कृत)
पंचाध्यायी
पंचास्तिकाय

पद्मनन्दिपंचविंशतिका
पद्मपुराण
परमात्मप्रकाश
परीक्षामुख
पाण्डवपुराण
पार्श्व पुराण
पुरुषार्थसिद्धयुपाय
प्रद्युम्नचरित्र
प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्रमेय रत्नमाला
प्रवचनसार
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
भक्तामरस्तोत्र
भरतेश वैभव
भावसंग्रह (वामदेव)
भावसंग्रह (देवसेन)
महापुराण
महाबन्ध
महावीरपुराण
मूलाचार
मूलाचार प्रदीप
मूलाराधना/भगवती आराधना
मोक्षमार्गप्रकाशक
मोक्षशास्त्र
यशस्तिलकचम्पू
युक्त्यनुशासन
योगसारप्राभृत (योगेन्दुदेव)
रत्नकरण्ड श्रावकाचार
रत्नमाला
रयणसार
राजवार्तिक
लघीयस्त्रयटीका
लब्धिसार
लाटीसंहिता
लोकविभाग
वरांगचरित्र
वसुनन्दिश्रावकाचार
वृहद् जैन शब्दार्णव
वृहद् द्रव्यसंग्रह
वृहद् नयचक्र
वृहद् विश्वचरितार्णव
वृहद् स्वयम्भूस्तोत्र
व्रतविधान संग्रह
शान्तिनाथ पुराण
श्लोकवार्तिक
षट्खण्डागम
षड्प्राभृतसंग्रह
सप्तभंगीतरंगिणी
समयसार
समयसारकलश
समयसार . आत्मख्याति
समयसार तात्पर्यवृत्ति
समाधिशतक
समीचीन धर्मशास्त्र
सर्वार्थसिद्धि
सागारधर्मामृत
सारसमुच्चय
सिद्धान्तसारसंग्रह
सुखबोधाख्यवृत्ति (भास्करनन्दि)
सुदर्शनचरित
सुभाषित रत्नसन्दोह
सुभाषितावली
स्याद्वादमञ्जरी
स्तुतिविद्या
स्वरूपसम्बोधन
हरिवंशपुराण

शंकाकार-सूची

परिशिष्ट—३

अर्थसहयोगी

२१०००) श्री निरञ्जनलाल रतनलाल बैनाडा, आगरा
१५०००) ,, रतनलाल जैन, पंकज टैक्स, मेरठ
४५००) ,, नेमीचन्द चादवाड झालरापाटन
३२५०) ,, मदनलाल चादवाड, रामगंजमण्डी
३१०१) ,, निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ
३१००) ,, हीरालाल पाटनी, सुजानगढ
३१००) ,, इन्दरचन्द पाटनी, सुजानगढ़
३१००) ,, विजयकुमार जैन अग्रवाल कटक
३०००) ,, गुलाबचन्द उमरावमल गोधा मदनगंज
३००) ,, श्रीपति जैन केसरगंज, अजमेर
३०००) ,, सीताराम कन्हैयालाल पाटनी, कलकत्ता
३०००) ,, श्रीनिवास जैन, मद्रास
३०००) ,, जोरावरमल बाकलीवाल, मेडतासिटी
३०००) ,, कैलाशचन्द काला, साभर
३०००) ,, प्रेमचन्द जैन कागजी, दरियागंज दिल्ली
३०००) ,, सतोषलाल मेहता, महावीर स्टोन क उदयपुर
३०००) श्रीमती रत्नादेवी ध. प श्री राधेश्याम जेजानी, नागपुर
३०००) श्रीमती सन्तोषदेवी ध प सुमतकुमार जेजानी, नागपुर
२५००) श्री दीपचन्द पहाडिया, जोधपुर
२१२१) श्रीमती तारादेवी ध प श्री पारसमल पाटनी मेडतासिटी
२१००) ब्र० केशरबाई [णमोकार पैंतीसी व्रतोद्यापन पर
२०००) श्री बद्रीप्रसाद सरावगी, पटना सिटी
१७००) ब्र. बसन्तीदेवी अड्डुल (आर्यिका दीक्षा पर)
१५०१) श्री शकरलाल केशरलाल जैन, निवाई
१५०१) ,, प्रकाशचन्द दोसी, जोधपुर
१५०१) श्री प्रियदर्शी क्षेमकर पाटनी, जोधपुर
१५००) श्रीमती भगतूबाई ध. प. जोरावरमल बाकलीवाल, मेडतासिटी
१५००) (स्व) श्रीमती पानाबाई ध. प. सम्पतलाल जैन, कटक
१५००) श्री चौथमल जैन अग्रवाल, लाडनू
१५००) श्री श्रीनाथ ··· ···· ············
१५००) श्री हजारीमल रतनपाल कारवा, उदयपुर
१५००) ·· · ···· ···· · ········· ··· ···
१५००) श्री चम्पालाल गुलाबचन्द गाधी
१५००) ,, बालेशकुमार जैन, मौजपुर, दिल्ली
१५००) ,, शीतलप्रसाद जैन सर्राफ, मेरठ
१५००) ,, दुलीचन्द पाटनी, निम्बाहेडा
१५००) ,, रतनलाल बडजात्या, मदनगंज
१५००) ,, श्रीमती सुगनीदेवी (धर्मपत्नी स्व० रामपालजी अजमेरा) मदनगंज
१५००) ,, पाचूलाल बैद, मदनगंज
११११) श्री भवरलाल महावीरप्रसाद श्रीपाल धर्मावत, भीण्डर
११०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, झुमरीतलैया
११०१) ,, मानमल महावीरप्रसाद जाझरी, झुमरीतलैया
११००) ,, कवरीलाल तेजकरण बोहरा, आनन्दपुरकालू
११००) ,, इन्दरचन्द सुमेरमल पाण्ड्या, शिलाग (मेघालय)
१०२०) ,, श्री लाला इन्द्रसेन जैन जगाधरी वाले, मेरठ
१००१) ,, सुभाषचन्द्र जैन, इंजीनियर, टिहरी गढवाल
१०००) ,, सुकुमालचन्द जैन सर्राफ, सहारनपुर
१०००) ब्र० शान्तिबाई, हैदराबाद

१०००) श्रीमती शशिकला ध प जुगलबाबू नागपुर
५०१) श्री भागचन्द पाटनी, झुमरीतलैया
५०१) श्रीमती जमनादेवी ध. प भवरीलाल पाण्ड्या
५००) (स्व.) श्रीयुत मोतीलाल मिण्डा, उदयपुर
५००) गुप्तदान
५००) ब्र विमला जैन [भक्तामर व्रतोद्यापन पर]
२५१) श्री अनिलकुमार गुप्ता, दिल्ली
२२५) गुप्तदान, द्वारा अनिलकुमार गुप्ता
२०१) श्री लादूलाल धर्मचन्द छाबडा, झुमरीतलैया
२००) ,, हरखचन्द जैन राची
१५१) श्री मानमल पाण्ड्या, झुमरीतलैया
१५१) श्रीमती रतनबाई झुमरीतलैया
१०१) श्री प्रभुदयाल शान्तिलाल छाबडा, झुमरीतलैया
१०१) श्री जीतमल शान्तिलाल छाबडा, झुमरीतलैया
१०१) श्री राजमल प्रदीपकुमार गगवाल ,,
१०१) ,, महावीरप्रसाद राजेशकुमार छाबडा ,,
१०१) ,, चुन्नीलाल छाबडा ,,
१०१) , सुरेशकुमार लुहाडिया ,,
१०१) ,, नेमीचन्द रमेशकुमार पाटनी ,,
१०१) ,, रूपचन्द सुनीलकुमार पाण्ड्या ,,
१०१) , रतनलाल सुरेशकुमार पहाडिया ,,
१०१) , अजितकुमार गगवाल ,,
१०१) ,, खेमचन्द लुहाडिया ,,
१०१) , मूलचन्द मुणीलकुमार ,,
१०१) श्री फतेहचद विजयकुमार चूडीवाले ,,
१०१) ,, हरखचन्द छाबडा ,,
१०१) ,, जयकुमार गगवाल ,,
१०१) ,, हरखचन्द पाटौदी ,,
१०१) ,, महावीरप्रसाद पाटनी ,,
१०१) ,, गुलाबचन्द ठोल्या ,
१०१) ,, रतनलाल राकेशकुमार छाबडा ,,
१०१) , जगन्नाथ सुरेशकुमार पाण्ड्या ,
१०१) ,, मोहनलाल धन्यकुमार पाण्ड्या ,,
१०१) ,, शान्तिलाल बडजात्या, अजमेर
१००) . . ..
७१) , चिरजीलाल, कमलकुमार काला ,,
५१) ,, हकीम बगालीदास मोजीराम जैन ट्रस्ट फिरोजाबाद
५१) ,, चिमनलाल अजमेरा, झुमरीतलैया
५१) ,, खेमचद लुहाडिया की माताजी झुमरीतलैया
५१) ,, अमृतलाल स्वरूपचन्द पाण्ड्या ,,
५१) ,, निर्मलकुमार जाझरी ,,